पश्चिमी भारत की यात्रा

[ले० कर्नल जेम्स टॉड रचित 'ट्रैवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद]

अनुवादक एवं सम्पादक

श्री गोपालनारायण बहुरा, एम० ए०,

उप-सञ्चालक,

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर

प्रस्तावना लेखक

श्री रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

महाराजकुमार, सीतामऊ (मालवा)

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०२२ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८७ | खिस्ताब्द १९६५

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य—२१.००

मुद्रक— हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य

सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर;
ऑनरेरि मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी;
निवृत्त सम्मान्य नियामक (ऑनरेरि डायरेक्टर),
भारतीय विद्याभवन, बम्बई; प्रधान सम्पादक,
सिंघी जैन ग्रन्थमाला, इत्यादि

ग्रन्थाङ्क ८०

ले० कर्नल जेम्स टॉड रचित

'ट्रैवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद

पश्चिमी भारत की यात्रा

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

१९६५

पश्चिमी भारत की यात्रा

[ले० कर्नल जेम्स टॉड रचित 'ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद]

अनुवादक एवं सम्पादक

श्री गोपालनारायण बहुरा, एम० ए०,

उप-सञ्चालक,

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर

प्रस्तावना लेखक

श्री रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

महाराजकुमार, सीतामऊ (मालवा)

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०२२ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८७ | खिस्ताब्द १९६५

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य—२१.००

मुद्रक— हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

Pashchimi Bharat Ki Yatra

A literal Hindi Translation of 'Travels in Western India',

a unique classical work written by

Lt. Col. James Tod

(a great friend and lover of the people, history and culture of Rajasthan)

Translated and edited with critical notes by

Shri Gopal Narayan Bahura, M.A.,

Dy. Director,

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur.

Introduction by

Shri Raghubir Singh, M.A., D. Litt.

Maharajkumar, Sitamau (M.P.)

Published under the orders of the Government of Rajasthan

By

THE RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE

JODHPUR (Rajasthan)

V.S. 2022] [1965 A.D.

सञ्चालकीय वक्तव्य

नूतन भारत के मानचित्र में पश्चिमोत्तर विभाग वाले कोण में राजस्थान के नाम से जो विशाल भूखण्ड अङ्कित है और क्षेत्रफल की दृष्टि से नवीन भारत के १५ महा-जनपदों में जिसको द्वितीय स्थान प्राप्त है, उस विशाल एवं महान् राजस्थान के भव्य नाम का आद्य-निर्माता और उसके जानपदीय गौरव को संसार के सम्मुख प्रथमतः सुप्रसिद्ध करने वाला स्वर्गीय कर्नल जेम्स टॉड था। वह केवल राजस्थान की सन्तानों के लिए ही नहीं अपितु सारे भारत की प्राणवान् संतानों के लिए सदा स्मरणीय और पुण्यश्लोक महान् ग्रन्थकार तथा परम हितैषी नर-पुङ्गव के रूप में ज्ञात एवं उल्लिखित होता रहेगा। स्वतन्त्र भारत को राजस्थान नामक नूतन महा-जनपद की कल्पना देने का श्रेय कर्नल जेम्स टॉड को है। उसी ने विश्व के इतिहास-विषयक समग्र वाङ्मय के असंख्य ग्रन्थरत्नों के पुंज में, सर्वप्रथम राजस्थान के नाम से अंकित और उसके अतीत के इतिवृत्त से अलंकृत, एक अपूर्व और अकल्पित ग्रन्थरत्न को समर्पित किया है।



देश या प्रदेश को लक्ष्य कर राजस्थान नाम का प्रयोग हमारे भारतीय वाङ्मय में कहीं नहीं हुआ। राज्य का स्थान, (जो राजस्थानी भाषा में रायथान या रायठाण बोला जाता है) ऐसा अभिप्रेतार्थ वाला शब्द-प्रयोग तो हमारे साहित्य में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु किसी देश विशेष या राज्य विशेष का वैसा नाम कहीं नहीं है। राजस्थान नामक आधुनिक महा-जनपद के अन्तर्गत मेवाड़, मारवाड़, भिल्लमाल, सपादलक्ष, जांगल और मत्स्य आदि प्राचीन देशों तथा राज्यों का समावेश हो गया है। ये देश बहुत प्राचीनकाल से इतिहास में अपना महत्व का स्थान रखते आये हैं। ये सभी देश भिन्न-भिन्न राजवंशों, राजाओं और राज्यों के स्थान कहलाते थे। कर्नल टॉड

जिस समय इस भूभाग में अंग्रेजों का एक अधिकारी बन कर आया और उसको इस प्रदेश के भिन्न-भिन्न राजवंशों का विशेष परिचय प्राप्त हुआ तो कुछ-कुछ प्रादेशिक विभिन्नताएं होते हुए भी इस प्रदेश के निवासियों में उसने अत्यधिक पारस्परिक समानता देखी। इस भूभाग में जिन भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य-शासन चल रहा था वे सब एक ही जाति-समूह के अंगभूत थे। उनके कुलों और वंशों का वैयक्तिक एवं कौटुम्बिक सम्बन्ध परस्पर सङ्कलित था। वे सब बहुत प्राचीनकाल से राजपूत कहलाते रहे हैं। इस प्रकार के राजपूतों का समान-जातिक विशाल और सत्ताशाली एकत्र समूह भारत में अन्यत्र कहीं नहीं रहा। इसलिए तत्कालीन अन्यान्य अंग्रेज अधिकारियों ने राजपूतों के इस प्रदेश को राजपूताना नाम देकर इसकी पहिचान दी।

कर्नल टॉड इतिहास का अद्भुत प्रेमी था। अंग्रेजों का प्रभुत्व जब भारत पर धीर-धीरे फैलने लगा तो स्वभावतः ही इस महान् राष्ट्र के इतिहास और सब प्रकार के सांस्कृतिक एवं जानपदीय जन-जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करने की उनकी इच्छा तथा आवश्यकता बढ़ी और उनमें से अनेक विद्वान् अपने-अपने अधिकारगत प्रदेशों और स्थानों की तत्-तद्विषयक जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न में लग गये।

कर्नल टॉड इंग्लैंड से अंग्रेजों की सेना में भर्ती होकर सन् १८०० ई० में सर्वप्रथम बंगाल में आया। वहाँ से उसको दिल्ली भेजा गया, जहाँ वह ४-५ वर्ष तक रहा। तत्पश्चात् सिंधिया के दरबार में पोलिटिकल एजेन्ट के सहायक के रूप में उसकी नियुक्ति हुई। सिंधिया के दरबार के साथ मध्यभारत तथा राजस्थान एवं उसके समीपस्थ प्रदेशों में सैनिक कार्यवाही के निमित्त विभिन्न स्थानों और मार्गों का सर्वेक्षण करने-कराने का महत्वपूर्ण काम उसे करना पड़ा। इस सर्वेक्षण के समय अनेकानेक प्राचीन स्थानों और उनके निवासियों के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त करने की उसको जन्मजात इतिहासप्रिय अभिरुचि बढ़ने लगी और वह तत्तत् स्थानों और जनसमूहों के विषय की विविध प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री का यथाशक्य और यथा-

साधन संग्रह करने लगा। सन् १८१७-१८ ई० में जब मेवाड़, मारवाड़, गोड़वाड़, हाडौती और ढूंढाड़ जैसे राजपूत जातीय राज्यों का अंग्रेजों के साथ राजनैतिक सन्धिस्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ तब अंग्रेजी शासन के तत्कालीन सर्वसत्तासम्पन्न गवर्नर-जनरल ने पश्चिमी भाग के इन राजपूत राज्यों के लिए कर्नल टॉड को अपना राजनीतिक प्रतिनिधि (पोलिटिकल एजेन्ट) बनाकर उदयपुर में नियुक्त किया।

उदयपुर में रहते हुए उसको अपने प्रिय विषय इतिहास की बहुविध सामग्री का विशिष्ट संकलन करने का यथेष्ट अवसर मिला। इसके लिए उसने बहुत सा धन भी व्यय किया और अत्यधिक शारीरिक श्रम भी उठाया। उसने यहाँ की भाषाओं को अच्छी तरह सीखा, संस्कृत, प्राकृत, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के जानकारों को भी, अपने द्रव्य से, अपने पास रख कर, वह साहित्यिक सामग्री का अन्वेषण, अनुसन्धान और संकलन उनसे कराता रहा। प्राचीन शिलालेख ताम्रपत्र, पट्टों इत्यादि का भी उसने संग्रह किया। भाट, बारहठ, चारण, राव आदि के मुखजबानी जो कुछ पुरानी कथा-कहानियाँ वह सुनता रहता था, उनके भी उद्धरण, टिप्पण आदि लिखता लिखाता रहता था।

इस प्रकार राजपूत राज्यों के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली विशाल सामग्री उसने इकट्ठी करली। उस सामग्री के अध्ययन से और तत्कालीन राजस्थान के प्रमुख निवासियों के सहानुभूतिपूर्ण सम्पर्क से उसके मन पर इस प्रदेश की समग्र संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। तत्कालीन अन्यान्य सत्ताधारी अंग्रेज अधिकारियों की अपेक्षा वह यहाँ के लोगों का बहुत हितैषी बन गया और अपने अधिकार का प्रयोग सब लोगों के हित की दृष्टि से करने लगा। राजाओं तथा जागीरदारों को भी वह जनहितकारी और न्यायप्रिय बातें बताता रहा। अंग्रेजों की जो शासन करने की स्वार्थी और आतंकात्मक नीति विकसित होती जाती थी उसका भी वह कभी-कभी विरोध करता रहता था। उसके इस प्रकार के जनहितकारी व्यवहार

और उदार विचार की कुछ गन्ध कलकत्ता के उच्च सत्ताधारी अंग्रेज शासकों तक पहुँची तो वे कुछ संदेह की दृष्टि से उसकी प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण करने लगे।

कर्नल टॉड बड़ा स्वाभिमानी, न्यायप्रिय, निष्पक्ष, निःस्वार्थ और सच्चा साहित्योपासक था। उसको जब यह शंका होने लगी कि मेरे सन्निष्ठ कार्य के विषय में ऐसा कुत्सित संदेह सत्ताधीशों के मन में उत्पन्न हो रहा है तो उसने अपने अधिकार-पद से त्यागपत्र दे दिया और वह अपने देश इंग्लैंड चले जाने को तैयार हो गया तथा वहीं बैठ कर जिस देश के प्राचीन इतिहास की बहुमूल्य और अपूर्व सामग्री उसने संगृहीत की थी उसको सुव्यवस्थित रूप में लिखकर संसार के सामने प्रकट कर देने का संकल्प किया।

सन् १८०० ई० के प्रारम्भ में वह इंग्लैंड से भारत आया था। कुछ दिनों तक कलकत्ता आदि स्थानों पर रहकर वह दिल्ली पहुँचा। वहाँ ४-५ वर्ष रहने के पश्चात् सन् १८०६ में वह सिन्धिया के दरबार में नियुक्त हुआ। लगभग १२ वर्ष तक वह सिन्धिया के दरबार से संबद्ध रहा और सन् १८१८ ई० के प्रारम्भ में वह उदयपुर का पोलिटिकल एजेन्ट होकर रहने आया। प्रायः साढ़े चार वर्ष तक वह उदयपुर में इस पद पर रहा और जून, १८२२ ई० में अपने पद और प्रिय प्रदेश को छोड़कर, अपनी जन्मभूमि को जाने के लिए निकल पड़ा।

उदयपुर में रहते हुए उसने, उदयपुर के अतिरिक्त जोधपुर, जैसलमेर, कोटा, बूंदी, सिरोही आदि, राजस्थान के महत्त्व के राज्यों की भी यात्रायें कीं और उन-उन राज्यों से संबद्ध ऐतिहासिक सामग्री का भी अच्छी तरह संकलन किया। उदयपुर से आखिरी विदा लेते समय उसने यह सब अमूल्य एवं अपूर्व सामग्री अपने साथ ली।



राजस्थान के इतिहास से संबद्ध प्राचीन गुजरात और सौराष्ट्र के स्थानों का उसे प्रत्यक्ष अवलोकन करना था इसलिए वह उदयपुर से

चलकर आबू, सिद्धपुर, अणहिलपुर-पाटण, बड़ौदा, भावनगर, पालीताना, जूनागढ़, द्वारका, सोमनाथ होता हुआ कच्छ गया और वहाँ से जहाज में बैठकर बम्बई पहुँचा। १८२३ ई० के फरवरी में वह भारत की भूमि के अन्तिम दर्शन करता हुआ बंबई से जहाज में सवार होकर इंग्लैण्ड को रवाना हो गया। इस प्रकार वह कोई २२ वर्ष भारत में रहा। इन २२ वर्षों में, उस अंधकारमय युग में, उसने जो ऐतिह्य साधन-सामग्री एकत्रित करने का और उसका अध्ययन करने का अथक श्रम किया वह रोमांच पैदा करने वाला है। उसकी इस विषय की जिज्ञासा, पिपासा, उत्कंठा, उत्सुकता, अनन्यमनस्कता आदि सब अद्‌भुत प्रकार की लगन सूचित करते हैं।

उदयपुर से बम्बई पहुंचने तक के रास्ते में उसने गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ देश के प्रायः सभी महत्व के एवं तीर्थभूत प्राचीन स्थानों की यात्रा की और उन-उन स्थानों के विषय में जो भी ऐतिहासिक तथ्य और प्रवाद उसके देखने, सुनने व पढ़ने में आये उन सब को वह लिखता गया।

वह पहले-पहल इंग्लैण्ड से कलकत्ता (बंगाल) में आया था। वहाँ से वह उत्तरप्रदेश में होता हुआ भारत के मध्यकेन्द्र दिल्ली में आया; वहां से फिर मध्य-भारत के सिन्धिया के दरबार में रहा। उस पद पर रहते हुए उसने प्रायः सारे मध्यप्रदेश के सभी महत्व के स्थानों और मार्गों का विशिष्ट सर्वेक्षण किया। इधर पश्चिम प्रदेश में सिन्ध तक का उसने विशिष्ट भौगोलिक ज्ञान प्राप्त किया। मध्य-भारत से आ कर राजस्थान के हृदयभूत मेवाड़ की राजधानी उदयपुर में रहते हुए उसने सारे राजस्थान की पुनः समग्र जानकारी सञ्चित की। उदयपुर से जब उसने स्वदेश के लिये प्रस्थान किया तो फिर उसने बम्बई का रास्ता पकड़ा और उस रास्ते में आने वाले उक्त प्रकार से सभी स्थानों का अपने लक्ष्य की दृष्टि से यथाशक्य ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार भारत के अपने २२-२३ वर्षों के निवास में, पूर्व में कलकत्ता से लेकर पश्चिम में बम्बई तक के बहुत ही महत्व के

भूभाग का वह अपने समय में, एक अद्वितीय ज्ञाता बन गया था। वह बड़ा बुद्धिमान् सैनिक सरदार था और बहुत चतुर राजनीतिज्ञ था और इससे भी अत्यधिक इतिहास का सूक्ष्म मर्मज्ञ और अत्युत्कट जिज्ञासु था। इन सब गुणों के कारण उसने अपने जीवन-लक्ष्य के सिद्ध्यर्थ जो विपुल साहित्य सामग्री संगृहीत की थी उसको व्यवस्थित रूप में ग्रन्थस्थ कर प्रकट करना ही उसका सर्वोच्च ध्येय बन गया था। उसने तुरन्त इंग्लैण्ड पहुंच कर यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। कोई ५-६ वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उसने राजस्थान का विस्तृत इतिहास लिखकर पूरा किया। सन् १८२६ ई० में उसका पहला भाग प्रकाशित हुआ और उसके लगभग ढाई-तीन वर्ष पश्चात् सन् १८३२ ई० में दूसरा भाग प्रकट हुआ।



'राजस्थान का इतिहास' प्रकाशित हो जाने के बाद उसने पुनः अपनी उस अन्तिम यात्रा का विवरण लिखना शुरू किया जो उदयपुर से रवाना होकर बम्बई तक पहुंचने के मार्ग के रूप में की गई थी। इस यात्रा से सम्बन्धित स्थानों, तीर्थों, मन्दिरों, गढ़ों, शासकों आदि के विषय में जो कुछ उसने सुना, देखा व पढ़ा वह सब इस यात्रा-विवरण में संकलित किया। इस विवरण के लिखते समय उसका स्वास्थ्य भी खराब रहा और तदर्थ वह यूरोप के रोम आदि स्थानों में भ्रमणार्थ गया। यात्रा-विवरण जैसे ही संपूर्ण हुआ वह लंदन आया और वहां पर अपने प्रकाशक व्यापारी के साथ इस विवरण के प्रकाशन का प्रबन्ध कर ही रहा था कि अकस्मात् उसको मृगी रोग का सख्त दौरा हो आया और उसी से १८३५ ई० के नवम्बर मास में उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार कुल ५३ वर्ष की भर-मध्य आयु में पश्चिमी भारत की यात्रा का वह अद्भुत मर्मज्ञ यात्री, जिसने संसार के सम्मुख सर्व प्रथम इस प्रदेश के भव्य अतीत और पवित्र देवस्थानों का भावनापूर्ण वर्णनों द्वारा रहस्योद्घाटन किया था, संसार के उस पार की महायात्रा पर चल निकला, जहां से कभी कोई वापिस नहीं लौटा। उसकी मृत्यु के कोई ४ वर्ष बाद सन्

१८३९ ई० में, उसका यह यात्रा-विवरण प्रकाशित हुआ। 'राजस्थान का इतिहास' का प्रकाशन वह अपने सम्मुख कर पाया था जिससे उसके अन्तर को बड़ा सन्तोष हो रहा था पर इस यात्रा-विवरण के प्रकाशन को, जिसके लिये उसने अत्यधिक कष्ट उठाये और अनेक मनोरथ बनाये थे, वह अपनी आंखों से देख नहीं पाया।

राजस्थान के जनजीवन का परमहितैषी, राजस्थान की प्राचीन संस्कृति के परम प्रशंसक और राजस्थान के अतीत के इतिहास के परम शोधक और महान् लेखक महामना कर्नल टॉड के जीवन के मुख्य-मुख्य प्रसंगों की यह केवल सूचना मात्र है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में 'ग्रन्थकर्त्ता विषयक संस्मरण' नामक जो प्रबन्ध दिया गया है उसके पढ़ने से पाठकों को उसके जीवन के विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त होगी ही।



उसका लिखा हुआ महान् ग्रन्थ 'राजस्थान का इतिहास' संसार में सुप्रसिद्ध है। जब से वह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ तभी से वह भारत के कोने-कोने में पढ़ा जाने लगा और भारत की अनेक प्रसिद्ध भाषाओं में उसके अनुवाद, सार, समुद्धार आदि प्रकाशित होते रहे हैं। बंगाल में तो वह इतना लोकप्रिय और प्रेरणादायी हुआ कि उसकी अनेक बहुत सस्ती आवृत्तियां निकल चुकी हैं। बंगाल के अनेक उपन्यासकार, नाटककार, और कथाकार लेखकों के लिये तो वह राष्ट्रप्रेम, धर्म-प्रेम और वीर-शौर्य के भावों से भरा हुआ एक महान् निधिरूप ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ में उल्लिखित तथा प्रतिपादित ऐतिह्य तथ्यों के विषय में, इसके प्रकाशन के प्रारम्भकाल से लेकर आज तक अनेकानेक विद्वानों, शोधकों, आलोचकों आदि ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये हैं, नाना प्रकार की टिप्पणियां लिखी हैं और आज भी वह क्रम चालू है। बस यही एक बात इस ग्रन्थ की विशिष्टता, लोक-प्रियता और प्रेरणात्मकता सिद्ध करने में पर्याप्त है। इतिहास-लेखन में उपयुक्त जिस प्रकार की साधन-सामग्री और शास्त्रीय पद्धति का

अवलम्बन आज लिया जाता है वह उस समय ज्ञात ही नहीं थी। चन्द के नाम से ज्ञात पृथ्वीराज रासो और मेवाड़ एवं मारवाड़ आदि के राजाओं की कुछ वंशावलियां तथा कोई छोटी-मोटी ख्यात आदि जैसी अत्यल्प लिखित सामग्री ही उसे उपलब्ध हुई थी। बाकी तो भाट, चारण, यति, ब्राह्मण आदि जनों के मुख से सुन-सुन कर ही उसने अपने इतिहास की सामग्री इकट्ठी की थी। मुसलमानी तवारिखें उसने अवश्य पढी थीं, परन्तु हिन्दू ग्रन्थकार का लिखा कोई वैसा ग्रन्थ उसके देखने में नहीं आया था। कश्मीर के इतिहास से संबंधित महान् संस्कृत ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' का उसने नाम भी नहीं सुना था। गुजरात के इतिहास के मूलाधारभूत एवं सुप्रमाणित तथा सुग्रथित प्रबंधचिंतामणि नामक ग्रन्थ का उसे पता ही न लगा। यहां तक कि राजस्थान के सब से बड़े और अत्यन्त महत्त्व के राजस्थानी ऐतिहासिक ग्रन्थ 'मुंहता नैणसी की ख्यात' तक की उसे जानकारी नहीं मिली। उसको संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का परिचय नहीं था। प्राचीन लिपि के पढ़ने का वैसा कोई अभ्यास भी वह नहीं कर सका। प्राचीन ब्राह्मी लिपि, जिसमें अशोक के धर्मलेख अंकित हुए हैं, और जिस लिपि में लिखे गये सैकड़ों ही शिलालेख अब उपलब्ध हो गये हैं उसके अक्षरों का तब तक कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका था। मौर्य उत्तरकालीन, कुषाण, क्षत्रप, गुप्त आदि राजाओं के समय के शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि जो बाद में हजारों की संख्या में उपलब्ध हुए हैं, उनमें से किसी की भी कल्पना टॉड को नहीं हो पाई थी। उसकी नज़र में कहीं कोई ऐसा लेख या सिक्का आ जाता था तो उसका मर्म जानने के लिए वह बहुत प्रयत्न करता रहता, पर तब तक उन प्राचीन लिपियों के अक्षरों को पहचाना नहीं गया था।

संस्कृतादि प्राचीन भाषा साहित्य तथा पुराने लिखे गये ग्रन्थों को पढ़ने व समझने के लिए उसने मांडलगढ (मेवाड़) के रहने वाले एक जैन यति ज्ञानचन्दजी को अपने पास रख लिया था। यतिजी संस्कृत, प्राकृत, प्राचीन राजस्थानी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे और ५००-६०० वर्ष जितने पुराने लिखे ग्रन्थों को तथा उस समय तक के

शिलालेखों को वे ठीक-ठीक ही पढ़ लेते थे। उनको पास विठा कर कर्नल टॉड उनसे ऐसी सब सामग्री को पढ़ने व समझने का सदैव प्रयत्न करता रहता था। पर, उन यतिजो को भी एक हजार वर्ष से अधिक पुराने लेखों को लिपि का विशेष ज्ञान नहीं था, अतः वे भी इस प्रकार की विशेष प्राचीन सामग्री का परिस्फोट नहीं कर सकते थे। वह जब अणहिलवाड़ा-पाटण गया तव वहां के जैन-भण्डारों में से प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने की उसे बहुत आशा थी और इसीलिए उसने अपने गुरु को वहां के जैन-भण्डार टटोल कर उनमें से वैसे साहित्य की खोज के लिए प्रेरित किया। यतिजी वहाँ के किसी एक प्रसिद्ध भण्डार को देखने के लिए गये भी, परन्तु उसमें उनको विशेष सफलता नहीं मिली। एक 'कुमारपाल-चरित्र' नाम की रचना के सिवाय और कोई रचना उनको उपलब्ध न हो सकी। यह जरा आश्चर्य लगने जैसी ही वात है, क्योंकि पाटण के भण्डार अपनी साहित्य-निधि के लिए सुप्रसिद्ध रहे हैं। प्रभावकचरित्र, प्रवन्धचिन्तामणि, प्रवन्धकोष, कुमारपाल-चरित्र, वस्तुपाल-चरित्र, विमलप्रबंध आदि कई महत्त्व के गुजरात-राजस्थान के इतिहास-विषयक ग्रन्थ पाटण के भण्डारों में ही सुरक्षित थे। परन्तु, उनमें से कोई एक भी ग्रन्थ की प्राप्ति उनको नहीं हो सकी। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन ग्रन्थों के विषय में यति ज्ञानचन्द्रजी को ही कोई जानकारी नहीं होगी अथवा वहां के भण्डार वालों ने उनको कुछ भी सामग्री दिखाने से इन्कार कर दिया होगा। कुछ भी हो, टॉड को इस साहित्य का सर्वथा परिचय नहीं मिला, नहीं तो, इनमें उल्लिखित ऐतिह्य तथ्यों से वह वञ्चित नहीं रहता।

कर्नल टॉड के 'राजस्थान का इतिहास' तथा 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रन्थों के प्रसिद्ध होने के बाद कोई २५-३० वर्ष के भीतर ही अलेक्ज़ेण्डर किनलॉक फार्वस ने, 'रासमाला' के नाम से अलंकृत राजस्थान के इतिहास के अनुकरण-स्वरूप और उसी प्रकार के साधनों का वैसा ही उपयोग कर, गुजरात का इतिहास लिखा, जिसमें उसने गुजरात-राजस्थान के इतिहास से संबद्ध उक्त प्रकार के कई प्राचीन

ग्रन्थों का यथेष्ट उपयोग किया। कर्नल टॉड को किसी से सूचना मिली होगी कि पाटण के भण्डार में ऐसा एक प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें गुजरात के इतिहास का सविस्तर वर्णन है। टॉड इसका उल्लेख बारम्बार 'वंसराज चरित्र' के नाम से करता है। 'वंसराज', यह नाम 'वनराज' नाम का भ्रष्ट उच्चारण है, जो टॉड ने किसी भाट या चारण के मुख से सुनकर याद कर लिया होगा। वनराज चावड़ा था, जिसने गुजरात के प्रसिद्ध नगर अणहिल्लवाड़ अथवा अणहिल्लपुर-पत्तन (पाटण) की स्थापना की थी। वनराज के जीवनवृत्त-विषयक मुख्य कथा, जो बहुत विश्रुत है, मेरुतुङ्गसूरि नामक जैन विद्वान् ने अपने 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक महत्त्व के ग्रन्थ में सब से पहले लिखी है। इसी ग्रन्थ में अणहिल्लपुर के राजाओं की राज्यस्थिति और कालक्रमसूचक प्रमित संवत्सरों आदि का उल्लेख किया है जो इतिहास के अन्यान्य प्रमाणों द्वारा प्राय: पूर्णत: सम्मत है। कर्नल टॉड को यह ग्रन्थ नहीं मिला, नहीं तो वह इसके एक-एक कथन को अपनी रसभरी शैली से खूब सजाता। उसको इस विषय का जो ग्रन्थ मिला, वह कुमारपाल-प्रबन्ध या कुमारपाल-चरित्र हो सकता है, जिसका आदि भाग प्रबन्धचिन्तामणि के आधार पर ही लिखा गया है। इसके अतिरिक्त 'वनराज-चरित्र' नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है।

इस प्रकार जो कुछ अस्त-व्यस्त साधन-सामग्री उसे मिली, उसी के आधार पर उसने अपना वह महान् इतिहास-ग्रन्थ लिखा। इसलिए आज उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसके तथ्यों का मूल्यांकन करना अथवा उसकी प्रामाणिकता की जाँच करना सर्वथा अर्थशून्य एवं औचित्य-हीन होगा। अपने समय की दृष्टि से कर्नल टॉड महान् इतिहासज्ञ, और अत्युत्तम इतिहास लेखक था। उसने 'राजस्थान का इतिहास' लिख कर अपने को और राजस्थान को अमर कर दिया है। जब तक भारत में 'राजस्थान' का अस्तित्व रहेगा तब तक कर्नल टॉड का सुनाम और उसका 'राजस्थान का इतिहास' सदैव स्मरणीय और पठनीय रहेगा।

राजस्थान का इतिहास लिखने की कर्नल टॉड को जो प्रेरणा हुई वह अवश्य ही कोई दिव्य प्रेरणा थी। इसी दिव्य प्रेरणा के

कारण उसके मन में राजपूत जाति के मुख्य केन्द्रभूत इस विशाल भूभाग को, जो अति प्राचीन काल से मेवाड़, मारवाड़, वागड़, जांगल, सपादलक्ष, शाकंभरी, मत्स्य आदि प्रदेशों के नाम से विभक्त था और जिसके शासक राजवंश भिन्न-भिन्न प्राचीन राजकुलों की सन्तान और उत्तराधिकारी थे और ये सब परस्पर सदैव अपने राज्य की रक्षा और वृद्धि करने के लिए संघर्ष करते रहते थे, उन सब राज्यों और प्रदेशों का एक ही नाम में समावेश कर महान् 'राजस्थान' के भव्य नाम के निर्माण की अद्‌भुत कल्पना उद्‌भूत हुई। इसके पहले 'राजस्थान' यह नाम किसी भी प्रदेश विशेष के लिए कभी किसी ने प्रयुक्त नहीं किया, और न कर्नल टॉड के सिवाय अन्य किसी ने भी उस समय इस नाम को महत्व ही दिया। अंग्रेजी शासन ने अपने शासन-तंत्र की व्यवस्था की दृष्टि से राजपूतों के राज्यों के समूह वाले इस प्रदेश का 'राजपूताना' नाम निर्धारित किया और फिर सब प्रकार का व्यवहार इसी नाम से प्रचलित और प्रसिद्ध होता रहा। यहाँ तक कि बाद के राजस्थान के इतिहास लेखकों में मुकुटमणि-समान स्वर्गीय म० म० पंडित गौरीशंकरजी ओझा ने भी अपनी महान् ऐतिहासिक रचना का नाम 'राजपूताने का इतिहास' ऐसा ही देना पसन्द किया। इस प्रदेश की जो प्रथम युनिवर्सिटी जयपुर में बनी वह भी प्रथम 'राजपूताना युनिवर्सिटी' के नाम से अलंकृत हुई। भारत में जब अंग्रेजी प्रभुसत्ता का अन्त हुआ और स्वतन्त्र भारत का नवनिर्माण हुआ तब अन्यान्य राज्यों के संगठन के साथ राजपूताना के राज्यों का विलीनीकरण होकर प्रजातंत्रात्मक नूतन राज्य की स्थापना के समय, भारत की सर्वोच्च सार्वभौम सत्तास्वरूप लोकसभा ने इस नूतन महा-जनपद का वही भव्य नाम स्वीकृत किया जो महामना कर्नल टॉड ने इसे प्रदान किया था।



प्रस्तुत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' नामक रचना भी कर्नल टॉड के उक्त इतिहास के समान ही मौलिक, रसप्रद और ज्ञातव्य वर्णनों से भरपूर है। इस यात्रा-विवरण के लिखने में उसने अपनी उस विशाल

ऐतिह्य जानकारी को लिपिबद्ध किया है, जिसका उसने अपने इतिहास के आलेखन में उपयोग नहीं किया था तथा इसमें उन स्थानों, तीर्थों, मन्दिरों आदि का वर्णन है, जिनको 'राजस्थान के इतिहास' में स्थान नहीं मिला तथापि जो राजस्थान के इतिहास से घनिष्ठ संबन्ध रखते हैं; उदाहरणार्थ—आबू पहाड़, जो राजस्थान का सर्वोच्च और सुरम्य पर्वत है, गुजरात और राजस्थान के इतिहास का केन्द्र बिन्दु है, सारे भारत के हिन्दुओं का परमपावन तीर्थ है, भारत की मध्य-कालीन स्थापत्य-समृद्धि के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक-स्वरूप दिव्य देव-मन्दिरों के मुकुट को अपने मस्तक पर धारण करने के कारण समस्त मध्य पश्चिमी भारत का नगाधिराज है, उस की यात्रा करने वाला वह प्रथम अंग्रेज है और संसार में इसकी सर्वप्रथम प्रसिद्धि करने वाला वही महान् लेखक है। ऐसे ही, उसने शत्रुंजय, गिरनार, द्वारका, सोमनाथ, आदि पवित्र तीर्थ-स्थानों के भी सुन्दर और भावपूर्ण वर्णन लिखे हैं। वह केवल शुष्क प्रवासी नहीं है—परन्तु, बहुत भावुक, प्रकृति-प्रिय, कलाप्रेमी, मर्म-खोजी और अत्यन्त कल्पनाशील लेखक है। किसी भी प्राचीन सुरम्य स्थान, प्राचीन कलाकृति, प्राचीन भग्नावशेष को देख कर उसके मन में नाना प्रकार के भावों का आन्दोलन सा मच जाता था, जिनको बड़ी कठिनाई से समेट कर वह अपनी लेखनी द्वारा कागज पर आलेखित करता रहता था। वह यूरोप के इतिहास का भी महान् ज्ञाता था। उसके समय तक प्रसिद्धि में आई हुई सैकड़ों ही इतिहास की पुस्तकों का उसने अवलोकन कर लिया था और जहाँ कहीं भी उसको अपने लेखोद्दिष्ट वर्णन में कोई सादृश्य-सूचक उल्लेख का स्मरण हो आता, वहीं वह उसका उल्लेख करने के प्रसंग से नहीं चूकता था। इसलिये उसके प्रस्तुत यात्रा-विवरण में ऐसे सैंकड़ों ही उल्लेख मिलते हैं, जिनका पता लगाना भी कठिन हो जाता है। उसकी बुद्धि सर्वग्राहिणी थी, उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, उसकी जिज्ञासा अपरिमित थी, उसका परिश्रम अथक था, इसलिये इस ग्रन्थ में उसके उक्त गुणों के निदर्शक सभी चित्र संचित हुए हैं।

कर्नल टॉड द्वारा लिखित 'राजस्थान का इतिहास' ग्रन्थ, उसमें उल्लिखित राजस्थान की अनेक रोमांचक कथाओं के कारण तथा उसकी रसभरी वर्णन शैली के कारण, बहुत लोकप्रिय हुआ। इसलिए उसकी प्रसिद्धि भी बहुत हुई। परन्तु, प्रस्तुत यात्रा-विवरण एक अन्य प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करता है और यह उसके जीवनकाल में प्रकट भी न हो सका, इसलिए इसकी कोई वैसी विशेष प्रसिद्धि नहीं हुई और न इसके प्रथम संस्करण के बाद कोई नई आवृत्ति ही प्रकट हुई। पिछले लेखकों ने इसका कोई विशेष उल्लेख भी नहीं किया। अतः एक प्रकार से यह रचना भारत के जिज्ञासुओं को अप्राप्य सी ही रही।



टॉड का 'इतिहास' तो हमने बहुत पहले पढ़ लिया था और हमारा वह एक बहुत प्रिय ग्रन्थ बन गया था। जैन-भण्डारों में संचित नाना प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थों आदि का जब हमने अवलोकन और अन्वेषण करना शुरू किया तो टॉड के इतिहास की अनेक अपूर्णताओं और भ्रान्तियों पर भी हमारा लक्ष्य गया। हमने इस दृष्टि से उपलब्ध साधन-सामग्री का संकलन करना भी प्रारंभ कर दिया था। पर जब यह मालूम हुआ कि स्व० ओझाजी अपनी टिप्पणियों के साथ 'राजस्थान का इतिहास' का एक नूतन संस्करण निकाल रहे हैं तब हमने अपने कार्य को आगे नहीं बढ़ाया। इस विषय में म० म० ओझाजी के साथ हमारा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

कुछ वर्षों बाद हमें टॉड कृत प्रस्तुत यात्रा-विवरण का पता लगा। बड़ी कठिनता से बडौदा में सन् १९१५ में, हमें इसकी एक छपी हुई पुस्तक मिली। हम, यथावकाश इसे पढते रहे और हमें यह राजस्थान के इतिहास की ही तरह बहुत प्रिय रचना लगी। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के 'पुरातत्त्व मन्दिर' के एक मुख्य संस्थापक एवं आद्य-नियामक आचार्य पद पर रहते हुए हमने इसका गुजराती भाषा में अनुवाद करा कर प्रकट करने का विचार किया क्यों कि इसमें आबू, चन्द्रावती, अणहिलपुर-पाटण, शत्रुंजय, गिरनार, सोमनाथ, द्वारका आदि

गुजरात के अनेकानेक स्थानों का बहुत ही सुन्दर रूप में सविस्तार वर्णन लिखा हुआ है। इस दृष्टि से चन्द्रावती के खण्डहरों को देखने भी हम, गुजरात विद्यापीठ के हमारे एक साथी प्रोफेसर श्री एन. आर. मलकानी के साथ, गये। यद्यपि हमें उस समय टॉड का दिया हुआ कोई भी दृश्य वहाँ नहीं दिखाई दिया—केवल कुछ खंभे कहीं-कहीं खड़े दिखाई दिये, परंतु हमको चन्द्रावती के प्राचीन इतिहास की और वैभव की बहुत अधिक जानकारी थी जिसकी कर्नल टॉड को कल्पना भी नहीं थी। तब भी टॉड ने अपने इस ग्रन्थ में चन्द्रावती के जिन खण्डहरों के चित्र दिये हैं, उन्हीं को देख कर हम उस स्थान पर मुग्ध हो गये थे। इसलिए हमने एक साथी अभ्यासी को टॉड द्वारा लिखित सर्वप्रथम चन्द्रावती के वर्णन का अनुवाद करने का काम सौंपा। हमारा विचार, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर के तत्त्वावधान में हम जो पुरातत्त्व' नामक संशोधनात्मक उच्चकोटि का त्रैमासिक पत्र प्रकट कर रहे थे, उसी में क्रमशः टॉड के इस महत्त्व के ग्रन्थ के प्रकरण प्रकाशित करने का था।

सन् १९२८ ई० में हमारा विदेश में—युरोप में जाना हुआ। हमारे छोड़े बाद गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर का काम प्रायः स्थगित सा हो गया। गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित जो बहुत विशाल सामग्री हमने एकत्रित की थी—वह हमें अपने बक्सों में बंद कर देनी पड़ी। बाद में, दो वर्ष बाद हम युरोप से लौटे और शान्ति-निकेतन में जाकर 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया—तब हमने फिर उस सामग्री में से चुन चुन कर, ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने योग्य ग्रन्थों का प्रकाशन भी शनैः शनैः हाथ में लिया।

सन् १९४०-४१ ई० में बम्बई के भारतीय विद्याभवन के ऑनरेरी डायरेक्टर का काम संभाला तब फिर हमारे मन में, टॉड की इस कृति का गुजराती या हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करने की वह पुरानी लालसा जागृत हो गई। हमारे पास उस समय दो चार हिन्दी-भाषी अभ्यासी थे उनमें से हमने एक-दो को इसका हिन्दी अनुवाद करने को कहा। नमूने के तौर पर हमने कुछ पृष्ठों का अनुवाद भी कराया परन्तु, ग्रन्थ की शैली और महत्त्व को देखते हुए हमको उनका अनु-

वाद ठीक नहीं जँचा। हम किसी अच्छे विद्वान् अनुवादक की खोज करते रहे।

सन् १९५० ई० में राजस्थान सरकार ने हमारे निर्देशन में इस प्रतिष्ठान की जयपुर में स्थापना की। राजस्थान के इतिहास और संस्कृति विषयक साहित्यिक सामग्री को प्रकाश में लाना यह भी एक मुख्य उद्देश्य इस प्रतिष्ठान का निश्चय किया गया है। इस प्रकार की सामग्री को अच्छे ढंग से प्रकाश में रखने का विचार हमारे मन में सदैव जागृत रहा है। इस प्रतिष्ठान का कार्यभार संभालने में एक अच्छे सहयोगी और सुयोग्य सहायक विद्वान् के रूप में सरकार ने, पहले ही दिन से, श्री गोपालनारायणजी बहुरा को नियुक्त किया। श्री बहुराजी संस्कृत के एम. ए. हैं और अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् हैं तथा इतिहास और साहित्य में इनकी बहुत अभिरुचि है, यह, जानकर हमें बहुत सन्तोष तथा प्रसन्नता हुई। मैं अपने अन्यान्य ऐसे ही विविध स्थानों के कार्यों में संलग्न रहता रहा हूँ इसलिए अपना पूरा समय इस प्रतिष्ठान को नहीं दे पाता। अतः मेरी अनुपस्थिति में प्रतिष्ठान का कार्य श्री बहुराजी को ही संभालना होता है। ये उस समय गुजरात के इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थ अलेक्जेण्डर किनलॉक फार्बस द्वारा लिखे हुए 'रासमाला' का हिन्दी अनुवाद कर रहे थे। इन्होंने मुझे वह बताया और कुछ प्रकरण सुनाये। मैं इनकी अनुवाद करने की प्रसन्न शैली और मूल के भावों को उत्तम ढंग से भाषा में रखने की योग्यता को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। मेरे मन में अपना वह पुराना संकल्प फिर जागृत हो आया और मैंने इनसे कहा कि आप टॉड के यात्रा-विवरण का हिन्दी अनुवाद करें, मैं इसे किसी भी ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर देना चाहता हूँ। श्री बहुराजी ने मेरी चिर अभिलाषा को प्रस्तुत रूप में जो पूर्ण किया है वह मेरे लिए कितने संतोष का विषय है, यह तो वे ही विद्वज्जन समझ सकते हैं जो इस प्रकार की साहित्यिक लालसा या तृष्णा के तीव्र रोग के अनुभवी होते हैं।

श्री बहुराजी ने यह अनुवाद कार्य अपने निजी अवकाश के समय

में घर पर बैठ कर किया। ग्रन्थ भी बहुत बड़ा और भाषा तथा भाव की दृष्टि से भी बड़ी प्रौढ शैली में लिखा गया है, अतः इसका अनुवाद कार्य सहज साध्य नहीं था। साथ में उनके संदर्भ ग्रन्थों का टटोलना, अज्ञात, अपरिचित स्थानों, व्यक्तियों आदि के बारे में यथाशक्य जानकारी प्राप्त करना आदि कारणों से अनुवाद के पूरे होने में काफी समय लगा। जब अनुवाद-कार्य पूरा होने आया तब मैंने इसको इस 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' द्वारा ही प्रकाशित करना अधिक उपयुक्त समझा, क्योंकि टॉड जैसे राजस्थान के परम हितैषी और परम सुहृद् विद्वान् की एक अद्वितीय कोटि की रचना का राष्ट्र-भाषा में किये गये अनुवाद को प्रकाश में रखने का पवित्र कर्तव्य 'प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' से अधिक और किसका हो सकता है? अतः मैंने इसे प्रस्तुत ग्रन्थमाला की मणियों में स्थान देना सर्वथा उचित और उपयुक्त समझा। मेरे इस विचार की सह-परामर्शदाता विद्वानों ने भी पुष्टि की।

कोई १०-११ वर्ष के सतत परिश्रम बाद अब यह ग्रन्थ पाठकों के करकमलों में उपस्थित हो रहा है।

श्री बहुराजी ने जिस लगन और साधना के साथ इस सुन्दर अनुवाद का कार्य सम्पन्न किया है उसके लिये मैं इन्हें अपना हार्दिक अभिनन्दन देने के सिवाय और क्या कर सकता हूँ? ये मेरे इतने निकटस्थ और आत्मीय जन हैं कि इनके कार्य के विषय में कुछ भी विशेष कहना सही स्वारस्याभिव्यञ्जक नहीं होगा।

बहुविद्या-व्यासंगी और मर्मज्ञ इतिहासविद् महाराजकुमार डॉ० श्री रघुवीरसिंहजी (सीतामऊ) ने इस पुस्तक की सारगर्भित प्रस्तावना लिखने की जो सौहार्दपूर्ण तत्परता दिखाई है, उसके लिये मैं इनके प्रति ग्रन्थमाला के सञ्चालक के रूप में भी अपना हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

१५, अगस्त १९६५ ई०;
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर.

—मुनि जिनविजय

अनुवादक का आवेदन

प्रस्तुत पुस्तक "राजस्थान के इतिहास"-लेखक कर्नल जेम्स टॉड कृत 'ट्रैवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद है। मूल-ग्रन्थ की रचना, उद्देश्य, रचना-समय, इसका वैशिष्टय, ग्रन्थकार की मान्यताओं, इसके एकमात्र संस्करण के प्रकाशन, इसके स्वल्प प्रचार और अधुना इसके अभिनव संस्करण तथा अनुवाद की आवश्यकता आदि विषयों पर आगामी पृष्ठों में मुद्रित 'ग्रन्थकर्त्ता-विषयक संस्मरण', विज्ञापन, और प्रस्तावना में विस्तार के साथ विवरण दिया गया है। अतः इन विषयों पर इस आवेदन में कुछ लिखना अनावश्यक आवृत्ति ही होगी।

सन् १९५५ ई० में हमारे विभाग के सम्मान्य संचालक श्रीमान् मुनि जिनविजयजी पुरातत्त्वाचार्य ने मुझे इस ग्रन्थ की प्रति अपने निजी संग्रह में से लाकर दी और यह आदेश दिया कि "यह बहुत दुर्लभ्य पुस्तक है और राजस्थान तथा उससे सम्बद्ध गुजरात एवं सौराष्ट्र प्रदेशों के इतिहास, संस्कृति और तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों तथा भौगोलिक वर्णनों के कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका यदि हिन्दी रूपान्तर हो जाय तो बहुत उत्तम होगा; इससे इतिहास और संस्कृति के शोधविद्वानों को बहुत सहायता मिल सकती है। इसका अंग्रेजी में पुनर्मुद्रण दुष्कर है; इस ओर किसी का ध्यान भी नहीं है और न इस पुस्तक की प्रतियाँ कहीं आसानी से मिल ही सकती हैं। कर्नल टॉड के समय से लेकर अब तक बहुत-सी खोज होकर कई नई बातें सामने आ चुकी हैं और उनके द्वारा उसकी मान्यताओं का संस्थापन या निराकरण भी किया जा सकता है। आपने अलेक्जेण्डर किन्लॉक फार्बस् कृत 'रासमाला' का अनुवाद किया है। उस पुस्तक का विषय बहुत कुछ इस पुस्तक में वर्णित स्थलों, आख्यानों और ऐतिहासिक घटनाओं आदि से मेल खाता है। यदि इस कार्य को अवकाश के समय धीरे-धीरे कर डालो तो अच्छा है। हम इसे अपने तत्वावधान में काम करने वाली किसी संस्था से प्रकाशित करना चाहते हैं।" मुझे अपनी सीमित योग्यता, इतिहास, अंग्रेजी और हिन्दी भाषा पर अपेक्षित अधिकार की कमी तथा कार्यालयीय दायित्व के होते हुये अवकाश की स्वल्पोपलब्धि का ध्यान था, परन्तु कुछ तो पुस्तक की आकर्षकता और विशेषता और कुछ "आज्ञा गुरूणां परिपालनीया"

इस आदर्श वाक्य के प्रति निष्ठा-भावना के वश होकर मैंने इस कार्य को स्वीकार कर लिया; मुझसे 'ना' कहते न बना।

जब कार्य आरंभ किया तो बाद में कई बार मेरा मन डाँवाडोल होने लगा और कभी-कभी तो इस आशंका के अंधेरे बादलों ने मुझे आ घेरा कि शायद यह कार्य मुझ से पूरा न हो सकेगा और मैं श्री मुनिजी महाराज को क्या उत्तर दूंगा ? परन्तु, मुझ से अपने इस ऊहापोह का प्रकाश करते भी न बना, और जब-जब जैसे-जैसे भी मुझे अवकाशों के दिनों में और कार्यदिनों की रात्रियों में समय मिला, मैं किसी न किसी अंश में इस कार्य को करता ही रहा। कभी-कभी तो केवल एक ही वाक्य का अनुवाद कर के रह गया, कभी-कभी दो-दो और तीन-तीन महीने का व्यवधान बीच में पड़ गया और सन् १९५८-५९ में तो हमारे कार्यालय के जयपुर से जोधपुर स्थानान्तरण के कारण पूरे वर्ष भर मैं इस कार्य से पराङ्मुख रहा। अस्तु, अन्ततोगत्वा १९६२ ई० के आरम्भ में परिशिष्ट के अतिरिक्त पुस्तक का अनुवाद किसी तरह पूरा हो गया और मैंने श्री मुनिजी महाराज को इस विषय में निवेदन कर दिया। उन्होंने अनुवाद अपने पास मंगवा कर कितने ही प्रकरणों को आद्योपान्त और कितने ही प्रकरणों के यत्र-तत्रीय स्थलों को मुझ से पढ़वा कर सुना, आवश्यक संशोधन करवाये और जहाँ जो कुछ बदलने जैसा था उसका निर्देश किया। जब यह कार्य पूर्ण होगया तो अगस्त सन् १९६२ में श्रीमुनिजी ने कहा कि "अब तो यह पुस्तक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से ही प्रकाशित होने लायक बन गई है। इसके परिशिष्ट में जिन शिलालेखों का जेम्स टॉड ने अनुवाद दिया है उनके मूल पाठ को ढूंढो और मूल एवं अनुवाद में जो अन्तर या व्युत्क्रम देखने में आवे उनका उल्लेख करो। अनुवाद की पाण्डुलिपि कार्यालय में जमा करा दो कि जिससे इसके मुद्रण आदि की व्यवस्था चालू की जा सके।" मैंने इस आज्ञा को मान्य करते हुए अनुवाद की पाण्डुलिपि कार्यालय में जमा करवा दी। वहाँ इसके मुद्रणादि के विषय में अपेक्षित कार्यवाही चालू हुई और जनवरी सन् १९६३ में हुई विभाग की विशेषज्ञ समिति ने भी इस पुस्तक के प्रकाशन को स्वीकार कर लिया।

कर्नल जेम्स टॉड जैसे बहुज्ञ, सूक्ष्मदर्शी और कल्पनाशील लेखक की कृति का अनुवाद करने के लिये जो योग्यता और अध्ययन अपेक्षित है, मैं उसके प्रान्त को भी नहीं छू पा रहा हूँ। इस अनुवाद में मेरा प्रयत्न केवल इतना ही रहा है कि मैंने मूल को पढ़कर अपनी भाषा में जैसा कुछ समझ सका हूँ वैसा लिख दिया है। हो सकता है कि कहीं-कहीं मैं तत्त्व को न समझ पाया हूँ परन्तु, जैसा जो कुछ समझा है उसको व्यक्त करने में पूरी ईमानदारी बरती है। अतः इसमें

कहीं भूलें भी रह गई हैं, तो वे खरी हैं। मैंने लिखा है कि अपनी भाषा में मूल को व्यक्त किया है, परन्तु मेरी अपनी कोई निज़ी शैली-प्रधान भाषा नहीं है। अनुवाद का कार्य बहुत लम्बे समय तक चला है। मैं सामयिक पत्र-पत्रिकादि देखता पढ़ता रहता हूँ। इस बीच में कभी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का घोष तुमुल हुआ तो कभी सरल हिन्दी का नारा बुलन्द हुआ; ऐसी-ऐसी सूचनाओं का प्रभाव मुझ पर पड़े बिना न रहा। अतः इस पुस्तक में भाषा की आद्योपान्त एकरूपता के दर्शन न होना भी स्वाभाविक है। कितने ही शब्द और प्रयोग ऐसे भी आ गये हैं जो हमारे प्रान्त में बोले जाते हैं। यह प्रेरणा मुझे मूल लेखक से ही मिली है क्योंकि उन्होंने कहीं-कहीं एतत्प्रान्तीय और ग्रामीण शब्दों को यथा-वत् प्रयुक्त किया है। भारतीय स्थानों और व्यक्तियों के नामों की हिज्जे प्राचीन ग्रीक, अरब और पुर्तगाली लोगों के द्वारा उच्चारणभेद से अंग्रेजी तक पहुँचने में कुछ की कुछ बन गई और उनमें से कितनों ही के मूल नामों को तो अब तलाश कर लेना भी बहुत कठिन है। कर्नल टॉड ने यद्यपि इन स्थानों और व्यक्तियों के ठीक-ठीक नामों के संकेत देने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी कुछ उनके अंग्रेजी उच्चारण और कुछ उनके एतद्देशीय संसूचकों की असावधानी के कारण नामों की वर्त्तनी में संदिग्धता बनी ही रह गई है। इसी प्रकार जिन ग्रीक, अरब, पुर्तगाली, फ्रेंच और अन्य यूरोपीय स्थानों, लेखकों एवं अन्य व्यक्तियों के नाम इस पुस्तक में आये हैं उनको मैंने अपने उच्चारण के अनुसार नागरी लिपि में लिखा है। संभव है, इन नामों के लिखने में कोई विकृति हुई हो, इसलिये कर्नल टॉड द्वारा प्रयुक्त अंग्रेजी हिज्जे ज्यों की त्यों कोष्ठकों में लिख दी गई है।

कर्नल टॉड का अध्ययन विस्तृत, ज्ञान बहुमुखी और प्रतिभा चतुर्दिक्-प्रसारिणी थी। भारतीय इतिहास, यहाँ के निवासियों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों तथा यहाँ की पूर्वमध्यकालीन और ब्रिटिश शासन-प्रणाली, आर्थिक, सामाजिक एवं यहाँ तक कि नृवंशशास्त्रीय विषयों का विश्लेषण करते हुये उन्होंने पद-पद पर प्राचीन यात्रियों के विवरणों, अरब, ग्रीक और यूरोपीय लेखकों के उद्धरणों और एतद्देशीय प्राप्त ग्रंथों के सन्दर्भ इस ग्रंथ में दिये हैं। इन संदर्भों को खोज कर मूल लेख को खोलने के लिए उतने ही अध्ययन, पर्यटन सर्वेक्षण और तत्त्वग्रहण-सामर्थ्य की आवश्यकता है। बहुत से ग्रंथों, लेखों और लेखकों के नाम तो अब प्राप्त भी नहीं हैं; जो प्राप्त हैं उनमें से बहुत से सुलभ नहीं हैं। मैंने यथाशक्ति इस अनुवाद में टिप्पणियाँ देकर उन दुरूह स्थलों को खोलने का प्रयत्न किया है जो प्रायः किसी सुदूर सन्दर्भ से सम्बद्ध हैं और मूल

अथवा अनुवाद को पढ़कर भी जन-साधारण के लिये सुगम्य नहीं है। इन्हीं टिप्पणियों में मूल लेखक की कुछ ऐसी भ्रान्तियों को भी निराकृत करने का प्रयत्न किया गया है जो या तो उनको स्थानीय सूचकों ने गलत दी हैं या फिर उनके स्वयं के समझने में कोई भ्रम रह गया है। मूल पुस्तक में मूल लेखक द्वारा एवं प्रकाशक द्वारा भी कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं, उनका अनुवाद ब्लेक टाइप में है और अनुवादक की सभी टिप्पणियाँ व्हाइट में हैं।

कर्नल जेम्स टॉड के प्रशंसकों और आलोचकों ने उनको सरस इतिहास-लेखक, कुशल प्रशासक, स्पष्टवादी, प्रलोभनों से मुक्त और भारतीय-संस्कृति विशेषत: राजपूतों का प्रेमी कहा है। कुछ लोगों ने उनके द्वारा लिखे हुए तथ्यों की प्रामाणिकता को सन्देहास्पद व्यक्त किया है और यह बात किन्हीं अंशों में सही भी है। यह सब कुछ होते हुए भी टॉड ने जहाँ-जहाँ वह रहे, जहाँ-जहाँ घूमे और जहाँ-जहाँ उन्होंने शासन किया, उन स्थानों और वहाँ के निवासियों का गम्भीर अध्ययन किया और उनका वर्णन भी उसी गम्भीरता के साथ किया है। उन्होंने अपने लेखों में इतिहास की मूलभित्ति पर जो भवन खड़े किये हैं वे सुरुचि-पूर्ण कला के प्रतीक हैं। उन्होंने इतिहासलेखन की एक ऐसी सरस प्रणाली का सूत्रपात किया जो केवल घटनाओं और तिथिक्रमों का कंकाल मात्र न रह कर पौराणिक उपाख्यानों, सरस लोककथाओं, उत्साहवर्धक वीर गाथाओं, मनोरंजक प्रवादों और रोमांचकारी लोकगीतों के विशुद्ध रसप्रवाह से सुपुष्ट और प्राणवान् है। उनके सभी विश्लेषण सबल मानवीय अनुभूतियों पर आधारित हैं जो अन्य बड़े-बड़े लेखको में दुर्लभ्य है।

जेम्स टॉड का जिस रूप में परिचय दिया जाता है उसके अतिरिक्त वे कविहृदय भी थे। प्राकृतिक-वर्णन में उनके लिखे हुए विवरण बहुत उच्चकोटि के गद्यकाव्य की गणना में आ सकते हैं और जब-जब अपने यात्रा-प्रसंगों में ऐसे सुरम्य स्थल आये हैं तो उनके कविहृदय की अनुभूतियाँ अनुप्रवाहित हुए बिना नहीं रह सकीं। अरावली की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :—
"यहाँ सभी कुछ महान्, सुन्दर और प्राकृतिक था—मानो प्रकृति ने इसको अपनी प्रिय सन्तान के नित्यविहार के निमित्त ही बनाया हो, जहां दृश्य की शान्ति एवं अनुरूपता में बाधा डालने वाले मानवीय विकारों के लिए कोई अवसर नहीं था। आकाश निर्मल था, घनी-पत्रावली में से एक दूसरी को प्रत्यु-त्तर देती हुई कोयलों की कूकें सुनाई पड़ रहीं थी, सूर्य का प्रकाश पहुँचते ही बांस की कुंजों में छुपे हुए वन-कुक्कुट प्रात:कालीन बांग देने लगे थे। वृक्षों पर

घोंसलों में बैठे हुए भूरे तीतरों के झुंड हर्ष प्रदर्शन में पेंडुकी से होड़ लगा रहे थे।" (पृ० २५)

चन्द्रावती के खण्डरों की सामग्री से निर्मित अहमदाबाद के नये निर्माण पर टॉड को बड़ा आक्रोश था। उन्होंने मुसलमानी और हिन्दू स्थापत्य का अन्तर बतलाते हुए लिखा है :—

"गहरे कटावदार हिन्दू-भवन-समूहों को देखने पर एक चित्र-सरीखी श्यामल-छाया गम्भीरतम दृश्य उपस्थित करती है और वे मेघाच्छन्न आकाश से अधिक साम्य लिए हुए तथा अपने पिरामिड जैसे शुण्डाकार शिखरों के चारों ओर खेलते हुए तूफानों की शक्ति पर एक तिरस्कारपूर्ण हंसी हंसते हुए-से जान पड़ते हैं जब कि किसी गुम्बददार मस्जिद और इसकी परियों जैसी गगनचुम्बी मीनारें उसी समय सुन्दरतम दृश्य उपस्थित कर पाती हैं जब प्रकृति शान्त होती है अथवा जब निरभ्र आकाश से किसी खिड़की की रंगीन चौखट में होकर आती हुई-सी सूर्यरश्मियाँ संगमर्मर की गुम्बद पर स्वछन्द खेल रही होती हैं।

(पृ० २५१)

कर्नल टॉड से पूर्व विदेशी लेखकों में एक ऐसी भावना घर कर गई थी कि भारतीयों में इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति ही नहीं है और न भारतीय-साहित्य में कोई इतिहास जैसी वस्तु ही विद्यमान है। परन्तु, टॉड ने बड़ी लगन के साथ यहाँ के प्राचीन स्थापत्य, स्मारकों, अन्य पुरातन वस्तुओं और इतिहास-लेखन के स्रोत प्राचीन ग्रंथों का सूक्ष्म निरीक्षण करके उनका मूल्यांकन किया और इस पूर्वाग्रह को अमान्य करते हुए यह घोषणा की कि भारत में इतिहास-लेखन के लिये ऐसी प्रामाणिक और अत्यधिक मात्रा में सामग्री मौजूद है कि जितनी उन उन्नतिशील होने का दम भरने वाले देशों में भी उस काल के ऐतिहासिक साहित्य में उतनी मात्रा में नहीं पायी जाती है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—

"कुछ लोग आँख मींचकर यह मान बैठे हैं कि हिन्दुओं के पास ऐतिहासिक ग्रंथों जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। × × × मैं फिर कहूंगा कि इस प्रकार अर्थहीन अनुमान लगाने में प्रवृत्त होने से पहिले हमें जैसलमेर और अणहिल-वाड़ा (पाटण) के जैन-ग्रंथ-भंडारों और राजपूताना के राजाओं तथा ठिकानेदारों के अनेक निजी संग्रहों का अवलोकन कर लेना चाहिये।" (पृ० १५६)

पुरातत्त्वान्वेषण में श्रम से मुँह चुरा कर भारतीय इतिहास के प्रति हीन-भावना बनाने वालों को भी टॉड ने खूब लताड़ा है—

"ऐसी स्थिति में तो हम उस दम्भपूर्ण मिथ्याभिमान के प्रति दया-भाव ही प्रदर्शित कर सकते हैं, जिसने इस विचार को प्रेरणा दी है कि हिन्दुओं के पास कोई ऐतिहासिक लेख सामग्री नहीं है और जिसके द्वारा इस प्रकार के अन्वेषणों को व्यर्थ का प्रयास घोषित करके जिज्ञासा की भावना को दबा देने का प्रयत्न मात्र किया गया है। (पृ० २४८)

इसी प्रकार के अन्यान्य तथ्यों का उद्घाटन और अमान्य पूर्वाग्रहों का निराकरण कर्नल टॉड ने अपने इस यात्रा विवरण में किये हैं। उनकी भारतीय विषयों के अनुसंधान और उसके विवेचन में जो रुचि थी एवं जिस लगन से वे कार्य करते थे तथा करना चाहते थे उसके विषय में लिखा है—

"यदि स्वास्थ्य और पर्याप्त अवकाश मुझे मिलता तो जो कुछ मैंने किया है उससे दसगुना काम और करता और यदि विशेष सुविधाएँ मिलीं होतीं तो उस दसगुने का भी दसगुना कर दिखाता—मेरे इस कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये।" (पृ० २५६)

परिशिष्ट में कर्नल टॉड ने जिन शिलालेखों के अनुवाद दिये हैं उनमें से बहुत से तो इण्डियन एन्टिक्वेरी, एशियाटिक रिसर्चेज, हिस्टोरीकल इन्सक्रिप्सन्स् ऑफ गुजरात, वीरविनोद आदि ग्रन्थों में मुद्रित रूप में प्राप्त हो गये हैं। कुछ शिलालेख जो वे अपने साथ इंग्लेण्ड ले गये थे या उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसायटी में जमा करा दिये थे उनमें से कतिपय उपलब्ध नहीं हुए हैं, ऐसा मूल संस्करण के प्रकाशक ने भी लिखा है। जिन शिलालेखों के मूल पाठ प्राप्त हो सके हैं वे परिशिष्ट में कर्नल टॉड कृत अनुवाद के हिन्दी-रूपान्तर के नीचे पुनर्मुद्रित हुए हैं। जहाँ अंग्रेजी अनुवाद और मूल-पाठ में वास्तविक अन्तर दिखाई दिया वहाँ आवश्यक टिप्पणी दे दी गई है। इससे विज्ञ पाठकों को मूल-पाठ देखकर तथ्य समझने में तत्काल सुविधा हो सकेगी।

पुस्तक में राजस्थान, गुजरात, काठियावाड़, बम्बई के कितने ही गांवों कस्बों, नगरों और ऐतिहासिक पुरुषों अथवा लोककथा के पात्रों, तथा जेम्स टॉड के परिकर में काम करने वाले सैनिकों और मल्लाहों आदि के नाम सैकड़ों की तादाद में आये हैं। ऐसे स्थानों और व्यक्तियों के नाम, अन्य संदर्भित यूरोपीय स्थानों और व्यक्तियों की नामावली-सहित अनुक्रमणिका (१,२) में दे दिये गये हैं। इसी प्रकार भारतीय, मध्य एशियाई और यूरोपीय कितनी ही जातियों के नाम भी इस पुस्तक में आये हैं, जो अनुक्रमणिका (३) में संकलित हैं। पुस्तक में कुछ ऐसे शब्द हैं जो लोकप्रचलित एवं वास्तु आदि

कलाओं से सम्बन्धित अथवा उपाधि आदि के सूचक हैं। इनमें से कुछ देशी शब्द मूल लेखक ने भी उनके प्रति आकृष्ट होकर ज्यों के त्यों प्रयुक्त किये हैं, जो उनकी भाषा को अधिक आकर्षक बनाने में सफल हुए हैं। अनुवाद में भी कुछ प्रान्तीय एवं प्रसंगोपात्त पारिभाषिक शब्द आगये हैं, ऐसे ही कुछ शब्दों को अनुक्रमणिका (४) में एकत्रित किये हैं। अनुक्रमणिका (५) में उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम दिये गये हैं जिनके कर्नल टॉड ने अपने ग्रन्थ में उद्धरण दिये हैं या उनकी ओर संकेत किये हैं। टिप्पणियों में जिन ग्रन्थों से सहायता ली गई है अथवा जिनका संकेत किया गया है उनकी तालिका अनुक्रमणिका (६) के रूप में दी गई है।

कर्नल टॉड ने अपना यह ग्रन्थ श्रीमती कर्नल हन्टर ब्लेयर को यह कहते हुए समर्पित किया है कि वे आबू के रमणीय स्थलों के रेखाचित्र बनाकर आबू को इंग्लेण्ड ले गईं। मूल-पुस्तक से उन रेखाचित्रों की फोटो-प्रतिकृतियां तैयार करवाकर प्रस्तुत पुस्तक में पुनः प्रकाशित की गई हैं कि जिससे पाठक यह जान सकें कि श्रीमती हन्टर ब्लेयर आबू का कौनसा रूप इंग्लेंड में ले गई थीं। इनके अतिरिक्त कर्नल टॉड के एक सुप्रसिद्ध स्वाभाविक चित्र तथा राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के संग्रह में सुरक्षित 'फिरंगी टॉड' शीर्षक काल्पनिक चित्र की प्रतिकृतियां भी पुस्तक में लगाई गई हैं।

अनुवाद कैसा हुआ है, इसमें कितनी और कैसी कमियां रह गई हैं तथा इसमें दी हुई टिप्पणियाँ कितनी उपयोगी हैं और वे कहाँ तक शोधविद्वानों के लिये सहायक हो सकेंगी, इत्यादि विषयों में कुछ भी कहने का मैं अपना अधिकार नहीं समझता हूँ। कर्त्तव्यरूपेण मैंने यह परिश्रम किया और इससे अध्येताओं, संशोधकों और सामान्य पाठकों को किंचित् भी सहायता मिल सकी या उनका अनुरंजन हो सका तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय-समुद्धरणैकव्रती सुकृती मनीषी पद्मश्री मुनि जिनविजयजी महाराज को मैं श्रद्धा सहित धन्यवाद अर्पित करता हूँ कि जिनके दिग्दर्शन में यह कार्य मेरे द्वारा हो सका और जिनकी कृपा से यह मुद्रित होकर पाठकों के सामने आ सका। मेरे सम्माननीय मित्र मध्यप्रदेश और राजस्थान के इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० रघुवीरसिंहजी, महाराजकुमार, सीतामऊ (मालवा) ने अन्यान्य अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में व्यापृत रहते हुये भी अपने बहुमूल्य समय में से इस पुस्तक के लिये सारगर्भित प्रस्तावना लिखने के लिये अवकाश निकाला, इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। समादरणीय डॉ० परमात्मा-

शरणजी (दिल्ली विश्वविद्यालय) ने भी समय-समय पर मुझे वांछित निर्देशादि देकर उपकृत किया है, तदर्थ वे सादर धन्यवादार्ह हैं। मेरे अन्यान्य सहयोगियों और विशेषतः श्री पद्मधर पाठक, एम.ए. और श्री लक्ष्मीनारायण जी गोस्वामी ने संदर्भ-संकलन एवं प्रूफ संशोधन आदि में पूर्ण रुचि लेकर सहयोग दिया है एतदर्थ मैं इन बन्धुओं के प्रति सस्नेह अकृत्रिम आभार प्रदर्शन करता हूँ।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
हरियाली अमावस्या ३०; २०२२ वि.

गोपाल नारायण

प्रस्तावना

"ट्रैवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया" अर्थात् 'पश्चिमी भारत की यात्रा' कर्नल जेम्स टॉड कृत दूसरा ग्रंथ है जो उसकी मृत्यु के कोई चार वर्ष बाद सन् १८३६ ई० में ही प्रकाशित हुआ था । अपने संसार-प्रसिद्ध प्रथम ग्रंथ 'एनल्स् एण्ड एंटिक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान' (जो 'टॉड-राजस्थान' के नाम से अधिक सुज्ञात है) के दूसरे खण्ड को सन् १८३२ ई० में प्रकाशित करने के बाद टॉड ने अपने इस दूसरे ग्रंथ को हाथ में लिया। स्वास्थ्य-सुधार के लिये सन् १८३४ ई० में जब उसे युरोप की यात्रा करनी पड़ी, तब सरदी के मौसम में कई माह तक वह रोम में रहा और वहाँ उसने इस यात्रा-विवरण का अधिकतर भाग लिखा। सितम्बर ३, १८३५ ई० को वह वापस इंगलेंड लौट आया और कुछ समय बाद जब वह अपनी माता से भेंट करने हेमशायर गया तब वहाँ उसने इस ग्रंथ के अन्तिम प्रकरण लिखे । यों टॉड ने मूल ग्रंथ पूरा ही लिख कर तैयार कर दिया था । यत्र-तत्र कुछ पाद-टिप्पणियाँ जोड़ना, कुछ परिशिष्टों का चयन तथा ग्रंथ की भूमिका ही लिखनी बाकी रह गई थीं। इस ग्रंथ को छपवाने के लिये लन्दन-निवास अत्यावश्यक जान कर उसने रीजेण्ट पार्क में एक मकान खरीद लिया था, तथा वहाँ स्थायी तौर से रहने के लिये नवम्बर १४, १८३५ ई० को वह लन्दन चला आया । इस समय वह अधिक स्वस्थ देख पड़ रहा था और अपने इस दूसरे ग्रंथ को छपवाने का उसे पूर्ण उत्साह था जिससे यह आशा बंधने लगी थी कि अब टॉड अवश्य ही पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कर लेगा। परन्तु तीसरे दिन ही यह आशा पूर्ण निराशा में परिणत हो गई। सोमवार, नवम्बर १६, १८३५ ई० के दिन वह लोम्बार्ड स्ट्रीट में अपने साहूकार मेसर्स राबर्ट्स एण्ड कम्पनी में कार्यवशात् गया था, तब वहीं उसे एकाएक मिरगी का दौरा हो गया और कोई पंद्रह मिनिट में ही उसकी जबान बन्द हो गयी। कोई सत्ताईस घण्टे तक बेहोश रहने के बाद नवम्बर १७, १८३५ ई० के दिन उसकी मृत्यु हो गई। तब उसकी अवस्था साढ़े तिरपन वर्ष की थी।

कोई चार वर्ष बाद सन् १८३६ ई० में लन्दन की ७, लेडनहॉल स्ट्रीट में स्थित विलियम एच्० एलन एण्ड कम्पनी ने इस ग्रंथ को यथावत् प्रकाशित किया। प्रकाशक ने उसके साथ टॉड सम्बन्धी परिचय-वृत्त भी जोड़ दिया। इस

द्वितीय ग्रंथ की सामग्री भी उसके प्रथम ग्रंथ (टॉड-राजस्थान) की ही तरह की है और उसे एकत्र करने तथा सुव्यवस्थित कर पाठकों के सम्मुख पुस्तकाकार प्रस्तुत करने में उसने पूरी मेहनत और लगन से काम किया था। 'इस ग्रंथ के दृश्य अवश्य ही (राजस्थान से) भिन्न हैं। कुछ समय तक राजस्थान के सीमांत क्षेत्र में घूमते रहने के बाद सौराष्ट्र के वैसे ही कौतूहलोत्पादक प्रदेश तथा एकेश्वरवादी जैनियों के लिये अतीव पवित्र वहाँ के पर्वतों का परिचय अपने पाठकों को दिया है।' अतः अपने इस यात्रा-विवरण के बारे में टॉड का विश्वास था कि उसके प्रथम ग्रंथ की ही तरह इसका भी पूरा-पूरा स्वागत होगा। यही नहीं, इस ग्रंथ के प्रकाशन से कुछ ही पहिले जेम्स प्रिंसेप ने गिरनार के शिलालेख में सीरिया के यूनानी राजा एण्टियोकस और मिस्र के सम्राट् टालमी फिलाडेल्फस के नाम पढ़ लिये थे, तथा अशोक के उन शिलालेखों को पूरा-पूरा पढ़ लेने का भरसक प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार पश्चिमी भारत और मुख्यतः गिरनार के शिलालेख के प्राचीन इतिहास पर जो नया प्रकाश पड़ रहा था उससे प्रकाशकों को भी विश्वास था कि टॉड कृत इस ग्रंथ को इतिहास-प्रेमी उत्सुकतापूर्वक बड़े चाव से पढ़ेंगे। परन्तु कुछ योगायोग ही ऐसा रहा कि तब भी इस ग्रंथ का विशेष प्रसार नहीं हुआ, और सन् १८५६ ई० में एलेग्ज़ेण्डर किन्लाक फोर्ब्स कृत 'रास-माला' के प्रकाशन के बाद तो टॉड का यह यात्रा-विवरण सर्वथा उपेक्षित ही रहा, जिससे तदनन्तर इसका दूसरा संस्करण भी नहीं प्रकाशित हो पाया और अब सन् १८३९ ई० के उस एकमात्र संस्करण की प्रतियाँ देखने को भी नहीं मिलती हैं।

टॉड ने अपना यह ग्रंथ मिसेज़ कर्नल विलियम हण्टर ब्लेअर को समर्पण किया, जो उच्च कोटि की चित्रकार थीं। इस महिला का पति, कर्नल विलियम हण्टर ब्लेअर, तब बम्बई प्रांत के सेनापति, जनरल सर चार्ल्स कॉलविल, के आधीन सेनानायक वर्ग में नियुक्त था। अतः टॉड से प्रेरणा पाकर तथा टॉड द्वारा प्रस्तावित यात्रा-क्रम के अनुसार जब जनरल कालविल ने पश्चिमी भारत के उसी क्षेत्र की यात्रा की तब श्रीमती ब्लेअर भी इस यात्रा में अपने पति के साथ थीं। तब उन्होंने आबू, चंद्रावती, अनहिलवाड़ा पाटन, और जूनागढ़ आदि के अनेकानेक अतीव सुन्दर रेखाचित्र बनाये और यों टॉड के शब्दों में वे 'आबू को इंगलैंड ले आईं'। श्रीमती ब्लेअर के ऐसे ही आठ रेखाचित्र टॉड के इस यात्रा-विवरण में तब प्रकाशित किये गये थे।

टॉड ने जून १, १८२२ ई० को उदयपुर से सर्वदा के लिये विदा ली और बनास नदी के उद्‌गम स्थान के पास ही अरावली पर्वत श्रेणी को पार कर वह

जून ६ को सिरोही पहुँचा। जून १२ को आबू पहुँचा और २-३ दिन वहाँ के मन्दिर आदि देखता रहा। तब वहाँ से पालनपुर होता हुआ जून २० को वह सिद्धपुर पहुँचा। वहाँ अवश्य ही उसने कुछ दिन बिताये होंगे। परन्तु अब वहाँ वर्षा प्रारम्भ हो गई थी और उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया था। अतः अहमदाबाद और खेड़ा होता हुआ सम्भवतः जून के अन्तिम दिन वह बड़ौदा पहुँच गया। तदनन्तर वर्षा के ये चार माह उसने बड़ौदा में ही बिताये।

टॉड जानता था कि जनवरी, १८२३ ई० के उत्तरार्द्ध में ही उसे इंगलैंड जाने वाला जहाज मिलेगा, अतः वर्षा ऋतु की समाप्ति के बाद के दो-ढाई माह में उसने सौराष्ट्र की यात्रा का आयोजन किया, और रास्ते चालू होते ही वह अक्तूबर २६, १८२२ ई० को बड़ौदा से चल पड़ा। नवम्बर ४ को वह खम्भात पहुँचा। वहाँ नाव द्वारा गोगो (घोघा) में उतरा। गोगो से भावनगर और वल्लभी (वला) होता हुआ नवम्बर १७ को वह पालिताना आया। वहाँ से अमरेली होता हुआ, गढ़िया और सूत्रापाड़ा की राह नवम्बर २९ को वह सोमनाथ-पट्टन पहुँचा। सोमनाथ और वेरावल में चार-पाँच दिन बिता कर वह दिसम्बर ४ को जूनागढ़ के लिये चल पड़ा। दिसम्बर ७ को वहाँ पहुँच कर उसने पूरे दस दिन जूनागढ़ और गिरनार देखने में बिताये। तब वहाँ से चल कर वह दिसम्बर २० को भांवड़ पहुँचा और पूरे तीन दिन तक वह जेठवों की उस उजड़ी नगरी गूमली के भग्नावशेषों को देखता रहा। तदनन्तर दिसम्बर २७ को वह द्वारका, आरमड़ा और बेट टापू देख-भाल कर जनवरी १, १८२३ ई० को जहाज में बैठ कर माण्डवी के लिये रवाना हुआ। दूसरे दिन तीसरे पहर माण्डवी पहुँचा। जनवरी ३ को रात्रि का भोजन कर वह घोड़े पर ही भुज के लिये रवाना हो गया। दूसरे दिन प्रातः काल में वह भुज पहुँचा और तीन दिन वहाँ बिताने के बाद जनवरी ६ की रात्रि में वह वापस माण्डवी को चल पड़ा। दूसरे दिन प्रातः काल में माण्डवी पहुँचते ही वह जहाज पर चढ़ गया जो कुछ ही समय बाद बम्बई के लिये रवाना हुआ। टॉड का यह जहाज जनवरी १४ को बम्बई पहुँचा। यों टॉड की पश्चिम भारत की यह यात्रा पूरे साढ़े सात माह में समाप्त हुई। तदनन्तर कोई तीन सप्ताह तक उसे बम्बई में रुकना पड़ा और फरवरी ५, १८२३ ई० के लगभग ही वह 'साराह' जहाज से इंगलैंड के लिये रवाना हुआ।

अपनी इस यात्रा के उद्देश्य को टॉड ने इन शब्दों में व्यक्त किया था—'मैंने पहिले भारत के देवपर्वत, प्रसिद्ध आबू पर जाने का विचार किया और मार्ग में अरावली की स्वच्छंद भील जातियों से मिलने की इच्छा मेरे मन में

जाग्रत हुई थी। इन टेढ़े-मेढ़े तंग रास्तों को पार कर वनास के उद्गम स्थान और सादड़ी दर्रे में से मैदान में निकल कर राईंपुर (राणपुर) के प्रसिद्ध जैन मंदिर को मैं देखना चाहता था। अरावली के मार्ग और आबू की तलाश के वाद मेरा विचार प्राचीन नहरवाला[1] की अवशिष्ट खोज को पूरा करने का था। तदनन्तर वहीं से राणा वंश की परम्पराओं को निर्धारित और निश्चित करने के लिये वल्लभी की दिशा तलाश करने का भी था। इसके लिये खम्भात की खाड़ी में हो कर सौराष्ट्र प्रायद्वीप के किनारे पहुँचना था। अतएव मैंने यह निश्चय किया कि यदि हो सके तो जैन धर्म के केन्द्र-स्थल पालिताना और गिरनार के पर्वतों की यात्रा करूँ और उसके पश्चात् द्वारिका में स्थित वल और कृष्ण के मंदिरों का दर्शन करके अपनी यात्रा समाप्त कर दूँ। वहाँ से वेट द्वीप होता हुआ कच्छ की खाड़ी पार करके जाड़ेचों की राजधानी भुज की यात्रा करूँ और माण्डवी की विशाल मण्डी को लौट आऊँ। फिर सिन्धु नदी के पूर्वीय किनारे-किनारे नाव में चल कर इसके समुद्र-संगम तक हिन्दुओं के देवालयों के अन्तिम दर्शन करूँ। अन्तिम कार्यक्रम के अतिरिक्त यह सव यात्रा मैंने पूरी कर ली। भारत में सिकन्दर के आक्रमणों के अन्तिम दृश्यों को देखे विना ही मुझे अपनी समुद्री यात्रा में वम्वई की ओर अग्रसर होना पड़ा।'[2]

टॉड ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति अपनी इस यात्रा में ही नहीं की परन्तु उस यात्रा का यह विवरण लिखते समय भी उसने उपर्युक्त इन्हीं सारी वातों की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया और उनके वारे में सविस्तार लिखा है। जिन-जिन क्षेत्रों में से टॉड तव गुजरा था उन सव ही स्थानों के जलवायु, प्राकृतिक परिस्थितियों और दृश्यों के साथ ही वहाँ के निवासियों का भी टॉड ने बड़ा सजीव सहानुभूतिपूर्ण विवरण लिखा है। साथ ही उस क्षेत्र के निवासियों या वहाँ के इतिहास सम्बन्धी ऐतिहासिक प्रवादों या रोचक दन्तकथाओं को भी टॉड ने यत्र-तत्र जोड़ दिया है, जो कई वार प्रामाणिक नहीं होते हुए भी वहाँ के विगत इतिहास सम्बन्धी जनसाधारण की भावनाओं तथा प्रतिक्रियाओं पर वहुत उपयोगी प्रकाश डालती हैं। अरावली के भीलों के प्रति टॉड का विशेष आकर्षण था क्योंकि बहुत ही कठिन समय पर उन्होंने राणा प्रताप और उसके वंशजों की भरसक सहायता की थी। अतएव इस यात्रा के प्रारम्भ में ही अरावली पहाड़ की श्रेणियों को पार करते समय टॉड ने वहाँ की स्वच्छंद भील जातियों के वारे में बहुत कुछ

१–अणहिलवाड़ा

२–पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० ६-७ से संकलित।

जानकारी प्राप्त की। उनके जातीय संगठन, उनके रहन-सहन, उनके आहार-विहार, उनके अन्धविश्वासों, उनके भोलेपन तथा भील-घातक के प्रति अक्षम्यता आदि पर टॉड ने जो कुछ लिखा है, वह उनका मानव-विज्ञान-विषयक अध्ययन करने वालों के लिये ऐतिहासिक महत्त्व का है।

ऐतिहासिक खोज और उसके द्वारा भूतकालीन इतिवृत्त की अज्ञात, लुप्त तथा विशृंखलित कड़ियों को जोड़ने के लिये टॉड सदैव ही समुत्सुक रहा। वह जानता था कि "इन प्रदेशों में ऐसी सामग्री की कमी नहीं हैं जिसका उपयोग शोध (विषयक प्रवृत्ति) को समान रूप से सम्मानित और प्रोत्साहित करने में किया जा सकता है। शिलालेखों के आधार पर चरित्रों एवं ऐतिहासिक वृत्तों के तिथिक्रम के तथ्यों को निश्चित करना, भाटों के लेखों से (अनेकानेक) नामधारी विदेशी जातियों के उत्तरी एशिया से चल कर इन प्रदेशों में आ बसने के क्रम का पता लगाना, उन विभिन्न पूजा-प्रकारों पर विचार करना जो वे अपने 'पूर्व पुरुषों की भूमि' से यहाँ पर लाए और यहाँ से जिन लोगों को हटा कर वे बस गए, उनके रहन-सहन आदि के तरीकों में घुलने मिलने से जो भी थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए उनके विषय में अनुमान लगाना, तथा इस बात की भी शोध करना कि उनकी प्राचीन आदतों और संस्थाओं में से कितनी अब भी बच रही हैं—ये ऐसे विषय हैं जो किसी भी विचारशील मस्तिष्क के लिये कदापि हीन या उपेक्षणीय नहीं हैं, और यहाँ शोध के लिये पूरी-पूरो सुविधाएं प्राप्त हैं।"[1]

यही कारण था कि जहाँ भी टॉड गया वह सदैव पुराने शिलालेखों, प्राचीन सिक्कों, हस्तलिखित ग्रंथों आदि की खोज में रहा। आबू, चंद्रावती, सिद्धपुर, अनहिलवाड़ा (पाटन), खम्भात, वल्लभी, पालिताना-शत्रुंजय, सोमनाथ-पट्टन, जूनागढ़-गिरनार, गूमली, द्वारका, आदि के महत्त्वपूर्ण मंदिरों, वावड़ियों और खण्डहरों में ही नहीं, राह में पड़ने वाले सारे नगण्य और उपेक्षित परंतु संभावित स्थानों में भी शिलालेखों की खोज की और जहाँ जो भी उपयोगी जान पड़ा उसकी तत्काल ही प्रतिलिपि करवा ली। यों ही उसने अपनी पहिले की भी यात्राओं में अनेकानेक शिलालेखों को एकत्र किया था तथा उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करवा कर उन्हें पढ़वाने तथा समझने का प्रयत्न किया था। टॉड द्वारा यों ढूंढ निकाले गये कई एक शिलालेख उन प्रतिलिपियों या उनके इन उल्लेखों द्वारा ही अब आधुनिक इतिहासकारों

---

१. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० २२५ से संकलित।

को प्राप्य हैं, क्योंकि वे मूल शिलालेख या तो तब शासकीय अधिकारियों की असावधानी और उपेक्षा के कारण तब ही कहीं खो गये या इस पिछली डेढ़ शताब्दी में प्राकृतिक कारणों या वहाँ के अज्ञानी निवासियों की करतूतों के फलस्वरूप नष्ट हो गये हैं जिससे आज वे सर्वथा अप्राप्य हैं। अपने इस यात्रा विवरण में टॉड ने स्थान-स्थान पर उसे तब यों प्राप्त शिलालेखों तथा कहीं-कहीं उनसे प्राप्त महत्त्वपूर्ण जानकारी का भी यथास्थान उल्लेख किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण शिलालेखों का अनुवाद भी उसने परिशिष्ट में दे दिया है। इन शिलालेखों में परिशिष्ट सं० ७ का शिलालेख विशेष महत्त्व का है जो मूलतः सोमनाथ का होते हुए भी टॉड को वेरावल में मिला था। उसमें सिंह संवत् का उल्लेख है, जो तब तक अज्ञात ही था। उसको किसने चलाया इस बारे में अभी तक इतिहासकार एकमत नहीं हो पाये हैं।

टॉड द्वारा खोज निकाले गये या एकत्र किये गये शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ प्रायः उसके "अपने मित्र और गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' यति ज्ञानचंद्र" ने की थीं और उनका अनुवाद करने में भी टॉड को इन्हीं से सहायता मिली थी। ईसा की सातवीं शताब्दी के बाद की भारतीय लिपियाँ, संस्कृत और प्राकृत के विद्वान्, जिन्हें प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों को पढ़ने का अभ्यास होता था, विशेष यत्न करने पर ही पढ़ सकते थे। अतः कई बार उन प्राचीन शिलालेखों की प्रतिलिपि करने में यत्र-तत्र भूल हो जाना अनहोनी बात नहीं थी। तब भारत में ऐतिहासिक शोध का प्रारम्भ ही था और भारत के प्राचीन तथा पूर्व-मध्यकालीन इतिहास की जानकारी भारतीय विद्वानों को भी नहीं थी। अतः इस अत्यावश्यक ऐतिहासिक जानकारी के अभाव में इन शिलालेखों का अर्थ लगाने में टॉड का अनेकों भूलें करना सर्वथा स्वाभाविक ही था। अपने देश की प्राचीन ब्राह्मी लिपि तथा उससे निकली हुई ईसा की छठवीं शताब्दी तक की लिपियों को पढ़ना भारतीय विद्वान् बहुत पहिले ही भूल गये थे जिससे अशोक के अन्य धर्म-लेखों की तरह गिरनार की चट्टान का सुविख्यात शिलालेख भी कोई नहीं पढ़ पा रहा था। अशोक के इन लेखों की लिपि ऐसी है कि ऊपरी तौर से देखने वाले को अंग्रेजी या ग्रीक लिपि का भ्रम हो जाता है। यही कारण था कि युरोपीय यात्री टॉम कोरियट ने दिल्ली में अशोक-स्तम्भ के लेख को देख कर उसे 'पोरस पर सिकन्दर की विजय का लेख' घोषित किया था। टॉड ने भी गिरनार के इस लेख के अक्षरों, ग्रीक लिपि और प्राचीन चौकोर अक्षरों में समानता देखकर लिखा कि इस लेख के कितने ही अक्षर प्राचीन ग्रीक और केल्टो-एट्रुस्कन अक्षरों से मिलते हैं। किन्तु साथ ही टॉड ने यह

भी स्पष्टतया देखा कि उस शिलालेख में बहुत से संयुक्ताक्षर भी हैं। टॉड की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद जब जेम्स प्रिन्सेप आदि विद्वानों के प्रयत्नों से ब्राह्मी अक्षर पढ़े जाने लगे, तब पिछले समय के सब ही लेखों को पढ़ना सुगम हो गया और ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के बारे में अन्य युरोपीय विद्वानों के साथ ही टॉड के तद्विषयक अनुमान गलत प्रमाणित हो गये।

ऐतिहासिक शोध में प्राचीन सिक्कों के महत्त्व से टॉड पूर्णतया परिचित था, अतः उनका निरंतर संग्रह करता रहता था। पश्चिम भारत की इस यात्रा में भी वह बराबर उनकी टोह में लगा रहा। चन्द्रावती के खण्डहरों में उसे परमार-कालीन कुछ सिक्के मिले थे। परंतु उससे पहिले उसने मारवाड़ में बाली नामक जैन कसबे से 'बहुत से विचित्र सिक्के इकट्ठे कर लिये थे, जिनमें से कुछ तो इण्डो-सीथिक ठप्पे के थे और उन पर लेख गूढ़ाक्षरों में था'। आगे माण्डवी (कच्छ) की श्मशान-भूमि के खण्डहरों में से भी उसे अच्छी दशा में सुरक्षित दो सिक्के प्राप्त हुए थे, जिनमें से एक पर 'उन्हीं दुष्पाठ्य अक्षरों में लेख था जो गिरनार के शिलालेख में मिले थे।' टॉड ने इस प्रकार बाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, पार्थिअन और कुशाण वंशी राजाओं के प्राचीन सिक्कों का एक बड़ा संग्रह कर लिया था, जिन की एक ओर प्राचीन ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों के लेख थे। परंतु तब खरोष्ठी लिपि के पढ़ने का कोई साधन नहीं था, अतः इन अक्षरों को लेकर भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगीं। टॉड ने स्वयं सन् १८२४ ई० में कड्फिसेस के सिक्के पर के इन अक्षरों को 'ससेनियन' बताया था। कई वर्षों के बाद जब मेसन ने खरोष्ठी के कुछ अक्षर-चिन्हों को पहिचान लिया और आगे चल कर जब यह ज्ञात हुआ कि खरोष्ठी लेखों की भाषा पाली-प्राकृत है, तब ही जेम्स प्रिन्सेप तद्विषयक शोध को आगे बढ़ा सका। यह सत्य है कि टॉड स्वयं इस दिशा में कोई विशेष सफल कार्य नहीं कर सका, परंतु इतनी अधिक संख्या में ऐसे दुर्लभ मूल्यवान् सिक्कों को बड़े परिश्रम से संग्रह कर उन्हें संशोधकों को उपलब्ध करवा कर उसने भारतीय ऐतिहासिक शोध में बहुत बड़ा योगदान दिया।

पश्चिम भारत की अपनी इस यात्रा में टॉड हर प्रकार की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने में निरंतर लगा रहा। जिस किसी महत्त्वपूर्ण नगर, कसबे या राजधानी में गया, वहाँ के ग्रंथ-भण्डारों, इतिहासज्ञ चारण-भाटों तथा ऐतिहासिक घरानों में प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथों और महत्त्व-पूर्ण कागज-पत्रों के संग्रहों की टोह लगाता रहा। बाली के जैन कसबे से 'मेवाड़ के राजाओं से संबंधित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली का 'खर्रा' प्राप्त किया।

भावनगर के इतिहास-लेखकों से मिलकर उसे बहुत निराशा ही हुई क्योंकि तब तक मिले हुए इतिहास-लेखकों में उसने उन्हें 'सब से अधिक अनपढ़' ही पाया। सोमनाथ-पट्टन में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते-करते अंत में उसने वहाँ के पुराने काजी-घराने के अनभिज्ञ वंशज के पास से एक हिन्दी काव्य की खण्डित प्रति प्राप्त की जिसमें पाटन के पतन की कहानी थी। द्वारका में एक झाला-वंशीय सरदार से उनकी वंशोत्पत्ति की विचित्र कथाएँ और वाघेलों की उत्पत्ति संबंधी बहुत सी बातें उसने सुनीं। द्वारका के ही एक वंश-भाट की वंश-वही तथा राजवंशावली में से उसने कुछ पत्रों की नकलें कर लीं। भुज नगर पहुँचते ही वहाँ के भाटों और उनकी बहियों को उपलब्ध किया। वहां की रीजेन्सी के प्रमुख सदस्य रतनजी से जाड़ेचा शासन का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किया और राजपूत शासन-पद्धति से वह किन बातों में भिन्न था इसको भी ठीक तरह से समझा।

राजस्थान में रहते हुए टॉड ने जैसलमेर से कागज और ताड़पत्र की कितनी ही प्रतियाँ प्राप्त कर ली थीं। पश्चिम भारत की इस यात्रा में उसने पाटन और खम्भात के जैन ग्रंथ-भण्डारों में से कुछ ग्रंथों की प्रतियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। टॉड ने स्वयं देखा कि इन जैन ग्रंथ-भण्डारों में "अनुसंधान का सबसे अच्छा उपाय यही है कि किसी ऐसे जैन साधु को 'मुंशी' बना लिया जावे, जिसकी पट्टावली में हेमाचार्य अथवा अमर उसके धर्म-गुरु पाए जाते हों; बस, फिर उसके माध्यम से सब ही ताले खुल जावेंगे"। अतः उसने अपने जैन गुरु ज्ञानचंद्र को पाटन के ग्रंथ-भण्डार में से 'वंशराज-चरित्र' और 'शालिवाहन-चरित्र' की प्रतियाँ खोज निकालने को भेजा। परंतु वहाँ चालीस संदूकों में रखे ग्रंथों के निरीक्षण के बाद भी उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। तदनंतर जिस तहखाने में यह ग्रंथ-भंडार स्थित था वहाँ के तंग और घुटनपूर्ण वातावरण के कारण वे इस अन्वेषण से विरत हो गये। 'कुमारपाल चरित्र' (वस्तुतः 'कुमार-पाल रास') की कुछ प्रतियाँ टॉड ने प्राप्त कर लीं, परन्तु बहुत चाहने और प्रयत्न करने पर भी वह 'वंशराज-चरित्र' की प्रति नहीं प्राप्त कर सका।

वर्षा ऋतु में जब टॉड को कई माह तक बड़ौदा ठहरना पड़ा था, तब उसने वह सारा समय बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों और शिलालेखों की प्रतियाँ करने या करवाने में ही बिताया। इस प्रकार वह प्रति दिन अपने संग्रह में कुछ-न-कुछ वृद्धि ही करता रहा, जिसके फलस्वरूप भारत से रवाना होने तक उसके पास खंडित प्रतिमाओं, शिलालेखों, शस्त्रास्त्रों, हस्तलिखित ग्रंथों, कागज-पत्रों और प्राचीन सिक्कों आदि की कोई चालीस सन्दूकें हो गई थीं। टॉड द्वारा तब संगृहीत इस सामग्री की लगभग सारी ही मूल्यवान् वस्तुएँ उसने इंडिया हाउस

तथा लंदन की रायल एशियाटिक सोसाइटी में जमा करा दीं, जो अब भी वहाँ सुव्यवस्थित रूप में सुरक्षित हैं।

टॉड कृत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रंथ कोरा यात्रा-विवरण न रह कर उसके द्वारा संगृहीत ऐतिहासिक सामग्री से प्राप्त तथा उसको ज्ञात ऐतिहासिक जानकारी का एक विस्तृत संग्रह बन गया है। अपने ग्रंथ-लेखन के लिये इस शैली विशेष को अपनाने का कारण स्पष्ट करते हुये टॉड ने स्वयं लिखा है—'जब मैं यह कहता हूँ कि चरित्रों, ऐतिहासिक वृत्तान्तों, सिक्कों और शिलालेखों आदि से इतनी सामग्री प्राप्त होती है कि अणहिलवाड़ा और उसके अधीनस्थ राज्यों का एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है, तो प्रश्न होता है कि मैंने ही ऐसा प्रयास क्यों नहीं किया ? उत्तर सीधा है, कि अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ऐतिहासिक और कालक्रम-संबंधी तथ्यों की संगति कर देना ही अधिक उपयुक्त समझा और जैसा कि मैंने अपनी पूर्व कृति (टॉड-राजस्थान) में किया है, इतनी ही सामग्री इतिहास-लेखकों के लिये प्रस्तुत करने में मुझे संतोष भी है। तथापि यहां पर हम उन टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयास कर सकते हैं जो पश्चिमी भारत के बल्हरा राजाओं के इतिहास को ईसाई सन् के समकालीन युगों से संबद्ध करती हैं।'[1]

टॉड ने जिस काल में यह सारी सामग्री एकत्र की तथा उसको समझने-बूझने का प्रयत्न कर अपने ग्रंथों की रचना की, वह भारतीय पुरातत्त्व तथा ऐतिहासिक शोध का सर्वथा प्रारंभिक काल था। अतः टॉड के इन ग्रंथों में अनेकानेक भूलों, एकांगीयता और अपूर्णता का होना सर्वथा अनिवार्य था। वस्तुतः टॉड कृत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' से गुजरात प्रदेश के पुरातत्त्व तथा पूर्व-मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन का प्रारभ ही हुआ था। इसी कारण इतिहास संबंधी उसके भावपूर्ण विवरणों, खोजपूर्ण निर्णयों और चतुराईपूर्ण अनुमानों का कोई विस्तृत विवेचन या टॉड की भूलों का ब्यौरेवार निर्देशन यहाँ समीचीन नहीं होगा। क्योंकि इन त्रुटियों या ऐसी कोई न्यूनताओं के कारण इस ग्रंथ की उपादेयता किसी प्रकार घटती नहीं है। उसमें संगृहीत ऐतिहासिक सामग्री तथा उन क्षेत्रों के ऐतिहासिक स्थानों, मन्दिरों या विशिष्ट प्राचीन खंडहरों के तत्कालीन विवरणों के साथ ही कई एक अन्य विशेषताओं के कारण ही टॉड के इस यात्रा-विवरण का महत्त्व आज भी बना हुआ है।

टॉड ने यह यात्रा तब की थी जब वहाँ अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हुए

---

१. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० २२६-२२७।

कुछ ही वर्ष हुए थे। वहाँ की राजनीति, समूचा समाज और संस्कृति तब भी मध्ययुगीन परंपराओं तथा गये-बीते युगों के वातावरण में डूबी हुई थीं। वहाँ का समूचा समाज तब अंग्रेजी सत्ता के आधिपत्य तथा आतंक के फलस्वरूप इन क्षेत्रों में सद्यः स्थापित शांति के सुखमय जीवन का आनंद लेता हुआ सहज आलस्य और अफीम की पीनक में निमग्न था। पाश्चात्य भावनाओं, आदर्शों, मान्यताओं तथा तौर-तरीकों के प्रथम आघात के फलस्वरूप गुजरात के सदियों से निश्चेष्ट अनुद्विग्न जीवन में जो प्रतिक्रियाएँ आगे चल कर होने वाली थीं, उनका तब कोई भी आभास नहीं देख पड़ रहा था। टॉड ने इन सबको देखा और समझा तथा अपने इस ग्रंथ में उनका यत्र-तत्र संकेत भी किया है। ये ही सब अब इतिहास की बातें हो गई हैं, जो बाद की घटनाओं के कारणों को समझने में सहायक होती हैं अतः उनका विशेष गहराई के साथ अध्ययन और विवेचन अत्यावश्यक है।

अंग्रेजों की तब चल रही नीति टॉड को कदापि रुचिकर नहीं थी। वह उसकी समालोचना ही करता था। वह अच्छी तरह से जानता था कि देशी राज्यों के साथ तब की गई 'सहायक संधियों' का अंत कहाँ जाकर होने वाला था। झाला ज़ालिमसिंह के शब्दों में 'वह दिन दूर नहीं [था] जब समस्त भारत में एक ही सिक्का चलेगा'; और टॉड सदैव ही राजपूताना आदि क्षेत्रों की अनोखी संस्कृति के इन अवशेषों पर विदेशी संस्कृति तथा सत्ता के अत्यधिक प्रभाव का विरोधी रहा। उसने अनुभव किया था कि—"ब्रिटेन के संरक्षण में जो विभिन्न जातियाँ आ गई हैं उनको सजा देते समय दया का व्यवहार बहुत कम किया जाता है और न्याय का डण्डा अवश्य ही किसी न किसी को मार गिराता है, जिससे हमारा शासन तलवार का शासन कहा जाता है।" यही नहीं "हमारी सरकार द्वारा राज्य-कर तथा अर्थ-संबंधी जो भी कानून बनाये जाते हैं वे इनकी (प्रजाजनों की) दशा सुधारने के दृष्टिकोण से नहीं वरन् हमारे कोष को भरने के लिये बनाए जाते हैं।...अपने भारतीय प्रजाजनों की गाढ़ी कमाई से लाखों स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करके उसका कौनसा भाग उनकी भलाई के लिए खर्च किया जाता है ?" पुनः "अभी तक कोई भी ऐसा विधान-शास्त्री सामने नहीं आया है कि जो 'रेग्यूलेशन्स' (नियम और पद्धति) कहलाने वाली इस विशाल एकत्रित अप्रौढ़ सामग्री को सरल संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर सके।"[1]

---

१. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० ६४-६७ से संकलित

कुछ योगायोग ही ऐसा रहा कि 'टॉड-राजस्थान' जितना अधिक लोकप्रिय हुआ, उससे कहीं अधिक टॉड का यह यात्रा-विवरण उपेक्षित रहा। पिछले सवा सौ वर्षों में जब मूल अंग्रेज़ी ग्रंथ का दूसरा संस्करण भी नहीं छापा गया, तब उसके हिन्दी अनुवाद की कौन सोचता ? किन्तु, आज जब भारत अपने नवनिर्माण के लिये अग्रसर हो रहा है और तदर्थ अपने विगत इतिहास को ठीक तरह से समझने तथा उसका सही मूल्यांकन कर भविष्य के लिये उससे शिक्षा लेने को विशेष रूप से व्यग्र तथा प्रयत्नशील है, तब टॉड के इस यात्रा-विवरण जैसे प्रेरणापूर्ण विचारोत्पादक ग्रंथ का गहराई के साथ अध्ययन और विस्तृत विवेचन अत्यावश्यक है। जनसाधारण के साथ ही अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ भारतीय विचारकों के लिये इस ग्रंथ को सुलभ करने के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका अनुवाद करना सर्वथा अनिवार्य हो गया था। अतः 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' धन्यवाद का पात्र है कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहा है। साथ ही हमें श्री गोपालनारायण बहुरा का भी विशेष कृतज्ञ होना चाहिये, जिन्होंने बड़ी लगन और पूरे परिश्रम के साथ यह हिन्दी अनुवाद तैयार किया है।

किसी भी उच्चकोटि के अंग्रेजी ग्रंथ का मुहावरेदार सुपाठ्य सरस भाषा में ठीक अनुवाद करना यों भी एक कठिन कार्य है, और जब उसकी रचना टॉड जैसे भावपूर्ण ओजस्वी लेखक ने की हो तब तो वह और भी दुष्कर हो जाता है। टॉड का अध्ययन अतीव विस्तृत था और विभिन्न विषयों संबंधी उसे बहुत अधिक जानकारी थी। यही कारण है कि उसके ग्रंथों में सीधे या परोक्ष रूप से विभिन्न बातों संबंधी इतने अधिक उल्लेख या संकेत पाये जाते हैं कि उन सब ही के सही संदर्भों का पूरा पता लगा लेना किसी प्रकार सरल नहीं है, और वे अनुवादक के कार्य को विशेष कठिन बना देते हैं। परन्तु संतोष का विषय है कि यह सब होते हुए भी इस यात्रा-विवरण का हिन्दी अनुवाद करने में श्री बहुरा को पर्याप्त सफलता मिली है। श्री बहुरा स्वयं भी इतिहास के विद्वान् हैं और कई वर्षों से शोध और संपादन के कार्य में लगे हुए हैं, अतः पाठकों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से वे पूरी तरह परिचित हैं। इधर उन्होंने एलेक्जेण्डर किन्लॉक फोर्ब्स कृत 'रास-माला' का भी हिन्दी अनुवाद कर उसका सयत्न संपादन किया है, जिसके अब तक तीन खण्ड 'मंगल प्रकाशन, जयपुर', द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। गुजरात और सौराष्ट्र के इतिहास का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है और तद्विषयक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्राचीन आधार-ग्रंथों की उन्हें बहुत अच्छी जानकारी है। अतः

उनका यथासाध्य उपयोग कर श्री वहुरा ने टॉड के यात्रा-विवरण के इस हिन्दी अनुवाद में अपनी ओर से आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र कई महत्त्वपूर्ण उपयोगी टिप्पणियाँ जोड़ दी हैं जिनसे टॉड के दुरूह संदर्भों का स्पष्टीकरण, उसकी भूलों का निराकरण तथा इधर पिछली शोधों के परिणामों का निर्देशन होता है। टॉड ने अपने अंग्रेजी ग्रंथ के परिशिष्ट में कई एक महत्त्वपूर्ण शिलालेखों के आद्योपांत अंग्रेजी अनुवाद दिये हैं, इस हिन्दी संस्करण में उन शिलालेखों के प्राप्य मूल पाठ को भी यथावत् दिया जा रहा है; साथ ही, जहाँ जहाँ मूल और अंग्रेजी अनुवाद में अन्तर है वहाँ आवश्यक टिप्पणियाँ दे दी गई हैं। इन्हीं सारी विशेषताओं के कारण 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रंथ वस्तुतः विशेष उपयोगी, महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय हो गया है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि टॉड के इस अद्यावधि पर्यन्त उपेक्षित ग्रंथ 'ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का, हिन्दी अनुवाद के द्वारा ही क्यों न हो, अब तो अवश्य ही अधिकाधिक प्रसार होगा और पश्चिम भारत के पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार ही नहीं अन्य विषयों के प्रेमी और विशेषज्ञ भी उसे पढ़ कर पूर्णतया लाभान्वित होते रहेंगे।

रघुवीर निवास
सीतामऊ (मालवा)
दिसम्बर ५, १९६४ ई०

–रघुबीरसिंह

TRAVELS

IN

WESTERN INDIA

Embracing

A VISIT

To

The Sacred Mounts of the Jains
And the most
Celebrated Shrines of Hindu Faith
Between
Rajpootana and the Indus
with an
Account of the Ancient City of Nehrwalla

By

The Late Lieutenant - Colonel James Tod,
Author of "Annals of Rajasthan"

LONDON

Wm. H. Allen and Co., 7, Leadenhall Street
1839.

(मूलपुस्तक के मुखपृष्ठ की अनुकृति)

Printed by

J. L. Cox and Sons,

75, Great Queen Street,

Lincoln's-Inn Fields.

पश्चिमी भारत की यात्रा

राजपूताना और सिन्धुनदी के बीच
जैनों के पवित्र पर्वतों और सुप्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों
तथा
नहरवाला के प्राचीन नगर के वर्णन सहित

लेखक
स्वर्गीय लेफ्टिनेण्ट-कर्नल जेम्स टॉड
लेखक, 'राजस्थान का इतिहास'



लन्दन
विलियम एच. एलन एण्ड कम्पनी
७, लेडनहॉल स्ट्रीट



१८३९ ई०

मुद्रक

जे० एल० कॉवस एण्ड सन्स,

७५, ग्रेट क्वीन स्ट्रीट,

लिंकन्स्-इन फील्ड्स्.

To

Mrs. Colonel William Hunter Blair

My dear Madam :

Under whose name and auspices can I present this work to the Public with more advantage to it and to its Author than yours ? My motives in dedicating it to you are two-fold—gratitude and inclination. The Public, so greatly indebted to your exquisite pencil for its illustration, can appreciate the former; but the other could be understood only by one who, like me, has been followed, into the heart of the Hindoo Olympus by an adventurous Conuntry-woman, who has the taste to admire and the skill to delineate the beauties it contains. It would have been sufficient to command my homage that you had been at Aboo; but you have done more—you have brought Aboo to England.

I am,
My Dear Madam,
Faithfully and truly your's
JAMES TOD.

(मूलग्रन्थकर्ता द्वारा समर्पण)

श्रीमती कर्नल विलियम हण्टर ब्लेयर के प्रति



प्रिय महोदया,

मैं इस ग्रन्थ को आपके अतिरिक्त किसके नाम और निमित्त जनता को भेट करूं कि जिससे यह और इसका कर्त्ता अधिक उपकृत हो सकें? आपको समर्पण करने में मेरा दोहरा आशय है—आभार और अभिरुचि। इस कृति में दिए हुए रेखा-चित्रों के कारण आपकी सूक्ष्म पेंसिल के प्रति आभारी जनता तो पूर्व भाव [आभार] का ही समर्थन करेगी; परन्तु अपर आशय को तो कोई मेरे जैसा व्यक्ति ही समझ पाएगा कि किसी ऐसी स्वदेश-निवासिनी महिला ने हिन्दू देव-पर्वत की यात्रा करने में मेरा अनुगमन किया, जिसमें वहाँ बिखरी पड़ी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होकर उसका रूपालेखन करने का कौशल विद्यमान है। आप आबू गईं, इतना ही आप के प्रति सम्मान प्रकट करने को मेरे लिए पर्याप्त था; परन्तु, आपने तो इससे भी अधिक कर डाला कि आप आबू को इंगलैण्ड ले आईं।

मैं हूँ,
प्रिय महोदया,
आपका सच्चा विश्वासपात्र,
जेम्स टॉड

विज्ञापन

यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रायः सम्पूर्ण ही छोड़ी थी फिर भी इसके प्रकाशन में अत्यधिक अपरिहार्य विलम्ब हो गया है। परिशिष्ट में से कुछ ऐसा अनावश्यक भाग छोड़ दिया गया है जिसको देना सम्भव नहीं था। इस पुस्तक को उस लाभ से तो वञ्चित रहना ही पड़ा जो इसके प्रणेता द्वारा अन्तिम आवृत्ति से प्राप्त होता फिर भी यह प्राय: उसी सम्पूर्ण अवस्था में है जिसमें वह इसे संसार के सामने उपस्थित करता। विभिन्न प्रकरणों के कितने ही पत्रों में ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं जिनको वह इस पुस्तक के प्राक्कथन में प्रयुक्त करना चाहता था; परन्तु, यदि और कोई व्यक्ति ऐसी सामग्री का उपयोग करे तो यह धृष्टता ही होगी।[1] विलम्ब होने से पुस्तक के विषय के प्रति एक अतिरिक्त आकर्षण तो उत्पन्न हो गया है क्योंकि पश्चिमी भारत की पुरावस्तुओं पर आजकल एक प्रकाशपुञ्ज का उत्सृजन हो रहा है—मुख्यतः गिरनार के शिलालेखों का अर्थविश्लेषण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा गतिमान हो रहा है, जिसके विद्वान् मिस्टर प्रिंसेप ने उनमें उल्लिखित 'एण्टिओकस द ग्रीक'

---

१. ग्रन्थकर्त्ता की भावनाओं और उद्देश्यों का एकमात्र परिचायक निम्न अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है "जनता के समक्ष दुबारा उपस्थित होने की कठिन परीक्षा के प्रति रीति-रिवाजों ने हमारे मन में एक प्रकार का भय उत्पन्न कर दिया है, परन्तु, मुझे किसी प्रकार के भय का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत, जो प्रोत्साहन मुझे प्राप्त हुआ है उसी से सुरक्षित होकर मैं इस (कृति) को अन्य महान् ग्रन्थों का सहचर बनने के लिए भेज रहा हूँ, जिनका सृजन समान उद्देश्यों के लिए और विकास समान परिस्थितियों में हुआ है। यदि कल्पना पर आधारित यह कोई नवीन कृति होती तो मैं किसी प्रकार की आशंका से दबकर श्रम करता; परन्तु इसमें तो, सामग्री-संकलन और उसकी व्यवस्था वही है जिसके लिए मैं अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग [जीवन भर] करता रहा हूँ। पूर्वकृति के लिए मैंने जी-जान लड़ा कर परिश्रम किया है और इसके लिए भी सभी प्रकार के आकर्षण को छोड़ कर उसी भक्तिभाव से विषय पर विचारों को केन्द्रित किया है – केवल इस आशा से कि राजपूत अपने [महान्] कार्यों से संसार के सामने आ जाए। दृश्य बदल गया है; परन्तु, मैं अब भी राजपूताना के सीमा-छोर पर अटका हूँ और अपने पाठकों को सौराष्ट्र प्रदेश में ले जाना चाहता हूँ, जो किसी भी प्रकार कम आकर्षक नहीं है तथा उन पर्वतों की सैर कराना चाहता हूँ जो एकेश्वरवादी जैनों के लिए उसी प्रकार पवित्र है जैसे गेराज़िम (Gerazim) अथवा सिनाई (Sinai) इज़रायालियों के लिए है।"

(Antiochus the Greek) और मिस्र के टॉलमियों (Ptolemies of Egypt) में से एक के नाम का पता लगा लिया है।

पाठकों को नामों की वर्तनी में कुछ असंगतियाँ अवश्य मिलेंगी– जैसे, नेहरवाला, नेहरवलेह; परन्तु, यह अपरिहार्य था। देशी लेखकों में अप्रमाद नहीं है :—मि० कोलब्रुक ने राजपूत हस्त-प्रतियों के विषय में मत प्रकट किया है कि "देशी भाषा में लिखित हस्त-प्रतियों में व्यक्तिओं और स्थानों के नामोल्लेख में उच्चारणभेद के कारण वर्णविन्यास में एकरूपता नहीं है।"





ग्रन्थकर्ता

लेफ्टि० कर्नल जेम्स टॉड

जन्म–२० मार्च, १७८२ ई०] [निधन–१७ नवम्बर, १८३५ ई०

ग्रन्थकर्त्ता-विषयक संस्मरण

यदि गिबन[1] के कथनानुसार 'दुनियाँ उन लोगों का इतिहास जानने के लिए उत्सुक रहती है, जो अपने पीछे अपने मस्तिष्क की प्रतिकृति छोड़ जाते हैं' तो वह उत्सुकता स्वभावतः उस दशा में और भी बलवती हो उठती है जब किसी लेखक की कृति उसकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाश में आती है।

लेफ्टिनेण्ट कर्नल जेम्स टॉड मिस्टर जेम्स टॉड[2] का द्वितीय पुत्र था और उसका जन्म २० मार्च, १७८२ ई० के दिन इस्लिंग्टन में हुआ था। सहजरूप में उसका उद्देश्य व्यापारिक जीवन विताने का होता, परन्तु उसका रुझान (जो उसको जहाजी जीवन की ओर अग्रसर करता) 'रोकड़िया के ग़ल्ले' से विद्रोह कर उठा इसलिए उसके चाचा मि० पैट्रिक हीटली (Mr. Patric Heatly) ने १७९८ ई० में उसको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में कैडटशिप (उम्मीदवारी) दिलवा दी और वह रॉयल मिलीटरी एकॅडमी, वूलविच में भेज दिया गया, जहाँ एडिस्कॉम्बे में कम्पनी का शिक्षा-संस्थान स्थापित होने से पहले केवल गिने-चुने शिक्षार्थियों को ही शिक्षा दी जाती थी। १७९९ ई० में वह बंगाल के लिए रवाना हुआ। दूसरी यूरोपियन रेजीमेण्ट में उसको कमीशन (पद) दिए जाने की तारीख ९ जनवरी, १८०० ई० थी। फिर वह स्वेच्छा से मोलक्का द्वीप

---

[1] 'रोम साम्राज्य का पतन और नाश' (The Decline and Fall of the Roman Empire) पुस्तक का प्रसिद्ध लेखक।

इस ग्रन्थ की गणना संसार के महान् ग्रन्थों में होती है।

[2] कर्नल टॉड का पिता स्काटलैण्ड का निवासी था। वह हेनरी टॉड और जेनेट मॉन्टीथ (Jenet Montieth) की प्रथम संतान के रूप में २६ अक्टूबर, १७४५ ई० में पैदा हुआ था। वह उस प्राचीन वंश से संबद्ध था जिसके एक पूर्वज जॉन टॉड ने रावर्ट ब्रूस के बच्चों की उस समय रक्षा की थी जब वे इंगलैण्ड में बन्दी थे। स्वयं बादशाह ने अपने हस्ताक्षरों से उसको 'नाइट बॅरोनेट' का पद और 'टॉड' का शीर्षचिन्ह (स्कॉटलैण्ड में 'टॉड' लोमड़ी को कहते हैं) तथा 'Vigilantia' (सतर्क) का 'आदर्श-शब्द' (motto) प्रयुक्त करने की अनुमति प्रदान की थी, जिसका प्रयोग उस वंश में अब तक होता है। मिस्टर टॉड (क० टॉड के पिता) का विवाह न्यूयार्क में ४ नवम्बर, १७७९ ई० को मि० एण्ड्र्यूस हीटली (Mr. Andrews Heatly) की पुत्री कुमारी

(Molucca Islands)[1] गया, तदुपरान्त तबादला होकर मॅराइन द्वीप चला गया और वहां मॉरिंगटन (Morington) नामक जहाज पर उसी स्थिति में काम

मेरी हीटली के साथ हुआ था। मिस्टर हीटली लंकाशायर के रहने वाले थे और न्यू पोर्ट रोढ द्वीप, अमेरिका (New Port, Rhode Island, America) में जाकर बस गए थे। वहीं पर उनका विवाह बेलवॉडेन (Bellwadden) निवासी स्यूटानिअस ग्राण्ट (Suetonius Grant) की पुत्री 'मेरी' के साथ हुआ, जो इन्वरनेस (Inverness) छोड़ कर न्यू पोर्ट रोढ द्वीप में व्यापारी के रूप में १७२५ ई० में जा कर बस गए थे; वहीं पर १७४४ ई० में बारूद के विस्फोट के कारण उनकी मृत्यु हो गई। मिस्टर हीटली का (जो बंगाल सिविल सर्विस के प्रसिद्ध स्व० मि० पैट्रिक हीटली के भी पिता थे) समाधि-स्थल न्यूपोर्ट में है; वहां एक पत्थर में उनका स्मृति लेख इस प्रकार खुदा हुआ है—'इस राज्य के सबसे सच्चे और सम्माननीय व्यापारी सज्जन'। सूटॉनिअस ग्राण्ट डॅल्वी (Dalvey) निवासी डोनाल्ड ग्राण्ट (Donald Grant) और मेर्जोरी स्टीवार्ट (Marjorie Stewart) का पुत्र था। मेर्जोरी बॅन्फ (Banff) प्रदेश के किन्मीचली (Kinmeachley) के बॅरन (Baron) वंश की थी। सूटॉनिअस के माता पिता उसे बचपन में ही छोड़ कर मर गए थे और अपने नाना की मृत्यु के उपरान्त वह बॅरन पद पर प्रतिष्ठित हुआ। परन्तु, उसने 'नई दुनियां', अमेरिका में व्यापारी के रूप में बसने का निश्चय कर लिया था इसलिये अपने भतीजे और लन्दन के प्रसिद्ध व्यापारी मि० अलॅक्जॉण्डर ग्राण्ट को 'बॅरन' पद बेचकर वह लॉङ्ग द्वीप न्यूयॉर्क (Long Island, New York) के लिए रवाना हो गया। यहां उसकी जान-पहचान मिस्टर थामस टालमेक अथवा टालमेज (अमेरिका में टॉलमेक को टॉलमेज ही बोलते हैं) से हो गई, जो डाइसार्ट (Dysart) वंश के थे और उनकी जायदाद 'लाङ्ग द्वीप' में ही पूर्वीय हैम्पटन (East Hampton) में थी; वहीं नब्बे वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। इन सज्जन के पितामह प्यूरिटन ईसाई थे और ओलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell) की प्रोटॅक्टोरेट (Protectorate) के अंतिम दिनों में इंगलैण्ड छोड़ कर यहां आ गए थे। सूटॉनिअस ग्राण्ट ने इन 'टालमेज' महाशय की पुत्री टेम्परेन्स (Temperance) से विवाह कर लिया था—जिसके एक पुत्र भी हुआ। उसने बॅरन पद के लिए दावा किया परन्तु उसके कोई संतान नहीं थी। (उसकी पत्नी व इकलौता पुत्र न्यूपोर्ट में ही मर गए थे) इसलिए वह पद सर अलॅक्जाण्डर ग्राण्ट के ही वंश में चला आ रहा है। न्यूयार्क के टालमेज बहुत बड़े प्रतिष्ठित वंश के हैं। इनमें से एक सज्जन यूनाइटेड स्टेट्स् की सेना में जनरल हैं और दूसरे जज हैं।

श्रीमती टॉड, जो सर सूटानिअस की दोहिती और क० टॉड की माता हैं अपनी सूझ-बूझ और समझदारी के लिए प्रसिद्ध हैं और अभी तक [१८३९ ई० तक] बड़ी अवस्था में जीवित हैं।

[1] इस अभियान की योजना लॉर्ड वेलेज़्ली द्वारा बनाई गई प्रतीत होती है और ट्रिंकोमली (Trincomallea) को संकेतस्थल बनाने के आदेश भी हुए थे, परन्तु बाद में इसे कार्य रूप में नहीं लाया गया।

करता रहा; इस प्रकार उसे सैनिक जीवन की सभी परिस्थितियों का अनुभव प्राप्त था। २९ मई, १८०० ई० को वह देशी पैदल फौज की १४ वीं रेजीमेण्ट का लेफ्टिनेण्ट नियुक्त हुआ और वाद में, उसी के शब्दों में, 'कलकत्ता से हरिद्वार तक' उसकी तलवार घूमती रही। एक अफसर (लेफ्टिनेण्ट कर्नल विलियम निकॉल), जिसने उसी के साथ चौदहवीं रेजीमेण्ट में काम किया था, उस समय (१८०० ई०) के कर्नल टॉड के विषय में कहता है कि 'वह सरल प्रकृति का था और सभी सहकारी-अफ़सर उसे प्यार करते थे तथा उसमें उस उदीयमानता के सभी लक्षण दृष्टिगत होते थे, जो वाद में उसने अपनी प्रतिभा के बल पर प्राप्त की थी।'

१८०१ ई० में, जब वह दिल्ली में तैनात था तो उसकी चतुराई और सफलताओं के कारण सरकार ने नगर के पास ही एक पुरानी नहर का सर्वेक्षण करने के लिए इञ्जीनियर के पद पर उसका चुनाव किया। १८०५ ई० में मिस्टर ग्रीम मर्सर (Mr. Graeme Mercer), जो उसके चाचा का मित्र था, दौलतराव सिन्धिया के दरबार में राजदूत और रेजीडेण्ट नियुक्त होकर जा रहा था; लेफ्टिनेण्ट टॉड द्वारा इच्छा प्रकट करने पर, उसके सम्मान्य और स्वतंत्र चरित्र को ध्यान में रखते हुए उस नवयुवक अधिकारी को अपने साथ ले जाने की अनुमति उसने सरकार से प्राप्त कर ली; और, इस प्रकार एक सम्माननीय एवं उपयोगी चरित्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिससे उसके उत्साह और प्रतिभा को पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हुआ।

आगरा से चल कर जयपुर के दक्षिणी भाग में होते हुए उदयपुर के मार्ग में बहुत-सा ऐसा भू-भाग था जिसका यूरोपवासियों ने बहुत कम या नहीं के वरावर सर्वेक्षण किया था। मिस्टर मर्सर का कहना है कि "लेफ्टिनेन्ट टॉड ने वड़ी ईमानदारी के साथ अपने आपको इस मार्ग के सर्वेक्षण में लगा दिया और अपूर्ण यन्त्रों के द्वारा ही अपनी सहनशीलता, लगन एवं सहज सरलता के बल पर, जो उसमें कूट-कूट कर भरी थी, स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी, इस कार्य को ऐसे अनोखे ढंग से पूरा किया कि वाद के अधिक परिष्कृत साधनों और सर्वेक्षण विषय के प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक उपचित ज्ञान के द्वारा भी, मेरे विचार से, उसमें सुधार की कोई गुञ्जाइश नहीं दिखाई दी।" राजपूताना के भूगोल के बारे में तत्कालीन अल्प-ज्ञान का यही प्रमाण पर्य्याप्त है कि दोनों राजधानियों, उदयपुर और चित्तौड़, की स्थिति अच्छे से अच्छे मानचित्रों में भी बिलकुल विपरीत दिखाई गई है; चित्तौड़ को उदयपुर से पूर्व उ० पू० के बजाय दक्षिण-पूर्व में दिखाया गया है।

जब १८०६ ई० के वसन्त में राजदूत-परिकर सिन्धिया के दरबार में पहुँचा तो उसका डेरा मेवाड़ के खण्डहरों में लगाया गया क्योंकि मरहठा सरदार ने राणा की राजधानी के मार्गों पर बलात् अधिकार कर लिया था। लें० टॉड ने तभी से इस देश के विषय में हमारे भौगोलिक ज्ञान की कमियों को दूर करने का काम सम्हाल लिया और उसने जो स्पष्टोक्ति की है वह निर्विवाद सत्य है कि "उस समय के बाद जो भी मानचित्र छापे गए हैं उन में एक भी ऐसा नहीं है कि जिसमें बताई गई मध्य एवं पश्चिमी भारत की स्थिति मेरे परिश्रम पर आधारित न हो।" इस कठिन कार्य को पूरा करने के लिए अपनाए गए तरीके का विवरण उसने अपने 'राजस्थान का भूगोल' नामक शोध-पत्र में दिया है, जो उसके 'इतिहास' ग्रन्थ के आरंभ में लगाया गया है।

नक्षत्रों के निरीक्षण के आधार पर इस मार्ग के एक भाग का सर्वेक्षण करके डॉक्टर विलियम हण्टर ने, बड़ी शुद्ध रीति से कुछ बिन्दु स्थापित किए थे, जब १७९१ ई० में वे कर्नल पामर के साथ थे; और यही मार्ग उस सर्वेक्षण का आधार बनाया गया, जो मध्य भारत[1] के सभी सरहदी बिन्दुओं को अपने में लिए हुए था अर्थात् आगरा, नरवर, दतिया, झाँसी, भोपाल, सारंगपुर, उज्जैन और वापसी में कोटा, बूंदी, रामपुरा, बियाना होते हुए आगरा आदि। रामपुरा से, जहाँ हण्टर का मार्ग-दर्शन समाप्त हुआ, उदयपुर का नया सर्वेक्षण आरम्भ हुआ, जहाँ से मरहठों की सेना चित्तौड़ से गुजरती हुई और विन्ध्य की पहाड़ी से निकलने वाले झरनों को पूरी तरह पार करती हुई सात सौ मील दूर बुन्देलखण्ड की सरहद पर कमलाशा (Kemlassa) तक पहुँच गई थी।

१८०७ ई० में मरहठों की सेना ने राहतगढ़ (Rahtgurh) को घेर लिया; लेफ्टिनेण्ट टॉड जानता था कि ऐसी लड़ाइयों में कितना समय बरबाद होता है इसलिए उसने, इस देर का लाभ उठाते हुए, एक अज्ञात और अस्तव्यस्त प्रदेश में मार्ग निकालने का निश्चय किया। एक छोटी-सी रक्षिका-टुकड़ी को साथ लेकर वह बेतवा के किनारे-किनारे चन्देरी[2] पहुँचा और फिर पश्चिम की ओर

---

[1] यह ध्यान रखना चाहिए कि 'मध्य भारत' (Central India) शब्द का प्रयोग इन भू-भागों के लिए सब से पहले कर्नल टॉड ने १८१५ ई० में किया था जब उसने यहां का मानचित्र मारकुइस आफ हेस्टिंग्स को पेश किया था।

[2] चन्देरी के विषय में उसने 'इतिहास' (१.१३८) में लिखा है कि "मैं ही पहला यूरोपियन था जिसने १८०७ ई० में इस जंगली प्रदेश को पार किया—और इस काम में कठिनाइयां भी बहुत आईं। उस समय यह स्वतंत्र था परन्तु तीन वर्ष बाद सिन्धिया का शिकार बन गया।"

कोटा गया तथा दक्षिण से बहने वाली सभी छोटी नदियों का मार्ग एवं मुख्य-मुख्य नदियों के संगम-स्थानों के बिन्दु निश्चित करते हुए उसने आगरा तक अपना अभियान जारी रक्खा। यह कार्य उसने (उस समय पचीस वर्ष की अवस्था में) अपने ही महान् साहस के बल पर पूरा किया; मार्ग में बहुत सी रोमाञ्चक घटनाएं हुईं और अनेक बार उसे लूट भी लिया गया। मरहठा छावनी में लौटने पर जब उसे लगा कि अभी भी वहुत-सा समय उसे मिल सकता था तो वह फिर अपनी यात्रा पर निकल पड़ा—अब की वार दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ वह बहावलपुर से जयपुर, टोंक आदि स्थानों और फिर सागर तक चला गया। यह यात्रा एक हज़ार मील की हुई और जब वह वापस लौटा तो सेना का पड़ाव वहीं था जहाँ उसने छोड़ा था।

सिन्धिया के चल-दरबार के साथ वह इस प्रदेश के सर्वेक्षण में व्यस्त हो कर तब तक लगातार इधर-उधर घूमता रहा जब तक कि वह दरबार १८१२ ई० में ग्वालियर में स्थायी न हो गया; और, तब उसने उन भू-भागों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की योजना बनाई, जिनमें वह स्वयं प्रवेश नहीं पा सका था।

उसने भौगोलिक एवं स्थल-परिज्ञान-सम्बन्धी खोज के लिए अन्वेषकों की दो टुकड़ियां रवाना कीं। पहली, उदयपुर के पास होकर गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, लखपत, हैदराबाद, ठट्टा, सीवन, खैरपुर और बखर तक गई और सिन्धु नदी को पार करके पुन: पार उतर कर ऊमरा-सूमरा के रेगिस्तान में होती हुई जैसलमेर, मारवाड़ और जयपुर पहुँच कर वापस उसके डेरे पर जा मिली, जो उस समय नरवर में था। दूसरी टुकड़ी सतलज के दक्षिणी रेगिस्तान में भेजी गई। इन दोनों ही अभियानों के परिचालक स्थानीय मनुष्य थे, जिनको उसने स्वयं चुन कर प्रशिक्षित किया था; वे सभी जानकार, निडर, उद्यमी और विज्ञान की जिज्ञासा में उसी के समान उत्साह से भरे हुए थे। वह कहता है 'इन दूर के प्रदेशों से अच्छे-से-अच्छे जानकार स्थानीय मनुष्य मेरे पास आग्रह करके अथवा इनाम का लोभ देकर भेजे जाते थे और मरहठों की छावनी में १८१२ से १८१७ ई० तक हमेशा ही सिन्धु घाटी, घाट और ऊमरा-सूमरा के रेगिस्तान अथवा राजस्थान की अन्य किसी रियासत से कोई न कोई देशी आदमी आता ही रहा।' उसने अन्यत्र लिखा है 'यद्यपि मैं स्वयं भारतीय मरुस्थल के अन्तर में, मरुस्थली की प्राचीन राजधानी मण्डोर, इसकी उ० पू० सीमा पर हिसार के पुराने किले और पश्चिम में आबू, नहरवाला और भुज से आगे नहीं गया हूँ, परन्तु मेरी खोजी टुकड़ियों ने सभी दिशाओं में इसके स्थलों को देखा-भाला है और मार्गों के विवरण की शुद्धता को जीवन्त प्रमाणों से सम्पुष्ट करने के

लिए मेरे पास भटनेर से उमरकोट और आबू से आरोर (Arore) तक के प्रत्येक 'थळ'[1] से देशी आदमियों को ला-ला कर पेश किया है। मध्य भारत और पश्चिमी भारत से प्राप्त विवरण और इन सभी मार्गों का ब्यौरा मिल कर मध्यम माप के पृष्ठों की ग्यारह जिल्दों में हैं।'[2] इस सामग्री का संग्रह करने में खूब धन खर्च किया गया और स्वास्थ्य एवं श्रम की भी कोई परवाह नहीं की गई, इससे उसके उत्साह की तीव्रता एवं मान्यताओं की दृढ़ता का परिचय प्राप्त होता है। मिस्टर मर्सर कहते हैं 'जब तक मैं इस रेज़ीडेन्सी में रहा, वह इस प्रदेश के भूगोल-सम्बन्धी अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रत्येक सुलभ और शक्य अवसर का लाभ उठाता रहा; और मेरा विश्वास है कि उसके वेतन का बहुत बड़ा भाग देश के विभिन्न भागों में कार्यकर्त्ता भेज कर उनके द्वारा स्थलीय सूचनाएं प्राप्त करने में व्यय होता था। वह स्वयं भी इस उद्देश्य के लिए अथक परिश्रम करता रहता था; और उसकी थकान को कम करके उसे पुनः सुस्वस्थ बनाने हेतु कभी-कभी मुझे ऐसे प्रयत्न भी करने पड़ते थे कि उसकी प्रवृत्तियों में रोक पैदा हो जाय क्योंकि गठिया-वात से प्रभावित उसका स्वास्थ्य बहुधा साधारण व्यायाम करने में भी अशक्य हो जाता था।'

वह एक मण्डली की खोज के परिणामों से शायद ही कभी सन्तुष्ट होता था वरन् अपर मण्डली को निर्देश देने में उनका उपयोग करता था और इस तरह वह दूसरी मण्डली अतिरिक्त सूचना लेकर उसी स्थल पर पहुँच जाती थी। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में, मार्गों को मानचित्रों में रेखांकित कर के कितनी ही जिल्दें तैयार कर लीं गई; और बहुत सी सीमावर्ती रेखाओं को निश्चित करके एक साधारण खाका तैयार किया गया जिसमें सभी प्रकार की सूचनाएं अंकित थीं। इसके बाद, उसने इस कार्य की शुद्धता को जाँचने के लिए त्रिकोणमिति के आधार पर पुनः सर्वेक्षण चालू करने का निश्चय किया और यह कार्य उसने फिर से नई मण्डलियां भेज कर पूरा कराया, जिन्होंने निश्चित बिन्दुओं और केन्द्रों से बीस मील अर्ध-व्यास की परिधि में स्थित सभी नगरों के मार्गों का ब्यौरा एकत्रित किया। वह कहता है 'ऐसे ही तरीकों से मैंने इन अपरिचित स्थलों में अपना कार्य किया।'

ये विवरण, जो स्वयं कर्नल टॉड के शब्दों में दिए गए हैं, साधारण रूप से अतीव संक्षिप्त लगते हैं, परन्तु इनसे उनके प्रसार और उसके उन सम्पर्कों की

---

[1] 'थळ' खुले और सूखे भू-भाग को कहते हैं, जो जंगल या रोही से भिन्न होता है।

[2] 'इतिहास'. २. २८६

बहुमूल्यता ज्ञात हो जाती है जिनके द्वारा वह पिंडारी-अभियान में महत्त्वपूर्ण सेवाएं सम्पन्न कर सका था।

मिस्टर मर्सर ने १८१० ई० में भारत छोड़ा और उनके स्थान पर सिन्धिया दरवार की नरवर में स्थित तत्कालीन रेज़ीडेन्सी पर मिस्टर रिचार्ड स्ट्रैंची नियुक्त हुए, जो दश वर्ष पहले ही देहली में लेफ्टिनेण्ट टॉड से परिचय प्राप्त कर चुके थे। अक्टूबर, १८१३ ई० में उसे कॅप्टेन के पद पर उन्नत किया गया और एस्कॉर्ट (escort) की कमान सम्हलाई गई। तदनन्तर अक्टूबर, १८१५ ई० में, मिस्टर स्ट्रैंची के दरवार छोड़ने से कुछ ही समय पूर्व कॅप्टेन टॉड को रेजीडेण्ट के द्वितीय सहायक के नागरिक पद के लिए नामांकित किया गया। मिस्टर स्ट्रैंची का कहना है कि इस पूरे समय में वह मुख्यतः सिन्धु और बुन्देलखण्ड तथा जमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेशों से सम्बद्ध भौगोलिक सामग्री एकत्रित करने में व्यस्त रहा। वे सज्जन कहते हैं, 'मेरे पद से सम्बन्धित कर्तव्यों का इन प्रदेशों से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता था और इस विस्तृत क्षेत्र के विषय में उसके भौगोलिक ज्ञान से मैंने बहुत लाभ उठाया। प्राप्त जानकारी को प्रस्तुत करने के लिए वह सदैव तत्पर रहता था, जो महत्व के अवसरों पर बहुत उपयोगी सिद्ध होती थी; सरकार ने भी उसके इस कार्य की बहुत प्रशंसा की है।'

राजपूताना की तत्कालीन दशा का उसने अपने महान् ग्रन्थ में प्रभावशाली वर्णन किया है। १७३५ ई० में पहले-पहल चम्बल को पार कर के मरहठों ने मालवा में अपने थाने कायम कर लिए थे, और जल्दी ही टिड्डी दल की तरह नर्मदा को पार कर के विभिन्न रियासतों में घुल-मिल कर, उनके आपसी झगड़ों को वढ़ावा देकर तथा कभी एक को सहायता दे कर तो कभी दूसरे का पक्ष ले कर, अन्त में उन्होंने राजस्थान में अच्छी तरह अपने पैर जमा लिए थे। दिल्ली के निर्बल मोहम्मद शाह ने अपने राजस्व की 'चौथ' अथवा चतुर्थांश उनके हवाले कर दी थी जिससे उनको यहाँ तथा अन्यत्र भी कर उगाहने के लिए अवसर मिल गया। उनका नेता बाजीराव मेवाड़ में पहुँच गया और राणा को उससे सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा जिसके अनुसार उसने तीनों वड़े मरहठा नेताओं को कर देना स्वीकार किया। यह क्रम दस वर्ष तक चलता रहा जव तक कि वे आक्रमणकारी अपनी मांग को बढ़ाते रहने की स्थिति में वने रहे। अवर रियासतों की दुर्नीति का अनुसरण करते हुए राणा ने भी हुल्कर को अपने एक झगड़े में शामिल किया (जिसमें उसको लगभग दस लाख सिक्के दिए) और उसी समय (१७५० ई०) से मरहठों ने राज-

स्थान में अपनी पकड़ मजबूत बन ली, जो आपसी संघर्ष, लूटपाट और आन्तरिक झगड़ों के कारण तब तक बरबादी का रंगमंच बना रहा जब तक कि पिंडारी-मरहठा युद्ध के बाद १८१७-१८ ई० में बृटिश सरकार के साथ रियासतों की सन्धियां सम्पन्न न हो गईं। आधी शताब्दी से कुछ अधिक समय तक इस टिड्डी-दल ारा किए गए विनाश का वर्णन बड़ी ही भावपूर्ण एवं चमत्कारिक भाषा में 'राजस्थान का इतिहास' में किया गया है। सहायता और सहयोग के बहाने भूमि-ग्रहण से १७७० से १७७५ ई० तक और नोंच-खसोट कर प्राप्त किए हुए धन से उनकी लिप्सा की तृप्ति १७९२ ई० तक होती रही। उस समय राजपूताना के आन्तरिक संघर्ष महादाजी सिन्धिया को चित्तौड़ में ले आए और, कहते हैं कि, उसके नायब अम्बाजी ने अकेले मेवाड़ से वीस लाख सिक्के वसूल किए और इस प्रदेश की स्थिति उसके सहायकों की कृपा पर निर्भर हो गई। हुल्कर और सिन्धिया की प्रतिस्पर्धी सेनाओं को इस अभिलषित भूमि में छापे मार कर पीन हीने की खुली छूट मिली हुई थी और कभी-कभी पराजय का सामना होने पर उनकी द्वेषाग्नि भभक उठती थी तथा निर्बाध छूट के कारण उनकी भूख और भी बढ़ जाती थी; ऐसी दशा में वे राजपूताना को एक के बाद-एक करके रौंदे डाल रहे थे और यह देश द्रुत गति से जंगल के रूप में बदल रहा था। कर्नल टॉड कहते हैं '(१८०५ ई० के) बाद के दश वर्षों तक जिस भय और आतङ्क का राज्य यहाँ पर रहा और ग्रन्थकर्त्ता जिसका प्रत्यक्षदर्शी रहा है उसका चित्रण करने के लिए साल्वेटर रोज़ा की पैंसिल के सदृश सुदृढ़ लेखनी की आवश्यकता होगी; और उस आतङ्क का परिणाम मरहठा छावनियों के पीछे-पीछे लूटमार के तांतों और उन मध्यभारतीय रियासतों की बरबादी एवं राजनीतिक नगण्यणा के रूप में निश्चित था, जिन्होंने अंग्रेजों को राज्य-संस्थापन के आरम्भिक संघर्षों में सहायता दी थी और उन्हीं को अब [अंग्रेजों द्वारा] निस्सहाय अवस्था में नष्ट होने के लिए भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया था।'—

"१८०६ ई० के वसंत में जब राजदूत-वर्ग ने एकदा उर्वर मेवाड़ में प्रवेश किया तो विनाश के अतिरिक्त कुछ भी देखने को न मिला—उजड़े कसबे, टूटी छतों के मकान और पड़त खेत। जहाँ कहीं भी मरहठों का डेरा लगता वहाँ की बरबादी निश्चित थी—यह एक आम रिवाज़ बन गया था; किसी भी खुशहाल और हरे-भरे स्थल को उजाड़ जंगल की शकल देने के लिए सिर्फ चौबीस घण्टे काफ़ी होते थे। इस विध्वंसकारी दल के प्रस्थान के मार्ग का पता हमेशा कई दिनों तक जलते हुए घरों और बरबाद खेतों से लगाया जाता था।"—

"मेवाड़ बरबादी की ओर तेज़ी से बढ़ रहा था, सभ्यता का प्रत्येक चिह्न जल्दी से लुप्त होता जाता था, खेत पड़त पड़े थे, शहर बरबाद हो गए थे, प्रजा मारी-मारी फिर रही थी, ठाकुरों और जागीरदारों की नीयतें बिगड़ गई थीं और महाराणा व उसके परिवार को जीवन की साधारण से साधारण सुविधा भी सुलभ नहीं थी।"[1]

एक रम्य प्रदेश के सामरिक वीर निवासियों को, जिनके स्वाभाविक सद्-गुणों को अत्याचार भी विनष्ट नहीं कर पाए थे, इस प्रकार आक्रामकों के हाथों में पड़े देख कर उस युवा सैनिक की सोष्म और सूक्ष्मग्राही भावनाओं को गहरा आघात पहुंचा। वह १८०६ ई० के जून मास में हुई मेवाड़ के राणा भीमसिंह और दौलतराव सिंधिया की मुलाकात के समय स्वयं मौजूद था जब उदयपुर से छः मील की दूरी पर एकलिंगजी के मन्दिर में वह चिरस्मरणीय समझौता हुआ था कि जिसके परिणामस्वरूप राणा की पुत्री 'राजस्थान की पद्मिनी' कृष्णा-कुमारी का अमानुषिक बलिदान हुआ; इस नाटक का वह भयावह दृश्य पूर्ण-रूप से उसकी आँखों के सामने ही सम्पन्न हुआ था। एक सामान्य कृषक-पुत्र की दया पर निर्भर भारत के प्राचीन राजवंशी राणा की दयनीय उपस्थिति ने उसके मन पर एक अमिट छाप लगा दी। राणा की नज़रों में अपने महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के लिए सिन्धिया ने बृटिश राजदूत और उसके वर्ग को भी इस अवसर पर आमन्त्रित किया था। राजदूत मिस्टर मर्सर (Mr. Mercer) कहते हैं "सम्मेलन में जब हम दौलतराव सिन्धिया के साथ गए और उसका (ले० टॉड का) परिचय उदयपुर के राणा से कराया गया तब मैंने उस (ले० टॉड) का जो उत्साह देखा वह मुझे अच्छी तरह याद है। हिन्दुस्तान के प्राचीन उच्च-कुलीन राणा और उसके साथियों का व्यक्तित्व वास्तव में बहुत प्रभावोत्पादक था; और, यद्यपि इससे पहले मैं भारत के प्रायः सभी दरबारों में उपस्थित रह चुका हूँ परन्तु जो वंश मुसलमानों की विजय से पूर्व 'हिन्दूपद पातशाह' की उपाधि का अधिकारी रह चुका है उसकी शान और सद्व्यवहार से अत्यधिक प्रभावित हुआ।" स्वरचित 'मेवाड़ के इतिहास' में इस मुलाकात के विषय में कर्नल टॉड ने जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि यही वह क्षण था जब कि पहले पहल राजस्थान के पुनरुद्धार की उस उदार योजना के विचार का उसके मन में उदय हुआ जिसका बाद में वह मुख्य निमित्त बन गया। वह कहता है "इस अवसर पर 'सौ राजाओं के वंशज' की मुसीबतों और उसके उदात्त व्यक्तित्व

---

[1] इतिहास १, पृ० ४५८; ४६९–७०।

को देख कर लेखक के मन पर जो प्रभाव पड़ा वह कभी क्षीण नहीं हुआ अपितु इसने उसकी गिरी हुई दशा को उठाने के लिए उस (लेखक) के मन में उत्साह-पूर्ण प्रबल इच्छा को जागृत कर दिया और उस ज्ञान को प्राप्त करने की लगन में दृढ़ता पैदा कर दी कि जिसके बल पर ही वह उसको लाभ पहुंचा सकता था। यह एक लम्बा स्वप्न था; परन्तु, दस वर्ष की व्यग्र आशा के उपरान्त उसे सन्तोष मिला कि वही उस वंश को विनाश के चंगुल से छुटकारा दिलाने और परिणामतः देश के अपेक्षाकृत समृद्ध होने में कारणीभूत हुआ।"[1]

उस समय लार्ड मिण्टो की अध्यक्षता में अपनी शान्त अथवा, यों कहें कि, डरपोक नीति के कारण आङ्ग्ल-भारतीय सरकार ने यह निश्चय कर लिया था कि इन रियासतों के आन्तरिक मामलों में किसी भी तरह का दखल देने से दूर रहा जाय और इस कारण राज-प्रतिनिधि (Envoy) को अपने चारों ओर चल रहे उपद्रवों का निष्क्रिय साक्षी मात्र होकर रहना पड़ता था। सन् १८१७ ई० में मार्कुइस् हेस्टिंग्स के पिण्डारियों (समाज की रोगग्रस्त अवस्था से उत्पन्न हुई लुटेरों की एक संगठित जमात) को समाप्त करने के निश्चय ने, जिसके कारण उन (पिण्डारियों) के संरक्षणकर्ता मरहठों के साथ उसको व्यापक युद्ध में संलग्न होना पड़ा था, एक छोटी परन्तु सक्रिय सेना की सहायता से उस विशाल लुटेरा-प्रणाली को निरस्त कर दिया जिससे कि राजस्थान बड़े लम्बे समय से त्रस्त हो रहा था। चारों ओर के प्रदेश और रियासतों में हमारी सैनिक प्रवृत्तियों के दृश्य उपस्थित हो गए और अब कप्तान टॉड का ज्ञान और अनुभव, जो उसने बहुत बड़ी जोखिम और व्यय उठा कर प्राप्त किए थे, अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध हुए। इन भू-भागों के मानचित्र नहीं थे; मध्य और पश्चिमी भारत का भूगोल, सांख्यिक आँकड़े, और सैनिक सर्वेक्षण के विवरण अज्ञात थे; और हमारे सैनिक अधिकारियों को, जिन्हें बिगड़ी हुई रैयत का सहयोग प्राप्त नहीं था और जिनको तेज् भगोड़े पिण्डारियों को उनके अड्डों, छुपने के स्थानों और भूलभुलैयाँ के मार्गों में होकर पीछा करके पकड़ना था, निरन्तर असफल होकर अन्त में नष्ट हो जाना पड़ता यदि एक नवयुवक अधीनस्थ अधिकारी की दूर-दर्शिता, सूझबूझ, परिश्रम और जनहित-भावना प्राप्त न होती। "भारत में वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसको युद्धस्थल का व्यक्तिगत रूप से समुपार्जित ज्ञान प्राप्त था।"

उस समय की नाजुक स्थिति में अपनी सेवाओं का जो लघु विवरण कर्नल

[1] इतिहास १, पृ० ४६१

टॉड ने अपने हाथ से लिखा है उसके संक्षेप अथवा सार का अवलोकन करने से विदित होगा कि उस ज्वलंत एवं निर्णायक अभियान की सफलताओं में उसका कितना बड़ा योग था।

जब पिण्डारियों के विरुद्ध कार्यवाही आरंभ हुई ही थी तब वह दो पैदल व आधी घुड़सवार कम्पनियों का अधिकारी था। ये कम्पनियाँ सिन्धिया दरबार में रेज़ीडेन्सी की रक्षा के लिए नियुक्त थीं। सन् १८१४-१५ ई० में उसने पिण्डारियों के उद्भव, बढ़ाव और तत्कालीन स्थिति के विषय में एक स्मरण-पत्र भेजा। इसके बाद ही उसने इन क्षेत्रों का नक्शा, यहाँ का भौगोलिक, राजनीतिक और भौतिक इतिहास[1] तथा उन लुटेरों के दमन की एक सामान्य योजना भी भेजी जिसके तुरन्त बाद ही प्रत्यक्ष अभियान शुरू हो गया। जैसे ही परिस्थितियां बदलीं उसने दूसरी परिशोधित योजना भेजी जिसके साथ नर्मदा के उत्तर में स्थित प्रदेशों का अध्ययनपूर्ण मानचित्र भी था; उसने इस बात पर बल दिया कि अभियान इस योजना का पूर्णतः अनुसरण करे। इन सूचनाओं के लिए उसे लार्ड हेस्टिंग्स् के हार्दिक धन्यवाद प्राप्त हुए और उन मानचित्रों की नकलें मोर्चे पर प्रत्येक जनरल के मुख्यालय को भेज दी गईं। इनमें से अन्तिम लेख जो गवर्नर जनरल के पास पहुँचा वह इतना महत्वपूर्ण समझा गया (जैसा कि उसने कप्तान टॉड को सूचित किया) कि उसकी नकलें दक्षिण के सेनाध्यक्ष सर थॉमस हिसलॉप (Sir Thomas Hislop) के पास तुरन्त ही 'जरूरी डाक' द्वारा भेज दी गईं।

सैन्य अभियान के लिए ऐसी मूल्यवान् सामग्री तैयार करने के उपरान्त उसने किसी भी सेना-विभाग में भेजे जाने के लिए निजी सेवाएँ समर्पित कीं और उसकी इस प्रार्थना को लार्ड हेस्टिंग्स् ने इन शब्दों के साथ स्वीकार कर लिया "इस महत्त्वपूर्ण अवसर के लिए आपकी सेवाओं पर बहुत समय से मेरी दृष्टि लगी हुई थी।" पहले तो यह सोचा गया कि उसे सर ऑक्टर लोनी के सेना-खण्ड में लगाया जाय परन्तु बाद में विचार हुआ कि हाड़ौती में रावता[2] नामक स्थान पर तैनात किए जाने से उसके विस्तृत ज्ञान का अधिक

---

[1] 'इतिहास राजस्थान' भा. २; पृ. ३४५ पर आमेर के पुरावृत्त में ऐसे विवेचन का उदाहरण देखा जा सकता है जो गव्हर्नमेंट को भेजे हुए विवरण से ज्यों का त्यों मिलता हुआ है।

[2] अपने आत्म-विवरण' (इतिहास, २, पृ० ७००) में कोटा यात्रा के अवसर पर १८२० ई० में इस स्थान पर डेरा लगाने का वर्णन करते हुए वह कहता है "रावता बहुत से उत्साहपूर्ण संस्मरणों से परिवृत है; १८१७-१८ ई० के अभियान में लगातार मैं यहीं पर जमा रहा। यह स्थान सभी मित्र और शत्रु सेनाओं की हलचल के बीच में पड़ता था।"

उपयोगी रूप में प्रयोग किया जा सकेगा क्योंकि यह स्थान सभी सैनिक विभागों के मध्य में था और वहाँ से सूत्र-संचालन एवं जानकारी के लिए आवश्यक केन्द्र बन गया था; वह कहता है "वास्तव में, मैं नर्मदा के उत्तर में सभी सेना-विभागों के संचालन में मार्ग-दर्शन करता था, जैसे जनरल डान्किन, मार्शल एडम्स और ब्राउन के विभाग।" लॉर्ड हेस्टिंग्स् और मोर्चे पर तैनात प्रत्येक जनरल ने उसकी सेवाओं की मूल्यवत्ता के लिए वारम्वार धन्यवाद अर्पण किए हैं।

जब उसे ज्ञात हुआ कि करीम खाँ के बेटे की अध्यक्षता में पिण्डारियों की एक टुकड़ी उसके डेरे से तीस मील की दूरी पर 'काली सिन्ध' में छुपी हुई हैं तो उसने (कोटा की सहायक सेना के) दो सौ पचास तोड़ादार बन्दूकों वाले सिपाही अपने बत्तीस 'फायर लॉक' (टोपीदार बंदूकों वाले) सिपाहियों के साथ लगा दिए (जो स्वेच्छा से २५वीं, उत्तरी पद-सेना से उसके साथ आए थे) और उनको शत्रु के १५०० आदमियों के पड़ाव को मार भगाने के लिए यह कह कर रवाना कर दिया कि "कुछ किए बिना न लौटना।" सहायक सेना वाले तो पीछे रह गए परन्तु बत्तीस आदमियों की छोटी-सी जमात ने अपने कमाण्डर का आदेश पालन करते हुए शत्रु-सेना पर आक्रमण करने में हिचक नहीं की और उनके १०० या १५० आदमी मार कर उनको खदेड़ दिया। इस आक्रमण का नैतिक प्रभाव बहुत आश्चर्यजनक रहा। हमारे मित्रों द्वारा भी किसी पिण्डारी को अब तक कभी पीड़ित नहीं किया गया था; परन्तु, इस पराजित शत्रु-संघ से लूट में प्राप्त पशु, हाथी, ऊँट और अन्य मूल्यवान् वस्तुएं दूसरे ही दिन कोटा के (रीजेन्ट) राज-प्रतिनिधि के समक्ष डेरे पर लाई गईं और उसने वे सब कप्तान टॉड के पास भेज दीं जिसके सुझाव पर उन्हें बेच कर जो आमदनी हुई उससे कोटा से पूर्व में मुख्य मार्ग के बीच में पड़ने वाली नदी पर एक पुल बनाया गया। कप्तान टॉड के सुझाव पर ही इस विजय-स्मारक का नाम 'हेस्टिंग्स् पुल' रखा गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स् इस पराक्रम से (जो इस प्रकार का एक ही नहीं था) इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इसे 'पदक-योग्य' घोषित किया और जिन लोगों ने इसमें काम किया था उनको अतिरिक्त वेतन देकर पुरस्कृत किया।

करीम खाँ के महान् पिण्डारी-दल के विनाश के बाद, कप्तान टॉड ने एक 'गश्ती-पत्र' तैयार किया जिसमें चीतू के दूसरे विशाल दल को विनष्ट करने के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने का प्रस्ताव था; उसने यह पत्र 'नरवदा' के उत्तर में प्रत्येक सेना-विभाग के अध्यक्ष के नाम सम्बोधित किया, जैसे, सर थॉमस हिसलॉप, सर विलियम ग्राण्ट केर, सर आर० डॉन्किन, और कर्नल

एडम्स । इस कार्य के लिए लॉर्ड हेस्टिंग्स् के द्वारा उसे विशेष धन्यवाद प्राप्त हुए । यद्यपि इस योजना पर कार्य नहीं हुआ परन्तु शत्रु की गतिविधि ठीक-ठीक वही थी जिसको इसमें आशङ्का व्यक्त की गई थी और जिसकी रोक-थाम के लिए उपाय बताए गए थे । कर्नल एडम्स के विभाग के असिस्टेंट एड्ज्यूटॅण्ट जनरल ने अपनी एवं अपने कमाण्डर की ओर से कप्तान टॉड को लिखा कि "वास्तव में, आपके अतिरिक्त इस परिपत्र को और कोई अधिकारी लेखबद्ध नहीं कर सकता था ।"[1]

अपने देश की सेवार्थ जो जानकारी और सूचनाएं वह सामयिक रूप से देने में समर्थ होता था वे प्राय: उस सुसंगठित प्रणाली के द्वारा प्राप्त होती थीं जो उसने अपने खर्चे से एतद्देशीय भौगोलिक, आंकिक और पुरातात्विक सूचना-संकलन के लिए आयोजित कर रखी थी और इस कार्य का उसके कार्यालयीय या पदीय कर्त्तव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था । इस अभियान के अवसर पर प्राय: दस और बीस के बीच में लिखित रिपोर्टें प्रतिदिन उसके पास आया करती थीं और उनमें से संक्षिप्त समाचार निकाल कर वह प्रत्येक सेना-विभाग के मुख्यालय को भेजा करता था । जब युद्ध बन्द हो गया तो मारकुइस हेस्टिंग्स् ने उसकी सेवाओं की प्रशंसा करते हुए महत्वपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया कि 'इस सफलता में आपने मूलभूत योग दिया' और आगे कहा "अभियान को आगे बढ़ाने में मार्ग-दर्शन सम्बन्धी आपकी सेवाओं के विषय में प्रत्येक क्षेत्रीय जनरल से प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र प्राप्त हुए हैं ।'

उसकी ये सेवाएं केवल कूटनीतिक और राजनीतिक प्रकार की ही नहीं थीं वरन् किसी अंश तक इनका आवश्यक सामरिक महत्व भी था । इस विषय में कर्नल टॉड के कागज-पत्रों में से प्राप्त उसीका लिखा एक स्मरण-पत्र पूर्णतया निर्णायक है—

"यदि कोटा के सम्पूर्ण विनियोज्य सैनिक साधनों को आमन्त्रित कर लेना राजनीतिक कदम था तो उनका प्रयोग करना एक विशुद्ध सामरिक कार्य था; और यदि, उस व्यक्ति (जालिमसिंह) के स्वभाव से परिचित होने के कारण मैं उसके अप-

[1] इस असाधारण परिपत्र ने दक्षिण की लूट से प्राप्त धन पर विवाद करते समय एक महत्वपूर्ण आलेख का रूप ले लिया था । कर्नल टॉड ने इसमें प्रस्ताव किया था कि 'चीतू को विनष्ट करने के अभियान में उसे ही मुख्य आधार बनाया जाय और लॉर्ड हेस्टिंग्स् के परामर्श-दाता ने इस पर पूर्ण विश्वास करते हुए यह व्यक्त किया था कि वह दोनों ही सेनाओं का सेनाध्यक्ष समझा जाता था ।

रिमेय साधनोंको अपने हित में संयोजित करने में सफल हो सका तो यह मेरे एतद्देशीय सैनिक-ज्ञान का ही फल था कि जिससे यह कूटनीतिक सिद्धि पूर्णता को प्राप्त कर सकी। यही एक ऐसा राजा था जो मध्य-भारत में सब से अधिक बुद्धिमान् और शक्तिशाली था और जिसका प्रदेश हमारी प्रवृत्तियों के बीचों-बीच आया हुआ था तथा जहाँ पर सभी प्रकार के साधन उपलब्ध थे; परन्तु, लॉर्ड लेक के युद्धों में हमारी सहायता करने के कारण जो क्षति उसको पहुँची थी तथा लार्ड कार्नवालिस के समय में हमारी नीति के अनुसार होल्कर के क्रोध का पात्र बनने के लिए हमारे द्वारा उसको अकेला छोड़ देने की घटनाएं भी उसे याद थीं। यह मान लेना चाहिए कि ऐसी-ऐसी स्मृतियों पर काबू पाने के लिए विशेष प्रकार की चातुरी आवश्यक थी; फिर भी, वहाँ पहुँचने के बाद पाँच ही दिन में मैंने उन पर काबू ही नहीं पा लिया वरन् अपने सभी सैनिक साधनों को मेरे ही आधीन रख देने को भी उसको राजी कर लिया।

"उनका पहला उपयोग मैंने सर जे० मालकम (जिसने उस समय नर्मदा को पार किया ही था और हमारे शत्रुओं के बीचों-बीच घिर गया था, जिनमें यदि थोड़ी सी भी उद्यमता होती तो उसकी कमज़ोर सेना को नष्ट कर देते) की सहायतार्थ 'खासा' (the Royals) रेजीमेण्ट भेज कर किया; इस रेजीमैण्ट में एक हजार जवान, चार तोपें और तीन सौ बढ़िया घोड़ों का एक दल था। ये लोग सर जॉन के साथ संघर्ष के अन्त तक रहे और शत्रु के एक दुर्ग को घेर कर अधिकृत कर लेने में उन्होंने परम प्रसिद्धि प्राप्त की। दूसरे, मैंने दलों को विभिन्न मार्गों पर विभाजित कर दिया जिनमें से कुछ का शत्रु से सीधा वास्ता भी पड़ा। तीसरे, जब होल्कर से दुश्मनी शुरु हुई तो बूंदी के पहाड़ों से लेकर महिदपुर के रणस्थल तक होल्कर के प्रत्येक जिले पर एक ही सप्ताह के अल्प समय में सैनिक अधिकार कर लिया। इस सेना के प्रत्येक उप-विभाग के साथ मैंने एक-एक अंग्रेज यूनियन (सैनिक टुकड़ी) भी लगा दी जो थोड़े ही समय में प्रत्येक प्राकार-युक्त नगर और थानों पर जम गए और उन्होंने वहाँ से (घोषणा द्वारा) बृटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी प्राप्त कर ली। एतद्देशीय सामरिक अवस्था के ज्ञान और उसके सम्यक् प्रयोग के बिना किसी भी दशा में ऐसे परिणामों को प्राप्त नहीं किया जा सकता था।

"ये सभी कर्तव्य मुख्यत: सैनिक-कर्तव्य थे, साथ ही इनमें कूटनीतिक पुट भी मिला रहता था। मेरे बड़े से बड़े कूटनीतिक कार्य के लिए भी सैनिकीय निर्णय लेना आवश्यक होता था और उसकी शुद्धता भी सैनिक परिणामों के आधार पर ही जाँची जा सकती थी। उदाहरण के लिए—शत्रुता आरम्भ होने से पहले

होल्कर सरकार से बातचीत का काम मुझे सौंपा गया। वह घड़ी बड़ी नाजुक थी। इस दरबार ने संरक्षण-सन्धि के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था और मुझे अधिकृत किया गया था कि जनरल सर रुफेन डॉनकिन् (General Sir Rufane Donkin) के अधिकार में सेना का बड़ा दक्षिणी विभाग वाञ्छित संरक्षण प्रदान करने के लिए नियोजित करूं कि जिससे सन्धि का सुरक्षा-सम्बन्धी कदम पूरा हो सके। मुझ में यह विश्वास निहित हुआ ही था और मैंने केन्द्रीय स्थिति को मुश्किल से हाथ में लिया ही था कि कुछ दिन बाद ही पेशवा और भोंसला ने हमारे साथ सन्धि तोड़ दी और मुझे पता चला कि पेशवा के दूत होल्कर सरकार के नाम अपने स्वामी के हक में घोषणा करवाने के लिए विनिमय पत्र लिए घूम रहे थे। ऐसे क्षण में मैंने, यह सोच कर कि मित्रता का बहाना बनाने की अपेक्षा तो विरोध की घोषणा कर देना बेहतर रहेगा, तुरन्त ही एक पत्र अपने निजी दूत द्वारा तत्कालीन राजप्रतिनिधि रीजेन्ट बाई (Bae)[1] के नाम लिखा जिसमें मुझे प्राप्त हुई इस दोहरा चाल की सूचना से उसको अवगत कराया गया और आगे लिखा गया कि 'यदि अपनी सद्भावना के प्रमाणस्वरूप छत्तीस घण्टों की अवधि में आपने हमारी सरकार के साथ मित्रता-सन्धि की सार्वजनिक घोषणा न कर दी, आवश्यक सहायता न मँगवाई, पेशवा के दूतों को दरबार से न निकाला और आपके शिविर के पास ही पड़े हुए पिण्डारियों के गिरोह पर आक्रमण न किया तो मैं आपकी सरकार को अपनी सरकार के विरुद्ध समझूंगा'; साथ ही, मैंने अपने सन्देश-वाहक को आदेश दे दिया कि उक्त अवधि के समाप्त होते ही वह उसके दरबार को छोड़ दे। उसने ऐसा ही किया;—यह कदम बहुत बड़ी जिम्मेदारी का था और मैंने इसका भार भी अनुभव किया; परन्तु, मेरे इस आचरण पर सन्तोष व्यक्त करते हुए लार्ड हेस्टिंग्स् के एक आवश्यक पत्र ने मुझे उस भारीपन से मुक्त कर दिया। मैं यहां पर यह भी बता दूं कि अपने दूत के वापस आते ही मैंने सर जॉन मालकम के पास अपने पत्रों की नकल भेजते हुए मत व्यक्त किया कि 'होल्कर की छावनी पर आक्रमण करने में यदि कोई विलम्ब किया गया तो वह हमारे हितोपाय का बाधक हो सकता है और आप स्वयं इसके निर्णायक होंगे।' दुर्भाग्य से उसने मेरे द्वारा ठुकराई हुई समझौता-वार्ता को दबी आवाज़ में पुनः चालू कर दिया जिसका पहला नतीजा तो यह हुआ कि लॉर्ड हेस्टिंग्स् उससे सख्त नाराज़ हो गये और इसके थोड़े ही समय बाद छोटी-छोटी बातों में अपमान तथा उसकी छावनी के रसद-

[1] होल्कर राज्य की राजप्रतिनिधि रानी अहल्याबाई।

भण्डारों पर शत्रु के आक्रमण का सामना करना पड़ा—यह हालत तब तक चली जब तक कि महिदपुर वाली सैनिक कार्यवाही न की गई।

"इसी कार्यवाही में से एक और कूटनीतिक चाल निकली जिसमें भी सैनिक चातुरी का पुट मिला हुआ था। कोटा का राज-प्रतिनिधि हमारे और अपने पुराने मित्रों अर्थात् भारत के समस्त सैन्य-संघ के बीच में दोलायमान हो रहा था। उसको होल्कर के राज्य से अलग करके मैंने अपने वश में करने का निश्चय किया। मैं यह भी पहले से जानता था कि इसके तुरन्त बाद ही उस शक्ति से हमारा विरोध होना अनिवार्य हो जायगा—अतः मैंने लॉर्ड हैस्टिंग्स् को सिफारिश की कि वे कोटा के राज-प्रतिनिधि को उन चार उपजाऊ परगनों का स्वतंत्र स्वामी मान लेने का वचन दे दें जो उसको होल्कर सरकार की ओर से लगान पर मिले हुए थे। मेरे इस सुझाव की बड़ी प्रशंसा हुई और मुझे इस बात की पूरी छूट मिल गई कि मैं जब चाहूँ और जिस तरीके से चाहूँ यह प्रस्ताव कर सकता हूँ; मुझे यह भी अधिकार मिल गया कि मैं इसकी मञ्जूरी अपनी मोहर लगा कर दे सकता हूँ जिसकी बाद में सम्पुष्टि कर दी जावेगी। मुझे जिन परिणामों की आशंका थी वही सब सामने आए; तात्कालिक लाभ ने भविष्य की सभी आशङ्काओं को निरस्त कर दिया; और, मैंने वह काम कर डाला जिससे, उसने कहा, उसके पुराने मित्रों में 'हमेशा के लिए उसका मुंह काला हो गया', वही कार्य राज-प्रतिनिधि के विश्वास की कसौटी था अर्थात् महान् पिण्डारी नेताओं की सभी स्त्रियों और बच्चों को गिरफ्तार करके उसने मेरे सुपुर्द कर दिया, ये सब उसकी गढ़ी गागरोन (Ggraun) के पास छुपे हुए थे और मैंने इनका पता लगा लिया था। इसका असर जादू के समान हुआ; उसी घड़ी से उनकी नैतिक शक्ति बिखर गई और उनके सरदार ताबे हो कर समस्त षड्यन्त्रों से अलग हो गए। इस कार्यवाही के बाद वह राज-प्रतिनिधि हमेशा के लिए पिण्डारियों से पृथक् हो गया; साथ ही, उन चारों परगनों की मंजूरी और होल्कर के दूसरे ज़िलों के साथ उन पर सैनिक अधिकार प्राप्त होते ही उस दरबार की राजनीति और समस्त मरहठा जाति से उसके सम्बन्ध सदा के लिए विच्छिन्न हो गए।

"इन प्रयोगों में से प्रत्येक अवसर पर, जो संघर्ष के अन्तिम और महत्वपूर्ण क्षणों में किए जा रहे थे, कूटनीति के साथ सैनिक कार्यवाही का सम्मिश्रण होना इतना अनिवार्य था कि इन दोनों विषयों को पृथक्-पृथक् रखा ही नहीं जा सकता था; ऐसा स्पष्ट लगता था कि एक के बिना दूसरा ध्यान में नहीं आता था तो दूसरा पहले के बिना अच्छी तरह क्रियान्वित ही नहीं हो सकता था।

"दूसरे प्रयोग और दायित्व जो मुझे निभाने पड़े वे निस्सन्देह सैनिक प्रकार के थे। पेशवा द्वारा सन्धि भंग करने पर जब सर टी. हिसलॉप का नर्मदा के

उत्तर में बढ़ाव रुक गया तो बम्बई सरकार ने उसकी [पेशवा की] सेना को जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के द्वारा आगे बढ़ने से रुकवा दिया, जिनके अधीन पिण्डारियों के विरुद्ध की जा रही कार्यवाही की शृंखला में एक विशेष मोर्चा दिया हुआ था। इस अवसर पर, जनरल सर जॉन मालकम ने दक्षिण की सेना के एक दुर्बल विभाग के साथ असहाय अवस्था में नदी पार कर ली थी, और जनरल सर टी. हिसलॉप की प्रवृत्ति से तो युद्ध का नकशा ही बदल गया था कि जिससे पिण्डारियों के साथ लड़ाई ढीली पड़ गई थी। यह निश्चय करके कि मुख्य सेनाध्यक्ष (Commander-in-Chief) पूर्व-निश्चित योजना में, पेशवा के विद्रोह के कारण, कोई हेर-फेर करना न चाहेंगे—इसलिए सहायता के अभाव में सर जॉन मालकम के सेना-विभाग के परिणाम की आशंका से डर कर मैंने अपनी मुख्तारी से जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के पास सब बातें बताते हुए आवश्यक सूचना भेज दी और मैंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि यदि वे तेजी के साथ मेवाड़ में आगे बढ़ कर उज्जैन के पास स्थिति ग्रहण कर लेंगे तो लॉर्ड हेस्टिंग्स् को प्रसन्नता होगी। यह एक विशुद्ध सैनिक प्रश्न था। जनरल सर डब्ल्यू ग्राण्ट केर मुझ से तीन सौ पचास मील की दूरी पर थे; परन्तु, शत्रुओं की दाढ़ में होकर भी, मैंने उनके पड़ाव के साथ नियमित और शीघ्रगामी संवाद-परिवहन की व्यवस्था की। उक्त सूचना की नकल मैंने जरूरी तरीके से मार्क्विस् हेस्टिंग्स् के पास भी भेजी; मैंने पुनः एक बार स्थिति की प्रतिकूलता के विषय में निवेदन किया और ऐसा करने के लिए मुझे उनसे एक बार फिर प्रशंसा एवं धन्यवाद का संवाद प्राप्त हुआ। जनरल सर टी. ब्राउन ने भी मेरे निर्देशानुसार सैन्य-संचालन ही नहीं किया वरन् मेरे कुछ मुख्य मार्ग-दर्शकों को भी अभियान में साथ रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि रोशनबेग् का गिरोह नष्ट ही हो गया।"

अब, राजपूताना विनाशकों के हाथ से मुक्त हो गया था; कोई लुटेरा-प्रणाली पुनः चालू न हो जाय तथा भारत के सुदृढ़ सीमान्त और हमारे प्रदेशों के बीच में एक व्यवधान-सा खड़ा न हो जाय इसलिए अब इस प्रान्त के एवं वृटिश-भारत के हित में यह आवश्यक हो गया था कि इन नवसंस्थापित रियासतों का एक महान् संघ बन जाय। तदनुसार इन सब को वृटिश के साथ संरक्षण-सन्धि के लिए आमन्त्रित किया गया। एक मात्र जयपुर को छोड़ कर, जो कुछ महीनों तक इधर-उधर करता रहा, सभी ने उत्सुकता-पूर्वक इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और कुछ ही सप्ताहों में समस्त राजपूताना एक समानरूप सन्धि के अनुसार ब्रिटेन का मित्र बन गया। सन्धि के अन्तर्गत उनको बाहरी

संरक्षण और आन्तरिक स्वतंत्रता प्रदान की गई थी जिसके बदले में उन्होंने हमारा आधिपत्य एवं हमें वार्षिक राजस्व का एक अंश देना स्वीकार किया था। इन सन्धियों पर दिसम्बर, १८१७ व जनवरी, १८१८ में हस्ताक्षर हुए और फर्वरी मास में कप्तान टॉड को (जो उस समय ग्वालियर में रेजीडेण्ट के राजनीतिक सहायक थे) गवर्नर-जनरल ने पश्चिमी राजपूत रियासतों के लिए अपना राजनीतिक-प्रतिनिधि (Political Agent) नियुक्त किया। (जो उसकी सेवाओं को सम्मानित करने का बहुत अच्छा प्रकार था)

इस विपुल अधिकार से मण्डित हो कर टॉड ने अपने-आपको, इधर-उधर की पहाड़ियों में बचे-खुचे विदेशी आक्रामकों द्वारा की गई हानि को पूरा करने, आन्तरिक आपसी झगड़ों से उत्पन्न हुए गहरे घावों का उपशम करने और राजपूताना की रियासतों के बिगड़े हुए सामाजिक ढाँचे का पुनर्निर्माण करने के परिश्रमपूर्ण और कठिनतम कार्य में संलग्न कर दिया। यह महान् दायित्व किसी भी ऐसे मनुष्य को कुण्ठित कर सकता था, जो राजपूत-राजनीति की विषम उलझनों से परिचित न हो, जिसने यहां की संस्थाओं, मनुष्यों के आचरण और उनकी पसंद-नापसंद का अध्ययन न किया हो, जो उनके लोक-साहित्य[1] में पारंगत न हो, जो किसी भी जटिल समस्या को लेकर उन्हीं की बोली में उन्हीं की मान्यताओं और सिद्धान्तों को उपस्थित करता हुआ वाद-विवाद न कर सकता हो और, सब से बढ़ कर, जिसके स्वभाव में दृढ़ता, उत्साह में अदम्यता और विचारों में ऋजुता एवं निष्पक्षता न हो।

उसके नवीन कार्यक्षेत्र की ओर अग्रसर होते हुए जहाजपुर से उदयपुर तक १४० मील की यात्रा में उसे केवल दो ही थोड़ी-सी आबादी वाले ऐसे गाँव मिले जो राणा का आधिपत्य स्वीकार करते थे; बाकी सब उजाड़ पड़ा था;

---

[1] राजपूत कवि चाँद या चन्द के अनुवाद से सम्बद्ध एक ह० लि० टिप्पणी में क० टॉड कहते हैं "मैंने इन लोगों के साथ हिलमिल कर इनकी भावनाओं को ग्रहण किया; यद्यपि उत्तमता में ये हमारी श्रेणी तक नहीं पहुँच सकते, परन्तु यदि यह ज्ञात कर लिया जाय कि अत्याचार और दमन के कारण विकृत होने से पूर्व ये कैसे रहे होंगे तो ग्राह्य प्रतीत होंगे। जब मैं यह कहता हूँ कि छः वर्ष तक मैं इनके बीच में और इससे दोगुने समय तक इनके सान्निध्य में रहा तो यह आश्चर्य होता है कि मैं बहुत कम जान पाया हूँ। मैं इन काव्यों के विषय में किसी गम्भीर ज्ञान का स्वामी होने का दावा नहीं करता; परन्तु, एक लाभ हुआ, जो गहन अध्ययन से भी प्राप्त न होता—वह है, इस भाषा में बातचीत करने की क्षमता, योग्यतापूर्वक तो नहीं, परन्तु धड़ाधड़ (मैं बोल सकता हूँ); रूपक और अलंकार तो यहां के साधारण से साधारण संलाप में भरे पड़े हैं।

आदमियों के खोज तक ला-पता हो चुके थे । "बबूल और घने नरसल के पेड़, मुख्य रास्तों पर उग आए थे जिनमें चीते और बाघ घर किए हुए थे, और प्रत्येक ऊँची ज़मीन पर खण्डहरों के ढ़ेर पाए जाते थे । राजपूताना के मुख्य व्यापारिक नगर भीलवाड़ा में, जहाँ दस वर्ष पहले छः हज़ार परिवारों की बस्ती थी, अब कोई जीवन का चिह्न शेष नहीं था; सड़कें सूनी पड़ी थीं; कोई जीवित प्राणी नहीं दिखाई दिया सिवाय एक कुत्ते के, जो हड़बड़ा कर अपने निभृत स्थान, एक मन्दिर में से निकल कर भागा, जिस पवित्र स्थान के दर्शन करने के लिए मनुष्य की आँखें अनभ्यस्त हो चुकी थीं । " युद्ध, अकाल और जन-संहार के सम्मिलित परिणाम-स्वरूप विनाश का यह एक चित्र है कि जिसको किसी प्रतिभाशाली कवि की कल्पना भी शायद ही बराबर व्यक्त कर सके ।

कर्नल टॉड ने स्वलिखित 'मेवाड़ का इतिहास' में सन् १८१८ में देश की शोचनीय अवस्था का चित्र खींचने के बाद लिखा है कि "ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था थी जिसमें से व्यवस्था उत्पन्न करनी थी । समृद्धि के तत्त्व यद्यपि बिखर चुके थे परन्तु निश्शेष नहीं हुए थे और राष्ट्रीय मानस में गहरी जमी हुई अतीत [गौरव] की याद उनके अस्तित्व में नैतिक एवं भौतिक जीवन को प्रोत्साहित करने के लिए [हमें] उपलब्ध हुई थी । इनको आगे लाने के लिए केवल नैतिक हस्तक्षेप की ही माँग हुई, बाकी सब बातें छोड़ दी गईं । अराजक बाहरवटिया और जंगली भील भी अदृष्टपूर्व शक्ति के माध्यम से भयभीत हो गए ।" इस नैतिक पुनरुद्धार के लिए प्रतिनिध को जो साधन अपनाने थे वही काम में लाए गए । सज्जन होते हुए भी राणाजी दुर्बल-चित्त, अस्थिरमति और स्त्रियों के प्रभाव से दबे हुए थे । मंत्रियों में 'तीन तो ऐसे थे जिनमें न समझ थी, न अधिकार था और न ईमानदारी ही थी' परन्तु, बृटिश प्रतिनिधि के दृढ़, सान्त्वनाप्रद एवं चातुर्यपूर्ण प्रयोगों ने थोड़े ही समय में परिस्थिति बदल दी । उसकी मध्यस्थता से प्रेरित होकर दुराग्रही सरदार अपना असंतोष भूल कर राजधानी में आने लगे थे; १८१८ ई० में राणाजी की सवारी में पचास घोड़े भी नहीं थे, और अब उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर अधीनस्थ जागीरदारों से रिसाला भरा पड़ा था; जो लोग गाँव छोड़ कर चले गए थे वे पुनः अपनी 'बपोत' अर्थात् बाप-दादों की भूमि में बसा दिए गये थे, और व्यापार भी पुनरुज्जीवित होकर बढ़ती करने लगा था । सन्धि सम्पन्न होने के बाद आठ मास के अन्दर-अन्दर तीन सौ से भी अधिक गाँव और कसबे फिर बस गए और जो भूमि बरसों से अछूती पड़ी थी वह अब हल चला कर 'तोड़ ली' गई थी । बृटिश प्रतिनिधि की योजनाओं से आश्वस्त होकर व्यापारी और साहूकार बाहर से आ-आकर देश के प्रत्येक नगर

में अपना कारोबार जमाने लगे थे। बाहरी व्यापार पर से पाबन्दी हटा ली गई, एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाने का कर लेना बन्द कर दिया गया और सरहदी चुंगी कम कर दी गई—परिणाम यह हुआ कि चुंगी और कर में इतनी कमी कर देने पर भी कुछ ही वर्षों में इस मद में अब तक हुई आमदनी से इतनी अधिक रकम प्राप्त हुई कि कभी अन्दाज़ भी नहीं किया गया था। इससे मन्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि इस नतीजे से उनके संकुचित हिसाब-किताब की कोई अनुरूपता ही नहीं थी। भीलवाड़ा, जो पहले ऊजड़ हो गया था, १८२२ ई० में ३००० घरों का शहर हो गया, वहाँ एक नया बाजार बन गया जहाँ बनिए, साहूकार और अन्य नागरिक भी बस गए थे। उदयपुर के घरों की संख्या, जो १८१८ ई० में ३५०० थी, १८२२ ई० में बढ़ कर १०,००० हो गई; राज्यकोष में राजस्व की आय १८१८ ई० में ४०,००० रु. (लगभग ४,००० पौण्ड) थी, वही १८२१ ई० में दस लाख रुपयों (लगभग १ लाख पौण्ड) से ऊपर पहुँच चुकी थी।

यदि कर्नल टॉड के अधिकार में दी गई इस रियासत और साथ ही दूसरी रियासतों में उनके द्वारा निष्पन्न सुधारों के परिणामभूत लाभों का सूक्ष्म विवेचन करने लगें तो इस संस्मरण का परिमाण अनुपयुक्त रूप से बढ़ जायगा। उन्होंने इन सब का उल्लेख अपने महान् ग्रन्थ में किया है और आत्मश्लाघा (जिस दुर्बलता से, सामान्य रूप में, कोई भी मनुष्य उनसे अधिक निर्मुक्त नहीं है)[1] के आरोप की तनिक भी परवाह नहीं की है। ऐसे दोषारोपण प्रायः वे लोग करते हैं जिनको दिखावटी मनुष्यों की आत्म-संस्तुति और उदार एवं उच्च-प्रकृति मनुष्यों के उस आत्म-सन्तोष में अन्तर जानने का तमीज नहीं है जो पवित्रतम प्रयोजनों और अनेक कष्टप्रद बलिदानों के फल-स्वरूप मानव-जाति के विपुल समुदायों को स्थायी लाभ पहुंचाने की आत्मचेतना से उद्भूत होता है।

स्वयं जनता की भावनाएं ही उसकी सेवाओं की बहुमूल्यता के प्रति असंदिग्ध रूप में साक्षीभूत हैं; और ये भावनाएं स्वर्गीय बिशॉप हैबर के माध्यम से सर्व-साधारण में उस समय मुखरित हो उठी थीं, जब कर्नल टॉड के राजपूताना छोड़ने के दो वर्ष पश्चात् वे इधर आए थे। महान् पादरी का कहना है "बृटिश सरकार से सम्बद्ध होने के पश्चात् मेवाड़ के सभी जिले बहुत समय तक कप्तान टॉड के शासन में रहे थे, जिसका नाम यहाँ के सम्पूर्ण उच्च एवं मध्यम

[1] उनके अन्यतम मित्र का कहना है कि "अपनी मान्यताओं का निराकरण क० टॉड से बढ़कर किसी ने नहीं किया।"

वर्ग में बहुत ही सौहार्द और आदर के साथ लिया जाता है; उनके लिए यह नाम बहुत ही सम्मान की वस्तु है और प्रायः इन गरीबों को अकृतज्ञता के दोष से मुक्ति दिलाने में पर्य्याप्त सिद्ध होता है। डाबला और आगे के मुकामों में वहाँ के 'कोटवाल' आदि हमें निरन्तर 'टॉड साहिब' के बारे में पूछते रहे कि इंगलैण्ड लौटने पर उनका स्वास्थ्य ठीक हुआ या नहीं और अब उनसे फिर मिलना हो सकेगा या नहीं, इत्यादि। जब उनको कहा जाता कि ऐसी सम्भावनाएं अब नहीं हैं तो वे बहुत अफसोस प्रकट करते और कहते कि उनके आने से पहले देश में शान्ति का नाम भी नहीं था और सभी मालदार व गरीब लोग, डाकुओं और पिंडारियों के सिवाय, उनसे समान रूप से प्रेम करते थे। डॉ. स्मिथ ने मुझसे कहा कि वह वास्तव में इस देश के लोगों से प्रेम करता था और इनकी भाषा व रीति-रिवाजों को स्वाभाविक रूप में जान गया था। भीलवाड़ा में भी प्रत्येक मनुष्य कप्तान टॉड की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा था। इस जगह को जमशेद खाँ ने तबाह कर दिया था और यहाँ के सभी निवासी गाँव छोड़-छोड़ कर चले गए थे, बाद में कप्तान टॉड ने राणा को इस बात के लिए प्रेरित किया कि उन लोगों को वापस बसने व विदेशी व्यापारियों को यहाँ कायम होने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। उसने स्वयं उनके लिए नियम बना कर लेखबद्ध किए; कुछ वर्षों के लिए उनको करों से मुक्त कराया और विविध प्रकार के अंग्रेजी माल के नमूने उनके पास भेजे कि वे उसके मुकाबिले का माल पैदा करें। उनके नगर को सुन्दर बनाने के लिए उसने उदारतापूर्वक धन भी दिया। संक्षेप में, जैसा कि मुझ से मिलने आए एक महाजन ने कहा था, 'इसको टॉड-गंज कहना चाहिए, परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम उसे कभी नहीं भूलेंगे।' उस आदमी की ऐसी प्रशंसा, जिससे अब मिलने या भविष्य में लाभ प्राप्त होने की कोई आशा नहीं थी, वास्तव में, एक विशुद्ध मूल्यवान् वस्तु है।[1] सच तो

---

[1] "भारत के उत्तरी प्रान्तों की यात्रा का विवरण, १८२४-२५ ई०" वॉल्युम २, पृ. ४२। बिशॉप ने आगे कहा है "यह उसका दुर्भाग्य था कि देशी राजाओं का अत्यधिक पक्ष लेने के कारण कलकत्ता की सरकार ने उस पर भ्रष्टाचार का सन्देह किया और परिणामतः उसके अधिकारों को सीमित करके उसके साथ दूसरे अधिकारी लगा दिये गये; अन्त में, वह तंग आ गया और उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। मुझे विश्वास है कि अब उन्हें संतोष हो गया है कि उनके सभी सन्देह निराधार थे।" यदि यह सच है तो बंगाल सरकार पर एक महान् आरोप है कि उन्होंने सन्देह के लिए तनिक भी कारण न होते हुए ऐसी कार्यवाही की। यह स्पष्ट है कि कर्नल टॉड के देशी नौकरों तक की रिश्वत लेने की कोई शिकायत नहीं है जैसे कि बिशॉप ने एक दूसरे अंग्रेज सर ऑक्टर लोनी के नौकरों के विषय में लिखा है कि उसके मुंशी ने उसका नाम दिल्ली के गरीब वृद्ध बादशाह के अमले

यह है कि भीलवाड़ा 'टॉड गंज' ही कहलाता था परन्तु बाद में स्वयं टॉड की प्रार्थना पर ही यह नाम दबा दिया गया क्योंकि वह चाहता था कि प्रत्येक लाभकारी कार्य का गौरव राणा को ही प्राप्त हो और वह स्वयं उसके हृदय से निकली हुई प्रशंसा से ही संतुष्ट रहे।

फर्वरी, १८१९ ई० में, मेवाड़, जैसलमेर, कोटा, बूंदी और सिरोही के अतिरिक्त मारवाड़ की रियासत भी उसकी एजेन्सी में रखी गई; और उसी वर्ष के अक्टूबर मास में वह मारवाड़ की राजधानी जोधपुर के लिए रवाना हुआ। कर्नल टॉड ने वहाँ के राजा मान से बातचीत की, जो अपनी तरह का एक ही था और जिसके चरित्र का उसने अपने 'व्यक्तिगत विवरण'[1] में बड़ी योग्यता के साथ चित्रण किया है। ऐसा लगता है कि प्रतिहिंसा के आसुरी भावों के वश होकर इस राजाने 'राज-प्रतिनिधि' की आशाओं और आकांक्षाओं को विफल कर दिया था।[2] तदनन्तर वह अजमेर गया और दिसम्बर में वापस उदयपुर की उपत्यका में लौट आया।

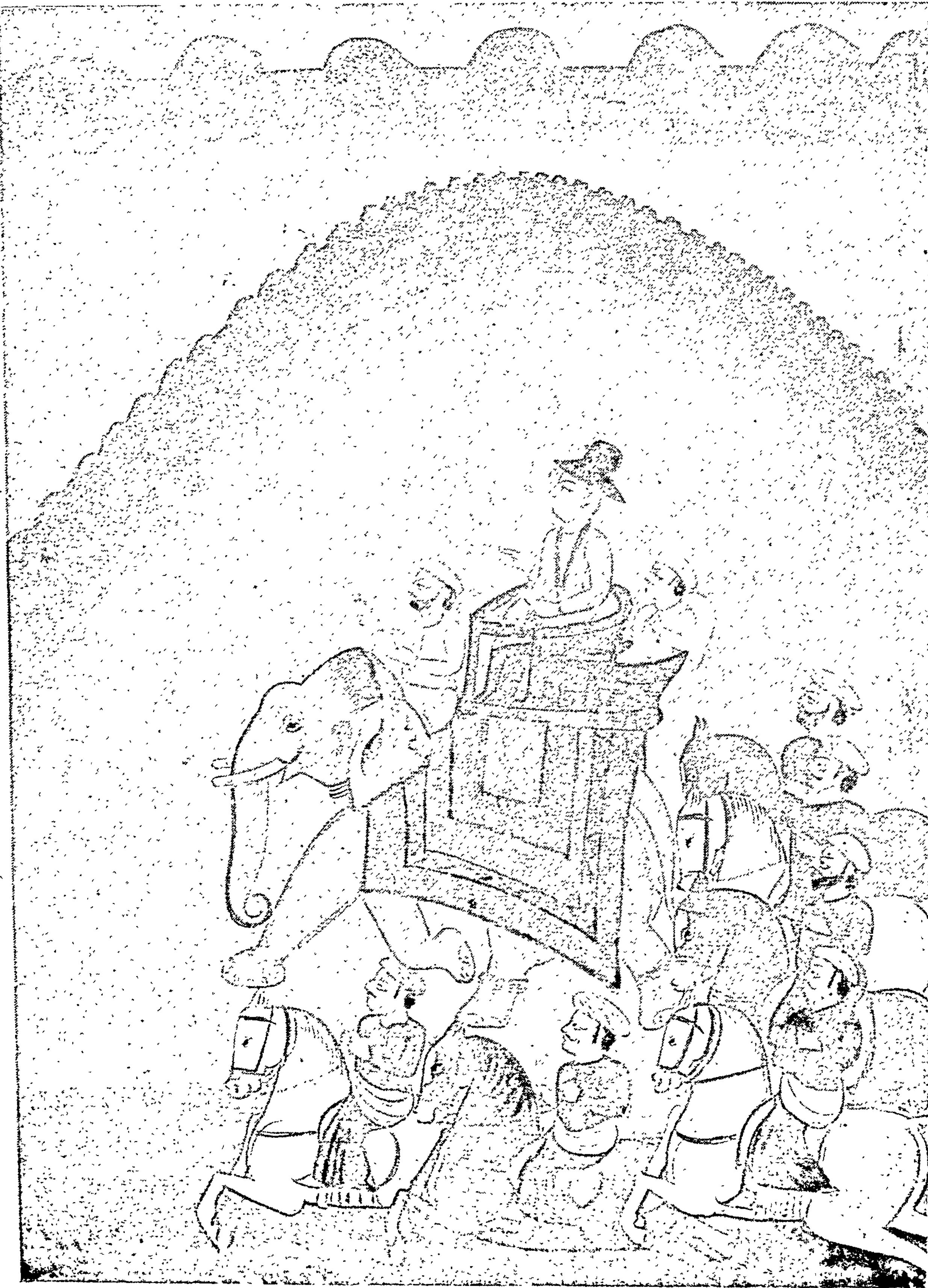
जनवरी, १८२० में वह कोटा और बूंदी की हाडा रियासतों के दूसरे दौरे पर रवाना हुआ। इन दोनों में से पहली रियासत राज्याधिकारी (Regent) जालिमसिंह के वास्तविक अधिकार में थी, जिसका व्यक्तित्व असामान्य था और जिसको कर्नल टॉड ने सही रूप में 'राजस्थान का नेस्टर (Nestor)[3], की संज्ञा दी है। उसकी मार्मिक बुद्धिमत्ता दो बातों से स्पष्ट है—पहली यह कि बृटिश सरकार द्वारा 'सुरक्षा-सन्धि' के आमन्त्रण को स्वीकार करके कार्य-सम्पन्नता के महत्व को उसकी 'गारुड-चक्षु' ने तुरन्त पहचान लिया और उसे अविलम्ब अंगीकार करने का गौरव प्राप्त किया (हम से सम्बन्ध स्वीकार करने वाली पहली रियासत कोटा ही थी); दूसरे, उसने भविष्यवाणी की थी कि "वह दिन दूर नहीं है जब कि एक ही शक्ति (बृटिश) का झण्डा सारे भारतवर्ष में फहरायेगा।" इस असामान्य पुरुष के इतिहास, कर्तृत्व और राजनीतिक एवं नैतिक चरित्रों से इस रियासत के इतिहास के कतिपय अध्याय मनोरञ्जक रूप में विषय-गर्भित हुए हैं।

में १२०० पाउण्ड प्रतिवर्ष के पेंशनर के रूप में लिख दिया; जिसका उसको पता भी नहीं था।

[1] इतिहास, भा. १, पृ. १३

[2] ऐसा लगता है कि राजा मान ने यह आचरण भारत की कालातीत भावना के कारण बृटिश सरकार से झगड़ा मोल लेने के विचार से किया था।

[3] ग्रीक लोक-कथाओं का सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् राजा। उसने ट्रॉजन-युद्ध में भी भाग लिया था और अन्यान्य राजा भी उसका दूरदर्शितापूर्ण परामर्श ग्रहण करते थे।



राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, में सुरक्षित प्राचीन चित्र
'फिरंगी टाड'

बूंदी के रावराजा विशनसिंह से कर्नल टॉड ने मित्रता करली थी और राजधानी में प्रवेश करते ही उसकी उपस्थिति से जो खुशी की लहर उमड़ पड़ी थी उसका सजीव वर्णन उसने इतिहास में किया है। ब्रिटेन के उदार हस्तक्षेप से बूंदी को पुनः स्वाधीनता मिल गई थी और इस बात को वहाँ का राजा, जागीरदार तथा प्रजाजन सभी अनुभव करते थे और स्वीकार करते थे।

राजधानी छोड़ने के बाद वह दल यहाँ को प्रतिकूल जलवायु में डूबने-उतराने लगा। जब वे लोग २८ सितम्बर को जहाजपुर पहुंचे तो कर्नल टॉड को बुखार हो गया और शरीर में दर्द होने लगा। 'मक्की के आटे' की एक रोटी से आकृष्ट हो कर उसने दो निवाले भी नहीं खाए थे कि उसको विचित्र और असाधारण लक्षण दिखाई देने लगे। वह कहता है, "मेरा सिर फैलता हुआ मालूम दिया और ऐसा लगा कि यह इतना बड़ा हो जायगा कि केवल इसी से पूरा तम्बू भर जायगा; मेरी जबान और ओठ सख्त हो गए और सूज गए; यद्यपि इससे मुझे कोई भय नहीं हुआ और न ज़रा-सी भी बेहोशी आई परन्तु मुझे यह उस प्रचण्ड दौरे का पूर्व लक्षण-सा लगा जिसने कुछ वर्षों पहले मुझे आक्रान्त करके मौत के किनारे पहुँचा दिया था। मैंने कप्तान वाघ[1] से प्रार्थना की कि मुझे अकेला छोड़ दें, परन्तु वे गए ही थे कि मेरे गले में एक खिंचाव आया और मैंने सोचा कि मामला खतम है। तम्बू के खम्भे को पकड़ कर मैं जैसे-तैसे खड़ा हुआ और उसी समय मेरा सम्बन्धी सर्जन को ले कर अन्दर आया। मैंने इशारा किया कि वे मेरे विचारों में विघ्न न डालें परन्तु इसके बदले में उन्होंने कुछ चूर्ण और मिश्रण-सा मेरे मुंह में ठूंस कर गले में उतार दिया जिसका जादू का-सा असर हुआ; मुझे जोर की उल्टी हुई और मैं बिछौने पर लुढ़क गया; सवेरे के दो बजे के करीब मुझे चेत हुआ तब मैं पसीनों से नहाया हुआ था और बीमारी का नामो-निशान भी न था।" विश्वास का कारण भी था (और सर्जन की भी राय थी) कि यह ज़हर का असर था जो रोटी में मिलाया गया था। मेवाड़ में उद्वेगकारक कर्तव्य आरम्भ करने के बाद तीन चार बार पहले भी वह क़ब्र के किनारे तक पहुँचाया जा चुका था।

ज्योंही वे आगे बढ़े तो आबोहवा ने दल-के-दल को नष्ट करने की धमकी दी। ध्वज-वाहक कैरी (Cary) मर गया; कोटा-ज्वर और स्नायुक (Guinea-worm) से कप्तान वाघ मरता-मरता बचा; और मांडल पहुँच कर कर्नल टॉड बुखार और दर्द के अलावा प्लीहा रोग से ग्रसित हो गया; परन्तु, इन सब के

---

[1] कप्तान वाघ, जो उस लवाजमें का कमाण्डर था, कर्नल टॉड का रिश्तेदार भी था।

कारण भी उसका ध्यान काम से नहीं हटा। चारपाई पर बेहोश मुर्दे-सा लेटा हुआ, बाँई तरफ़ कोई तीन कौड़ी (६०) जोकें लटकाए हुए वह ज़िले के भोमियों और पटेलों की मौखिक रिपोर्टें लिखता रहता, जो उसके तम्बू में भरे रहते और उनकी टोलियों की टोलियाँ बाहर भी बैठी रहती थीं।

वह अक्टूबर, १८२० ई०[1] में मेवाड़ लौटा; परन्तु, अब प्रकृति उसे ऐसी भाषा में चेतावनी देने लगी थी कि उसका और कोई अर्थ नहीं लगाया जा सकता था। उसका हृष्टपुष्ट शरीर सूख कर काँटा हो गया था और एजेन्सी के चिकित्सा-अधिकारी डॉक्टर डंकन ने स्पष्ट कह दिया था कि यदि वह छः महीने तक देहात में और ठहरा रहेगा तो अवश्य मर जायगा। १८२१ ई० के वसंत में उसने देश जाने का विचार किया और वर्षा बन्द होते ही तैयारियाँ करने की सोची, परन्तु जुलाई में ही उसे बूंदी से आवश्यक पत्र मिला जिसमें उसके सम्मान्य मित्र रावराजा की हैजा[2] के कारण आकस्मिक मृत्यु के समाचार थे। रावराजा ने, जिससे वह कुछ ही मास पूर्व विदा होकर आया था, अपने अन्तिम क्षणों में कर्नल टॉड को अपने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षक नियुक्त किया था और उसकी तथा बूंदी की सुरक्षा का भार भी उसी के कंधों पर डाला था। मुसाहब के औपचारिक पत्र के साथ नाबालिग़ राजकुमार की माता राणी की ओर से भी एक पत्र था (या उसके नाम कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं) जिस में मरणासन्न राजा की इच्छा की सम्पुष्टि करते हुए उसे नाबालिग़ी की कठिनाइयों और उन शरारत-भरे तत्वों का स्मरण कराया गया था जिनसे वे लोग घिरे हुए थे।

२४ जुलाई, १८२१ ई० को भर बरसात में ही वह हाड़ौती के लिए रवाना हुआ। मार्ग में भीलवाड़ा होकर जाते समय वहाँ पर उसका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। प्रमुख पंच-महाजनों सहित सभी नगर-निवासी कलश लिए हुए आगे-आगे चलती हुई युवतियों के पीछे एक मील तक उसकी अगवानी करने आए और

---

[1] इसी वर्ष जब सिन्धिया से कलह हुआ तो उसने लार्ड हेस्टिंग्स् के पास एक योजना लिख कर भेजी जिसमें मरुस्थल में होकर सेना भेजने का सुझाव था। उस समय उत्तरी सिन्ध के गवर्नर मीर सोहराब से भी उसका पत्र व्यवहार हुआ था।

[2] हैजे की महामारी को इस क्षेत्र में 'मरी' या मृत्यु कहते हैं। यह बीमारी यहाँ १८१७ ई० की लड़ाई के आरम्भ में चालू हुई थी और उन दिनों (१८२१ ई०) में उन क्षेत्रों को बरबाद कर रही थी। राजपूत राजाओं के पुराने कागज़ पत्रों के आधार पर क. टॉड ने शोध करके बताया है कि यह बीमारी इस देश के लिए कोई नई चीज़ नहीं है। कोई दो सौ वर्ष पहले भी इसने हिन्दुस्तान को तबाह कर दिया था। १६६१ ई० में इसने मेवाड़ का सफाया कर दिया था।

उसे उस स्थान पर ले गए जो अब जीवन और हलचल से भरा हुआ था, परन्तु कुछ ही वर्षों पहले जहाँ पर केवल एक भूखे कुत्ते के अतिरिक्त कोई नहीं रहता था। वह कहता है "मैं मुख्य बाजार में होकर निकला जहाँ के धनी निवासियों ने अपने खुले झरोखों पर मूल्यवान् रेशम, पार्चा और अन्य तरह-तरह के कपड़े लटका रखे थे; वे इनके द्वारा उस व्यक्ति का सत्कार और सम्मान कर रहे थे जिसको वे अपना हितैषी समझते थे। अन्दर मुझ से मिलने आए हुए लोगों में से दसवें हिस्से के लोग भी मेरे डेरे में नहीं समा रहे थे, इस लिए मैंने डेरे की वगलियाँ उठवा दीं। प्रत्येक क्षण मुझे ऐसा लग रहा था कि यह डेरा हम लोगों के सिर पर गिर पड़ेगा क्योंकि प्रत्येक रस्से को सैकड़ों हाथ अपनी-अपनी दिशा में इस उत्सुकता से खींच रहे थे कि डेरे में 'साहब' और ओसवालों और माहेश्वरियों अथवा जैनों और वैष्णवों, इन दोनों सम्प्रदायों की पंचायत के बीच में जो कुछ बातचीत हो रही थी उसको वे देख व सुन सकें। हमने उस कस्बे के लिए वहुत-सी लाभप्रद भावी योजनाओं, करों में और कमी तथा व्यापारी माल के आयात-निर्यात में अधिक छूट देने के बारे में बातें कीं। मेरे उन भले मित्रों का मुझ से विदा होने को मन ही नहीं हो रहा था। मैंने उनके लिए भेंट व 'इत्र-पान' मँगवाए और वे हजारों शुभ-कामनाओं के साथ हमारे 'राज' की सदा-कायमी के लिए प्रार्थनाएं करते हुए विदा हुए।" उसे इस अवसर पर जो आनन्द प्राप्त हुआ उसके बारे में उसने प्रायः चर्चाएं करते हुए कहा है कि उसके हृदय पर इसकी एक अमिट छाप अंकित हो गई थी।

बूंदी पहुँचने पर उसकी पूरी खातिर की गई जैसी कि परम घनिष्ठता के नाते होनी चाहिए थी (यहाँ तक कि उसके आने के मार्ग पर एक ब्राह्मण ने पवित्र पानी छिड़का जिससे कुत्सित आत्माओं का उस पर कोई प्रभाव न पड़े)। बालक रावराजा रामसिंह का राजतिलक या राज्यारोहण-समारोह सावण की तीज के दिन शुभ मुहूर्त में हुआ। 'इतिहास' के अन्त में 'निजी-विवरण' के अन्तर्गत इस गौरवपूर्ण समारोह का बड़ा आकर्षक वर्णन किया गया है। बृटिश प्रतिनिधि ने हाड़ाओं के नए राजा को गद्दी पर बैठाया, अपने दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली को पुरोहित द्वारा प्रस्तुत चन्दन और सुगन्धित तैल से तैयार किए हुए विलेप में डुबो कर राजा के ललाट पर तिलक किया, उसकी कमर में तलवार बाँधी और बृटिश सरकार की ओर से बूंदी के नए अधिपति का अभिवादन किया। इसके अनन्तर बृटिश प्रतिनिधि ने स्वर्गीय राजा और वर्तमान राजमाता की इच्छानुसार मुख्य-मुख्य पदाधिकारियों के कार्य में पूर्ण सुधार की व्यवस्था की और राजस्व की आय तथा व्यय की जाँच की प्रणाली चालू की,

परन्तु, उन्होंने कोई ऐसा काम नहीं किया कि जिससे किसी को भी कार्य-पृथक् या अप्रसन्न करना पड़ा हो। दूसरे दरबार में उसने, रानी की प्रार्थनानुसार, राज्य के सरदारों को अपनी-अपनी जागीरों पर लौटने से पहले उनका कर्त्तव्य समझाया और रियासत के पुराने कायदे-कानूनों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया। यद्यपि राखी[1] का त्यौहार अभी नहीं आया था परन्तु बालक-राजा की माता ने अपने कुलपुरोहित के हाथ कप्तान टॉड के लिए राखी भेजी और उसको अपना भाई बनाया; इससे वह संरक्षित बालक उसका भानजा हुआ। राणा की कुमारी बहिन और अन्य जागीरदार सरदारों की महिलाओं के अतिरिक्त उसने दो और रानियों से भी राखी स्वीकार की थी और वह उनका 'राखी-बंध भाई' बन गया था; वह कहता है कि यही वह सम्पूर्ण खज़ाना था जो वह साथ लाया था। इसके पश्चात् उसने राजमाता से प्रत्यक्ष बात करने का भी सम्मान प्राप्त किया (उनके बीच में एक पर्दा लटका दिया गया था) और राजमाता ने रियासत के मामलों व अपने 'लालजी[2]" की बहबूदी के बारे में बातें कहीं। बूंदी में एक पखवाड़ा बिताने के बाद वहाँ के शासन को ठीक तरह से जमा कर उसने विदा ली और वहाँ के बोहरा या मुख्यमन्त्री को एक ऐसे बुद्धिमत्तापूर्ण रूपक के द्वारा समझाया जो किसी हिन्दू को तुरन्त ही बोधगम्य हो सकता है कि यदि राजकाज न्याय के सिद्धान्तों पर चलाया जायगा तो "झील के पानी पर एक दिन फिर कमल खिल जायगा।"

कप्तान टॉड कोटा के रास्ते होकर लौटा, जहाँ हाडौती की पड़ौसी रियासत बूंदी जैसी सुख-शान्ति का नितान्त अभाव था। अतः यहाँ पर नये सिरे से श्रम और उलझनों का सामना करना पड़ा। वह कहता है कि अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर, १८२१ ई० के तीन महीने बड़ी परेशानी में बीते, "गृह-युद्ध, मित्रों और पारिवारिक जनों की मृत्यु, हैजा और हम सभी लोगों का निरन्तर ज्वराक्रान्त होना तथा थकान और चिन्ताग्रस्त रहना।" परन्तु, ये छुट-पुट भौतिक अनिष्ट उन नैतिक बुराइयों के सामने कुछ भी नहीं थे जिनका प्रतीकार करना

---

[1] राखी का त्यौहार उन कतिपय सुअवसरों में से है जब कि राजस्थान के वीरों और रमणियों में एक बहुत ही कोमल सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। राखी भेज कर राजपूत महिला अपने हितैषी व्यक्ति को 'धर्म-भाई' होने का गौरव प्रदान करती है। कोई भी लोकापवाद उस महिला और उसके संरक्षक 'राखी बंध भाई' के बीच में किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर सकता।—देखिए–'इतिहास' भा. १; पृ. ३१२, ५८१।

[2] राजमाताएं अपने पुत्रों को प्यार से 'लालजी' (संभवतः 'लाड़लाजी' का संक्षिप्त रूप) कहकर बोलती हैं।

या उनको जड़ से उखाड़ फेंकना उसका कर्तव्य था। उस समय अपनी अवस्था के बयासीवें वर्ष में चल रहे अन्धे राज-प्रतिनिधि जालिमसिंह ने उसके सभी कार्यों की प्रशंसा की; कर्नल टॉड कहता है कि "जब उसके द्वारा मेरी ओर बढ़ाए हुए दुर्वल हाथों को मैंने दबाया तो उसकी ज्योतिहीन आँखों में आँसू भर आए और बोलने की शक्ति ने उसका साथ नहीं दिया।"

रावता में (जो पिण्डारी-युद्ध के समय उसका कार्य-केन्द्र था) उसने निश्चय किया कि उत्तरी मालवा में हो कर सफ़र किया जाय। मुकन्दरा की घातक घाटी पार कर के वह बाडोली के वैभवशाली खण्ड़हरों में पहुँचा (जो चम्बल और घाटी के बीच में पचेल नामक सपाट भूमि में स्थित हैं)। इन अवशेषों का उसने ऐसा स्पष्ट आलेखन और वर्णन किया है कि कितने ही दर्शक उन भग्न एवं क्षीयमाण स्मारकों को देखने के लिए लालायित हो उठते हैं, जो प्रागैतिहासिक हिन्दू स्थापत्य-कला की उत्कृष्टता की साक्षी दे रहे हैं। चम्बल के चूलों [कूलों ?] (Choolis) अथवा जलावर्तों, गंगभेव के अस्तव्यस्त महान् अवशेषों और धूमनर (Dhoomnar) की गुफाओं ने भी उस उत्साही यात्री का ध्यान क्रमशः आकर्षित किया; और इन अवशेषों के (जिनमें से, कहते हैं, बहुत से तो शक्तिशाली विनाशकारी प्रकृति की अपेक्षा और भी भयङ्कर विनाशक मानवीय हाथों से विनष्ट हो चुके हैं) नक्शे तैयार किए गए जिनके उत्कीर्ण-आलेख्य 'इतिहास' की शोभा बढ़ा रहे हैं। स्थापत्य के इन नमूनों की प्रशंसा से जो प्रेरणा मिली वह प्राचीन नगरी चन्द्रावती के विशाल ध्वंसावशेषों की खोज से और भी प्रबल हो उठी, जिनकी मूल्यवान् और शोभामयी कारीगरी को 'छीणी' (तक्षणी) की उत्कृष्टतम कृतियों में गिना जा सकता है। फूल-पत्तियों की सुघर कुराई को कर्नल टॉड ने 'निर्दोष' माना है। एक मन्दिर के गवाक्षों की नक्काशी और अन्य सजावट के विषय में उसने कहा है कि 'योरप में कोई भी कलाकार उनकी समता नहीं कर सकता। इस बात से आशङ्कित हो कर कि कहीं अंग्रेज-जनता उन आलेखों की सत्यता पर सन्देह करे, उसने मूल खाकों को अपने पुस्तक-विक्रेता के पास रख दिए थे कि जिससे यह ज्ञात हो सके कि आलेखक द्वारा उन में सुधार करने की अपेक्षा उनके साथ न्याय करने में भी कोताही (न्यूनता) रह गई है। चन्द्रावती परमारवंशी क्षत्रियों की नगरी है, जो विशाल अरावली श्रेणी के पश्चिमी मुखभाग पर स्थित है; इसके खण्डहर बहुत समय से जंगली जानवरों के आवास बने हुए थे और सद्यः प्राप्त सामग्री से अहमदाबाद का नगर बन कर खड़ा हो गया है। कर्नल टॉड के पास एक छः सौ वर्ष पुराना शिलालेख था जिसमें चन्द्रावती का उल्लेख था, परन्तु

जब तक उसने नगरी की स्थिति और खण्डहरों का पता न लगा लिया तब तक वह उसके लिए कोई रुचि का विषय न बन सका। 'भोज-चरित्र' में भी इसी नगरी का उल्लेख हुआ है। बीजोली [या और मेनाल में भी उसने अन्य 'स्थापत्य सम्बन्धी आश्चर्यों' की खोज की थी, जिनको उसने अपनी पेंसिल और कोरणी के द्वारा चिर-स्थायी भी बना दिया है।

उदयपुर की उपत्यका में वापस पहुंचने से पहले उसको एक दुर्घटना का सामना करना पड़ा जिसमें प्रायः उसकी मृत्यु ही हो गई होती। २४ फर्वरी, १८२२ ई० को वह बेगूं के मेघावत सरदार को उसकी जागीर लौटाने जा रहा था, जिसको इस वंश से छल और बल के द्वारा छीन कर मरहठों ने कोई आधी शताब्दी से आगे अपने अधिकार में कर रखी थी। 'कालमेघ की सन्तानें'[1] सभी स्थानों से आकर इस शुभ अवसर के सम्मान में अपने उपकर्त्ता का स्वागत करने के लिए एकत्रित हुई थीं। बेगूं का प्राचीन किला एक बड़ी चौड़ी खाई से घिरा हुआ है जिस पर, मेहराबदार दरवाज़े तक पहुँचने के लिए, एक लकड़ी का पुल बना हुआ है। कर्नल टॉड के महावत ने उसको पहले ही चेतावनी दे दी थी कि दरवाज़े में से हौदे-सहित हाथी नहीं निकल सकेगा; परन्तु, आगे वाला हाथी निकल चुका था इस लिए उसको हाथी बढ़ाने के लिए कहा गया। इसी अवसर पर वह पशु किसी कारण से चमक गया और तेजी से सीधा आगे दौड़ा। कर्नल टॉड ने दरवाज़े पर पहुँचते ही देखा कि वह बहुत नीचा था इसलिए उसने मृत्यु को आसन्न जान कर अपने पैर मजबूती से हौदे में और हाथों को आगे दरवाजे पर इतने जोर से अड़ा दिए कि हौदे की पीठ टूट गई और वह हाथी पर से नीचे पुल पर गिर कर बेहोश हो गया। उसके खरौंच तो बहुत आए परन्तु कोई घातक चोट नहीं आई। रावत और उसके सरदार अपनी सहानुभूति के कारण प्रायः उसकी चारपाई के पास बन्दी की भाँति डटे रहे और इतना ही उस दुर्घटना के बदले तसल्ली देने को पर्याप्त था, जो किसी हद तक उसी की समझ की कमी के कारण घटित हुई थी; परन्तु, दो दिन बाद, जब वह दस्तूर अदा करने गया तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने देखा कि कालमेघ का बनवाया हुआ दरवाज़ा ढेर हुआ पड़ा था और उसी पर हो कर उसको एक ऊँचे आलिंद पर स्थित महलों में ले जाया गया जिसके सामने ही बेगूं की छोटी सी कचहरी थी। जब आवेग के वश हो कर दरवाज़ा तुड़वा देने के बारे में उसने रावत को प्रत्यादेश किया तो उसने कहा "मुझे यह बिलकुल

[1] कालभोज के वंशज

अच्छा नहीं लगा कि इसने करीव करीब उस उपकारी की जान ही ले ली थी जो हमको जीवन देने आया था।"[1] ये हैं वे लोग, जिनके बारे में कहा जाता है कि इनमें 'कृतज्ञ-भाव नहीं है।'

मेवाड़ की प्राचीन राजधानी चित्तौड़ को देख कर (जिसके स्थापत्य के नमूने भी उसने दिए हैं) वह १८२२ ई० के मार्च मास में उदयपुर लौट गया।

अब उसे भारत में रहते बाईस वर्ष हो गये थे जिनमें से अट्ठारह साल उसने पश्चिमी राजपूतों में बिताए थे; पिछले पाँच वर्ष वह गवर्नर-जनरल के एजेण्ट की हैसियत से रहा। उसके सार्वजनिक-हित-कार्य और विस्तृत भौगोलिक एवं आंकिक संशोधन ही—जो एक साधारण-से मस्तिष्क को व्यस्त रखने के लिए पर्य्याप्त थे — ऐसे विषय नहीं थे, जिनके अध्ययन में वह डूबा रहता था वरन् उसने अपने पद की सुविधाओं और देशी राजाओं के साथ सम्बन्धों का उपयोग राजपूतों के राजनीतिक-इतिहास, विज्ञान और साहित्य के मर्म तक पहुँचने में भी किया; और इसके परिणाम में हिन्दू-इतिहास की वह मौलिक सामग्री प्रभूत मात्रा में प्रकाश में आई, जो अति प्राचीन काल से सम्बद्ध है और उन कल्पना-धारित मान्यताओं को अप्रामाणिक सिद्ध करती है जिनको अच्छे-अच्छे पूर्वीय विद्वानों ने भी सहज ही में ग्रहण कर लिया था। कर्नल टॉड के सफल संशोधनों से पूर्व इसके अतिरिक्त कोई सिद्धान्त प्रायः स्वीकार नहीं किया जाता था कि हिन्दुओं के पास उनका कोई स्थानीय इतिहास भी है; यद्यपि स्वाभाविक और तर्क-सम्मत प्रश्न खड़ा होता है कि "यदि हिन्दुओं के पास कोई इतिहास नहीं था तो

---

[1] इतिहास, २; पृ० ५७४—इंगलैण्ड में कर्नल टॉड ने अपने एक मित्र के नाम पत्र लिखा और उसमें इस घटना का उल्लेख किया। इससे पता चलता है कि वह इस कृतज्ञतापूर्ण सम्मान से कितना प्रभावित हुआ था।

"........मैं जीवन-सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास करता था। अब तो मुझे यह स्वप्न सा प्रतीत होता है। परन्तु, एक सप्ताह पूर्व, मैं अपने हाथी पर से टकरा कर उस समय गिर गया जब मैं मेघावतों के सरदार को उसके सत्ताईस गाँवों पर अधिकार लौटाने जा रहा था—ये गाँव पैंतालीस वर्षों से उसके अधिकार से निकल गए थे और मैंने इनको मरहठों की दाढ़ में से निकाला था। वह पशु खाई पर बने हुए लकड़ी के पुल पर दौड़ा और एक दरवाजे की मेहराब, जो बहुत नीची थी उससे टकरा कर मैं दूर जा गिरा। यही एक आश्चर्य समझो कि मैं चकनाचूर नहीं हुआ। उसी रात को मेघावतों का वह विजय-द्वार तोड़ कर समतल कर दिया गया। ये वे लोग हैं, जिनको अकृतज्ञ कहा जाता है! मेरा कोई अंग भी भंग हो जाता तो कोई तआज्जुब नहीं था, परन्तु मैं कुछ खरोंच लग कर ही बच गया।

मुसलमानों ने वे तथ्य कहाँ से खोज निकाले जो अबुलफज़ल ने लेखबद्ध किए हैं?" कर्नल टॉड ने राजपूतों की ऐतिहासिक कृतियों को खोज निकालने के लिए जो प्रयत्न किये थे उनका वर्णन 'राजस्थान का इतिहास' के प्रथम भाग की भूमिका में किया गया है। ऐसा लगता है कि राजाओं के पुरालेख-संग्रहों में ही नहीं जैनमत (जिसका अनुयायी उसका विद्वान् गुरु भी था) के महान् ग्रन्थ-भण्डारों[1] में भी उसका अबाध प्रवेश था, जो मुसलमानों के सूक्ष्म-निरीक्षण से बचे रह गए थे; वहाँ से बड़े-बड़े मूल्यवान् ग्रन्थ ले आने की उसे अनुमति प्राप्त थी; वे ग्रन्थ 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के पुस्तकालय में जमा हैं। मेवाड़ के राणा ने अपने संग्रह में से उसे 'पुराणों' की पवित्र पाण्डुलिपियाँ उधार दिए जाने की इजाज़त दे दी थी जिनमें से उसने राजपूत शाखाओं की वंशावलियों का उद्धार किया। साहित्यिक अभिरुचि और असामान्य विद्वत्ता के धनी मारवाड़ के राजा मान ने अपने वंश की मुख्य-मुख्य ख्यातों की नकलें उसके लिए करवाईं जो अब भी 'सोसाइटी' के पुस्तकालय में जमा हैं।[2] जैसलमेर के प्रधानमंत्री ने उसके लिए 'जोयों की ख्यात' भेजी, जो जीतों (Jits) की एक जाति है और बीकानेर के एक जिले पर अधिकार जमाए हुए है (इनमें सिकन्दर महान् की कुछ परम्पराएं सुरक्षित हैं)। उसने इस देश में जो अन्य मूल्यवान् ऐतिहासिक कृतियाँ प्राप्त कीं उनमें राजपूत होमर (अथवा ओसियन) चन्द के काव्यों का उल्लेख किया जा सकता है जिसकी एक सम्पूर्ण विद्यमान प्रति कर्नल टॉड के पास थी और ये काव्य प्रामाणिक इतिहास माने जाते हैं; और भी बहुत से चरित्र उसको मिले, मुख्यतः 'कुमारपाल-चरित्र' अथवा अणहिलवाड़ा का इतिहास जिसमें से प्रभूत मात्रा में इस पुस्तक में उद्धरण दिये गये हैं। अन्य उपकारक सामग्री की भी किसी तरह उपेक्षा नहीं की गई; शिलालेखों, शासन-पत्रों, सिक्कों और अन्य ऐसे ही अभिलेखों के संशोधन में वह अथक परिश्रम करता रहता था, जो इतिहास के अकाट्य प्रमाण-स्वरूप माने जाते हैं। इन्हीं संशोधनों के प्रसंग में (अपने घर लौटते समय) उसने सौराष्ट्र के समुद्रतट पर सोमनाथ पट्टण में देवनागरी अक्षरों में लिखा एक शिलालेख खोज निकाला जिससे नहरवाला के बल्हरा राजाओं का काल-निर्णय ही नहीं हो गया वरन्

---

[1] इसी पुस्तक में अन्यत्र जैनों के साहित्यिक ग्रन्थ-भण्डारों का वर्णन पढ़िए।

[2] राठौड़ वंश के लेख 'इतिहास' भा० २ में दिए गए हैं; इनमें से एक 'रासा राव रतन' है जिसमें रतलाम के राव रतन के वीरतापूर्ण कार्यों का अमर काव्य के रूप में वर्णन किया गया है।

एक नये संवत् का भी पता चला जो बलभी संवत्[1] कहलाता था। कुतर्क एवं असंगतिपूर्ण अर्थाभास से बचाने के लिए गूढ़ाक्षरों में दी हुई तिथियों[2] का उद्-घाटन करने में उसकी बुद्धि और व्युत्पत्ति उस समय बहुत लाभदायक सिद्ध हुई जब यह कला भारत के पण्डितों में भी सामान्य रूप से ज्ञात नहीं थी। उसने कहा है "बहुत से शिलालेखों में तिथियाँ अंकों में न लिखी होने के कारण मैंने उन पर ध्यान नहीं दिया[3]; और ऐसा तब तक चलता रहा जब तक कि मेरे अनुसंधान के पिछले वर्षों में मेरे 'यति' ने मुख्य उपाध्याय और अपने (जैन) धर्म के अन्य विद्वानों की सहायता के माध्यम से इस कठिनाई को हल न कर दिया और इन शिलालेखों में से कुछ के सांकेतिक अक्षरों का अर्थोद्घाटन न कर दिया।" सब से पहले कर्नल टॉड ने ही योरप में इस विशिष्ट प्रणाली का परिचय दिया था; बाद में एम. वॉन श्लीगेल (M. Von Schlegel), एम. कॉस्मो डी कोरोस (M. Cosmo de Koros) और मिस्टर जेम्स प्रिंसेप (Mr. James Princep) ने इसमें पूर्ण प्रगति की।

उसके पुरावशेषों सम्बन्धी अनुसन्धान भी विशुद्ध हिन्दू-पुरातत्व तक ही सीमित नहीं थे। उसने बॅक्ट्रिअन और इण्डो-ग्रीसियन सिक्कों की खोज की और बड़ी तादाद में[4] उनको एकत्रित किया तथा उनका अध्ययनात्मक और सही-सही विवरण दिया जिससे मुद्रा-शास्त्र की एक शाखा के अध्ययन का श्री-गणेश हुआ और इसके बड़े महत्वपूर्ण परिणाम निकले।

कर्नल टॉड का जीवन-वृत्तान्त अब उस स्थल पर आ पहुँचा है जो पाठकों के हाथों में विद्यमान ग्रन्थ में वर्णित है; इसमें बताया है कि उसने भारत क्यों छोड़ा, स्वास्थ्य की गिरी-पड़ी दशा में भी निकटतम बन्दरगाह पर सीधे न जाकर चक्कर खाते हुए खोज-पूर्ण यात्रा आरम्भ करने का क्या कारण था? (ये उद्देश्य इस शास्त्र में उसके अनुपशाम्य उत्साह के महान् लक्षणों के परि-चायक हैं) साथ ही, उसने मार्ग में देखे हुए दृश्यों और पदार्थों का विवरण एवं घटनाओं का वर्णन भी किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि

---

[1] यह शिलालेख 'इतिहास, भाग २' के परिशिष्ट में दिया गया है। इसमें ये चार संवत् दिए गये हैं—हिज्री सन् ६६२ = विक्रम संवत् १३२० = बलभी संवत् ९४५ = शिवसिंह संवत् ५१। हमारे सन् का वर्ष १२६४ ई०।

[2] गूढ़ाक्षरों में कही गई तिथियों का उदाहरण पृ० ३८६ पर देखें :

[3] एशियाटिक जर्नल, भा० २२; पृ० १४ ई०।

[4] ये सिक्के उसने स्वेच्छा से रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को दे दिये।

उसने मेवाड़ की राजधानी को पहली जून, १८२२ ई० के दिन आखिरी सलाम किया; १४ जनवरी, १८२३ ई० को बम्बई पहुँचा और अगले मास में इंग्लैण्ड के लिए जहाज में सवार हो गया ।

प्रतिकूल जलवायु में रह कर कितने ही वर्षों तक कठिन उद्वेजक परिश्रम करने के कारण शरीर और मस्तिष्क में जो थकान आ गई थी उसको दूर करने के लिए एक लम्बे अरसे तक अछेड़ और शान्तिपूर्ण आराम की आवश्यकता थी; परन्तु, उसके उदार आशय की पूर्ति उस समय तक नहीं हो पाती जब तक कि वह संसार के सामने अपने अर्जित ज्ञान का प्रसार न कर देता और 'अपने राजपूतों' का, जैसा कि वह स्नेह से कहा करता था, योरप के लोगों को परिचय न करा देता । सावधानी से अपने स्वास्थ्य-सुधार में लगने के बजाय वह अपने सुविचारित कार्य के लिए संग्रहीत विपुल सामग्री[1] को व्यवस्थित करने में व्यस्त हो गया, जिसके लिए अथक परिश्रम और अध्ययन आवश्यक थे । इस प्रकार शारीरिक शक्तियों पर अत्यधिक दबाव डालने के फलस्वरूप १८२५ ई० में, उसके प्रयासों में एक उसी प्रकार के (बीमारी के) दौरे के कारण व्यवधान आ पड़ा जैसा कि उसे दस वर्ष पहले हुआ था, और (आगे चल कर) इसी ने उसके बहुमूल्य जीवन का अन्त कर दिया ।

उसके इङ्गलैण्ड पहुँचने से कुछ ही पहले 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना हो चुकी थी (मार्च, १८२३ ई०); कर्नल टॉड ने तुरन्त ही अपना नाम इसके सदस्यों में लिखा लिया और तदनन्तर वह इसका पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हो गया; इस पद पर वह तब तक बना रहा जब तक उसके स्वास्थ्य ने साथ दिया । मई, १८२४ ई० में उसने एक शोध-पत्र पढ़ा जो एक संस्कृत शिलालेख के (जिसकी नक़ल शोध-पत्र के साथ संलग्न थी) अनुवाद और उस पर टिप्पणी के रूप में था; यह दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् से सम्बद्ध था । यह लेख उसको हांसी-हिसार से (दिल्ली से उ. उ. प. में लगभग १२६ मील पर) प्राप्त हुआ था जब वह सिन्धिया दरबार में अपना पद छोड़ कर अपने मित्र स्वर्गीय जेम्स लम्सडेन (James Lumsdaine) से मिलने गया था । इस शिलालेख का

---

[1] उसके हस्तलिखित ग्रन्थों, सिक्कों और अन्य प्राचीन पदार्थों पर, जिनमें से अत्यधिक मूल्यवान वस्तुएं इण्डिया हाउस अथवा रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में जमा कराई गई थीं, इस देश (इंगलैण्ड) में भारी महसूल वसूल किया गया था । उसके कागज़ पत्रों में इन चीजों की एक लम्बी सूची है जिसके साथ चुंगी के ७२ पाउण्ड चुकाने की रसीद भी है; उस पर उसके स्वयं के हस्ताक्षरों में लिखा है 'प्राच्य साहित्य को प्रोत्साहन'

उद्देश्य हिन्दुस्तान के सुप्रसिद्ध चौहान सम्राट् पिरथीराज अथवा पृथ्वीराज (जिसके महलों के खंडहर में यह प्राप्त हुआ था) की डोड जाति (११६८ ई०) पर विजय को चिरस्मरणीय बनाना था; यह विजय उसके प्रमुख सामन्त किल्हण (Kilhan) और हमीर के पराक्रम से प्राप्त हुई थी, जिनके नाम उस समय के युद्धों में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। यह शोध-पत्र पश्चिम भारत के इतिहास की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या और एतद्देशीय लोगों के चरित्रोदाहरण के विषय में, जो तत्कालीन योरप-निवासी विद्वानों के लिए नई बात थी, एक प्रेरणादायक चक्र के रूप में सामने आया। वह शिला, जिस पर लेख उत्कीर्ण था, कर्नल टॉड ने १८१८ ई० में लॉर्ड हेस्टिंग्स् को भेज दी थी; परन्तु, इसके भाग्य का आज तक पता नहीं है।

उसी वर्ष जून मास में, उसने सोसाइटी को तीन ताम्रपत्रोत्कीर्ण दान-पत्र समर्पित किए जो १८१२ ई० में उसे उज्जैन में मिले थे; इसके अतिरिक्त एक संगमरमर का शिलालेख भी भेंट किया, जो उसने १८२२ ई० में अपने मध्य-भारत के अन्तिम दौरे के अवसर पर मधुकरघर (Madhucarghar) में खोज निकाला था। ये सब उसी परमार वंश से सम्बद्ध हैं, जिसका समय उसके द्वारा निश्चित किया गया है और जो भारत के इतिहास एवं साहित्य का महत्वपूर्ण काल माना गया है। ये लेख भी, जिनका मिस्टर कोलब्रुक ने पुनः अनुवाद किया था, पूर्व लेख के समान ही विद्वत्ता की आभा से चमत्कृत हैं।

उसके द्वारा भारत में प्राप्त ग्रीक, पार्थिअन और हिन्दू चन्द्रक जिनका विवरण उसने जून, १८२५ ई० में सोसाइटी के सामने पढ़ा था, उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण संगृहीत सामग्री माने जाते हैं। इस शोध-पत्र के साथ कुछ चन्द्रकों की उत्कीर्ण प्रतिकृतियाँ भी थीं (जो उसने अपने खर्चे से बनवाई थीं); इनमें, से दो चन्द्रक तो विशेषतः मुद्राशास्त्र में बॅक्ट्रिया के ग्रीक राजाओं की शृंखला की टूट को पूरा करने वाले थे—नामतः अपोलोडोटस और मीनान्डर, जिनमें से पूर्व नाम का उल्लेख तो वेयर (Bayer) ने भी अपनी बॅक्ट्रियन राजवंशावली में नहीं किया है; उसका पता तो केवल एरिअन (Arrian) की सूचना के बाद ही जानकारी में आया है। इन मूल्यवान् सिक्कों की उपलब्धि के विषय में विवरण देते हुए कर्नल टॉड ने कहा है कि भारत में रहते हुए पिछले बारह वर्षों में, इतिहास-संशोधन का उपाङ्ग मानते हुए, सिक्कों का संग्रह भी उसकी एक प्रवृत्ति रही है; वर्षा-ऋतु में मथुरा एवं अन्य प्राचीन नगरों में कुछ लोगों को वह उन सब चीजों को इकट्ठा करने में लगा देता था, जो पानी के प्रताप से ढह कर भूमिसात् हुई दीवारों और फूट कर सामने आती हुई नीवों के कारण प्रकटता को प्राप्त हुआ

करती थीं। वह कहता है "मैंने प्रायः सभी जात के बीस हज़ार सिक्के इकट्ठे कर लिए थे; उनमें सौ से अधिक ऐसे नहीं थे कि जिन पर ध्यान देना आवश्यक हो और इस संख्या का एक-तिहाई ही ऐसा था जो मूल्यवान् कहा जा सकता था; परन्तु, इन्हीं में एक अपोलोडोटस का और कुछ-एक मीनान्डर के सिक्के भी हैं जो उन थोड़े से पार्थिअन सिक्कों के अतिरिक्त हैं, जो अभी प्रायः इतिहास में अज्ञात हैं।[1]

इस शोध-पत्र ने योरप महाद्वीप के बहुत से विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया और इन्हीं सिक्कों के विषय में मिस्टर ए. डब्ल्यू. वॉन श्लीगल (Mr. A. W. Von Schlegal) ने पेरिस की सोसाइटी के सामने एक शोध-पत्र पढ़ा।[2] तभी से और सम्भवतः इस खोज के पश्चात् पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान में ऐसे सिक्कों के संग्रह के प्रति लोगों का उत्साह बढ़ा है, जो अब बड़ी तादाद में मिलते हैं; और, सौभाग्य से बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सचिव मि० जेम्स प्रिंसेप द्वारा चतुराई से इनके अक्षरों की कुन्जी ढूंढ़ निकालने पर ऐसा ज्ञात हुआ है कि आख्यानों की रचना सर्वसाधारण की बोली में अथवा सरलीकृत संस्कृत में हुई है; इससे पूर्व और पश्चिम के सम्बद्ध इतिहास में खोज की नई दिशाएं भी उन्मुक्त हो गई हैं, जिससे, जैसा कि पहले कहा गया है, बहुत ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिणाम सामने आए हैं।

इनके अतिरिक्त जो शोध-पत्र उसने सोसाइटी को समर्पित किए वे इस प्रकार हैं—'मेवाड़ के धार्मिक संस्थानों का विवरण' (१८२८ ई० में पठित), जो बाद में 'राजस्थान का इतिहास' में समाविष्ट कर दिया गया; 'एलोरा के गुहामन्दिरों की कुछ मूर्तियों पर विचार' (१८२८ ई० में ही पठित); 'स्कॉटलैण्ड में मान्ट्रोस (Montrose) नामक स्थान पर प्राप्त स्वर्णमुद्रिका की हिन्दू बनावट पर विचार;' और "एक हिन्दू पद्धति से उत्कीर्ण चित्र के आधार पर हिन्दू और थीबन (Thiban) हर्क्यूलीज़ की तुलना" (दोनों ही १८३० ई० में पठित)।

---

[1] 'इतिहास' (भा० १, पृ० ४०) में उसने लिखा है कि अपोलोडोटस का सिक्का उसको १८०४ ई० में मिला था जब उसने सिकन्दर के इतिहासकारों द्वारा वर्णित सूरसेनी [शौरसेनी] की प्राचीन राजधानी सूरपुर नगर के अवशेषों को खोज निकाला था। वह कहता है, "भारत के मैदानों में बहुत से प्राचीन नगर दबे पड़े हैं, जिनके अवशेषों में कोई न कोई ऐसी वस्तु मिल ही जाती है जिससे हमारे ज्ञान की कुछ-न-कुछ वृद्धि अवश्य होती है।"

[2] 'कर्नल टॉड द्वारा उपलब्ध बॅक्ट्रिअन और इण्डो-सीथिक सिक्कों पर विचार'—जर्नल एशियाटिके, नवम्बर, १८२८ ई०

अन्तिम से पूर्व शोध-पत्र में वर्णित स्वर्णमुद्रिका मान्ट्रोस के पास पहाड़ी दुर्ग की खुदाई में प्राप्त हुई थी; इसको डून (Dun) की कुमारी अर्स्किन (Erskin) ने खरीद ली थी क्योंकि उसमें प्रदर्शित शस्त्रधारी (दो ग्रिफिन) उसके वंश के माने गए थे; बाद में यह मुद्रिका उस वंश की प्राचीन निशानी के रूप में मानी जाने लगी थी। जब कॉसिलिस (Cassilis) की काउण्टेस (ठकुरानी) ने वह मुद्रिका कर्नल फिज्क्लारेन्स (Fitzclarence) को दिखाई जो अब मुन्सटर के अर्ल (Earl of Munster) हैं तो वे तुरन्त ही इसके हिन्दू लक्षणों को पहचान गए और उन्होंने लेडी कॉसिली की अनुमति से इसको कर्नल टॉड के पास भेज कर "ऐसे उपेक्षित क्षेत्र में उपलब्ध इस प्रकार के असाधारण पुरावशेष की उपलब्धि पर अपने भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व के विस्तृत ज्ञान के आधार पर" सोसाइटी को आलोचनात्मक विचार देने के लिए प्रार्थना की। कर्नल टॉड ने बताया है कि वह रहस्यमय मुद्रिका का यन्त्र (तावीज) सूर्य-देव या बालनाथ का प्रतीक है जो दो वृषभों पर आधारित है और उसके चारों ओर एक सर्प रक्षा के लिए माला की तरह लिपटा हुआ है अथवा यह सृष्टि-विधायिका प्रकृति का रूप है जो लिङ्गम् और योनि के एकत्र प्रतीक के द्वारा दिखाया गया है—"संक्षेप में, यह उस आदिकालीन आराधना का प्रतीक है जो प्राचीनतम जातियों में प्रचलित थी।" उसके विचार से यह किसी पवित्र श्रद्धालु की अंगूठी थी जो अपनी इस पूजनीय वस्तु से कभी वियुक्त होना नहीं चाहता था और निरन्तर एक तावीज की तरह अंगूठे में पहने रहता होगा।

उस ने अपनी प्रेरणादायिनी उदार भावना एवं वदान्यता के कारण अपने अन्वेषणों और लेखों को स्वदेशीय वैज्ञानिक संस्थाओं में ही कोष्ठबद्ध नहीं होने दिया अपितु विश्व-सौहार्द की भावना से अपनी सम्पूर्ण जानकारी को सौरभ के समान विश्व भर में फैला दिया। सन् १८२७ ई० में अपने विवाह से छः सप्ताह बाद जब वह मिलान (Milan) में था तो, छाती की सूजन के परिणाम से उत्पन्न हुए दुखदायी दमा रोग से पीड़ित अवस्था में भी, जब कि उसमें लिखने के लिए शक्ति और लेखापन के लिए वाणी प्रायः क्षीण हो चुकी थी, उसने पूर्ण परिश्रम कर के (पास में पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थों के उपलब्ध न होते हुए भी) एक शोध-पत्र तैयार किया और पैरिस की 'एशियाटिक सोसाइटी' में भेजा, जो उनकी पत्रिका में "De L' Origine Asiatique de quelques, unes des Anciennes Tribus de l' Europe, establies sur les Rivages de la Mer Baltique, Surtout les Su, Suedi, Suiches, Asi, Yeuts, Jats, ou Getes-Goths &c." शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। १८२८ ई० में उसने उसी

सोसाइटी को पश्चिमी भारत से प्राप्त छः खरें भेंट किए जिनका विवरण एम. बरनॉफ़ (M. Burnouf) ने दिया और यह अनुरोध किया कि उनका शिला-मुद्रण (लीथो-छाप) करा कर फ्रांस और जर्मनी में प्रसार किया जाय ।

उसकी सैनिक पद-वृद्धि, जो अब तक रुकी पड़ी थी, अब द्रुतगति से आगे बढ़ने लगी । पहली मई, १८२४ ई० को उसने 'मेजर' का पद प्राप्त किया और उसे २ जून, १८२६ को लेफ्टिनेण्ट कर्नल बना कर दूसरी यूरोपियन रेजिमेण्ट में परिवर्तित कर दिया गया; यह वही सेना-विभाग था जिसमें उसने अपना जीवन आरम्भ किया था । उसके स्वास्थ्य की दशा ने उसके लिए भारत लौटना अनुपयुक्त बना दिया यद्यपि उसके राजपूताना के निवासी मित्र इसके लिए बहुत इच्छुक थे; अन्त में, २८ जून, १८२५ ई० को उसने सेवा से निवृत्ति प्राप्त कर ली ।

१८२९ ई० में 'राजस्थान का इतिहास' की पहली जिल्द प्रकाशित हुई जिससे स्थानीय एवं विदेशी प्राच्यविद्या-विद्वानों में बड़ी हलचल मच गई । साधारण पाठक-वर्ग में सर्वप्रियता प्राप्त करने में इस कृति को बड़ी-बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ा; क्योंकि यह साधारण इतिहास की ही पुस्तक नहीं थी अपितु ऐसे देश का इतिहास इसमें लिखा गया था, जो सर जॉन मालकम लिखित 'मध्यभारत के संस्मरण' (Memoirs of Central India, जिसमें उन्होंने राजपूताना को तो शायद ही स्पर्श किया हो) के प्रकाशित होने तक नितान्त अपरिचित रहा था । ग्रन्थकर्त्ता के नाम को, उस समय योरप की जनता में एवं भारत-स्थित बृटिश समाज में, उसके ढंग की रचनाओं को प्रचार देने के लिए वह प्रसिद्धि नहीं मिली थी कि जिससे बहुत-सी पुस्तकों को विक्रेय-सम्मान प्राप्त होता है । कर्नल टॉड के एक घनिष्ठ मित्र का कहना है कि 'उसका मार्ग भारत में यूरोपीय समाज को शायद ही गति देने वाला था और उसके लगाव आसपास के देशी वातावरण पर ही अधिक केन्द्रित थे । इस कृति के प्रति लन्दन के प्रकाशकों का आकर्षण इतना शिथिल रहा कि उसके प्रकाशन की पूरी जोखिम और खर्चा उसे अपने ऊपर ही लेना पड़ा, जो उसने बड़े उत्साह के साथ वहन किया; और छपाई (एक फलक तैयार कराने के इस अत्यन्त व्ययशील महान् कार्य के परिणाम) में उसके मर्यादित धन-कोष का कोई साधारण भाग नहीं बहाया गया था । अर्थ-लाभ उसका उद्देश्य नहीं था और न सामान्य अर्थों में कीर्तिलाभ ही; उसका मूल प्रेरक उद्देश्य तो, जैसा कि उसने अपने 'सम्राट् को समर्पण' में लिखा है, 'उसका परमकर्त्तव्य' मात्र था, 'एक प्राचीन और आकर्षण-भरे मानव-समाज से विश्व को परिचित कराना ।' कुछ

भी हो, इतने व्यवधान और प्रकाशन का भारी व्यय होते हुए भी, इसने धीरे-धीरे देश के स्थायी साहित्य में अपना स्थान प्राप्त कर लिया। हमारे नियत-कालिक आलोचनात्मक पत्रों ने इस कृति के विषय में बहुत ही अनुकूल वाक्य लिखे; प्राच्य-अध्ययन के परम अनुभवी विद्वानों से भी योरपीय महाद्वीप में इसने भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त की; और वृटिश भारत में, जहाँ इसका सब से अच्छा मूल्यांकन हो सकता है, यह एक आधार-ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य मिल Miill) हमारे प्रथम संस्कृत-विद्वानों में से हैं और वे प्राचीन भारतीय इतिहास के वहुत ही सफल अनुसन्धानकर्ताओं में माने जाते हैं; उन्होंने 'इतिहास' के विषय में अपना मत-निरूपण करते हुए लिखा है कि 'यह प्राच्य और सामान्य साहित्य के लिए एक मूल्यवान् और विशाल देन है।' वास्तव में, यह एक खान है जिसमें से पश्चिमी भारत के विषय में अब भी आधुनिक लेखक सूचनाएं प्राप्त करते हैं; इन क्षेत्रों के विषय में नित्य नया ज्ञान विवरण की यथार्थता और शुद्धता के प्रमाणों को उपस्थित कर रहा है। 'इतिहास' की दूसरी और अंतिम जिल्द १८३२ ई० के आरम्भ में सामने आई।

जो लोग इस विशाल ग्रंथ का धैर्य से अवगाहन करने का साहस करेंगे उनको सत्य पर आधारित और मौलिक इतिहास की अन्तर्निहित विपुल सामग्री से सम्पन्न इस 'राजस्थान का इतिहास' में असाधारण आकर्षण के विषय उपलब्ध होंगे; इसके वहुत से अंश सुघटित कथात्मकता की मनोहारिता लिए हुए हैं, जिनमें पात्रों के वीरोचित गुणों और घटनाओं के विवरण निबद्ध हैं; इसमें हिन्दू समाज के परम अद्भुत और सही-सही चित्र उपस्थित किए गए हैं; स्थानीय दृश्यों, प्राचीन नगरों और भवनों का सूक्ष्म आलेखन हुआ है जिन पर से युगों के बाद विस्मृति का आवरण अपसारित किया गया है, पुरातात्विक व्याख्याओं की मीमांसा की गई है, आत्म-विवरणों की सरलता और सजीवता प्रदर्शित हुई है और देशीय ख्यातों अथवा इतिवृत्तों के जो उद्धरण अनूदित किए गए हैं उनकी महाकाव्यात्मकता एवं ग्रन्थकर्ता की ओजपूर्ण निजी शैली, जो यद्यपि प्राच्य रचनाओं की हीनता से प्रभावित होकर कहीं-कहीं अपनी शुद्धता खो बैठी है, मिल कर कितने ही अनुच्छेदों में उत्कट और उच्चतम प्रवाह-पूर्णता को उद्भूत करते हैं। राजपूत इतिहास की कतिपय आँखों देखी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के इतिहासकार ने, जो कितने ही मामलों में स्वयं मध्यस्थ रह चुका था, सोत्साह इस विवरण में निजी भावनाओं का भी एक अंश सन्नि-विष्ट कर दिया है जिसमें उसके जीवन के कितने ही साहसिक कार्यों का व्यौरा भी सम्मिलित है। यदि यह इतिहास-लेखन के कड़े नियमों के विरुद्ध हो (यद्यपि

प्रथम भाग की भूमिका में ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'उसका आशय इस विषय को इतिहास की अलंकरण-हीन शैली में बाँधने का कभी नहीं रहा है क्योंकि ऐसा करने से बहुत-से ऐसे ब्यौरे छूट जाते जो राजनीतिज्ञ और जिज्ञासु अध्येता के लिए समानरूप से लाभकारी हैं) तो भी विवरण में जो यथार्थता और ताज़गी आ गई है उससे पाठक लाभान्वित ही होता है और इसके द्वारा प्रस्तुत चित्रों में वर्णनकर्ता के चरित्र एवं गुणों का स्पष्ट आभास मिलता है।

इस महान् ग्रन्थ के केवल वे ही अंश दोषरहित नहीं माने गए हैं जो मीमांसा-परक हैं—जैसे, राजपूतों की सामन्त-प्रणाली पर उसका अपूर्व निबन्ध और वे अनुच्छेद जिनमें ग्रन्थकर्ता ने पूर्व और पश्चिम के रीतिरिवाजों, विश्वासों और व्यक्तियों के ऐक्य एवं समानता की मान्यता का पूर्व-संस्थापन करने के प्रति शब्द-साम्य के ही दुर्बल आधार पर प्रत्यक्ष और अत्यधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है। परन्तु, इनमें से बहुत से विचार आनुमानिक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं यद्यपि वे सभी निर्व्याज और आपात-सत्य प्रतीत होते हैं, और वास्तव में कुछ सत्य हैं भी। मेजर विल्फोर्ड (Major Wilford) और यहां तक कि सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) के अविमृश्यकारी निष्कर्ष भी, हमारे हिन्दू-साहित्य-विषयक ज्ञान के बाल्यकाल में, मानव-मस्तिष्क की रचना के उस स्वाभाविक और आवश्यक प्रभाव से अछूते न रह सके जिसके कारण वह पूर्वाग्रह के वश होकर विपरीत दिशा में घूमने लगता है; और, ऐसे प्रमाण, जो बॅक्ट्रिया के सिक्कों, अफगानिस्तान के तोपे (Topes) और हिन्दुस्थान के शिलालेखों से निष्पन्न हुए हैं और योरपीय विद्वानों की कुशाग्रबुद्धि एवं लगन से जो उनके भेद खुल कर सामने आए हैं (जिनमें से बहुत से कर्नल टॉड[1] के साहसिक अनुमानों को सत्य प्रमाणित करने वाले प्रतीत होते हैं) वे सब भी पूर्वीय और पश्चिमीय जातियों के मूल-सम्बन्ध-विषयक हठधर्मी के रोग का शायद ही उपचार कर सके हों, यद्यपि इनकी बोलियों में व्याकरण-सम्बन्धी समानताएं और

[1] जब योरपीय संग्राहकों का मुद्रा-संकलन-उद्योग भारत में बढ़ने लगा और उसके मूल्यवान् परिणाम निकलने लगे तो कर्नल टॉड ने अपने एक मित्र को सूचना देते हुए लिखा है कि 'मुद्रा सम्बन्धी अनुसंधान बहुत ही महत्वपूर्ण और आनन्दप्रद हुए हैं; परिमाण और मूल्य को देखते हुए उनसे मेरे सभी अनुभवों की सम्पुष्टि हुई है, जो मैं समय-समय पर प्रकट करता रहा हूं। क्या आप मेरे उस अनुमान की सत्यता का अनुभव करते हैं, जो मैंने रोम से लिखे हुए पत्र में व्यक्त किया था कि फारस की खाड़ी और मेसोपोटेमियां बॅक्ट्रिअन सिक्कों के घर हैं?

अति प्राचीन काल से चले आ रहे पारस्परिक सम्बन्धों की मान्यताएं सम्यक् प्रतिष्ठापित हो चुकी हैं।

योरप और राजपूताना की सामन्त-प्रणाली की एकरूपता का सिद्धान्त तो शाब्दिक समानता की अपेक्षा सुदृढ तथ्यों पर अधिक आधारित है। परन्तु, जैसा कि 'इतिहास' की एक समीक्षा[1] में कहा गया है, 'सैनिक आधार पर भूमि का अधिकार-भोग प्रदान करने से, जो जन-सुरक्षा के हित में एक सरल और स्पष्ट आवश्यकता है, सभी जगह न्यूनाधिक रूप में समान सम्भावनाओं का ही जन्म होता है।' पूर्वीय देशों की सामन्त-प्रणाली-विषयक विचार कर्नल टॉड से पूर्व के विद्वान् लेखकों के ध्यान में आ चुका था परन्तु उन विचारों को प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा सुदृढ़ता प्रदान करने का श्रेय उसी को प्राप्त है।[2] अस्तु, इन दोनों प्रणालियों में दो महत्वपूर्ण भेद हैं। पूर्व में विशेषत: राजस्थान में, भूमि और उसकी मिट्टी पर उपज के आधार पर राजस्व के अतिरिक्त, राजा का कोई अधिकार नहीं है। हमारी सामन्त-प्रणाली में, मुख्य सिद्धान्त यह है कि राजा ही राज्य का सार्वभौम स्वामी और मूल स्वत्वाधिकारी होता था और समस्त अधिकार उसी में निहित होते थे तथा उसी से प्राप्त किए जा सकते थे। फिर, हमारी सामन्त-प्रणाली में कृषक अथवा दास कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता था और यदि वह कोई भूमि खरीद भी लेता था तो वह स्वामी उसमें घुस कर स्वेच्छा से उसका उपयोग कर सकता था, जब कि राजस्थान में 'रैयत' अथवा किसान ही भूमि का असली मालिक होता है।

१६ नवम्बर, १८२६ ई० को कर्नल टॉड ने लन्दन के सुप्रसिद्ध भिषक् डॉक्टर क्लटरबक (Dr. Clutterbuck) की पुत्री से विवाह किया। उसके स्वयं

---

[1] एडिनबर्ग रिव्यू, अक्टूबर १८३०।

[2] रिचार्डसन ने अपने 'अरबी फारसी कोश' (Persian and Arabic Dictionary) की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में सामन्त-प्रणाली का उद्गम विशुद्ध रीति से पूर्वीय देशों में हुआ माना है। वह कहता है कि फारस, तातार, भारत और अन्य पूर्वीय देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर वर्तमान क्षण तक और किसी प्रकार की शासनप्रणाली का विवरण ही नहीं दिया जा सकता। हमारी सामन्त-प्रणाली के उद्गम और उत्थान में विशेषता है; यह एक विदेशी पौधे के समान है जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे योग्य से योग्यतम पुरातत्त्वानुसन्धानकर्त्ता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ है; जब कि पूर्व में यह प्रथा स्वदेशी, सार्वदेशिक और चिरकालागत रही है इसलिए किसी भी पूर्वीय इतिहासज्ञ ने राजप्रणाली के अतिरिक्त उसके उद्गम का तलाश करने का स्वप्न में भी विचार नहीं किया है।' पृ० ६२-६३

एवं उसकी श्रीमती के स्वास्थ्य की विशेष अवस्था के कारण उनको प्रायद्वीप के विभिन्न भागों की यात्रा करनी पड़ी। इन्हीं यात्राओं के प्रसंग में सेवॉय (Savoy) से गुज़रते हुए वह काउण्ट डी बॉइने (Count de Boigne) से भेंट करने गया, जो सिन्धिया का सुप्रसिद्ध सेनापति था और जिसकी अनुशासित सेना के सामने अशिक्षित राजपूतों का शौर्य भी कुछ काम न कर सका था; नतीजा यह हुआ कि सन् १७६० ई० में मेड़ता के रणक्षेत्र में स्वतंत्रता की वेदी पर चार हजार राजपूतों का बलिदान हो गया। कर्नल टॉड ने उस परम अनुभवी जनरल के चम्बेरी (Chamberi) की सुरम्य घाटी में स्थित शाही निवास-स्थान पर आनन्दपूर्वक दो दिन व्यतीत किए।

अपनी इन यात्राओं में और जब-तब इङ्गलैण्ड में आकर ठहरने के समय में वह कभी निठल्ला नहीं बैठा अपितु अपने समय, धन और स्वास्थ्य का भरपूर उपयोग साहित्य-साधना में करता रहा। पौर्वात्य विषयों के अध्ययन, निजी ज्ञान और अनुभवों को संसार भर में फैला देने की योजनाएं उसके विकसित मस्तिष्क में उमड़ती रहती थी जिसके कितने ही प्रमाण उसके शोध-पत्रों से स्पष्ट व्यक्त होते हैं। उसने चन्द[1] के काव्य का अनुवाद करने की योजना बनाई

[1] भविष्य-कथन की विशिष्ट शक्ति के कारण 'त्रिकाल' (दर्शी) कहलाने वाले 'चान्द' अथवा 'चन्द' के विषय में कर्नल टॉड ने अपने लेखों में यत्र-तत्र टिप्पणियां दी हैं। उसका समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। वह दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् पृथ्वीराज का साथी और राजकवि था। उसके काव्य में उनहत्तर अध्याय हैं, जिनमें १,००,००० पद्य हैं; इनमें यद्यपि पृथ्वीराज के ही पराक्रमपूर्ण कार्यों का वर्णन है, फिर भी यह रचना-समय का एक व्यापक इतिहास है। इस सेनानी सम्राट् के युद्ध, उसकी मित्रताएं, उसके शक्तिशाली अनेक सामन्त, उनके गढ़ और वंशपरम्परा, जिनका विवरण चन्द ने इस काव्य में दिया है, सब मिल कर इसको ऐतिहासिक, भौगोलिक और पौराणिक चित्रों एवं रंग-ढंग-सम्बन्धी बहुमूल्य असाधारण संस्मरणों का आकर-ग्रन्थ बना देते हैं। कर्नल टॉड का कहना है "इस ग्रन्थ का अच्छी तरह पाठ करना आनन्द का निश्चित मार्ग है; और मेरे 'गुरु' इसमें परम प्रवीण थे। वे पढ़ते थे और मैंने साथ-के-साथ ३०,००० पद्यों का अनुवाद कर डाला था। जिन बोलियों में यह काव्य लिखा गया है उनसे परिचित होने के कारण मुझे कई बार ऐसा भान होता था कि मैंने कवि के भावों को पकड़ लिया है; परन्तु, यह कहना तो अनुमान मात्र होगा कि मैं अपने अनुवाद में भी उसका सम्पूर्ण चमत्कार ले आता था अथवा उसके सन्दर्भो की पूरी गहराई को अच्छी तरह समझ लेता था। परन्तु, यह मैं अवश्य जान जाता था कि वह किसके विषय में लिख रहा है। उसके द्वारा अवतारित प्रसिद्ध चित्रों [पात्रों] और भावों को मैं नित्य-प्रति उन लोगों के मुख से सुनता था जो मेरे आसपास सदैव ही बने रहते थे और जो उन मनुष्यों के

और आंशिक रूप में उसे पूरी भी की—निस्सन्देह, इस महान् कार्य के लिए किसी अन्य व्यक्ति में इतनी योग्यता भी नहीं थी; रासो के पाँचवें 'समय' का जो आदर्श रूप में अनुवाद करके उसने छपवा कर स्वकीय मण्डल में प्रचारित किया था वह उसकी बहुमुखी ऐतिहासिक-ज्ञानयुक्त प्रभूत टिप्पणियों से दीप्त है और उसमें मूललेखक की किसी भी अभिव्यक्ति को अस्पष्ट अथवा दुर्गम्य या दुर्बोध रूप में नहीं छोड़ा गया है—परम खेद का विषय है कि वह अपनी इस योजना को पूरी करने के लिऐ जीवित नहीं रहा।

उसके अन्तिम प्रयास की कृति पाठकों के सामने है; १८३४ ई० की शीत ऋतु का मुख्य भाग उसने रोम नगर में इसी कार्य के लिए बिताया था; सम्भवतः इसी महान् परिश्रम को, जिसका फल उसे रोग से परम अशक्त हो जाने तक भी नहीं मिल पाया, उसकी असामयिक मृत्यु का कारण समझा जा सकता है। वह अपनी छाती में पीड़ा के रोग पर विजय प्राप्त करने की आशा में १८३४ और १८३५ ई० के कुछ महीनों तक इटली में रहा और अन्त में ३ सितम्बर को इंगलैण्ड लौट आया। जब वह अपनी माता से मिलने हैम्स्फायर (Hampshire) गया तब उसने इस ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण लिखे और इस प्रकार यह पूरा हो गया; केवल कुछ टिप्पणियाँ और परिशिष्ट ही बाकी रह गया था। उसने 'रीजेण्ट-पार्क' में अपने नगर-निवास के लिए एक मकान खरीद लिया था इसलिए वहां पर राजधानी में स्थायी रूप से रहने तथा अपनी इस कृति को प्रेस में देने के लिए पूर्ण उत्साह लेकर वह १४ नवम्बर को लन्दन चला आया। उसके चेहरे पर सुधार और उत्साह में वृद्धि देख कर यह दृढ़ आशा बँध गई थी कि उसे पूर्ण स्वास्थ्य पुनः प्राप्त हो गया है। सोमवार, १६ नवम्बर, १८३५ ई० को उसके, नौ वर्ष पहले हुए, विवाह की सालगिरह थी—उसी दिन अपने व्यौहरिया मैसर्स रोबर्ट्स् एण्ड कम्पनी, लोम्बार्ड स्ट्रीट(Messrs Roberts-

---

वंशज थे जिनका चित्रण उसने किया है; अतः मैं उन कठिनस्थलों का अर्थ भी तुरन्त समझ लेता था जहाँ अच्छे-अच्छे काव्य-पारखी भी असफल हो जाते थे।' जिस भाषा में यह काव्य रचा गया है उसके विषय में (एक हस्तलिखित टिप्पणी में) उसने कहा है 'प्रांतीय बोलियों में जो भिन्नता पाई जाती है उसको हम उस भिन्नता के समानान्तर मान सकते हैं जो Langnedoc और Provence नामक प्रान्तीय बोलियों और इनकी जननी रोमन में हैं और यही बात 'भाखाओं अर्थात् मेवाड़ और व्रज की बोलियों और संस्कृत पर लागू होती है।'

क० टॉड द्वारा 'संयोगिता समय' नामक कथा का काव्यात्मक पद्यानुवाद एशियाटिक जर्नल सोसाइटी के, भा० २५ में प्रकाशित हो चुका है।

and Company, Lombard Street) से लेन-देन करते समय उसे अपस्मार (मिरगी) का दौरा हो गया; पन्द्रह मिनट में ही उसकी जबान बन्द हो गई और सत्ताईस घण्टों तक बेहोश रहने के बाद १७ नवम्बर को तरेपन वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया।

कर्नल टॉड का शरीर औसत कद से कुछ लम्बा था, गठन देखने में सुदृढ़ थी और व्यक्तित्व ओजस्वी प्रतीत होता था। उसका चेहरा खुला हुआ और हँसमुख था, अङ्गप्रत्यङ्गों में अभिव्यक्ति थी और जब कभी साहित्यिक अथवा वैज्ञानिक, विशेषतः भारत और राजपूताना से सम्बद्ध विषयों पर बातचीत होती तो एक असाधारण उल्लास से वे प्रदीप्त हो उठते थे। उसका ज्ञान व्यापक और बहुमुखी था, उसके लेखों से एक विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है, विशेषतः इतिहास सम्बन्धी विषयों पर, जिनमें उसने पूर्वीय एवं पश्चिमी ग्रन्थकारों के समस्त ज्ञान को समेट लिया है। संस्कृत एवं अन्य पूर्वीय साहित्यिक भाषाओं से तो वह इतना सुपरिचित नहीं था परन्तु पश्चिमी भारत की बोलियों से उसका गहरा सम्बन्ध था जो उसके लिए मौखिक जानकारी प्राप्त करने एवं बातचीत का मुख्य साधन बनी हुई थीं और जिनमें राजपूताना के ऐतिहासिक ज्ञान-विज्ञान का भण्डार भरा पड़ा है। उसके चारित्रिक गुणों में अदम्य उत्साह, परले दर्जे का साहस, निर्णयात्मक सूझ और अध्यवसाय तथा अपरिवर्तनीय दृढ़-संकल्प प्रमुख थे तथा अपनी स्वतंत्र आत्मशक्ति के कारण अन्याय एवं अपहरण के विरुद्ध वह चिढ़ कर विद्वेषी (विरोधी) भी बन जाता था। स्वभाव में दयालुता, स्नेहभाव की ऊष्मा, व्यवहार की रम्यता, स्पष्टवादिता और निर्व्याज सरलता के कारण उक्त गुणों में चार चाँद लग गए थे; बिरले ही मनुष्यों में हृदय की ऐसी पारदर्शी स्वच्छता पाई जाती है जिसको इसकी आपात-दुर्बलता छू न पाई हो। अमर्यादित अधिकारों का उपभोग करते हुए रियासतों पर शासन करने के उपरान्त भी—क्योंकि भारत में राजनैतिक प्रतिनिधि के अधिकार बहुत विस्तृत हैं—सत्ता का मद, उद्वेगकारक कर्तव्यों से उत्पन्न चिड़चिड़ाहट और रह-रह कर होने वाले रोग के आक्रमण भी उसके स्वभाव में संक्षोभ पैदा न कर सके और न उसके चारित्रिक सद्गुणों में ही कोई परिवर्तन ला सके; उसके सहयोगी अधिकारी बन्धुओं ने अन्त तक उसको वैसा ही मिलनसार और सौजन्यपूर्ण पाया जैसा कि वह अट्ठारह वर्ष की अवस्था में १४ वीं 'नेटिव इन्फेण्ट्री' में अधीनस्थ कर्मचारी के रूप में था।

राजपूताना जैसे प्रदेश में राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिए कर्नल टॉड से अच्छा और कोई आदमी नहीं मिल सकता था, जिसकी भावनाएं और गुण,

बहुत सी बातों में यहाँ के निवासियों से पूर्ण मेल खाते थे; इस प्रकार इनमें ऐसा भावात्मक तालमेल बैठ गया था कि एक ओर विश्वास में वृद्धि होती जा रही थी तो दूसरा पक्ष महान् नैतिक प्रभावों से प्रेरित हो रहा था। हमारे योग्यतम आंग्ल-भारतीय राजनीतिज्ञों का कथन है (जिसके लिए स्थानीय अनुभव आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह मूलभूत मानव-प्रकृति पर आधारित है) कि कोई भी योरपीयन हिन्दुओं में रह कर सुग्राह्य एवं उपयोगी कार्यकर्ता सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि वह उनकी भाषा, चलन और संस्थाओं से परिचित न हो और साथ ही उसमें समान भाव से सामाजिक स्तर पर उन लोगों में घुल-मिल जाने की क्षमता न हो। ऐसी दशा में, सुधार के प्रतिरोधक पूर्वाग्रह दोनों ही पक्षों में से तिरोहित हो जायेंगे; जब उन्हें यह ज्ञात हो जायगा कि उन्हें जो सुझाव दिये जा रहे हैं वे उनकी भलाई के लिए गम्भीर और दृढ़ भावनाओं पर आधारित हैं तो भारतीय-जन हमारे दृष्टिकोण को तुरन्त अपना लेंगे; और उधर, जैसा कि सर थामस मुनरो ने ठीक ही कहा है 'जो लोग अधिक से अधिक समय तक यहां के निवासियों के बीच में रह चुके हैं (जो उनके पक्ष में सुदृढ़ दलील है) वे प्रायः उनके विषय में ऊँचे-से-ऊँचे विचार रखते हैं।'[1] अन्यतम गम्भीर विचारक कोलब्रुक का मत है कि 'जो योरोपियन यहां के निवासियों में कभी घुला-मिला नहीं है वह उनके मौलिक गुणों को नहीं जान सकता और इसीलिए उनको पसंद नहीं करता क्योंकि जब वे मिलते हैं तो एक ओर भय छाया रहता है और दूसरी ओर अभिमान एवं सत्ता का मद।' राजा से लेकर सामान्य कृषक तक से जो स्नेह और लगाव कर्नल टॉड ने प्राप्त किया था वही उसकी सफलता का महान् रहस्य था, जो वृटिश भारत के शासकों को क्रियात्मक पाठ पढ़ाने वाला था।

स्थानीय गुणों की जानकारी और गम्भीर आपत्कालीन परिस्थितियों में उसके प्रयोग-विषयक नैतिक बल का जागृत उदाहरण हमें निम्न उपाख्यान में मिलता है, जो उसने स्वयं लेखबद्ध किया है।[2] १८१७-१८ ई० में युद्ध विराम

---

[1] ग्लीग (Glieg) लिखित सर थामस मुनरो का जीवन चरित्र; भा० २; पृ० १२; दक्षिण के कमिश्नर मिस्टर चैपलिन कोई बीस वर्ष से भी अधिक समय तक भारतीयों के सम्पर्क में रहे थे; उन्होंने १८३१ ई० में पूर्व-भारतीय विषयों की लोक-समिति में प्रकट किया था कि जैसे-जैसे मैं देशी जनों के अधिक सम्पर्क में आया वैसे-वैसे ही मेरा मत उनके विषय में अच्छा-से-अच्छा होता चला गया और 'वे संसार के किसी भी देश के निवासियों के मुकाबले में उत्कृष्ट प्रमाणित होंगे।'

[2] एशियाटिक जर्नल, वॉल्यूम १६; पृष्ठ २६४।

के बाद जनरल डॉन्किन की (दक्षिणी) सेना को आज्ञा हुई कि वह मेवाड़ को शत्रुओं से शून्य कर दे और कुम्भलमेर के सुदृढ़ दुर्ग को अधिकृत करले, जिसका रक्षक-दल अति दुर्दम्य था। पोलिटिकल-एजेण्ट कर्नल टॉड को जब यह ज्ञात हुआ तो वह स्थिति-स्थल पर आया और उसने आपसी बातचीत से प्रभाव डालने का निश्चय किया। जनरल के मना करने पर भी बृटिश थाने और गढ़ के बीच आधे रास्ते आगे जाकर उसने अकेले ही सरदारों से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने भी स्वीकार कर लिया; चार सरदार उसके साथ एक चट्टान पर बैठे और आधे घण्टे में ही सब कुछ ठीक हो गया अर्थात् सेना को चढ़ा हुआ वेतन मिल जायगा और दूसरे ही दिन प्रातःकाल बृटिश दल को प्रथम द्वार पर अधिकार दे दिया जायगा। सूर्योदय होते ही कर्नल टॉड कर्नल केसमेण्ट की अध्यक्षता में सेना लेकर चल पड़ा। जो रुपया वसूल होना था वह ४०,००० (४,००० पौण्ड) था; कर्नल केसमैण्ट को जो मिला वह केवल ११,००० रु० था; परन्तु, पोलिटिकल एजेन्ट अपने साथ एक स्थानीय साहूकार को लाया था जिसने बाकी रकम की हुण्डी लिख दी और वह स्वीकार कर ली गई; ज्योंही एक इन्जीनियर मैदान से २५०० फीट की ऊँचाई पर स्थित इस स्थान के घेरे की सम्भावना की रिपोर्ट लेकर पहुँचा तो किला तुरन्त खाली कर दिया गया; यह तीन ओर से आक्रमण के लिए खुला था और पुलिया का रास्ता भी सरल था और कोई शरण-स्थान भी उपलब्ध नहीं था। इन्जीनियर (मेजर मॅक्लिऑड Major Macleod) ने बताया कि उसने छः सप्ताह तक एक भी बन्दूक मोर्चे पर नहीं लगाई।

[1] यह बताने के लिए, कि उसने जो प्रकार अपनाया था वह कितना सरल और पूर्ण था तथा यदि इनकी भावनाओं और पूर्वाग्रहों के माध्यम से व्यवहार किया जाय तो यहाँ के लोग कितने विनेय हैं, उसने समझौते का विवरण लिखा है "विवाद का आरम्भ एक असम्बद्ध विषय से हुआ क्योंकि मतभेद और वैमनस्य होने पर भी इन लोगों के सौजन्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। मेरा पहला प्रश्न प्रत्येक सरदार के 'वतन' के बारे में था, जो प्रत्येक मानवीय प्राणी के लिए रुचि का विषय है। वे सब मुसलिम थे और उनमें से दो रुहेलखण्ड से आए थे; इन लोगों से मैंने इनके 'वतन', वहां के शहरों, जिनको मैं देख चुका था और और हाफ़िज रहमत के बारे में बातचीत की। दूसरे लोग सिंधिया की सेवा में रह चुके थे और हम लोग छावनी में मिल चुके थे। कोई दस मिनट इन बातों में लगे होंगे कि सहानुभूतिपूर्ण नैतिक बन्धनों ने हमारे बीच से अपरिचितता को दूर हटा दिया। जब आपस में विश्वास पैदा हो गया तो मुख्य बात पर विचार आरम्भ हुआ और मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि कुम्भलमेर को समर्पित कर देने में उनका हित ही होगा, अपयश नहीं। मैंने उनको स्थिति की कठिनाई बताते हुए यह भी कहा कि एक

कर्नल टॉड के कुछ मित्रों ने[1] इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफसरों को सम्राट् की ओर से सम्मानित किया गया तो उसका नाम उपेक्षा में रह गया। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसकी सेवाओं का अवमूल्यन किया गया हो प्रत्युत 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' (संचालक मण्डल) ने सदा ही उसकी सुन्दर सराहना की थी; और महान् भारतवर्ष की संस्थापना के प्रश्न से पूर्व हुई जाँच में पश्चिमी भारत को लेकर उसके अनुभव और निर्णयों को सरकार ने प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण भी किए थे। सन् १८३३ ई० में हुई 'पूर्वीय-भारत सम्बन्धी' विषयों पर लोक-सभा की समिति ने अपने अन्तिम साक्ष्य-विवरण (Minutes of Evidence) की रिपोर्ट के परिशिष्ट में वह प्रशंसनीय लेख-पत्र भी विशेष रूप से छपवाया है, जो उसने इस पर लेखबद्ध किया था। उसके लिए कुछ वैधानिक बाधाएं अवश्य थीं परन्तु यदि उसके स्वभाव में अपने प्राप्य के लिए याचना करने वाली बात होती तो वे सब टाली जा सकती थीं और वह उन लोगों के मुकाबले में घाटे में न रहता जिन्होंने अपने आपको 'राजमुकुट' की कृपा प्राप्त करने योग्य मनोवृत्ति का बना लिया था। कुछ ऐसे अवसरों पर उसका नाम शामिल न करने में बहाना बनाते हुए कर्नल टॉड को सूचित किया गया कि जो व्यक्ति सेना में सक्रिय सेवा से निवृत्त हो चुके थे अथवा जो सैनिक सेवाओं के लिए औपचारिक रूप से राजपत्रित नहीं थे उनको ऐसा सम्मान नहीं दिया गया था। ऐसे कारणों की निरर्थकता पर उसने समय-समय पर टिप्पणी की है जिससे ज्ञात होता है कि ऐसी टालमटोल से वह कुछ आहत हो गया था।

परन्तु, यदि कोई ऐसा चिह्न उसे प्राप्त भी होता तो उससे सार्वभौमसत्ता

सप्ताह पहले जो परिस्थिति थी अब वह भी नहीं रही है कि उन्हें मारवाड़ से मित्र और रसद दोनों मिल सकें क्योंकि मैदान वाले सरदार को मेरे कथनानुसार सभी रास्ते बन्द कर देंगे; यह बात तो वे लोग अच्छी तरह जानते ही थे कि उन्होंने वहाँ और मारवाड़ में बहुत से शत्रु पैदा कर लिए थे; इसका फल यह होगा कि वे सही-सलामत लौट भी न सकेंगे—परन्तु, यदि वे आत्म-समर्पण कर देंगे तो इसका दायित्व लेने को मैं तैयार था"

[1] टॉड के एक मित्र ने लिखा है 'यह बड़ी विचित्र बात है कि जिसने कला और साहित्य के लिए तथा सैनिक और कूटनीतिक पदों पर रहते हुए इतना काम किया उसको सम्राट् की ओर से कोई सम्मान न मिले; परन्तु, वह ऐसा आदमी था कि जो कुछ उसका प्राप्य अधिकार था उसके लिए याचना करने के निम्नस्तर पर उतरना कभी पसन्द नहीं करता था।'

के सम्मान-चिह्न का ही मूल्य बढ़ता; फिर भी, ऐसी उदारचेता जाति से जो दृढ-मूल आभार का विशिष्ट सम्मान उसने प्राप्त कर लिया था और उन लोगों में उसकी स्मृति चाव से मनाई जाती है अथवा आने वाली पीढियों तक कायम रहेगी, वह सम्मान ऐसे छुट-पुट सम्मानों से कहीं बढ़ कर उसके लिए आत्म-सन्तोष देने वाला सिद्ध हुआ। राजस्थान का भविष्य कुछ भी हो—परन्तु, इसको विनाश से सम्पन्नता और अराजकता से शान्ति की स्थिति में पहुँचाने, इसका उदार-हृदय शासक और सुसंस्कृत इतिहासकार होने, डाकुओं और पिण्डारियों के अतिरिक्त यहां के सभी निवासियों का समानभाव से स्नेह प्राप्त करने तथा अपने शासन में असाधारण पक्षपातरहितता एवं मृदुता के कारण ईर्ष्यालु सरकार के निराधार सन्देहों का शिकार बनने का श्रेय और प्रशंसा तो टॉड ही को प्राप्त है जिसके कारण उसके नाम को डङ्कन, क्लीवलैण्ड और अन्य गिने-चुने 'भारत-मित्रों' की श्रेणी में रखने से कभी नहीं रोका जा सकता और इससे बढ़ कर दूसरा कोई वंशचिह्न उसके कुल को प्राप्त भी नहीं हो सकता था।

कर्नल टॉड के दो पुत्र और एक कन्या थी।



स्वर्गीय

लेफ्टिनेण्ट कर्नल जेम्स टॉड

लिखित

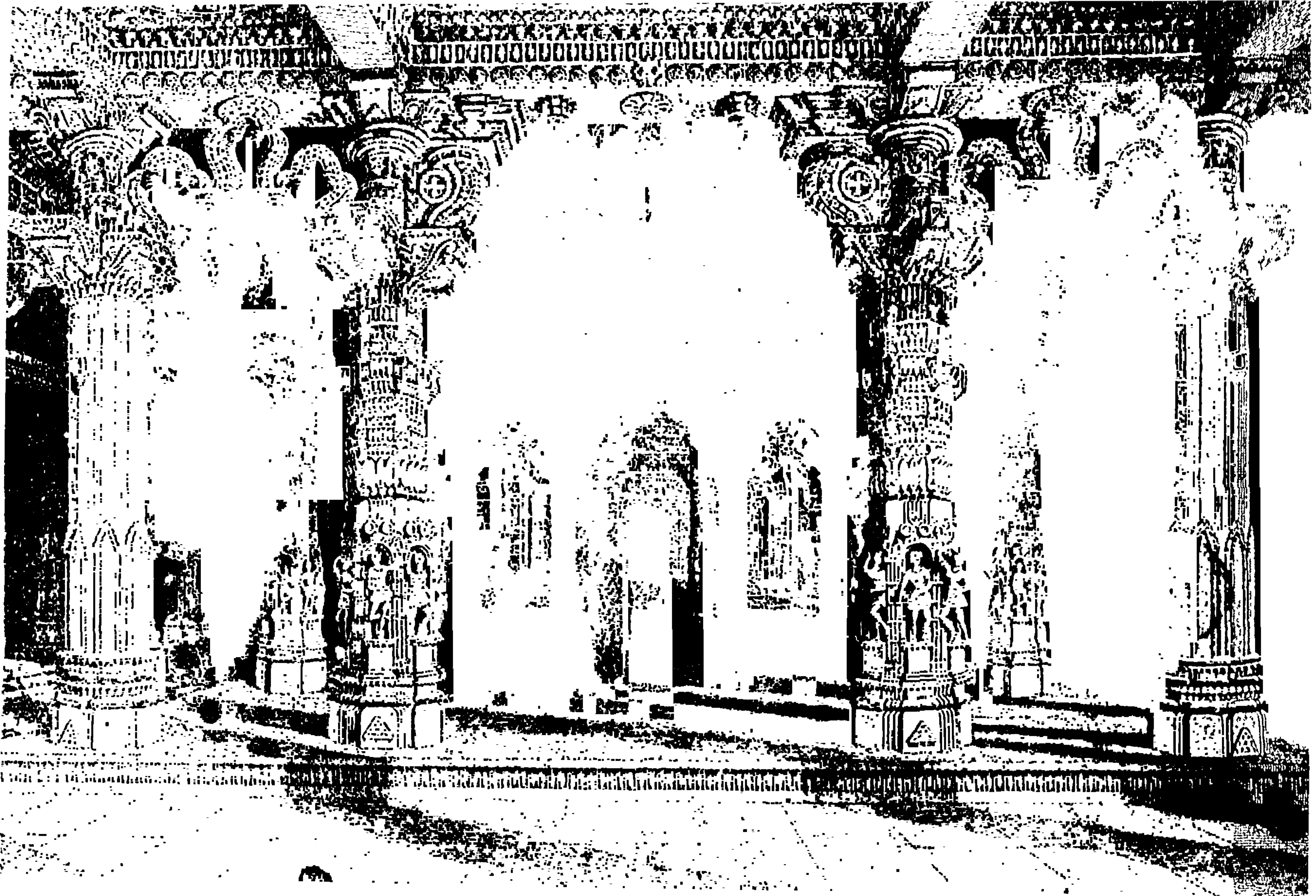
पश्चिमी भारत की यात्रा

विषयानुक्रम



चित्र-सूची





देलवाड़ा (आबू) के एक मन्दिर का भीतरी दृश्य

पश्चिमी भारत की यात्रा

प्रकरण १

प्राक्कथन

प्रस्तुत यात्रा का उद्देश्य; ग्रंथकर्त्ता के भारत छोड़ने के कारण; ग्रंथकर्त्ता के प्रति देशी राजाओं की आदरभावना; बम्बई के लिए प्रस्तावित मार्ग।

जिन्होंने 'राजस्थान का इतिहास' (Annals of Rajasthan) का अवलोकन किया है वे, उसकी समाप्ति के उपरान्त किसी प्रकार के प्रारम्भिक वक्तव्य की आवश्यकता का अनुभव किए बिना, सहज ही इस पुस्तक को पढ़ना आरम्भ कर सकते हैं। परन्तु यह मान कर कि पाठक मेरी एक कृति से अपर की ओर आकृष्ट हुए हैं, मैं अपनी इस अन्तिम यात्रा के उद्देश्यों के विषय में कुछ भी न कहूँ तो यह उनके प्रति अत्यन्त अनौपचारिक व्यवहार होगा ; और तब, प्रस्तुत ग्रंथ में प्रचुरता से प्रयुक्त 'मैं' सर्वनाम को, किसी प्रकार का आत्मनिवेदन किए बिना, पाठकों पर थोप देना भी अशोभनीय होगा।

निजी यात्राओं के वर्णन में यदि ग्रन्थकार अपने लिए कुछ कहने में पद-पद पर संकोच करने लगे तो उसे बड़ी कठिनाई होगी। विवरणात्मक वर्णन में बातों को निरन्तर अप्रत्यक्ष और जटिल ढंग से कहना सरल और स्वाभाविक शैली की अपेक्षा अप्रिय प्रतीत होता है जो केवल उसी अवस्था में अच्छी नहीं लगतीं जब वह अनावश्यक और कृत्रिम रूप में प्रयुक्त होती हैं; फिर, व्यक्तिगत यात्राओं के पाठक वर्णन-कर्त्ता के वैयक्तिक जीवन से इतना अभिज्ञ होने के तो इच्छुक होते ही हैं कि वे उन परिस्थितियों से परिचित हो सकें जिनके कारण वह किन्हीं विशिष्ट दृश्यों का विवरण उपस्थित करता है—ऐसा सम्बन्ध, प्रस्तुत प्रसंग की भांति, वर्णन की यथार्थता का प्रमाण बन जाता है। अतः निःसंकोच भाव से, आत्मश्लाघा के उपालम्भ की आशंका न करते हुए मैं अपना और अपने से सम्बद्ध विषयों का उसी प्रकार खुल कर अप्रतिहत वर्णन करता चलूंगा जैसा किसी अन्य पुरुष के विषय में करता।

अपनी इस सर्वाधिक आनन्दप्रद यात्रा का आरम्भ करते समय, सर्वप्रथम इङ्गलैण्ड छोड़ने के बाद, मैं अपने प्रवास के बाईस वर्ष पूरे कर चुका था और अगला वर्ष भी प्राय: बीत ही रहा था; इनमें से अट्ठारह वर्ष पश्चिमी भारत की राजपूत जातियों में बीते और पिछले पाँच वर्षों में सरकारी राजनैतिक मध्यस्थ (Political Agent to the Government) की हैसियत से मेवाड़, मारवाड़, जैसलमेर, कोटा और बूंदी की पाँच बड़ी तथा सिरोही की एक छोटी रियासत पर मेरा पूर्ण अधिकार रहा। इस भारी जिम्मेदारी के पद पर (जिसे सम्हालने के लिए बाद में चार अलग-अलग एजेण्टों की नियुक्ति हुई) रहते हुए निरन्तर कष्टसाध्य परिश्रमपूर्ण कर्त्तव्यों में संलग्न रहने के कारण मेरा स्वास्थ्य इतना गिर गया था कि आगामी कार्य-सत्र का निर्वाह भी अशक्य हो जाता। नित्य बारह से चौदह घण्टों तक टंटों झगड़ों में बराबर व्यस्त रहते हुए, प्रत्येक एकान्तर दिवस पर भारी शिरोवेदना को सहन करते हुए और निरन्तर श्रम से निवृत्त होना आवश्यक होने पर भी उत्तरदायित्व और कार्य से छुटकारा न पाते हुए मैं इस दारुण यातना को भोग रहा था और जीवित था-यही रहस्य मेरे स्वास्थ्य-समीक्षक मित्रों के लिए विस्मय का कारण बना हुआ था। यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मेरे इस कठिन परिश्रम से सहस्रों जन उपकृत हो रहे हैं तो निश्चय ही मैं इसे सहन करने में कदापि समर्थ न होता; परन्तु विदाई के आदेश का भार आ पड़ा था और अतीव दुःख के साथ मुझे उस भूमि से मुख मोड़ना पड़ा जिसे मैंने [मातृभूमि के रूप में] ग्रहण कर लिया था और अंत में जहाँ मैंने सहर्ष अस्थिविसर्जन कर दिया होता।

यदि कभी ऐसा समय आए कि 'दुःख में भी सुख' की प्रतीति हो तो ऐसा तभी होता है जब वह उत्पन्न अथवा अनुभूत होने वाला कष्ट सेवा-भाव का परिणाम हो। भाग्य से मैं ऐसी स्थिति में पहुँच गया था कि मेरे द्वारा कुछ व्यक्तियों का ही नहीं अपितु छोटे-छोटे कई राज्यों का हित-साधन सम्पन्न हो सकता था। गरीबी और आपसी झगड़ों से छुटकारा पाकर खुशहाली एवं राजनैतिक शान्तिलाभ करने वाले राजा रईसों द्वारा कृतज्ञतावश जो भाव प्रकट किए गए उनके विषय में तो कुछ कहना मेरे लिए शोभनीय न होगा परन्तु देहाती जनता ने जो मुझे 'बाबा' (पिता) उपनाम दिया वह अवश्य ही मेरी सेवाओं की यथार्थता के लिए निर्दोष प्रमाण माना जा सकता है।

तैयारी में एक पखवाड़ा बीत गया। मिलने जुलने वालों के कारण अधिक अड़चन न पड़े इसलिए मैं राजधानी से उत्तर की ओर कोई एक मील दूर

'हाडी रानी' की मनोरम 'सहेलियों की वाड़ी'[1] में जा कर रहने लगा था। इस वाड़ी की मनोहर कुंजों और वाटिकाओं का वर्णन अन्यत्र[2] कर चुका हूँ। जब राणाजी[3] अपने दरवारियों सहित 'अन्तिम बिदाई' देने आए तो मुझे मूर्तियों, शिलालेखों, धातु-पात्रों और हस्तलिखित ग्रन्थों आदि के लिए सन्दूकें बनाने वाले कारीगरों से घिरा देख कर आश्चर्य करने लगे। इस सम्मेलन के अवसर पर सभी के दिल दुःख से भरे हुए थे। यहाँ अब तक ऐसी दशा थी कि कोई भी वर्तमान सरदार 'शत्रु द्वार पर खड़ा है' इस आमन्त्रण पर तुरन्त जाग उठने की तैयारी किए विना तकिए पर सर रख कर चैन से नहीं सो सकता था; कभी कोई पुराना शत्रु 'वैर का बदला' लेने आ जाता तो कभी कोई पहाड़ी धाड़ैती आ धमकता अथवा कोई वनवासी भील उसकी गुवाड़ (गोवाट्) खाली कर जाता। चिन्ता के ये सभी कारण अब समाप्त हो चुके थे; लुटेरे मरहठा, क्रूर पठान, घर के 'वैरी' और प्रान्तीय लुटेरे पर्वत-पुत्र (मेरोत) अथवा वन-पुत्र (भील)—ये सभी भयभीत हो गये थे और उनकी तलवारें हल की फालों में बदल चुकी थीं; अतः अब सरदार लोग अपने सहज आलस्य में निमग्न हो सकते थे अथवा दोपहर में अमल की पीनक लगा सकते थे; उनके आराम में बाधा डालने वाले किसी शत्रु का भय न था। परन्तु कुछ लोगों को ऐसे शान्ति के

---

[1] यह वाड़ी महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय (१७११-१७३४ ई०) ने वनवाई थी। (देखिए—वीरविनोद ; पृ० १५४ व ६८१)

उदयपुर में ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि यह बाड़ी महाराणा संग्रामसिंह ने उन्हें बादशाद फर्रुखशियर द्वारा भेंट-स्वरूप दी हुई सर्केशियन कुमारी दासियों के लिए वनवाई थी। वे कुमारियाँ आजीवन यहीं रहीं और दूधतलाई पर बनी हुई कब्रें उन्हीं की बताई जाती हैं। इन कुमारियों को पोलो खेलने का बहुत अभ्यास था। कहते हैं, उदयपुर के चित्र-संग्रह 'जोतदान' में ऐसे कुछ चित्र हैं जिनमें इनके पोलो खेलने का चित्रण हुआ है। परन्तु इन सब बातों का कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

कुछ पण्डितों का मत है कि इस वाड़ी व आस-पास के स्थान पर 'शैल' नामक घास बहुतायत से होती है इसीलिए इसको 'शैल-वाटिका' कहते हैं। यह 'शैल' घास आजकल वरू कहलाती है और इसका करण्ड पहले कलम बना कर लिखने में काम आता था। किन्तु, यह मत भी विद्वानों का बुद्धिविलास मात्र प्रतीत होता है।

साधारणतया यह माना जाता है कि महारानियों और उनकी प्रतिष्ठित सखियों (सहेलियों) के आमोद-प्रमोद के लिए ही इस रमणीय उपवन का निर्माण कराया गया था।

[2] एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ़ राजस्थान (१९२० ई०)

[3] महाराणा भीमसिंह (१७७८-१८२८ ई०)

दिन आ जाने से कोई सन्तोष न हुआ। हम लोगों में ऐसे भी मनुष्य थे जिनके लिए यह शान्ति 'नरक' थी। ऐसे लोगों में भदेसर (Badeswer) का सरदार हमीर और 'पहाड़ी शेर' (बहारसिंह) थे जिनके बहुत से साथियों सहित असन्तुष्ट होने का कारण स्पष्ट था, क्योंकि उनकी वंशपरम्परागत भूमि का बहुत सा भाग उस समय मरहठों ने दबा रक्खा था और उसे पुन: प्राप्त किए बिना चैन से न बैठना उनका धर्म था।

जहाँ ऐसे निजी सम्बन्ध बन जाएँ वहाँ वियोग की घड़ियों में दोनों पक्षों को दु:ख का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह हमारी प्रकृति पर एक प्रकार का लाञ्छन है. जैसा कि प्राय: ढिंढ़ोरा पीट कर कहा जाता है, कि हम लोग घमण्ड में भरकर यह मान बैठे हैं कि हम से कुछ पक्के वर्ण वाले लोगों में सद्‌गुणों का निवास ही नहीं होता। इस अवसर पर सहज हास्यप्रियता और अर्थपूर्ण वाचालता के धनी राणाजी भी विचारमग्न हुए चुपचाप बैठे थे। वे बार-बार केवल इसी वाक्य को दोहराते रहे "देखना, मैं आपको तीन वर्ष की छुट्टी देता हूँ; रामदोहाई, ज्यादा ठहरे तो ढूंढ़ कर पकड़ लाऊँगा।" परन्तु उस समय एकत्र हुए सरदारों से जो ज़ोरदार बात उन्होंने कही वह मुझे सब से अच्छी लगी, "इन्होंने पाँच वर्ष मेरे यहाँ काम किया, देश (रियासत) को बरबादी की हालत से ऊँचा उठाया, परन्तु एक चुटकी भी मेवाड़ की मिट्टी संग नहीं ले जाते।" उनका कथन सत्य था; मरहठा कार्यकर्त्ताओं के उदाहरण सामने होते हुए यह बात उनकी समझ में नहीं आ रही थी कि किसी विदेशी के लिए राजस्व और वित्तमन्त्री का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य निष्पक्ष रहकर पूरा करना भी सम्भव हो सकता था। और इसी में यूरोपीय (चरित्र की) श्रेष्ठता का महान् रहस्य विद्यमान है जो उनके स्वभाव और सहृदयता के साथ मिलकर किसी भी देशीय और विशेषत: राजपूत दरबार में अप्रतिहत प्रभाव और आदर प्राप्त किए बिना नहीं रहता। नैतिकता के मूलभूत सौन्दर्य के प्रति कोई भी मानव राजपूत से बढ़कर सजग नहीं है; और कदाचित् वह स्वभाववश अपने आप इसका पालन नहीं कर पाता है तो कोई भी अनुभवी सूत्र उसको मार्गदर्शन कराता रहता है।

दो घण्टे बैठने के बाद छुट्टी लेना आवश्यक हुआ और विदाई की भेंटें प्रस्तुत हुईं। अन्त में, जैसे-तैसे, मुझे स्वास्थ्य का ध्यान रखने के लिए कहते हुए राणाजी ने विदा लेने का प्रयत्न किया और उनका घोड़ा द्वार पर आ लगा। मैंने भी अपने भतीजे कप्तान वाघ पर मेरी तरह कृपा बनाए रहने के लिए निवेदन किया और जल्दी-जल्दी, भरे हुए दिल से, हमने आपस में अभिवादन किया। कुछ सरदार लोग अन्तिम शब्द कहने के लिए रुक गए। इनमें प्रमुख

भींडर के मोटे ठाकुर थे जो इस वात का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर रहे थे कि एक सच्चे राजपूत पर निष्पक्ष एवं स्पष्ट व्यवहार का क्या प्रभाव पड़ सकता है ! जव मैंने जागीरदारों और उनके स्वामी (महाराणा) के बीच मध्यस्थता स्वीकार की तव इस ठाकुर के अधिकार में से लगभग तीस कस्वे व गाँव वापस लिए गए थे जिन पर अराजकता के समय में उसने अपने पट्टे की जायदाद के अतिरिक्त कब्ज़ा कर लिया था; और उस समय यही सरदार[1] उन गाँवों को लौटाने के काम में हाथ वँटा रहा था जिनके कारण उत्पन्न हुए झगड़े-टण्टे पिछले पचास वर्षों से देश में आपसी वैमनस्य के मूल बने हुए थे। उसने मुझे कहा, "ज्यादा क्या कहूँ, यदि स्वयं भगवान् भी आकर कोशिश करता तो मेवाड़ में शान्ति स्थापित होना असम्भव था।"

मैं अपने इन आनन्ददायक संस्मरणों का और भी विस्तारपूर्वक वर्णन करूँ; परन्तु, मैं समझता हूँ कि अब तक जो मैंने कहा है वही काफी लम्वा हो चुका है। किन्तु, यह वता देना तो आवश्यक ही है कि मेरे स्वास्थ्य की ऐसी गिरी-पड़ी दशा में भी यूरोप जाने के लिए किसी निकटतम बन्दरगाह पर सीधा पहुँचने की अपेक्षा मैंने यह लम्वी और दुष्कर खोजपूर्ण यात्रा क्यों आरम्भ की ? ये खोजवीन की बातें, जो किसी निरुद्योगी पुरुष को यकायक थका देने वाली और भयावह प्रतीत होंगी, मेरे लिए राजकाज से अवकाश के समय मन-वहलाव के सौदे वन जाती थीं। प्रायः जव-जव भी राजधानी और अन्य चिन्ताओं से वच कर स्वास्थ्यलाभ के लिए वाहर भागना पड़ता था तव मैं कभी तो अपना तम्वू किसी घाटी के बीच की कुन्जों में लगवा लेता अथवा विशाल बन्ध उदयसागर से निकलने वाली बेरियों के निर्गमस्थान पर डेरा डालता या पीछोला के किसी परीलोक के टापू पर एकान्तवास करता और अपने हस्तलिखित ग्रन्थों, वृद्धगुरु अथवा कवि चन्द तथा पृथ्वीराज और प्राचीन योद्धाओं के साथ अपना समय आनन्द से बिताता रहता। मेरा ऐसा स्वभाव और शौक होने के कारण, उन इष्ट पदार्थों के सुलभ होते हुए, जो कई वर्षों से मेरे विचारों में चकाचौंध पैदा कर रहे थे, मुझे यह निर्णय करने में एक क्षण भी न लगा कि मैं अब उन्हें प्राप्त करने में कुछ और विलम्व करूँ अथवा सीधा वम्वई के लिए रवाना हो जाऊँ। मैंने गङ्गा और ब्रह्मपुत्र दोनों ही की वाढ़ों का माप किया था—

---

[1] महाराणा भीमसिंह और सरदारों का पारस्परिक सम्वन्ध स्थिर करने के लिए वि० सं० १८७५ (१८१८ ई०) में कर्नल टॉड के द्वारा अंग्रेजी सरकार ने जो कौलनामा तैयार कराया था उस पर वेगूं के रावत मेघसिंह के पुत्र महासिंह (दूसरे) ने सबसे पहले हस्ताक्षर किए थे।—गौ. ही. ओझा कृत उदयपुर का इतिहास, जि. २, पृ. ८९५

"जिनके विस्तार पर उड़ान भरने के लिए कवित्व भी पर फड़फड़ाने की हिम्मत नहीं करता ।",

उन स्थानों का पर्यटन किया है, जहाँ चट्टानों से घिरे हुए अवरोधों में होकर गङ्गा और यमुना बहती हैं, बहुत समय तक नदियों के पिता 'आवे सिन' अथवा सिन्धु की यात्रा करने का भी विचार किया और भारत की अन्य महान् नदियों में प्रधान इस शास्त्रीय नदी के मुहाने पर घूमने की कामना भी की थी । परन्तु मेरा मुख्य उद्देश्य तो यही था; बीच-बीच में आने वाली गौण इच्छाओं में भी मेरी असीम अभिरुचि थी । मैंने पहले, भारत के देवपर्वत प्रसिद्ध आबू पर जाने का विचार किया और मार्ग में ऊँचे अरावली की सबसे चौड़ी श्रेणी को, औगुणा पनरावा की स्वच्छन्द भील जातियों में होकर अथवा इस विशाल पर्वतश्रेणी के उच्चतम शिखर पर विद्यमान बनास नदी के उद्गम स्थान जैसे कठिनतर प्रदेश में होकर, पार करने का निश्चय किया; फिर, इसकी उत्तरी ढाल उतर कर मारवाड़ के जङ्गल की सुन्दर 'संजाफ' बने हुए इस (अरावली) के किनारे-किनारे सिरोही को पार करके आबू पहुँचने का विचार किया । बहुत लम्बे समय से भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण समाज से विच्छिन्न आदिवासी भील जातियों को देखने की प्रबल इच्छा होते हुए भी कितने ही कारणों से मुझे दूसरा ही मार्ग ग्रहण करना पड़ा । सन् १८०८ ई० में मेरे एक दल ने इस भूभाग का पर्यटन करके इन जातियों की आदिम एवं स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का मुझसे वर्णन किया था, तभी से इन लोगों से मिलने की इच्छा मेरे मन में जागृत हुई थी । इसी अगम्य प्रदेश में किसी वनपुत्र की विधवा द्वारा अपने स्वर्गीय पति के तरकश में से निकाल कर दिए हुए एक तीर ने मेरे सन्देशवाहक (दूत) के लिए यहाँ की अन्यथा दुर्गम घाटियों में अभयपत्र (Passport) का काम किया था । अस्तु—इसीलिए उन टेढ़ेमेढ़े तङ्ग रास्तों को, जिनमें राणाओं ने मुगल आक्रामकों को चक्कर में डाल दिया था, पार कर बनास के उद्गम स्थान और सादड़ी दर्रे में से मैदान में निकल कर राईपुर (राणपुर?) के प्रसिद्ध जैन मन्दिर को मैं देखना चाहता था । साथ ही, मैंने ऐसे आदमियों के एक दल को, जिनकी सूचना और चतुराई पर मुझे विश्वास था, इसलिए आगे रवाना कर दिया था कि वे किसी दूसरे मार्ग का अन्वेषण करें और आबू आकर मेरे साथ हो जावें । यही सब उद्देश्य, जिन्होंने मेरे नित्य के विचारों में घर कर लिया था, अब मेरी
मैंने भा चुके थे । मुझे अच्छी तरह याद है कि सबसे पहले १८०६ ई० में
निवेदन ,आबू का 'रिक्तस्थान' बना था । उस समय मैं बनास नदी के
किया । कुछ्हाश में था । इस नदी को उस वर्ष हमने सिन्धिया की छावनी

जाते हुए कई बार पार किया था। जब मैंने इसके निकास के बारे में पूछा तो मुझे बताया गया कि 'वह बहुत दूर आबू की तरफ़ पहाड़ियों में है।' 'और आबू कहां है?' 'उदयपुर से पश्चिम में सिन्धिया की तरफ तीस कोस।' आबू बनास के साथ मेरे नक्शे पर उतर आया और इस श्रीगणेश के बाद धीरे-धीरे मैंने बनास के निकास का और आबू की चोटी का पता लगा ही लिया तथा कुछ ही घण्टों की 'नावयात्रा' के बाद सिन्धु का भी।

अपनी प्रस्तुत यात्रा के इन आरम्भिक एवं अन्तिम उद्देश्यों के अन्तर्गत मैंने कुछ अन्तरिम उद्देश्य भी स्थिर कर लिए थे, जो बहुत ही रुचिकर थे। अरावली के मार्ग और आबू की तलाश के बाद मेरा विचार पश्चिमी भारत के टायर[1] (Tyre) प्राचीन नहरवाला की अवशिष्ट खोज को पूरा करने का था; तदनन्तर, वहीं से राणावंश की परम्पराओं को निर्धारित व निश्चित करने के लिए वलभी की दिशा तलाश करने का भी था। इसके लिए मुझे खम्भात की खाड़ी होकर सौराष्ट्र प्रायद्वीप के किनारे पहुँचना था अतएव मैंने यह निश्चय किया कि यदि हो सके तो जैन धर्म के केन्द्र-स्थल एवं गढ़-समान पालीताना और गिरनार के पर्वतों की भी यात्रा करूँ और इसके पश्चात् हिन्दुओं की दुनिया के किनारे 'जगतकूंट' पहुँच कर भारत के सीरिया, द्वारका में स्थित बल (Baal) और कृष्ण के मन्दिरों का दर्शन करके अपनी यात्रा समाप्त कर दूं। वहां से जलदस्युओं के बेट द्वीप होता हुआ कच्छ की खाड़ी पार करके जाड़ेचों की राजधानी भुज की यात्रा करूँ और माण्डवी की विशाल मंडी को लौट आऊँ। फिर, सिन्धु नदी के पूर्वीय किनारे-किनारे नाव में चलकर इसके समुद्र-संगम तक हिन्दुओं के देवालयों के अन्तिम दर्शन करूं।

अन्तिम कार्यक्रम के अतिरिक्त यह सब यात्रा मैंने पूरी कर ली। सत्रह घण्टों तक अनुकूल वायु चलने की दशा में यह भी पूरा हो सकता था; परन्तु कितने ही कारणों से, जिनका वर्णन यथास्थान आगे किया जाएगा, मुझे भारत में अलक्षेन्द्र (Alexander) के आक्रमणों के अन्तिम दृश्यों को बिना देखे ही अपनी समुद्री यात्रा में बम्बई की ओर अग्रसर होना पड़ा। इस प्राक्कथन के साथ अब मैं, पाठकों से अपना डेरा उदयपुर से उठा कर मेरे साथ प्रस्थान करने की प्रार्थना करूँगा।

---

[1] फोनीशिया का प्रसिद्ध बन्दरगाह जो पन्द्रहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ और जल्दी ही मेडीटरेनियन (मध्य) संसार की प्रसिद्ध मण्डी बन गया।

(The New Standard Encyclopaedia, p. 1246)

प्रकरण २

उदयपुर से प्रस्थान; गोगुंदा के दर्रा में प्रवेश; प्रान्त की छवि; घँस्यार, कृष्ण का एकान्तवास; सेवकों की विदाई; जलवायु में सुधार; वरूनी दर्रा का मन्दिर; पहाड़ियों का भूगर्भ (शास्त्र); गोगुंदा; राजस्व; कृषि; गोगुंदा का सरदार; उदयपुर और गोगुंदा घरानों में वैवाहिक संबंध; राजपूताना में वेमेल सम्बन्धों का परिणाम; कोठारिया के राव; सेमूर; अरावली की छवि और जलवायु; वनस्पति; कृषि; पहाड़ी राजपूतों के चरित्र; गाँवों के मुखिया; उनकी परम्परागत कथाएँ; पोशाक; निवास; बनास का उद्गम; नदी का आख्यान; अरावली का पश्चिमी ढाल; दर्रा की महिमा; वनस्पति, फल-फूल।

१८२२ ई० की पहली जून को मैंने सीसोदियों की राजधानी से विदा ली। प्रभात का सुहावना समय था। सुबह के पांच बजे भी तापमापक ६६° बतला रहा था और पिछले कुछ दिनों से बँगले का औसत वातक्रम प्रातः सायं २७°६०' (वैरोमीटर) था।

घँस्यार पहुंचाने वाली घाटी के द्वार की ओर बढ़ते हुए जब हम लोग बायीं तरफ़ पहाड़ी के किनारे-किनारे चल रहे थे तो मैंने प्रत्येक परिचित स्थान की ओर दृष्टि दौड़ाई। सामने ही ठीक दाहिने हाथ की तरफ घने पेड़ पत्तों के बीच में होकर गांव के मन्दिर का शिखर झाँक रहा था। बँगले के पास ही झरने पर बना हुआ वक्राकार पुल था; इस झरने के किनारे में बहुत सुबह घूमा करता था और हज़ारों मछलियां मेरे साथ-साथ चलती रहती थीं जो मेरी खाना डालने की आदत से अच्छी तरह परिचित हो गई थीं।[1] थोड़ी ही दूर आगे वेदला के सरदार (राव) के किले की बुर्ज़ें दिखाई देती थीं जो खजूर के पेड़ों की घनी कुञ्जों से घिरी हुई थीं; इसके आगे चट्टान की वह प्रसिद्ध दरार (घाटी) थी जो देलवाड़ा होकर मैदान में निकलती थी। इस घाटी में मैंने अठारह वर्ष पहले एक युवक अधीनस्थ कर्मचारी की हैसियत से राजदूत-

[1] शायद कुछ लोगों को इस बात से आश्चर्य हो परन्तु जो हिन्दुस्तान में रह चुके हैं वे जानते हैं कि धार्मिक तालाबों में मछलियों को हाथ से खाना दिया जाता है; मैंने अन्यत्र लिखा है कि महानदी में, जिसका पाट तीन मील चौड़ा है, जरा से उबले हुए चावलों के लिए मछलियां मीलों तक साथ-साथ चलती रहती हैं। घाटी में रहने वालों का मैं गुरु रहा हूँ। मैंने यह भी लिखा है कि बरसात में पानी में हानिकारक घास डाल कर पानी को जहरीला बना दिया जाता है और ऊपर तैरती हुई मछलियों को हाथ से पकड़ लेते हैं अथवा लाठी से मार देते हैं; यह तरीका अमरीकियों (Robertson, Vol. ii, p. 113) और एबीसीनियनों (Bruce, Vol. i) में भी प्रचलित है।

वर्ग में प्रवेश किया था और वारह वर्ष बाद राजनैतिक मध्यस्थ बन कर आया था। इन सब के पीछे की ओर राता माता की ऊंची चोटी दिखाई देती है जिस पर बनी हुई अनेक बुर्जें इस घाटी को बाह्य सीमा को सुन्दरता से प्रकट कर रही हैं।

अपने बँगले से डेढ़ मील चल कर हम घाटी के उस तंग रास्ते पर पहुँचे जो गोगुंदा को जाता है। इस रास्ते ने एकदम बायीं ओर घूम खाकर हमें घाटी में बन्द कर दिया और उस भूमि पर ले जा पहुँचाया जहाँ अभी तक कोई यूरोपियन नहीं गया था। थोड़ी दूर तक हम ऐसे रास्ते से चलते रहे जो ऊँची-नीची विषमोन्नत जमीन पर था, परन्तु चढ़ाई बहुत कम थी; दोनों ओर की पहाड़ियाँ चोटी तक काँटेदार थूहरों से ढँकी हुई थीं जो यत्र-तत्र उगे हुए बड़े पेड़ों के नीचे झाड़ियाँ जैसी मालूम होती थीं।

लम्बी-लम्बी मंज़िलें चलने से आदमियों और जानवरों दोनों के ही पैर थक जाते हैं इसलिए यह ग़लत तरीका है कि एक ही बार में बहुत दूर चल कर विश्राम लिया जाय। राजधानी से केवल छ: मील दूर घँस्यार पहुँच कर हम ठहरे। घाटी के दरवाज़े से ही चढ़ाई क्रमश: ऊँची होती गई थी और अब हम उदयपुर से कुछ सौ फीट की ऊँचाई पर आ गए थे। यद्यपि घँस्यार के प्रवेशद्वार को अरावली की पूर्वीय पहाड़ियों का नाम देने को मेरा मन हुआ परन्तु मेरा विश्वास है कि इस पर्वत के ऊँचे भाग को चारों ओर से घेर कर जा मिलने वाली चट्टानों की श्रेणियों के बीच में, उदयपुर की घाटी को हमें एक उपजाऊ नख़लिस्तान ही मानना चाहिए। घँस्यार एक नगण्य-सा गाँव है परन्तु आपत्ति-काल में जब भारत के भगवान् विष्णु का मरहठों और पठानों ने सम्मान नहीं किया तब यमुना-तट पर बने हुए आदिमन्दिर से औरंगजेब द्वारा खदेड़े हुए नाथद्वारा के श्रीनाथजी ने 'समस्त राजपूतों के राजा' के यहाँ शरण ली; और तभी से श्रीनाथजी की पुन: प्रतिष्ठा के लिए उपयुक्त माने जाने के कारण इस स्थान की इतनी प्रसिद्धि हुई। वर्तमान गोस्वामीजी के पिता ही कोटा के ज़ालिमसिंह के अनुरोध करने पर महाराणा की अनुमति से श्रीनाथजी को, (पूर्व) नाथद्वारा से यहाँ लाए थे। इस स्थान के चारों ओर एक सुदृढ़ परकोटे द्वारा क़िलेबन्दी की गई है और परकोटे पर घाटी के आर-पार बुर्जें भी बनी हुई हैं। राजप्रतिनिधि (दीवान) ने सुरक्षा के लिए दो पैदल-फ़ौज की टुकड़ियाँ भी यहाँ पर नियुक्त

कर दी हैं।[1] किले की ये दीवारें इस जंगल में बहुत ही मनोहर दृश्य उपस्थित करती हैं। यहाँ पर कुछ सुन्दर वनस्पतियाँ भी हैं जिनमें से एक बहुत ही सुन्दर और आकर्षक झाड़ी मेरे देखने में आई। इस पर झड़बेरी की सी शक्ल

---

[1] पहले मथुरा के पास गिरिराज पर्वत पर श्रीनाथजी का मन्दिर था। औरङ्गजेब ने गोस्वामीजी को कुछ चमत्कार दिखाने को कहलाया। बादशाह की दुर्भावना से आशंकित होकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पौत्र गिरिधारीजी के पुत्र दामोदरजी श्रीनाथजी की मूर्ति को रथ में विराजमान कर अपने काका गोविन्दजी, बालकृष्णजी, वल्लभजी और गंगाबाई सहित आश्विन शुक्ला ५ संवत् १७२६ (ता० १० अक्टूबर, १६६९ ई०) को घड़ी भर दिन रहे निकले और आगरा पहुँचे। सोलह दिन वहाँ रह कर कार्तिक शुक्ला २ (२६ अक्टूबर, १६६९ ई०) को बूंदी के महाराजा राव अनिरुद्धसिंह के पास आए। बरसात का मौसम कोटा के कृष्ण-विलास में बिता कर पुष्कर होते हुए कृष्णगढ़ आए। वहाँ के राजा मानसिंह ने प्रकट रूप से रखने में असमर्थता प्रकट की तो वसंत और ग्रीष्म वहीं बिता कर मारवाड़ में चौपासनी में आकर वर्षा ऋतु व्यतीत की। इस प्रकार पहली वर्षा संजेतीधार के पास कृष्णपुर में, दूसरी कोटा के 'कृष्ण-निवास में और तीसरी चौपासनी में बीती।

जब राजपूताने की किसी रियासत में भी श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा न हो सकी तो गोस्वामी दामोदरजी के काका गोविन्दजी महाराणा राजसिंह प्रथम के पास गए। महाराणा ने श्रीनाथजी का पधारना स्वीकार करते हुए कहा—'मेरे एक लाख राजपूतों के सिर कट जाने के बाद ही आलमगीर मूर्ति को हाथ लगा सकेगा।' इस पर गोविन्दजी बहुत प्रसन्न हुए और कार्तिक शु० १५ संवत् १७२८ (१७ नवम्बर १६७१ ई०) को प्रस्थान कर के उदयपुर से १२ कोस उत्तर में बनास के तट पर सिहाड़ ग्राम के पास मन्दिर बनवा कर फाल्गुन कृष्णा ७ सं० १७२८ (२० फरवरी, १६७२ ई०) शनिवार को श्रीनाथजी को पाट बैठाया गया।

(वीरविनोद, ६-४५२-५३)

नाथद्वारा में आने से पूर्व श्रीनाथजी की मूर्ति का पूजन केशवदेव के नाम से होता था। नाथद्वारा का पूर्व नाम सिहाड़ था। देखिए—'Mathura, a district memoir—F. S. Growse; 1880-pp. 120-121'

'गोड़वाड़ा का परगना, जोधपुर आबाद होने से पहले मण्डोवर के राजपूतों से राणाई के खिताब सहित हासिल किया गया था। वह परगना राणा अरिसिंह ने राजा विजयसिंह (मारवाड़) को इस मतलब से दिया था कि कुम्भलमेर के झूंठे दावेदार इस पर कब्ज़ा न करें और इस जागीर की एवज़ ३००० पैदल फौज़ राणा की नौकरी में रहेगी।'

यह मारवाड़ी फौज़ नाथद्वारा में लालबाग़ के क़रीब रहती थी; वह जगह अब तक फौज़ के नाम से प्रसिद्ध है।

(वीरविनोद, पृ० १५७३-१५७५; टॉडकृत राजस्थान, जि० १, प्रक० १६, पृ० ४६)

और परिमाण के बहुत से लाल लाल फल लगे हुए हैं। इसको आकोलिया कहते हैं।

मुझे ऐसे दृश्यों के निरीक्षण के लिए बहुत ही कम समय मिल रहा था क्योंकि इस यात्रा में मुझे विदा करने के लिए आए हुए मुसाहब, कुछ सरदार और बहुत से दूसरे लोग भी साथ-साथ चल रहे थे। मेरे घुड़सवार और सामान वाले सुबह-सुबह इधर-उधर छितराते रहे और यह तो साफ ही था कि खण्डित मूर्तियों और शिलालेखों से लदे हुए ऊँटों को भी इस टूटे-फूटे रास्ते से चलने में कोई आनन्द नहीं आ रहा था। यद्यपि धूप बहुत तेज़ थी जब कि हमने अपनी इस नवीन परिस्थिति का आनन्द लेते हुए एक घेरघुमेर इमली के पेड़ की छाया में छोटी हाज़री[1] की मेज सजाई परन्तु हुसैन[2] (Hyson) के प्रेमी मेरी उस समय की घबड़ाहट का अनुमान लगावें जब मैंने अपने समस्त रोगों की एकमात्र औषधि, क्वाथ का पहला घूंट लिया तो मुझे वह सब एक अत्यन्त तीव्रगंध से युक्त मालूम पड़ा। बात यह हुई कि सामान बाँधते समय जल्दी-जल्दी में मेरे नौकर ने तारपीन के तेल की एक बोतल चाय के भण्डार के पास ही जमा दी और डाट निकल जाने के कारण यह बहुमूल्य द्रव, जिसकी एक बोतल की कीमत मुझे दो मोहरें देनी पड़ी थीं, इस और भी अधिक मूल्यवान् जड़ी में मिल गया।

वह परिश्रम का दिन था; और उस दिन दुःख एवं आनन्द का ऐसा सम्मिश्रण हो गया था कि यह कहना कठिन है कि किसका पलड़ा भारी रहा। पुराने और विश्वासपात्र निजी सेवकों को इनाम इकराम देकर विदा करना एक साथ ही दुःखपूर्ण एवं आनन्दप्रद कार्य था। इनमें से बहुतों ने तो जब मैंने अधीनस्थ अधिकारी के रूप में काम आरम्भ किया था तब से मेरे अवकाश प्राप्त करने के समय तक सेवा की थी और इसी में उनके बाल पक गए थे। जो लोग काले आदमियों में कृतज्ञता एवं स्वामि-भक्ति की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं उनके लिए यह मुंहतोड़ उत्तर है कि मुझे एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला जो दीर्घ-काल तक भारत में सेवाएँ करके स्वदेश लौटा हो और जिसने अन्य महान् गुणों के साथ साथ अधीनता, ईमानदारी, गम्भीरता, स्वामि-भक्ति तथा आदर-भावना के विषय में तुलना करते हुए एशियावासियों को उत्कृष्ट न बताया हो।

---

[1] प्रातराश, नाश्ता।

[2] पैग़म्बर मुहम्मद साहब की पुत्री फ़ातिमा और अबु तालिब के पुत्र इमाम अली का लड़का इमाम हुसैन जब सब साथियों के मारे जाने पर अकेला अपने डेरे के बाहर बैठ कर घायल, थका मांदा पानी पीने लगा तो पहली घूंट लेते ही शत्रु का तीर आकर उसके मुंह पर लगा।—गिबन कृत रोम साम्राज्य का पतन, १९५७, भा० ५, पृ० २८७।

२री जून; गोगुंदा के पास—ऐसे भू-भाग में होकर एक छोटी-सी मंज़िल जहाँ कदम-कदम पर आकर्षक दृश्यावलियों एवं ऐश्वर्य के दर्शन हुए। सूर्यास्त के समय २७° २५' चिह्न बता रहा था कि हम ऊँचे चढ़ रहे थे और तापमापक यन्त्र ८२° अर्थात् अपने स्थान से १३ अंश नीचे सूचित कर रहा था कि हम घाटी में बारह मील के विराव में स्वस्थ जलवायु में आ पहुँचे थे। कल पछाँह से वर्षा हुई थी और आज हवा ने रुख दक्षिण-पश्चिम की ओर पलट लिया था। इस ऋतु में इन हवाओं की गति प्रायः इन्हीं दिशाओं के बीच में रहती है। लगभग आधे रास्ते चल कर ज्यों ही हम बरूनी के दर्रा [घाटी] में घुसे वहाँ का एक मात्र छोटा-सा मन्दिर दिखाई पड़ा जो इस बात का सूचक था कि इन जङ्गलों में भी, जिनको मानो प्रकृति ने अपनी किसी सनक के क्षण में बहुत कुछ बदल दिया है, कभी मनुष्य रहते थे क्योंकि यहां की विषम ढालों पर घनी वनस्पति, गुच्छेदार खजूर और ताल के वृक्ष अपना सिर ऊँचा किए खड़े हैं और इस बात का प्रमाण दे रहे हैं कि इस पर्वतीय प्रदेश में पानी की कमी नहीं थी। जहां-जहां से ये पहाड़ अनावृत रह गये हैं वहाँ वहाँ से इनका इमारती पत्थरों का बना शरीर स्पष्ट दिखाई देता है। घाटी के तल में विभिन्न आकार और रंग के गहरे नीले और ठोस भारी पत्थर से लेकर गहरे भूरे रंग की पतली पट्टियों का सलेटी पत्थर तक दिखाई देता है। गोगुंदा के आस पास यही (समुद्री हरा) सलेटी रंग खास तौर से पाया जाता है क्योंकि यहां के मकानों की छतें इसी पत्थर से पटी हुई हैं, जो सभी एक समान दिखाई देती हैं। यहां के बड़े मन्दिर में भी पूरी तरह इसी पत्थर की पट्टियों का उपयोग हुआ है; इसी पर्वत की ऊँची चोटियाँ, जो हमारे रास्ते से सैंकड़ों फीट ऊपर थीं, गुलाबी इमारती पत्थर की हैं और वे सूरज की रोशनी में काच के समान चमक रही थीं।

मेवाड़ की सोलह[1] बड़ी जागीरों में से होने के कारण गोगुंदा इस प्रदेश का एक मुख्य कस्बा है। नाम मात्र के लिए यह जागीर ५०,०००) पचास हज़ार

---

[1] महाराणा अमरसिंह द्वितीय (१६९८-१७१० ई०) ने मेवाड़ के प्रथम श्रेणी के सरदारों की संख्या १६ नियत की थी, वे 'सोला' उमराव कहलाते हैं। उन ठिकानों के नाम ये हैं—सादड़ी, गोगुंदा, देलवाड़ा, कोठारिया, बेदला, पारसोली, सलूंबर, देवगढ़, बेगूं, आमेट, भींडर, बानसी, घाणेराव, बदनोर, कानोड़ और बीजोल्यां।

(उदयपुर राज्य का इतिहास—गौ० ही० ओझा, पृ० ८७०-९९१)

इन सोलह ठिकानों के नामों एवं इनके सरदारों के वंशों के विषय में निम्न पद्य

रुपये वार्षिक राजस्व की कही जाती है परन्तु जैसा कि इस प्रदेश की कहावत है 'रुपये के पूरे सोलह आने करने में' अथवा दूसरे शब्दों में, बुद्धि और पूंजी का पूरा उपयोग करने में, यहाँ के रईस वहुत कमज़ोर हैं इसलिए पिछले कई वर्षों से गोगुंदा का जागीरदार उपर्युक्त रकम का दशमांश से अधिक वसूल नहीं कर पाया है। इस पहाड़ी भू-भाग में खेतीवाड़ी का चालू तरीका यह है कि तालाव या वन्धे वांध लेते हैं और ज़मीन को चौरस कर लेते हैं; परन्तु कितनी ही शताव्दियों तक तो यह हिस्सा युद्धस्थल बना रहा और मरहठों के अधिकार में भी रहा। गोगुंदा का सरदार झाला राजपूत है; यह जाति सौर प्रायद्वीप में विशेप पाई जाती है। इन गए-वीते दिनों में भी, यहाँ के वर्तमान जागीरदार[1] को मेवाड़ के बड़े सरदारों के अनुरूप मानना ठीक न होगा क्योंकि निस्सन्देह वह एक निकृष्टतम हीन कोटि का प्राणी है–ठिगना, काला और भद्दा, शरीर और वुद्धि दोनों में कमज़ोर; उसे तो हम एक ऐसा 'वनमानुष' कह सकते हैं जिसे [परमात्मा की ओर से] वोलने की शक्ति भी प्रदान कर दी गई हो–क्योंकि उसका रंग-रूप मेरे देखने में आई हुई अन्य जातियों की अपेक्षा उसी लम्बी भुजाओं वाली जाति से अधिक मेल खाता है। धातुविष (शराब) के अति-प्रयोग से उसके दाँत जाते रहे हैं परन्तु जो कुछ बचे हुए हैं वे काले हैं और

प्रसिद्ध हैं :—

त्रिहुँ झाला त्रिहुँ पूरव्या, चौंडावत भड़ च्यार।
दुय सगता, दुय राठवड़, सारंगदेव पँवार॥ १

सरणायत्तां सादड़ी, गोघूंदो घर गल्ल।
दुरग देलवाड़ो दुरस, झाला खत्रवट झल्ल॥ २

कोठारचो अर वेदलो, पालसोळ भुज पाण।
माँझीधर मेवाड़ में, चितवंका चहुँवाण॥ ३

दिपै सलूंवर देवगढ़, वेघूं थान विचार।
अधपतियाँ आमेट ए, चौंडा सरणा च्यार॥ ४

इक भींडर दुय वानसी, महि व्रिच सगतां मोड़।
घाणेरो बदनोर घर, राणधरा राठौड़॥ ५

कानोडह अपणां करां, सरणों सारंगद्योत।
ज्यों पँवार बीझोलियाँ, वेहू सरणां जोत॥ ६

(मलसीसर ठा० भूरसिंह कृत महाराणायशप्रकाश; पृ० २०८)

[1] मानसिंह

सोने के तार से बँधे हुए हैं; ये उसके भद्देपन की कमी को और भी पूरा कर देते हैं।

इस वनपुत्र भील की बेमेल आकृति को ऐसी जहरभरी अपशब्दयुक्त बोली मिली है जो अरावली की गुफाओं (दरारों) में पार हो जाती है। परन्तु, यहाँ हम चन्द की इस उक्ति को स्वीकार नहीं करते कि 'कौए का पुत्र कौआ ही होता है'[1] क्योंकि गोगुंदा का कुँअर रंग रूप में अपने पिता से बिलकुल भिन्न है; फिर, पिता भी 'कौए का पुत्र' नहीं है, उसके व्यक्तिगत भद्देपन को तो 'कुदरत की मरज़ी' ही कहा जा सकता है। मैं उन बातों का वर्णन अन्यत्र[2] कर चुका हूँ जिनके कारण भगवान् राम की गौरवान्वित सन्तान, मेवाड़ के राणाओं को, भारत के मुसलमान बादशाहों से वैवाहिक सम्बन्ध कर के हिन्दू-रक्त को कलङ्कित करने वाले, दूसरे राजपूत राजाओं के साथ बेटी-व्यवहार बन्द करने के लिए विवश होना पड़ा था। अब, नियमानुसार वे अपने सगोत्र राजपूत सरदारों में तो विवाह कर नहीं सकते थे इसलिए उन्होंने कुछ अन्य-गोत्रीय चौहान, राठौड़ और झाला जाति के राजपूतों को बेटी-व्यवहार के लिए निश्चित किया कि जिनके द्वारा उनके मूल-पुरुष बापा रावल की शाखा चलती रहे। वे राजपूत भी राणाओं के घराने से विवाह-सम्बन्ध होने के कारण उस गौरव को प्राप्त कर सके, जो केवल धन के बल पर उन्हें नहीं मिल सकता था और फलतः वे भारत के दूसरे छोटे स्वतन्त्र राजाओं की समानता का दम भरने योग्य हो गए। वर्तमान महाराणा की माता गोगुंदा के ठिकाने की लड़की थी जो एक निर्भय और मर्दानी बुद्धि वाली वीर स्त्री थी। यदि उसके पुत्र को देख कर अनुमान लगाया जाय तो, कह सकते हैं कि उसका व्यक्तित्व भी शानदार होगा क्योंकि राजपूताना में राणा का वंश सुन्दरता में सब से बढ़कर माना जाता है। वर्तमान राजकुमार, अब राणा जवानसिंह, पर तो जैसे प्रकृति ने शारीरिक राज-लक्षणों की छाप ही लगा दी है। इसी राणी की भतीजी मेवाड़ के प्रमुख सरदार सलूम्बर के ठाकुर की माता है जिसका राजघराने से दोहरा सम्बन्ध है। इनसे उत्पन्न होने वाली लड़कियों की शादी बेदला के चौहान सरदारों अथवा घाणेराव के राठौड़ों के यहाँ हो सकती है। ये दोनों ही ठिकाने मेवाड़ के सोलह प्रमुख ठिकानों में हैं। फिर, इन ठिकानों की लड़कियाँ

---

[1] फिरदौसी ने भी महमूद पर व्यङ्ग्य करते हुए कहा है कि 'कौए के अंडे से कौए के अतिरिक्त और कुछ पैदा नहीं हो सकता।'

[2] राजस्थान का इतिहास, जिल्द १, पृ० ३३५

महाराणा को भी व्याही जा सकती हैं। इस प्रकार इस जाति के महान् मूल-पुरुष का रक्त, दिल्ली, कन्नौज और अणहिलवाड़ा के चौहान, राठौड़ और चावड़ा राजपूत शासकों के किंचित् अवर रक्त में सम्मिलित होकर अप्रत्यक्ष स्रोतों द्वारा मूल प्रवाह में पुनः मिलता रहता है। इस तरह के बेमेल सम्बन्धों और बहु-विवाह के कारण उत्पन्न हुए भयङ्कर परिणाम और बुराइयाँ निम्नलिखित छोटी कहानी के उदाहरण से तुरन्त ही समझ में आ जाती हैं। राजघराने से अनमेल सम्बन्ध के बारे में 'राजस्थान के इतिहास' में सादड़ी के सरदार का महाराणा की पुत्री के साथ सगाई-विषयक उदाहरण दे चुका हूँ और बहुधा अधिकारलिप्सा के कारण बहुविवाह-जनित बुराइयों, झगड़ों आदि के उदाहरणों से तो सारा इतिहास ही भरा पड़ा है। और, जैसा कि निम्नलिखित कहानी से विदित होगा, उस स्थिति में तो परिणाम और भी शोचनीय हो जाता है जब कि शास्त्रविधि से पति स्वीकार करने के उपरान्त महाराणा को पुत्रियों के विषय में अनुग्रह करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता।

दिल्ली के अन्तिम सम्राट् के वंशज कोठारिया के चौहान राव ने, जो मेवाड़ के सोलह प्रमुख सरदारों में था, दो विवाह किए थे। एक भींडर के शक्तावत घराने की लड़की थी और दूसरी राजपरिवार के एक राणावत सरदार की पुत्रियों में से थी, जिनको सम्मान के लिए 'बावा' कहते हैं। परन्तु, प्रेम जन्म और घराने को नहीं देखता। फिर, भींडर ठाकुर की लड़की में राजपूत गृहिणी में होने वाले अन्य गुणों के साथ-साथ आज्ञाकारिता का ऐसा गुण भी वर्तमान था कि जिसके कारण वह उच्चतर घराने की लड़की की अपेक्षा पति की अधिक प्रीतिपात्र बन गई। दोनों ही ठकुरानियों के सन्तान उत्पन्न हुई; परन्तु, प्रथम पैदा होने के कारण कोठारिया की गद्दी का अधिकारी भली शक्तावतनी का पुत्र था जिसे सभी आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। दुर्भाग्यवश, वह प्यारा बच्चा बीमार होकर मर गया और उसकी शोकग्रस्त माता ने इस घटना को, अपने पुत्र के लिए उत्तराधिकारप्राप्ति के निमित्त, अपनी सौत की करतूत मानने में जरा भी सन्देह नहीं किया। उसने स्पष्ट शब्दों में अपनी सौत पर दोष लगाया कि उसी ने डाकिनी को लालच देकर उसके पुत्र का कलेजा खिला दिया। जहाँ ऐसे अन्धविश्वासों का पूरा बोलबाला रहता है वहाँ यह स्वाभाविक ही है कि प्रेमी पति अपनी प्रियतमा के सन्देह को मान्यता दे। फल यह हुआ कि वह उसकी प्रतिस्पर्द्धिनी से और भी खिंच गया। उच्चकुल की ठकुरानी को यह सहन नहीं हुआ और उसने गार्हस्थ्य-अधिकारों की पुनः प्राप्ति के लिए अपने पिता के द्वारा, दोनों ही ठिकानों के सार्वभौम अधिकारी, महाराणा के

सोने के तार से बँधे हुए हैं; ये उसके भद्देपन की कमी को और भी पूरा कर देते हैं।

इस वनपुत्र भील की बेमेल आकृति को ऐसी ज़हरभरी अपशब्दयुक्त बोली मिली है जो अरावली की गुफाओं (दरारों) में पार हो जाती है। परन्तु, यहाँ हम चन्द की इस उक्ति को स्वीकार नहीं करते कि 'कौए का पुत्र कौआ ही होता है'[1] क्योंकि गोगुंदा का कुँअर रंग रूप में अपने पिता से बिलकुल भिन्न है; फिर, पिता भी 'कौए का पुत्र' नहीं है, उसके व्यक्तिगत भद्देपन को तो 'कुदरत की मरज़ी' ही कहा जा सकता है। मैं उन बातों का वर्णन अन्यत्र[2] कर चुका हूँ जिनके कारण भगवान् राम की गौरवान्वित सन्तान, मेवाड़ के राणाओं को, भारत के मुसलमान बादशाहों से वैवाहिक सम्बन्ध कर के हिन्दू-रक्त को कलङ्कित करने वाले, दूसरे राजपूत राजाओं के साथ बेटी-व्यवहार बन्द करने के लिए विवश होना पड़ा था। अब, नियमानुसार वे अपने सगोत्र राजपूत सरदारों में तो विवाह कर नहीं सकते थे इसलिए उन्होंने कुछ अन्य-गोत्रीय चौहान, राठौड़ और झाला जाति के राजपूतों को बेटी-व्यवहार के लिए निश्चित किया कि जिनके द्वारा उनके मूल-पुरुष बापा रावल की शाखा चलती रहे। वे राजपूत भी राणाओं के घराने से विवाह-सम्बन्ध होने के कारण उस गौरव को प्राप्त कर सके, जो केवल धन के बल पर उन्हें नहीं मिल सकता था और फलतः वे भारत के दूसरे छोटे स्वतन्त्र राजाओं की समानता का दम भरने योग्य हो गए। वर्तमान महाराणा की माता गोगुंदा के ठिकाने की लड़की थी जो एक निर्भय और मर्दानी बुद्धि वाली वीर स्त्री थी। यदि उसके पुत्र को देख कर अनुमान लगाया जाय तो, कह सकते हैं कि उसका व्यक्तित्व भी शानदार होगा क्योंकि राजपूताना में राणा का वंश सुन्दरता में सब से बढ़कर माना जाता है। वर्तमान राजकुमार, अब राणा जवानसिंह, पर तो जैसे प्रकृति ने शारीरिक राज-लक्षणों की छाप ही लगा दी है। इसी राणी की भतीजी मेवाड़ के प्रमुख सरदार सलूम्बर के ठाकुर की माता है जिसका राजघराने से दोहरा सम्बन्ध है। इनसे उत्पन्न होने वाली लड़कियों की शादी बेदला के चौहान सरदारों अथवा घाणेराव के राठौड़ों के यहाँ हो सकती है। ये दोनों ही ठिकाने मेवाड़ के सोलह प्रमुख ठिकानों में हैं। फिर, इन ठिकानों की लड़कियाँ

---

[1] फिरदौसी ने भी महमूद पर व्यङ्ग्य करते हुए कहा है कि 'कौए के अंडे से कौए के अतिरिक्त और कुछ पैदा नहीं हो सकता।'

[2] राजस्थान का इतिहास, जिल्द १, पृ० ३३५

महाराणा को भी व्याही जा सकती हैं। इस प्रकार इस जाति के महान् मूल-पुरुष का रक्त, दिल्ली, कन्नौज और अणहिलवाड़ा के चौहान, राठौड़ और चावड़ा राजपूत शासकों के किंचित् अवर रक्त में सम्मिलित होकर अप्रत्यक्ष स्रोतों द्वारा मूल प्रवाह में पुनः मिलता रहता है। इस तरह के बेमेल सम्बन्धों और बहु-विवाह के कारण उत्पन्न हुए भयङ्कर परिणाम और बुराइयाँ निम्नलिखित छोटी कहानी के उदाहरण से तुरन्त ही समझ में आ जाती हैं। राजघराने से अनमेल सम्बन्ध के बारे में 'राजस्थान के इतिहास' में सादड़ी के सरदार का महाराणा की पुत्री के साथ सगाई-विषयक उदाहरण दे चुका हूँ और बहुधा अधिकारलिप्सा के कारण बहुविवाह-जनित बुराइयों, झगड़ों आदि के उदाहरणों से तो सारा इतिहास ही भरा पड़ा है। और, जैसा कि निम्नलिखित कहानी से विदित होगा, उस स्थिति में तो परिणाम और भी शोचनीय हो जाता है जब कि शास्त्रविधि से पति स्वीकार करने के उपरान्त महाराणा को पुत्रियों के विषय में अनुग्रह करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता।

दिल्ली के अन्तिम सम्राट् के वंशज कोठारिया के चौहान राव ने, जो मेवाड़ के सोलह प्रमुख सरदारों में था, दो विवाह किए थे। एक भींडर के शक्तावत घराने की लड़की थी और दूसरी राजपरिवार के एक राणावत सरदार की पुत्रियों में से थी, जिनको सम्मान के लिए 'बाबा' कहते हैं। परन्तु, प्रेम जन्म और घराने को नहीं देखता। फिर, भींडर ठाकुर की लड़की में राजपूत गृहिणी में होने वाले अन्य गुणों के साथ-साथ आज्ञाकारिता का ऐसा गुण भी वर्तमान था कि जिसके कारण वह उच्चतर घराने की लड़की की अपेक्षा पति की अधिक प्रीतिपात्र बन गई। दोनों ही ठकुरानियों के सन्तान उत्पन्न हुई; परन्तु, प्रथम पैदा होने के कारण कोठारिया की गद्दी का अधिकारी भली शक्तावतनी का पुत्र था जिसे सभी आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। दुर्भाग्यवश, वह प्यारा बच्चा बीमार होकर मर गया और उसकी शोकग्रस्त माता ने इस घटना को, अपने पुत्र के लिए उत्तराधिकारप्राप्ति के निमित्त, अपनी सौत की करतूत मानने में जरा भी सन्देह नहीं किया। उसने स्पष्ट शब्दों में अपनी सौत पर दोष लगाया कि उसी ने डाकिनी को लालच देकर उसके पुत्र का कलेजा खिला दिया। जहाँ ऐसे अन्धविश्वासों का पूरा बोलबाला रहता है वहाँ यह स्वाभाविक ही है कि प्रेमी पति अपनी प्रियतमा के सन्देह को मान्यता दे। फल यह हुआ कि वह उसकी प्रतिस्पर्द्धिनी से और भी खिंच गया। उच्चकुल की ठकुरानी को यह सहन नहीं हुआ और उसने गार्हस्थ्य-अधिकारों की पुनः प्राप्ति के लिए अपने पिता के द्वारा, दोनों ही ठिकानों के सार्वभौम अधिकारी, महाराणा के

पास ऐसा अतिरंजित आरोप लगा कर शिकायत करवाई कि जिससे एक राजपूत द्वारा दूसरे के अपमान का भरपूर बदला लिया जा सके। महाराणा के दरबार में कोठारिया के राव (यही उसकी पदवी थी) के पहले से ही बहुत से शत्रु थे जिनमें अनेक उसी के भाई-बन्धु थे क्योंकि, जैसा उसने स्वयं कहा था, राजपूतों में चौहान की जाति सब से खराब है। इसमें कोई भी अपने भाई की बढ़ती से ईर्ष्या किए बिना नहीं रहता। महाराणा को ऐसा विश्वास कराया गया कि वह अभागा पिता, जिसका एक पुत्र मर चुका था, अपनी चहेती स्त्री के बहकावे में आ कर बदला लेने के लिए दुहागिन स्त्री से उत्पन्न हुए अपने दूसरे पुत्र को भी मरवा देने की सोच रहा है।

कोठारिया के किले पर पुनः अधिकार करने के लिए छोड़ दिया।[१]

कोठारिया-राव के पूर्वजों के अधिकार में पहले आगरा के पास चँडावर की जागीर थी जो सिकन्दर लोदी ने उनसे छीन ली थी क्योंकि उसने सरदार (चौहान) से कन्या माँगी थी और उसने इन्कार कर दिया था। तत्कालीन राव मानिकचन्द अपने परिवारसहित गुजरात चला गया और वहाँ मुज़फ्फरशाह ने उसका अच्छा स्वागत किया तथा काठी सीमा पर सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। काठियों के साथ एक झगड़े में वह बुरी तरह घायल हुआ और स्वयं सुलतान उसको रणक्षेत्र से ले गया। डूंगरशी रावल की सहायता करते हुए उसका पुत्र दलपत पराजित हुआ और मारा गया इसलिए उसके बाद उसका (दलपत का) पुत्र संग्रामसिंह राव हुआ जो गुजरात के बहादुरशाह की चित्तौड़ पर चढ़ाई में साथ था जब कि हुमायूं राणा की सहायता करने आया था। उसी समय चौहान से २००० घोड़ों, १५०० पैदल व ३५ हाथियों के साथ मेवाड़ में रहने के लिए राणा (उदयसिंह) ने आग्रह किया था। इस सम्बन्ध में शर्तें ये थीं कि चौहान केवल राणा ही के साथ युद्ध में जाएगा, कभी अपने से नीचे दर्जे के सरदार के अधीन रह कर कार्य नहीं करेगा, सप्ताह में केवल एक बार हाज़िरी देगा और उसका पद सीसोदिया वंश के सबसे बड़े सरदार के समकक्ष होगा।

जब मैं राणा के दरबार में गया था उन्हीं दिनों में उन्होंने राव के गुज़ारे मात्र के लिए बचे हुए कोठारिया के दोनों गाँवों पर भी ज़ब्ती भेज दी थी। जागीर का शेष भाग तो पहले ही सामान्य शत्रुओं (दक्षिणियों) के आक्रमणों से नष्ट हो चुका था। राणा ने वे दोनों गाँव राव के जीवित पुत्र के नाम कर दिए थे क्योंकि 'बाबा' की सन्तति होने के कारण वह उनका भानजा था और पिता के तथाकथित दुर्व्यवहार के कारण अब उन्हीं (राणा) के संरक्षण में था। परन्तु राणा ने अपने सरदारों की मन्त्रणा से दक्षिणियों और सामन्तों के सभी मामलों में मुझे सर्वाधिकारसम्पन्न निर्णायक नियुक्त कर दिया था, इसलिए कोठारिया का मामला भी निर्णय के लिए मेरे पास आया। जिसने 'उत्तर के सुलतान' के विरुद्ध सैन्य-संचालन किया था और मुसलमान इतिहासकारों ने भी जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है ऐसे दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् के काका और सेनापति

---

[१] महाराणा भीमसिंह के समय में फतहसिंह का पुत्र विजयसिंह ऊनवास गांव से कोठारिया जाते समय होल्कर की सेना से घिर गया और मरहठों के माँगने पर अस्त्र शस्त्र व घोड़े नहीं दिए—वरन् घोड़ों को मार डाला और साथियों सहित स्वयं लड़ता हुआ मारा गया।—ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० २, पृ० ८७९

कान्हराय के सीधे वंशज[1] (कोठारिया-राव) के साथ मेरी सहानुभूति थी। कान्हराय (जिसको फरिश्ता ने कण्डीराय लिखा है) ने ही अपने वख्तरबंद साथियों के साथ शहाबुद्दीन के सामने घोड़ा बढ़ाया था और यदि शाह का कवच इतना सुदृढ़ नहीं होता तो वह उस सरदार के भाले से अपने शरीर पर एक अमिट छाप लिए बिना दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने का अभिमान कभी न कर पाता। 'क्या कान्हराय का वंशज महाराणा के कान भरने वाले चुगलखोरों की दया पर निर्भर रहे? मेरा दारिद्र्य ही मेरा शत्रु है, क्योंकि अन्याय की चोटों से बचने के लिए मेरे पास इतना धन नहीं है कि मैं हुजूर के आसपास रहने वालों को रिश्वत देकर उनका मुँह बंद कर सकूँ।' यह जोरदार अपील, राव का व्यक्तिगत नम्र आचरण और सब से बढ़ कर उसके सामने का न्याय—ये सब बातें ऐसी थीं कि जिनका विरोध नहीं किया जा सकता था। मैंने राव को निश्चित रहने को कहा और महाराणा के पास उसकी वकालत करने का भी आश्वासन दिया।

उस दिन मैं 'हिन्दू (कुल) सूर्य' के सामने उपस्थित हुआ। मुझे उनकी भावनाएं पक्षपातपूर्ण जान पड़ीं। परन्तु मैंने राणा को चौहान की उस समय की सेवाओं का स्मरण दिलाया जब कि उन दिनों पूर्ण कृपापात्र बने हुए लोग मुँह दिखाने तक की हिम्मत नहीं करते थे। फिर, मैंने उनको राव पर वैसी ही कृपा और बड़प्पन बरतने की भी प्रार्थना की जैसी कि परमात्मा की ओर से उन्हें प्राप्त थी। राणा के चरित्र में हठ जैसी कोई बात नहीं थी; उन्होंने मेरे मुवक्किल (राव) के विषय में जो भी अच्छाई बताई गई उसे तुरंत स्वीकार किया। हमारा उस दिन का सम्मेलन राणा की ओर से यह आश्वासन देने पर समाप्त हुआ कि राव भाणाजी[2] के प्रति असद्व्यवहार छोड़ दे और उसे दरबार में उपस्थित करे, इसके बदले में वे (राणा) उसके हित की प्रत्येक बात पर पूरा

ध्यान देंगे। मैंने राव को तुरंत कह दिया कि राणा की आज्ञा का पालन करना उसका कर्तव्य एवं कृपापात्र बनने का एक मात्र साधन था। इसमें संदेह नहीं कि यह झगड़ा बहुत कठिन था और स्पष्ट था कि राव अपनी मृतवत्सा प्रिय पत्नी के संदेहों में साझीदार था। यद्यपि उसने मेरे कहने के अनुसार कार्य करना धन्यवादपूर्वक स्वीकार कर लिया था परंतु इसमें विलम्ब और बहानों का अंत नहीं था। एक बार बच्चे को माता निकाल रही थी तो दूसरी बार उसने कहा कि गरीबी के कारण वह अपनी स्त्री और बच्चे को राजधानी में नहीं ला सका क्योंकि वहाँ सगे-सम्बन्धियों से मिलने पर गोठ और भेंट देनी पड़ती है और उसके पास न नक़दी थी न उधार मिलता था। यद्यपि उसका कहना ठीक ही था परंतु महाराणा की इच्छा के सामने उसकी दलीलों में कोई मानने योग्य बात नहीं थी और उनकी आज्ञा का पालन करने में ही उसका भला था। मेरी दलील के निरे तथ्य को मानते हुए उसने कर्तव्य-पालन की बात तो स्वीकार कर ली परंतु राणा द्वारा उसके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार उसे मान्य नहीं था। उसने कहा, 'यदि मैं इस बात पर दब जाऊँ तो मुझे अपने ही घर में गुलाम बन कर रहना पड़ेगा। मेरे निजी शत्रु तो मुझ से पीछा छुड़ाना चाहते हैं और उनकी इच्छा है कि मैं अपने पुत्र के रास्ते से हट जाऊँ तथा खानगी लेकर नाथद्वारे में जा पड़ूं।' मैंने उसे विश्वास दिलाया कि यदि वह अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करेगा तो ऐसा कभी नहीं होगा। अंत में सभी बातें तय हो गईं और कुछ ही दिनों बाद मुझे यह देख कर संतोष हुआ कि राव को कोठारिया का नया पट्टा मिल गया जिसमें ज़ब्त किए हुए दोनों कस्बे भी शामिल थे। वह लड़का भी मुझ से मिला; उस समय तक आलस्य और अफ़ीम का उस पर कोई असर नहीं हुआ था और वह मेवाड़ी राजपूत का एक अच्छा खासा नमूना था। यदि इन दुर्गुणों से बच जाय तो मुझे आशा है कि कान्हराय का यह वंशज कभी अपने वंश को अवश्य ऊँचा करेगा।

अब इन प्रसंगों से विदा। गोगुंदा के झाला और कोठारिया के चौहान की हम काफी चर्चा कर चुके हैं। परमात्मा करे, उनकी सन्तानें उन अनेक महान् कार्यों के योग्य (सिद्ध) हों जिनसे कि सभी अच्छे और बड़े देशों द्वारा उनकी प्रशंसा की पात्रता पुष्ट होती है।

३ री जून; सैमूर—यद्यपि हमारे चारों ओर ऊँची-ऊँची चोटियाँ खड़ी हैं परंतु यह अरावली के बोये-जोते भाग का सब से ऊँचा स्थान है। दिन के दो बजे बैरॉमीटर २७°३८' और थर्मामीटर ८२° बतला रहे थे। सूर्यास्त के समय

वैरॉमीटर २७°३२' और थर्मामीटर ७६° पर थे—यह अयनवर्ती भारत के अत्युष्ण दिनों में इङ्गलैण्ड के साधारण गरमी के दिनों जैसा था। राजधानी की घाटी की अपेक्षा कैसा अच्छा मौसम था! वहाँ तो, मेरे रवाना होने के दिनों, सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों ही समय यह थर्मामीटर ९५° पर ही टिका रहता था। इस खुशी के कारण, बिना सोचे समझे ही मैंने अपनी (खश की) टट्टियाँ फिकवा दीं। आगे चल कर मुझे अपने इस कार्य के लिए बहुत पछताना पड़ा।

उस दिन शाम को दक्षिण-पश्चिम से आने व ली हवा से कुछ बूँदाबाँदी हुई। इस पहाड़ी प्रदेश की यात्रा करने में मेरी रुचि पद-पद पर बढ़ती जा रही थी; प्रकृति की प्रत्येक वस्तु, हलचल, जानवर और वनस्पति में नवीनता थी। हमने सुन रखा था कि इन जंगलों में बादाम और आड़ू के पेड़ बहुत हैं और इतनी घनी तादाद में कि इस फल का गूदा, जिसको यहाँ के लोग आड़ू-बादाम कहते हैं, निर्यात की वस्तु गिनी जाती है। हमने इनको कुम्भलमेर की घाटी और देलवाड़ा के दर्रे में देखा था। हमने सोचा था कि आड़ू बोया जाता है परंतु यह स्थान बहुत लम्बे समय तक मरहठा सरदारों का निवासस्थान रहा था अतः हमारा यह संदेह तब तक बना रहा जब तक कि हमने एक कुए के अग्रभाग के पत्थर की दरारों में स्वतः उगे हुए कुछ पेड़ देख न लिए। आज की मंज़िल में भी हमने ऐसी ही कुछ दरारें देखीं। आश्चर्य प्रकट करने पर मुझे बताया गया कि कुम्भलमेर की घाटी में ऐसी बहुत-सी दरारें हैं जिनमें कई विचित्र और उपयोगी स्वदेशी पौधे उगे हुए हैं। खट्टे सेब के अलावा सालू या सालू मिश्री होती है जो या तो हमारे औषधि-कोष में जिसको आरारोट कहा गया है, वह है अथवा ऐसा ही कोई अन्य पौधा है जो वैसा ही माँडी जैसा द्रव्य उत्पन्न करता है। मुझे समझाया गया कि यह कोई जड़ नहीं है वरन् एक बेल होती है जिसमें हाथों की अंगुलियों के समान उभरे हुए गुच्छे निकलते हैं। अस्तु, वे इसको उपयोग के लिए तैयार न कर सके या उन्होंने करना नहीं चाहा, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है। शायद वे इसे सेम की फलियों के समान बताते थे, यदि ऐसा है तो यह वही चीज है जिसको डायोडोरस सीक्यूलस[1] ने कैलॅमस बताया है और जो

---

[1] ग्रीक इतिहासकार, जिसने ई० पू० ६०-५७ में मिस्र में भ्रमण किया था और ४० भागों में Diodorus of Sicily नामक इतिहास लिखा था। उसने लिखा है 'यहाँ पर जि॰ (Calamus) बहुत अधिक मात्रा में पैदा किया जाता है जिसके फल शक्ल में सफेद की सहूँला जैसे होते हैं। इनको इकट्ठे करके गरम पानी में रख देते हैं और जब ये फूल सम्बन्धी कबूतर के अण्डे के बराबर हो जाते हैं तो हाथों से गूंद कर इसकी स्वादिष्ट रोटियाँ हैं। (Diad. Sis. Book II., C. 4)

—नक का C. H. Oldfather कृत अंग्रेजी अनुवाद १९३३ में प्रकाशित हुआ है।

—Imp. Lib. Cat., Calcutta, 1939.

[2] बहन का पुत्र।

लंका में पाया जाता है। मैंने अपने सम्बन्धी कैप्टेन् वाघ को, जिन्हें राजधानी में मैंने कार्यभार सौंपा है, लिखा है और गाँव का नाम भी बतला दिया है कि कुम्भलमेर के पहाड़ी इलाके में 'कडियां' नामक गाँव से, जहाँ जंगली दाख, सेव और सालू मिश्री पैदा होते हैं, ये सभी चीजें इकट्ठी कर के थोड़ी-सी मेरे लिए भेज दें।[1]

यदि आल्प (Alp) की परिभाषा ऊँची जमीन अथवा पहाड़ी चरागाह हो तो इस सुन्दर इलाके के लिए यह पर्वतीय विशेषण बहुत ही उपयुक्त होगा क्योंकि इन ऊँची-ऊँची चट्टानों और अनगिनती झरनों के बीच-बीच में बढ़िया चरागाहों की ही बहुतायत नहीं है वरन् जोतने योग्य भूमि भी है, जिसका बहुत बड़ा भाग मक्का, गेहूँ, जौ और गन्ने के लिए हल चला कर तैयार किया जा रहा था। यदि कृषि-उद्योग के किसी प्रयोग को देखने में आनंद आता है तो वह विशेष रूप से इन्हीं पहाड़ी दर्रों में मिल सकता है जहाँ जङ्गल के जङ्गल समतल बना कर हल चलाने योग्य बना लिए गए हैं। परन्तु विचारशील मनुष्य के लिए यहाँ पर एक और भी आकर्षण का विषय है। वह है, यहाँ के प्राचीन भूस्वामियों के वंशज, पहाड़ी राजपूतों को अपनी पूरी देशी शान में देखना। उनका कद लम्बा, शरीर पुष्ट और आत्मा स्वच्छन्द है। यद्यपि ये लोग कड़ी मेहनत कर के गुज़र करते हैं फिर भी अपने आभिजात्य को ज़रा-सा भी नहीं भूलते। मैदान में रहने वाले अपने अकर्मण्य बन्धुओं की तरह ये लोग भी ढाल तलवार सदा साथ में रखते हैं, परंतु इनका जीवन आसपास में बसने वाली मेर, मीणा, और भीलों को ज़रायम-पेशा जातियों के विरुद्ध सामरिक प्रतिरक्षा का दृश्य उपस्थित करता है। आज सभी ठाकुर और गाँवों के मुखिया अपनी सेवाएं अर्पित करने के लिए मेरे पास इकट्ठे हुए थे। उनमें से कई एक तो दिन भर मेरे डेरे में बने रहे और पुराने जमाने की बातें सुना कर मेरा मनोरंजन करते रहे कि किस प्रकार उनके पूर्वजों ने पास के एक-एक दर्रे पर जान दे देकर (देश की) रक्षा की थी जब कि 'उत्तर की ओर से युद्ध के बादल उमड़ रहे थे' और तुर्क ने उनके सरदार, महाराणा को वश में करने का पक्का इरादा कर लिया था। कभी अपने पड़ौसी लुटेरों के हमलों का हाल सुनाते तो कभी उन प्राचीन बातों का बखान करते जिन्होंने पर्वत के प्रत्येक शृङ्ग और घाटी को अमर बना दिया था।

---

[1] यह टिप्पणी, मेरा विश्वास है कि बाद में विविध सूचना के लिए 'Illustrations of the Botany and other Branches of the Natural History of the Himalayan mountains' के उत्साही लेखक वनस्पतिशास्त्री Dr. Royle को प्राप्त हो जावेगी।

उन्होंने एक अस्पष्ट-सा घना जंगली स्थान बताया जो बनास के उद्गम के पीछे ही था; वहाँ पर वीर प्रताप अपने निर्दय शत्रुओं से दुखी होकर शरण लिया करता था। इस स्थान को तथा ऐसे ही दूसरे स्थानों को जहां वह शरण लिया करता था, वे 'राणा-पाज' अर्थात् राणा के पद-चिह्न कहते हैं। इन आनंद-दायक गाथाओं के सुनने में तथा कुँप्टा (बाँस के धनुष) और पूरे एक गज लम्बे तीर से अभ्यास करने में दिन झटपट बीत गया। इन पहाड़ी सरदारों की पोशाक मैदान के रहने वालों से भिन्न एवं आसपास के दृश्यों से मेल खाती हुई थी। ज्यों ही दशाणोह का सरदार आया तो उसे देख कर, उसकी पगड़ी के अलावा, हम एक प्राचीन ग्रीक की कल्पना कर सकते थे। छाती और बाहों को खुला छोड़ कर उसकी चद्दर बाँए कंधे पर एक गाँठ से बँधी हुई थी और लम्बाई तथा शकल में घाघरे से मिलता जुलता एक कपड़ा उसकी कमर से लिपटा हुआ था। वह हाथ में धनुष लिए हुए था और तरकश उसके कंधे से लटक रहा था। पहाड़ी लोगों की साधारणतया यही पोशाक है और सिरोही तक मुझे यही मिली। कुछ सुधरे हुए लोग यही कपड़े ढीले पाजामे पर पहनते हैं परंतु यह प्राचीन पोशाक में एक नवीनता का मिश्रण मात्र है। उनके गांवों की बनावट भी उनकी पोशाक की सादगी के अनुरूप ही है; गोला-कार घर, जिन पर नोकदार छप्पर की छतें—ऐसे ही घरों के कुछ गाँवड़ों के समूह सुरक्षा के लिए चोटी के अधबीच में नीम के वृक्षों की छाया में बसे हुए बहुत ही सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं, जैसे पजारो में, गांव का शिखर-बंध देवालय इस दृश्य को और भी महानता एवं आकर्षण प्रदान करता है। जब मैं उधर से निकला तो वहाँ के अंधे सरदार को मुझ से मिलने लाया गया, और यहाँ पर मैंने सहनशील राजपूत और खूंखार धर्मांध मुसलमान के बीच स्पष्ट अंतर लक्ष्य किया कि उसके द्वारा विजयचिह्न के रूप में बनाई हुई ईदगाह अब तक अछूती खड़ी हुई थी यद्यपि वह पजारो के अर्द्धभग्न मंदिर से साफ दिखाई पड़ रही थी।

आज के दिन का मेरा दूसरा आनंदप्रद कार्य बनास के बहु-प्रतीक्षित उद्गम को तलाश कर लेने में था; यह नदी विशालता एवं उपयोग की दृष्टि से रजवाड़े में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कई प्रदेशों में होकर चम्बल से इसके संगम की तलाश कर चुकने के बाद, यह अनुसंधान मेरे मन में वे आनंददायक बहुमुखी परंतु वर्णनातीत गुदगदियाँ पैदा किए बिना न रह सका जो किसी महानदी के उद्गम पर उत्पन्न हुआ करती हैं। यह स्थान मेरे डेरे से दक्षिण-पश्चिम की तरफ़ लगभग पाँच मील की दूरी पर पठार के सब से ऊँचे भाग पर था। बहुत-से

छोटे-छोटे झरने इसमें आकर मिल जाते हैं और उनका छिछला किन्तु स्वच्छ पानी इसके कंकरीले पेटे में आकर समा जाता है। इस 'पर्वत और झरने के स्वामी', राजपूत, पोशाक और बाहरी चाल ढाल में तो, 'गालों'[१] (Gaul) से मिलते जुलते हैं ही. परंतु विचित्रतापूर्ण प्राचीन उपाख्यानों को लेकर तो यह समानता और भी आगे बढ़ जाती है जिनमें उनकी कल्पनाएँ यहां की प्रत्येक दृश्य वस्तु की तद्रूपता को सिद्ध करती हैं। दुर्भाग्य से मैं एक ही प्राचीन सुन्दर उपाख्यान अपनी स्मृति में रख पाया हूँ जो इस अरावली की वनदेवी[२] (नाइड-Naiad) के अधिक पौराणिक नाम वनासि से सम्बद्ध है। इसका सारांश यह है कि यह (नदी) एक पवित्र गडेरिन थी जो किसी समय इस प्राकृतिक झरने में आनंद कर रही थी। तभी किसी मनुष्य को अपनी ओर देखते हुए लक्ष्य कर के वह डर गई। वह मनुष्य अनजान म्यूसीडोरा के प्रेमी की भांति मृदुता से कह सकता था—

'स्नान करती रहो, प्रेम की दृष्टि के अतिरिक्त तुम्हें कोई नहीं देख सकता।'

परंतु वह अतिक्रांता लेखनकला से पूर्णतया अनभिज्ञ था अतः उसे तो [अपनी बात कहने के लिए] साक्षात् ही आगे आना पड़ा। अस्तु, कुछ भी हो, उस (गडेरिन) ने झरने की देवता से अपने को उस दर्शक की दृष्टि से छुपा लेने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई और तुरंत ही पानी ने ऊँचे चढ कर भीलनी को ढँक लिया जो वहीं स्वच्छ जल की नदी वनासि के रूप में बदल गई। वनासि—'वन की आशा', यह इस नदी के लिए बहुत ही उपयुक्त नाम है क्योंकि यह इस चट्टानों से घिरे जनस्थान के जीवन और आत्मा के समान है। इसके कुटिल प्रवाह के सहारे मेरे द्वारा अनुसन्धित उद्गम से चारुमती (चम्बल के पौराणिक नाम चर्मण्वती ?) के नरप्रपात संगम तक आगे का मार्ग भी कम चित्ताकर्षक नहीं है, और यदि यह स्थान सुगम्य होता तो मैं पाठकों को इसके किनारे-किनारे पूरे तीन सौ मील की सैर के लिए अवश्य आमंत्रित करता। उपाख्यान में कहा गया है कि घनी वनस्पति और चट्टानों से घिरे हुए एक परम रमणीय एकांत स्थान में, इसके मैदान में पहुँचने से पहले ही, कभी-कभी एक

---

[१] प्राचीन फ्रांस निवासी जाति।

[२] प्राचीन ग्रीक गाथाओं में वर्णित नदी झरनों की देवी।
यहाँ 'वनदेवी' शब्द में वन का अर्थ जल लेना चाहिए। 'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्'—अमर०

हाथ[1] पानी के ऊपर दिखाई पड़ता है। फिर, यह (नदी) हमें नाथद्वारा में कन्हैया के मंदिर के आसपास इठलाती हुई परंतु 'राधा के प्रेमी' के पवित्र ध्वज तक पहुँचने के लिए विफल प्रयास करती हुई मिलती है; उसकी (राधा की) आज्ञा से अथवा प्रतिस्पर्द्धिनी गोपियों की करतूत से एक चट्टान की रोक बीच में आ पड़ती है और 'अरावली की आशा' अपने यमुना-तट के प्रेमी विष्णु के प्रति किए हुए प्रयत्नों में विफल होकर पठार की वनदेवी अथवा जलदेवी[2] की संगति प्राप्त करने के लिए मेवाड़ के मैदान में होकर आगे दौड़ पड़ती है। दूसरी इसी नाम की धारा इसी ऊँचे स्थान से निकल कर पहाड़ के पश्चिमी ढाल से रास्ता पकड़ कर आबू की पूर्वीय तलहटी में दौड़ जाती है और वहाँ से पूर्व-प्रसिद्ध चन्द्रावती नगरी और कोलीवाड़ा के जङ्गलों को पार करती हुई अन्त में कच्छ की खाड़ी के सिरे पर खारी रन में जा मिलती है।

जून ४ थी; नले में डेरा; सुबह के १० बजे थर्मामीटर ८६° व बैरॉमीटर २८°१२' पर था। दिन के १ बजे थर्मामीटर ९३° और बैरॉमीटर २८°६' तथा शाम को ६ बजे थर्मामीटर ९२° और बैरॉमीटर २८° पर था। आज सुबह हमने अपनी यात्रा अरावली की पश्चिमी ढाल पर शुरू की जो 'मृत्यु देश' अर्थात् मरु के रेतीले मैदानों में उतरती है। जहाँ उतार शुरू होता है वहाँ से, जब तक हम पहाड़ियों को पार न कर गए, नाळ[3], जिसमें मोड़ बहुत कम या नहीं के बराबर हैं, पूरी बाईस मील लम्बी है और कुम्भलमेर वाली उस नाळ से बीस गुनी कठिन है जिसके द्वारा गत वर्ष हमने मारवाड़ में प्रवेश किया था, परंतु

---

[1] मैंने (राजस्थान) के 'इतिहास' में कुम्भलमेर की यात्रा के प्रसङ्ग में इस स्थान का वर्णन किया है, गाथा कहती है कि प्रायः झरने की देवी का हाथ पानी के ऊपर दिखाई दिया करता था, परन्तु जब एक असभ्य तुर्क ने उस हाथ पर पवित्र गाय के मांस का टुकड़ा फेंक दिया तब से वह नहीं दिखाई पड़ता।

[2] Dryad ग्रीक पौराणिक देवी जो वृक्षों की स्वामिनी मानी जाती थी। Naiad नदी और झरनों की देवता। (S. N. E., p. 915)

[3] 'नाळा' शब्द प्रायः पहाड़ी झरने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह नाळ (घाटी) से निकला है क्योंकि झरना पहाड़ी प्रदेश में होकर आगे बढ़ने के लिए कोई न कोई मार्ग निकालता रहता है। 'नाळ' शब्द का अर्थ नली भी है जिससे 'नाल गोला' बना जो पुराने तरीके की हाथ-बन्दूक 'तोड़ा' के अर्थ में आता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नली में से फेंकी हुई गोली। यह शब्द भारत के सैनिक कवियों (चारणों) द्वारा एक युद्धास्त्र के लिए बहुत पहले से ही प्रयुक्त किया जा रहा है जब कि यूरोप वाले बारूद का प्रयोग बाद में जानने लगे हैं।

उसी की तरह, परिश्रम का—यदि इसे परिश्रम कहें—फल भी अवश्य मिल जाता था क्योंकि प्रकृति की शानदार और विचित्र कारीगरियों के कारण दिमाग़ में एक उत्साहपूर्ण हलचल लगातार बनी रहती थी।

इस रास्ते को एक ही मंज़िल में तय करने से आदमियों और जानवरों दोनों ही को परेशानी हुए विना न रहती, इसलिए हम नाळ के बीचोंबीच एक सुन्दर से हरे-भरे स्थान पर, जहाँ मेरे छोटे से डेरे के लिए पर्याप्त स्थान मिल गया था, एक स्वच्छ पानी के झरने के किनारे बनास के उद्गम के समीप ठहर गए; यह झरना बनास के निकास के पास से निकल कर पहाड़ के पश्चिमी ढाल पर टेढ़े-मेढ़ मार्ग से वह कर मारवाड़ प्रांत में होता हुआ जालोर के पास लूनी या 'खारी' नदी में मिल जाता है। यद्यपि कहीं-कहीं ऐसे छोटे और आकर्षक स्थानों पर रास्ता चौड़ा हो गया है परंतु इस पूरी घाटी को एक नाळ ही कहना पड़ेगा क्योंकि इसकी चौड़ाई प्रायः बहुत कम है और एक स्थान पर तो डेढ़ मील की लम्बाई में यह इतनी तंग हो गई है कि केवल कुछ मुट्ठी भर आदमी ही शत्रुओं का सामना कर सकते हैं, जहां उनको यह आशंका भी न होगी कि यहाँ चारों ओर घने जङ्गलों और घाटियों से घिर कर उनकी सेना को लौटना पड़ेगा। इस ऐश्वर्ययुक्त उत्तम स्थान को देखते ही हमें उस रहस्य का पता चल जाता है कि यहाँ के राणा मुसलमान आक्रमणकारियों का सुदीर्घकाल तक कैसे सफलतापूर्वक सामना कर सके थे। इस स्थान पर सभी कुछ महान्, सुन्दर और प्राकृतिक था—मानो प्रकृति ने इसको अपनी प्रिय संतान के नित्य-विहार के निमित्त ही बनाया हो, जहाँ दृश्य की शांति एवं अनुरूपता में बाधा डालने वाले मानवीय विकारों के लिए कभी कोई अवसर नहीं था। आकाश निर्मल था, घनी पत्रावली में से एक दूसरी का प्रत्युत्तर देती हुई कोयलों की कूकें सुनाई पड़ रही थीं, सूर्य का प्रकाश पहुँचते ही बाँस की कुंजों में छुपे हुए वनकुक्कुट प्रातःकालीन बाँग देने लगे थे, वृक्षों पर घोंसलों में बैठे हुए भूरे तीतरों के झुण्ड हर्ष-प्रदर्शन में पेंडुकी से होड़ लगा रहे थे और पहाड़ी चट्टानों पर तेज़ी से फैलती हुई प्रखर रविरश्मियाँ उन्हें आलोकित कर रही थीं। अन्य ग़ैर-मैदानी पक्षी भी इधर उधर उड़ रहे थे और कठफोड़े की आवाज़ उस कठिन धरातल से टकरा-टकरा कर प्रतिध्वनित हो रही थी जिस पर वह अपनी चोंच से चोटें मार रहा था। भाँति-भाँति के फल और रंग-विरंगे फूल वन के सभी द्विपदों, चतुष्पदों, पक्षियों और परिश्रमशील मधुमक्खियों को, जो विशाल वृक्षों पर चढ़ी हुई सफेद एवं पीली चमेली के मधुरतम मधु का पान करने में सक्षम थीं, आमन्त्रित कर रहे थे। काम्बीर' और 'कानोआ' के लाल और सफेद फूलों के

गुच्छे के गुच्छे वहाँ मौजूद थे जो बकाइन-सदृश दिखाई पड़ते थे। झरने का किनारा बादाम की सी सुगन्ध वाले कनेर के वृक्षों से ढँका हुआ था और उसी के तट पर एरण्ड और सरपत बहुतायत से लहलहा रहे थे। इसी प्रकार के और भी सुन्दर-सुन्दर पौधे थे जो चमेली और जम्बोलिया जैसे तो नहीं, परन्तु थे देखने योग्य; इनमें से एक तो 'सुगन्धिकुसुमा'[१] से बहुत मिलता-जुलता था। फलों में यत्र-तत्र उगे हुए आड़ू-बादाम[२] के अतिरिक्त अंजीर (गूलर नहीं, जिसके फल टहनियों के न लग कर डंठल पर लगते हैं), शरीफा, खतूम, रायगुण्डा, जिसको ल्हेसवा भी कहते हैं और जिसका फल लसदार व सुपारी के बराबर होता है, और टैण्डू अथवा कोविदार के फल हैं, जो यहाँ पर प्रचुरता से मिलते हैं। ये तथा और भी बहुत से पदार्थ, जो वनस्पति-शास्त्रज्ञ एवं प्राणि-विज्ञानवेत्ता के लिए आकर्षण के विषय हैं, हमारे देखने में आए। इस सुमधुर पुष्पसमूह से निकला हुआ शहद बरबाँन[३] अथवा नरबाँन[४] द्वीप के शहद से कहीं बढ़ कर है जिनमें से पूर्व-स्थान का मधु मैंने झरने के मुहाने पर चखा था और बाद वाला तो द्वीप से आया हुआ बिलकुल ताज़ा ही था।[५]

मेरी पूछताछ और स्थानीय चिर-पिपासु मित्रों की जिज्ञासा के लिए आज का दिन बहुत छोटा निकला; इन मित्रों के साथ होने से यहाँ की सुन्दर दृश्यावली की रोचकता बहुत बढ़ गई थी। ज्यों ही रात होने लगी मैंने उन सब को घर जाने के लिए विदा किया और यह आश्वासन दिया कि मैं उनके विषय में राणा को लिखूंगा क्योंकि उन्होंने यह शिकायत की थी कि (सम्बन्धित) मन्त्री उनकी सदा की स्वामिभक्ति और उत्साह को जानते हुए भी वसूली के लिए शहने[६] भेज देता था यद्यपि नया साल लगते ही इसकी मनाही हो चुकी थी।

---

[१] Hyacinth—Eng. and Sanskrit Dictionary, 1851-M. Williams.

[२] वनस्पति-शास्त्री आड़ू को 'उगाया हुआ' बादाम खयाल करते हैं; यह धारणा इस संयुक्त-पद से बनी मालूम होती है।

[३] फ्रांस के मध्य में विशी (Vishy) के समीप। इसी स्थान के एक परिवार में से फ्रांस की गद्दी पर राजा बैठा करते थे। [N.S.E.; p. 179]

[४] फ्रांस के दक्षिण में एक द्वीप।

[५] मेरे पास अब भी थोड़ा सा अरावली का शहद मौजूद है जिसमें अब १० वर्ष बाद भी इसकी मौलिक सुगन्ध ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका कारण शायद यह है कि इसमें कोई संस्कार नहीं किया गया है अथवा इसे आँच नहीं दिखाई गई है; यह छाते से केले के पत्ते बिछी हुई टोकरियों में टपकाया गया था और फिर बोतलों में भर कर मजबूत डाट लगा दी गई थी। मैं अपने साथ २० बोतलें इङ्गलैण्ड लाया था और उन्हें अपने मित्रों में बांट दी थीं। सभी ने यह स्वीकार किया कि यह शहद यूरोप के शहद की सभी किस्मों से बढ़िया है। इस शहद में दो किस्में थीं; पहाड़ी के ऊपर की धरातल पर लिये हुए शहद में रंग नहीं था परन्तु नीचे आकर आम की कुंजों से लिया हुआ शहद कुछ भूरा-सा रंग लिए हुए था।

[६] लगान उगाहने वाला प्यादा।

प्रकरण ३

ग्रन्थकर्ता के प्रति सेवकों का कृतज्ञभाव; घाटी की सँकड़ाई; समाधि का पत्थर; मीणों की चढ़ाई; भीलों की शक्ति व उनका स्वभाव; रहन-सहन; उद्गम और भाषा; जंगली भील; दन्तकथा; भारत के आदिवासी भीलों के अंध-विश्वास; भीलों की धार्मिक श्रद्धा एवं देशभक्ति; उनके चरित्र में परिवर्तन के कारण; 'सरणा' या देवस्थान; सलूम्बर का राव और उसका भील-घातक आसामी; लुटेरे भीलों को फांसी; सरिया लोग, उनका स्वभाव और रहन सहन।

जून ५वीं; वीजीपुर या वीजापुर : रात में किसी भी जंगली चौपाये या दो-पाए द्वारा कोई विघ्न नहीं हुआ। परन्तु जब कूच की आज्ञा देने के लिए डेरे से बाहर निकला तो अपने विश्वासपात्र सशस्त्र राजपूतों की टोलो को 'रात की आग' के पास खड़े देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, वे रात भर भीलों और रीछों से मेरी रक्षा करते रहे और मैं सोता रहा। जब मैंने, कल शाम को विदा लेकर उनके अपने अपने गांव न जाने पर, दुःख प्रकट किया तो तुरन्त ही वहुत सी आवाज़ों ने एक साथ मिल कर यही भावना प्रकट की 'ऐ महाराजा, जो कुछ आपने हमारे लिए किया है उसके बदले यही आपकी आखिरी सेवा है जो हम कर सकते हैं—'मन का [की] चाकरी'। क्या अब भी यही कहा जायगा कि इस प्रदेश में कृतज्ञता के लिए कोई शब्द नहीं है? यदि यही खयाल है, जो ठीक नहीं है—तो कार्यरूप में यह प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद है जिसमें वहाने की कोई गुन्जाइश नहीं। कुछ ही घण्टों में सदा के लिए विदा होने वाले विदेशी मेहमान की इससे बढ़ कर आन्तरिक सेवा और क्या हो सकती है? शहर के धनी लोगों ने तथा हलवाहे किसानों ने बरावर गम्भीर शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की। अस्तु, अब हम वाकी बची घाटी की यात्रा चालू करें और मरु के तप्त मैदानों में चल कर पहुँचें।

कल वाली घाटी के दरवाज़े पर नायन माता नाम की देवी की भोंडी सी मूर्ति वनी हुई थी। थोड़ी ही देर बाद, जब हम उतरने लगे तो एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जो नाळ की गरदन सा बना हुआ है और यहाँ से ही दूसरी नाळ शुरू होती है अथवा इन जंगलो स्थानों को दिए हुए बहुत से नामों में से एक नया नाम चालू होता है। यह शेष भाग शीतला माता के नाम पर प्रसिद्ध है जो बच्चों की, विशेषतः शीतला या चेचक के रोग में, रखवाली करती है। हम इस स्थान

पर सुबह के ६ बजे पहुँचे थे जब थर्मामीटर ८२° पर और बैरॉमीटर २८° २५' पर था। थोड़ा ही आगे चलने पर, जहाँ घाटी की चौड़ाई बिलकुल सिकुड़ गई है और थोड़ी दूर तो यह क्षितिज से ४५° का ही कोण बनाती है, धरातल ऊँचा नीचा और टूटा फूटा है; यहाँ पर ऊँट वालों और हाथियों को पूरी होशियारी तथा समझ से काम लेने की आवश्यकता थी अन्यथा उनको एवं पेड़ों की नीची डालों से टकरा-टकरा कर कई बार अस्तव्यस्त हुए उन पर लदे सामान को हानि पहुँचने का डर था। यहाँ पर हमने खुले पत्थरों का एक चबूतरा देखा। यह पुजारो (Pudzaroh)[१] के भतीजे का स्मारक था, जो 'ऊटवण के मीणों द्वारा अपहृत जानवरों' को छुड़ाने के प्रयत्न में मारा गया था। वे पीछा करने वालों से बचने के लिए नाळ का रास्ता छोड़ कर बाईं तरफ़ जंगलों में घूम खाकर घाटी की मुड़ी हुई दूसरी शाखा के मुंह पर आ गये थे। उन्होंने सोचा था कि इस तरकीब से वे अनुधावकों से बच सकेंगे और इस साहसिक प्रयत्न, वीरता एवं चतुराई के कारण कुछ सफलता भी मिली। प्रधान घाटी से इस शाखा के मोड़ पर पूरे बीस फीट की एक खड़ी ढाळ है जिस पर से एक बरसाती नाले ने रास्ता बना रखा है। इसी रास्ते से उन लोगों ने बचाव का प्रयत्न किया था। 'भेड़-चाल' वाली पुरानी कहावत इन पहाड़ी हिस्सों के जानवरों पर पूरी तरह लागू होती है। ये घोड़े के बछेड़ों की तरह चंचल होते हैं और जिधर एक चला जाता है बाकी सब उसीके पीछे चल देते हैं। पशुओं की इस प्रवृत्ति को पहचान कर मीणा लोग चट्टान पर जा पहुँचे और उन्होंने सबसे आगे वाले पशु को छुरा मार कर फेंक दिया; कूदने वाले नेता का अनुकरण करते हुए दूसरे पशु भी कूद

---

[१] Pudzaroh यह शब्द 'पुजारा' या 'पुजारो' का अंग्रेजी रूपान्तर प्रतीत होता है जो भीलों आदि के गुरु ब्राह्मणों की जाति का सूचक है। इन लोगों में नियोग की प्रथा आदि मान्य होने के कारण ये निम्नकोटि के ब्राह्मण माने जाते हैं। मेवाड़ के कुंभलगढ़, सेवंत्री (रूपनारायण), सायरा एवं जरगा के पहाड़ी क्षेत्रों में इन लोगों की अच्छी बस्तियाँ बसी हुई हैं। इसी प्रकार Dussanoh भी किसी स्थान का नाम न होकर दसाणा या दस्साणा नामक निम्नकोटि के क्षत्रियों की एक खाँप है जो उपर्युक्त क्षेत्रों में पाई जाती है। इनको मेवाड़ में 'दहाणा' या 'दुसाना' कहते हैं। इनमें भी नियोग अथवा 'नाता' की प्रथा प्रचलित है। अब ये दोनों ही जातियाँ खेतिहर हैं।

स्थानीय स्रोतों से प्राप्त उपर्युक्त सूचना भेजने के लिए मैं अपने मित्र श्री ब्रजमोहन जावलिया, एम. ए. का आभारी हूँ।

ठा० बहादुरसिंह, पट्टेदार बीदासर ने अपनी 'क्षत्रिय जाति की सूची (श्री ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, १९७४ वि०) में भी पृ० १२२ पर 'दुसाना' जाति के जेनगढ़ से खुमाण के साथ चित्तौड़ में आने का उल्लेख किया है।

पड़े। परन्तु इतनी हिम्मत और चतुराई के होते हुए भी मीणे परास्त हुए और दोनों ओर के कुछ आदमी मारे गए जिनमें पुजारो (Pudzaroh) का भतीजा भी था, जिसके कुछ रिश्तेदार मुझे घाटी पार करने तक पहुँचाने आए थे।

जिन लोगों को ऐसे झगड़ों और पुराने जमाने की महत्त्वपूर्ण लड़ाइयों के उपाख्यान सुनने का शौक है उनके लिए यहाँ की प्रत्येक घाटी और नाळ पुरावृत्त से भरी पड़ी है; और यदि मुझे पाठकों के अत्यधिक धैर्य और समय को नष्ट करने का ध्यान न होता तो मैं ऊटवण के मीणों द्वारा अरावली की गोशालाओं पर हुए आक्रमणों के और भी रोचक वर्णन प्रस्तुत करता; अथवा ओगणा, पानरवा तथा मेरपुर के अधिक सभ्य भाई-बन्धुओं के साथ मिल कर कुछ दूर के छप्पन[1] के भीलों के हमलों का भी बयान करता। मैं समझता हूँ कि मीणों का संक्षिप्त इतिहास[2] ही पर्याप्त स्थान ले लेगा और भीलों[3] के इत्तिवृत्त पर तो पहले ही बहुत कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। फिर भी, इन स्थानों का भौगोलिक चित्रण करते हुए मैंने 'स्वतंत्र' भील जाति के विषय में थोड़ा-सा वर्णन किया है जो उनके रहन-सहन, रीति-रिवाजों और 'पृथक्' स्थिति के कारण बहुत ही मनोरञ्जक है।

पहले कह चुका हूँ कि मेरा इरादा इन गाँवड़ों में हो कर सीधा आबू जाने का था परन्तु मेरा विचार है कि जो रास्ता मैंने अब चुना है उससे दिलचस्पी और भी बढ़ जायगी। जब मैं 'पृथक्, या स्वतन्त्र' शब्द कहता हूँ तो मेरा तात्पर्य भौगोलिक एवं राजनीतिक स्थिति के दृष्टिकोण से है। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से आवृत, अनेक घाटियों और वनों से सुरक्षित, सेना की टुकड़ियों के लिए दुर्भेद्य स्थानों में ये लोग पूर्ण स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करते हैं; ये अपने सरदार ही के अधीन हैं, जो यदि अपनी घाटियों के रक्षार्थ इनको इकट्ठा करे तो निश्चय ही 'पन्द्रह हजार धनुष' एकत्रित हो सकते हैं। इस अर्द्ध-स्वदेशी भ्रातृ-संघ (बिरादरी) के मुख्य गाँवों के नाम पानरवा, ओगणा, जूड़ा मेरपुर, जवास, सुमाइजा, मादड़ी, औजा, आदिवास, बँरोठी, नवागाँव आदि हैं जिनके

---

[1] दक्षिणी मेवाड़ का भील प्रदेश।

[2] मैं इसे Transactions of the Royal Asiatic Society के लिए एक निबन्ध का विषय बनाना चाहता हूँ।
[यह भी उन बहुत से बहुमूल्य संस्मरणों में से है, जिनसे लेखक कर्नल टॉड की दुखद मृत्यु के कारण, जनता वञ्चित रही।]

[3] इस जाति के विस्तृत वृत्तान्त के लिए 'Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. (i), p. 65' में स्वर्गीय सर जॉन मालकम का लेख पढ़िए।

मुखिया, वन-पुत्र अथवा वनराज नाम का उपहास करते हुए, अपनी उत्पत्ति, वंश और रक्त राजपूतों से सम्बद्ध बतलाते हैं। पानरवा का मुखिया इन सब का स्वामी है और दशहरे के सैनिक पर्व पर सब लोग इसके सामने उपस्थित होते हैं। वह 'राणा' की उच्च उपाधि धारण करता है और कम से कम बारह सौ 'पुरे' और 'पुरवे' उसके सीधे अधिकार में हैं। इनमें बहुत से तो बिलकुल छोटे-छोटे हैं और अधिकांश एक ही बड़ी घाटी में कुछ कोसों के गिरदाव में स्थित हैं, जिनमें गेहूँ, चना, मूंग-मोठ रतालू, हल्दी (Puldi) और खाने योग्य कन्द अरबी, जो जरूसलम (Jerusalem) के चुकन्दर या हाथीचक्के जैसा होता है, बहुतायत से बोये जाते हैं। ये अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा होने वाली चीजों को पड़ौसी रियासतों में भी भेजते हैं। आडू और अनार, जो इन पहाड़ियों की अपनी चीजें हैं, ओगणा और पानरवा में दोनों ही जगह बहुत पैदा होती हैं। ओगणा का मुखिया, जिसका नाम लालसिंह है, पद में दूसरे स्थान पर है; उसकी पदवी रावल है और वह अपने आपको पानरवा के अधीन मानता है। उसकी जागीर में साठ पुरे और पुरवे हैं। ओगणा, जो पानरवा से बीस मील दूर है, छोटा नाथद्वारा कहलाता है और मेरपुर जितना ही समृद्ध है। गोगुन्दा-सरदार का निकाला हुआ प्रधान ओगणा के भोमियां भील के यहाँ उसी पद पर नियुक्त है। ये लोग इस विशेषण (भोमियां) के प्रयोग के विषय में बहुत ध्यान देते हैं क्योंकि इससे भूमि के साथ उनकी आत्मीयता सिद्ध होती है और वास्तव में यह उनको भूमि का आदि-स्वामी सिद्ध करता है। पानरवा के राणा का एक छोटा-सा दरबार है जो राणा के दरबार की नकल है। मुझे बताया गया कि इस दरबार में पूर्ण शिष्टाचार बरता जाता है और 'राणा' भी अपने अधीनस्थ अनेक धनुर्धारी दरबारियों से महाराणा की तरह सम्मान प्राप्त करता है। पानरवा, ओगणा और अन्य अधीन मुखिया अपने को परमार-वंश का बताते हैं और जूड़ा-मेरपुर, जवास तथा मादड़ी के भोमियों से बेटी-व्यवहार करते हैं जो अपने को राजपूतों की चौहान शाखा से सम्बद्ध मानते हैं। जूड़ा और मेरपुर, जिनका नाम सदैव एक साथ लिया जाता है, एक दूसरे से पांच मील की दूरी पर बसे हुए हैं और नायर नामक क्षेत्र में स्थित हैं जो ईडर की सीमा को स्पर्श करता हुआ कम से कम नौ सौ झोंपड़ियों को अपने क्षेत्र में लिए हुए है। मेरे मेरपुर के पड़ाव से जूड़ा केवल बारह मील था और ओगणा उससे आगे आठ मील। परन्तु रास्ता एक ऐसे जंगल में हो कर जाता था जो दुर्गम था। गोगुन्दा से भी ओगणा उतनी ही दूर था। बीच में राणाजी की सीमा पर सुरक्षा की चौकी थी, जहां पर इन स्वतन्त्र निवासियों को दबाने

के लिए अथवा आवश्यकता पड़ने पर इनसे सहायता लेने के लिए सीमान्त फौजी दस्ता तैनात था। निस्संदेह, प्राचीन काल में ये सभी वनपुत्र हिन्दूपति (राणा) के परम आज्ञाकारी रहे हैं। जब राणा के घराने की प्रतिष्ठा पर मुगलों की ओर से प्रायः आघात होते रहते थे तब इन लोगों ने उसकी रक्षार्थ सर्वोत्कृष्ट सेवाएं अर्पित की थीं। कुछ तो उन सेवाओं के प्रति कृतज्ञभाव के कारण और कुछ इन लोगों के दुर्दमनीय होने के कारण इनकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी हुई थी। फिर, इन पर आक्रमण करना भी खतरे से खाली नहीं था। एक बार उदयपुर और ओगणा के बीच की सीमान्त चौकी पर जीरोल के ठाकुर और ओगणा के भील में झगड़ा हो गया, जो अपने आदमियों को चौकी पर चढ़ा ले गया था, परन्तु उनमें से समाचार कहने के लिए भी कोई नहीं लौटा। बदले में, जोधराम अपने दोहरा कवचधारी घुड़सवारों को चढ़ा लाया और उधर हजारों धनुर्धारी इकट्ठे हो गये। परन्तु, केवल पच्चीस राजपूत घुड़सवारों ने उस भारी भीड़ पर आक्रमण किया और मार-काट मचा कर उनको हरा दिया तथा गाँव में घुसकर लूट-पाट करके बारह हजार का माल ले गए। खर[ड़]क नामक क्षेत्र, जिसकी राजधानी जवास है, डूंगरपुर और सलूम्बर की सीमाओं को स्पर्श करता है; यहाँ के ठाकुरों का इस क्षेत्र के निवासियों से निरन्तर वैर बना रहता है। ऊँची-ऊँची पहाड़ियों से घिरे हुए और विशेषतः बांस तथा धोक के घने जंगलों से ढंके हुए इस क्षेत्र पर कितनी ही फौज लेकर भी सफल आक्रमण करना सम्भव नहीं है और यदि इन लोगों को अचानक भी धर दवाया जाय तो भी आक्रामकों में से कुछ तो अवश्य ही काट डाले जाएंगे। घाटी के रास्ते पर यदि कोई पेड़ काटने की हिम्मत करता है तो उसके भाग्य में मृत्यु निश्चित ही समझनी चाहिए। आग के (दारू गोले के) हथियार केवल गाँव के ठाकुरों और मुखियाओं द्वारा ही प्रयुक्त किए जाते हैं; इनका राष्ट्रीय शस्त्र कुम्प्टा या एक बाँस का धनुष होता है जिसके पतली और लचकीली छाल की पट्टी से चुल्ल[1] बंधी रहती है। प्रत्येक भाथे में साठ नुकीले तीर होते हैं। यद्यपि ये लोग अपना निकास विभिन्न राजपूत शाखाओं से मानते हैं और अपनी जातियों के साथ वही अवटंक लगाते हैं, जैसे चौहान-भील, गहलोत-भील, परमार-भील इत्यादि, परन्तु इनकी उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता तो उन देवताओं से चलता है जिनकी ये पूजा करते हैं और उन भोजन-विषयक मान्यताओं से भी, जो इनमें प्रचलित हैं। ये कोई भी सफेद रंग की चीज नहीं खाते, जैसे सफेद भेड़ या बकरी; और इनकी सब से बड़ी शपथ

---

[1] प्रत्यञ्चा, डोरी।

'सफेद मेंढे की सौगन्ध' है। ये मान्यताएँ केवल उन्हीं लोगों की हैं जो अपने आपको उजला या शुद्ध भील कहते हैं; और यदि इन मान्यताओं से मुक्त बड़ी संख्या में लोगों का हिसाब लगावें तो बहुत थोड़े से ही 'शुद्ध' कहलाने के अधिकारी मिलेंगे। वास्तव में, ये लोग अब भी अर्द्ध-सभ्य हैं और अन्धविश्वासों, आदतों और भाषा के विचार से निश्चय ही आदिवासी जातियों के हैं। यद्यपि इनकी भाषा के अधिकांश शब्द संस्कृत से निकले हुए हैं तथापि इनके उच्चारण स्पष्ट हैं। मेरा यह कथन मेरी निजी खोज की अपेक्षा इन लोगों के पड़ौसियों द्वारा किए हुए वर्णन पर अधिक आधारित है–क्योंकि भीलों की बोली एक ऐसा विषय है जिसका अध्ययन करने की मेरी साध पूरी न हो सकी और इस बात का मुझे खेद भी है। यदि मैं ऊपर वर्णन की हुई बस्तियों में जाकर अनुसंधान कर पाता तो अवश्य ही ऐसी कुछ बातों का पता लगाता तथा उनके घरों में जा जा कर (सजावट के प्रमुख चिन्ह) सफेद मेंढे और अश्वमुखी, उनके लॉरेस और पिनेट्स्[१] के विषय में अपने ज्ञान को और भी अधिक विस्तृत कर पाता। इस अध्ययन से उन लोगों को बहुत कुछ प्राप्त हो सकेगा जो प्रकृति की पुस्तक को प्रत्येक दृष्टिकोण से पढ़ना चाहते हैं और जिज्ञासु को यह बात जान कर आश्चर्य एवं प्रसन्नता होगी कि पुरानी कहावत 'छोर मिल जाते हैं'[२] सिद्ध हो जाती है। प्रकृति के इन असभ्य और अशिक्षित घरों में उसको सत्य, अतिथि-सत्कार और उस गौरवपूर्ण श्रेष्ठता के दर्शन होंगे जो यूरोपीय नियमों में से धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है; और वह है, शरणार्थी को शरण देना। यदि कोई भील किसी को शरण दे देता है तो वचन की रक्षा के लिए वह अपनी जान तक दे देगा। जब कोई यात्री उसकी घाटी का निश्चित कर चुका देता है तो उसकी जान-माल सुरक्षित हो जाते हैं और दूसरे द्वारा किए हुए किसी भी प्रकार के अपमान का बदला लिया जाता है। 'भीला का सरना' या कोई और सांकेतिक शब्द जिसका वह रक्षक प्रयोग करता हो, बिरादरी के एक छोर से दूसरे छोर तक सुरक्षा-वाक्य का काम देता है। यदि कोई रक्षक यात्री के साथ कोई मार्गदर्शक न भेज सके तो उसके भाथे में से दिया हुआ एक तीर काफ़ी होगा और उसको उतना ही प्रामाणिक समझा जावेगा जितनी कि किसी ईसाई दरबार में दूत की मुद्रा समझी जाती है। और, पहाड़ी अफ़गान की तरह भी यहाँ व्यवहार नहीं किया जाता कि जब तक मेहमान घर की दीवार पर अङ्कित गृह-देवता की

---

१ प्राचीन रोमन जाति के गृह-देवता जिनकी तस्वीरें वे अपने घरों में दीवारों पर बनाया करते थे।

२ 'Extremes meet'

आँखों के नीचे है तब तक तो अतिथि-सत्कार की रीति पूरी की जावे और घर की छत से अच्छी-खासी दूर चले जाने पर उसी अपने शिकार को लूटने में किसी प्रकार का संकोच न किया जाय।

अमेरिका के एक इतिहासकार का मत है कि "जो जातियाँ शिकार पर निर्भर रहती हैं वे प्रायः सम्पत्ति-संग्रह के विचार से अपरिचित होती हैं और ऐसे प्रदेश के निवासियों में कोई भी जंगल अथवा शिकारगाह समस्त जाति की सम्पत्ति माना जाता है।" सभ्यता के पथ पर भील एक क़दम आगे हैं और उनमें शिकार की जमीन व्यक्तिगत भागों में विभाजित होती है, जैसा कि आगे लिखे उपाख्यान से सिद्ध होगा। इस उपाख्यान को मैंने कई वर्षों पूर्व लेखबद्ध कर लिया था। मेवाड़ और नरवदा (Nerbudda) के उजाड़ और एकान्त जंगलों में रहने वाले भील अब भी प्राकृतिकों का सा ही जीवन बिताते हैं। अग्नि के आविष्कार के परिणामस्वरूप रंधे हुए माँस व शराब को छोड़ कर उनके जीवन में और कोई विलास की वस्तु नहीं आ पाई है और वे ध्रुवों के किनारे रहने वाले एस्कीमो जाति के उन लोगों से किसी प्रकार भी अधिक सभ्य नहीं हैं, जिनको सड़ी हुई व्हेल मछली की चर्वी वैसी ही स्वादिष्ट लगती है जैसे किसी भील को रँधा हुआ गीदड़ या छिपकली। अपने आप बहुतायत से उगे हुए जंगली मेवों से वनपुत्र के दस्तरखान की पूर्ति होती है और ये वैसे ही स्वादिष्ट पदार्थ हैं जो मॅरॉथॉन[1] और थर्मापिली[2] के वीर-पूर्वजों को तृप्त किया करते थे; परन्तु उनके शाहबलूत या जैतून के फल-युक्त रात्रि-भोजन की अपेक्षा हमारे भील के आहार में विभिन्न और अधिक स्वादिष्ट पदार्थ भी सम्मिलित हैं; जैसे, तेंदुआ, इमली, आम और बहुत से दूसरे फल तथा तरह-तरह के जंगली अंगूर एवं लसदार जमींकन्द इत्यादि। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसे इन वस्तुओं को केवल

---

[1] Marathon (मॅराथॉन)—यूनान की राजधानी एथेन्स के उत्तर-पूर्व में २४ मील की दूरी पर एक मैदान, जहाँ ई० पू० ४७० में फारस और यूनान के वीरों में घोर युद्ध हुआ था।—Webster's Geographical Dictionary, 1960.

[2] थर्मोपिली—यूनान का प्रसिद्ध दर्रा जो पूर्वीय समुद्र और पर्वत श्रेणी के बीच उत्तर से दक्षिण में दौड़ गया है। यहाँ यूनान की कितनी ही प्रसिद्ध लडाइयाँ हुईं जिनमें अनेक यूनानी वीरों ने प्राणोत्सर्ग किया था। ई० पू० ४८० में स्पार्टा के बादशाह ल्योनीडस की अध्यक्षता में ३०० ग्रीक वीरों ने फारस की सेना का डट कर सामना किया। वे सभी इस दर्रा में मारे गए। उनके स्मारक पर लिखा है—

'स्पार्टा! तुम्हारे वचन के अधीन हम यहीं हैं।'

—N. S. E., p. 1212,

अपने ही प्रयोग में लाने की छूट नहीं है क्योंकि इन पर वन में रहने वाले अन्य प्राणी रींछों और बन्दरों आदि को भी वैसे ही समान एवं स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त हैं। तो अब, मैं अपनी कहानी पर आता हूँ। "जाओ" : एक भील पिता ने अपने जामाता से कहा, "ये सामने के पहाड़ मैं अपनी इस पुत्री के 'डायजे' (दहेज) में देता हूँ, अब से मैं इसकी हद में खरगोश या लोमड़ी नहीं पकडूंगा, फल नहीं तोडूंगा, कन्द नहीं उखाडूंगा और न ईंधन के लिए शाखाएँ या पत्ते ही लूंगा। ये सब तुम्हारे हैं।" परन्तु, रींछ इतनी जल्दी से अपना हिस्सा छोड़ने के लिए तैयार न था; वह अपने प्यारे महुवा वृक्ष पर अधिकार बनाए रखने के लिए लड़ पड़ा। एक भील युवक उस वृक्ष के नीचे सो गया, उसकी बगल में एक टोकरा उसी वृक्ष के फलों से भरा पड़ा था, जो उसने या तो अपने कुटुम्ब में भोजन के बाद फलाहार के लिए तोड़े थे अथवा उनका 'अर्क' (पूर्वीय व्हिस्की) निकालने के लिए इकट्ठे किए थे। उसी समय चक्कर लगाता हुआ एक रींछ उधर आया और उसने उस भील को गहरी नींद में से बड़ी बुरी तरह जगाया। भालू लगभग उसको खा ही जाने वाला था कि लहूलुहान होकर भी भील उसकी पकड़ से बच निकला। वन की राज्य-व्यवस्था में इस गड़बड़ी को भील पिता सहन न कर सका। वह अपना धनुष-बाण लेकर अपमान का बदला लेने दौड़ पड़ा। आक्रमण के स्थान पर ही उसने भोजन करते हुए रींछ को जा पकड़ा, मार डाला और उसका चमड़ा ले जा कर एक पड़ौसी सरदार को भेंट कर दिया, जिसका वह मातहत था। उसने अपनी कहानी का उपसंहार इन शब्दों में किया "......यह उसी ज़ालिम की खाल है; यह बड़ी मुश्किल है कि वन में रहने वाले भाई-भाई मित्रता के व्यवहार से नहीं रह सकते, लेकिन लड़ाई इसी ने शुरू की थी।"

यदि, जैसा कि सुप्रसिद्ध गॉग्युएट (Goguet) ने कहा है (Vol. i p. 78), 'मनुष्यों के साधारण भोजन और उनके द्वारा देवताओं को चढ़ाई हुई बलि में सदा से ही एकरूपता रहती आई है क्योंकि वे हमेशा उन्हीं वस्तुओं का एक अंश देवताओं को चढ़ाते हैं जिनका वे प्रधानतया अपनी जीवन-रक्षा के लिए उपयोग करते हैं; जैसे, पहले ज़माने में झाड़ियाँ, फल और पौधे चढ़ाते थे, फिर जब जानवर उनका साधारण भोजन बन गए तो उनको चढ़ाने लगे', तो इसका सीधा अर्थ यही होगा कि मनुष्य-बलि और नरभक्षण भी साथ साथ चलते थे; परन्तु, यद्यपि ऐसे लेखबद्ध प्रमाण मौजूद हैं कि हिन्दू तथा प्राचीन ब्रिटेन जाति के लोग अनिष्ट-कारक देवताओं को नर-बलि चढ़ाते थे फिर भी यह विश्वास करने के लिए प्रमाण

नहीं है कि वे भक्त भी, चाहे वे (Celtic Belenus) कॅलिटक बेलिनू[१] हों अथवा (Hindu Bal) हिन्दू बाल हों, अपने देवताओं के इस भोजन में स्वयं भी भाग लेते थे यह सत्य है कि हम पाशविक अघोरी को लेकर आज भी नरभक्षण का उदाहरण दे सकते हैं, परन्तु यह तो नियम का एक अपवाद मात्र होगा। फिर भी, यद्यपि मानव की इस निम्नतम अवस्था का चाहे प्रमाण न मिले, हम यह सन्देह किए विना नहीं रह सकते कि इन जंगलों में रहने वाले नीचतम लोग, जिनका पेट मल-भक्षी गीदड़, विषभरी छिपकली और अधसड़े दुर्गन्धयुक्त गोमांस का विरोध नहीं करता, कभी इनके वदले में मानव-शरीर के किसी अंश का उपयोग करने में भी अधिक आपत्तिशील रहे होंगे।

हिन्दू-परम्परा की विशद शृङ्खला में ऐसे किसी भी समय का अनुसंधान नहीं किया जा सका है जव भारतवासी अग्नितत्त्व और उसके घरेलू उपयोगों से अपरिचित रहे हों; फिर भी, उन्होंने कभी इसका आविष्कार किया ही होगा जैसा कि पृथ्वी पर वसने वाली अन्य जातियों ने किया। यह कौन कल्पना करेगा कि अग्नि भी, जिससे प्रकृति भरी पड़ी है, एक आविष्कार है। चाहे आकाश में चमकने वाली बिजली, ज्वालामुखी (जिसका शब्दार्थ ज्वाला का मुख है), जो पृथ्वी का कलेजा फाड़ देते हैं अथवा वे अनगिनती सीताकुण्ड (गरम पानी के कुए) जो धरातल पर फैले हुए हैं और चाहे कोलम्बस की अण्डे वाली कहानी हमारे दिमाग में आवे, परन्तु जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो

"........प्राप्त होने पर यह इतनी आसान है,
जव अप्राप्त थी तो वहुतों ने सोचा था कि यह असम्भव वस्तु है।"

ऐसी अग्नि को प्राप्त करने का कृत्रिम तरीका भी एक आविष्कार ही था और वह वीजालु फलों का भोजन करने वालों के लिए तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, इसमें सन्देह नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से इस अत्यावश्यक तत्त्व का उपयोग किए विना रहने वाली जातियों का प्रमाण ढूंढ़ने के लिए हमें प्लिनी (Pliny)[२]

---

[१] (Celtic Belenus) कैल्टिक वेलिनू—आल्प पर्वत के उत्तर में बसने वाली जाति। प्राचीन लेखकों ने कैल्ट जाति के लोगों को लम्बे, नीली आँखों और सुन्दर बालों वाले चित्रित किया है। ताम्रयुग में ये लोग दक्षिण में गॉल, स्पेन, इटली, ग्रीस और एशिया माइनर की ओर वढ़े थे।—N. S. E. p. 250,

[२] (Pliny) प्लिनी, (२३-७९ ई०) यह इटली में कोमो (Como) नामक स्थान में पैदा हुआ था। वहुत विद्वान् था। इसके लिखे अनेक ग्रंथों में से अब केवल एक (Historia Naturalis) 'हिस्टोरिया नैचुरैलिस' नामक पुस्तक ही प्राप्त है जो ३७ भागों में है। यह पुस्तक प्राकृतिक विज्ञान का विश्वकोश मानी जाती है। इस विद्वान् ने अग्नि के आविष्कार और आदिम जातियों द्वारा उसके विविध उपयोगों पर विस्तार से विवेचन किया है।
—Webster's Biographical Dictionary, 1959, p. 1193

भारत की पिछड़ी जातियों भील, कोली, गौंड, मीणा और मेर आदि के विषय में गहरी छान-बीन करने से मानव के भौतिक इतिहास को बहुत सी महत्त्वपूर्ण कड़ियां मिल जाती हैं; परिगणित जातियों में भी चेहरे-मोहरे और अनुकरण एवं स्थान-भेद के कारण उत्पन्न हुई स्वभाव, विश्वास एवं रीति-रिवाजों की बड़ी-बड़ी भिन्नताएं देखने में आती हैं, यद्यपि मौलिकता की छाप सभी में समान रूप से मौजूद रहती है फिर भी गुण और स्वभाव इतने भिन्न हैं कि हमें एक ही महान् वंश से उनका निकास मानने का विचार छोड़ देना पड़ता है। नाटे, चपटी नाक वाले और तातारी मुखाकृतियुक्त एस्कीमो तथा प्राचीन एवं महान् मोहिकन[1] (Mohican) में और मेवाड़ के भील तथा सिरगूजर के कोली में कोई बड़ा अन्तर नहीं है, और ध्रुवदेशीय समुद्र के किनारे रहने वाले लोगों तथा मसूरी की घुमन्तू जातियों में उतनी ही भिन्नता है जितनी कि हमारे वनों के आदिवासियों और पूरे घुमक्कड़ राजपूतों में। यदि कभी आदमी जमीन में से कुकुरमुत्ते के पौधे की तरह अपने आप निकल पड़ा होगा तो यह कहा जा सकता है कि भारत के ये छत्रक (कुकुरमुत्ते के पौधे) अपने पहाड़ी जंगलों की चट्टानों और पेड़ों की तरह अभी तक उन्हीं स्थानों पर जमे हुए हैं जहाँ वे सर्वप्रथम उत्पन्न हुए थे। संचरणशील अङ्गों का नितान्त अभाव और दुर्जेय स्वाभाविक लापरवाही ही ऐसे गुण हैं जिनमें उस श्रमशीलता के एक अंश के भी दर्शन नहीं होते कि जिसके द्वारा घुमन्तूपन की कठिनाइयों का वीरता से सामना किया जाता है और इन्हीं अभावों के कारण हमारा यह विचार दूर चला जाता है कि ये लोग कहीं और देश में उत्पन्न हुए होंगे वरन् हम (Monboddo Theory) मोनबोडो सिद्धान्त[2] की ओर आकर्षित होते हैं कि ये लोग दुमदार जाति के ही सुधरे हुए रूप हैं। मैं इस बात को नहीं मानता कि लूट-पाट करने के लिए अपने जंगली घरों से निकल कर इधर-उधर हमले करते रहने मात्र को उनकी एकदेशिता के मूलभूत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई

[1] उत्तर-अमरीकी इण्डियन।

[2] Lord James Burnett Monboddo स्कॉटलैण्ड का रहने वाला था। न्याय विभाग में जज होते हुए भी वह नृवंशशास्त्र और प्राचीन भौतिकशास्त्र का अध्येता था। उसका मत है कि मनुष्य अपने आप जानवर की दशा से एक स्वतंत्र प्राणी के रूप में क्रमशः विकसित हुआ है और उसका मस्तिष्क इतना क्रियाशील हो गया कि उसकी गति शरीर तक ही सीमित नहीं रही। 'Ancient Metaphysics' और 'the Origin and Progress of Language' उसके लिखे दो विशाल ग्रन्थ हैं। उसकी मृत्यु १७९३ ई० में हुई।—Encyclopaedia Britannica, 1938, p. 690

प्रमाण मान लिया जाय। भील अपने स्थान (घर) पर उसी प्रकार लौट कर वापस आ जाता है जैसे कुतुवनुमा यंत्र की सूई उत्तर दिशा पर। उसके दिमाग में किसी अन्य प्रदेश में जा कर वसने का विचार ही नहीं आता है। इनके नामों से भी इस मत की पुष्टि होती है जैसे वनपुत्र, वन का पुत्र, मेरोत, पर्वत से पैदा हुआ[1] ; गोविन्द, जो गोप और इन्द्र मिल कर बंना है, का अर्थ है गुफा का स्वामी [?]; पाल-इन्द्र, घाटी का स्वामी। इसी प्रकार 'को' (पर्वत) शब्द से बने हुए 'कोल' का अर्थ है—'पहाड़ पर रहने वाला' यद्यपि यह 'को' शब्द संस्कृत के 'गिर' [गिरि ?] शब्द की अपेक्षा बहुत कम व्यवहृत होता है फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यह शब्द इन्डोसीथिक जाति के मूल धातु से वना है।

भीलों में पुरोहिताई का कोई सिलसिला न होने के कारण वे बळाइयों के गुरु को ही अपना गुरु मानते हैं, जो शूद्रों में बहुत नीची जाति का होता है। किसी भी विवाह के अवसर पर वह गुरु अपने आप ब्राह्मण का जनेऊ पहन लेता है और इस चिह्न को लेकर ब्राह्मण वन जाता है। परन्तु इस अवसर पर बने हुए भोजन में और [शराब के] प्याले में, जिसका दौर बराबर चलता रहता है, वह अवश्य भाग लेता है। ऐसे प्रत्येक अवसर पर लूट का दृश्य उपस्थित होता है और पूर्ण कलह के साथ ही उसकी समाप्ति होती है। वधू के साथ कितना भी 'डायजा' (दहेज) मिले, परन्तु वर के लिए यह आवश्यक है कि वह पिता को विवाह की दावत के निमित्त एक भैंस, बारह रुपए और दो शराब की बोतलें भेंट करे। जन्म के अवसर पर वही अपने आप वना हुआ ब्राह्मण उस (नवजात) बच्चे का नामकरण करता है। प्राय: उस बच्चे का नाम उस देवता पर रखा जाता है जो उसके जन्म दिन का स्वामी होता है, जैसे वुधवार को पैदा हुआ तो वुध, वच्ची हुई तो वुधिया। जन्म तथा मौत के अवसर पर रस्म में भाग लेने के लिए एक और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति वुलाया जाता है जो कामड़ा या गायक कहलाता है। ये लोग प्रत्येक वड़े गांव में एक-एक रहते हैं। वह जोगी या वैरागी के वेश में रहता है और कवरी [कवीर ?] पन्थ के गूढ सिद्धान्तों में दीक्षित होना उसके लिए आवश्यक है इसीलिए वह कामड़ा जोगी या कबीरपन्थी भी कहलाता है। जन्म के अवसर पर वह अपनी स्त्री के साथ आता है और पहली देहली के पास एक घोड़े की मूर्ति रख कर तम्बूरा लिए दरवाजे पर आसन ग्रहण करता

---

[1] मेरु-पुत्र।

पूर्ण मामला था। काबा राजधानी से पश्चिम की ओर दस मील की दूरी पर रहने वाली एक विशाल बिरादरी है। इनके दो आदमियों को सलूम्बर सरदार के एक सामन्त ने निर्दयता से मार डाला और उसने यह कार्य दिन-दहाड़े नगर के परकोटे के अन्दर सार्वजनिक कुए पर किया, मानों ऐसा कर के उसने सार्वभौम स्वामी (राणा) की सत्ता को चुनौती दी हो। इस प्रश्न पर 'सरना' या शरण का एक कठिन विषय उपस्थित हो गया था और वह भी मेवाड़ के प्रमुख सरदार के विरुद्ध। परन्तु अब दो में से एक ही रास्ता अपनाने को रह गया था; या तो राणाजी द्वारा की हुई सुरक्षा की प्रतिज्ञा और अपने प्रतिनिधि द्वारा ब्रिटिश सरकार को दिया हुआ भरोसा एक ओर रख दिया जाय या सलूम्बर सरदार के 'सरना' (शरण) के अधिकार की अवहेलना की जाय। अब संशय या दुविधा की कोई बात नहीं रह गई थी। तुरंत ही खोज शुरू हुई परंतु कोई फल न निकला। रात के अंधेरे में अपराधी शहर से बच निकला परंतु छुपने की लाख कोशिश करने पर भी मैंने सलूम्बर की सीमा में कितनी ही दौड़ें लगा कर उसे ढूंढ निकाला। मैंने सरदार [सलूम्बर के राव] को बुलाया और दोनों बातों में से एक को चुनने के लिए कहा कि या तो वह अपने मालिक (राणा) की अप्रसन्नता और हमारी मित्रता टूटने के परिणाम को भुगतने के लिए तैयार रहे अथवा हत्यारे की शरण तोड़ दे (Sirna toorna) और उसको कानून के हाथों में इस तरह सौंप दे कि जिससे उसकी भावनाओं को कम से कम ठेस लगे अथवा उन मान्यताओं को, जिन्हें वह अच्छी तरह जानता था कि मैं उनका कितना सम्मान करता था, कम से कम आघात पहुँचे। उसने कहा कि वह अपनी जागीर छोड़कर बनारस चला जायगा, जैसा कि पहले उसके किसी पूर्वज ने जमीन की अपेक्षा इज्ज़त को बड़ा समझ कर किया था और वहां पर घोड़ों के कोड़े बना कर जीवन का निर्वाह कर लेगा क्योंकि उस शरणागत को सौंपने से तो अपने भाई-बन्धुओं में ही उसका 'काला मुँह' हो जावेगा। इस तरह की वहुत सी बातें, पौरुषपूर्ण प्रतिवाद एवं इस कृत्य के बारे में पहले से जानकारी अथवा इसमें साजिश होने से शपथपूर्ण इनकार करते हुए उसने स्वीकार किया कि वह अपने नौकर को वही सजा देगा जिसके लिए उसका स्वामी (राणा) आज्ञा देगा। बातचीत एक समझौते के साथ समाप्त हुई कि अपराधी को सलूम्बर से निकाल दिया जायगा और अन्यत्र शरण लेने के लिए कह दिया जायगा; जब वह दूसरी जगह शरण लेने की तलाश में निकलेगा तब बीच ही में राणा के आदमी उसे धर पकड़ेंगे। उसकी मान-रक्षा की यह तरकीब तय हो जाने पर अपराधी को राजधानी में लाया गया। परन्तु,

शरण-स्थान के विशेषाधिकारों के विषय में कोई ऐसा रिवाज पड़ गया है, जो कुछ जागीरों की स्वीकृति के नियमों का अंग भी है, उसीकी आड़ में अपराधी की पहुँच की घोषणा करने में राणा अथवा उनके सलाहकारों द्वारा इस सम्पूर्ण कृत्य की घृणा मेरे ही ऊपर थोपने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि मैं उनकी सरकार के पक्ष का समर्थन करता था परन्तु बृटिश-प्रतिनिधि के चरित्र पर अनावश्यक रूप से ऐसा घृणास्पद आरोप भी नहीं चाहता था इसलिए मैंने जवाब दे दिया कि जहां तक राणा की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के संरक्षण का प्रश्न है उसमें मुझसे पूछताछ करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। दूसरे दिन तक मुझे कुछ खबर नहीं मिली जब कि खून का बदला खून से लिया जा चुका था जिसमें जङ्गलीपन व अनावश्यक कठोरता बरती गई। अपराधी को एक गड्ढे में सीधा खड़ा रख कर मिट्टी से पाट दिया गया, केवल उसका सिर धूप में खुला रक्खा गया और जब वह दिन भर आशंका से घुल घुल कर मर चुका तब अन्त में हथौड़े से उसकी खोपड़ी के टुकड़े टुकड़े कर दिए गए। कुछ ही वर्षों पहले, यदि ऐसी घटना होती तो राणा अपमान सह कर रह जाते और सलूम्बर के राव से बहुत कम शक्तिशाली सरदार का भी सरना तोड़ कर शेर को उसकी माँद में जाकर ललकारने का विचार तक न करते। अस्तु, इस प्रकार बदला लेने के बाद, राणा ने मृतक भीलों के प्रतिनिधियों को बुलाया और उनको पगड़ियाँ (शिरोपाव) तथा चाँदी के कड़े प्रदान करके काबा जाति को प्रसन्न किया। उनकी स्वामिभक्ति प्राप्त करने में इस घटना ने एक सेना-संगठन से भी अधिक लाभप्रद कार्य किया।

परन्तु दुर्भाग्य से वनपुत्रों के मित्र बहुत कम हैं और (सभ्य) समाज से बहिष्कृत होने के कारण उन्हें 'ईसाउ[1] (Esau) के पुत्रों' के समान समझा जाता

[1] वाइविल की गाथा के अनुसार ईसाउ (Esau) आइज़क (Isac) और रैबैका (Rebecca) का पुत्र और जैकब (Jacob) का बड़ा जोड़ला भाई था। जन्म के समय से ही इसके शरीर पर बहुत से वाल थे इसलिए इसको Esau कहने लगे। इसे शिकार का वहुत शौक था। एक वार यह कहीं लम्वा निकल गया और लौटते समय भूख और प्यास से व्याकुल हो गया। उस समय उसका छोटा जोड़ला भाई जैकव दस्तरखान पर वैठा अच्छे-अच्छे माल और मांस उड़ा रहा था। ईसाउ ने भी उसमें शामिल होने की इच्छा प्रकट की तव जैकव ने उसे इस शर्त पर भोजन करने दिया कि वह अपने वड़ेपन का हक छोड़ दे। ईसाउ को उस समय पेट-पूजा के अतिरिक्त और कुछ न सूझा और उसने अपने समस्त अधिकार जैकव के हक में छोड़ दिए। वाद में उसने दो विदेशी एवं विजातीय कनाटिश Canaatish (जिसे अब सीरिया पैलस्टाइन कहते हैं) स्त्रियों से विवाह

है। एक और भी दुःखपूर्ण घटना का दायित्व हम पर आ पड़ा और वह भी दुर्भाग्य से उस समय जब कि उनके बीच में मेरा निवास-काल प्रायः समाप्त हो रहा था। राठौड़ों और हाडाओं के देश में बार बार आते-जाते रहने से उदयपुर में मेरी अनुपस्थिति के कारण इन गरीब भीलों को शत्रुओं ने दबा दबा कर बहुत से हिंसक कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया था; और मौके पर निरन्तर उपस्थित रह कर उन पर कड़ा निरीक्षण रखे बिना उनकी उत्साहपूर्ण आज्ञाकारिता के अपराध-वृत्ति में बदल जाने के भेद को जान लेना सम्भव नहीं था। उनके राजपूत सरदार छेड़ छाड़ अथवा शान्तिभङ्ग करने के लिए उनको कई तरह के छल-कपटपूर्ण तरीकों से प्रोत्साहित करते थे और वे बेचारे (ऐसे कार्यों में) अपने प्राकृतिक रुझान के कारण आसानी से जाल में फँस जाते थे; कभी वे यात्रियों को लूट लेते या जंगलों में से लकड़ी या बाँस काटते समय नीमच की छावनी के अंग्रेज सिपाहियों को तंग करते। छावनी के तत्कालीन अध्यक्ष वीर कर्नल लडलो[1] (Ludlow) के पास से ऐसी गड़बड़ी की शिकायतें मेरे पास बराबर आती रहती थीं; अन्त में, एक फौजी टुकड़ी को लूटकर जंगल में अपने स्थानों में जा छुपने के एक और भी अधिक दुस्साहसपूर्ण कार्य ने राणा जी के पास शिकायत करने और अपनी ही सेना द्वारा उनको इस अपराध का दण्ड देने के आदेश प्राप्त करने के लिए मुझे बाध्य कर दिया गया। आज्ञा प्राप्त होते ही लॅफ्टिनॅण्ट हॅपबर्न (Hepburn) की अध्यक्षता में एक टुकड़ी तैयार की गई और उसने इतनी होशियारी से कार्य किया कि अचानक ही गाँव को जा घेरा और लगभग तीस अपराधियों को, जिन्हें पीड़ित लोगों ने पहचान ही नहीं लिया था वरन् जिनके घरों में लूट के

[पृ० ४३ की टिप्पणी का शेष]

इसने अब्राहम के पवित्र वंश से विच्छेद कर लिया। केवल लाल दाल के शोरबे के लिए समस्त अधिकार छोड़ देने के कारण इसका नाम Edom (जिसका अर्थ 'लाल' है) पड़ा। इसीलिए इसके अनुयायी Edomites (एडोमाइट्स) कहलाने लगे। यही लोग Sons of Esau (ईसाऊ के पुत्र) नाम से प्रसिद्ध हैं जो तत्कालीन समाज में अवरकोटि के समझे जाते थे।

—E. B. Vol. VIII, p. 533

[1] लेफ्टि० कर्नल जॉन लडलो भारत में १६ फर्वरी, १७९५ ई० में आया था। उसने १८१४-१५ ई० में हुए नेपाल-युद्ध में प्रसिद्धि प्राप्त की और उसे १८१८ ई० में मेवाड़ स्थित सेना-अधिकारी का लें० कर्नल नियुक्त किया गया। बाद में नीमच की छावनी का कमाण्डेण्ट बना और २२ सितम्बर, १८२२ ई० में मृत्यु होने तक वह उसी पद पर रहा।

List of Inscriptions on Tombs and Monuments in Rajputana and Central India; O.S. Crofton-1934; p. 77.

प्रमाण भी प्राप्त हो गये थे, कैद कर लिया। दुर्भाग्य से, इस मामले को अपनी ही समझ से न निपटाकर लॅ० हॅपबर्न उन क़ैदियों को छावनी में ले आए और कर्नल लडलौ को व मुझे घपले में डाल दिया। मेरे द्वारा नतीजे की सूचना राणाजी के पास भेजी गई और ऐसे दुस्साहसपूर्ण कार्यों को रोकना आवश्यक होने के कारण कर्नल लडलौ को उनमें से पांच या छः अगुआ भीलों को चुनने का आदेश दिया गया। फिर वे लोग राणाजी के एक विश्वासपात्र अधिकारी को सौंप दिए गए जिसने उनको दी हुई फाँसी की सजा का भुगतान कर दिया और उनको सरहद के उन स्थानों पर लटका दिया जहां वे लूटमार किया करते थे। उनमें से पाँच को तो सज़ा दे दी गई परन्तु एक को उसकी युवावस्था व मेरी प्रार्थना के कारण राणाजी के अधिकारी ने छोड़ दिया। वाद में, उसे मेरे पास जीवनदान के लिए धन्यवाद देने को उपस्थित किया गया और उसने भविष्य में ऐसे हमलों में कभी भाग न लेने की प्रतिज्ञा की। वह उन्नीस वर्ष का था; मँझला कद, दुवला-पतला किन्तु गठीला शरीर; चेहरा चमकदार स्पष्ट ताम्र वर्ण, आँखें और बाल घने काले; और यद्यपि वह डरा हुआ और इस नवीन परिस्थिति से अभिभूत था फिर भी, जहां तक अनुमान किया जा सकता है, उसके चेहरे का सरलभाव उसमें दोषों का नितान्त अभाव ही व्यक्त कर रहा था। इस आवश्यक कठोरतापूर्ण घटना का दुःख मेरे हृदय से वहुत समय तक दूर न हुआ और विशेषकर तब जब कि मुझे प्रमाण में यह वताया गया कि फौजी टुकड़ियाँ वाँसों की अपेक्षा भीलनियों की तलाश में अधिक घूमा करती थीं। हत्या के अपराध के अतिरिक्त मुझे मृत्यु-दण्ड अच्छा नहीं लगता; योग्यतानुसार जुर्माने और सम्पत्ति से वञ्चित करने के दण्ड अधिक प्रभावशाली सजा का काम करते हैं।

भीलों के ही विशाल परिवार में सैरिया (Saireas) जाति के लोगों को मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। ये लोग मालवा और हाड़ौती को विलग करने वाले पहाड़ों और उन की ऊँची नीची सभी श्रेणियों में वसे हुए हैं जिनकी कुछ शाखाएं तो मालवा के पठार के किनारे से चन्देरी और नरवर में होती हुई गोहद (Gohud) में जाकर समाप्त हो गई हैं और कुछ वुन्देलखण्ड की पहाड़ियों में जाकर मिल गई हैं, जिनमें पहले सरजा (Sarja) जाति के लोग वसते थे, जो अब नहीं मिलते, परन्तु वहुत करके वे मध्य भारत के सैरिया ही थे। राजपूतों की राज करने वाली छत्तीस जातियों में एक सरी-अस्प (Sariaspa)[1]

[1] एनल्स, १९२०; पृ० ९८-९९ पर छत्तीस राजकुलों में 'सरवैया' नाम है।

भी है जिसका संक्षिप्त सैरिया (Saria) है। इन लोगों के बहुत पुरानी तिथि के शिलालेख मिले हैं जो इस बात के द्योतक हैं कि वे भारतवर्ष की बहुत पुरानी जातियों में से हैं। इस बात की छानबीन करना अनावश्यक है कि यह पतित जाति (सैरिया) उन्हीं लोगों की अवैध सन्तान हैं या क्या? अस्प अथवा अश्व जाति निश्चित रूप से इण्डो-सीथिक (Indo-Scythic) मूल की है; क्योंकि 'अस्प' शब्द फारसी में और 'अश्व' शब्द संस्कृत में घोड़े के लिए प्रयुक्त होता है और यदि सैरिया लोग उन्हीं की अवैध सन्तान हों तो उनके रीति-रिवाजों में घोड़े के प्रयोग का यही कारण हो सकता है। मैंने मध्य एशिया की प्राचीन जातियों में चौपायों के आधार पर नाम रखने के रिवाज़ पर अन्यत्र प्रकाश डाला है। इस प्रकार हमें अस्प या घोड़े के अतिरिक्त ट्रांसोजाइना (Transoxiana)[1] के गेटी (Gatae) या जीतों (Jit) की विशाल शाखा (Noomris) या लोमड़ी तथा मुलतान और उत्तरी सिन्धु (Indus) के वराह या शूकर भी मिलते हैं। परन्तु पशुओं अथवा वनस्पति-सूचक उपसर्गों द्वारा परिवारों की भिन्नता का ज्ञान कराने की प्रणाली प्रायः सभी देशों में प्रचलित है और बहुत से नाम तो, जिनके प्रति उच्चारण की महत्ता एवं ऐतिहासिक संस्मरणों की दृष्टि से हम आदरभावना रखते हैं, बहुत ही साधारण एवं प्रायः किसी भद्दी सी तुच्छ घटना से जन्म लिए हुए हैं; जैसे शूरवीरता का द्योतक शब्द प्लाण्टाजैनेट 'Plantagenet' तुच्छ बुहारी से निकला हुआ है।[2] इण्डस् (Indus) और ऑक्सस् (Oxus) की अश्व, लोमड़ी और शूकर जातियों के अतिरिक्त शशक (सीसोदिया अथवा अधिक सही रूप में सुस्सोदिया), कुश (घास) से कुछवाहा आदि नाम भी इसी प्रकार के हैं।

मध्यभारत के पठार पर बसने वाले सैरियों का उद्गम कहीं से भी हो, परंतु उनमें वही नैतिक व भौतिक विशेष गुण मौजूद हैं जो भीलों में पाए जाते

---

[1] मध्य एशिया के आमू और सर दरिया के बीच का भूभाग।

[2] Anjou (एन्जू) के काउण्ट Geoffrey (ज्यॉफ्री) ने वीरता-सूचक Planta Genistac (बुहारी की तरह का तुर्रा) सर्व प्रथम अपने शिरस्त्राण में धारण करना आरम्भ किया था। वह जरूसलम के राजा Fulk (फुल्क) का पुत्र था। ज्यॉफ्री की सुन्दरता से आकर्षित होकर इंगलैण्ड के बादशाह हैनरी प्रथम ने अपनी विधवा पुत्री एम्प्रेस मॉड का विवाह उसके साथ कर दिया था। इन दोनों का पुत्र हेनरी द्वितीय था जो ११५४ ई० में गद्दी पर बैठा। वह अपने पिता के अलंकरण के कारण प्लाप्टाजैनट वंश का राजा कहलाया। यह पद ३०० वर्षों तक इंगलैण्ड के राजाओं की उपाधि बना रहा।

—E. B. Vol. xix; p. 175

हैं। हाँ, उनमें वे दुर्गुण नहीं हैं जिनके लिए इसी जाति के अत्यन्त पतित पश्चिमी लोग वदनाम हैं। संरियों में कोई परहेज नहीं है, वे कुत्ते और बिल्ली के अतिरिक्त सब चीजें खाते हैं; यह घृणा कहां से शुरू हुई अथवा यह उनके पश्चिम और दक्षिण में बसनेवाले भाईबन्धुओं में भी प्रचलित है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। ये लोग प्रायः शिकार पर ही निर्भर रहते हैं और इस कला में अत्यंत निपुण हैं; वे इसका अभ्यास नीलगाय और जंगली सूअर जैसे बड़े पशुओं से लेकर गरीब खरगोश तक सभी वनपशुओं पर करते हैं। लोमड़ियाँ, गीदड़, साँप और छोटी वड़ी छिपकलियाँ उनके अधिक स्वादिष्ट पदार्थों में हैं जो जंगल में बहुतायत से मिल जाते हैं; सारांश यह है कि मनुष्य ने जिन जानवरों को पालतू वना लिया है उनके सिवाय वे कुछ भी नहीं छोड़ते। जंगली फलों में वे तेंदुआ, चिरोंजी, आँवला, इमली और कोविदार आदि के फलों को इकट्ठा कर लेते हैं जिनको या तो स्वयं काम में ले लेते हैं अथवा अनाज के बदले में बेच देते हैं। दवा के लिए वे बहुत सी जड़ें जमीन खोदकर निकालते हैं, जैसे कोळीकाँटा (Coli-cunta) जिस से मांडी या कलफ़ बनती है और कुश-घास (दाभ) की रेशेदार जड़ें, जिस से बृश बनाते हैं; ये दोनों ही वस्त्रधारियों के लिए अत्यंत आवश्यक वस्तुएँ हैं। इसी तरह वे इन हिस्सों में लकड़ियां भी काटते हैं और इस व्यवसाय में कितनी ही तरह के गोंद इकट्ठे कर लेते हैं जो दवाओं तथा अन्य उद्योगों में काम आते हैं। एक और कला है जो विशेषकर इन्हीं लोगों की, है वह है विविध वृक्षों की छालों और जड़ों को भिगोकर मुलायम करना और फिर उनसे रस्से या सूतली बनाना; इन पेड़ों में केशूला मुख्य है जिसकी दोनों किस्मों को ये लोग पहचानते हैं। एक और जड़ जिसको बखोरा (Bukhora) कहते हैं, उससे ये रस्सियां बनाते हैं। छालों के रेशेदार हिस्से को भी जड़ों में मिलाते हैं या नहीं, यह तो मैं निश्चय रूप से नहीं कह सकता, यद्यपि मेरी टिप्पणी से यही अर्थ निकलता है, परंतु वे उस सबको (कूट पीट कर) बहुत नरम और लसदार बना लेते हैं, फिर उसमें से लम्बे और बारीक तन्तु खींच कर निकालते हैं जिनको छाया में सुखा लेने के बाद कितने ही लंबे लंबे रस्से बँट लेते हैं। वे वहेड़ा और हर्रे नामक छोटे छोटे फल भी इकट्ठे करते हैं जो शाहाबाद की पहाड़ियों में बहुत मिलते हैं और जिनको रंगरेज लोग पीला रंग बनाने के काम में लेते हैं; (इसी तरह) रीठा है जो कपड़ा सफेद करने में साबुन की एवज काम में आता है। हाडौती में—यह वर्णन मुख्य रूप से इसी प्रान्त की सैरिया जाति के लोगों का है—ये लोग महुआ नामक फल एकत्रित करते हैं जिससे व्हिस्की से मिलती-जुलती शराव

तैयार कर लेते हैं तथा अपनी गर्दन को ज़ोखिम में डालकर तड़की हुई चट्टानों पर चढ़ जाते हैं और मधुमक्खियों द्वारा उत्पादित सम्पत्ति (मधु) को लूट कर ले आते हैं। यदि लोहे के खुरपे से थोड़ी सी जमीन को खोदकर बीज डाल देने को ही खेती करने के अर्थ में लिया जाय तो ये लोग कभी कभी कुछ जमीन के टुकडों में खेती भी करते हैं। जब मुख्यतः 'भारतीय अनाज'[१] अथवा मक्का की छोटी सी फसल पकने पर आती है तव वे अपने परिवारों के साथ इसके आस पास इकट्ठे हो जाते हैं और अच्छी तरह पकने तक उसको हरी अवस्था में से ही खाने लग जाते हैं।

इन लोगों की नैतिक आदतों के बारे में हम बहुत प्रशंसा कर सकते हैं। यदि हम उस व्यक्ति[२] के वाक्यों का प्रयोग करें कि जिसके गहरे ज्ञान के द्वारा मुझे इनकी जानकारी प्राप्त हुई, तो कहेंगे कि कृतज्ञता के विषय में इन लोगों की वहुत ही कोमल भावनाएं हैं और इधर यह वाक्य तो कहावत बन गया है कि 'किसी सैरिया को एक बार भोजन करा दीजिए वह उम्र भर याद रखेगा।' नरवर, श्योपुर और चम्बल के बाएं तट की पहाड़ियों में ये प्रकृति-पुत्र वहुत वड़ी संख्या में पाए जाते हैं और इनकी पहली इच्छा यह होती है कि उनको महामाया के वरदानों का उपभोग करने के लिए खुला छोड़

---

[१] मक्का, मूल भारतीय धान्य नहीं है। इसे कोलम्वस ने 'रेड इण्डियन्स' से प्राप्त किया और स्पेन व पुर्तगाल के व्यापारी १५४० ई० के लगभग इसे भारत में लाये थे। इससे पूर्व के भारतीय साहित्य में इसका उल्लेख प्रायः नहीं मिलता है।

—देखिए; स्वर्गीय डॉ० पी० के० गौडे का म० म०, प्रो०, डी० वी० पोद्दार स्मारक ग्रंथ में प्रकाशित 'मक्का' का इतिहासविपयक लेख। पृ० १४-२५

[२] फतह, मेरा एक डाक जमादार, जिसका नाम मैंने 'इतिहास' (Annals) में लिखा है ने इन लोगों को डाक-मार्ग पर डाक दौड़ाने वालों में वदल दिया था। इन्हीं जंगली जातियों के भरोसे पर में उस समय वम्वई और गङ्गातट के प्रान्त के वीच पत्रव्यवहार जारी रख सका था जब कि मैंने अपने अन्य कर्तव्यों के साथ साथ सिंधिया की छावनी के पोस्ट-मास्टर का कर्तव्य भी अपने ऊपर ले लिया था; और १८१५ ई० में मार्कुइस हेस्टिंग्स के पास, जो उस समय गंगा किनारे फर्रुखाबाद में थे, विलायत से आई हुई एक महत्त्वपूर्ण डाक वम्वई से इतनी दूर केवल नौ दिनों में भेज सका था। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह दूरी नौ सौ मील से भी अधिक है और रास्ता उन देशों में होकर जाता था जिन पर वृटिश सरकार, उनके मित्रों या उनके शत्रुओं में से किसी का अधिकार नहीं था।

दिया जाय; परन्तु, उन्हें इसकी स्वतन्त्रता नहीं है। बेचारे वनवासी का मूल्य सृष्टि (के जीवों) की माप में शूकर अथवा लोमड़ी से बढ़कर नहीं समझा जाता जिनका कि वह (स्वयं) शिकार करता है; और न उसके समृद्ध ज्येष्ठ बन्धु उसे 'पाताल-पुत्र' (नर-पुत्र) अथवा ऐसे कहीं किसी हीन सम्बोधन के अतिरिक्त अन्य नाम से पुकारते हैं। मैं यहां यह भी बता दूं कि उत्तरी और पश्चिमी हिस्सों में रहने वाले भीलों के शरीर में वर्ण का कोई अन्तर नहीं है, हाँ! गठन में अवश्य ही थोड़ी बहुत भिन्नता है; उत्तरी भीलों के ओठ आगे निकलते हुए, बदन तगड़े और मोटे तथा पेट बड़े बड़े होते हैं। इन लक्षणों में वे मेवाड़ के भीलों की अपेक्षा छोटा नागपुर और सरगूजा के निवासियों से अधिक मिलते हैं यद्यपि सरगूजा के कोली से कम जो नीग्रो और असली उजले भील के बीच की कड़ी को जोड़ता हुआ सा प्रतीत होता है।



प्रकरण ४

बीजीपुर (Beejipoor) [विजयपुर] अरावली का दृश्य; ऋतु की प्रतिकूलता; रायँ-(Rayn) पुरजी [राणपुर] का मन्दिर; सिक्के; पुराने कस्बे; जैन साधुओं के प्रति राणाजी का सम्मान; बीजीपुर की भ्याद [भायात]; सीरिया और सौर प्रायद्वीप के बीच धार्मिक आचारों के विषय में आदान-प्रदान; सूर्यपूजा; वीरगाँव; मीणों के गाँव; मीणों के झगड़े का उपाख्यान; तेज गर्मी की मात्रा के चौखटे पर विभिन्न प्रभाव; वही (Buhee); देवड़ा राजपूतों की राजधानी; सिरोही (Sarohi); शिवमन्दिर; चौहाणों के इण्डोगेटिक (Indo-Getic) रीति-रिवाज; सिरोही राज्य की दशा; लेखक के प्रयत्नों से इसका मारवाड़ की अधीनता से छुटकारा; इस प्रयत्न के लाभप्रद परिणाम; भारतीय राजाओं के प्रति वरतने योग्य नीति; वृटिश भारत में कानूनी संग्रह-ग्रंथ का अभाव; सिरोही का भूगोल; पूर्व-यात्रियों द्वारा राजपूतों का वर्णन; राव से मुलाकात; राजधानी का वर्णन; देवड़ों का पूर्व इतिहास।

जब मैं शीतलामाता की घाटी पार करके निकला तब प्रायः दोपहर हो चुका था और ज्यों ही मुझे आबू का ऊँचा शिखर दिखाई पड़ा त्यों ही मेरा हृदय खुशी के मारे उछलने लगा और मैं 'सायराक्यूस के सन्त' की तरह कह उठा 'यूरीका' अर्थात् 'मिल गया'।[1] अगले आध घण्टे ने मुझे अपने डेरे में बीजीपुर पहुँचा दिया—थर्मामीटर ९८° और बॅरॉमीटर २८°६०' द्वारा, मेवाड़ के मैदानों और अरावली के किनारे किनारे दोनों ओर फैले हुए मारवाड़ के ऊँचे मैदानों में, ५०० फीट की ऊँचाई का अन्तर बतला रहे थे। तीन बजे (दिन) बॅरॉमीटर २८°५० और थर्मामीटर १०२° पर थे और पश्चिम में बादल इकट्ठे हो रहे थे तथा गरम हवाएं जंगल में सिराको (Sirocco)[2] ववण्डर उड़ा रही थीं। जब मैंने गरम और सूखी रेत में खड़े होकर, जिस पर मेरा डेरा गड़ा हुआ था, उन ऊँचे और प्रसन्नता भरे स्थानों की ओर देखा जिनको मैं पीछे छोड़

---

[1] आर्किमिदीस नामक ग्रीक वैज्ञानिक को पानी की उछाल के कारण विभिन्न धातुओं के तौल में भिन्नता आने का रहस्य उसके स्नानागार में, जब वह टब में उतरा तब, अचानक सूझ पड़ा तो इस खोज की खुशी में वह नंगा ही बादशाह के दरबार में 'यूरीका' 'यूरीका' (मिल गया, मिल गया) चिल्लाता हुआ दौड़ पड़ा क्योंकि बादशाह अपने स्वर्ण-मुकुट में मिलावट की जांच करने के लिए उससे कह रखा था।

[2] सिरॉको (Sirocco) इटली में अफ्रीका से समुद्र पार करके आने वाली धूल भरी सूखी हवाओं को कहते हैं। यह शब्द प्रायः दक्षिण से आने वाली गरम और नम हवाओं के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

आया था, तब मुझे अपने ठंडक पहुँचाने वाले उपकरणों को फैंक देने की मूर्खता पर पश्चात्ताप हुआ। दृश्य वास्तव में शानदार था और मेवाड़ के क्रमिक चढ़ाव वाले किसी भी भाग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता था। यहाँ से मैंने महान् अरावली के सीधे और निकले हुए मुखभाग के दृश्य को नज़र भर कर देखा – विभिन्न प्रकार के प्रस्तर खंडों के कारण विविध दृश्यावली-युक्त व गुम्बद-सरीखी इसकी चोटियाँ, जंगल और झाड़ियों से पटी हुई गहरी एवं अन्धेरी गुफाएं, जिनमें होकर स्फटिक के समान स्वच्छ जल वाले कितने ही पानी के झरने अपने पहाड़ी उद्गम से चुपचाप निकल कर मरुस्थली के निवासियों को ताज़गी पहुँचाने के लिए इधर आ पहुँचते हैं। गरमी असाधारण रूप से तेज़ थी और इस साल वर्षा कम होने के कारण इन 'नाडों' में से कुछ ने तो अपने रेतीले पेटे को बिलकुल ही छोड़ दिया था। यदि जनसेवा से अवकाश मिल पाता तो मैं कोई एक पखवाड़ा पहले ही रवाना हो जाता क्योंकि 'छोटा बरसात' अर्थात् आरम्भिक मानसून के बादल इकट्ठे होने लग गए हैं और मुझे डर है कि कहीं मेरे मनसूबे धरे ही न रह जायें। पहले ही एक चीज रही जा रही है जिसकी खातिर मैंने भीलों के वन में होकर जाने की अपेक्षा इस मार्ग को अधिक पसन्द किया था—वह है सादड़ी की नाळ में रायँपुरजी [राणपुर] का मन्दिर। यह नाळ अरावली के अङ्गों में से उन दरारों में है जहाँ केवल पैदल-यात्री ही जा सकते हैं। यद्यपि यह स्थान यहाँ से सामने ही दिखाई पड़ता है परन्तु, वहाँ पहुँचने की मेरी हिम्मत नहीं होती क्यों कि जिधर मेरी यात्रा के अन्य बहुत से उद्दिष्ट स्थान हैं उस मार्ग से यह बिलकुल विपरीत दिशा में पड़ता है। यह एक भ्रम ही था यदि इस विशाल ढेर को देखने सम्बन्धी अपनी योग्यता की कुछ भी परख कर पाता तो आज से दो वर्ष पहले उदयपुर से जोधपुर जाते समय ही मुझे इसको देख लेना चाहिए था। यह तथा बहुत से दूसरे स्थान किसी भावी यात्री के लिए छूटे जा रहे हैं, जिसको यहाँ पर, यद्यपि न तो अत्यन्त प्राचीन कुम्भलमेर व अजमेर के मन्दिरों की सी उत्कृष्ट अनुरूपता मिलेगी और न बाड़ोली और आबू की सी मूर्तियां ही दिखाई देंगी परन्तु एक सुदृढ़ गौरव के दर्शन अवश्य होंगे।

मैंने अपने दूतों को बाली नामक जैन कस्बे के लिए आगे रवाना कर दिया था; यहां पर सौराष्ट्र की प्राचीन राजधानी वलभी के निवासी पाँचवीं शताब्दी में इण्डो-सीथिक जाति के आक्रमणकारियों से तंग आकर आ बसे थे। उन लोगों ने यहाँ बहुत से विचित्र सिक्के इकट्ठे कर लिए थे जो कुछ तो इण्डो-सीथिक ठप्पे के थे जिनमें एक तरफ किसी राजा की मुण्डी और दूसरी

तरफ़ वेदी बनी हुई थी। लेख उन्हीं गूढ अक्षरों में था जिनका कुछ विवरण[१] मैं पहले दे चुका हूँ। दूसरे सिक्के भी इसी तरह अपने ही ढंग के थे जिनमें सीधी तरफ गूढाक्षरों से (यदि हम इस शब्द का प्रयोग कर सकें) युक्त घोड़े पर सवार, हाथ में भाला लिए हुए किसी योद्धा की अथवा घुटने टेक कर बैठे हुए नन्दीश्वर की मूर्ति बनी हुई थी और दूसरी ओर संस्कृत अक्षरों में किसी राजपूत राजा का नाम ठपा हुआ था, परन्तु उसमें तिथि, जाति अथवा देश का कोई उल्लेख नहीं था।[२] देखने में प्राय: उसी काल के सिक्कों की एक तीसरी किस्म भी थी जिन में एक ओर देवनागरी अक्षरों में ही किसी हिन्दू सम्राट् का नाम व पद अंकित था और दूसरी ओर महमूद महान् का। निस्सन्देह, बादशाह गज़नवी[3] द्वारा विजय के उपलक्ष में अपनी सफ़री टकसाल में यह ठप्पा बाद में लगवाया गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे कि फ्रांस के गण-तन्त्रियों ने लुई १६वें के सिक्कों पर दूसरी तरफ स्वतन्त्रता की देवी (की मूर्ति) अङ्कित करा दी थी।[४] मेरी इच्छा थी कि मुझे इस प्रदेश के प्राचीन शहरों में जाकर स्वयं अनुसन्धान करने का समय मिलता जहाँ अरावली की समीपता के कारण अणहिलवाड़ा और सौराष्ट्र राज्य के निवासियों ने ग्रीक, पार्थियन और हूण जातियों से बार बार आक्रान्त होकर शरण ग्रहण की थी। बाली में ही मुझे मेवाड़ के राजाओं से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली

---

[१] देखिए Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol.i, p. 338. Plate 1, No 1.

[२] वही p. 338; Plate Nos. 2 & 3.

[3] सुलतान महमूद गज़नवी ने १०२१ ई० में पंजाब पर अधिकार कर लिया था। १०५१ ई० के बाद लाहौर उसके वंशजों की राजधानी हुई। यहां उन्होंने कुछ छोटे-छोटे गंगा-जमनी सिक्कों पर एक तरफ अरबी-लिपि के आरम्भिक चौकोर अक्षरों में इबारत ठाप दी और सीधी तरफ राजपूती नन्दीश्वर की मूर्ति बनी रहने दी। स्वयं महमूद ने लाहौर में एक विशिष्ट टंक सिक्के पर ठप्पा लगाया था। उसमें लाहौर को महमूदपुर लिखा है। इस सिक्के पर एक ओर उसका नाम और अरबी में लेख है तथा दूसरी ओर 'कलमा' का संस्कृत अनुवाद है।

—The Coins of India—C.J. Brown, 1922; p. 69.

[४] लुई १६ वाँ फ्रांस के बादशाह लुई १५ वें का पौत्र था। वह अपने पितामह की मृत्यु के बाद १७७४ ई० में गद्दी पर बैठा। १७८९ ई० में क्रान्ति हुई और वह पैरिस से भाग गया परन्तु पकड़ लिया गया। १७९२ ई० तक वैधानिक राजा की भांति वह फिर राज्य करता रहा परन्तु इसके बाद राजसत्ता समाप्त कर दी गई और उसका सर उड़ा दिया गया।—N.S.E.; p. 818

का खर्रा प्राप्त हुआ और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस जती [यति] ने मुझे यह नामावली दी थी वह अब भी अर्थात् तेरह शताब्दियाँ बीत जाने पर भी 'गुरु' के सम्मान्य पद का उपभोग कर रहा था। धार्मिक मामलों में राजपूत लोग प्रायः सहनशील होते हैं और वर्तमान राणाजी तो ऐसे हैं ही। अस्तु, जैन-मतावलम्बियों के प्रति इन लोगों का व्यवहार विशेष सम्मानपूर्ण होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना जैनों की धार्मिक अथवा सामाजिक विशेष स्थिति के कारण है परन्तु (इतना अवश्य है कि) यह उनके पूर्वजों के प्रति किन्हीं महत्त्वपूर्ण सेवाओं के परम्परागत कृतज्ञभाव के कारण से उद्भूत है जो सम्भवतः उन्होंने वलभी के नाश के अवसर पर की होंगी। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब कभी किसी जैन के विषय में महत्त्व का मामला उठता और मन्त्री इस बात पर ज़ोर देता कि उसके कब्ज़े में ऐसी जायदाद है जिस पर उसका कोई हक नहीं है और वह सार्वभौम शासक (राणा) द्वारा अधिग्राह्य है तब यह कह कर बात टाल दी जाती थी कि उसे तंग न किया जाय क्योंकि राणाजी के पूर्वजों पर इस सम्प्रदाय का इतना बड़ा आभार है कि जिससे वे तथा उनके वंशज कभी उऋण नहीं हो सकते। इस भावना से प्रेरित होकर तथा अपनी सर्वधर्मप्रियता की प्रवृत्ति के कारण ही जब कभी जैन साधु अपने अनुयायियों को दर्शन देने के लिए मरुभूमि को जाते समय उदयपुर होकर निकलते तब राणाजी स्वागत के लिए उनकी अगवानी करते और राजधानी तक साथ साथ आते। इन लोगों को जो रियायतें और अधिकार-पत्र मिले हुए हैं उनके बारे में मैं 'इतिहास' में विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुका हूँ।

बीजीपुर [विजयपुर] चार भागों में बँटा हुआ है और राजपूतों के कब्जे में है जो नाणा बेड़ा (Nana Bera) की भायात (Bhya'd) या बिरादरी के कहलाते हैं और जिनका मुखिया नाणा (Nana) में रहता है। ये अमर (वीर) राणा प्रताप के वंशज हैं और व्यावहारिक उपाधि 'बाबा' अथवा 'बालक' का उपयोग करते थे तथा राणाजी के दरबार में सनवाड़ के सरदार[1] के बराबर सम्मान प्राप्त करते थे। किन्तु बाली तथा इस भूभाग से युक्त गोड़वाड़ प्रांत के मारवाड़ के राजाओं द्वारा विश्वासघातपूर्ण अपहरण होने के साथ ही

---

[1] सनवाड़ के सरदार महाराणा उदयसिंह के तीसरे पुत्र वीरमदेव के वंशज होने से वीरमदेवोत राणावत कहलाते हैं और 'बाबा' उनका खिताब है। खेराबाद के बाबा संग्रामसिंह के छोटे पुत्र शम्भुसिंह को सनवाड़ की जागीर मिली थी।

उ०रा०इ०, जि० २; पृ० ६६६

ये संबंध विच्छिन्न हो गए और अब प्रताप के ये बालक जोधपुर के अधीन हैं। परन्तु इस नवीन शक्ति के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हुए भी यदि इनसे यह पूछा जाय कि उनकी 'आन' किस पर है तो यह बात तुरंत ही विदित हो जायगी कि राजपूतों की निर्णय-बुद्धि किस प्रकार दो स्वामियों की सेवा में समन्वय कर सकती है। 'राजस्थान के वीर' का एकमात्र प्रतिनिधि मुझ से मिला था। वह यद्यपि ऊपर से मारवाड़ी पोशाक पहने हुए था, फिर भी हृदय और महान् व्यक्तित्व से उसके उज्ज्वल वंश-सम्बन्धी कोई भी चिह्न तिरोहित नहीं हुए थे। राजकुमार अर्थात् युवराज के अतिरिक्त मुझे बीजीपुर (विजय का नगर) के सरदार से अधिक सुन्दर राजवंशी कोई भी न मिला; गौरव के लिए पर्याप्त लम्बाई, शरीर सुदृढ़ परंतु भारी नहीं, गोरा भावपूर्ण मुख-मण्डल तथा गौरवपूर्ण आचरण किसी भी दरबार में उसे उत्कृष्ट स्थान प्रदान कर सकते थे। हमने वर्तमान की अपेक्षा अतीत के विषय में अधिक बातें कीं और उसे इस बात से कोई अप्रसन्नता नहीं हुई कि मुझे उसकी अपेक्षा उसके (पूर्व) वंश के विषय में अधिक और अच्छी जानकारी थी।

जून छठी; वीरगाँव : हमारा मार्ग अरावली के समानान्तर चल रहा था परंतु कभी-कभी वह इसकी निकली हुई पसलियों जैसी चट्टानों से छू जाता था जो सुबह-सुबह तब तक बहुत विकराल दिखाई पड़ती थीं जब तक कि सूर्य उनके ऊपर होकर यात्रा न कर लेता और उनके धूमिल परिधान पर सुनहरी रङ्ग बिखेर कर उनको रङ्गबिरंगा न बना देता। हमने एक छोटा सा नळा पार किया जो 'जूओ नळा'[1] (Jooe Nullah) कहलाता है और सिरोही तथा गोड़वाड़ जिलों की सीमा पर होने के कारण जिसका राजनैतिक महत्त्व भी है। इसी प्रकार हमने सूकड़ी (Sukari) नदी भी पार की जो जालोर के किले के पास होकर अपने रास्ते जाती हुई लूनी (या नमक की नदी) में गिर जाती है। जहाँ से मैंने इस नदी को पार किया उसके पास ही मैं एक छोटे से मंदिर में गया जो बालपुर-शिव अर्थात् बालनगर के शिव का है। पौराणिक देव-प्रतिमा (लिंग) के सामने ही वाहन अथवा पीतल के बैल की प्रतिमा है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इस सौर प्रायद्वीप में पूजन का प्रधान पात्र रहा था; निस्संदेह, इतिहास के आरम्भकाल में, जब हिरम (Hiram)[2] और टायर

---

[1] जवाई नाला, जहाँ वर्तमान बंध बांधा गया है।

[2] Hiram I (हिरम, प्रथम) टायर का बादशाह और अबीबाल का पुत्र था। उसने इज़्राइल के बादशाह सुलेमान (Solomen) के पास बहुत से कारीगर, इमारती सामान

(Tyre) के मल्लाह जरूसलम के बादशाह के जलयान-वाहक थे उससे भी बहुत पहले, इस देश का लाल-समुद्र के तट, मिस्र और फिलस्तीन के देशों से यातायात संबंध रहा होगा। बाल (Bal) और पीतल का बछड़ा, जिनका 'महीने की पन्द्रहवीं तारीख' को विशेष पूजन होता है वे भारत के बालेश्वर और नन्दी मिस्र के ऑसिरिस[1] Osiris और मुविस[2] Muvis के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं, जिनकी पूजा-तिथि काली अमावस है जो महीने का पन्द्रहवाँ दिन भी है और उस दिन सूर्य की किरणें चन्द्रमा के मुख को प्रकाशित भी नहीं करती हैं। अतः बालपुर अथवा बाल का नगर वैसा ही है जैसे सीरिया का बॅलबॅक (Balbec) अथवा हॅलिऑपोलिस[3] (Heliopolis)। नाम, रीति-रिवाज और चिह्नों की समानता ये सब एक ही सार्वलौकिक समान धर्म को सूचित करते हैं अर्थात् सूर्य का पूजन और उसका आदर्श बैल ये सब उपजाऊपन और उपज के प्रतीक हैं। इस बात की खोज करना तो व्यर्थ होगा कि सब जगह फैली हुई मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति कहाँ हुई—यूफ्राटिस[4] (Euphrates), ऑक्सस (Oxus) अथवा गङ्गा के मैदानों में या सिनाइ (Sinai) पहाड़ वाले प्रायद्वीप[5] अथवा सौर

और लाल-समुद्र पर एक जहाजी बेड़ा सहायता के लिए भेजे थे।

सम्भवतः फोनिसियन लिपि का प्राचीनतम लेख हिरम के एक कांस्य-पात्र पर मिलता है। इस लेख के अक्षर मिस्र की चित्र-लिपि और बॅबिलॉन की उच्चारण-प्रधान लिपि से भिन्न हैं।

A Brief Survey of Human History—S.R. Sharma, 1938; p. 17.

[1] मिस्र का प्राचीन सुख-समृद्धि का देवता। बाद में मृतकों के न्यायकर्ता के रूप में इसकी पूजा होने लगी थी। इसके विषय में अन्य भी कितनी ही पौराणिक गाथाएँ प्रचलित थीं। इसकी मूर्तियां तुर्रेदार मुकुट पहने हुए बनाई जाती थीं।

—Enc. of R&E—Hastings; Vol. V; p. 244.

[2] Mnevis—मिस्र का वृषभाकृति देवता।—N.S.E.; p. 960.

[3] मिस्र का प्राचीन नगर जो आजकल कैरो (Cairo) का उपप्रान्त मतारिया (Matariya) कहलाता है। यह बाज पक्षी के से सर वाले 'रा' (Ra) नामक सूर्यदेव के पूजा-स्थान के रूप में प्रसिद्ध था। यहां के विद्वान् पण्डों से आकृष्ट होकर प्लेटो एवं अन्य बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी यहाँ की यात्रा की थी। बारहवें राजवंश के सेन्युस्रेट प्रथम (Senusret I) द्वारा स्थापित एक ६६ फीट ऊँचा स्तम्भ यहाँ अब तक खड़ा है।

—N S.E.; p. 627.

[4] पश्चिमी एशिया की महानदी।

[5] सिनाई—लाल समुद्र के ऊपर स्वेज और अकाबा की खाड़ियों के बीच का मिस्र का प्रायद्वीप। बाइबिल में सिनाई पर्वत (Mount Sinai) को उक्त प्रायद्वीप के दक्षिण

प्रायद्वीप में ? परंतु यह बिलकुल असम्भव नहीं है कि 'दूरदेश का मीठा गन्ना' जिसके विषय में सोलोमन[1] (Soloman) ने कहा है कि वह सीरिया अथवा मिस्र का स्वदेशी नहीं है वह और उसके साथ ही उसके मन्दिर के स्थापत्य-संबंधी विवरण इस 'भारत के सीरिया' से ही आये थे।

परन्तु, अब वीरगाँव और भव-बनास (Bhao-Buna) पर वापस आते हैं। इस नदी का यह नाम सुन्दरी बनास के विवाहित पति के नाम से है अथवा उसके भावी पति के नाम से, इस विषय में गाथा कुछ नहीं कहती। गौरवपूर्ण आबू का केन्द्र दक्षिण को था, २५° पश्चिम, चौबीस मील दूर; यहाँ से अरावली की चोटियाँ, जिनको मैं अपने दूरदर्शक-यंत्र से समीप ले आया था, सादड़ी और रूपनगढ़ पर सब से ऊँची दिखाई दीं। कुम्भलमेर इन दोनों के बीच में दबा हुआ सा दिखाई पड़ रहा था परन्तु यहाँ के सभी निवासियों ने कहा कि इस ऊँचे धरातल के मध्यभाग में सैमूर के पास जरगा वाली चोटी दिन की साफ रोशनी में सब चोटियों से ऊँची दिखाई देती है। मुझे लुटेरे मीणों के भी कुछ मुख्य-मुख्य गाँव स्पष्ट दिखाई दिये जो इन हिस्सों के लिए अभी तक भय का कारण बने हुए थे और उन पहाड़ियों की भूलभुलैया में बसे हुए थे जो अरावली की ही शाखाएं गिनी जाती हैं और जंगलों से ढँकी होने के कारण दुर्गम्य हैं। इनको मेवास अथवा 'मीणों के सुदृढ़ स्थान' कहते हैं। इनके मुख्य गाँव ऊटवण द० प० २५ (पश्चिम) १२ मील, कोलूर द० १०° (पूर्व) ६ मील, राडूर (Radour) द० ३०° प० १० मील, रेवाड़ो (Rawarro) उ० ६५ प० १२ मील हैं और अन्तिम परन्तु सब से प्रधान माचल (Machal) है जो ठीक १३ मील पश्चिम में है। मीणों के इन गाँवों में से प्रत्येक में ही रोमाञ्च-लेखक के लिए, उनके हमलों, आपसी झगड़ों और पड़ौसी राजपूत सरदारों के साथ हुए संघर्षों की कथाओं में पर्य्याप्त सामग्री मिल सकती है। आज ही मैंने एक किस्सा सुना है जिसको यदि विस्तार से कहा जाय तो एक नाटक के लिए अच्छा कथानक बन सकता है। यह झगड़ा ऊटवण के मीणों और पिराई के राजपूतों में हुआ। निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने वाले तथा

में जॅबेल कॅथरीना (Jebel Catherina) बताया गया है। इसके दो शिखर हैं जिनमें से एक जॅबेल मूसा (The Mountain of Moses) कहलाता है। कहते हैं कि हज़रत मूसा को ईश्वरीय न्याय की प्रेरणा (इलहाम) इसी पर्वत पर हुई थी।
—N.S.E., p. 1135.

[1] सुप्रसिद्ध सुलेमान, इज़रायल का बादशाह। उसी ने जरूसलम में पहला मन्दिर बनवाया था। उसकी विपुल समृद्धि और बुद्धिमानी की बातें बहुत प्रसिद्ध हैं। उसने ई०पू० ९७४ से ९३७ तक राज्य किया।—N.S.E.; p. 1146.

पहाड़ी लोगों के आधी रात में होने वाले हमलों से सजग रहने वाले पिराई के राजपूतों ने अपने किसी उत्सव के दिन नित्य-प्रति की सावधानी नहीं बरती, यद्यपि उनकी तलवारें भी 'मीणों का खून पी चुकी थीं' और कुछ ही समय पहले वे मेवास पर अचानक आक्रमण कर, उनके गाँवों को जला कर, ऊटवण के मुखिया की माता को बन्दी बना कर ले गए थे और उसे जोधपुर के सीमावर्ती फौजी पड़ाव में रख दिया था। इस बन्दिनी ने, या तो अपने सम्बन्धियों से कोई गुप्त सूचना पाकर अथवा अपनी बन्दी-दशा से दुखी होकर, यह निश्चय कर लिया कि वह मीणों द्वारा बदला लेने में अड़चन न बनेगी अतः राजपूतों को चौकसी से दूर कर उसने एक ज़हर की खुराक द्वारा अपने को मुक्त कर लिया। इसी बीच में, शत्रु के लौटते ही, उसके पुत्र ने अपने धनुषधारियों के साथ सब से पहले कोलूर की पहाड़ी पर जाकर अपने माचल और राधवा (Radhva) के भाई-बन्धुओं को एकत्रित किया। ऐसे हमलों के लिए एकत्र होने तथा शकुन लेने के लिए इन लोगों का यही संकेत-स्थल है। शकुन अनुकूल हुआ और 'तीर निशाने पर लगा।' काम पूरा करने के लिए अभी रात बहुत बाकी थी इसलिए पिराई का उत्सव समाप्त होने के पहले ही वे निकल पड़े। धावा सफल हुआ और ऊटवण की माता के नाम पर छियालीस राजपूतों का बलिदान कर दिया गया।

आज सुबह १० बजे जब मैं अपने डेरे पर पहुँचा तब थर्मामीटर ९६° पर था; दो बजे (डेरे में ही) यह १०८° पर पहुँच गया; शामको ५ बजे बादल घिर आये और तापमान ८८° हो गया तथा ७ बजे ८६° रह गया। उधर बॅरॉमोटर इन्हीं समयों पर क्रमशः २८°-७७, २८-°७३, २८°-६५ और २८°-७० बतला रहा था। छाया में १०८° पर ही थर्मामीटर की सबसे ऊँची माप थी जो मैंने किञ्चित् दैनिक परिवर्तन के साथ अब तक पढ़ पाई थी; यद्यपि तापमान की समानता के कारण मौसम में भी वैसी ही समानता रही और जानवरों का नियमित घूमना फिरना बना रहा फिर भी गरमी की अधिकता का असर मुझ पर कम नहीं पड़ा। जब मैं सामने फैले हुए मैदान की तरफ देखता तो मुझे सूखी रेत में से आग की बदरंग लपटें निकलती हुई दिखाई देतीं, तिपाई पर लटकते हुए बॅरॉमीटरों को जब मैं ठीक करता तब उनके पीतल लगे हुए हिस्से को छूने में बड़ा कष्ट होता। यद्यपि इस दर्ज़े की गरमी 'ठंडी जलवायु के रहने वालों' और 'ठंडे खून वालों' के लिए असह्य है, फिर भी डेरे से बाहर की हवा जो २५° अधिक गरम थी असहनीय नहीं थी। मैं भारतवर्ष में मरुस्थल के किनारे बिताए हुए अत्यधिक गरमी के दिनों की अपेक्षा इङ्गलिस्तान

में गरमी के दिनों में अधिक परेशान हुआ था। यहाँ पर मैं नेपल्स्[1] (Naples) के शरत्कालीन दिनों की तुलना नहीं करूँगा क्योंकि यहां तो (गरमी का) इतना प्रभाव होते हुए भी मैं अपने निरीक्षण-परीक्षण को लेखनी-बद्ध कर सका था और वहाँ पर अक्तूबर के महीने में स्ट्राडा डी टोलेडो[2] (Strada di toledo) के छायादार किनारे पर मुश्किल से रेंग पाता था और वह भी दो वर्ष बाद, जब कि मेरा स्वास्थ्य काम-चलाऊ हो गया था। मैं यहाँ पर केवल तेज़ गरमी के प्रभाव का ही वर्णन करूँगा जो दूसरे बहुत से राजनैतिक एवं व्यक्तिगत दुःखों के समान विष और उसको शमन करने वाली औषधि को साथ ही उत्पन्न करता है और इस असङ्गतिपूर्ण अनुभव का कारण खोज निकालने का कार्य शरीर-शास्त्रियों के लिए छोड़ देता हूँ। जब तापमान १०८° या इससे भी बहुत नीचे होता है तभी शरीर के सभी रोमकूप खुल जाते हैं और निरन्तर पिघलने (पसीना निकलने) तथा विलय होने (सूखने) का क्रम जारी रहता है। यदि इस तरह निकली हुई भाप को सफ़ेद चद्दर पर ठंडी करके प्रतिक्रिया करने दी जावे तो ठंडक पहुँचाने वाले किसी दूसरे यन्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु, जहाँ तड़के ही तो थर्मामीटर पाला जमानेवाले अङ्क पर रहे और दो ही घंटों बाद जब सूर्य सिर पर आ जाय तब खेमें में ९०° से १००° तक तथा बाहर खुली धूप में १३०° तक पहुँच जाय तो कौन सा ढाँचा[3] कायम रह सकता है ? मैंने इन परिवर्तनों को जैसे तैसे सहन किया है; परन्तु जब मैं उन बीते दिनों की याद करता हूँ और अपने उन साथियों की भी जो मुझ पर गुर्राते थे या मेरे साथ हँसते खेलते थे तो मुझे विचार होता है कि वे कहाँ गए ? मेरे इस विवरण का प्रमाण देने में भी कई कठिनाइयां अनुभव होती हैं—बीस में से केवल दो जीवित हैं—और उनमें से भी एक मैं ही ऐसा हूँ जो स्वदेश लौटने को बचा हूँ। जिज्ञासा शान्त करने के लिए यहाँ एक सूची दे रहा हूँ परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भारत में जाने वालों के भाग्य में प्रायः यही लिखा होता है।[4]

---

[1] Naples—इटली का प्रसिद्ध नगर।

[2] Toledo स्पेन का बहुत प्राचीन और आकर्षक नगर जो टॅगस (Tagus) नदी पर स्थित है।—N.S.E; p. 1223.

[3] प्राणी का शरीर।

[4] रामगढ—देशी बटालियन, कर्नल ब्रॉटन, मेजर रफसेज, लॅफ्टिनॅण्ट व एड्ज्यूटॅन्ट हिगॉट, लॅ० ब्रॉटन, डॉक्टर लेडलॉ और लिमाण्ड, सभी मृत। २० वीं या मेराइन रेजीमेण्ट. लॅ० कर्नल मेकलीन, मेजर यूल, कॅप्टेन मेनवारिंग, वेस्टन, पोर्टयूस, सीली, लॅ० मेनली, सभी

जून ७ वीं; वही : हमारा आज का रास्ता सपाट और समतल जमीन पर साढे बारह मील का था। वीरगाँव से तीन मील पर हमने फिर सूकड़ी को पार किया और पवौरी या पावरी (Pawori) पर निकले जहाँ मीणों पर आतङ्क रखने के लिए जोधपुर का थाना या फौजी चौकी है। सात मील पर, पोसालिया से एक मील इस तरफ सिरोही की रियासत में, हमने एक और प्रसिद्ध बिरादरी देखी जिसके राजा ने बृटिश सरकार के संरक्षण में आने के बाद वहीं एक फौजी चौकी कायम कर रखी थी। वीरगांव की तरह वही का भी कोई अपना महत्त्व नहीं है परन्तु अब, रियासत की अनुचित वसूलियों से और दूसरे लुटेरों के धावों से वहुत वर्षों तक वरवाद हो चुकने के वाद, दोनों ही गांव धीरे-धीरे समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं। आवू यहां से द० १०° पू० और द० २०° प० के वीच में १३ कोस या २५ मील पर था और मेवास के ऊटवण और माचल क्रमश: द० २०° पू० तथा उ० २०° प० में थे। ऊटवण, माचल और पोसालिआ के लुटेरों के कुछ नेता मुझसे मिलने आए और उन्होंने वंशपरम्परागत आदतों को छोड़ देने की प्रतिज्ञा की। ये लोग पुष्ट और फ़ुर्तीले होते हैं। वाँस का धनुष, तीरों का भाथा तथा कमरबन्धे में कटार खोंसे हुए मीणे की आकृति तूलिका के लिए एक रुचिकर विषय उपस्थित कर देती है। मीणों की तरह ही शस्त्र-सज्जित होकर कुछ देवड़ा राजपूत भी मुझसे मिलने आए। हमने तीरन्दाज़ी की होड़ की और सौभाग्य से मेरा एक तीर देवड़ा के तीर से कुछ गज आगे चला गया। मीणों ने एक खुशी की आवाज़ लगायी परन्तु मैंने दुबारा प्रयत्न करके अपनी इस कीर्ति को जोखिम में न डालने की होशियारी वरती। देवड़ों की पोशाक का अन्तर केवल उनकी पगड़ी के बंधेज में ही नहीं वरन् उनके बड़े-बड़े पाजामों तथा उनके घेरदार लपेटे हुए वस्त्रों में भी स्पष्ट दिखाई देता था; चमेली के तेल से तर ज़ुल्फें उनके गालों पर आ रहीं थी। आज सुबह के ६ तथा तीसरे पहर के ३ व ५ बजे थर्मामीटर क्रमश: ८६°, ८९° और ९६° पर था और बॅरॉमीटर उन्हीं समयों पर २८°८०' २८°७७' और २८° ७५' बतला रहा था; दूसरा बॅरॉमीटर इनसे १४° नीचे था परन्तु मैं इस पर विश्वास नहीं करता था।

जून ८वीं--साढ़े बारह मील। आज के रास्ते का हर कदम एक हलके जंगल

मृत। ले० टॉड, मर्रे १८३८ में जीवित। ओसियाँ के अनुवादक का पुत्र मैकफर्सन, मृत। मॉण्टेग्यू ने थोडे ही दिन की नौकरी के बाद भारत छोड़ा। मैकनॉटन मृत। आर्टिलरी, कैप्टेन ग्राहम् मृत।

में होकर था जिसमें मुख्यत: उपयोगी और मजबूत धो[क] और सदा हरे पीलू के वृक्ष थे। सातवें मील पर हम ऊटवण की पहाड़ी-श्रेणी को पार करके उस घाटी मे पहुँचे जिसमें देवड़ों की राजधानी स्थित है। एक मील आगे चलकर हमें एक पहाड़ी किले के खण्डहर मिले जिसे उदयपुर के राणा कुम्भा ने कुम्भलमेर से मालवा के गोरीवंशीय (Ghorian) सुलतान द्वारा निकाले जाने पर बनवाया था। इसी स्थान पर हम सारणेश्वर (Sarneswar) के मन्दिर पहुँचे जो सिरोही के राजाओं व सरदारों की बहुत सी छतरियों से घिरा हुआ है। यहां के आकर्षण का मुख्य विषय एक कुंड है जिसका पानी चर्मरोगों को दूर कर देता है; भारतवर्ष के अन्य गरम पानी के सोतों की तरह यह भी 'शिव' के नाम पर ही प्रसिद्ध है। मन्दिर की गोल और मेहराबदार छत खम्भों पर टिकी हुई है और गुम्बद की आकृति इस प्रदेश के रिवाज़ के अनुसार अण्डाकार है जिसका छोटा भाग एक लम्बे आधार पर सीधा रखा हुआ है। अन्दर शिवलिङ्ग विराजमान है और बाहर एक भारी त्रिशूल है जो पूरा बारह फीट ऊंचा है और सप्तधातु का बना हुआ बताया जाता है। पत्थर में उत्कीर्ण दो हाथी दरवाज़े पर रक्षा के लिए खड़े हैं और पूरा मन्दिर एक पक्के परकोटे से घिरा हुआ है जो माँडू के मुसलिम सुलतान ने खिचवाया था। कहते हैं कि इस कुण्ड में स्नान करके वह उस रोग से, जिसे कोस [कोढ ?] कहते हैं, मुक्त हो गया था। चमत्कार हुआ हो या न हुआ हो परन्तु, पैग़म्बर की शरीअत के विरुद्ध मन्दिर की मरम्मत करवाना अथवा भेंट चढ़ाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि (इस कुण्ड का) पानी लाभदायक है। नन्दिकेश्वर की वर्तमान मूर्ति असली नहीं है; वह तो शिलालेख के साथ मेवाड़ ले जा कर नए मन्दिर में स्थापित कर दी गयी है। देवड़ों के समाधिस्थल भी स्थापत्य एवं विस्तार की दृष्टि से विशिष्ट हैं और खास बात यह है कि प्रत्येक के साथ एक अलग शिलालेख लगा हुआ है। वर्तमान महाराव के पिता की छतरी में एक छोटा सा मन्दिर है जिसके पास ही मृतक की घुड़सवार मूर्ति है; परन्तु राव गज की छतरी बहुत विशिष्ट है जिसमें अन्तर्वेदी पर चार सतियों के अतिरिक्त उसके राजपूत सामन्तों की भी एक पंक्ति मध्यम आकार (basso-relievo) में बनी हुई है—सभी ढालें और तलवारें लिए हुए हैं। चौहाण जाति का इण्डो-गेटिक (Indo-Getic) वंशक्रम में होने का यह एक और प्रमाण है—ये लोग बाद में ब्राह्मण धर्म में परिवर्तित हो गए थे।

देवड़ों की राजधानी सिरोही में मेरे आगमन का अभिनन्दन खुशी के गीतों द्वारा हुआ जिनको श्रेष्ठ सुन्दरियों, जैसी मैंने भारत में और कहीं नहीं देखीं,

पीतल के विशेप प्रकार के मँजीरों की ताल पर गा रही थीं। वे राव के आगे-आगे चल रही थीं, जो अपने सभी सामन्तों के साथ मुझे नगर में लिवा ले जाने के लिए आगे आये थे। मैं शहर में होकर निकला और दक्षिण की ओर आधा मील की दूरी पर डेरे में ठहरा।

ज्यों ज्यों हम आगे वढ़ते जाते थे आवू की शालीनता भी बढ़ती जाती थी। अव वह यहां से द० १०° पू० से द० २५° प० में था; प्रातः ६ बजे तीसरे पहर ३ वजे और शामको ६ वजे थर्मामीटर ८६°, ६८° और ६२° पर तथा वैंरॉमीटर २८°७५', २८°७०' व २८°७५ पर था।

जून ६ वीं–सिरोही–आज सुवह ८ बजे दोपहर में, ३ वजे और शामको ५ वजे वॅरॉमीटर क्रमशः २८°७५', २८°७७', २८°७५' व २८°७०' पर था और थर्मामीटर ८४°, ६५°, ६२° और ६२° बतला रहा था। दोपहर बाद कुछ नई टाटियां प्राप्त हो गईं जिनसे किसी अंश में मुझे ठंडक मिल सकी। मैं यहां पर एक दिन इस रियासत के वारे में व्यक्तिगत रूप से जानकारी प्राप्त करने के लिए ठहरा। यह यद्यपि वहुत छोटी रियासतों में है परन्तु प्रसिद्धि में राजपूताना की अन्य किसी भी रियासत से घट कर नहीं है। मेरे ख्याल से इस रियासत के विशेष अधिकार हैं क्योंकि १८१७-१८ ई० की पूर्ण शांति के वाद से ही इसके सम्पूर्ण राजनैतिक सम्वन्ध मेरे अधीन रहे हैं और मेरे ही प्रयत्नों से इसकी राजनैतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा इसके शक्तिशाली पड़ौसी मारवाड़ राज्य से हो सकी थी जो वड़े-वड़े वहानों के आधार पर इसे अपने अधीन होने का दावा करता था। उन अधिकारियों का विश्वास प्राप्त कर के जो उस समय मारवाड़ और ब्रिटिश सरकार के बीच मध्यस्थता कर रहे थे, इन दावों की पुष्टि, दलीलों और लेखवद्ध प्रमाणों द्वारा इतनी अच्छी तरह की गई थी कि उन्होंने करीव-करीव गवर्नर-जनरल मार्कुइस हेस्टिंग्स की स्वीकृति प्राप्त कर ही ली थी। परन्तु, अन्य कितने ही अवसरों की तरह, इस अवसर पर भी इन प्रदेशों की उलझी हुई अन्तरप्रदेशीय राजनीति के ज्ञान के आधार पर इस मामले की गुत्थियों को सुलझाने में मुझे सफलता मिली और मैं देवड़ों की भूमि को उनके शक्तिशाली विरोधियों के निर्दय कर-संग्राहकों के चंगुल से वचा सका।

हां, तो हम अपनी राजनीति पर वापस आते हैं। जोधपुर के वकील राजा अभयसिंह के समय से (सिरोही के रावों से) कर और नौकरी लेने का हक जाहिर करते हैं। मुझे उन्हीं के इतिहास से इसके प्रतिकूल प्रमाण मिले जो बताते हैं कि यद्यपि सिरोही के हिस्सेदारों ने जोधपुर के राजाओं की

अधीनता में नौकरी दी है परंतु वह मारवाड़ के राजा के पद से नहीं वरन् साम्राज्य के प्रतिनिधि के पद से संबंधित है। और गुजरात के युद्धों में, जहाँ देवड़ों की तलवार लोहा लेने में किसी से पीछे नहीं थी, वे अभयसिंह के सेनापतित्व में लड़े थे। ये थे वे राजनैतिक प्रमाण जिसके लिए वे तैयार नहीं थे, फिर इसके उप-प्रमाण में वे कहते थे कि सिरोही के प्रमुख सरदार नीमाज के ठाकुर ने उनकी वास्तव में नौकरी की थी। यह दलील इस उत्तर से कट जाती थी कि सभी रियासतों में कुछ देश-द्रोही और अवसरवादी लोग होते हैं और यह वात जोधपुर के राजा को भी अच्छी तरह मालूम थी कि अपने सामंतों की रक्षा करने तथा उनको दण्ड देने के लिए सिरोही की शक्ति विलकुल क्षीण हो चुकी थी इसलिए यह रियासत भी इस नियम का अपवाद न रह सकी। फिर, नीमाज मारवाड़ की सीमा पर होने के कारण उसकी स्थिति शत्रुओं की कृपा पर ही अधिक निर्भर थी; और सब से वढ़ कर वात तो यह थी कि यहाँ का ठाकुर, जिसका पद पहले ही अपनी स्थिति में वहुत ऊँचा था, एक और कदम वढ़ाने पर सब से ऊँचा हो सकता था। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए वह सदैव जोधपुर की सहायता की अपेक्षा करता रहता था। जब उन्होंने देखा कि कर वसूल करने के अधिकार उनके लेखों से सिद्ध नहीं हो सकेंगे तो उन्होंने आर्थिक पहलू से कोशिश की और जब कभी समय और अवसर मिला तभी हमले और लूट-खसोट कर के वसूल किए हुए करों की एक अनियमित तालिका पेश की। परन्तु न तो लगातार नियत रूप से प्रतिज्ञावद्ध अदायगी के लेख और न प्रान्तीय हाकिमों द्वारा स्वार्थवश किए हुए नियम-विरुद्ध हमलों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए कोई लिखित पत्रादि सामने आए कि जिनसे यह प्रश्न हल होता। अलवत्तः यह सच है कि, उन्होंने एक लेख प्रस्तुत किया जिस पर वर्तमान राव के वड़े भाई के हस्ताक्षर थे और जिसमें उसने किन्हीं शर्तों पर जोधपुर की अधीनता स्वीकार कर ली थी; परन्तु वे होंशियारी से उस परिस्थिति को छुपा गए कि जिसमें पड़ कर राव ने यह लिखावट लिखी थी अर्थात् उस समय वह अपने भावी स्वामी की शक्ति के आधीन हिरासत में था और अपने पिता की भस्म गङ्गाजी ले जाते समय वीच ही में पकड़ लिया गया था। इसीलिए देवड़ा सरदारों का इस अनौचित्यपूर्ण ढंग से लिखाए हुए लेख को एक रद्दी कागज के समान समझना वहुत ही वुद्धिमत्तापूर्ण एवं न्यायपूर्ण था; और न उन्होंने इस सम्वन्ध में स्वेच्छा से जोधपुर के खजाने में कभी एक रुपया भी जमा कराया था।

जब और सब दलीलें असफल हुईं तो वे एक और तर्क सामने लाए जिसमें

कुछ दम था अर्थात् सिरोही में तो इतनी शक्ति नहीं थी कि वह लुटेरों को वश में रख सके या दण्ड दे सके और उनके हमलों से जोधपुर वालों को नुकसान उठाना पड़ता था इसलिए यह अधिकार व शक्ति जोधपुर को प्राप्त होनी चाहिये। उन्होंने अपनी मांग की पुष्टि में एक ताज़ा मामले का उदाहरण भी दिया जिसमें ऊटवण और माचल की टुकड़ियों ने मारवाड़ की सीमा में धावे किए और जान व माल का बहुत नुकसान हुआ। इस मामले को बहुत अच्छी तरह से प्रमाणित किया गया और इससे 'व्यवस्था के रक्षकों पर' कुछ प्रभाव भी पड़ा, परन्तु जब 'दूसरे पक्ष की भी बात सुनो' (audi alteram partem) इस तथ्य भरे सूत्र का प्रयोग किया गया तो मालूम हुआ कि इस हमले में जोधपुर के मीणे न केवल शामिल ही थे वरन् उत्तेजना भी मारवाड़ ही की तरफ से शुरू हुई थी, फिर सिरोही के वकील ने ठीक अवसर पर यह सवाल किया 'यदि हमारे मीणों के हमलों से, जिनको हम एकदम नहीं रोक सकते, यह कारण उत्पन्न होता है कि जोधपुर की सेना हमारी सरहद में प्रवेश करे और वहाँ पर अपनी चौकियाँ कायम करे (जैसा कि वास्तव में किया भी गया है) तो उनकी रियासत की पहाड़ी जातियों द्वारा पड़ौसियों को जो भारी नुकसान पहुँचाया जाता है उसके बारे में मारवाड़ के राजा के पास ब्रिटिश सरकार को देने के लिए क्या उत्तर है ?' ये सभी प्रमाण यद्यपि बहुत ही चतुराई और बारीकी से प्रस्तुत किए गए थे परन्तु जब सचाई के सामने रक्खे गए तो ठहर न सके और अन्त में मैंने सिरोही की स्वाधीनता को मारवाड़ के भाग्य की पहुंच के बाहर रख दिया जिसके बदले में मुझे जोधपुर के राजा व उसके खुशामदी मुसाहबों और वकीलों की घृणा प्राप्त हुई तथा देवड़ों से शंका भरा आभार, क्योंकि उनकी भूमि में अभी भी विभाजन और असन्तोष के दृश्य वर्तमान थे। मारकुइस हेस्टिंग्स् की इच्छा थी कि सभी आपस के झगड़े शान्त कर दिए जावें इसलिए देवड़ों पर आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों में असफल हुए राजा मान के आहत अभिमान को सान्त्वना देने के लिए उनका झुकाव हुआ था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैंने बातचीत के आरम्भिक समय में यह सुझाव दिया कि राजा से पिछले दस वर्षों की वसूली का नकशा मांगा जाय और उस की औसत रकम अब से उसको ब्रिटिश सरकार के द्वारा मिलती रहे। उनके अधिकारों की मांग को न्याय की कसौटी में रखने के लिए जब मैंने यह सुझाव अपनी सरकार के सामने रखा था तो मेरा विचार था कि इससे न तो सिरोही पर आर्थिक बोझा बढ़ेगा और न उसकी स्वन्त्रता में कोई बाधा पड़ेगी। इससे पूरा मतलब भी हल हो जाता था। राजा मान क्रमबद्ध वसूली के प्रमाण न दे

सके, वे लोग जो अन्य सभी बातों में देवदूतों के समान थे. कभी-कभी बहुत लम्बी अवधि के बाद रकम वसूल कर लेते थे परन्तु हमेशा ही टंटे-झगड़े के साथ (au bout du fusil)। ब्रिटिश सरकार को जो इसके अन्तिम फैसले में साझी होने का विरोध कर रही थी कि आगे चल कर इसकी स्ततन्त्रता कहीं फिर न उलझ जाय, कुछ हजार रुपये वार्षिक दे कर सिरोही मारवाड़ के पंजे से हमेशा के लिये निकल गई और अब वह (सब मामलों में) केवल ब्रिटिश सरकार के ही अधीन है।

अपनी सामर्थ्य के अनुसार युवक राव ने भी अपने कर्तव्य का पालन करने में पूरी-पूरी चेष्टा की है। मीणा जाति को रोक दिया गया है; मजबूत चौकियां कायम कर दी गई हैं और व्यापारियों, कारीगरों व किसानों को लूट के विरुद्ध सुरक्षा एवं प्रोत्साहन देने के अभयपत्र (Passport) दिए जाते हैं। शहर, जो पहले बिलकुल उजाड़ हो गया था, अब फिर बसने लग गया है; जो व्यापारी, तीन या चार साल पहले यह समझते थे कि सिरोही में घुसना चोरों की माँद में घुसना है और यह बात अक्षरशः सत्य भी थी, वे अब फिर दुकानें खोलने लगे हैं—और यहां के निवासियों व दर्शकों को यह देख कर आश्चर्य होता है कि जो मीणें गली-कूचों में ही अपना मुँह दिखा सकते थे और जो चीते व भालू की तरह घास व झाड़ी से ढँके रास्तों में ही छुपे-छुपे चलने के अभ्यस्त थे वे ही अब बाजार में व्यापार की चीजों के व धन के ढेर के ढेर देख कर भी किसी अशक्य एवं अतर्क्य कारणवश उन्हें झपट लेने से रुके रहते हैं। मैं, ऐसा ही एक विस्तृत चित्र 'इतिहास' में भीलवाड़ा के वृत्तान्त में दे चुका हूँ; परन्तु पहाड़ी मीणों और उनके स्वामी देवड़ा राजपूतों के, जिनकी संयुक्त प्रवृत्तियां युगों से पहाड़ी व जंगली चीतों के समान रही हैं, घरों में शांति-स्थापन का यह वैसा ही छोटा-सा चित्र उन लोगों का मनोरंजन किये विना न रहेगा जो मानवीय प्रवृत्तियों के इतिहास व व्यापार की ऐसी विचित्र घटनाओं पर विचार करने में रस लेते हैं। मैं यहाँ पर अपना यह मत प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जो जातियां सर्वशक्तिमान् परमात्मा द्वारा हमारे संरक्षण में रख दी गई हैं उनके सुधार कार्य में हमको बहुत ही सहनशीलता से काम लेना चाहिए; यदि कभी कोई हुल्लड़ (विद्रोह) हो भी जाय तो यह न भूलना चाहिए कि हम इतने शक्तिशाली हैं कि हमें निर्दयता का व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है और हमारे द्वारा दिए हुए दण्ड भी, सुधार के उद्देश्य को दृष्टि में रख कर ही दिये जाने चाहिएं। दुःख का विषय है कि ब्रिटेन के संरक्षण में जो विभिन्न जातियां आ गई हैं उनको सजा देते समय दया का

व्यवहार बहुत कम किया जाता है और न्याय का डंडा उठ कर जहां भी गिर पड़ता है वहां अवश्य ही वह किसी न किसी को मार गिराता है। हमारे पूर्वदेशीय कानून-निर्माता यह भूल जाते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां उसके राजनैतिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों पर अपना अधिकार जमा लेती हैं और वे पूर्ण आज्ञाकारिता के पथ से विचलित होने के अपराध के लिए भारी से भारी दण्ड को भी कड़ा एवं गम्भीर नहीं समझते। सम्भवत: यह भावना हमारे शासन का, जिसको तलवार का शासन कहा जाता है, एक अविभाज्य अङ्ग बन गई है और तन्त्र के प्रत्येक अंग में गवर्नर-जनरल से ले कर छोटे से छोटे मध्यस्थ तक में कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य पाई जाती है; यद्यपि स्वदेश (इंग्लैण्ड) की नियन्त्रण करने वाली शक्ति इतनी मात्रा में अनिष्टकारिणी नहीं है परन्तु वह नए-नए मनुष्यों के साथ नए-नए व्यवहारों का प्रयोग करती है; कार्यकारिणी के कार्यों का प्रयोग इतना अनिश्चित और अस्थायी होता है कि उनमें से प्रत्येक अथवा किसी भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के क्रमिक व्यापारों को समझना व उनका ध्यान रखना असंभव होता है। हर एक सदस्य अपने परिमित कार्यक्षेत्र में और तंत्र के उस भाग के संचालन में, जो उसके भरोसे छोडा गया है, अधिक से अधिक प्रशंसा प्राप्त करने के लिए बेचैन रहता है और जो कोई भी आन्तरिक शक्ति उसके समान रूप से चलने में बाधा उपस्थित करती है उसका तुरन्त उन्मूलन कर दिया जाना आवश्यक समझता है। सम्भवत: बुद्धिमत्ता-पूर्ण उद्देश्यों को ध्यान में रख कर ही (नीति का) ऐसा निर्देशन किया गया है, और विजेताओं की योजना में क्रमवद्धता की कमी तथा इसके साथ ही वह सभ्यता, जिसका हम लोग विजितों में धीरे-धीरे प्रसार कर रहे हैं, अंत में उनको मानसिक एवं राजनैतिक दासत्व से मुक्त कराने की ओर ले जायगी। कुछ लोगों ने तो इसी को अपने प्रयत्नों का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है, परन्तु जहां ऐसा जनहित का विशाल दृष्टिकोण अपनाया जाता है वहां साधनों का लेखा बहुत ही अयोग्यता के साथ लगाया जाता है। जब हमारे प्रजाजनों पर कर कष्टदायक हैं और चुङ्गियां भारी एवं उनको गरीब बना देने वाली हैं तो हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि हमारा 'जूआ' भारी नहीं है। कोई कुछ भी क्यों न कहे, हमारी सरकार द्वारा राजकर एवं अर्थसम्बन्धी जो भी कानून बनाए जाते हैं वे इनकी दशा सुधारने के दृष्टिकोण से नहीं वरन् हमारे खजाने भरने के लिए बनाए जाते हैं। ऐसे लोग बड़े विलक्षण हैं जो समाज के सदस्य होते हुए अपनी व्यक्तिगत स्थिति में, शासन से भारत को हो रहे लाभों पर विचार-विमर्श करते समय, इन सब बातों को परे रख

कर ईमानदारी और सचाई की सुन्दरता को पहचानते हैं। उनके मुँह से यहाँ के लोगों के प्रति वरते हुए दयाभाव और सरलता की प्रशंसा सुन-सुन कर कोई भी सहज में ही यह अनुमान कर लेगा कि हमारे द्वारा संरक्षित ये प्रदेश सामाजिक विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुके हैं। जब रोम ने, जिसे राष्ट्रों की जननी कहते हैं, यूरोप के सुदूर प्रदेशों को जीत कर वस्तियाँ वसाईं तव वहां पर अपनी कला का प्रसार किया, विजित लोगों को अपनी सरकार का अंग वनाया और वैभवशाली एवं उपयोगी कार्यों के रूप में ऐसे-ऐसे स्मारक छोड़े कि उनमें से वहुत से तो आज भी उसकी शक्ति व शासन का प्रमाण देने के लिए वर्तमान हैं। परन्तु, क्या ब्रिटेन ने ऐसा किया है? अपने भारतीय प्रजाजनों की गाढी कमाई से लाखों स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करके उसका कौन सा भाग उनकी भलाई के लिए खर्च किया जाता है? जैसे पुल, सार्वजनिक सड़कें व मनोरंजन के स्थान ट्राजन (Trajan)[१] या हाड्रिअन (Hadrian)[२] द्वारा वनवाए गए थे वैसे यहाँ पर कहाँ हैं? छायादार आम रास्ते, काफ़िलों के लिए ठहरने की सरायें, कूए और तालाव कहाँ हैं, जैसे कि हमारे पूर्ववर्ती असहिष्णु और अत्याचारी मुसलमानों ने हमसे पहले हिन्दुस्तान पर अपने शासनकाल में वनवाए थे? लन्दन में भारतीय खजाने (India Stock) के मालिक इन प्रश्नों का उत्तर दें।

हमारे तलवार के शासन की असलियत का एक और स्पष्ट उदाहरण दे कर मैं अपने इन विचारों को यहीं पर समाप्त करता हूं। यद्यपि हम अपने शासन की दूसरी शताव्दी में वहुत आगे वढ़ चुके हैं परन्तु अभी तक कोई भी ऐसा

---

[१] Trajan ट्राजन रोम का वादशाह (९८-११७ ई०) था। इसके समय में रोम साम्राज्य का सर्वाधिक विस्तार हुआ। डेसिया, मेसोपोटेमिया, आरमेनिया और असीरिया इसी के समय में रोम साम्राज्य के अंग वना लिए गए थे। सर्वाङ्गीण सुशासन के सभी अङ्गों का इसके राज्यकाल में विकास हुआ। नए पुलों, सड़कों, नहरों, और इमारतों का निर्माण हुआ। इसने वहुत से पुस्तकालय भी स्थापित किए थे।

—N. S. E., p. 1230.

[२] Hadrian हाड्रियन ट्राजन का उत्तराधिकारी था। ११७ ई० से १३८ ई० तक सुशासक के रूप में इसने राज्य किया। कृषि-कर वन्द करने एवं अन्यान्य अनेक कल्याणकारी सुधार करने का श्रेय भी इसको प्राप्त है। ब्रिटेन की यात्रा करके इसने सुप्रसिद्ध हाड्रियन वॉल (दीवार) वनाई जो टाइन नदी पर सॉलवे फर्थ (Solway Firth) से इंगलैण्ड के आर पार वॉल्स-एण्ड (wall's end) तक फैली हुई है। १३८ ई० में एक आत्म-विषयक काव्य लिखने के उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई।

—N. S. E., p. 596.

विधान-शास्त्री (Justinian) सामने नहीं आया है कि जो 'रेग्यूलेशन्स्' (नियम एवं पद्धति) कहलाने वाली इस विशाल, एकत्रित अप्रौढ़ सामग्री को संक्षिप्त कर के सरल रूप में सामने ला सका हो। बात यह है कि हमारे एक या दो गवर्नरों के लिए निश्चित एक झपके का सा कार्यकाल इस काम को पूरा करने के लिए बहुत परिमित होता है अथवा इसको रोकने के लिए 'नीम हकीम खतर-ए जान' वाली क्षुद्र कहावत चरितार्थ हो जाती है। अस्तु, हम आशा करते हैं कि हमारे शासन की इस असंगति को दूर करने के लिए किसी भावी राज-प्रतिनिधि को सद्भावना से नहीं तो अपने को अमर बनाने की मिथ्या भावना से ही एक कानूनी संहिता (Code) बनाने की प्रेरणा मिलेगी जो जनता की समझ और मार्ग-दर्शन के निमित्त एक बार अपना लेने पर हमारी श्रेष्ठता का तब तक एक उपयुक्त प्रमाण बना रहेगा जब तक हमारे और शासित वर्ग के बीच अतलान्त महासागर लहरें मारता रहेगा।

हमारे शासन के आधीन जो गहन जन-समूह है उस पर सभी परिस्थितियों में लागू हो सके ऐसे समान कानून का सङ्कलन बनाने में कठिनाई उपस्थित होने की बात कह कर इस प्रयत्न के शैथिल्य को साधा जा सकता है; परन्तु राजधानी से सटे हुए विस्तृत प्रान्तों में बिलकुल परीक्षण न करने की दशा में यह दलील ठीक नहीं जँचती, क्योंकि इन प्रान्तों के लिए बनाए हुए नियमों में राज्य-विस्तार के साथ-साथ परिवर्तन व परिवर्द्धन किया जा सकता है। हमारे करद एवं आधीन राज्यों के विषय में हमारी राजनैतिक सन्धियाँ ही उनके साथ हमारे सम्बन्धों व व्यवहारों का आधार बन सकती हैं; फिर, इनमें भी किसी तरह एकरूपता लाई जा सकती है और इनको व्यक्तियों की इच्छा पर केन्द्रित करने के बजाय एक सामान्य रूप से अनुकूल बनाया जा सकता है।[1]

---

[1] मेरे इन्हीं विचारों से सम्बन्धित प्रश्नों का (जिनको मैंने बहुत वर्षों पूर्व लेखबद्ध कर लिया था) मिस्टर मॅकॉले के स्पष्ट एवं अधिकारपूर्ण 'भारत की समस्या' विषयक भाषण में निरूपण किया गया है जो मेरे देखने में उस समय आए जब मैंने इस पुस्तक की पाण्डु-लिपि प्रेस में भेजने के लिए तैयार कर ली थी; वे इस प्रकार हैं—'मेरे विचार से किसी और देश को कानून की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि भारत को। यही समय है जब कि न्यायकर्त्ता (Magistrate) यह समझ ले कि उसे किस नियम को लागू करना है और प्रजा को यह मालूम हो जाय कि उसे किस कानून के आधीन रहना है। मुझे लगता है कि विविध नियमों का एकीकरण करने की दिशा में, किसी भी जाति व धर्म की भावनाओं को ठेस पहुंचाए विना, बहुत कुछ किया जा सकता है। हम उन नियमों का एकीकरण करें या न करें परन्तु उनके बारे में अपना मत तो निश्चित कर लें, उन्हें

अब हम देवड़ा रियासत के चित्रण में आगे चलते हैं। यह रियासत हमारे किसी भी मध्यवर्गीय अंग्रेजी सूवे से बड़ी नहीं है और केवल सत्तर मील की लम्बाई व पचास मील की चौड़ाई में इसका विस्तार है। यद्यपि इसके धरातल का अधिकांश भाग पहाड़ी है और समतल भाग रेगिस्तान का किनारा है[1] जो थोड़ा बहुत रेतीला है, फिर भी पहाड़ी हिस्से में वहुत सी उपजाऊ घाटियाँ हैं और रेतीले समतल भाग में मक्का, गेहूँ और जौ वहुतायत से पैदा होते हैं। अरावली और विशाल आबू से निकल कर प्रत्येक दिशा में वहने वाले झरने इसको कई भागों में बाँट कर बहते चले जाते हैं। इसकी सीमा मानचित्र की सहायता से अच्छी तरह समझ में आ सकती है—पूर्व में अरावली की दीवार खड़ी है, उत्तर और पश्चिम में मारवाड़ के पश्चिमी जिले गोडवाड़ और जालोर हैं और पश्चिम में पालनपुर की रियासत है जो अब ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में है। बादशाहत के जमाने में जब गुजरात सबसे अधिक धनी सूबों में गिना जाता था तो सिरोही का अपना स्थानीय महत्त्व था क्यों कि समुद्री तट के इलाके से राजधानी व भारत के अन्य बड़े नगरों में जाने वाले व्यापारी काफ़िले यहां पर ठहरा करते थे। इसीलिए पहले के सभी यात्रियों हर्बर्ट[2], ऑलिरियस[3], डेलावॅले (DellaValle)[4], बर्नियर[5] और

समझ तो लें। हम जबरदस्ती कोई नई बात लादना नहीं चाहते; हमारी प्रजा के किसी भी अंश की मान्यताओं को ठेस पहुँचाने की हमारी इच्छा नहीं है। हमारा सरल सिद्धांत यह है—"जहाँ तक सम्भव हो एकरूपता बरती जाय, जहाँ आवश्यक हो विभिन्नता का व्यवहार किया जाय–परन्तु निश्चितता का होना सभी अवस्थाओं में आवश्यक है"।

[1] क्या यह सम्भव नहीं है कि इस प्रदेश का नाम इसकी (भौगोलिक) स्थिति के ही आधार पर रखा गया हो? सिर (किनारे या ऊपरी भाग) पर है 'रोही' (जंगल) जिसके, वह सिरोही।

[2] यॉर्क निवासी सर थामस हर्बर्ट ने १६२६ से १६२६ ई० तक पूर्वीय देशों की यात्रा की, जिसका विवरण "Some years' travels into Asia and Africa" नामक पुस्तक में १६३४ ई० में प्रकाशित हुआ। बाद में भी १६३८, १६६४ और १६७७ ई० में इसके संस्करण प्रकाशित हुए। यह पुस्तक पूर्वीय देशों से संबद्ध यात्रा-साहित्य में उच्चकोटि की मानी जाती है।—E. B. vol. xi, pp. 721-22

[3] Adam Olearius एडम ऑलीरियस जर्मनी में Duke of Holstein का पुस्तकालयाध्यक्ष था। बाद में उसने सरकारी गणक आदि बड़े पदों पर भी कार्य किया। ड्यूक ने मास्को और फारस में अपना प्रतिनिधि रेशम के व्यापार की स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा था। ऑलीरियस को उस दूत का सचिव नियुक्त किया गया। इस प्रतिनिधिमंडल ने ई० सन् १६३३ से ३९ तक दो यात्राएं कीं। मैन्डॅल्स्लो भी इस प्रति-

थीवनॉट[१] आदि ने इसका जिक्र किया है और साथ ही उनके वृत्तांतों में 'राजपूतों' के बारे में कोई अच्छी राय व्यक्त नहीं की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमन के समय उन लोगों ने बिना सोचे समझे ही, जो भी रास्ते में आवे,

---

निधिमंडल के साथ था। वह भारत में भी आया था (ई० सन् १६३८-३९)। ऑली-रियस ने मैन्डॅल्स्लो से ही उसकी भारतयात्रा का विवरण प्राप्त किया था और उसे अपने यात्राविवरण के साथ "Beschreibung der Moskowitischen and Persischen Reise" नाम से प्रकाशित कराया था।

उक्त पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद जॉन डेविस ने किया जो लंदन से १६६९ ई० में प्रकाशित हुआ। ऑलीरियस ने Holstein होल्स्टीन का इतिहास लिखा था तथा शेख़ सादी कृत गुलिस्ताँ का भी जर्मन में अनुवाद किया था।—E. B. Vol. XVII, p. 760.

[४] Pietro Della Valle (पीटर डेला वॅले) इटालियन यात्री, जो जहांगीर के समय हिन्दुस्तान में घूम रहा था (१६२३-२४ ई०)। इसका पश्चिमी भारत का वर्णन बड़ा उपयोगी है। इसके यात्रा संबंधी विवरणों का प्रकाशन, इसके जीवन-चरित्र के साथ एडवर्ड ग्रे ने दो भागों में "हकलूयात सोसायटी" (Hakluyiat Society) लंदन से सन् १८९२ ई० में प्रकाशित किया था।—Br. Mu. Cat., p. 480.

[५] Francis Bernier फ्रांसिस बर्नियर, अंग्रेज यात्री, जो (१६५६-१६६८ ई० सन्) में मुग़ल दरबार में चिकित्सक के पद पर शाही बीमारों का इलाज करता था। इसके भारत संबंधी संस्मरण इस प्रकार प्रकाशित हुए:—

1 Travels in the Mogul Empire (1656-1668) Tr. from the French by Irving Brock. 2 vols. London, 1826.

2 Bernier's Travels. Constable Oriental Miscellany. Westminister., 1891. दूसरा संस्करण अधिक प्रसिद्ध है।

[१] जीन डी थीवनॉट का जन्म पैरिस में १६३३ ई० में हुआ था। भूगोल और भौतिक विज्ञान के अध्ययन में उसकी गहरी अभिरुचि थी। सन् १६६५ ई० में वह 'होपवैल', नामक जहाज से अत्यधिक किराया देकर बसरा से सूरत आया। वहाँ से अहमदाबाद और खम्भात गया। फिर बुरहानपुर, औरंगाबाद और गोलकुण्डा होता हुआ मसलीपट्टम पहुँचा। मार्ग में इलोरा की गुफाओं को भी देखा। उसने इन नगरों के व्यापार और उद्योग के विषय में खूब प्रकाश डाला है और इलोरा की विचित्र गुफाओं का वर्णन करने वाला तो वह पहला यूरोपियन था। १६६७ ई० में फ्रांस लौटते हुए पशिया में मियाना नामक स्थान पर केवल ३४ वर्ष की अवस्था में ही वह विद्वान् यात्री दिवंगत हो गया। थीवनॉट की मृत्यु २८ नवम्बर को हुई और १६ नवम्बर तक वह अपना यात्रा-विवरण लिखता रहा। उसके लेखों को व्यवस्थित कर के उसके दो मित्रों ने प्रकाशित कराए जिनके अंग्रेजी, डच और जर्मन भाषाओं में अनुवाद हो कर अनेक संस्करण निकले। थीवनॉट का यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के अध्येताओं के लिए बहुत काम का है।

—Indian Travels of Thevenot and Careri—S.N. Sen, 1949.

उसे लूट लेने की सभी लुटेरेपन की आदतें अपने मातहत मीणों से अपना ली थीं। इन लोगों को जो उकसाहट मिलती थी उसके बारे में इन यात्रियों को कोई पता नहीं था इसलिए वे अपने वृत्तान्तों में कोई अन्तर या कमी नहीं कर सकते थे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि उनके किए का फल विदेशियों को भुगतना पड़ता था और इसीलिए उनमें और मुगल प्रतिनिधियों के छोटे नौकरों में झगड़ा होता रहता था, जिनका उद्देश्य जहाँ भी और जैसे भी मिले पैसा प्राप्त करने भर का था। इन कारणों से तथा बादशाहों की नौकरी करके बड़े बने हुए मारवाड़ के राजाओं द्वारा किए गए लगातार हमलों से यह रियासत अर्द्धसभ्य किन्तु उच्च-स्वाधीनता की अवस्था में पनप सकी। इसके स्थानीय महत्त्व की वृद्धि का एक कारण यह भी था कि यहां के राजा पवित्र आबू के संरक्षक थे जहां के मन्दिरों में भारतवर्ष के सभी भागों से जैन-धर्मावलम्बी श्रद्धालु यात्री आया करते थे। आश्चर्य की बात है कि विदेशी यात्रियों में से किसी के द्वारा भी इन मन्दिरों तक पहुँचने के लिये किया गया प्रयत्न ज्ञात नहीं होता, यद्यपि यह बात नहीं हो सकती कि उनकी प्रसिद्धि के विषय में उनको कुछ भी मालूम न हुआ हो।

दूसरे दिन ठहर कर मैंने राव से भेंट और नज़रों का आदान-प्रदान किया। इस अवसर पर उन्होंने अपने सभी सरदारों को एकत्रित कर लिया था। अपने राजा के सम्मान में पहले कभी देवड़ों का ऐसा शानदार समारोह होना किसी को याद नहीं था। माणिकराय के वंशज के तोशा-खाने में अधिक सामग्री नहीं थी इसलिए मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सरकार की ओर से प्रदान करने योग्य भेंट उनको नज़र की। ऐसा करने में अधिक खर्चा भी नहीं हुआ क्योंकि जवाहरात और पोशाक का सामान तो मुझे मेवाड़ के राणाजी के यहाँ से विदा की भेंट में मिले ही थे, इसके अतिरिक्त बहुमूल्य साखत से सजा हुआ एक हाथी, एक घोड़ा, जवाहिरात से जड़ी हुई धुगधुगी-दार मोतियों की माला, एक मूल्यवान सिरपेच और उचित संख्या में ढालें (राजपूतों के थाल) जिनमें दुसाले, पारचे, मलमलें, पगड़ियां, साफ़े और कुछ यूरोप के बने हुए कपड़े, जो उनके लिए अप्राप्य थे, भेंट किए गये। दोपहर में मैं उनसे वापसी मुलाकात करने गया तब वे मेरे डेरे के आधे रास्ते तक अपने दरबार के साथ मुझे लेने आए और महलों तक अपने साथ ले गए। वहाँ पर, शान्ति और व्यवस्था की आवश्यकता, उनको शत्रुओं की दाढ़ से मुक्त कराने और संरक्षण प्रदान करने के बदले में मेरी सरकार की ओर से मुख्य मांग आदि के विषय में लम्बी बातचीत के बाद, नज़रें पेश की गईं। मैंने उनको

स्वीकृति-सूचक हाथ से स्पर्श किया और यह कह दिया कि ये सब बाद में ले लिए जायेंगे जब उनकी आर्थिक दशा सुधर कर वे इनको देने की स्थिति में आ जायेंगे, इसलिए वह सब सामान उनके सामान्य-से तोशाखाने में वापस भेज दिया गया। यह तरीका पूर्व के रिवाज से पूरी तरह मेल खाता है; ऐसी परिस्थिति में भेंट का न लेना कभी अपमान-सूचक नहीं माना जाता। राव श्योसिंह सत्ताईस वर्ष का सुपुष्ट युवक था परन्तु कद में कुछ छोटा था; यद्यपि उसके चेहरे से बहुत ज्यादा समझदारी व्यक्त नहीं होती थी परन्तु उसका वर्ण गोरा था और वह देखने में भद्दा नहीं था। उसमें वह वीरता थी जो प्रत्येक चौहान की पैतृक संपत्ति मानी जाती है। परन्तु, शासन संबंधी अनुभव की कुछ कमी थी क्योंकि उसकी अब तक की ज़िन्दगी मीणों, कोलियों और अत्यन्त भयङ्कर पड़ौसी जोधपुर वालों के हमलों तथा अपने प्रमुख सामन्त नीमाज के ठाकुर की छल-कपटपूर्ण चालों का मुकाबला करने में बीती थी। इस नीमाज के सरदार की शत्रुता का नमूना अब तक भी उस महल में मौजूद था, जहाँ वह तूफान की तरह घुस आया था और उसने विशाल दर्पणों तथा दीवानखाने की अन्य सजावट की चीजों को अपने भाले से किर्चे किर्चे कर डाली थी। एक दूसरे अवसर पर यही निर्लज्ज विद्रोही जोधपुर की सहायता से अपने स्वामी के विरुद्ध सेना चढ़ा लाया, जब कि वह तो राव को अपदस्थ कराना चाहता था और राठौड़ उन दोनों ही को आधीन करने की ताक में था। यदि पहले ही से सब काम योजनाबद्ध होते तो सम्पूर्ण नगर पर अधिकार हो जाता, परन्तु सौभाग्य से १८०७ ई० की सन्धि ने (उनको) योजना का त्याग करने को बाध्य कर दिया था। सिरोही विस्तृत है; मकान अच्छे और ईंटो के बने हुए हैं परन्तु इनमें से अब भी आधे खाली पड़े हुए हैं; पानी बीस से तीस हाथ तक नीचा है। महल या राज-प्रासाद एक हल्की सी ऊँचाई (पहाड़ी) की ढाल पर बना हुआ है, परन्तु इसमें स्थापत्य-कला के सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर गर्व किया जा सके। आबू देवड़ों का प्राकृतिक किला है, परन्तु राव मान की मृत्यु के बाद, जिसको यहाँ पर विष दिया गया था, इस स्थान के निवास को चित्तौड़ की तरह तलाक दे दी गई है।

सिरोही उन बहुत से उदाहरणों में से है, जो यह प्रमाणित करते हैं कि राजपूताने में, कर्तव्य पूरा करने या न करने की दशा में भी बना रहने वाला राजाओं का 'दैवी अधिकार,' मनु की आज्ञा होने पर भी और स्थानों की अपेक्षा, अधिक अमान्य है। उनके वंश एवं आधीनता के अधिकार से सम्बन्धित शक्ति, जो उनके नियम एवं परम्परा को धारण करने तक अक्षुण्ण रहती है, इनमें से

एक का भी दुष्टतापूर्ण भंग करने पर, कई बार उलट दी जाती है। देवड़ों के वर्तमान शासक राव के बड़े भाई को सरदारों और प्रमुख नागरिकों की एक सभा द्वारा बाकायदा गद्दी से उतार दिया गया, क्योंकि वह उन पर बहुत ही कुत्सित अत्याचार करने लगा था, जो उनकी स्त्रियों की पवित्रता को लाञ्छित करने की सीमा तक भी पहुँच चुका था। यही नहीं, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, जब उसे उड़ा कर जोधपुर ले जाया गया तब देवड़ों की स्वतन्त्रता के अपहरण पर हस्ताक्षर कर देने का अपराध भी उसको कभी क्षमा नहीं किया गया। राज्य के लिए अयोग्य घोषित होने पर उसे हमेशा के लिए क़ैद कर दिया गया और वर्तमान शासक श्योसिंह को उसकी एवज़ गद्दी पर बैठा दिया गया। इस युवक की नैतिकता एवं दया-भावना का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है कि वह अपने बन्दी भाई पर पूर्ण अनुग्रह रखता है और प्रतिक्रिया को रोकने के लिए एशिया में प्रचलित उस तरीके को बरतने की कायरतापूर्ण सलाह से घृणा करता है, जिसमें राज्यच्युति का परिणाम मृत्यु होता है।

सिरोही की लागानी आय शान्ति की दशा में, तीन से चार लाख रुपया वार्षिक तक पहुँच जाती है और करीब करीब इससे आधी आमदनी जागीरदारों से सेना-कर की हो जाती है। इनमें पाँच बड़े जागीरदार ये हैं, नीमाज, जावाला पारिया, कालिन्द्री और बोआड़िया; ये सभी राजधानी से १४ से २० मील की दूरी के अन्दर अन्दर हैं। उत्पत्ति के लिहाज़ से सिरोही आबू के संगमर्मर व तलवारों पर गर्व कर सकती है, जो राजपूतों में उसी तरह प्रसिद्ध हैं जैसे फारसियों (Persians) और तुर्कों में दमिश्क (Damascus) की तलवारें। सुन्दर काठियावाड़ी घोड़े पर सवार, हाथ में भाला और बग़ल में सिरोही (तलवार) —बस यही निर्भीक देवड़ा की छवि है।

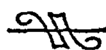
मेरा विचार था कि यहाँ देवड़ों की वंशावली आरम्भ से दूं, परंतु यह सोचकर कि मैं इस जटिल विषय को सुलझाने में कितना भी परिश्रम करूँ, इससे अंग्रेज पाठकों की रुचि में कोई जागृति नहीं आएगी, इसे छोड़ दे रहा हूँ। फिर, हारूँ[1]

---

[1] हारूँ-अल-रशीद बग़दाद का प्रसिद्ध पाँचवाँ ख़लीफा (७८६–८०९ ई०) था। यह मोहम्मद साहब की अब्बासी शाखा से सम्बद्ध था। अब्बासियों ने ७५० ई० के लगभग पूर्व-शाखा के उम्मियादों को अपदस्थ कर के अधिकार ग्रहण किया और तभी अरब की राजधानी दमिश्क से ईराक में बग़दाद को स्थानान्तरित हो गई। अब्बासी साम्राज्य हारूँ के समय में उन्नति के शिखर पर था। उसके दरबार में चीन और रोम के बादशाह शॉर्लमॅन के दरबार में से राजदूत आया करते थे। वह वेश बदल कर अपनी

और शार्लमॅन (Charlemagne)[१] के समकालीन अजमेर के राजा माणिकराय के समसामयिक उनके पूर्वजों के विषय में जो कुछ ज्ञातव्य बातें हैं, वे सब तो मैं 'इतिहास' में विस्तारपूर्वक दे चुका हूँ; और इससे पहले की तो वही काल्पनिक सामग्री प्राप्त होती है जो प्रत्येक इतिहास के मूलस्रोत का गला घोंट देती है, चाहे वह ग्रीक, रोमन, फारसी अथवा राजपूती कोई भी हो। पौराणिक पृष्ठों से जो प्रस्तावना मिलती है और जिसका भाट लोग समर्थन करते हैं वह इस प्रकार है:-

"देवड़ों की वंशावली सतयुग से आरम्भ होती है जब मनुष्य की आयु एक लाख वर्ष की और लम्बाई (क़द) वीस हाथ की होती थी तथा जब हंसों को वाणी का वरदान मिला हुआ था।" इसके बाद के युगों का भी कोई ऐसा वर्णन नहीं मिलता जिसको ऐतिहासिक कहा जा सके। युद्ध, घरेलू झगड़े, वीर-कार्य, निर्दयतापूर्ण व्यवहार, और गुप्त हत्याएं—ये सब किसी रोमाञ्चकारी कथा के लेखक का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं, परन्तु किसी विचारक के मस्तिष्क के लिए उन 'अटपटे और अशुद्ध नामों' से, जो मेरे कुछ कथा-नायकों के लिए प्रयुक्त होंगे, वे पाठक ऊब जायँगे, जो केवल मनोरञ्जन के लिए पढ़ते हैं। अस्तु - ऐसे ही स्रोतों से प्राप्त पराक्रमपूर्ण उदाहरणों को भाटों ने कुछ अन्योक्तिपूर्ण परि-चित उपाख्यानों में मिला कर उनके वंशजों के अनुकरण एवं आमोद के लिए इतिहास का रूप दे दिया है, जिनमें से कुछ ने तो प्रसिद्ध लोक-कथाओं के आधार का रूप ले लिया है। मेरे पास लगभग ऐसी चार सौ कथाओं का संग्रह है; यदि इनका [अंग्रेजी में] अनुवाद हो जाय तो संभवतः वे राजपूत संस्कृति का सबसे अच्छा चित्र उपस्थित कर सकेंगे।



प्रजा की दशा जानने के लिए रात को घूमा करता था। सुप्रसिद्ध Arabian Nights (सहस्ररजनी-चरित्र) में हारूँ और वगदाद की प्रभूत समृद्धि की विचित्र कथाएँ संकलित हैं।—E.B. Vol. XI, pp. 487–88

[१] शार्लमॅन (Charlemagne)—रोम का वादशाह–फ्रेंकिश राजा पेपिन का पुत्र; जन्म ७४२ ई० के लगभग; वड़े भाई कार्लोमॅन की मृत्यु पर ७७१ ई० में सम्पूर्ण फ्रेंक राज्य का स्वामी हुआ। सैक्सनों और सॅरासनों के विरुद्ध युद्ध किया और ८०० ई० में रोम का वादशाह हुआ। यह विद्वन्-मण्डली में रहने का शौकीन था। इसने वहुत से विद्यालय भी स्थापित किए थे, संगीत और वेदान्त का भी प्रेमी था। वहुत से गिर्जाघर और महल वनवाए। उसके सचिव और मित्र आइनहार्ड (Einhard) ने उसका जीवन-चरित्र लिखा है।—N.S.E., p. 262

प्रकरण ५

मेरिया (Mairцoh); जैन-मन्दिर; पालड़ी; लू के किनारे चढ़ाई की तैयारियाँ; गणेश का मन्दिर; राहती (Rahtis) या पहाड़ी लोग; पहाड़ के निचले हिस्से की भौगर्भिक बनावट; सन्त की चोटी [सन्त-शिखर] पर चढ़ाई; चोटी पर से विहंगावलोकन; दाता ब्रिग (भृगु ?) और रामानन्द की पादुका या चरण-चिह्न; वनवासिनी सीता; गुहा-गृह; विशाल दृश्य; चोटी पर से उतराई; अचलेश्वर; पाशविक अघोरी; एक (अघोरी) द्वारा समाधि-ग्रहण; हिन्दू विश्वासों में असंगति; जैन स्थापत्य के नियम; अग्निकुण्ड; मन्दिर; अचलेश्वर-प्रासाद वर्णन; अहमदाबाद के मोहमद वेयरा [महमूद वेगड़ा] द्वारा देवस्थानों की लूट; नारायण की मूर्ति; शिलालेख; राव मान की छतरी; आदिपाल की मूर्ति; अचलगढ़ के खण्डहर; जैन-मन्दिर; घण्टाघर से दृश्यावलोकन; मूर्तियाँ; राव से भेंट; देलवाड़ा की यात्रा।

जून १० वीं–मेरिया (Maireoh)-साढ़े ग्यारह मील; फिर दस मील से कुछ अधिक सीधे फासले पर श्रेणी को पार कर के चलना पड़ा। पहले पांच मील का रास्ता एक सुन्दर घाटी में हो कर गया है जहाँ पर बहुत लम्बे समय से हल नहीं चला है और अब वहाँ जंगल ही जंगल खड़ा है। पहला मील खतम होते-होते हमने पालड़ी ग्राम के पास एक छोटे नामरहित नाले को पार किया और चौथे मील पर एक झाँप [प्रपात] को पार करना पड़ा, जो आबू की चोटी से गिर कर कालिन्द्री के सरदार के निवास-स्थान में हो कर सूकड़ी तक बहता हुआ उसी के साथ लूनी में जा मिलता है। पाँचवें मील पर हम घाटी में दाहिने हाथ की श्रेणी की ओर मुड़े, जिसके दक्षिणी छोर पर सिंदुढ़ (Sindurh) नाम का गाँव है। यहाँ से आबू की पूर्वी ढाल द० ३५° पू० और दो प्रसिद्ध गाँव दाँता (Dantah) तथा नेटोरा (Nettorah) द० पू० और पू० में थे जो एक दूसरे से पाँच मील के फासले पर हैं। यहाँ तक हमारे रास्ते की दिशा द० ५०° प० थी; अगले तीन मील तक द० १५° प० की ओर रुख बदलनी पड़ी जहाँ पर हमने सिरोही श्रेणी को हमीरपुर गाँव के पास पार की जिसके नीचे एक चट्टान अलग ही खड़ी थी; इसके एक किनारे पर एक खम्भे की सी शकल का बहुत ऊँचा ढेर भी था जो छतरी या मीनार जैसा दिखाई पड़ता था। यह 'पहाड़' कहलाता है और यहाँ से हमारे डेरे [ठहरने] का स्थान, मेरिया तीन मील की दूरी पर था। पहाड़ियों के गुच्छे के बीच में बसा हुआ यह गाँव पुराना मालूम होता है; इसमें पाँच से कम जैन मन्दिर नहीं हैं। यह तीन भागों में बँटा हुआ है, एक खालसा (जिसका लगान राज्य में वसूल होता है), दूसरा किसी देवड़ा जागीरदार का है और

तीसरा एक चारण को मिला हुआ है। आबू का विशाल भाग अब द० ७०° पू० से द० १५° प० को था।

	८ बजे प्रातः	दोपहर	३ बजे शाम	६ बजे शाम
वॅरॉमीटर	२८° ७१'	२८° ७१'	२८° ६५'	२८° ६२'
थर्मामीटर	८६°	९४°	९८°	९४°

जून ११ वीं—पालड़ी—सात मील छः फर्लाङ्ग; पहले चार (मील) द० ५५° प० दिशा में जा कर हम सुंवेरा (Sunwaira) ग्राम में पहुँचे जहाँ से आबू का सब से ऊँचा भाग द० ८५° पू० से द० में है और उसकी सब से ऊँची चोटी गुरु-शिखर द०पू० में है। दो मील और चल कर नीचे वाली श्रेणी के तले सीरोरिया (Seeroria) गाँव पहुँचे जहाँ पर हमने दूसरा झरना पार किया। वहाँ से ठीक दक्षिण में दो मील चल कर हम अपने ठहरने के स्थान पालड़ी पहुँचे, जिसके उत्तर में उसी नाम की एक छोटी सी नदी बहती है जो पहले वाली नदी के समान ही आबू की दरारों से निकलती है, जिसकी सीमाएं उ० ७०° पू० और द० ५° के बीच में हैं। गुरुशिखर यहाँ से द० ७०° पू०में दो कोस या पाँच मील की दूरी पर होगा। प्रातः ८ बजे, दोपहर में एक बजे व तीन बजे और शाम को ६ बजे वॅरॉमीटर क्रमशः २८°७५, २८°७०, २८°६५ और २८°६५' पर था और थर्मामीटर ८६°, ९६°, ९८° और ९२° पर। मेरा दूसरा वॅरॉमीटर, जिस पर मेरा विश्वास कम था, शाम को ६ बजे २८°४३' बतला रहा था और इस प्रकार उससे २२' का अन्तर व्यक्त होता था ; परन्तु बाद के निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि मैंने जिस वॅरॉमीटर पर विश्वास कर रखा था वही बिल्कुल अविश्वसनीय था।

अन्त में, हम विशाल आबू के किनारे आ ही पहुँचे और उसी के अंचल में जा कर डेरा डाला। ऐसी स्थिति में चौबीस घण्टे तक ठहरे रहना और उन चट्टानों के विषय में सोच-विचार करते रहना, जिन पर हमें चढ़ना था, सचमुच हमारे धैर्य का परीक्षा-काल था। सारा दिन हिन्दू-ऑलिम्पस [देव-पर्वत] पर चढ़ाई की तैयारियों में बीता। वास्तव में यह एक ऐसा प्रयास था जिसमें बुद्धि (Boodh) की सहायता प्राप्त किए बिना कदम नहीं बढ़ाया जा सकता था। राव ने चालीस मजबूत पहाड़ी सेवक मुझे और मेरे साथियों को चोटी तक उठा ले जाने के लिए भेज दिए थे। उनके पास दो सवारियाँ थीं, जो 'इन्द्र-वाहन' कहलाती थीं। इसमें दो लम्बे बाँस थे और इनके बीच में एक फुट लम्बी व चौड़ी बैठक लगी हुई थी और इसी वाहन की सहायता से कोई निरुद्योगी

अथवा कमजोर यात्री 'बोध पहाड़' (Mount of Wisdom) पर पहुँच सकता था। पूर्ण स्वस्थ न होने की दशा में ऐसी सहायता प्राप्त करके मैं दुखी नहीं हुआ, दूसरा वाहन मेरे गुरु के काम आ गया, जो मेरे साथ यात्रा में अपने धर्म के सभी मन्दिरों के दर्शन करने के लिए कृत-संकल्प थे। इस प्रकार हमारा दिन अर्बुद के वालकों से वार्तालाप करते हुए अथवा अपने महान् लक्ष्य की ओर देखते हुए बीत गया और अन्त में रात्रि की छाया ने इसके चारों ओर रहस्य-पूर्ण अन्धकार फैला दिया। गीदड़ों की गुर्राहट और लोमड़ियों की तेज़ आवाज़ यह सूचित कर रही थी कि जंगल के किसी निराश्रय निवासी के शिकार करने का समय आ पहुँचा था; इसी संगीत के साथ प्रायः इसकी निरन्तरता पर ध्यान न देते हुए मैं भी अपनी चटाई पर जा लेटा कि जिससे कल के लिए ताज़गी की तैयारी हो जाय।

जून १२वीं—"मैंने क्रेमलिन[1] (Kremlin) में जो कुछ देखा है और अलहम्ब्रा[2] (Alhambra) के विषय में जो कुछ सुना है उस सबसे बढ़ कर दो महल हैं—एक अमीर [आम्बेर] का और दूसरा जयपुर का, तीसरा जोधपुर है[3] जो इनमें से किसी एक के समान हो सकता है; परन्तु, पश्चिमी रेगिस्तान के किनारे आबू के जैन मन्दिर हैं जिनके लिए कहा जाता है कि वे इन सभी से बहुत ऊँचे दर्जे के हैं।" यह विवरणी बिशप हॅबर[4] की है, जिसे बृटिश जनता को पहले-पहल

---

[1] रूसी भाषा में Kremlin का अर्थ 'राज-दुर्ग' होता है। सबसे प्रसिद्ध दुर्ग क्रेमलिन मास्को में है। यह एक पहाड़ी पर मॉस्क्वा नदी के अभिमुख स्थित है और एक ऊँची दीवार से घिरा हुआ १०० एकड़ में फैला हुआ है।—N.S.E., p. 753.

[2] स्पेन का राजमहल। एक पहाड़ी पर ग्रानाड़ा नदी के अभिमुख स्थित है। इसके कक्षों में मूर्तिकला, कोरणी और स्तम्भों के उत्कृष्ट नमूने हैं।—N.S.E., p. 35.

[3] आमेर के प्राचीन महलों को महाराजा पृथ्वीराज (१५०३–१५२७ ई०) ने बनवाया था। बिशप हॅवर ने जो आमेर के राजमहल देखे थे उनको महाराजा सवाई जयसिंह (१६९९–१७४३ ई०) ने पूर्णता प्रदान की थी।
जयपुर के राज-प्रासाद भी महाराजा सवाई जयसिंह के बनवाए हुए हैं।
जोधपुर का राजदुर्ग भूतपूर्व जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधा ने सन् १४५९ में बनवाया। उत्तरवर्ती राजाओं ने भी इसमें समय समय पर परिवर्तन आदि करवाए।

[4] रेनाल्ड हॅवर (Reginald Heber) का जन्म Chesire में Malpass (मॉलपास) नामक स्थान पर १७८३ ई० में हुआ था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की। वह बहुत विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि था। 'पैलॅस्टाइन' शीर्षक कविता पर उसे ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी में सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था और

भारतीय विषयों का आस्वादन कराने का श्रेय प्राप्त है। आइए, उसके कथन की जाँच करने के लिए हम भी आगे चलें।

सुबह चार बजे से ही मेरे डेरे में चहल-पहल शुरू हो गई। आध घण्टे में तैयार हो कर मैं घोड़े पर सवार हो गया; मेरे गुरु और बॅरामीटर अगल-बगल में थे तथा हमारा पहाड़ी संघ पीछे-पीछे चल रहा था जिसके पास स्वर्गीय [इन्द्र] वाहन और पार्थिव सफ़री टोकरे थे, जिनमें ऐसे खाद्य पदार्थ थे कि जो किसी ब्राह्मण अथवा जैन को बुरे न लगें। मेरे सिपाहियों में कुछ हिन्दू, ब्राह्मण और राजपूत भी थे, जो कुछ मेरी सुरक्षा के लिए और मुख्यत: इसलिए साथ आए थे कि वे 'बुद्धि' (Wisdom) की पूजा उसके पवित्र मन्दिर में ही कर सकें। हम पूरे एक घण्टे तक उस जंगल की भूल-भुलैया में चक्कर काटते रहे जो इस पहाड़ को चारों ओर से घेरे हुए है; अंत में, जहाँ से चढ़ाई शुरू होती है उस स्थान पर आकर मैंने बॅरॉमीटर तिपाई पर लटकाए और देखा कि वह २८°.५५' बतला रहे थे अर्थात् सपाट स्थान पर के अल्पतम ऊँचाव से दस सैकिण्ड कम थे। सुबह के ठीक छ: बजे हमने चढ़ाई की ओर पहला कदम उठाया और सात बज कर बीस मिनट पर चढ़ाई के देवता गणेश के मन्दिर पर पहुँच गए जो गणेशघाट कहलाता है; ठहरने के इस स्थान तक पहुँचने में हम लोगों को बहुत मेहनत पड़ी। यहाँ पर कुछ दम लेने व अपने प्रयत्न के बारे में आगे सोच-विचार करने के लिए हम पाव घण्टा ठहरे। राहतियों (आबू के जंगली निवासियों का यही नाम है) और मेरे सिपाहियों ने मन्दिर के पास ही छोटे-से गणेश-कुण्ड या बुद्धि के झरने के पानी से अपने कण्ठ गीले किए, यद्यपि इसका पानी एस्फाल्टाइटीज़[1] (Asphaltites) के पानी की तरह गंधक-मिश्रित और

यही उसकी सर्वोत्तम रचना मानी जाती है। १८२३ ई० में वह कलकत्ता का बिशप होकर भारत आया। अपनी सहज जिज्ञासु-वृत्ति और धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उसने भारत के विभिन्न भागों की यात्रा की, गिर्जाघरों में सुधार किये और स्कूल खोले। अत्यधिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त में १८२६ ई० के जनवरी मास में त्रिचनापल्ली में उसका देहान्त हो गया। 'Narrative of a Journey through...India' नामक पुस्तक का सम्पादन उसकी विधवा पत्नी एमीला ने किया जो John Murray द्वारा १८२८ ई० में प्रकाशित की गई।

—E. B., Vol. XI, p. 594.

[1] स्विट्ज़रलैण्ड का एक झरना जिसका पानी खारी, गंधक-मिश्रित और चूना मिला हुआ सा होता है। Asphalt [बालू-बजरी] मिली होने के कारण ही इसे Asphaltites कहते हैं।

खारी था। इन मज़बूत पहाड़ी लोगों को एक चट्टान से दूसरी चट्टान पर और कई गज़ गहरे गड्ढों को लांघ कर लपक के साथ चलते हुए देखने में बड़ा आनन्द आता था; ये उस 'इन्द्र-वाहन' को ठीक साधे रहते थे जो प्रत्येक ऊँचे-नीचे कदम के साथ लचक जाता था; परन्तु मेरा बुड्ढा गुरु इन साबित-क़दम प्राणियों की उछल-कूद के बारे में बराबर ज़ोर-ज़ोर से शिकायत करता रहा क्योंकि वे उसकी आधी उखड़ी हुई हड्डियों पर दया करने की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देते थे और ऊपर से हँसी करते हुए कहते थे कि 'यह तो स्वर्ग के मार्ग के समान है, जो सरल नहीं होता।' ये राहती अपने को राजपूत बतलाते हैं और जो मेरे साथ थे उनमें से अधिकांश परमार व बाकी के चौहान व परिहार जाति के थे, परन्तु इनमें सोलङ्की एक भी नहीं था अन्यथा हमारे पास अग्निकुल की चारों शाखाओं के प्रतिनिधि हो जाते, जो पौराणिक आधार पर अपनी उत्पत्ति आबू के अग्निकुण्ड से उस समय हुई बतलाते हैं जब दैत्यों अथवा आदिमानवों (Titans)[1] ने शिव-पूजकों को इस देवगिरि (Olympus) से निकाल बाहर करने के लिए शिव के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया था। ये लोग प्रतिष्ठित राजपूतों की अपेक्षा वनपुत्रों से अधिक मेल खाते हैं; सम्भवतः इसका कारण कोहरे, धुन्ध आदि में रहना, क्षुद्र आय और वर्षा में हानिकर पानी पीना आदि हो सकता है। परन्तु, जहाँ तक सम्भव है, ये लोग भी, अन्य बहुत-सी जंगली जातियों की तरह, मिश्रित रक्त के ही हैं, जो अपने को शुद्ध शूद्र-वंश का मानने की अपेक्षा अपनी उत्पत्ति राजपूतों से हुई बतला कर दूपित सिद्ध करना ही अधिक पसन्द करते हैं। इस चढ़ाई में बाँसों के झुण्ड और काँटेदार थूहर के पेड़ ही अधिक हैं, कोई ऊँचा पेड़ तो देखने को भी न मिला; थूहर तो अरावली की एक विशेषता ही है। एक झरने की प्रबल धारा ने पहाड़ के अंतर को काट कर अपना रास्ता बना लिया था; इससे यह बात प्रकट होती है कि इस पर्वत की बनावट में गुलाबी पत्थर, बिल्लौर और भोडल आदि भी खूब हैं; इसके पेटे में भोडल और बिल्लौर का अनुपात भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्नता लिए हुए था; कहीं-कहीं दोनों की मात्रा बराबर थी तो कहीं पर बिल्लौर की अधिकता थी और उनमें कहीं-कहीं गुलाबी रंग के एक-एक इंच लम्बे भोंडे खुरदरे पत्थर के टुकड़े भी मिले हुए थे। कहीं-कहीं पर भारी, घने और नीले स्लेटों के पत्थर थे जो नीली नसों (नाड़ियों) जैसे मालूम पड़ते थे;

---

[1] ग्रीक पौराणिक गाथाओं में 'टीटन' (आदि-मानव) कला एवं जादू के आविष्कारक माने गए हैं।—Larousse Enc. of Mythology-Robert Graves; p. 92

और उस समय तेज गर्मी के कारण सूखे पड़े कचलानाळ (Kuchala Nal) में स्लेटी पत्थरों के टुकड़े झरने के पेटे में जड़े हुए-से लगते थे। जहाँ-जहाँ पर हम ठहरते वहीं 'ज्ञान के चन्द्रमा' [ज्ञानचन्द्र], यही मेरे गुरु का नाम था, और मुझ में इस मार्ग-विहीन चढ़ाई की चट्टानों में विराजे हुए गणेश के विषय में कई तरह की हास-परिहास की बातें होती रहीं। मेरे ध्यान से, इस देवता की स्थिति चढ़ाई के आरम्भ में ही अधिक ठीक रहती, जहाँ इस प्रयत्न के लिए प्रेरणा सुलभ होती; परन्तु, यहाँ पहुँचने के बाद चढ़ाई के कठिनतर भाग को पूरा कर लेने पर तो भक्त शायद आशापूर्णा देवी की ही प्रार्थना करेगा कि उसे आगे की चढ़ाई आनन्दप्रद हो। यह कल्पना हिन्दुओं के उस पुराण-पन्थ पर आधारित है जिसमें प्रत्येक दैवी गुण के लिए एक-एक देवता की सृष्टि हुई है और उनके लिए पृथक्-पृथक् मन्दिर, सूक्त, पुजारी और भेंट का विधान है; इस प्रकार इन लोगों ने देश को एक विशाल देव-मन्दिर का रूप दे दिया है और उसी के साथ पुजारियों की एक जाति भी बन गई है जो भक्तों की थैलियां खाली कराते हुए उनके मानस में वश्यता उत्पन्न करते रहते हैं। गणेश की उत्पत्ति, भगवान् के द्वार-देवता के रूप में कर्त्तव्य और उनके नाम गण-ईश की व्युत्पत्ति (लघु देवों के ईश, पारसी पुराण के Jins अथवा Genii) आदि के विषय में मैं 'इतिहास' में विवेचन कर चुका हूँ। बुद्धि के प्रतीक इस देवता के लिए हाथी का मस्तक चुना गया है, इस बात की व्याख्या करने की तो आवश्यकता नहीं है परन्तु इसके साथी [वाहन] के रूप में चूहे को ग्रहण करने की बात समझ में नहीं आती जब तक कि यह किसी विपरीतता का द्योतक न हो। ग्रीक लोगों ने सरस्वती (Minerva) को उल्लू का साथ दिया है जो सब प्रकार से बुद्धि को धारण किए रहता है; परन्तु चूहे की समझदारी राजनीतिज्ञ के अतिरिक्त और किसी को ज्ञात नहीं है।

अपने थके हुए अंगों को फिर से ताज़ा कर के हम आगे बढ़े और बीच-बीच में ठहरते हुए ठीक १० बजे पठार के सब से नीचे वाले स्थल पर पहुँचे। मेरे बॅरॉमीटर में आज सुबह से ही वृद्धि के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे और विशेषतः उसमें, जिस पर मैंने अपना पूर्ण विश्वास जमा रक्खा था; गणेश-मन्दिर पर यह २७°६५' बतला रहा था अर्थात् मरु के मैदानों से केवल एक अंश अथवा ६०० फीट ऊँचे, परन्तु मुझे अपनी आँखों से यह दिखाई दे रहा था कि हम अरावली के पठार से भी ऊँचे आ चुके थे। पहाड़ की चोटी पर पहुँचने के बाद यह और भी स्पष्ट हो गया जब कि दो घण्टों की चढ़ाई के बाद भी पारा केवल ३०' ही का अन्तर बतला रहा था अर्थात् बॅरॉमीटर २७°३५' पर था।

थर्मामीटर ७७° पर था अर्थात् उसी समय के मैदान के तापमान से पूरे १५° कम था और इस प्रकार चढ़ाई का ठीक-ठीक सूचन कर रहा था। दो वर्ष पहले अरावली से मारवाड़ में उतरते समय मुझे पारा धोखा दे गया था और उस समय इस श्रेणी को घेरे हुए भू-भागों की तुलनात्मक ऊँचाई के बारे में मेरा सन्देह ज्यों का त्यों बना रह गया था, परन्तु बाद में मैंने यह सिद्ध कर दिया कि मारवाड़ के मैदान मेवाड़ के मैदानों से पूरे पाँच सौ फीट ऊँचे हैं। इसीलिए इस अवसर पर मैंने दोनों नलियों को फिर से भरने की सावधानी बरती; पहले इसको साफ कर लिया था और चाल में अन्तर न आने पावे इसलिए पारे को चढ़ाई के ठीक स्थान पर ला कर इसकी सचाई की जाँच कर ली थी। परन्तु, अब हम 'सन्त शिखर' (Saint's Pinnacle) की ओर आगे बढ़े जो सभी नीची चोटियों से ऊपर उठ कर अर्बुद के मस्तक पर मुकुट के समान जगमगा रहा है।

रास्ता एक छोटे से जंगल में हो कर था, जो करौंदे, काँटी और एक प्रकार की ऐसी झाड़ियों से भरा हुआ था जिन पर फल और फूल साथ-साथ बहुतायत से लदे हुए थे। करौंदे, जो हिन्दुस्तान में बोए जाते हैं, बहुत ज्यादा और बड़े-बड़े थे और इस समय पके-पके दिखाई देते थे। हम इन स्वादिष्ट फलों के आहार का आनन्द लेने के लिए जगह-जगह ठहर जाते थे और परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई थकान व प्यास में इनका मजा दुगुना हो जाता था। काँटी का सुन्दर छोटा फल भी मज़ेदार था परन्तु यह मेरे लिये नया था और इसमें करौंदे जैसी ताज़गी लाने वाली खटाई की कमी थी। आधे रास्ते पर हम उरिया (Orach) में हो कर निकले जो आबू की चढ़ाई की शोभा बढ़ाने वाली बारह ढाणियों में से एक है—आबू, जिसकी विचित्रताएं प्रतिक्षण बढ़ती जा रहीं थी और जिसकी विविध आकृति वाली चोटियों के बीच-बीच में घनी पत्रावली की गुम्बदें खड़ी हुई थीं। सुनहरी चम्पा—

'गहरी, सुगन्धभरी, सुनहरी'[1]

---

[1] सर विलियम जोन्स कृत 'कामदेव का गीत'। इन्होंने अपनी भारतीय वनस्पति (Indian Botany) नामक पुस्तक में लिखा है कि सुनहरी रंग की चम्पा या चम्पक की तेज गन्ध भौंरे के लिए हानिकर समझी जाती है और वह इसके फूलों पर कभी नहीं बैठता। भारतीय रमणियों के सुन्दर काले केशपाशों में चम्पा के सुन्दर फूलों की शोभा का वर्णन रम्फ़िअस (Rumphius) ने किया है और इन दोनों ही विषयों ने संस्कृत-कवियों की सुन्दर कल्पनाओं को प्रेरणा दी है।

भूषण ने भी शिवाजी को औरङ्गजेब के लिए भय का कारण बताते हुए कहा है :—
"अलि नवरङ्गजेब चम्पा शिवराज है।"

और बहुत सी दूसरी अनोखी वनस्पतियों से भी मार्ग सजा हुआ था; परन्तु पर्वत के अन्य भागों में इनकी बहुतायत होने के कारण आबू की उपज का सामान्य वर्णन करते हुए इन पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

जब हम आबू की सब से ऊँची चोटी की ऊँचाई पर, जहाँ अब तक किसी यूरोपनिवासी ने कदम नहीं रखा था, पहुँचे तो सूर्य आकाश के मध्य में आ चुका था। यद्यपि पहाड़ की चोटी पर देखने में कोई ऐसी चढ़ाई नह मालूम पड़ती थी परन्तु जैसे ही हम मारवाड़ के मैदान में हो कर पहुँचे तो यहाँ पर पठार की सतह से पूरे सात सौ फीट की ऊँचाई थी; फिर भी मेरा सुस्त बॅरा-मीटर केवल १५' की ही ऊँचाई बता रहा था और अभी २७°१०' पर ही बना हुआ था; उधर थर्मामीटर, जिसे हिन्दुस्तान के उष्णतम दिनों में और अयन-वृत्तीय प्रदेश में खुली धूप में देखा गया था, ७२° पर आ गया था और बॅरामीटर की अपेक्षा अच्छा मार्ग-प्रदर्शन कर रहा था। दक्षिण की ओर से बहुत ठण्डी हवा तेज़ी से चल रही थी जिसके प्रभाव से बचने के लिए होशियार पहाड़ी लोग अपनी काली कम्बलियों में लिपट कर एक ऊँची निकली हुई चट्टान के सहारे जमीन पर सीधे लेट गए थे। उस समय का दृश्य वास्तव में गम्भीर और विचित्र था। बादलों के समूह हमारे पैरों तले तैर रहे थे और उनमें हो कर कभी-कभी सूर्य की एक किरण फूट पड़ती थी मानो इसलिए कि अत्यधिक प्रकाश के कारण हम चौंधिया न जायें। इस धुंधली ऊँचाई पर एक छोटा सा गोल चबूतरा है जिसके चारों ओर छोटी-छोटी चारदीवारी बनी हुई है। इसके एक तरफ एक गुफा है जिसमें ग्रेनाइट पत्थर के बड़े टुकड़े पर दाता भृगु (विष्णु के अव-तार) के चरणचिह्न अंकित हैं, जो यात्रियों के लिए यहाँ की यात्रा का परम उद्देश्य हैं; दूसरे कोने में सीता [श्री ?] सम्प्रदाय के महान् प्रवर्तक रामानन्द[1]

---

[1] 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के अनुसार रामानन्द स्वामी के सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत – सम्मत हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार चित् (चेतन-Mind) और अचित् (अचेतन-Matter) दोनों का अस्तित्व ईश्वर से भिन्न नहीं है। चिद्विशिष्ट और अचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। वह जगत् का कारण भी है और कार्य भी। वह स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं से विशिष्ट रहता है इसी लिए विशिष्टाद्वैत कहलाता है। श्रीरामानन्दजी ने सीता और लक्ष्मणसहित श्रीराम की उपासना का विधान निर्दिष्ट किया है। सीता सृष्टि की उद्भव-स्थिति-संहाररूपिणी प्रकृतिस्थानीया हैं, लक्ष्मण जीव-स्थानीय हैं और श्रीराम ईश्वर-तत्व के प्रतीक हैं।

इस सम्प्रदाय की प्रवर्तिका श्रीसीताजी मानी जाती हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हनुमान्जी को मंत्रोपदेश दिया। इसीलिए यह सीता-सम्प्रदाय अथवा श्री-सम्प्रदाय कहलाता है।

की पादुकाएँ हैं। इस अँधेरे स्थान पर इसी सम्प्रदाय का एक चेला रहता है जो किसी विदेशी के आगमन पर घण्टा बजाने लगता है और उस नाद को तब तक बन्द नहीं करता जब तक भेंट नहीं चढ़ाई जाती। महात्मा के चरणों के चारों ओर यात्रियों के डण्डों का ढेर लगा हुआ था जो इस बात का सूचक था कि उन्होंने यात्रा निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त कर ली थी। पर्वत पर कई जगह बहुत सी गुफाएं देखने को मिलीं जो प्रागैतिहासिक काल की आबादी का सूचन कर रही थीं और कई जगह बहुत से गोल-गोल छेद थे जिनकी तोप के गोले से टूट कर बने हुए छिद्रों से तुलना की जा सकती है। रोशनी और अँधेरे के उस संघर्ष के अन्त की मैं धीरज के साथ बाट देखता रहा और उस सन्यासी से बातें करता रहा। उसने मुझे बताया कि बरसात में जब वातावरण का धुंधलापन पूरी तरह से दूर हो जाता है तो यहाँ से जोधपुर का राज-दुर्ग और लूनी पर स्थित बालोतरा तक का रेतीला मैदान साफ़ दिखाई पड़ता है। इस कथन की जाँच करने में कुछ समय लगा, यद्यपि बीच-बीच में जब कभी सूर्य निकलता तो हम सिरोही तक फैली हुई भीतरिल (Bheetril) नाम की घाटी और पूर्व में लगभग २० मील की दूरी पर बादलों से ढकी हुई अरावली की चोटियों में सुप्रसिद्ध अम्बा भवानी के मन्दिर को देख कर पहचान सकते थे। अन्त में, सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ निकल आया और हमारी दृष्टि काले बादलों का पीछा करती हुई वहाँ तक दौड़ी चली गई जहाँ नीले आकाश और धुँधली सूखी बालू के मिलन में वह खो गयी। दृश्य में प्रौढ़ता लाने के लिए जो कुछ आवश्यक था वह सब मौजूद था और निस्तब्धता उसके आकर्षण को और भी बढ़ा रही थी। यदि इस विस्तृत और अथाह गड्ढे से दृष्टि को थोड़ी-सी दाहिनी ओर घुमायी जाय तो वह परमारों के किले के अवशेषों पर जा टिकेगी जिसकी धुँधली दीवारें अब सूर्य की किरणों को प्रतिबिम्बित करने में अशक्य हो गई हैं; एक हलका-सा खजूर का पेड़, मानो उनके पतन का उपहास करता हुआ अपने ध्वज जैसे पत्तों को उस जाति के दरबार-चौक में खड़ा हुआ खड़-खड़ा रहा था जो कभी अपने वैभव को चिरस्थायी समझे हुए थी। इससे थोड़ी ही दाहिनी ओर घने जंगल को पीछे लिए हुए देलवाड़ा की गुम्बदों का समूह खड़ा हुआ है जिसके पीछे की ओर जहाँ-तहाँ सभी तरफ छतरियों के कलश दिखाई पड़ते हैं, जो पठार की चोटी पर निकली हुई सुइयों जैसे मालूम होते हैं। इस पठार के धरातल पर बहुत से पतले झरने भी बहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं जो सामने ही पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ धरती पर अपने टेढ़े-मेढ़े मार्ग का अवलम्बन करते हैं। सभी में विपरीतता थी – नीला आकाश और रेतीला मैदान, संगमर-

मर के प्रासाद और सामान्य झोंपड़ियाँ, गहन गम्भीर वन और टूटी-फूटी चट्टानें। ठंडी तेज हवा चल रही थी परन्तु ऐसे दृश्यों को देख कर जो विचार-मग्नता दर्शक पर छा जाती है उससे मन हटाए नहीं हटता था; ऐसा प्रतीत होता था मानो हम इस विशाल दृश्यावलि के स्रष्टा के वहुत समीप आ गए थे और मस्तिष्क इस सब को समझने में अपनी तुच्छता का अनुभव कर के दबा-सा जा रहा था। मेरे परिजनों पर भी यही मोहक प्रभाव छा गया था और वे स्थिति की नवीनता के विषय में एक भी शब्द बोले विना दृश्य को तल्लीन हो कर देखते रहे। अन्त में, मुझे ध्यान आया कि अब हमारे लौटने का समय हो गया था; सामने ही दिखते हुए कुछ गांवों का निरीक्षण करने के अतिरिक्त सुबह के चार बजे से दोपहर के एक बजे तक की पूरी मेहनत के बाद, कुछ ऐसे भी चिह्न दिखाई दिए थे जिनसे सुरक्षा करना, करौंदों की झाड़ियों की अपेक्षा उनके भीतर रहने वालों से, मनुष्यों के लिए अधिक आवश्यक था। फिर, हमारे ठहरने और आराम करने का स्थान अब भी यहां से दो मील की दूरी पर था।

यद्यपि उतराई आसान थी फिर भी हम अपराह्न में ३ बजे से पहले अचलेश्वर नहीं पहुँच सके; खुली हवा में बॅरामीटर २७°२५' और थर्मामीटर ७८° बतला रहा था। चार बजे पारा ८२° पर चढ़ गया जिससे दिन के इस भाग में तापमान का असाधारण बदल प्रतीत हुआ। बॅरामीटर में भी उसी समय उसी गति से ५' का परिवर्तन मालूम हुआ; यह अब २७°२०' पर था। साढ़े पांच बजे यह २७°१७' पर और थर्मामीटर ७८° पर आ गया। हमारा मार्ग उन्हीं सुगन्धित कुञ्जों में हो कर था जहां प्रकृति खुले हाथों अपनी शोभा लुटा रही थी; फिर भी मनुष्य के अन्ध-विश्वासों ने बीच में आ कर सहज निर्दोष मानव जाति के पूर्वजों के निवासयोग्य स्थलों को दानवों के निवासस्थान में बदल दिया था, जहां स्वयं मानव पशुता के धरातल पर उतर आया था।

मैंने पाखण्डपूर्ण पण्डागीरी के दास बने हुए भारतवर्ष के असंख्य निवासियों में प्रचलित बहुत से विपरीत रीति-रिवाजों को स्वयं देखा था और उनके बारे में बहुत कुछ पढ़ा भी था, परन्तु आज का दिन मेरे लिए यह खोज निकालने को बच रहा था कि मनुष्य अपने आप, पण्डे-पुजारियों की मध्यस्थता के बिना भी, राजी-खुशी किस सीमा तक नीचे गिर सकता है और यह पतन मानवीय प्राकृतिक गुणों से इतना नीचा है कि उसे रिवाज का रूप तो कभी दिया ही नहीं जा सकता। मेरा तात्पर्य अघोरी से है जिसे हिन्दुओं के साम्प्रदायिक वर्गीकरण की अन्तहीन नामावली में स्थान मिला हुआ है। मैं इस पतित मानव को उसकी जाति का शृगाल कह सकता हूँ, परन्तु अर्द्धरात्रि में कब्रों और अन्य गन्दे स्थानों

की पादुकाएँ हैं। इस अँधेरे स्थान पर इसी सम्प्रदाय का एक चेला रहता है जो किसी विदेशी के आगमन पर घण्टा बजाने लगता है और उस नाद को तब तक बन्द नहीं करता जब तक भेंट नहीं चढ़ाई जाती। महात्मा के चरणों के चारों ओर यात्रियों के डण्डों का ढेर लगा हुआ था जो इस बात का सूचक था कि उन्होंने यात्रा निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त कर ली थी। पर्वत पर कई जगह बहुत सी गुफाएं देखने को मिलीं जो प्रागैतिहासिक काल की आबादी का सूचन कर रही थीं और कई जगह बहुत से गोल-गोल छेद थे जिनकी तोप के गोले से टूट कर बने हुए छिद्रों से तुलना की जा सकती है। रोशनी और अँधेरे के उस संघर्ष के अन्त की मैं धीरज के साथ बाट देखता रहा और उस सन्यासी से बातें करता रहा। उसने मुझे बताया कि बरसात में जब वातावरण का धुंधलापन पूरी तरह से दूर हो जाता है तो यहाँ से जोधपुर का राज-दुर्ग और लूनी पर स्थित बालोतरा तक का रेतीला मैदान साफ़ दिखाई पड़ता है। इस कथन की जाँच करने में कुछ समय लगा, यद्यपि बीच-बीच में जब कभी सूर्य निकलता तो हम सिरोही तक फैली हुई भीतरिल (Bheetril) नाम की घाटी और पूर्व में लगभग २० मील की दूरी पर बादलों से ढकी हुई अरावली की चोटियों में सुप्रसिद्ध अम्बा भवानी के मन्दिर को देख कर पहचान सकते थे। अन्त में, सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ निकल आया और हमारी दृष्टि काले बादलों का पीछा करती हुई वहाँ तक दौड़ी चली गई जहाँ नीले आकाश और धुँधली सूखी बालू के मिलन में वह खो गयी। दृश्य में प्रौढ़ता लाने के लिए जो कुछ आवश्यक था वह सब मौजूद था और निस्तब्धता उसके आकर्षण को और भी बढ़ा रही थी। यदि इस विस्तृत और अथाह गड्ढे से दृष्टि को थोड़ी-सी दाहिनी ओर घुमायी जाय तो वह परमारों के किले के अवशेषों पर जा टिकेगी जिसकी धुँधली दीवारें अब सूर्य की किरणों को प्रतिबिम्बित करने में अशक्य हो गई हैं; एक हल्का-सा खजूर का पेड़, मानो उनके पतन का उपहास करता हुआ अपने ध्वज जैसे पत्तों को उस जाति के दरबार-चौक में खड़ा हुआ खड़-खड़ा रहा था जो कभी अपने वैभव को चिरस्थायी समझे हुए थी। इससे थोड़ी ही दाहिनी ओर घने जंगल को पीछे लिए हुए देलवाड़ा की गुम्बदों का समूह खड़ा हुआ है जिसके पीछे की ओर जहाँ-तहाँ सभी तरफ छतरियों के कलश दिखाई पड़ते हैं, जो पठार की चोटी पर निकली हुई सुइयों जैसे मालूम होते हैं। इस पठार के धरातल पर बहुत से पतले झरने भी बहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं जो सामने ही पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ धरती पर अपने टेढ़े-मेढ़े मार्ग का अवलम्बन करते हैं। सभी में विपरीतता थी – नीला आकाश और रेतीला मैदान, संगमर-

मर के प्रासाद और सामान्य झोंपड़ियाँ, गहन गम्भीर वन और टूटी-फूटी चट्टानें। ठंडी तेज हवा चल रही थी परन्तु ऐसे दृश्यों को देख कर जो विचार-मग्नता दर्शक पर छा जाती है उससे मन हटाए नहीं हटता था; ऐसा प्रतीत होता था मानो हम इस विशाल दृश्यावलि के स्रष्टा के बहुत समीप आ गए थे और मस्तिष्क इस सब को समझने में अपनी तुच्छता का अनुभव कर के दबा-सा जा रहा था। मेरे परिजनों पर भी यही मोहक प्रभाव छा गया था और वे स्थिति की नवीनता के विषय में एक भी शब्द बोले बिना दृश्य को तल्लीन हो कर देखते रहे। अन्त में, मुझे ध्यान आया कि अब हमारे लौटने का समय हो गया था; सामने ही दिखते हुए कुछ गांवों का निरीक्षण करने के अतिरिक्त सुबह के चार बजे से दोपहर के एक बजे तक की पूरी मेहनत के बाद, कुछ ऐसे भी चिह्न दिखाई दिए थे जिनसे सुरक्षा करना, करौंदों की झाड़ियों की अपेक्षा उनके भीतर रहने वालों से, मनुष्यों के लिए अधिक आवश्यक था। फिर, हमारे ठहरने और आराम करने का स्थान अब भी यहां से दो मील की दूरी पर था।

यद्यपि उतराई आसान थी फिर भी हम अपराह्न में ३ बजे से पहले अचलेश्वर नहीं पहुँच सके; खुली हवा में बॅरामीटर २७°२५′ और थर्मामीटर ७८° बतला रहा था। चार बजे पारा ८२° पर चढ़ गया जिससे दिन के इस भाग में तापमान का असाधारण बदल प्रतीत हुआ। बॅरामीटर में भी उसी समय उसी गति से ५′ का परिवर्तन मालूम हुआ; यह अब २७°२०′ पर था। साढ़े पांच बजे यह २७°१७′ पर और थर्मामीटर ७८° पर आ गया। हमारा मार्ग उन्हीं सुगन्धित कुञ्जों में हो कर था जहां प्रकृति खुले हाथों अपनी शोभा लुटा रही थी; फिर भी मनुष्य के अन्ध-विश्वासों ने बीच में आ कर सहज निर्दोष मानव जाति के पूर्वजों के निवासयोग्य स्थलों को दानवों के निवासस्थान में बदल दिया था, जहां स्वयं मानव पशुता के धरातल पर उतर आया था।

मैंने पाखण्डपूर्ण पण्डागीरी के दास बने हुए भारतवर्ष के असंख्य निवासियों में प्रचलित बहुत से विपरीत रीति-रिवाजों को स्वयं देखा था और उनके बारे में बहुत कुछ पढ़ा भी था, परन्तु आज का दिन मेरे लिए यह खोज निकालने को बच रहा था कि मनुष्य अपने आप, पण्डे-पुजारियों की मध्यस्थता के बिना भी, राजी-खुशी किस सीमा तक नीचे गिर सकता है और यह पतन मानवीय प्राकृतिक गुणों से इतना नीचा है कि उसे रिवाज का रूप तो कभी दिया ही नहीं जा सकता। मेरा तात्पर्य अघोरी से है जिसे हिन्दुओं के साम्प्रदायिक वर्गीकरण की अन्तहीन नामावली में स्थान मिला हुआ है। मैं इस पतित मानव को उसकी जाति का शृगाल कह सकता हूँ, परन्तु अर्द्धरात्रि में कब्रों और अन्य गन्दे स्थानों

में घूमने वाला शृगाल भी, उसकी प्रकृति को देखते हुए, अघोरी की अपेक्षा अधिक स्वच्छ होता है। यह पशु दुर्गन्धि एवं सडान्द से दूर भागता है और अपनी जाति के मृत पशु का शिकार नहीं करता; परन्तु अघोरी ऐसा नहीं करता, उसकी समदृष्टि में, अथवा यों कहें कि भूख में, मरा हुआ मनुष्य और मरा हुआ कुत्ता समान है और यह कितना घृणित है कि वह मल-भक्षण करने में भी हिचक नहीं करता। मैंने सुन रखा था कि ये अभागे आबू में ही नहीं वरन् सौर प्रायद्वीप के अन्य पहाड़ों की कन्दराओं में भी, जो जैन धर्म को अर्पित हैं, वर्तमान हैं। प्रतिभाशाली द' ऑनविले[1] (D' Anville) ने उनको 'राक्षसों की एक जाति' (Une espece de monstre) बताया है जिनके अस्तित्व में उसने अपने देशवासी यथार्थलेखक थीवॅनॉट (Thevenot) के लेखों के उद्धरण देते हुए सन्देह प्रगट किया है। वह कहता है कि "थीवनॉट ने उस स्थान के निवासियों में ऐसी असाधारण वीरता और दुर्दम्य साहसिक प्रकृति का अनुभव किया कि उनके बीच में होकर जाने वाले के लिए शस्त्र-सज्जित होना आवश्यक था; साथ ही वे उन लोगों से कुछ आगे बढ़े हुए भी थे जिनको "मर्दि कोर" [मुर्दाख़ोर] या नर-भक्षी कहते हैं। यह बात पहले किसी यात्री को साधारण रूप में ज्ञात नहीं थी, यह इससे सिद्ध होता है कि इस वर्णन-कर्ता को 'मर्दि कोर' शब्द का परि-

---

[1] Jean Baptiste Bourguingnon D' Anville का जन्म १६९७ ई० में पैरिस में हुआ था। उसने प्राचीन भूगोल-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन करके बहुत से तथ्यों की खोज, पुरानी मान्यताओं में संशोधन और कितने ही स्थानों की भौगोलिक स्थिति का मानचित्रों में शुद्ध अंकन किया था। जिन स्थानों व नामों के विषय में पूरे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए उनको उसने अपने बनाए हुए मानचित्रों में स्थान नहीं दिया। अपने अनुसन्धानों और संशोधनों को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए उसने १७६८ ई० में Geographie Ancienne Abregee नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसका अंग्रेजी अनुवाद Compendium of Ancient Geography शीर्षक से १७९१ ई० में प्रकाश में आया।

१७७५ ई० में भूगोलवेत्ता के रूप में उसे Academy of Sciences का सदस्य बनाया गया और बड़े सम्मान के साथ First Geographer to the King (राजकीय प्रथम भूगोलशास्त्री) भी नियुक्त किया गया। द'आनविले की मृत्यु जनवरी, १७८२ में हुई थी। उसके अन्य संस्मरणों और शोधपत्रों की कुल संख्या ७८ और मानचित्रों की २११ थी। De Manne नामक प्रकाशक ने उसकी सम्पूर्ण कृतियों को प्रकाशित करने की घोषणा १८०६ ई० में की थी परन्तु सन १८३२ ई० में उसकी मृत्यु के समय तक केवल उनमें से दो ही प्रकाशित हो सकी थीं। —E. B. Vol. VI, pp. 820-21

चय नहीं था[1] यद्यपि ऐसा पाया गया है कि यह बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था ।[2]

यह एक विचित्र तथ्य है, जैसा कि द' आनविले ने आगे चल कर कहा है कि पशुओं की यह 'मर्दिकोर' अथवा शुद्ध रूप में 'मुर्दाख़ोर' नामक विशेष जाति प्लिनी,[3] अरिस्टॉटल[4] और टिसियस[5] (CTesias) के लक्ष्य में भी इसी 'मार्टि चोरा' (marti-chora) नाम से आई होगी; उन्होंने अपनी भाषा में इसका पर्याय—

ΑΝΘΡΟΠΟΦΑΓΟΣ

दिया है क्योंकि 'मुर्दाख़ोर' फारसी शब्द है जो, 'मुर्दा' [अर्थात् मरा आदमी] और ख़ोर [ख़ुरदन्, खाना] शब्दों के योग से बना है । ग्रीक लेखकों की इस शब्द-व्युत्पत्ति से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं; पहला यह कि यह पाशविक सम्प्रदाय बहुत पुराना है; दूसरा यह कि पारसी लोगों का इन प्रदेशों से बहुत प्राचीन काल से घनिष्ठ सम्पर्क रहा होगा; और तीसरे यह कि पाश्चात्य इति-

---

[1] इस व्यापारिक नगर के पूर्व निवासी वे लोग थे जिनको 'मर्दिकोर' (Merdi-Coura) या नरभक्षी या मृतमांस-भक्षी कहा जाता है और अभी तक अधिक समय नहीं हुआ है कि यहाँ बाजार में नरमांस बेचा जाता था ।

—Travels of M. de Thevenot, Paris, 1684

[2] Antiq., Geograph. de I'Inde, p. 96

[3] प्लिनी के विषय में McCrindle ने अपनी Ancient India नामक पुस्तक (p. 102) में लिखा है कि 'विचित्रताओं से उसको इतना अधिक प्रेम था कि उसने कितनी ही असम्भव कल्पनाओं को भी सत्य मान लिया है । अतः उसके विवरणों में कहीं कहीं प्रमाद पाए जाते हैं ।" Cunningham's Ancient Geography of India.

—1924; p. xxiv

[4] सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरिस्तू का जन्म मेसीडोनिया के स्टॉगिरा (Stagira) नामक स्थान में ई० पू० ३८४ में हुआ था । वह प्लेटो (अफ़लातून) का शिष्य और फ़िलिप के पुत्र अलॅक्ज़ेण्डर का गुरु था । वह संसार का सब से बड़ा विचारक और दिमाग़दार माना जाता है । उसकी कृतियों का संग्रह Organon नामक पुस्तक में संकलित है । उसकी मृत्यु ई० पू० ३२२ में हुई ।—N. S. E. p. 68

[5] Ctesias ग्रीक चिकित्सक और इतिहासलेखक था जो ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में हुआ था । उसने फारस और भारत के इतिहास भी लिखे हैं जिनमें हॅरॉडोटस की मान्यताओं की आलोचना की है । बाद में अरिस्तू ने अपने लेखों में टीसियस द्वारा लिखित तथ्यों को भी अप्रमाणित सिद्ध किया है ।—E. B. Vol. VI, p. 677

हास-लेखकों की फ़ारसी के अधिकारी-लेखकों तक बहुत पहुँच रही होगी[1] जिसका कि हम आधुनिकों को पूरा-पूरा पता भी नहीं है। मैं इस युग के सब से नामी दानव की गुफा के पास हो कर निकला जो आबू और इसके आसपास के प्रदेशों में घृणा एवं भय का कारण बना हुआ था। उसका नाम फतहपुरी था और बुड्ढा होने पर भी वह जो कोई सामने आता उसी की आँतें निकाल कर खा जाता था; इसके बाद उसने अपने आपको गुफा में ही समाधिस्थ कर लेने का विचित्र निश्चय प्रकट किया। सनकी लोगों के आदेशों का पालन प्रायः तुरन्त ही हो जाता है और क्योंकि उसे भी लोग ऐसा ही समझते थे इसलिए उसकी इच्छा की पूर्ति तुरन्त ही कर दी गई। उसकी गुफा का द्वार बन्द कर दिया गया और वह उस समय तक बन्द ही रहेगा जब तक कि मृत-शरीर की तलाश करने वाला कोई फिरंगी (Frank) उसे न खोले अथवा जब तक कि मस्तिष्क (खोपड़ी) का अध्ययन (Phrenology) हिन्दू शिक्षा का एक अंग न बन जाय। उस समय विनाश के चिह्न फतहपुरी की खोपड़ी पर विकास की बहुत ऊँची अवस्था का सूचन करेंगे। मुझे बताया गया कि अब भी ऐसे बहुत से अभागे लोग पहाड़ की कन्दराओं में रहते हैं और कभी-कभी दिन में बाहर निकलते हैं, परन्तु वे फलों अथवा उन खाद्य वस्तुओं की तलाश में घूमते रहते हैं जिनको लेकर राहती लोग उनके लगे-बँधे रास्तों से निकलते हैं। मुझे एक देवड़ा सरदार ने बताया कि कुछ ही दिनों पहले जब वे उसके मृत भाई के शव को जलाने के लिए ले जा रहे थे तो ऐसा ही एक दानव (अघोरी) अर्थी के सामने आया और यह कहते हुए मृत शरीर को माँगा कि 'इसकी बड़ी बढ़िया चटनी बनेगी।' उस [देवड़ा सरदार] ने यह भी बताया कि इन लोगों पर मनुष्यों को मार देने का अपराध भी नहीं लगाया जाता।[2]

---

[1] इनमें चौथा यह जोड़ा जा सकता है कि नामों के अर्थ-साम्य से प्राचीन एवं आधुनिक फारसी बोलियों की घनिष्ठता सिद्ध होती है।

[2] इस जाति का मुख्य निवासस्थान बरपुत्र (Burputra–बड़ोदा) में है जहाँ पर अब भी इस मत की संरक्षिका अघोरेश्वरी माता का मन्दिर प्राचीन स्थान पर बना हुआ है जो (माता) Lean Famine दुबली पतली स्त्री के रूप में नर का भक्षण करती हुई बताई गई है। इस (माता) के भक्त विशाल सन्त-समाज के अन्तर्गत गिने जाते हैं जिनमें वे निस्सन्देह सब से अधम हैं; वे जो कुछ सामने पड़ जाय उसे खा लेते हैं, कच्चा हो या पक्का, मांस हो या शाकभाजी और जो कुछ हाथ पड़े उसे ही पी जाते हैं, शराब हो या उनका खुद का पेशाब।

एक नर-भक्षक की गुफा का जैन-मन्दिर के अहाते में नहीं, तो उसके बिलकुल पास ही मिलना बड़ी विचित्र बात थी—उन जैनों के मन्दिर के पास जिनका पहला सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की ही नहीं छोटे से छोटे प्राणी की भी 'हिंसा मत करो'; यह हिन्दू-मान्यताओं के इतिहास में विरोधाभास का एक और उदाहरण है जिसमें बड़ी से बड़ी विपरीतताओं का समावेश पाया जाता है। कट्टरपंथी लोग, चाहे वे शैव हों या वैष्णव, अपने-अपने मतों को इतना दृढ़ समझे हुए प्रतीत होते हैं कि अन्य पन्थों के सम्पर्क से उन्हें कोई भय नहीं होता; यहाँ तक कि अद्वैतवादी जैन लोग भी, जो अपने को प्रकृति के उपासक मानते हैं, बुद्ध, अन्नपूर्णा अथवा सृष्टि के संहारकर्ता [शिव ?] की मूर्तियों को आदरपूर्वक नमस्कार करने से इनकार नहीं करते। मतों और पन्थों में शहीद नहीं होते; भक्तों को, जिन विश्वासों (सिद्धान्तों) में उनका जन्म हुआ है उनसे चिपके रखने के लिए सन्तों के शवों की आवश्यकता नहीं पड़ती; और अज्ञानी अन्धविश्वासी तथा कायर एवं दयालु लोग नीचतम और घृणित अघोरी को भी भोजन देने में संकोच नहीं करते। इस भयङ्कर विश्वदेवतावाद में समाजविरोधी कार्यों के लिए कोई भी उत्तरदायी नहीं होता।

ओरिया (Oreah) और अचलेश्वर के देवालय के बीच में हमें छोटे छोटे मन्दिरों का एक समूह मिला जिनमें सबसे प्रमुख नन्दीश्वर का मन्दिर था। इससे एक तथ्य की पुष्टि हुई, जो अभी तक सिद्ध नहीं हुआ था अर्थात् इन लोगों के स्थापत्य सम्बन्धी नियम अपरिवर्तनीय होते हैं और साधारणतया आकार-प्रकार के विषय में प्रत्येक देवता के मन्दिर की शैली पृथक् होती है। यह मन्दिर चम्बल के प्रपातों पर बने हुए गङ्गा-भ्यो (Ganga Bheo) और

मार्को पोलो ने ऐसे ही जादूगरों के विषय में कहा है जो हमारे इन अघोरियों से बहुत मिलते हैं। "ज्योतिषी, जो जादू की पैशाची कला का अभ्यास करते हैं, काश्मीर और तिब्बत के निवासी हैं। वे गन्दे और भद्दे रूप में सामने आते हैं, उनके चेहरे बिना धुले और बाल बिना कंघी किए हुए तथा मैले रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस भयंकर और पाशविक प्रथा का पालन करते हैं—जब कभी किसी अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है तो वे उसके शरीर को ले जाते हैं और आग में भून कर खा जाते हैं।"

—Marsden's 'Marco Polo,' p. 252.

हैरोडॉटस् के ईथोपिअन ट्राग्लोडाइटीज (Troglodytes) भी इससे बहुत मिलते-जुलते हैं "छिपकलियाँ, साँप और अन्य जंगली जानवर उनका भोजन हैं; चमगादड़ों की सी चीख ही उनकी भाषा है।"—Melp; p. 341.

देखो 'राजस्थान का इतिहास' जिल्द २, पृ. ७१६.

उदयपुर के पास बाड़ियों पर बने हुए मन्दिरों की बिलकुल अनुकृति है। इसकी सरल और ठोस बनावट, बाहरी चौकोर खम्भे, जिनका ऊपरी भाग ठेठ देहाती ढंग से बना हुआ है, बिलकुल उसी ढाँचे में ढले हुए हैं और उन्हें देख कर यही कल्पना होती है कि यह उसी काल में और उसी कारीगर के द्वारा बनाया हुआ है। यहाँ पर एक ही शिलालेख है जिससे प्रकट होता है कि अणहिलवाड़ा के स्वामी भीमदेव सोलंकी ने इसका जीर्णोद्धार कराया था।

साढ़े दस घण्टों की मेहनत के बाद तीसरे पहर के तीन बजे हम राव मान की छतरी और अग्निकुण्ड के बीच में एक कुञ्ज में ठहरे। मैं एक जैन-धर्मावलम्बी वणिक् यात्री के सत्कार से बहुत अनुगृहीत हुआ जिसने मुझे यह कह कर एक छोलदारी का उपयोग करने के लिए विवश कर दिया कि 'मुझे तो खुली हवा ही अच्छी लगती है, यदि आप इसे काम में न लेंगे तो यह अनुपयुक्त ही पड़ी रहेगी।' 'जीवन की छोटी छोटी मीठी सद्भावनाओं! तुम धन्य हो'। मेरे विविधतापूर्ण जीवन-क्रम के इन उज्ज्वल चिह्नों को जिस दिन मैं भूल जाऊँगा उस दिन अपने आप को भी खो बैठूंगा। मैंने उसकी इस मनुहार का बहुत स्वागत किया क्योंकि मैं रात की ओस से बहुत डरता हूँ और मेरे शरीर के ढाँचे को भूतों का सा बल देने वाले उत्साह के भरोसे ही मैं दिन भर की मेहनत को पार कर पाता हूँ।

जब तक डेरे का सामान खुल रहा था तब तक मैं अग्निकुण्ड और हिन्दुओं के पौराणिक इतिहास में सुप्रसिद्ध अचलेश्वर की झाँकी लेने के लोभ को न रोक सका। 'मान-अग्निकुण्ड' लगभग नौ सौ फीट लम्बा और दो सौ चालीस फीट चौड़ा है और ठोस चट्टान में खोद कर बनाया गया है, अन्दर की तरफ़ बड़ी-बड़ी ईंटें जड़ कर पक्का इमारती काम किया गया है। कुण्ड के बीच में एक चट्टान का ढेर अलग ही छोड़ा हुआ है जिस पर जगज्जननी (The Universal Mother) माता के मन्दिर के खण्डहर वर्तमान हैं। कुण्ड के उत्तरी मुख के सिरे पर छोटे-छोटे मन्दिरों का एक समूह है जो पाण्डव बन्धुओं के नाम पर बने हुए हैं, परन्तु ये भी माता के मन्दिर के समान खण्डहर मात्र ही रह गये हैं। पश्चिम की ओर अचलेश्वर का मन्दिर है जो आबू के रक्षक देवता माने जाते हैं। परिमाण एवं आकार के लिहाज से इसमें कोई ख़ास बात नहीं है और सजधज तो उससे भी कम है, परन्तु इसमें एक गम्भीर सादगी है जो इसकी प्राचीनता को सिद्ध करती है। यह एक चतुष्कोण के बीच में बना हुआ है और नीले स्लेट के पत्थरों से निर्मित छोटी-छोटी गुमटियों से घिरा हुआ है जो आकार-प्रकार में समान और आदिकालीन हैं। परन्तु, मुख्य तो वह पूजा

का पात्र है जिससे इसकी प्रसिद्धि है, वह है—राक्षसराज (Devil) का 'अँगूठा, क्योंकि हम 'पातालेश्वर' का यही अनुवाद करेंगे। अन्दर घुसते ही आँखें पर्वत की देवी' मीरा[1] की ओर आकृष्ट होती हैं, जो इस अनेकरूप देवता की पत्नी है। पहली दृष्टि में यही मूर्ति पूज्य-प्रतिमा दिखाई पड़ती है और फिर नीचे झुक कर चट्टान में बने हुए एक गहरे छिद्र में, जो 'ब्रह्मखाळ' कहलाता है, देखने पर शिव का उज्ज्वल नख दिखाई पड़ता है, जो अतीतकाल से लाखों भक्तजनों को अर्घ्य प्रदान करने के लिए आकृष्ट करता रहा है। मन्दिर के सामने ही एक बृहदाकार पीतल का बैल बना हुआ है, जिसकी बगलों पर बलात्कार (Violence) के चिह्न मौजूद थे, धन की खोज में बर्बर [अत्याचारी] के हथौड़े उनमें पार हो गए थे। इस विध्वंस का काला टीका अहमदाबाद के पादशाह या सुलतान मोहम्मद बेयरा [बिगड़ा] के माथे लगा था; परन्तु, इससे उसे किसी छुपे हुए खजाने की प्राप्ति हुई या नहीं, इसका पता नहीं है; यद्यपि गाथा में अपने प्रीतिपात्र वाहन के साथ दुर्व्यवहार के कारण म्लेच्छ राजा पर शिव के प्रकोप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अचलगढ़ का ध्वंस करके 'विजय के लाल पङ्खों' से अपने झण्डे लहराते हुए जब वे आबू से उतर रहे थे तो एक अप्रत्याशित स्रोत से आने वाली विपत्ति उनकी बाट देख रही थी। जिन बुर्ज़ों को वे पीछे छोड़ कर आए थे उनमें से निकल कर मधु-मक्खियों के एक दल ने उन पर आक्रमण किया और जालोर तक आततायियों को नहीं छोड़ा। विध्वंसकों पर प्राप्त इस विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिए इस स्थान का नाम 'भँवरथाल' (Bhomar thal) रक्खा गया। एक मन्दिर भी खड़ा किया गया तथा भगोड़ों द्वारा छोड़े हुए शस्त्रों पर अधिकार करके एक विशाल त्रिशूल बना कर देवता के सामने स्थापित किया गया और नन्दी के अपमान का इस प्रकार बदला लिया गया।

मुख्य मन्दिर के चारों ओर बने हुए छोटे-छोटे मन्दिरों में से एक के बाहर प्रलय-कालीन जल में हज़ार फनवाले शेषनाग पर भगवान् नारायण की मूर्ति तैर रही है, जो अपनी [योग] निद्रा से जागने पर अपने आप को 'ऊपर और सूखा' पा कर अवश्य ही आश्चर्य करेंगे। जब मैंने महन्त को कहा कि विष्णु के लिए स्थान उपयुक्त नहीं है तो उसने धीरे से उत्तर दिया 'मुझे तो चूने (Chunam) के लिए जगह चाहिये थी' और जब मैंने उस अपवित्र हुए मन्दिर के अन्दर देखा

---

[1] ग्रन्थकार ने यहां Me'ra शब्द लिखा है। 'पार्वती' के पर्यायों में तो ऐसा कोई शब्द मिलता नहीं है।

तो उसे उसी पहाड़ से निकले हुए पत्थर से बने चूने से भरा पाया; मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि वह पुजारी, यदि उसका मतलब बनता नज़र आता तो, भगवान् के शङ्ख का भी चूना बनाने से न चूकता। यहाँ पर पातालेश्वर का ही सबसे अधिक सम्मान है, स्वर्ग के अन्य देवता इस अन्धकार की शक्ति के अधीन माने जाते हैं। इस तथ्य से पूजा-पद्धति की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि सभी असभ्य जातियों में प्रेम के ऊपर भय का प्राधान्य रहता आया है। मन्दिर से बाहर निकलते ही दरवाज़े पर बने हुए कुछ भद्दे से उन खम्भों पर दृष्टि अटक जाती है जिन पर तिलक लगे हुए हैं और प्रत्येक पर गधे की मूर्ति खुदी हुई है। मन्दिर के चारों ओर बड़े-बड़े पेड़ खड़े हुए हैं जिनमें आम के वृक्ष मुख्य हैं; इनके बीच-बीच में अंगूर की बेलें लिपटी हुई हैं जिन पर क़लम के चाकू का प्रयोग कभी नहीं किया गया, परन्तु फिर भी मोटे-मोटे अंगूर लदे हुए थे जो अभी पके नहीं थे। लोगों ने मुझे बताया कि ये सब इस पहाड़ की प्राकृतिक उपज हैं। इनके अतिरिक्त चम्पा, चमेली, सेवती और मोगरा आदि के पौधे भी थे जो चारों ओर बहुतायत से उगे हुए थे। अचलेश्वर के मन्दिर में कोई शिलालेख नहीं था परन्तु मैंने उसके पास ही तालाब के एक शिलालेख की नकल कर ली थी।

जिधर यह मन्दिर है उसी तरफ ठेठ अग्निकुण्ड के किनारे पर सिरोही के राव 'मान' की छतरी है, जो एक जैन मन्दिर में ज़हर का शिकार हुआ था[1]; वहीं संगमरमर के पत्थर पर उस ज़हर का एक निशान भी बताया जाता है जिससे उसकी मृत्यु हुई थी। उसके इष्ट देवता के मन्दिर के पास ही उसके शरीर की दाह-क्रिया हुई और पाँच रानियाँ उसके साथ यमलोक (भारतीय प्लूटो के लोक) को गईं। स्मारक के मध्य भाग में स्थित एक वेदी पर उनकी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं; यह स्मारक एक अकेली छतरी है जो खम्भों पर टिकी हुई है। रानियों को हाथ जोड़े हुए और नीची आँखें किए हुए दिखाया गया है मानो वे याचना कर रही हैं कि उनके स्वामी की पापों से मुक्ति के लिए उनकी आहुति स्वीकार की जावे और उसे यमपाश से छुड़ा कर (हिन्दुओं के स्वर्ग) वैकुण्ठ में भेजा जावे. जो एक दण्डनीय, निर्दय और सुरामत्त राजपूत की अन्तिम यात्रा के लिए सब

---

[1] महाराव मान को कल्ला परमार ने कटार वार करके मारा था। राव की माता ने १६३४ वि० सं० में मानेश्वर का मंदिर बनवाया जिस में सती होने वाली पांच रानियों की मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं।

—सिरोही राज्य का इतिहास; गो० ही० ओ०; पृ० २१५-१६

से अधिक सुखदायक साधन (माना गया) है। अग्निकुण्ड के पूर्व की ओर परमार जाति के संस्थापक आदिपरमार के पवित्र मन्दिर के अवशेष धराशायी हो चुके हैं। परन्तु आदिपाल की मूर्ति अपनी आधार-शिला पर सही-सलामत खड़ी है जो मेरी अब तक देखी हुई वस्तुओं में सबसे अधिक रुचि का विषय थी। यह मूर्ति पुरातन प्रकार, प्राचीन वेशभूषा और आदिकालीन वास्तविकताओं का नमूना है। सफेद संगमरमर की बनी हुई यह मूर्ति लगभग पाँच फीट ऊँची है और मूर्ति-कला में बाडोली के स्तम्भों पर बनी हुई मूर्तियों के अतिरिक्त भारत में मेरे द्वारा देखी हुई सभी मूर्तियों से बढ़कर है। परमार एक तीर से भैंसे के सिर-वाले 'भैंसासुर'[1] को मार रहा है जो रात के समय अग्निकुण्ड का पवित्र पानी पी जाया करता था; इसी की रक्षा के लिए परमार की सृष्टि हुई थी। तीर अभी घुसा ही है जिससे उसके अचूक लक्ष्य एवं मांसल भुजाओं का प्रभाव तीन घावों के रूप में स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है, जिनमें हो कर तीर ऊपर की खाल व बीच में आने वाले सभी अवरोधों को पार करता हुआ ठेठ तक पहुँच गया है। दैत्यों के मूल प्रतिनिधियों की मूर्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं क्योंकि वे नीले स्लेटी पत्थर पर भद्देपन से बनी हुई थीं और उनमें उनके कोई भी पौराणिक चिह्न अंकित नहीं किए गए थे। परमार का दाहिना हाथ अभी भी कान तक खिंचा हुआ है जो उसकी लक्ष्यसिद्धि के प्रति दृढ़प्रतिज्ञता का द्योतक है; उसकी भुजा उन्मुक्त, लचकीली और सुगठित है; कलाई का मोड़ प्रशंसनीय है परन्तु अँगुलियाँ शायद बहुत ज्यादा मुड़ गई हैं; सभी अङ्ग सुगठित हैं तथा सम्पूर्ण आकार गौरवपूर्ण है। किसी धर्मान्ध ने धनुष के एक भाग को तोड़ दिया है, जो 'धनुष' या बाँस का बना हुआ नहीं है वरन् अधिक शास्त्रीय (Classic) विधि से भैंसे के सींग से निर्मित है; इसकी खिंची हुई चूल अर्थात् प्रत्यञ्चा कार्य के प्रति विशेष तत्परता का सूचन कर रही है। मस्तक विशाल और सुगठित है जो केवल प्राकृतिक आवरण से ढका हुआ है; शरीर पर एक घेरदार (घाघरे जैसा) अंग-रखा है जो जाँघों के बीच तक लम्बा है और उसी तरह का है जैसा कि अरावली के निवासी आज तक पहनते आ रहे हैं; इस पर एक कमरबन्धा है जिसमें कटार खोंस रक्खी है। हाथों और पैरों के गहनों के साथ एक मोतियों की तिलड़ी इस प्रथम परमार (के प्रतीक) की प्रतिष्ठा का सूचन कर रही है। चरणचौकी के अधोभाग में एक लेख था परन्तु किसी धर्मान्ध ने इसके महत्व-पूर्ण अंश, संवत् या साल को मिटा दिया है, यह इस प्रकार है– "सम्वत्...[मास]

---

[1] Hindu Bucentaur.

फाल्गुन (वसन्त) वृहस्पतिवार, तिथि १३ कृष्णपक्षे, श्री..........रास सार्वभौम राजा अचलगढ़ की राजगद्दी पर बैठा, परमार श्री धारावर्ष[1] ने अचलेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।' कङ्कालेश्वर मन्दिर के शिलालेखों (परिशिष्ट १) से धारावर्ष का समय संवत् १२६५ अथवा १२०९ ई० विदित होता है परन्तु मुझे उस सार्वभौम शासक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है जिसका नाम 'रास' शब्दांश से पूरा होता है। इस समय के परमार, जिनके छोटे से राज्य में चन्द्रावती, आबू और सिरोही ये तीन प्रसिद्ध नगर थे, अणहिलवाड़ा के राजाओं के आधीन थे परन्तु उस राज्य के तत्कालीन इतिहास में भी इस 'रास' उत्तरपद से युक्त कोई नाम नहीं मिलता है। मूर्ति की बनावट से यह ध्यान में नहीं आता कि यह लेख के समय में ही बनी होगी अथवा हम यह कल्पना कर सकते हैं कि आबू में स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले अन्तिम (राजा) स्वयं धारावर्ष ने ही अपने वंश के मूल पुरुष के स्मारक रूप में इस मूर्ति को स्थापित किया था। परन्तु उसके समय में कला का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था[2] इसलिए यह सम्भव है कि उसने इस स्मारक का लाभ मन्दिर के जीर्णोद्धार-कार्य को चिरस्मरणीय बनाने के लिए ही उठाया हो। हिन्दू भाट [कवि] ने, जो कभी कभी अपने आशय के अनुसार सही परिणाम भी निकाल लेता है, उसके साम्राज्य-नाश के कारणों को राजनैतिक न बता कर नैतिक कारणों का ही उल्लेख किया है अर्थात् पूर्ववर्णित अचलेश्वर के रहस्यों को खोज निकालने का अधर्म-पूर्ण कार्य। मूर्तिकला के इस प्राचीन नमूने में और परमार

---

[1] यह नाम (धारावर्ष) सम्भवतः राजपूत कवियों (चारणों) के रूपक से लिया गया है जो तलवार के तेज वार को 'धारा' के समान बतलाते हैं और इसकी पुनरावृत्ति को वर्षा कहा गया है—शत्रु के शिर पर (तलवार के) वारों (आघातों) की वर्षा हिन्दू कवियों में प्रचलित वाक्यांश है। अथवा इस नाम में उसके मध्य-भारत की प्राचीन राजधानी धार के परमारों की शाखा से सम्बद्ध होने का सन्दर्भ हो सकता है। धारावर्ष ने अपने लाक्षणिक नाम की यथार्थता उस समय सिद्ध की जब भारत-विजय के समय सिरोही (तलवार ?) वास्तव में वर्वरों के शिर पर 'वरस' पड़ी थी। फरिश्ता ने आबू के इस राजा की शक्ति एवं शूरता का बखान दारापरेस (Daraparais) नाम से किया है जिसने हिन्दू-मुसलिम-इतिहास के सभी पाठकों को झमेले में डाल दिया है, परन्तु हम देखते हैं कि यह नाम मूल नाम (धारावर्ष) से अधिक दूर नहीं है।

[2] इस कथन से एक प्रत्यक्ष विपरीतता प्रकट होती है परन्तु इसी काल के जैन मन्दिरों में, चाहे वे कितने ही भव्य और विस्तृत हों, एक भी मूर्ति इसके समान स्पष्ट अवयवों वाली नहीं है।

को हिन्दू ऑलिम्पस (देवपर्वत) के साथ सम्बद्ध करने वाले आख्यान में कल्पना का एक ऐसा आकर्षण प्रतीत हुआ कि मूर्ति को उसके आशंकापूर्ण स्थान से हटा कर अग्निकुण्ड के शिखर पर स्थापित करने की मेरी इच्छा प्रबल हो उठी। परन्तु सद्विचारों ने इसमें बाधा डाल दी। यह उसकी जाति का उद्गम-स्थान था और यहीं पर उन लोगों को कठिन तपस्या के द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। मुझे यहाँ पर लॉर्ड बॉयरन रचित पार्थिनॉन[1] के लुटेरे के विषय में 'ईश्वरीय शाप' नामक कविता भी याद आई :—

"क्या कभी बृटिश-वाणी कहेगी
कि एल्बिऑन[2] एथना के अश्रुओं से सुखी था ?
यद्यपि तेरे नाम पर दास उसकी छाती रौंदते हैं
परन्तु लज्जित यूरोप के कानों में यह बात न डालो !
समुद्र की रानी बरतानियाँ
रक्त रंजित भूमि से अपहृत अंतिम अकिञ्चन वसु को
लिए हुए है;
हाँ वहा, जिसकी उदार सहायता उसके नाम में आकर्षण पैदा करती है,
उसी ने उन अवशेषों को दानवीय करों से छिन्न भिन्न कर डाला
जिनको ईर्ष्यालु एल्ड[3] ने सहन किया और अत्याचारियों ने भी छोड़ दिया था।

---

[1] एथेन्स स्थित Athene अर्थात् सरस्वती का मन्दिर। इसका नक्शा इक्टिनस (Ictenus) ने बनाया था और ई० पू० ४३८ में यह बनकर तैयार हुआ था। यह सम्पूर्ण मन्दिर सफेद संगमर्मर का बना हुआ था और इसमें फीडियास (Phidias) द्वारा बनाई हुई एथना की स्वर्ण प्रतिमा विराजमान थी। इसके पश्चिमी कक्षों में असंख्य चांदी के प्याले और अन्य बहुमूल्य सामग्री एकत्रित थी। यह राष्ट्रीय कोषागार कहलाता था। यह सामान विविध पर्वों पर उपयोग में आता था। इस मन्दिर को फारसियों ने विध्वस्त करके लूट लिया था परन्तु पॅरिक्लीज़ (ई० पू० ४६०–४२९) ने और भी शान-शौकत के साथ इसका पुनरुद्धार कराया। सम्भवत: कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् जस्टीनियन प्रथम (५२७–५६५ ई०) के राज्य में इसको गिर्जाघर में परिवर्तित कर दिया गया था। १४५३ ई० के कुछ समय बाद इसको मस्जिद का रूप दे दिया गया और अन्त में १६८७ ई० में वेनिशियनों द्वारा एथेन्स के घेरे के समय बारूद के विस्फोट से यह बिलकुल नष्ट हो गया। —The Oxford Companion of English Literature; Paul Harvey; p. 594.

[2] Albion (एलबिऑन)– प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त ब्रिटेन का नाम। सम्भवतः गॉल (Gaul) के समुद्रीय तट से दिखाई देने वाली सफेद चट्टानों के कारण ही यह नाम दिया गया था।

[3] लन्दन नगर का मुख्य पूर्वीय दरवाज़ा जो पहले Algate या Alegate कहलाता था। इस दरवाजे पर बने मकान में कुछ समय तक सुप्रसिद्ध कवि चॉसर भी रहा था, जब वह राहदारी विभाग का अध्यक्ष था।

परमात्मा करे किसी का अपवित्र हाथ आदिपाल को भविष्य में यहाँ से न हटाए !

अचलेश्वर का उपाख्यान आबू और अग्निवंश के इतिहास के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है, जिसको शिव ने दैत्यों से युद्ध करने के लिए उस समय उत्पन्न किया था जब उन्होंने इस प्रिय पर्वत पर से शिवार्चन को वहिष्कृत कर दिया था। यह टीटनों (Titans) द्वारा ज्युपीटर (Jupiter) के विरुद्ध युद्ध-संचालन के ग्रीक उपाख्यान[1] की अपेक्षा कम परिष्कृत अवश्य है परन्तु रूपरेखा वही है। 'इतिहास' में इसका वर्णन किया जा चुका है।[2] अतः यहाँ पर अर्बुद की उत्पत्ति से सम्बद्ध केवल चमत्कारिक पौराणिक अंश को ही पूरक के रूप में प्रस्तुत करता हूँ।

'मानव की निष्पाप और सात्विक अवस्था के स्वर्णयुग में यह स्थल शिव और उसके लक्षाधिक गणों का प्रिय स्थान था और वे सभी इस हिन्दू विश्वदेवालय पर साक्षात् एकत्रित होते थे। यहाँ पर ऋषि, मुनि, शिव के प्रतिनिधि वसिष्ठ मुनि की अध्यक्षता में, पृथ्वी पर स्वतः उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, फल खाकर एवं दूध पीकर अपना समय तपस्या और प्रार्थना में व्यतीत करते थे। उस समय यहाँ पर्वत नहीं था और सम्पूर्ण अरावली का भूभाग समतल था। वस्तुतः इस स्थान पर एक विशाल गर्त्त अथवा कुण्ड था जिसकी गहराई नापी नहीं जा सकती थी। इसमें मुनि की कामदुघा गौ गिर कर पानी के चढ़ाव के साथ चमत्कारपूर्ण ढंग से निकल आई थी। ऐसी दुर्घटनाओं को रोकने के लिए मुनि ने बर्फीले कैलास-पर्वत पर निवास करने वाले शिव का स्तवन किया। उन्होंने यह प्रार्थना सुन ली और हिमाचल को बुला कर पूछा कि उनके हिमाच्छादित निवासस्थान से निकल कर आत्म-त्याग का परिचय देने वाला कौन है ? इस पर हिमाचल का कनिष्ठ पुत्र आदेश का पालन करने के लिए तैयार हुआ परन्तु वह पंगु था इसलिए यात्रा करने में असमर्थ था। अतः सर्पराज तक्षक उसे अपनी पीठ पर ले जाने को प्रस्तुत हुए। इस प्रकार उन्होंने उस स्थान की यात्रा की जहाँ पर मुनि वसिष्ठ निवास करते थे। अपने आगमन का उद्देश्य सुना कर

---

[1] ग्रीक पौराणिक गाथाओं के अनुसार 'टीटन्' स्वर्ग और पृथ्वी की आदिसन्तान माने गये हैं। इनकी संख्या दस थी जिनमें पाँच पुरुष और पाँच स्त्रियाँ थीं। जुपिटर के अवैध पुत्र डायोनिसस की नृशंस हत्या के षड्यन्त्र में ये जुपिटर की वैध पत्नी जूनो के साथ मिल गये थे अतः जुपिटर ने इनके साथ युद्ध किया और यातना देकर उनका अन्त कर दिया।
—The Golden Bough, James Frazer, vol. II; 1957, p. 511

[2] भा. १, पृ. १०८; Ed. W. Crooke.

हिमाचल का पुत्र मुनि की आज्ञानुसार गर्त्त में कूद पड़ा, परन्तु उसका मित्र तक्षक उसे छोड़ने को तैयार नहीं था इसलिए अपने दाँतेदार लपेटों में घेरे डाल कर उसे अपने आलिङ्गन - पाश में जकड़े रहा। अपने इस बलिदान के लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उनके नाम उस चट्टान (पर्वत) के नाम के साथ संयुक्त कर दिए जायें। तभी से इसका नाम अर्बुध पड़ा अर् अर्थात् पहाड़ और बुध् अर्थात् बुद्धि, सर्प जिसका द्योतक है। परन्तु, या तो पर्वतों के पिता (हिमालय) का यह अंश गर्त्त को भरने के लिए पर्य्याप्त नहीं हुआ अथवा स्थान-परिवर्त्तन से दुखी होकर सर्प ने इतने मरोड़े लिए कि वसिष्ठ को इस भूकम्प को हलचल बन्द करने के लिए महादेव (Divinity) का पुनः स्मरण करना पड़ा। तब शिव ने पाताल लोक से अपना पैर पृथ्वी के केन्द्र तक फैलाया यहाँ तक कि उनका अँगूठा पर्वत की चोटी पर स्पष्ट दिखाई देने लगा। भूचाल बन्द हो कर पर्वत अचल हो गया और ईश्वर के अंगूठे पर मन्दिर का निर्माण हुआ। इस लिए यह अचलेश्वर कहलाया।

यदि इस आख्यान का तात्पर्य समझा जाय तो मैं कहूँगा कि पृथ्वी-रूपिणी गाय का गर्त्त में पड़ जाना मानवीय अन्याय एवं पक्षपात का द्योतक है और शिव-पूजकों के पूजा-विधान में बाधा देने वाले दैत्य नास्तिक (विधर्मी) सम्प्रदाय वाले लोग थे। गर्त्त को भर देने वाले हिमाचल के पुत्र से किसी उत्तर-देशीय उपनिवेश अथवा जाति से तात्पर्य हो सकता है जिसकी वसिष्ठ द्वारा परिशुद्धि (Conversion) ने शायद अग्निकुण्ड से उत्पन्न अग्निवंश के उपाख्यान को जन्म दिया हो—जहाँ अचलेश्वर के मन्दिर का निर्माण हुआ है।

इस चट्टान की दरार को देवड़ा सरदारों ने शक्ति की प्रतिमा जैसी एक चाँदी की चद्दर से मँढ़वा दिया था। कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही पाताल (नरक) से न डरने वाले किसी भील ने इस मूल्यवान् धातु को चुरा लिया था। वह कोई एक मील भी न जाने पाया था कि बिलकुल अन्धा हो गया। इस दण्ड के कारण पश्चात्ताप से पीड़ित हो कर उसने अपने उस लोभ के पात्र [चाँदी की चद्दर] को एक पेड़ से लटका दिया। जब वह ढूंढने वालों को मिल गया तो उसके पश्चात्ताप के कारण उसकी दृष्टि लौट आई। मूर्ति को अग्नि में शुद्ध कर के फिर से ढाल कर दरार पर पुनः संस्थापित कर दिया गया। इस से भी बढ़कर साहसपूर्ण अधार्मिक कृत्य का प्रमाण तो उस व्यक्ति के विषय में मिलता है, जिसका इस मन्दिर की रक्षा करना मुख्य कर्त्तव्य था। आबू और चन्द्रावती के परमार राजा ने ब्रह्मखाळ के अनवगाहनीय (*Athar*) (अथाह) उपाख्यान की सचाई का पता लगाने का निश्चय कर के, मन्दिर के पास वाले झरने में से एक नहर निकाल ली, जिसमें छः

महीनों तक कोई प्रत्यक्ष परिणाम लाए बिना लगातार पानी बहता रहा। अचलेश्वर के रहस्य का अवगाहन करने के इस प्रयत्न के फलस्वरूप वह परमार राजा चन्द्रावती के सिंहासन से च्युत कर दिया गया और वही अपने वंश का अन्तिम राजा हुआ।[1]

जून १३ वीं— प्रातः ६ बजे मैं अग्निकुण्ड से अचलगढ़ के लिए रवाना हुआ जिसकी टूटी-फूटी छतरियाँ हमारे चारों ओर घिरे हुए घने बादलों में डूबी हुई थीं। चढ़ाई के इस स्थान पर थर्मामीटर ६६° और बॅरॉमीटर २७° १२' अंशों पर थे तथा ८ बजे (प्रातः) शिखर पर बॅरॉमीटर २६° ९७' और थर्मामीटर ६४° बतला रहे थे। किसी जमाने के इस राजकीय आवास में मैंने हनुमान दरवाज़े से प्रवेश किया। यह दरवाज़ा ग्रेनाइट के बड़े-बड़े पत्थरों से निर्मित दो विशाल छतरियों से बना हुआ है जो हजारों शरत्कालीन हवा के निर्मम झोंके खा-खा कर काली पड़ गई हैं। दोनों छतरियाँ ऊपर की ओर एक कमरे से जुड़ी हुई हैं, जो रक्षकों के ठहरने के लिए बना हुआ था और दरवाज़ा नीचे के किले का प्रवेश द्वार है जिसकी टूटी-फूटी दीवारें इस विषम चढ़ाई में कहीं-कहीं दिखाई पड़ जाती हैं। दूसरे दरवाज़े के पास ही सुन्दर चम्पा का पेड़ उगा होने के कारण वह चम्पापोल कहलाता है, परन्तु पहले से उसका नाम गणेश-द्वार (Gate of Wisdom) पड़ा हुआ है; यह दरवाज़ा किले के भीतरी हिस्से में जाने का है। इस पिछले दरवाज़े से अन्दर घुसते ही सबसे पहले जो चीज़ सामने पड़ती है वह पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर है, जिसको माँडू के श्रेष्ठी[2] ने अपने खर्चे से बनवाया था और जिसकी आजकल मरम्मत हो रही है। इसके खम्भे उसी भाँति के हैं जैसे अजमेर के प्राचीन मन्दिर के।[3] ऊपर के किले के विषय में

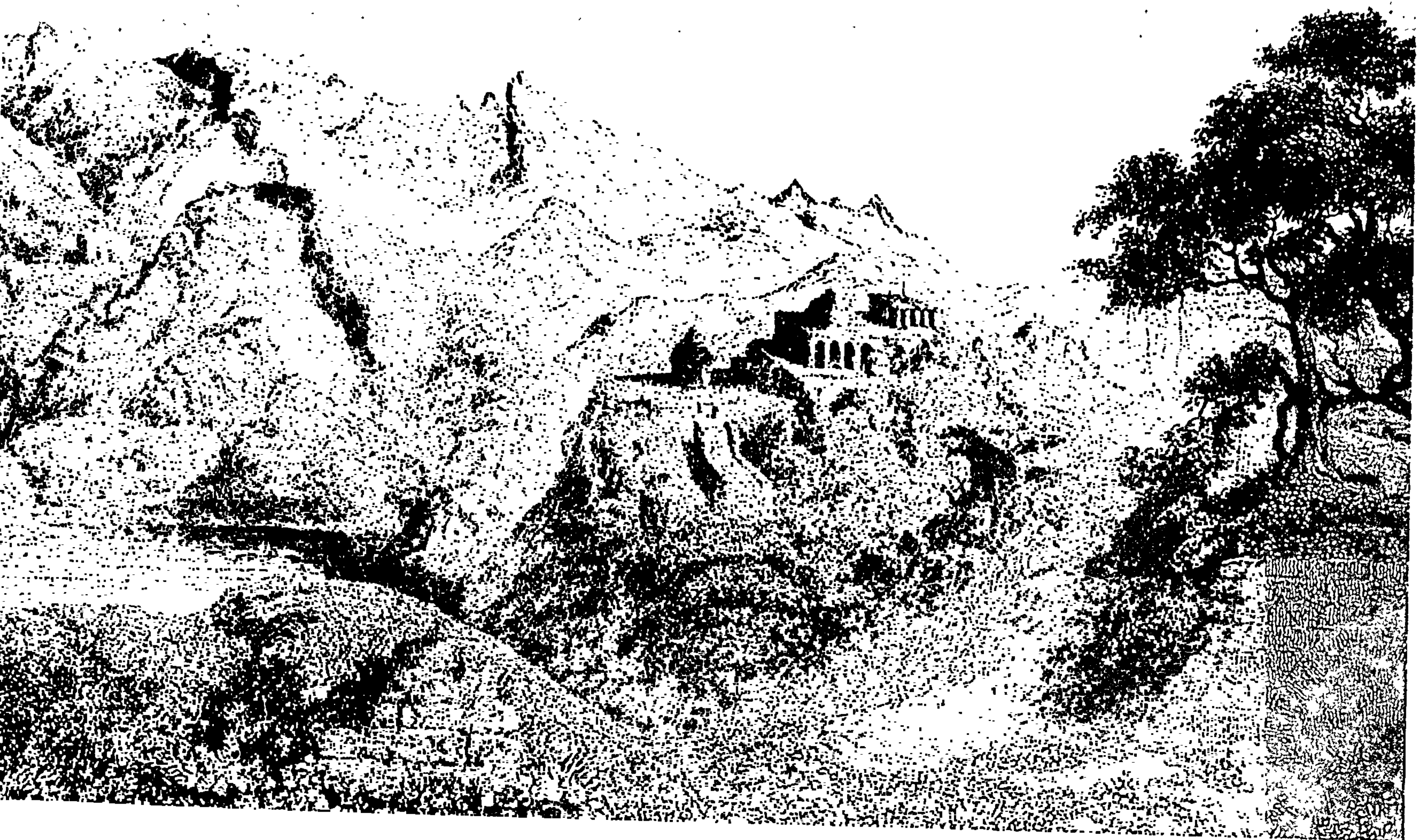
---

[1] मूंता नैणसी की ख्यात तथा बड़वों की पुस्तकों में 'हूण परमार' नाम लिखा है, परन्तु शिलालेखों में कोई नाम नहीं मिलता। सि० रा० इ०; पृ० १८८। रा० प्रा० वि० प्र० से प्रकाशित मुंहता नैणसीरी ख्यात (मूल) में भी 'हूण' का उल्लेख नहीं है।

[2] मालवा के सुलतान गयासुद्दीन के प्रधान अमात्य संघवी सहसा सालिग के पुत्र ने महाराव जगमाल (१५४०-१५८० वि०) के समय में यह मन्दिर बनवाया था, जिसकी प्रतिष्ठा श्री जयकल्याण सूरि ने सं० १५६६ वि० में कराई।

—Holy Abu–Jayantavijai p. 145

[3] किवदन्ती है कि अजमेर का 'ढाई दिन का झोंपड़ा' मूलतः एक जैन मन्दिर था जिसको शाहबुद्दीन गोरी ने मसजिद में परिवर्तित करा दिया था। तब वहाँ की देव-प्रतिमा अजमेर की गोदा गली में नया मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठित की गई। वही यहाँ का प्राचीनतम मन्दिर माना जाता है। Ajmer; Harbilas Sarda; p. 447



अचलगढ़ का प्राचीन दुर्ग, आबू



कहते हैं कि उसे राणा कुम्भा ने बनवाया था[1], जब उसको मेवाड़ के "चौरासी किलों' से निकाल दिया गया था; परन्तु वास्तव में उसने अचलगढ़ के इस मध्यगृह का, जो एकाध छोटे-मोटे भागों को छोड़ कर बहुत प्राचीन है, जीर्णोद्धार मात्र कराया था। यहीं अनाज के वे भी कोठे हैं जो कुम्भा राणा के भण्डार कहलाते हैं, इनके भीतर की तरफ बहुत मजबूत सीमेण्ट पुता हुआ है परन्तु छत गिर गई है। पास ही, बायीं तरफ उसकी रानी का महल है, जो हिन्दुओं के जगतकूंट 'ओक मण्डल' [ओखा मण्डल] की होने के कारण 'ओका राणी' कहलाती थी। दुर्ग में एक छोटी सी झील भी है जिसको 'सावन-भादों' कहते हैं; जून मास के मध्य में भी पानी से भरी रहने के कारण यह पावस के इन दोनों प्रमुख महीनों के नाम को सार्थक करती है। पूर्व की ओर सब से ऊँची टेकरी पर परमारों की भय-सूचिका बुर्ज (Alarm Tower) के खण्डहर हैं, जो अब तक कुम्भा राणा के नाम से प्रसिद्ध हैं; यहाँ से तेज़ दौड़ने वाले बादलों को यदा-कदा चीरती हुई दृष्टि उस वीर जाति की बलिवेदी और महलों पर पड़ती है जिसने उस स्थल पर, जहाँ से मैंने निरीक्षण किया था, आत्मरक्षा के लिए अपना खून बहाया था। मुझे अन्तिम चौहान की सुन्दरी स्त्री इच्छिनी (Echinie) के वीर और बुद्धिमान् भाई लक्षण [लक्ष्मण ?][2] की याद आई जिसका नाम उसके स्वामी के साथ दिल्ली के स्तूप पर अंकित है। लक्षण का नाम अमर हो! सभी खाँपों के राजपूत आज सात शताब्दियों बाद भी उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं और पश्चिम से आया हुआ वीरतापूर्ण कार्यों का प्रशंसक परदेशी भी देश एवं जलवायु के भेद-भाव को भूल कर उस वीर के यशोगान को अमर करने का प्रयत्न करता है, जिसकी गाथा को चन्द (बरदाई) ने गीतबद्ध कर दिया है तथा जिसकी याद इन काई से ढँके हुए खण्डहरों को देख कर हरी हो जाती है।

ऐसे स्थल पर कोई भी [यात्री] हमारे प्रथम पुरातत्त्वज्ञ[3] के शब्दों में कह उठेगा, "इन भग्नावशेषों के ढेरों के बीच में खड़े हो कर किसका मन भारी (दुखी)

---

[1] महाराणा कुम्भा ने १४५२ ई० (वि० सं० १५०९) में माघ सुदि १५ को अचलगढ़ के किले का निर्माण कराया था।—Maharana Kumbha; Harbilas Sarda, p. 121

[2] सम्भवतः ग्रन्थकार का तात्पर्य परमार सलख जैत्र के पुत्र लक्ष्मण से है। सलख जैत्र इच्छिनी का पिता था।

—पृथ्वीराज रासो भा० १; साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर; पृ० १२ टि०; पृ० ३०१

[3] यहां ग्रन्थकार का आशय किस पुरातत्त्वज्ञ से है, यह ज्ञात नहीं हो सका।

न हो जायगा ? इन गहरे हरे पत्थरों में, जिन पर तुम चल रहे हो, उन टूटी-फूटी चट्टानों के टुकड़ों में, जिन पर घनी जंगली वेलें फैल गई हैं और जहाँ कभी झण्डा फहराया करता था, कितने गौरवपूर्ण इतिहास छुपे पड़े हैं ? ये अनावृत छतविहीन प्रासाद, जिनमें से आज हम विनीत किन्तु आशापूर्ण हो कर निकलते हैं और मृतकों एवं जीवित व्यक्तियों के प्रति उदार भाव धारण करते हैं, (हमारी) विचारशील दृष्टि के लिए कितने उत्कृष्ट विषय एवं विचारों के लिए कितने पवित्र आधार उपस्थित कर देते हैं ?"

जैसे ही सूर्य-देवता ने हमारे चारों ओर फैले हुए वादलों के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया वैसे ही इस मोहक (जादू भरे) प्रदेश का भू-भाग अपनी चरम सीमा तक प्रभावोत्पादक नज़र आने लगा, स्थान के प्रत्येक परिवर्तन के साथ नई-नई वस्तुएं सामने आईं। सबसे पहले, देलवाड़ा के जैन-मन्दिर (द० ८०° प० छः मील दूर) जिनके पीछे ही अर्वुदा माता का शिखर है; फिर, गुरुशिखर (उ० १५° पू० चार मील पर) तथा इस अप्सरा-देश की दूसरी बहुत सी चोटियाँ भी दृष्टिगोचर हुईं जिनमें से प्रत्येक के नाम के साथ कोई न कोई जन-श्रुति सम्बद्ध है। तीन घण्टे की यात्रा के बाद अत्यधिक शीत से (जब कि थर्मामीटर ६४° पर बैठ गया था) मुझे वह उन्नत निवासस्थान छोड़ देना पड़ा; उसी समय मेरे मार्गदर्शक ने व्यङ्ग्यपूर्वक कहा, 'इन्द्र और पर्वत का झगड़ा वहुत पुराना है।' उतराई में मैंने मेवाड़ के सुयोग्य वीरों के प्रतिनिधि राणा कुम्भा की अश्वाधिष्ठित पीतल की प्रतिमा को नमस्कार किया—इस राणा ने इन्हीं दीवारों में वहुत सी लड़ाइयों में लोहा लिया था। इसके पास ही उसके पुत्र राणा मोकल और पौत्र उदय राणा की भी मूर्तियाँ थीं—'जिस (राणा उदय) ने सैकडों राजाओं की कीर्ति पर कालिख पोत दी थी।' मैं उस कायर पथभ्रष्ट की मूर्ति के पास से हट गया, जिसके विषय में बाबर के प्रति-द्वन्द्वी, उसी के वीर पौत्र साँगा ने कहा है कि 'यदि उदयसिंह पैदा न होता तो राजस्थान पर तुर्कों का आधिपत्य कभी न हो पाता।' वहीं पर एक चौथी मूर्ति राणा कुम्भा के पुरोहित की भी थी जो आकार-प्रकार में सब से विशिष्ट थी। इस विशेषता का ठीक-ठीक कारण तो मुझे ज्ञात न हो सका परन्तु सम्भवतः यह किसी वीर-कार्य के उपलक्ष में ही वनी होगी, क्योंकि समय-समय पर ब्राह्मण भी राजपूतों के साथ रह कर बराबर की तलवार बजाते रहे हैं। इन भग्न दीवारों के बीच में अतीत के शुभ कार्यों के निमित्त [इन प्रतिमाओं की] आज भी जो पूजा होती है वह देखने लायक है; अचलगढ़ के त्राता की प्रार्थनाएं होती हैं तथा नित्य केशर-चन्दन चढ़ाया जाता है; और, यह सब उसके वंशजों

द्वारा नहीं होता, जिन्हें उसके महान् कार्यों का ज्ञान भी नहीं है, अपितु उसकी महानता एवं गौरव-गाथाओं से प्रेरित हो कर वे लोग पूजन करते हैं, जिनका उस से कोई प्रत्यक्ष सम्वन्ध नहीं है। इन प्रतिमाओं पर छाया हुआ साधारण फूस का छप्पर हम को और भी उत्तम पाठ पढ़ाता है, जो शायद हम उस क्षण में न पढ़ पाते यदि वे किसी संगमरमर के मन्दिर में प्रतिष्ठित होतीं।

यहाँ की प्रत्येक वस्तु जैन है और वृषभदेव[1] का मन्दिर दर्शनीय है क्योंकि इसमें चौबीस तीर्थंकरों में से पहले बारह तीर्थंकरों की मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिन्हें 'देवत्व' (निर्वाण) प्राप्त हुआ था। इनका वज़न कई हजार मन वताया जाता है और ये सर्वधातुविनिर्मित हैं।[2] भीतर के किले के पास ही, नीचे की ओर वाँए हाथ चल कर पार्श्वनाथ का मन्दिर है जहाँ उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार अणहिलवाड़ा के सुप्रसिद्ध राजा कुमारपाल ने करवाया था, जो इस धर्म का संरक्षक एवं जैनों के प्रभावशाली आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य था। बाह्य रूप से मूर्ति-कला में विचित्रता है परन्तु इसकी वनावट में सौन्दर्य-भावना का ध्यान नहीं रखा गया है। दिन के एक वजे अचलगढ़ की तलहटी में बॅरॉमीटर २७° ४' और थर्मामीटर ७८° और तीन वजे बॅरॉमीटर २६° ६५' तथा थर्मामीटर ७८° वतला रहे थे; दिन के ग्यारह वजे एक विश्वासपात्र एवं समझदार नौकर को भेज कर गुरुशिखर पर पारे की स्थिति दिखाई गई तो नतीजा इस प्रकार था--बॅरा-मीटर २६°८६' और थर्मामीटर ६८°; पूर्व परीक्षणों की अपेक्षा परिणाम की इस भिन्नता के विषय में हम आगे लिखेंगे।

दिन में कुछ ठंडक होने पर जब मैं शिकार के लिए इधर-उधर घूम रहा था तो राजपूती सैनिक वाद्यों की ध्वनि मेरे कानों में पड़ी और थोड़ी ही देर वाद देवड़ा राजा का लवाज़मा [परिकर] पूरी रियासती शान-शौकत के साथ दृष्टि-गोचर हुआ--झण्डे लहरा रहे थे, ढोल और वाजे वज रहे थे--वे सब आमों की कुञ्जों से घिरे हुए अपने इष्टदेव अचलेश के मन्दिर की ओर आगे वढ़ रहे थे। इस दृश्य का उत्साहपूर्ण वातावरण वहाँ की स्वाभाविक स्तब्धता से सर्वथा भिन्न था, परमारों का भग्न दुर्ग उस दिन की याद कर रहा था--

---

[1] वृषभदेव अथवा, अपभ्रंश में, वृषभदेव का वही अर्थ है जो शैवों के नन्दीश्वर का, क्योंकि दोनों की प्रतिमा बैल ही की है। यह जानने के लिए कि कोई जैन-मन्दिर किस तीर्थंकर-विशेष का है वह देख लेना पर्याप्त होगा कि उसकी चौकी पर कौनसा चिह्न बना हुआ है, जैसे बैल, सर्प, शेर इत्यादि, क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर का विशेष चिह्न होता है।

[2] इन मन्दिरों में कुल चौदह मूर्तियां हैं, जिनका वज़न १४४४ मन कहा जाता है।

—"जब वह यौवन से भरपूर और गर्वोन्नत था,
ऊपर झण्डे लहरा रहे थे और नीचे युद्ध चल रहा था;
परन्तु, जिन्होंने युद्ध किया था वे रक्त से सने कफ़न में दबे पड़े हैं
और लहराने वाले (झण्डे) चिथड़े चिथड़े हो कर मिट्टी में मिल गए हैं.
अब, टूटे फूटे किले की दीवारों पर भविष्य में कोई चोट न होगी"

राव श्योसिंह ने, जो आबू और सिरोही का स्वामी था, मुझ से फिर मिलने की इच्छा प्रकट की परन्तु मैं उसको तथा उसके साथियों को इस थका देने वाली यात्रा का कष्ट देना नहीं चाहता था और साथ ही स्वयं भी (अपने काम में) बाधा से बचना चाहता था। परन्तु इसका कोई असर न हुआ और तुरन्त ही मेरी विचारधारा को भङ्ग करते हुए एक दूत ने आ कर सूचना दी कि राव मुझसे मिलने की इच्छा कर रहे हैं। कुञ्ज में पहुँचने पर मैंने देखा कि उसके जागीरदार दोनों तरफ़ श्रेणीबद्ध खड़े हैं— मैं उनके बीच में हो कर आगे बढ़ा तो महाराव मेरा स्वागत करने के लिए सामने आ रहे थे। उन्होंने और उनके सरदारों ने मुझसे इस प्रकार आलिङ्गन किया जैसे पुत्र पिता से मिलकर करता है। यह सब हो चुकने के बाद उन्होंने मुझे अपने साथ गद्दी पर बैठाने के लिए आग्रह किया परन्तु मैंने इस सम्मान को विनम्रता के साथ अस्वीकार कर दिया। इस पर उन्होंने कहा कि वे वाणी एवं शरीर से उस व्यक्ति के प्रति अपना आभार किस प्रकार प्रकट करें कि जिसने उनको एवं उनके देश को कष्टों से मुक्त किया था? उन्होंने फिर कहा कि एक सच्चे चौहान की भाँति वे अपने देश के जंगलों में भीलों के साथ रह कर दिन काट लेते परन्तु जोधपुर की मातहती सहन कर के अपने को पतित न बनाते। मुझे इस अवसर पर वे और भी भले मालूम दिए—उनकी घबड़ाहट कम हो गई थी और अपने ही आबू के पवित्र वातावरण में वे स्वस्थता एवं वाणी की स्वतन्त्रता का अनुभव करते जान पड़ रहे थे। उनकी निजी एवं देश की भलाई के अतिरिक्त हमने और भी कितने ही विषयों पर बातें कीं—जैसे, उनकी प्रजा का उत्थान, बेगार प्रथा को बन्द करना, व्यापारियों को सुविधा प्रदान करना, जंगली जातियों को दबा कर उन्हें शान्तिपूर्ण और नियमानुसार जीवन बिताने योग्य बनाना, आदि। फिर, उनके पूर्वजों के इतिहास के विषय में बातचीत करते हुए हमने सुप्रसिद्ध सुरतान[1] के पराक्रमों का वर्णन किया जो उद्दण्डता में हमारे कैन्यूट[2] से भी बढ़कर था और जिसने

---

[1] सिरोही का राव (१५७२–१६१० ई०)।

[2] डेनमार्क का निवासी कैन्यूट (Canute or Knut the Great) जो १०१६–१०३५ई० तक इंगलैण्ड का बादशाह रहा।

"सूर्य को दण्ड देने के लिए उसकी ओर वाण चलाए थे।" अन्त में, दोनों ही ओर से बहुत कुछ आग्रह के साथ हम विदा हुए—उनकी ओर से यह आग्रह था कि मैं उन्हें कभी न भूलूं और अपने स्वास्थ्य के विषय में, जिसका उनको बहुत खयाल था, उपेक्षा न करूँ; मेरा कहना यही था कि वे अपने निज के प्रति सच्चे रहें। इसके पश्चात् सभी उपस्थित लोगों ने एक साथ गंभीर स्वर से मेरा अभिवादन किया। उनका यह परम हार्दिक स्वर झांझ एवं ढोलक के वाद्य से प्रवल हो उठा था। जब राव और उनके सामन्तगण आवू के ढाल पर उतर गए तो मैं भी अचलेश के मन्दिर पर अन्तिम बार दृष्टिनिक्षेप करने एवं अपने मित्र महन्तजी से मिलने के लिए लौट पड़ा क्योंकि उनके चेलों में अब मेरी भी गिनती हो चुकी थी। मैंने औपचारिक द्रव्य गोसाईंजी को भेंट किया।

अग्निकुण्ड और आस-पास के मनोरञ्जक पदार्थों को देखते-देखते देलवाड़ा के लिए रवाना होने में तीसरे पहर बहुत देर हो गई थी और वहाँ तक मैं शाम होने पर भी न पहुँच सका। रास्ते में नीचे की ओर लगातार ऊँचे-नीचे स्थल थे और अचलगढ़ के वादलों में जुकाम लग जाने के कारण मेरी तबीयत बहुत नरम थी इसलिए मुझे सहायता के लिए 'स्वर्ग-वाहन' का सहारा लेना पड़ा। यात्रा समाप्त होते-होते हमें एक झील का चक्कर काटना पड़ा जिसके किनारों पर कनेर और सफेद गुलाब के फूलों की बहुतायत थी। उधर, एक सघन पीपल के पेड़ पर वैठी हुई कमेडी[1] के एकाकी परन्तु मोहक स्वर से उस सुन्दर दृश्यावली की स्तब्धता मुखरित हो उठी थी जब कि अस्तोन्मुख सूर्य की रक्तिम रश्मियाँ आसपास की सघन वनावली को रञ्जित कर रही थीं।

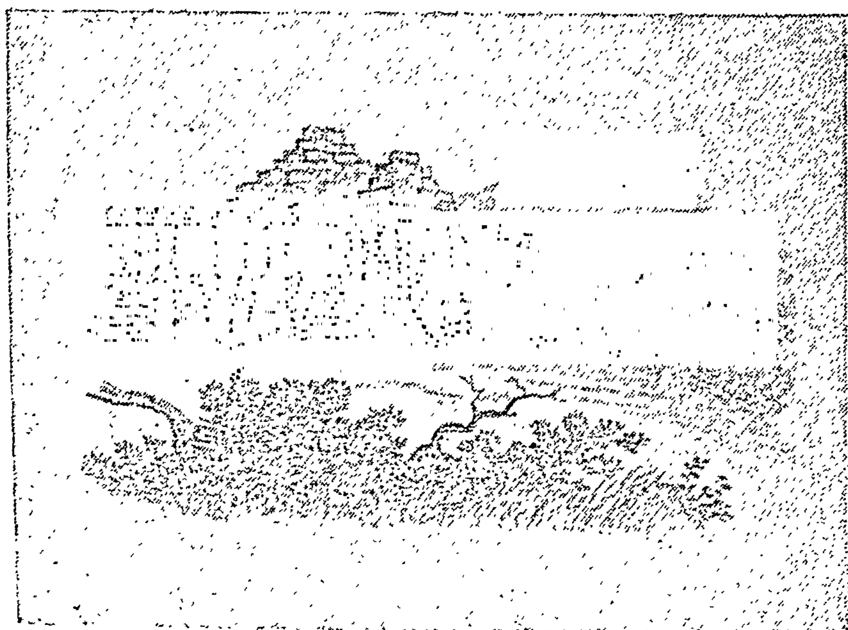
रात एक मन्दिर के पास खण्डहर में कटी, और जब मैं अपने घास के बिछौने पर से उठा तो मुझे बहुत तेज़ बुखार था—इतना तेज़ कि मैं बोल भी नहीं सकता था; मेरे मस्तिष्क की थकान ने शरीर को बहुत ज्यादा थका दिया था; परन्तु, काम अभी बहुत वाकी था क्योंकि यह पवित्र स्थान कितने ही आश्चर्यों का केन्द्र था। मुझे उन मन्दिरों को देखना ही था जिनका उल्लेख पादरी [विशप] हॅवर ने किया था और जिनके विषय में उसने कलकत्ते में रहने वाले मेरे एक मित्र के साथ हुए पत्र-व्यवहार के आधार पर सुन-सुना रखा था—उस मित्र ने उन बातों को दश वर्ष पूर्व एक पत्रिका में छपवा भी दिया था। यह खोज मेरी अपनी थी; आवू के सही स्थान और नाम का पता सबसे पहले मैंने

---

[1] कमेडी का नाम प्रेम के देवता 'काम' से निकला है, जिसके सभी चिह्न सार्थक हैं–धनुष, चमेली, गुलाब और अन्य फूलों के वाण, जिनमें हिन्दू कवि कण्टक को स्थान नहीं देता है।

ही लगाया था, जब कि मेरे अन्यान्य देशवासियों के लिए तो ये सब स्थान (अनिर्णीत और) अज्ञात प्रदेश मात्र थे — यदि इस विषय में मैं अपने स्वत्व के लिए कुछ ईर्ष्या भी करूँ तो वही मेरे द्वारा किए हुए परिश्रम और मेरे स्वास्थ्य एवं धन की हानि का एक मात्र प्रतिफल होगा।





प्रकरण ६

देलवाड़ा; वृषभदेव का मन्दिर; इसका इतिहास-वर्णन; मन्दिर के उत्सव; शिलालेख; पार्श्वनाथ का मन्दिर; इसकी वास्तुकला और विवरण; इन विशाल स्थलों के विषय में विचार; आबू के कुटीर; फल और वनस्पति; अर्बुदा माता का मन्दिर; गुफाएँ; तलाब; अन्तिम उतराई का खतरा; गोमुख; वसिष्ठ का मन्दिर; मुनिपूजन; शिलालेख; धार-परमार की छतरी; पातालेश्वर का मन्दिर; मूर्तियाँ; विचारविमर्श; आबू की ऊँचाई; लेखक के बॅरामीटर की खराबी; मिट्टी की किस्म; जंगल का रास्ता; बर्रों का आक्रमण; आबू की परिधि; आबू और सिनाइ (Sinai) के प्राकृतिक दृश्यों में भिन्नता; लेखक के स्वास्थ्य पर चढ़ाई का प्रभाव ।

जून १४वीं – देलवाड़ा — सुबह सात बजे, दोपहर में और शाम को ४ बजे बॅरॉमीटर २७°, २७°५' और २७°५' पर था और इन्हीं समयों पर थर्मामीटर क्रमशः ७२°, ८६° और ६०° बतला रहा था। दोनों के अंशों के उतार-चढ़ाव में जो भिन्नता है उससे स्पष्ट ही है कि जिस बॅरॉमीटर पर मैं विश्वास कर रहा था वह कितना गलत था और थर्मामीटर की स्थिति से उसका कोई मेल नहीं बैठ रहा था। परन्तु, इन पारिभाषिक बातों को अभी रहने दीजिए और मेरे साथ जूते उतार कर देलवाड़ा के पवित्र मन्दिरों में घुसने के लिए तैयार हो जाइये। देलवाड़ा, यह 'देवलवाड़ा' का संक्षिप्त रूप है, जिसका अर्थ है 'देवालयों का स्थान' और इसीलिए यहाँ के अनेक मन्दिरों के इस समूह को यह नाम दिया गया है। अभी मैं इनमें से सर्वाधिक सुप्रसिद्ध मन्दिरों को ही चुनता हूँ।

यदि पाठक सर्वप्रथम जैन तीर्थंकर वृषभदेव के मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर उपस्थित होने की कल्पना करें तो उन्हें बड़ा आनन्द आएगा। निस्सन्देह, यह भारतवर्ष के सभी मन्दिरों से उत्कृष्ट है और ताजमहल को छोड़ कर कोई भी ऐसी इमारत नहीं है जो इसकी समानता कर सके। जैनों के इस गौरवयुक्त स्मारक की समृद्धिपूर्ण सुन्दरताओं का वर्णन करने में लेखनी समर्थ नहीं है। इसको एक अतीव समृद्धिशाली भक्त ने बनवाया था और उसी के नाम से—न कि अन्तःप्रतिष्ठित देवता के नाम से—यह आज तक प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के कोने-कोने से आकर्षित होकर यात्री यहाँ पर आते रहते हैं। विमलशाह, जो अपने इस कार्य से अमर हो गया है, अणहिलवाड़ा का व्यापारी था, जो किसी समय भारत का मुकुटमणि और जैन-धर्म का सुदृढ़ केन्द्र माना जाता था। अस्तु, यह इस नगर के सुदीर्घ-कालीन प्रसिद्धियुग के अन्तिम दिनों की बात है कि जब ये दोनों इमा-

रतें खड़ी हुईं और इन जैन-भक्तों के लिए तो, जिन्होंने भाट के शब्दों में 'अपने नश्वर धन से अमर कीर्ति प्राप्त कर ली थी', यह और भी प्रसन्नता की बात थी क्योंकि इन मन्दिरों का ढाँचा मात्र ही खड़ा हो पाया था कि पश्चिमी भारत की राजधानी नष्ट कर दी गई, यहाँ के व्यापारियों को बाहर निकाल दिया गया और उनकी सम्पत्ति उत्तरदेशीय आक्रमणकारी के हस्तगत हो गई। निर्माण से पूर्व यह स्थान कट्टर शैवों और वैष्णवों के अधिकार में था और तत्तद् धर्मावलम्बी अपने किसी भी विरोधी मतानुयायी जनों का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते थे; परन्तु 'नहरवाला' के साहुओं ने आबू के धरातल पर किसी अन्य स्थल की अपेक्षा इसी स्थान को अधिक उपयुक्त समझा और सार्वभौम राजा पर सुवर्ण का प्रभाव डालने का निश्चय किया अथवा, जैसा कि वे लाक्षणिक रूप में कहा करते हैं, 'उनके धर्म की विजय के लिए स्वयं लक्ष्मी ने योजना में योगदान किया।' उत्कोच की रकम बहुत भारी थी; उन्होंने अपनी आवश्यक भूमि को चाँदी के सिक्कों से पाट देना स्वीकार किया और यह ऐसा प्रलोभन था कि, बालशिव और विष्णु के आराधकों के अभिशाप को अनसुना करके परमार राजा का मन विचलित हुए बिना न रह सका और उसने जैन साहूकारों से लाखों रुपये ले लिए। (तत्कालीन) राजा का नाम तो प्रकट नहीं किया गया है परन्तु मन्दिरों की निर्माण-तिथि से यही पता चलता है कि यह वही देवद्रोही धारावर्ष था जिसने शक्ति के 'खार' को जलाप्लावित करने का प्रयत्न किया था।[1] साहूकार भी लक्ष्मी के प्रति अकृतज्ञ नहीं हुए और उन्होंने दरवाज़े में दाहिने हाथ की ओर ताक में उसकी मूर्ति प्रतिष्ठित कर दी।

वृषभदेव का मन्दिर एक चौकोर चौक के बीच में अकेला स्थित है; चौक की लम्बाई पूर्व से पश्चिम एक सौ अस्सी फीट और चौड़ाई एक सौ फीट है। अन्दर की तरफ किनारे-किनारे कोठरियां बनी हुई हैं; लम्बाई की ओर उन्नीस-उन्नीस और चौड़ाई की तरफ दस-दस कोठरियां हैं। प्रत्येक कोठरी की लम्बाई-चौड़ाई बराबर-बराबर है। कोठरियों के सामने चारों तरफ एक चबूतरे पर दोहरा खम्भों वाली रविश बनी हुई है जो चौक की सतह से चार सीढ़ी जितनी ऊँची है; इनके बीच के खांचे भी इतने ही चौड़े हैं; इनके चार खम्भों के अतिरिक्त इनके व कोठरियों की बीच की दीवारों के अनुरूप ही दो-दो खम्भे और

---

[1] विमलशाह गुजरात के राजा भीमदेव सोलंकी का मंत्री था। उसीने यह मन्दिर वि० सं० १०८८ (१०३१ ई०) में बनवाया था। उसने यह भूमि तत्कालीन आबू के परमार राजा धंधुक से ली थी। —सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० ६१।

बने हुए हैं जिनकी छतें चपटी हैं। प्रत्येक कोठरी में प्रवेश-द्वार के सामने ही एक ऊँची वेदी बनी हुई है जिस पर चौबीस जिनेश्वरों में से किसी एक की प्रतिमा विराजमान है। दो-दो खम्भों के बीच में अनुरूप स्तम्भों पर टिकी हुई मेहराबों से प्रत्येक कोठरी के लिए अलग-अलग ड्योढी सी बन जाती है और चार-चार खम्भों के बीच प्रत्येक विभाग पर मेहराबदार अथवा चपटी छतों के कारण ये और भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। सम्पूर्ण मन्दिर स्वच्छ सफेद संगमर्मर का बना हुआ है; प्रत्येक खम्भे, छतरी और वेदी की बनावट व सजावट अलग-अलग तरह की है और निर्माण-कला की बारीकी एवं समृद्धि वर्णनातीत है। अट्ठावन कक्षों में से प्रत्येक का अध्ययन करने के लिए एक-एक पूरा दिन लगाने की आवश्यकता है और इसका खाका तैयार करने के लिए तो बहुत ही बारीक पेंसिल की अपेक्षा होगी। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न कोष्ठों का निर्माण भिन्न-भिन्न नगरों के जैन-मतावलम्बी धनी व्यक्तियों ने कराया था, इसी कारण इनमें प्रत्येक की शैली और सजावट में भिन्नता पाई जाती है परन्तु सम्पूर्ण मन्दिर की अनुरूपता एवं सुडौल बनावट यह प्रमाणित करती है कि इसकी योजना एवं निर्माण किसी एक ही विशेषज्ञ के मस्तिष्क की उपज है; केवल दक्षिण-पश्चिमी कोने पर कुछ भिन्नता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, (सम्भवतः वह भाग किसी दूसरे ने निर्माण कराया हो।) वेदियाँ शुद्ध और सादे ढंग से बनी हुई हैं परन्तु खम्भों के काम पर धन, श्रम, कौशल और रुचि का खुलकर प्रयोग किया गया है। इनमें से प्रत्येक पर जैन वास्तुकलागत स्तम्भ-सम्बन्धी नियमों के उदाहरण मौजूद हैं। प्रत्येक कोष्ठ में उस व्यक्ति के इष्टदेव की मूर्ति विराजमान है, जिसके व्यय से उसका निर्माण हुआ है और निर्माणकाल - सम्बन्धी लेख प्रत्येक दरवाज़े की देहली के अन्दर की ओर खुदा हुआ है।

अब हम चौकोर पत्थर जड़े हुए चौक में उतरते हैं और इसको पार करके वृषभदेव के मन्दिर के सामने सभा-मण्डप में पहुँचते हैं। सब से पहले हिन्दू-स्थापत्य (शास्त्र) में मण्डप शब्द का विवरण दे देना ठीक रहेगा। यह शब्द जैन-शैली की अपेक्षा शैव-पद्धति से अधिक सम्बद्ध है और सम्भवतः अपर शैली से ही जैनों ने इसको अपनाया है। मण्डप चाहे गोल हो या चौकोर और इसकी छत गुम्वदाकार हो अथवा पिरामिड की शकल की परन्तु वह खुले स्तम्भों पर टिकी रहती है। शैव-मन्दिरों में यहाँ पर पार्षद बैल [नन्दी] रहता है और प्रधान देवता [शिवलिङ्ग] अन्दर के कोष्ठ में विराजते हैं। जिस किसी ने पुज़ौली (Puzzouli) के ज्यूपिटर सॅरापिस (Jupiter Serapis)[1] के मन्दिर की

---

[1] ग्रीक लोगों ने मिस्र के एपिस (Apis) और ऑसिरिस (Osiris) देवताओं के गुणों को

मूर्तिकला की आयोजना को ध्यान से देखा है वह शैव मन्दिरों से भलीभाँति परिचित हो सकता है। जैन मन्दिरों के मण्डप में सजावट की कोई चीज नहीं होती; केवल भक्त लोग पूजा के लिए तैयार होने में ही उसका उपयोग करते हैं। प्रस्तुत मण्डप पर चौबीस फीट व्यास की एक अर्द्धवृत्ताकार छतरी है जो इसके अनुरूप ऊँचाई वाले स्तम्भों पर टिकी हुई है। ये स्तम्भ चतुष्कोण आकृति में अवस्थित होने के कारण, कोने के खम्भों को छोड़कर इन पर दोनों तरफ भारी-भारी भार-पट्ट रखे हुए हैं और इस प्रकार यह गुम्बद एक अष्टकोण आधार पर खड़ी हुई है। परन्तु, यह सब अन्दर से ही ऐसा दिखाई पड़ता है, बाहर से तो यह एक अण्डाकार गोला मात्र प्रतीत होता है, जिसका भार किसी आड़े आधार पर टिका है न कि केन्द्र पर। खम्भों का प्रत्येक युग्म एक तोरण द्वारा सम्बद्ध है जिसकी आकृति एक विशेष प्रकार की सुन्दरता लिए हुए है और जिस पर बहुत बारीक कुराई का काम हो रहा है। पूर्व, उत्तर और दक्षिण की तरफ के बीच-बीच के खम्भे मण्डप को रविश के खम्भों से मिला देते हैं और इस तरह मिलकर वे सब उस क्षेत्र की एक बगल को पूरा कर लेते हैं। खम्भों के बीच की जगह पर छाई हुई गुम्बददार अथवा चपटी छतें, जो बड़ी छत के चारों ओर घूम गई हैं, ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहतीं। इनकी भीतरी सतह पर रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यों में से अनेक कथाएं उत्कीर्ण हो रही हैं। इस प्रकार एक विचित्र ढंग से वे अद्वैतवाद और बहुदेवतावाद के मतों का समन्वय कर देती हैं; उधर, रासमण्डल में गोपियों से घिरा हुआ कन्हैया भी फूलों, फलों व पत्तियों की कारीगरी में उभार कर बताया गया है। पशुओं के चित्रों में यद्यपि आंखों को एक प्रकार की बेचैनी सी अनुभव होती है परन्तु निर्जीव पदार्थों के चित्रण में कट्टर से कट्टर आलोचक के ध्यान में भी कोई दोष नहीं आता। प्रवाहपूर्ण रेखाओं और गौरवपूर्ण भूमते हुए फूलों के सौन्दर्य को यूरोप के किसी भी ऊँचे दर्जे के कुराईकार का काम नहीं पा सकता।

एक छोटी सी सोपान-पंक्ति द्वारा मण्डप से वृषभदेव के मन्दिर में जाना होता है। इसके तीन विभाग हैं–खम्भोंवाली रविश, अन्दर का दालान और तीर्थङ्कर का निज-मन्दिर। यहाँ, पूजा के विविध उपकरणों के कारण थोड़ी देर

मिला कर इस देवता का आविष्कार किया, जो उर्वरता का अधिष्ठाता या प्रतीक माना जाता है। इसकी मूर्ति दाढ़ीदार और सिर पर टोकरा लिए हुए है। इस देवता की पूजा का केन्द्र अलॅक्जॅण्ड्रिया में था।—N.S.E. p. 1118.

के लिए कला-निरीक्षण से ध्यान हट जाता है। पहली चीज जो मैंने अन्दर जाते ही देखी वह दो संगमर्मर की शिलाएं थीं– जिनमें से एक पर एक भक्त केसरियानाथ के चढाने के लिए केसर का उबटन तैयार कर रहा था। केसरियानाथ का नाम केसर के कारण प्रसिद्ध है; प्रार्थना, स्नान और धूप के बाद भक्त लोग उनको केसर अर्पण करते हैं। जैसे ही मैं इस विशाल कक्ष में प्रविष्ट हुआ, मैंने घृत-प्रदीपों-युक्त झाड़ के धवलीकृत प्रकाश में, जो दिन के उजाले के साथ होड़ सी कर रहा था, अपने समार्ती[1] (Samartian) जैसे मित्र को देखा जिसने मुझे अपना तम्बू उधार दिया था। वह उस समय देव-प्रतिमा के सामने ध्यानमग्न था; कमर पर एक धोती के अतिरिक्त उसके शरीर पर और कोई कपड़ा न था; वह एक हाथ से धूपदान घुमा रहा था जिसमें गोंद, राल व अन्य प्रकार के धूमोत्पादक पदार्थ जल रहे थे। मुख के चारों ओर लिपटी हुई एक पट्टी से उसका मुंह ढँका हुआ था जिससे कि वह अपने अपवित्र श्वास द्वारा देवता को अप्रसन्न न कर सके अथवा पूजा के समय किसी कीटाणु को नष्ट कर के शाप का भाजन न बन जाय। उसने मुझे देख लिया था और पहचान भी लिया था परन्तु वह अपना ध्यान छोड़ कर पूजा में व्यवधान डालना नहीं चाहता था; उसके मुख-मण्डल पर दया और धार्मिक शान्ति विराजती थी जो बता रही थी कि उसका मानस पूर्णतया शान्त था। अन्दर के दालान में कुछ और मूर्तियाँ और बड़े-बड़े पीतल के घण्टे लगे हुए थे जो पूजा के समय बजते थे; एक तरफ लोहे की विशाल पेटी पड़ी हुई थी जिसमें रखी हुई चीजों से इस निम्नाण्ड अर्थात् मृत्युलोक की गन्ध आ रही थी। निज-मन्दिर में एक ऊँची वेदी पर वृषभदेव की सप्तधातुनिर्मित स्फटिकाक्ष विशाल मूर्ति विराजमान थी जिसके ललाट में बीचोंबीच बहुमूल्य हीरे का टीका सुशोभित था। ऊपर एक बहुमूल्य सुनहरी ज़री का चँदोवा लगा हुआ था तथा सामने धूपदानों में धूप खेयी जा रही थी; परन्तु, कलाप्रेमी तो इस विशाल भवन में देवता के ध्यान से तुरन्त ही विरत हो जायगा, क्योंकि यद्यपि इसकी बनावट साधारण है फिर भी इसकी विशालता को देखते हुए आस-पास के अन्य नमूनों की तुलना में यह बहुत तुच्छ प्रतीत होता है। दालान में प्रतिष्ठित अन्य मूर्तियों के विषय में भी यही निर्णय दिया जायगा, क्योंकि अन्य सजावट के विषय में जो रुचि की विशुद्धता बरती गई है उसके अनुरूप ये मूर्तियाँ कदापि नहीं हैं। प्रकोष्ठों तक पहुँचने से पहले जो मेरी प्रशंसाएं अतिरञ्जना को प्राप्त हो चुकी थीं वे यहाँ आते ही सब ठप

---

[1] पैलेस्टाइन में समारिया (Samaria) का निवासी।

हो गई; और क्या कहूँ, अगर-धूप का धुआँ, बुरी तरह घृत से भरे हुए दीपकों की रोशनी, दूषित वातावरण और जैनों के केसर [रियानाथ] की भयावनी आकर्षणहीन आकृति – इन सब की उपस्थिति में मुझे लगा मानों मैं निर्दयी न्यायाधीश [यमराज] के समक्ष यमलोक में ही खड़ा हूँ। जब मेरा कुतूहल शान्त हुआ तो मैं शुद्ध वायु और विशुद्ध कला के क्षेत्र में निकल आया जहाँ पर मेरे मन की स्वस्थता फिर लौट आई; परन्तु संगमर्मर की फर्श में प्रतिबिम्बित होकर चकाचौंध पैदा करने वाली सूर्य की सीधी किरणों की दुखद अनुभूति के कारण मुझे रविश में जा कर शरण लेनी पड़ी।

वृषभदेव की दाहिनी ओर चौक के दक्षिण-पश्चिमी कोने में एक बड़े और ऊँचे कक्ष में भवानी को प्रतिष्ठित कर के अणहिलवाड़ा के साहूकार ने अपना नाम अमर करने के साथ-साथ देवी के प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रकट की है; पास ही के कक्ष में परम प्रसिद्ध बाईसवें जिनेश्वर नेमिनाथ, जो अरिष्टनेमि अथवा श्याम भी कहलाते हैं, विराजमान हैं। यह मूर्ति, जो बहुत विशाल और तीर्थंकर के नाम के अनुरूप वर्ण वाली है, एक ही संगमर्मर के पत्थर की बनी हुई है, जो डूंगरपुर की खान से प्राप्त किया गया था। चौक से चल कर हम एक चौकोर कक्ष में जाते हैं जिसकी नीची छत कितने ही खम्भों पर टिकी हुई है; इस कक्ष के द्वार पर ही वृषभदेव की ओर मुँह किए हुए मन्दिर के निर्माता की अश्वारोही मूर्ति खड़ी है जो पुरुषाकृति से बड़ी है। उसके पीछे उसका भतीजा बैठा हुआ है और उस पर एक छत्र लगा हुआ है, जो उसके वैभव का प्रतीक है। वृद्ध साहूकार की वेशभूषा कुछ भद्दी सी है, उसके शिर पर पश्चिम-भारतीय अथवा अमरीकी भारतीय सरदार के मुकुट जैसी कोई चीज है; उसका भतीजा सेनापति के डण्डे जैसी कोई चीज उसको सौंप रहा है; सम्भवतः वह इस विशाल भवन की लागत के हिसाब का (गुलियाया हुआ) खर्रा हो। वणिक्राज के चारों ओर दस गजारोही मूर्तियाँ और हैं जिनमें से प्रत्येक (सवार और हाथी की) मूर्ति की उँचाई छः फीट है; ये सब मूर्तियां संगमर्मर की हैं और साधारण बनी हुई हैं। यहाँ के लोगों का कहना है कि ये उन बारह यूरोपीय जातियों के बड़े राजाओं की मूर्तियाँ हैं जिनको विमलशाह ने स्वर्ण के बल पर यह शपथ दिलाई थी कि उसके हाथों हुए इस कार्य [मन्दिर] और यहाँ के देवता का वे सदा सम्मान करते रहेंगे। यह कहानी, जो खास कर यूरोपियों के झूठे गर्व की प्रशंसा में नहीं गढ़ी गई है, कितनी ही शताब्दियों से चली आ रही है और स्थानीय अन्य जनश्रुतियों की भाँति सच्चे श्रद्धालुओं का पूर्ण विश्वास प्राप्त किए हुए है, जिनकी (अन्ध) श्रद्धा

की मात्रा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने कभी उन राजाओं की मूर्तियों को गिना तक नहीं जो विमलशाह की आज्ञा का पालन करने के लिए अपना राज्य छोड़ कर यहाँ चले आए थे। जब मैंने उनको बताया कि जब तक वे साहु और उसके भतीजे को 'बर्बर राजाओं' में सम्मिलित न कर लें तब तक उनकी संख्या दस ही रहती है तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। और जब मैंने फिर बताया कि उनमें से प्रत्येक नास्तिक के चार-चार हाथ थे तब तो उनसे कुछ भी कहते न बना; परन्तु यह स्वीकार करते हुए उन्होंने साहूकारों को बर्बर-संगति से बचा लिया कि जिनके दो ही हाथ हैं वे राजा नहीं हो सकते। सुबह होते-होते एक नई कथा सामने आई और वे 'बारह राजा' साहूकार के 'कुटुम' [कुटुम्ब] अर्थात् भाई-भतीजों और जामाता आदि में बदल गए। मैंने एक और ही सुझाव दिया, वह यह था कि यह शायद साहू की वंशपरम्परा का कोई पौराणिक सन्दर्भ हो सकता है, जिसकी उत्पत्ति राजपूतों की चौहाण शाखा से है, जिनके देवता चतुर्भुज हैं और साहू को मण्डली के बीच में इसलिए रखा है कि उसने उनके वंश में एक महान् धार्मिक कार्य सम्पन्न किया है। उन्होंने मेरे सुझाव के उत्तर में धीरे से केवल यही कहा 'भगवान जानें।' अस्तु, कोई भी कारण हो, मूर्तिभञ्जक तुर्क को तो उसमें कोई रुचि थी नहीं, अतः उसने उपेक्षाभाव से उन राजाओं के चारों हाथ तोड़ दिए तथा केवल ठूंठ छोड़ दिए जिनसे इतना सा ज्ञात हो सकता है कि ऐसी चीजें भी कभी थीं। निर्माता की अश्वारोही मूर्ति के पीछे ही कुछ फीट ऊँचा एक स्तम्भ है, जो तीन संगमर्मर की सीढ़ियों से युक्त वर्तुल पीठ पर खड़ा है; इसके तीन खण्ड हैं जिनमें प्रत्येक ऊपर का खण्ड नीचे वाले की अपेक्षा ऊपर की ओर उत्तरोत्तर पतला होता चला गया है। इस स्तम्भ पर अन-गिनत छोटे-छोटे ताक उत्कीर्ण हो रहे हैं जिनमें से प्रत्येक में कोई न कोई जिनेश्वर अपनी सहज ध्यानावस्थित मुद्रा में विराजमान है। इस प्रकार का स्तम्भ प्रायः सभी जैन-मन्दिरों के साथ बना होता है; मेरी इच्छा होती है कि दिल्ली की कुतुबमीनार को मैं इसी की श्रेणी में रखूं – यह कल्पना करते हुए कि इस्लामी कारीगरों ने अपर मीनार से अवाञ्छनीय मूर्तियों को हटाने के लिए ही उसे केवल कुराई के काम से सजा भर दिया है। चित्तौड़ के पहाड़ पर भी एक इसी तरह का स्तम्भ है जिसकी ऊँचाई ८० फीट है और उस पर मूर्तियाँ भी इसी तरह बनी हुई हैं। सब से ऊपर एक खुली गुम्बद है जो खम्भों पर स्थित है। मैंने वहाँ से कुछ शिलालेखों की नकलें ली हैं तथा उनके अनुवाद भी किए हैं; उनमें से एक में राणा कुम्भा के तिलक-व्यवधान का वर्णन है। जब उसको मेवाड़ से निकाल

दिया गया था तब उसने परमारों के बहुत दिनों से उजड़े हुए किलों पर सूर्य (वंश) का झण्डा फहराया था। यहाँ के प्रत्येक पत्थर में इतिहास भरा पड़ा है परन्तु उनका उपयोग करने के लिए भूत-काल के विषय में पूरी जानकारी का होना आवश्यक है।

वाणिक्‌राज के कार्यों का अध्ययन करने में मुझे प्रायः एक महीना लग जाता परन्तु समय बहुत कम था और ऐसे ही और भी महत्त्वपूर्ण अन्य स्थान मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। चौक पार कर के कुछ सीढ़ियों द्वारा हम सर्वाधिक प्रसिद्ध तेवीसवें जिनेश्वर पार्श्वनाथ के मन्दिर में पहुँचे जो पूर्वोक्त मन्दिर से प्रतिस्पर्धा कर रहा है। इस मंदिर का निर्माण भी जैन-मतावलम्बी तेजपाल और बसन्त[वस्तु ?]पाल नामक वैश्यबन्धुओं ने करवाया था जो धारावर्ष के राज्य में चन्द्रावती नगरी के निवासी थे जब कि भीमदेव पश्चिमी भारत का सार्वभौम शासक था। इस मन्दिर का नकशा और बनावट भी अन्य सभी उपकरणों सहित पूर्ववर्णित (वृषभदेव के) मन्दिर के नमूने पर निर्मित हुए हैं, परन्तु सब मिला कर यह उससे बढ़कर है। इसके वैभव में सादगी अधिक है, मण्डप के कामदार खम्भे अधिक ऊँचे हैं और अन्दर की ओर छत पर यद्यपि कुराई का काम उसी मात्रा में हो रहा है परन्तु कारीगरी, विशदता और परिष्कृत रुचि के विचार से यह उससे उत्कृष्ट है। गुम्बद का व्यास भी माप में दो फीट अधिक अर्थात् २६ फीट है; संगमर्मर के भारी-भारी भारपट्ट भी पन्द्रह-पन्द्रह फीट लम्बे तथा ऊपर रखे हुए भार के अनुपात से ही ठोस एवं वज़नदार हैं। खम्भों की पंक्ति भी पूर्व-वर्णित प्रकार के अनुसार ही है और उसी तरह बीच-बीच के स्तम्भों द्वारा चौक से सम्बद्ध हो जाती है। बीच को गुम्बद तथा इसके आस-पास की छतरियों पर जो कुराई का काम हो रहा है उसकी महर्घता एवं विचित्रता का ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है। विशाल छत से लटकते हुए एक भी लटकन की उपेक्षा करना हमारे लिए उचित न होगा, जिसका चित्रण करने में लेखनी चीं खा जाती है और गम्भीर से गम्भीर कलाकार की पैंसिल [तूलिका ?] को भी पूरा ज़ोर पड़ता है। यद्यपि गॉथिक गिरजाघरों की दीवारों में उभरी हुई घोड़ियों से इनका कुछ कुछ साम्य है, परन्तु गॉथिक वास्तुकला की फूलपत्तीदार शैली में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो इनकी महर्घता के साथ तुलना में ठहर सके। आकार में ये तीन-तीन फीट लम्बे बेलन के समान हैं और जहाँ से ये छत से लटकते हैं वहाँ अर्द्धविकसित कमल के समान दिखाई देते हैं जिनके पल्लवों की गहराई इतनी बारीक, उज्ज्वल तथा शुद्ध रूप में दिखाई गई है कि देखते-देखते

आँखें वहीं अटक जाती हैं। अर्द्धगोलाकार गुम्बद एक ही केन्द्र से चली हुई घनोत्कीर्ण विभाजक रेखाओं द्वारा सम-विभागों में बंटा हुआ है जिनके बीच-बीच की जगह में भी सुन्दर एवं विशद कुराई का काम हो रहा है। एक विभाग में एक मद्यगोष्ठी का चित्रण है जिसमें सभी लोग मतवाले होकर वर्ष के आरम्भ में आनन्द मना रहे हैं, समस्त प्रकृति उत्सव-मग्न है, धनवान व्यक्तियों ने नव-वसन्त के उल्लास में लक्ष्मी का ध्यान भुला दिया है (अर्थात् खुले हाथों धन खर्च कर रहे हैं); सम्भवतः इससे निर्माता के नाम का सन्दर्भ समझाया गया है—वसन्तपाल अर्थात् वसन्त द्वारा पालित। एक अन्य विभाग में फलों, फूलों और पक्षियों से युक्त मालाएँ बनी हुई हैं, इनका काम ऊपर से नीचे तक बहुत ही स्पष्ट है और इसी में कुछ योद्धाओं की आकृतियाँ भी मौजूद हैं जिनमें से प्रत्येक एक ऊँचे पीठ पर अपने ढंग से खड़ा हुआ है—हाथ में तलवार अथवा राजदण्ड है—ये सम्भवतः, अणहिलवाड़ा के राजा हैं। तुरन्त ही, तोरण हमारा ध्यान छत से अपनी ओर खींच लेता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों यह दो समुद्री-परियों के मुखों से निकल पड़ा है, जिनके मुख उन स्तम्भों की ऊपरी चौकी पर उद्गत हुए हैं, जो मेहराब (तोरण) को अपने ऊपर साधे हुए हैं। इसका शाब्दिक वर्णन करना व्यर्थ है—अब, हमें मण्डप से मन्दिर की ओर चलना चाहिए। सीढ़ियाँ चढ़ कर हम जगमोहन (दालान) में आते हैं, जिसके दोनों बाजू एक-एक ताक बना हुआ है—वह आधा दीवार के अन्दर है और आधा बाहर निकला हुआ है। धरातल एक वेदी के रूप में है और छोटे-छोटे पवित्र स्तम्भ एक बहुत ही सुन्दर कामदार चँदोवे को साधे हुए हैं। बनावट अत्यन्त सादी है परन्तु इसे कोई भी चीज पा नहीं सकती; किसी भी रेखा अथवा तल में असमानता ढूंढने पर भी नहीं मिलती। छीनी का काम इतनी सफ़ाई का है कि यह सब मोम में ढला हुआ सा प्रतीत होता है; अर्द्ध-पारदर्शक किनारे मोटाई में एक रेखा के चतुर्थांश भी नहीं हैं। इन ताकों पर सवा लाख रुपया अर्थात् लगभग बारह हजार पौण्ड व्यय हुआ बताया जाता है। अकेला एक व्यक्ति ही उस ज़माने में इतना धनवान था। आजकल तो अणहिलवाड़ा राज्य की पूरे वर्ष की आय में भी ऐसा एक मन्दिर न बन सकेगा। वेदी पर पार्श्व [नाथ विराजमान हैं जिनका चिह्न सर्प है। यहाँ भी पूजा के उपकरण वही हैं; केशरार्पण-विधि, घृत-दीपों के झाड़, धूप, स्फटिक नेत्र, हीरे का टीका और प्रधान मूर्ति के चारों ओर अवर देवताओं की पीतल की मूर्तियाँ।

अब हम मन्दिर के चारों तरफ वाले चौक में चलें। इस चौक का क्षेत्रफल प्रायः पहले वाले चौक जितना ही है—शायद कुछ अधिक हो। दोहरे खम्भों वाली

रविश भी उतनी ही आकर्षक है परन्तु खम्भों में सादगी अधिक है। रविश की छत के विभागों में भी काम उतना ही मूल्यवान है परन्तु इनमें स्पष्टता अधिक है। छतों में (जिनकी संख्या ६० से कम नहीं हैं) जो कुराई का घना काम हो रहा है उसमें वन-देवों, देवताओं, किन्नरों और योद्धाओं के साथ-साथ जहाजें भी उत्कीर्ण हैं, जो इस बात की द्योतक हैं कि निर्माताओं ने समुद्री-व्यापार के द्वारा ही वह अतुल धन-राशि एकत्रित की थी; और उस समय, जब कि गौरवपूर्ण अणहिलवाड़ा नगर और उससे भी अधिक गौरवान्वित वहाँ के 'बाल्हाराय' राजाओं की समृद्धि का सूर्य चरम सीमा पर चमक रहा था, उनके जहाज सभी पड़ौसी राज्यों में जाते थे और वहाँ का माल ला कर समस्त हिन्दू-भूमि (हिन्दुस्तान) में वितरित करते थे। जब मेरी दृष्टि प्रसन्नता के साथ इन हिन्दू महापोतों पर अटक रही थी तो इनके विवरण में वह कुछ ऐसी वस्तु पर जा अटकी जिसमें से एक शास्त्रीय बहु-देवतात्मक मन्दिर की गन्ध आ रही थी और यह बात किसी पाश्चात्य बुद्धि के समझ लेने के लिए बहुत ही रहस्यमयी थी। यहाँ, उस मिले-जुले जहाजी बेड़े में ग्रीक वन-देवता पॅन[1] की शकल दिखाई दी, जिसके शरीर का अधोभाग बकरे जैसा था और उसके मुँह में बांसुरी मौजूद थी। पूर्व की ओर रविश के खम्भों के मध्य भाग में सजावट है; वहाँ हाथियों का एक जलूस बनाया गया है—उन पर सवार, ढोल और पूरा साज़-सामान मौजूद है; प्रत्येक हाथी एक ही संगमर्मर के पत्थर में कुराया गया है, जिसकी बनावट साधारण है और ऊँचाई चार फीट। सामने ही गोलाकार पीठिका पर स्थित एक वैसा ही स्तम्भ है जैसा कि पहले वाले मन्दिर में देखा था। विभिन्न प्रकोष्ठों में वेदियों पर विराजमान जिनेश्वरों की मूर्तियाँ (जो प्रत्येक चार फीट के लगभग ऊँची है) सर्वथा दर्शनीय हैं। परन्तु, इन मन्दिरों की विभिन्न विशेषताओं और समृद्धि का पृथक् -पृथक् वर्णन करना बहुत कठिन है; और आबू का गौरव बने हुए, इन देवालयों के आस-पास निर्मित अन्य मन्दिरों की निर्माण-कला का विवरण देना भी यहाँ पर असंगत-सा ही प्रतीत होता है, यद्यपि परिमाण में वे इन उपरिवर्णित मन्दिरों से भी बड़े हैं। जैसे, उदाहरण के लिए, भीने-शाह ५६(Bhcenia Sah) (भीमा या भीना) का मन्दिर, जो निर्माता के नाम से ही आज इनका कुमिद्ध है, आकृति और शैली में अन्य मन्दिरों से सर्वथा भिन्न है; यह चार कोई भी ऐ॰ और सादड़ी की घाटी वाले मन्दिर से मिलता हुआ है। कहते हैं कि आकार में ये ंठत जिनेश्वर की पीतल की मूर्ति १४४० [४ मन भारी है, जो लटकते हैं वहाँ

गहराई इतनी वा[1] और भेडों के गल्लों का देवता जो Arcadia (आर्केडिया) में पूजा जाता है।

१०८,००० पाउण्ड के बराबर है। यह एक विशाल पीतल की पृष्ठ-भूमि पर ऊँची उभरी हुई है और आकृति में धर्मोपदेशक के समान लगती है। पृष्ठ-भूमि कितने ही विभागों में बँटी हुई है जिनमें अन्य तीर्थंकरों, मनुष्यों और पशुओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। यह सब समुदाय एक ही ढाँचे में ढला हुआ-सा प्रतीत होता है। कुछ और भी सप्तधातुनिर्मित मूर्तियाँ इस प्रधान मूर्ति के अगल-बगल में रक्खी हुई हैं।

हमने बिशॉप हैबर के वक्तव्य से आरम्भ किया था और उसी के साथ उपसंहार करेंगे। उनका कहना है कि उन्होंने जो कुछ जयपुर के महलों में देखा था वह, क्रेमलिन (Kremlin) और अलहम्ब्रा (Alhambra) दोनों से बढ़कर था; पश्चिमी मरु के किनारे पर आबू के जैन-मन्दिर, जो उन्होंने नहीं देखे थे, सम्भवत: इन सब से बढ़कर हैं – यही मेरा भी मत है और मैं इसे दोहरा देता हूँ कि सब मिला कर जो धन इन पर व्यय हुआ है तथा जिस कारीगरी एवं श्रम का इनमें उपयोग हुआ है उन सबको ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि केवल आगरे का ताजमहल ही एक ऐसी इमारत है जिसको इनसे बढ़कर बताई जा सकती है। फिर, यह अपनी-अपनी रुचि का विषय है, भले ही वे पॉर्थिनॉन[1] (Parthenon) और सेण्ट पीटर्स[2] (St. Peter's) के समान एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ही क्यों न हों। विशालता और सुदृढ़ता ही कोई मुख्य मापदण्ड नहीं है; इनकी विशेषता तो सुडौल आकार और निर्माण की विचित्रता एवं महर्घता में है। खम्भों वाली वहिर्गत रविशें और गुम्बजदार छतें केवल निर्माताओं की अतुल सम्पत्ति का ही सूचन नहीं करतीं वरन् कला के उच्चस्तरीय परिपाक में भी प्रेरणा प्रदान करती हैं। पवित्र कला के पारखी को यह आशङ्का करने की आवश्यकता नहीं है कि विवरण की विविधता के कारण उसकी रुचि को ठेस पहुँचेगी अथवा कारीगरी की बारीकी के कारण यहाँ के गम्भीर-गौरव में कमी आ जायगी प्रत्युत इसके विपरीत यहाँ तो ऐसे-ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि विषयानुकूल कक्ष-विभाजन से भी सामञ्जस्य में कोई अन्तर या बाधा नहीं आ पाई है। जब हम विचार करते हैं कि यह समस्त गौरव मरु के किनारे एकाकी पहाड़ की चोटी पर बिखरा पड़ा है, जहाँ आजकल थोड़े से सीधे-सादे अर्द्धसभ्य लोग निवास करते हैं, तो इस साहचर्य से हमको आश्चर्य हुए बिना

---

[1] एथेन्स का देवालय।

[2] रोमस्थित संसार का सब से बड़ा कैथोलिक गिर्जाघर। यह १६६७ ई० में बन कर तैयार हुआ था। इसकी विशाल और ठास गुम्बद संसार-प्रसिद्ध है।
—N. S. E.; p. 1030

नहीं रहता। असहिष्णु इस्लामी लोगों ने इन मन्दिरों के प्रति सहनशीलता क्यों वरती, इसका कारण इसके अतिरिक्त और कुछ समझ में नहीं आता कि वे एकेश्वरवादी हैं; इनके बचाव को एक चमत्कार कहा जा सकता है और सौभाग्य से अशिक्षित मरहठा एवं उसके असभ्य अनुयायी पठानों की तो ये पहुँच के बाहर रहे ही थे।

मैं देलवाड़ा के आधे ही सौन्दर्य को देख पाया था कि दिन बहुत चढ़ गया; संध्या के हल्के प्रकाश से वह भू-भाग आवृत होने लगा था और पक्षियों के सान्ध्य-गान ने मुझे सचेत कर दिया था कि वसिष्ठ-मन्दिर की यात्रा के लिए प्रस्थान करने का समय आ गया था, जो अब भी पाँच मील दूर था। इस यात्रा में मुझे आबू-क्षेत्र का सबसे अधिक मनोमोहक भाग देखने को मिला। इस भाग में खेती अधिक होती है, निवासियों की संख्या भी अधिक है और झरनों तथा वनस्पति की भी बहुतायत है; कहीं कहीं पर भूमि हरे-हरे गलीचों से सुसज्जित है और पग-पग पर, स्वाभाविक अथवा कृत्रिम, कोई न कोई आश्चर्यजनक वस्तु देखने को मिल ही जाती है। सदा की भाँति अदृश्य कमेड़ी अपना सहज स्वागल-गान सुनाती थी तो कभी कभी किसी घनी झाड़ी में से किसी श्यामा की स्पष्ट और पैनी चहक भी सुन पड़ती थी; वहीं से कोई निर्मल जल का सोता मन्द गति से वहता होता था — ये सब मिल कर मुझे उस विस्मृत प्रदेश की याद दिला रहे थे, जहाँ अब मैं लौट कर जा रहा था। भूमि का प्रत्येक खेती-योग्य टुकड़ा मेहनत के साथ जोता गया था। इसी छोटे-से भू-भाग में मैं आबू की बारह ढाणियों में से चार में होकर गुजरा था। ये सब उस दृश्य के अनुरूप ही थीं; घर साफ-सुथरे और सुखप्रद, आकृति में झोंपड़ियों की तरह गोल, मिट्टी से लिपे और हल्के-हल्के रामरज से पुते हुए थे। प्रत्येक बहते हुए झरने के किनारे पर सिंचाई के लिए अरठ अथवा मिस्री-चक्र लगा हुआ था। पानी नजदीक होने के कारण वेरे (छोटे कच्चे कुए) अधिक गहरे नहीं खोदने पड़ते। इन कृषि-योग्य खेतों की वाड़ों पर, जो बहुत कर के थूहर की होती हैं, जंगली गुलाब के गुच्छे के गुच्छे लगे हुए थे, जिनको यहाँ पर 'खूजा' (khooja) कहते हैं। इनके बीच-बीच में सेवती (शिवप्रिया) भी हैं जो भारत के बागों में बहुत मात्रा में लगाई जाती है। दाड़िम के वृक्ष अचानिट की पहाड़ी पर, जहाँ टूटी हुई चट्टान के अतिरिक्त मिट्टी देखने को भी नहीं थी, उगे हुए थे और अपने नाम को सार्थक कर रहे थे।[1] कहीं-कहीं खूबानी

---

[1] अंग्रेजी में अनार या दाड़िम के लिए Pomegranate शब्द है जो लैटिन के Pomum granatum से बना है। इसका अर्थ 'दानों या गुठ्ठों से भरा फल' होता है।

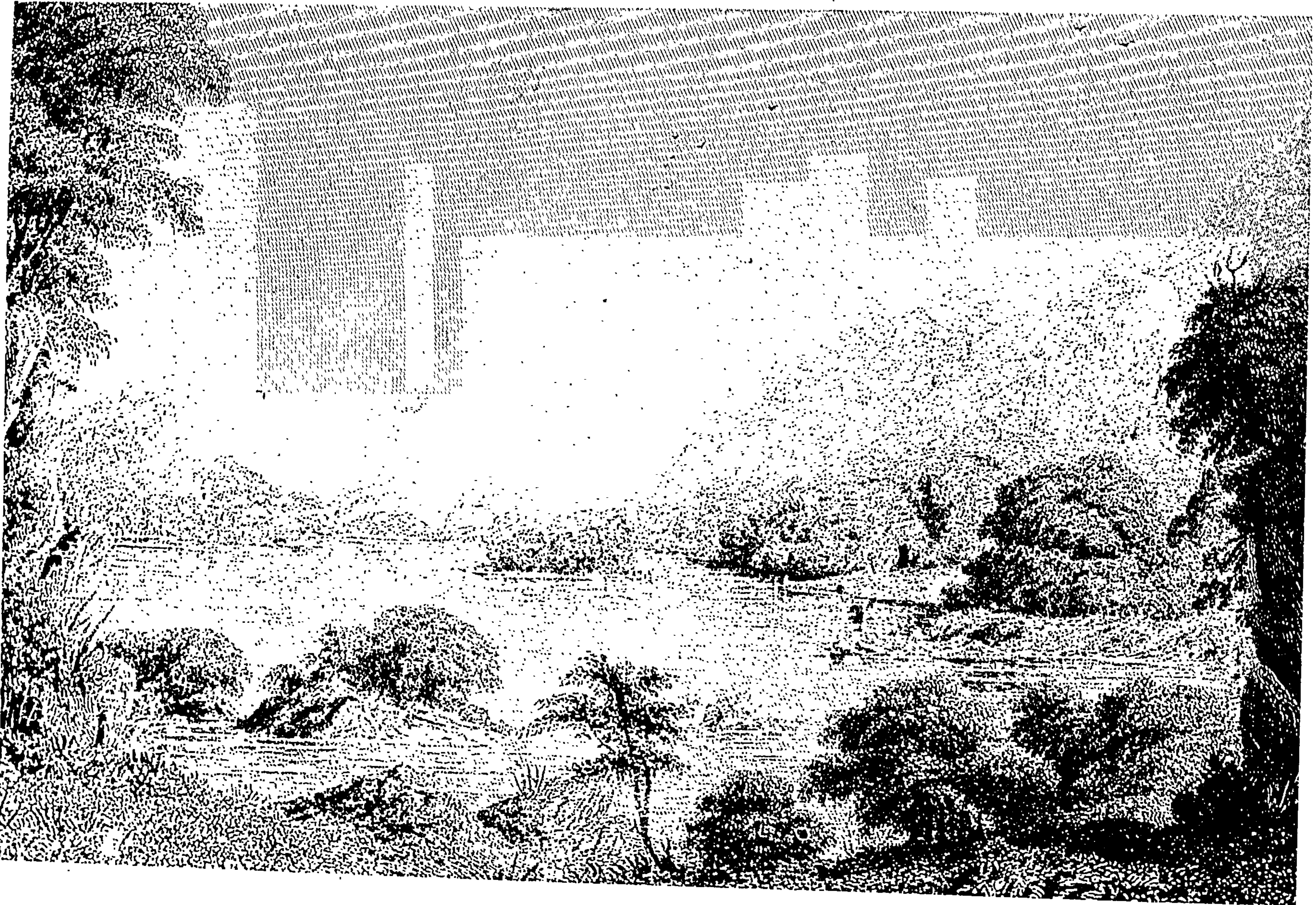
के पेड़ भी दिखाई पड़ते थे, जो फलों से लदे हुए थे परन्तु वे इतने कच्चे और हरे थे कि उन्हें देख कर यह प्रतीत होता था मानों वे कभी पकेंगे ही नहीं। लोग मेरे पास अंगूर भी लाए, जिनकी आकृति से मुझे लगा कि वे यहाँ पर वोए जाते हैं। ये (अंगूर या दाख) और चकोतरा, जिसे मैंने देखा तो नहीं परन्तु उन लोगों ने एक गहरी घाटी में बताया था, आबू के प्रधान फल माने जाते हैं। आम भी बहुत थे और लोवेलिया (Lobelia) जैसे नीले और सफेद सुन्दर फूलों के गुच्छों वाली एक घनी और सुन्दर बेल ने इनकी सेवार से ढकी हुई शाखाओं पर जड़ पकड़ ली थी। पहाड़ी लोग इस उप-पादप को [आम का उपजीवी होने के कारण] अम्बात्री कहते हैं, जो उनको बहुत प्रिय है क्योंकि मैंने देखा कि जहाँ कहीं यह उनके हाथ आता वे इसे तोड़ कर अपने पट्टों (काले बालों) में गूंथ लेते अथवा अपनी पगड़ी में खोंस लेते। नमी [आर्द्रता] की अधिकता के कारण प्रायः पेड़ों पर घास अथवा काई का आवरण छाया रहता है और अचलगढ़ में तो ऊँचे-ऊँचे खजूर के पेड़ों की सबसे ऊपरवाली टहनियाँ तक इससे मँढी हुई थीं। काई अथवा घास के इसी जमाव में से ये उप-पादप फूट निकलते हैं। फूलों की तो यहाँ पर पूरी भरमार थी, जिनमें चमेली की और गुलाब की प्रायः सभी किस्में साधारण झाड़ियों की तरह उगी हुई थीं। सुनहरी चम्पा, जिसका पौधा फूल वाले पौधों में सबसे बड़ा होता है, जो मैदानों में शायद ही मिलता है और जिसके विषय में कहा जाता है कि वह अलोय की तरह एक शताब्दी में एक ही बार फल देता है, उसी चम्पा के पौधे यहाँ पर सौ-सौ गज़ की दूरी पर फूलों से लदे हुए लहलहाते थे और वायु को सुगन्ध से परिपूरित कर रहे थे। संक्षेप में यहाँ—

> "सभी प्रकार की सुन्दरताओं का समूह, झरने और घाटियाँ,
> फल, वनस्पति [पत्रावली] चट्टानें, वन, अनाज के खेत, पर्वत, अंगूर की बेलें,
> और उजड़े हुए (स्वामिविहीन) किले थे, जो अपनी भूरी और पत्ते उगी हुई दीवारों में से
> गम्भीर विदाई दे रहे थे और उनमें हरा विनाश निवास कर रहा था।"

देलवाड़ा से कोई एक मील की दूरी पर आधे से भी अधिक रास्ते तक ऊँची चोटी पर चढ़ कर एक चट्टान थी; वहीं गहरी दरार के किनारे आबू की रक्षिका देवी का मन्दिर है (जिसे सभ्य लोग अर्बुदा माता अथवा बुद्धि के पर्वत की माता कहते हैं) जिसका आधा भाग पत्रावली से ढका हुआ है। एक छोटा-सा नाला उस दरार से निकल कर कितने ही चक्कर काटता हुआ पहाड़ी के पूर्वीय ढाल पर कैरली (Karilie) की घाटी में बहता हुआ कुछ दूसरी नालियों के साथ बनास में जा मिलता है, जो यहाँ पर पहाड़ी के छोर के बिलकुल पास ही बहती

है। हमने कुछ प्राचीन मन्दिरों और घरों के खण्डहर तथा गुफाएँ भी देखीं, जिनमें रह कर प्राचीन स्वर्णयुग के ऋषियों ने 'परब्रह्म' के चिन्तन में अपने जीवन व्यतीत किए थे। एक छायादार कुञ्ज में ऐसी सुन्दर कुटिया मिली जो मन को लुभाने वाली थी; कोई भी मनुष्य वहाँ के फल-फूलों पर जीवित रह कर पूरी गर्मी के दिन आनन्द से बिता सकता है; हाँ, केवल पानी को, जो तीखापन लिए हुए है, कुछ शुद्ध करना पड़ेगा। थोड़ी ही दूर पर हमने नखी-तालाब देखा; यह लगभग चार सौ गज लम्बी बड़ी सुन्दर झील है, जिसका आनन्द लेने के लिए पूरे एक दिन की आवश्यकता थी परन्तु समय की तंगी के कारण मुझे इसकी झाँकी मात्र लेकर ही सन्तोष करना पड़ा। जिन्होंने राइन (Rhine) नदी पर एण्डरनॉच (Andernach) से तीन मील ऊपर वाली झील को देखा है, मान लीजिए, उन्होंने इसकी प्रतिमूर्ति देख ली है। इसके चारों ओर चट्टानें हैं, जिनके किनारे तक जंगल आ गया है; जलमुर्गाब इसमें स्वच्छन्द विचरते हैं और दर्शकों का ध्यान भी इनकी ओर कम ही जाता है क्योंकि इस पवित्र पहाड़ी पर शिकारी की बन्दूक और मछियारे के जाल को स्थान नहीं है; 'अहिंसा परमो धर्मः' यहाँ का सर्वोपरि आदेश है और इसकी अवहेलना का दण्ड मृत्यु है। इस झील का पानी अगाध बताया जाता है, परन्तु मुझे यहाँ ज्वालामुखी के लावा के चिह्न कहीं भी दिखाई नहीं दिए।

दो-तीन सीधे से ढाल उतर कर मैं उस चोटी पर पहुँचा जहाँ से वसिष्ठ के मन्दिर को रास्ता जाता है। मैं उस दृश्य के लिए बिलकुल तैयार नहीं था अथवा इसे देखने के लिए दिन के खुले प्रकाश की आवश्यकता थी। यहाँ पर मैंने गाड़ी छोड़ दी थी क्योंकि मैं उसमें बैठा-बैठा थक गया था इसीलिए मैंने यह उपाय किया। एक गहरी खोह हमारे सामने थी और चट्टान के टूटे हुए अस्त-व्यस्त पड़े पत्थरों के अतिरिक्त उतरने का और कोई सहारा नहीं था; हमारे और गम्भीर गर्त के बीच में एक पतली-सी चट्टान मात्र थी। मेरे वृद्ध गुरु, जो मुझसे थोड़े आगे चल रहे थे, बिलकुल थक कर बैठ गए थे। अपनी विचित्र स्थिति में वे पहाड़ी पथ-प्रदर्शकों को पकड़ कर बैठे हुए थे। परन्तु स्थानीय सभी बोलियों के जानकार होते हुए भी उन्हें अपनी बात न समझा सके। अन्त में, उन पथ-प्रदर्शकों ने गुरुजी की बात का सारांश निकाल लिया। वे पूछ रहे थे, "यदि संयोग से मेरा पैर फिसल जाय तो मैं कहाँ जा पड़ूँगा?" इसका सीधा-सा उत्तर उन्होंने यह दिया "बाप जी! आप तो लम्बे रास्ते चले जाओगे।" आबू के धरातल पर यही सबसे अधिक भयानक दृश्य है। आधा रास्ता उतर चुकने पर ऊपर से भयावनी चट्टानें लटकती दिखाई पड़ती हैं तो



नखी सरोवर, श्राबू

चलकर परमारों की वंश-परम्परा में आरूढ हुई। इन शिला-लेखों में प्रथम देवड़ा के किए हुए पट्टे उद्धृत हैं, जिनमें उसने अपने पूर्ववर्त्तियों द्वारा प्रदत्त भूमि एवं अधिकारों को स्वदत्त विशेष दान के साथ चालू (बहाल) रखा है।

चौक के दाहिने सिरे पर हिन्दुओं के प्लूटो (Pluto) देवता, पातालेश्वर का छोटा-सा मन्दिर है जो धरातल से कुछ सीढ़ियां नीचा है; इस देवता के निवास की पैशाचिक गम्भीरता से युक्त कोई भी आकर्षण की वस्तु मन्दिर में नहीं थी, केवल कुछ उपदेवों की छोटी मूर्तियों के साथ पातालेश्वर की मूर्ति एकाकी दीपक के मन्द प्रकाश में दिखाई पड़ रही थी।

एक वेदी पर, जिस पर आसमान की ही छत है, कितनी ही देवमूर्तियां विराजमान हैं जिनका ऐहिक निवास-स्थान नष्ट हो चुका है। इनमें से यमुना के नाथ श्याम की मूर्ति बहुत सुन्दर बनी हुई है; इसी प्रकार के दो खम्भे भी हैं; इनकी ऊँचाई दो-दो फीट है और ये कितने ही विभागों में बँटे हुए हैं, जिनमें देवताओं की उभरी हुई मूर्तियां बनी हुई हैं। यदि ये सिलेनी Sileni[1] की भांति के होते तो इन्हें सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता था। चौक के मध्य में दो पौराणिक मूर्तियां और हैं, जो हिमाचल के पुत्र, नन्दिवर्द्धन एवं उसके मित्र सर्प की बताई जाती हैं। यह वही सर्प है जिस पर वह बैठा हुआ है और जिसने, आपको याद होगा, इन्द्र के वज्र की चोट से बने हुए गड्ढे को भरने के लिए हिमालय के वंशज को प्रेरित किया था। इसके पास ही कुछ सतियों के स्मारक-स्तम्भ हैं जिन पर बढ़िया कुराई का काम हो रहा है और जो चन्द्रावती के ध्वंसावशेषों से लाए गए हैं।

प्राचीन मुनि वसिष्ठ के आश्रम में जो कुछ देखने योग्य था वह सब देख-भाल कर मैं अपने डेरे में लौटा। उस समय शारीरिक एवं मानसिक उत्साह के साथ मैं पूरे सोलह घंटे व्यतीत कर चुका था और अब ज्वर, सर्दी एवं थकान के कारण पस्त था। यद्यपि हरी चाय का एक प्याला उस समय अमृत के समान लगा था परन्तु वह मेरी चेतना को विस्मृति में न धकेल सका। आबू की सम्पूर्ण प्रकृति में कोई बदल दिखाई नहीं देता था; तेज़ हवा प्रत्येक घाटी से ऊँचे-ऊँचे वृक्षों अथवा हज़ारों झण्डों के समान लहराते हुए केले के पत्तों को स्पर्श करती हुई आ रही थी, जिसमें निरन्तर बदले हुए जलप्रपातों का एकान्त

[1] ग्रीक पौराणिक गाथा के अनुसार पर्वतों और वनों का देवता जो डायोनीसस (ई०पू० ४३०-३६७) का मित्र और अध्यापक था।

—The Oxford Companion to English Literature, p. 724.

स्वर भी सर्वोपरि (Super-added) योग दे रहा था। परन्तु, आवाज के इस झमेले में भी परमपिता की स्तुति करते हुए साधु-बन्धुओं का समवेत स्वर सुनाई दे रहा था जो इस दृश्य में (Inharmonious) वेमेल प्रतीत नहीं होता था। पर्वतीय एकान्त में इस साधना के वातावरण से शान्त-भावनाएँ उद्‌बुद्ध हो रही थीं और मुझे मेवाड़ के राणा राजसिंह के ये शब्द याद आए 'मस्जिद में मुल्ला की बाँग सुनो अथवा मन्दिर से घण्टों की आवाज़, दोनों का लक्ष्य एक ही परमात्मा है।' ऐसी ही स्थितियों में हमें अलौकिक दैवी सुरक्षा के मधुर प्रभावों की अनुभूतियाँ होती हैं—जिनकी छाप भावी जीवन से दूर नहीं होती और यह शिक्षा मिलती है कि नित्य-प्रति की मानवीय [भौतिक] वाञ्छाओं से परावृत्त होकर उस पथ से विलग होना चाहिए जो समस्त सांसारिक भोगों के लिए कितना ही महान् क्यों न हो परन्तु वही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। यहाँ एकान्त नहीं है वरन् ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रकृति अपनी सुन्दरतम कृतियों को लेकर सम्भाषण कर रही है। इसी मनोदशा में मेरा ध्यान रामायण के रात्रि-वर्णन की ओर गया—रामायण, जो संसार में प्राचीनतम काव्य है, जिसकी रचना राम के आध्यात्मिक गुरु वाल्मीकि ने की है। प्राचीनकाल में ऐसी प्रथा थी (जो अभी विलुप्त नहीं हुई है) कि राजा एवं सामन्त लोग निज के तथा अपने परिवार के लिए ऋषियों की कुटियों में जा कर नैतिक आदेश ग्रहण किया करते थे; यह उस समय का सुन्दर वर्णन है जब कि दोनों रघु-पुत्र राम और लक्ष्मण वाल्मीकि के आश्रम में गए थे और उन्होंने उनके पूर्वजों के पराक्रम का गान किया था।

'हे राघव! आपका कल्याण हो, आप शयन करें, आपकी निद्रा में कोई विघ्न न हो; सभी तरुवर निष्पन्द हैं, पशु-पक्षी निद्रामग्न हैं और प्रकृति का मुख रात्रि के अन्धकार से अवगुण्ठित है। संध्या धीरे-धीरे रात्रि में परिणत हो गई है और गगनाङ्गण में ज्योतिर्मय आकाश-गंगा एवं तारा-समूह चमक रहा है, मानों आकाश आँखों से भरा हुआ है। संसार से अन्धकार को भगाने वाले [चन्द्रमा] का उदय हो गया है और प्रफुल्ल रात्रि आनन्द से परिपूर्ण है।'[1]

इन्हीं विचारों में डूबता-उतराता हुआ मैं सो गया और जब जागा तो वही समवेत-गान (Chrous) चल रहा था, परन्तु वह मुनि की स्तुति में था या कुवेर (पातालेश्वर) की प्रार्थना में अथवा अन्य किसी महान् देवता के स्तवन में—इसकी मैंने पूछताछ नहीं की। प्रातःकाल सात बजे धुन्ध छाई हुई थी

---

[1] Book I. Sec. 30, Carey and Marshman's Translation, 1808.

जिससे सदैव हरियाली से ढँका रहने वाला वह मठ भी सूखा और ऊजड़-सा दिखाई देने लगा। मैं पहाड़ के किनारे-किनारे मोड़ खाते हुए बाग़ में टहलने लगा जिसमें केवल कुछ साधारण से कन्द और शाक ही लगे हुए थे। मेरा विश्वास था कि सूर्य देवता के उदित होते ही धुन्ध तिरोहित हो जायगी और मुझे कुछ और-और दृश्य देखने को मिलेंगे, परन्तु मेरी यह आशा व्यर्थ गई।

यह मन्दिर सुसम्पन्न है और यात्रियों के उत्साह से यहां के निवासियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। अभी हाल ही में सिरोही के राव श्योसिंह ने इसके जीर्णोद्धार में दस हजार रुपये खर्च किए हैं और आबू की (Cybele) अधिष्ठात्री दुर्गादेवी के एक स्वर्णच्छत्र चढ़ाया है; परन्तु, वेरूर (Berrur) के राणा ने देवी के सम्पूर्ण चढ़ावे में से बंटवारे का वहाना करके देवड़ा राजा की भेंट को वहां से हटा दिया और, प्रत्यक्ष में, देवता के माल को चोरी होने से बचाने की युक्ति अपने लाभ के पक्ष में प्रस्तुत की।

जून १५वीं; जिस बॅरॉमीटर पर मुझे पूरा भरोसा था वह अचलेश्वर से चलते ही टूट गया। वहां इसमें और बचे हुए बॅरॉमीटर में १°४०' से कम का अन्तर नहीं था क्योंकि टूटने वाले में २६°६५' और दूसरे में २५°५५' के अंक थे। वसिष्ठ के मन्दिर पर इसमें २६°२०' तथा थर्मामीटर में ७२° पढ़े गए थे अतः आबू की ठीक-ठीक ऊंचाई ज्ञात करना अभी बाकी ही रह गया था; इसका शोधन या तो समुद्र के तट पर पहुँचने पर हो सकता था अथवा इसकी सचाई जाँचने के लिए और कोई दूसरा उपाय करने पर। अस्तु, इसके द्वारा व्यक्त की गई ऊंचाई का मेल मेरे उस मोटे अनुमान से बैठ जाता है जो मैंने समय-समय पर चढाई करते समय, दृष्टि के अनुमान से अथवा आसपास की भूमि पर दृग्विस्तार करके लगाया था।

सुबह आठ बजे हल्के-हल्के वादलों में हमारी उतराई शुरू हुई। हमारा रास्ता क्रमशः ढालू था जिसमें कई सौ गजों तक राहतियों द्वारा खेती के लिए जमीन निकालने को काट-काट कर गिराये हुए पेड़ों के कारण जगह-जगह रुकावट आती रही। लोहे का खुरपा, जिससे जमीन में बीज (विशेषतः मक्का) के लिए गड्ढा करते हैं, यहां पर हल का स्थान लिए हुए है। उतराई के लगभग एक तिहाई रास्ते तक उन फलों की बहुतायत रही जिनको हिन्दुस्तान में फालसा और करौंदा कहते हैं। आगे चलकर सहसा इनके दर्शन दुर्लभ हो गए। अतः इस स्थान को उसी धरातल पर समझना चाहिए जहां पहले मैंने इन (फलों) को चढ़ाई में देखा था और जहां पर रोगी बॅरॉमीटर ने २७°३५'

अंश बताए थे। बहुत सी कुब्वेदार जड़ें बाहर निकल आई थीं और मुझे लोगों ने बताया कि एक पखवाड़े में अच्छी तरह वर्षा हो जाने पर तो भूमि फूलों से सजड़ हो जावेगी।

ग्यारह बजे (दिन); हम लोग पर्वत की तलहटी में तालाब पर जा पहुँचे जहाँ मिलने के लिए मैंने अपने आदमियों को आज्ञा दी थी; परन्तु वहां न आदमी दिखाई दिए न घोड़े और मुझे गिरवर के सरदार का आभार उठाना पड़ा जिसने सौजन्यवश अपने दो घोड़े मेरे साथ कर दिए थे। एक पर मैंने अपने वृद्ध गुरु को चढ़ा दिया और दूसरे पर एक लंगड़े नौकर को बैठा दिया। मैं गिरवर के जंगल को छान कर चार मील दूर हमारे पड़ाव के स्थान को ढूंढने के लिए अपनी 'स्वर्गीय गाड़ी' पर बना रहा। मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ कि यह घना जंगल आबू की तलहटी के किनारे-किनारे चला गया है; इसको पार करते समय मेरे साथियों की इस छोटी सी टुकड़ी को उसी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा जिसका शिकार गुजरात का बर्बर सुलतान[1] हो चुका था। एक ऊंचे पेड़ से, जो अपनी कोढिया छाल के कारण 'कोढ' कहलाता है, तीव्र क्रोध में भरा हुआ बर्रों का दल निकला और प्रत्येक व्यक्ति पर टूट पड़ा। सबको अपने-अपने प्राणों की पड़ी थी। वृद्ध गुरु ने जॉन गिल्पिन[2] (John Gilpin) की तरह हिम्मत करके अपने घोड़े के एड़ लगाई और हवा में उड़ते हुए उनके सफेद वस्त्रों में वे टूटे तारे के समान दिखाई दिए; सिपाही ने अपनी बन्दूक भी फेंक दी कि उसे दौड़ निकलने में सुभीता मिले; 'स्वर्गीय गाड़ी' और उस पर

---

[1] महमूद बेगड़ा।

[2] विलियम कूपर (William Cowper) की प्रसिद्ध व्यंग्य-हास्य-प्रधान कविता का पात्र। गिल्पिन लन्दन का रहने वाला था और ओलनी (Olney) के निकट उसकी जायदाद थी जहाँ विलियम कूपर १७८५ ई० में निवास करता था। कवि ने वर्णन किया है कि अपने विवाह की २० वीं वर्षगांठ मनाने के लिए जॉन गिल्पिन और उसकी पत्नी ने एडमन्टन नामक स्थान पर जाने का विचार किया। मार्ग में गिल्पिन का घोड़ा बिगड़ गया और एडमन्टन से भी आगे दस मील तक दौड़ता चला गया जहाँ से उसे वापस लौटना पड़ा। रास्ते में गिल्पिन की दशा बड़ी विचित्र हो गई थी जिसका वर्णन परम हास्यप्रद है। कूपर को गिल्पिन की कहानी लेडी ऑस्टिन (Lady Austen) ने सुनाई थी जब वह परम उदास था। इस कहानी को सुन कर वह रात भर हँसता रहा और प्रातः उसने इसको कवितावद्ध कर दिया।

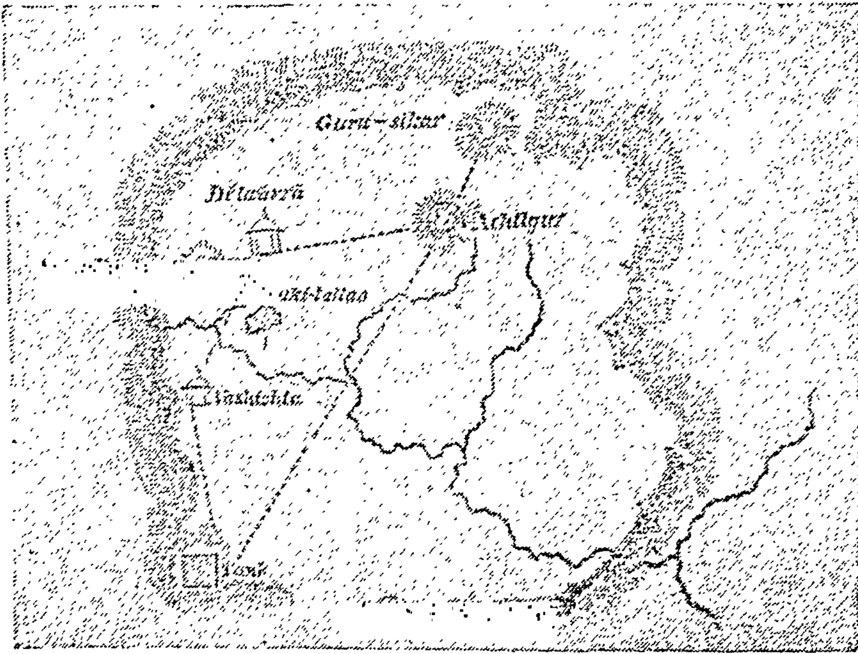
The Oxford Companion to English Literature, Paul Harvey, p. 415.

सवार मुझको भी छोड़ कर वे लोग भाग गए और यदि एक नौकर दया करके मेरे ऊपर अपनी चद्दर न डाल देता तो मैं तो दोनों तरफ से मारा जाता—एक तो इतना बीमार था कि भाग कर बच नहीं सकता था, फिर ऊपर से बर्रें खा जातीं। कुछ तो इस चद्दर के कवच के कारण और कुछ, जैसा कि राहतियों ने कहा, अचलेश्वर के भेंट चढ़ाने के कारण मेरे एक भी डंक नहीं लगा। जिधर से हमला हुआ था उधर से शत्रुओं की भिनभिनाहट कम होने तक प्रतीक्षा करके वह लंगड़ा नौकर ठाकुर की घोड़ी पर, यद्यपि वह पेट में बच्चे के कारण मोटी हो रही थी, पूरी तेजी के साथ 'अली मदद, अली मदद' चिल्लाता हुआ भागा। वह भटियारा बिना पगड़ी या साफे के ही भागता चला गया और बाद में मुझे एक सिपाही को डोली लिवा लाने के लिए भेजना पड़ा क्योंकि बर्रों ने उसे इस बुरी तरह काट लिया था कि वह हिल-डुल भी नहीं सकता था।

दोपहर में हम गिरवर पहुँचे जहाँ मुझे मालूम हुआ कि मेरा लश्कर पालड़ी से उसी समय वहाँ पहुँचा था। यहाँ बॅरामीटर २८°६०′ पर था जब कि पालड़ी में (जहाँ से चढ़ाई आरम्भ होती है) यही यन्त्र २८·४०′ बतला रहा था; इन परिणामों से इसका मूल्य तुरन्त आँका जा सकता था।

मैं अन्यत्र बता चुका हूँ कि यहाँ के लोग आबू की बाहरी परिधि का अनुमान बीस से पचीस कोस अर्थात् चालीस से पचास मील का लगाते हैं। इस अनुमान की सचाई का पता लगाने के लिए मैंने एक मोटा सा ख़ाका नीचे दिया है जो गुरुशिखर से वसिष्ठ के मन्दिर अथवा उतार की तलहटी में तालाब तक पहुँचने के मार्ग के आधार पर बनाया गया है; यह बिलकुल सही है, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु इससे एक ख़याल बनाया जा सकता हैं। इस रेखा की सामान्य दिशा दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम है और इसके सभी मोड़, उतार-चढ़ाव व ऊँचाई को ध्यान में रखते हुए ग्यारह कोस अथवा बाईस मील का अनुमान बैठता है; परन्तु, हम गुरु-शिखर से मैदान तक के सीधे उतार के लिए, यदि यह संभव हो, दो कोस और जोड़ देते हैं, इस तरह इस पर्वत का विस्तार तेरह कोस या छब्बीस मील आता है। अब, यदि इसमें से एक तिहाई भाग कम कर दें तो तलहटी पर का सीधा विस्तार ज्ञात हो जायगा जो इसकी अनुमानित बड़ी से बड़ी परिधि हो सकता है; परन्तु मेरी समझ से यह बहुत ज्यादा है। सम्भवतः यदि हम उत्तर में गुरु शिखर से दक्षिण में वसिष्ठ के मन्दिर तक की सीधी रेखा को आबू का सीधा समतल भाग मान कर अनुमान लगाएं तो अधिक सही परिणाम निकल सकेगा। यह रेखा आठ कोस या सोलह मील की है—उतार-चढ़ाव व ऊबड़-खाबड़ भूमि का सीधा फासला और जोड़ें

तो यह बारह मील से अधिक नहीं आता। इन सत्रह और बारह कोस के अधिकाधिक व्यासों का मध्य-परिणाम लगभग पंद्रह कोस अथवा पैंतालीस [तीस ?] मील की परिधि का आता है जो स्थानीय अनुमान के बराबर ही है।



हिन्दुओं के इस पवित्र पर्वत और ईसाई धर्म से सम्बन्धित माउण्ट सिनाइ (Mount Sinai) के प्राकृतिक दृश्यों में एक विलक्षण समानता है, जो यद्यपि इस स्थान से चार अंश अधिक उत्तर में होते हुए भी तापक्रम में वैसे ही परिवर्तनों के साथ वनस्पति-संसार में इसी प्रकार के परिणाम उपस्थित करता है। आधुनिक यात्रियों में से सर्व-प्रथम स्थानीय निर्भीक यात्री बर्कहार्ड (Burkhardt) भी माउण्ट सिनाइ के शिखर पर वर्ष के उसी भाग में पहुँचा था जब कि मैं आबू पर था अर्थात् जून के मध्य में। उसका कहना है कि तलहटी में थर्मामीटर १००° से ११०° तक चला गया था और उसने शिखर पर इंगलैण्ड की गर्मियों का आनन्द ७६° पर लूटा। इधर मेरे पास थर्मामीटर तलहटी में ९५° से १०८° तक था और शिखर पर ६४° से ७६° पर। उसने बताया कि 'खूबानी, जो काहिरा (Cairo) में अप्रेल के अन्त तक पक जाती है वह सिनाइ पर्वत पर जून के मध्य तक खाने योग्य नहीं थी।' आबू के उसी देशीय फल की भी यही दशा थी जो विभिन्नता में मूसा के पर्वत (Mosaic Mount) पर उत्पन्न होने वाले फल से कहीं बढ़कर था। बर्कहार्ड (Burkhardt) ने सिनाइ[1] (Sinai) की ऊँचाई का उल्लेख नहीं किया है परन्तु तापक्रम और जाड़ों में इसकी चोटी को

---

[1] Mount Sinai की ऊँचाई ७,९५२ पर फीट है।

ढकने वाली वर्फ के आधार पर हम इसका हिसाव लगा सकते हैं; ऐसा दृश्य हिन्दुस्तान में हिमालय के दक्षिण में कभी देखने को नहीं मिलता है ।

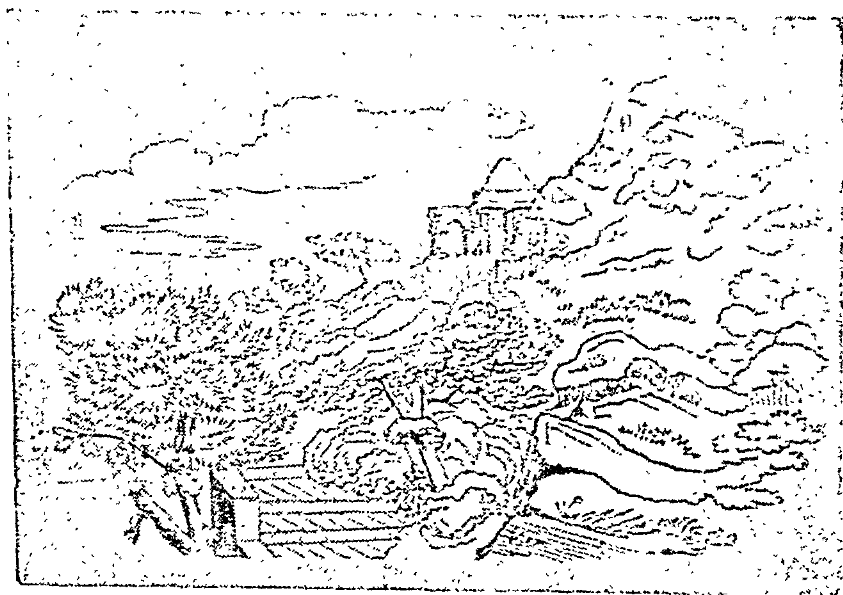
अब, आबू[1] की यात्रा समाप्त हुई, मुझे सन्तोष है; परन्तु अभी चन्द्रावती बाकी है; मुझे भय है कि उसे छोड़ ही देनी पड़ेगी और अपने आपको इसी का अन्वेषक मान कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा । आबू ने मेरा कचूमर निकाल दिया; बुखार बढ़ रहा है, चेहरे और हाथों पर खूब सूजन आ गई है, जो सूर्य की सीधी किरणों के कारण बढ़ भी गई है । सूर्य की तेज़ी का प्रभाव उस समय के वातावरण में और भी अधिक मालूम होता है जब वह अपनी किरणें समेट लेता है । इस मायामय पर्वत की यात्रा करते समय किसी भी योरप-निवासी यात्री को अपनी शक्ति के विषय में भ्रम हो सकता है क्योंकि ठण्डी और उत्साहप्रद हवा उसे परिश्रम के लिए प्रेरित करती है और वही उसे नुकसान भी पहुँचाती है । फिर, मैं यह भी कहूँगा कि जिनके पास इस यात्रा में बिताने के लिए मुझसे अधिक समय नहीं है उन्हें यह प्रयास करना भी नहीं चाहिए क्योंकि यहां के बहुमूल्य और विचित्र भण्डारों को देखने के लिए ही कम से कम एक महीना चाहिए । सविवरण मानचित्र, विभिन्न दृश्यों की चित्रावली, रेखाचित्र, पहाड़ियों और यहां के मन्दिरों के चित्रों के साथ-साथ, यदि सम्भव हो तो, उनका कुछ वर्णन भी, तथा यहां के शासकों का कुछ हाल, यहां की पुराण-परम्परा, विविध मान्यताएं और पशु-पक्षियों, खनिज पदार्थों एवं वनस्पति-विज्ञानकी सामग्री भी साथ हो तो यह सब मिलकर यहां का विवरण एक असाधारण मनोरंजन की वस्तु होगी ।

यह महान् कार्य हम किसी भावी प्रकृति-पुजारी कलाप्रेमी यात्री के लिए छोड़ रहे हैं और उसे इन प्रान्तों में खूब प्रसार करने वाले कवि के शब्दों में यही सूचित करते हैं कि—

---

[1] मैं आबू-माहात्म्य नामक पुस्तक खरीद लाया हूँ (प्रत्येक तीर्थ-स्थान सम्बन्धी पुस्तक को माहात्म्य कहते हैं) जिसमें यहाँ के सभी धार्मिक कार्यों का विवरण है और बीच-बीच में उन राजाओं का भी उल्लेख है, जिन्होंने इन मन्दिरों को समृद्ध किया है अथवा इनका जीर्णोद्धार कराया है; साथ ही, उन आठ हजार प्रकार के पौधों का वर्णन है जो यहाँ के धरातल पर पाए जाते हैं । यह ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और सुलिखित है तथा जहाँ तक मुझे याद है, प्राकृत में है । प्रत्येक पंक्ति के नीचे संस्कृत व्याख्या या रूपान्तर भी किया गया है; परन्तु जब मेरे गुरु यतिजी मेरे साथ थे उस समय मुझे इसको पढ़ने का अवसर नहीं मिला । यह प्रति रायल एशियाटिक सोसायटी के संग्रहालय में सुरक्षित है ।

इस पवित्र भूमि पर ऐसे यात्री आवें,
और इन जादू भरे खण्डहरों में वे शान्ति के साथ घूम जावें,
परन्तु, इन अवशेषों को छेड़ें नहीं, किसी भी मनचले के हाथ
दृश्यों को विगाड़े नहीं; हाय, वे पहले ही कितने विगड़ चुके हैं !
ये वेदियां ऐसे कार्यों के लिए नहीं बनी थीं,
राष्ट्रों (जातियों) ने कभी जिन पर श्रद्धा प्रकट की थी,
उन पर श्रद्धा प्रदर्शित करो,
जिससे कि हमारे देश का नाम कलंकित न हो।



प्रकरण ७

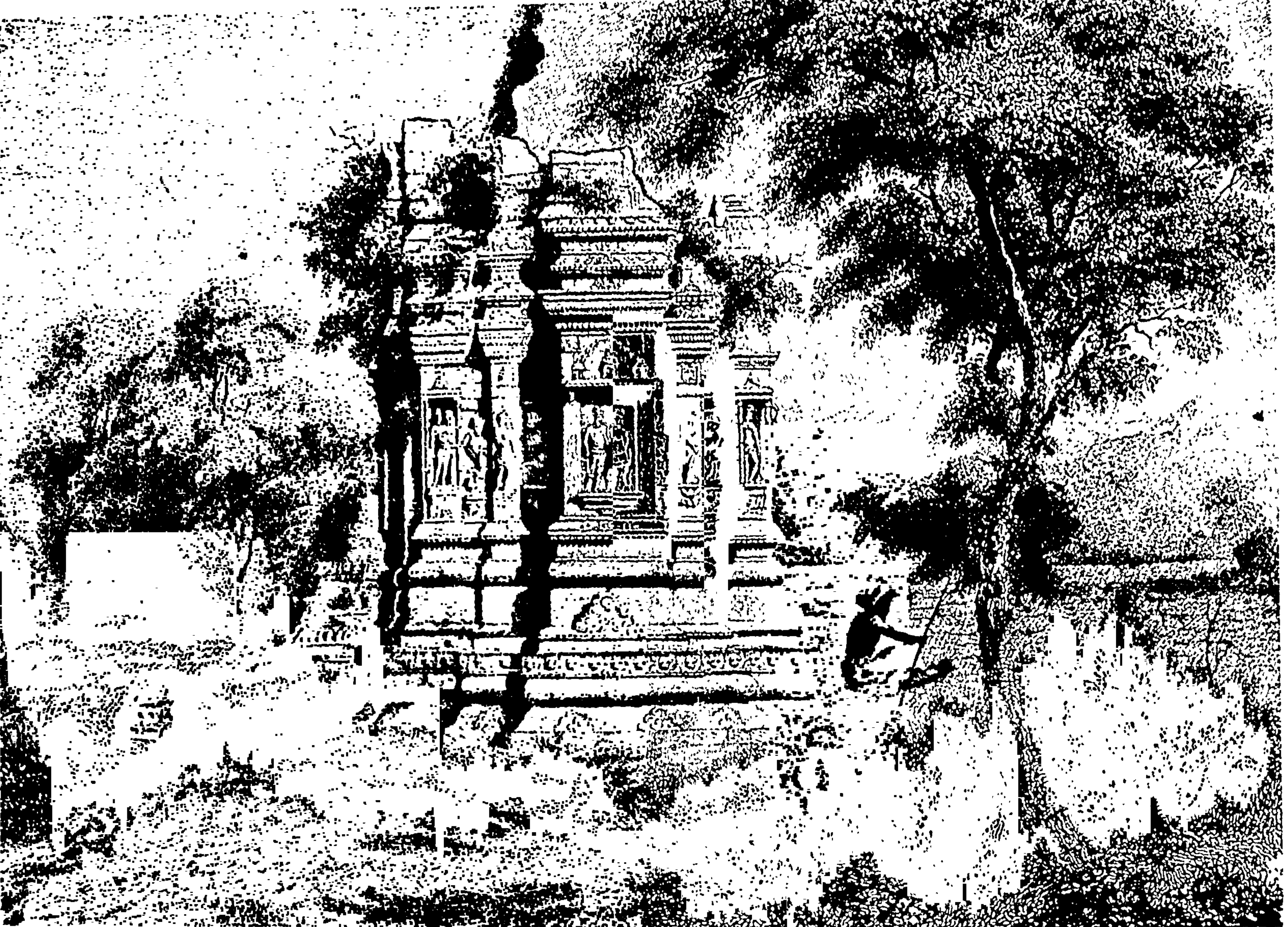
गिरवर; चन्द्रावती; स्मारकों की दुर्दशा; लेखक द्वारा खोज; शिलालेख; चन्द्रावती की युगध्वस्त नगरी का वर्णन; वापिकाएं; सिक्के; श्रीमती ब्लेयर का जर्नल [रोजनामचा]; यात्रा फिर चालू; पुरानी सड़कों का त्याग; पूर्व यूरोपीय यात्रियों के समय में घुमन्तू जातियों के चरित्र; पर्वतश्रेणी; सरोतरा; मैदान में पुनरागमन; चीरासनी [चिन्तासणी]; पाल्हनपुर जिले का दीवान; पाल्हनपूर की पुरातन वस्तुएं; मेजर माइल्स; सिद्धपुर-शिवमन्दिर; रुद्रमाला के ध्वंसावशेष; शिलालेख।

गिरवर–जून १६वीं—वरसाती क्षेत्रों से भारी बादल उमड़े चले आ रहे हैं और यह सूचित कर रहे हैं कि मानसून आने ही वाला है इसलिए मुझे जल्दी ही आगे बढ़ना चाहिए अन्यथा झरनों में बाढ़ आ जायगी और मेरा बड़ौदा पहुँचने का मार्ग रुक जायगा। चन्द्रावती रही जा रही है, इसका मुझे दु:ख है। पाठकों को एतद्-विषयक थोड़े से साधारण विवरण से ही सन्तोष कर लेना पड़ेगा।

चन्द्रावती अथवा, जैसा कि इसको बोलते हैं, चन्द्रौती परकोटे से घिरी होने के कारण नगरी कहलाती है। यह दक्षिण-पूर्व में गिरवर से १० मील के अन्तर पर इसी नाम की जागीर में सिरोही राज्य के अन्तर्गत है। यद्यपि गिरवर के सरदार के सौजन्य और ज्ञापकता के लिए मैं उसका आभार मानता हूँ परन्तु एक पुरातत्त्वान्वेषक के नाते समय और बर्बर तुर्क द्वारा विध्वस्त स्मारकों के विक्रेता एवं नाश करने वाले को मैं क्षमा नहीं कर सकता। यह भावना कदापि सही नहीं है, क्योंकि यह स्थान पहले ही मनुष्य की पहुँच के बाहर है और फिर यहाँ के स्वामी के महान् लोभ के कारण, जिसे प्रतिवर्ष यहाँ की टूट-फूट की बिचौती से अच्छी आमदनी हो जाती है, वे सभी शृङ्खलाएं नष्ट हो जायेंगी जो इसे अतीत से सम्बद्ध किए हुए हैं। प्रकृति की उदारता भी परमारों के गौरव को द्रुतगति से दुर्भेद्य आवरण द्वारा ढँके जा रही है। इन विशाल मन्दिरों में नीरवता का साम्राज्य छाया हुआ है। किसी समय जिन सड़कों पर धर्म और व्यापार से प्रेरित धनाढ्य श्रद्धालुओं की भीड़-भाड़ लगी रहती थी वहां आज शेरों और रीछों ने अधिकार कर लिया है अथवा कभी-कभी इनसे कुछ ही अधिक सभ्य कोई भील भी आ निकलता है। चन्द्रावती के विध्वंस के साथ-साथ व्यापार का मार्ग भी बदल गया और यदि उन घुमावदार रास्तों का प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों में वर्णन न मिलता होता तो उनके बारे में कुछ भी

पता न चलता। मुझे सबसे पहले इसका हाल "भोज-चरित्र"[1] से ज्ञात हुआ जिसमें लिखा है कि जब किसी उत्तर-देशीय आक्रमणकारी ने राजा भोज को धार की गद्दी से उतार दिया तो वह भाग कर चन्द्रावती आ गया था। इससे पता चलता है कि यह नगरी उस समय धार के राज्य में थी। फिर भी, इसकी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए मेरा प्रयत्न बहुत दिनों तक असफल रहा, विशेषत: जब मुझे मालूम हुआ कि इसका नाम बिगड़ कर चन्दीती हो गया है। अन्त में, मेरे दल के एक सदस्य को, जो शिलालेखों को देखने के लिए घूमता था, इसका पता चांपी नामक ग्राम के एक तालाब पर लगा जो अरावली के दक्षिण की ओर कोरावर की जागीर में है। इस शिलालेख में चित्तौड़ के गहलोत राजाओं के और अणहिलवाड़ा के सोलंकियों, चन्द्रावती के परमारों तथा नाँदोल के चौहानों के अन्तर्जातीय युद्धों का वर्णन है जिसमें अपर जाति की वंश-परम्परा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–"अरिसिंह के दो पुत्र कन्हैया और बीत्थुक (Beethuc) बड़े योद्धा थे, जो दोनों ही चन्द्रावती की लड़ाई में श्री भवान गुप्त के साथ युद्ध करते हुए मारे गए। श्री भवान गुप्त के दो पुत्र थे, भीमसिंह और लोकसिंह। वीसलदेव, हाराद्रि कर्ण और मूलराज के आनन्द-मय हृदय में निवास करने वाले बली योद्धाओं को घायल करता हुआ भीमसिंह मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसका भाई श्री लोकसिंह सहस्रार्जुन (आधुनिक चूलि माहेश्वर (Chooli Maheshwar) जो नर्मदा पर है)के नगर को विजय करने के प्रयत्न में अपने शत्रु मालवराज सोमवर्मा के द्वारा वामनस्थली के युद्ध में मारा गया।" बाँध के निर्माता तक पहुँचने से पहले कितनी ही और बातों का उल्लेख भी शिलालेख में है जिसके अन्त में तिथि १३२ दी हुई है जिसका अन्तिम अंक मिट गया है। इस तरह इसे संवत् १३२५ वि० अथवा १२६९ ई० समझना चाहिए। चन्द्रावती के युद्ध का संकेत इससे कोई एक शताब्दी पूर्व का है, जैसा कि इस युद्ध के नायकों के शिलालेखों से ध्वनित हुआ है अर्थात् अरिसिंह चौहान और सोमेश्वर परमार के लेखों से; इनमें से पहला मुझे नाँदोल में और दूसरा हारावती में प्राप्त हुआ था। इस प्रकार राजा भोज के इतिहास से हमें चन्द्रा-वती के दो युगों का पता चलता है; पहला, सातवीं शताब्दी में और दूसरा बारहवीं में। प्रथम युग से भी कितने समय पूर्व से इसकी स्थिति है, इसका निर्णय तो हम अनुश्रुतियों और लोक-गाथाओं के ही आधार पर कर सकते

[1] इसका उल्लेख मैंने भोजराज का काल-निर्णय करने के सम्बन्ध में Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. I, p. 223 में किया है।



चन्द्रावती में एक ब्राह्मण-मन्दिर के अवशेष

हैं। एक तीसरा युग भी हमारे सामने आता है अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी जब कि पश्चिमी भारत की नवीन राजधानी, अहमद के नगर, को जीवन प्रदान करने के निमित्त इस नगरी का बलिदान हो चुका था। मैंने 'इतिहास' में उस वंश का वर्णन किया है जिसने चन्द्रावती के ध्वंसावशेषों से इस नगरी को ही नहीं वरन् गुजरात की प्राचीन राजधानी अणहिलवाड़ा को भी मात करने वाले अहमदाबाद को बसाया था। परन्तु, अहमद का नगर, जिसके स्थापत्य की सुन्दरता हिन्दू-कला की योजना एवं बारीक कारीगरी की दोहाई दे रही है, द्रुतगति से विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। जब स्वधर्म-त्यागी जक[1] (जो इतिहास में अपने मुसलमानी नाम वज़ीर-उल्-मुल्क के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं) के पौत्र अहमद ने नई राजधानी स्थापित करके अपना नाम अमर करने का निश्चय किया और वह स्थान चुना जहां भीलों की एक जाति बसी हुई थी, जिनकी लूट-पाट और आक्रमण देश के लिए भय का कारण बने हुए थे। तब उन लोगों को वहां से उखाड़ कर कीर्तिलाभ की धुन में उसने उस भूमि की स्थानीय खामियों की ओर ध्यान नहीं दिया और वह नगर साबरमती के भद्दे, अस्वास्थ्यप्रद, नीचे और सपाट किनारे पर बन कर खड़ा हो गया। चन्द्रावती की सामग्री को ही अहमदाबाद पहुँचा कर वह सन्तुष्ट नहीं हुआ वरन् उसने निश्चय किया कि शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी वहीं ले जाया जाय अर्थात् घरों और मन्दिरों के मसाले के साथ जनता भी वहीं पहुँच जाय।[2] परन्तु, अपने दोनों तीर्थों, आबू पर्वत और आरासण, के बीच में साबरमती के किनारे पर चन्द्रावती की आत्मा को क्षीण होते हुए जब कोई जैन उपासक देखता तो वह अपने प्राचीन निवास के मन्दिरों पर विशाल मसजिदों के निर्माण का ध्यान आते ही उस नदी के किनारे प्राचीन काल के किसी निष्कासित यहूदी की भाँति सौ-सौ आँसू रो पड़ता था।

अस्तु, चन्द्रावती और इसकी स्थिति पर फिर आइए। गिरवर से यहां तक के मार्ग के अधबीच में दक्षिण-पूर्व दिशा में माहोल [मावल] नाम का ग्राम है, जो इस नगरी का उपनगर कहा जाता है। इसी ग्राम में इसका एक दरवाज़ा खड़ा है। बनास नदी माहोल और विध्वस्त नगर के पास होकर बहती है जो सम्भवतः इसके किनारे पर ही बसा हुआ था। गांव में पहुँचने से पहले एक

[1] ज़फ़र, जो बाद में मुज़फ़्फ़र खान के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मूलतः टाक जातीय क्षत्रिय था।
—राजविनोद महा-काव्य; (रा.प्रा.वि.प्र.) भूमिका, पृ. ११

[2] इसी प्रकार के महान् स्थानान्तरण का प्रयत्न एक बार अहमद से भी बड़े सनकी महमूद खिलजी ने किया था जो दिल्ली को विन्ध्याचल पर ले जाना चाहता था; परन्तु माँडू और अहमदाबाद के भाग्य में समानता ही लिखी थी।

नीची पर्वत-श्रेणी को पार करना पड़ता है जो आबू की तलहटी से ही दक्षिण की ओर शुरू हो जाती है; रास्ता एक घने जंगल में होकर जाता है जिसमें से मेरा सामान भी पार न हो सका। मुख्य नगर में भी अब जंगल ही जंगल उग आया है, कुएँ और बावड़ियाँ पुर गई हैं, मन्दिर ध्वस्त हो गए हैं और बची-खुची सामग्री को गिरवर का सरदार नित्य बरबाद किए जा रहा है; जिसके पास रुचि और पैसा है उसी को वह यह सामान बेच देता है। एक तरफ़ अम्बाभवानी और तरंगी या तारिंगा के मन्दिर और दूसरी ओर आबू, इन दोनों के बीचों-बीच चन्द्रावती है। अम्बा भवानी और तारिंगा के मन्दिर यहां से पूर्व में पन्द्रह मील की दूरी पर हैं तो आबू भी पश्चिम में इतने ही अन्तर पर है। आबू के समान ये मन्दिर भी उतने ही आकर्षक हैं और जैनों तथा शैवों दोनों ही के तीर्थस्थान हैं। यदि हम अनुश्रुति पर विश्वास करें तो ज्ञात होता है कि यह नगरी धार से भी पुरानी थी और पश्चिमी भारत की उस समय राजधानी थी जब कि परमार यहाँ के स्वामी थे और नौ-कोटि मारवाड़ के नवों क़िले भी उन्हीं के अधीन बड़े करद राज्यों में थे। इनका विवरण एक पद्य में अन्यत्र[1] दिया जा चुका है जिसमें बताया गया है कि इस जाति का अधिकार सतलज से नर्मदा तक फैला हुआ था और धार भी उन्हीं के अधीनस्थ एक राज्य था। यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, नगरी शब्द से चन्द्रावती का दृढ़-प्राकार-युक्त होना पाया जाता है परन्तु, फिर भी आपत्तिकाल में आबू का किला ही इसका शरण्य दुर्ग रहा होगा और व्यापारिक मण्डी के दृष्टिकोण से आज इसकी स्थिति कितनी ही दुर्गम्य प्रतीत क्यों न हो परन्तु यह याद रखना चाहिये कि पूर्वीय देशों में धार्मिक और व्यापारिक यात्रा दोनों जोड़ली बहिनें रही हैं। प्रत्येक यात्रा का स्थान व्यापार का केन्द्र भी रहा है। अतः भारत में दोनों प्राय-द्वीपों से समुद्रतटीय व्यापारिक याता-

---

[1] 'इतिहास' भा० १; पृ० ७६०

राजा धरणीवराह ने अपने भाइयों को नव कोट दिए जिसका एक पद्य इस प्रकार है :—

"मंडोवर सावंत हुवो अजमेर अजैसू।
गढ पूंगल गजवंत हुवो लुद्रवै भाणभू॥
भोजराज धर धाट हुओ हांसू पारक्कर।
अल्ल पल्ल अरबुद्द भोजराजा जालंधर॥
नव कोड़ किराडू संजुगत, थिर पंवार हर थप्पिया।
धरणीवराह धर भाइयां, कोट वांट जू जू कियो॥"

दयालदास कृत पंवार-वंश-दर्पण, पृ० ४—दशरथ शर्मा, सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर।

यात के प्रमुख मार्ग से कुछ हटती हुई होने पर भी कतिपय अन्य मार्गों के मध्य में स्थित होने के कारण इस नगरी के अभ्युत्थान के साधन यथावत् बने रहे होंगे। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो आबू पर निर्मित वैश्य-बन्धुओं के मन्दिर को देख लीजिए। इस मन्दिर का निर्माण-काल विक्रम संवत् १२८७ (१२३१ ई०), जो उत्तरी भारत पर इस्लामी आधिपत्य के चालीस वर्ष बाद का है, यहाँ के वैभव की विशालता, शासकों की प्रबल शक्ति, और कलाओं की उस अवस्था को स्पष्टतया व्यक्त करता है जो उस समय तक अक्षुण्ण बनी हुई थी। यद्यपि शिलालेख में लिखा है कि 'चन्द्रावती पर देवतुल्य धारावर्ष का एकछत्र राज्य था' परन्तु, यह स्पष्ट है कि उसने अणहिलवाड़ा की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया था, जिसकी आधीनता से मुक्त होकर उसके पूर्वज जैत ने अपनी राजभक्ति अपनी पुत्री 'बुद्धिमती ऐच्छिनी' सहित दिल्ली के अन्तिम राजपूत सम्राट् पृथ्वीराज को समर्पित कर दी थी।[1] धारावर्ष के बाद परमार अधिक समय तक स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सके, इसका प्रमाण वसिष्ठ-मन्दिर के एक शिलालेख से प्राप्त होता है, जिसमें आबू पर जालोर के राजा कान्हड़-देव चौहान की विजय का उल्लेख है; इसी लेख में एक शपथ भी उल्लिखित है कि यदि परमार अपना स्वत्त्व पुनः प्राप्त कर ले तो वह इस मन्दिर की धार्मिक जागीर को चालू रखे अन्यथा उसे साठ हजार वर्षों तक नरक में वास करना होगा। इस लेख में कोई तिथि तो नहीं दी हुई है परन्तु क्योंकि उसके पुत्र वीरमदेव को अलाउद्दीन ने संवत् १३४७ अथवा १२९१ ई० में जालोर से निकाला था इसलिए यही सम्भव है कि धारावर्ष के पुत्र प्रेलदम (Preladum) [प्रल्हादन] से ही कान्हड़देव ने आबू का अधिकार छीना था। कुछ भी हो, यह एक अस्थायी विजय थी क्योंकि देवड़ों के इतिहास में लिखा है कि राव लुम्बा ने ही आबू पर सं० १३५२ अथवा १२९६ ई० में और चन्द्रावती पर सं० १३५९ अथवा १३०३ ई० में स्थायी रूप से विजय प्राप्त की थी।[2] जिस युद्ध में देवड़ों ने परमारों से सत्ता हस्तगत की थी वह बाड़ेली नामक गांव में

---

[1] अन्तिम भाट कवि चन्द की ३९ पुस्तकों में से एक में उस युद्ध का वर्णन है जिसमें अणहिलपुर के राजा भीमदेव द्वारा धृष्ट आबू की मुक्ति के लिए प्रयत्न किया गया था और जिसका अन्त भीम की पराजय एवं मृत्यु के साथ हुआ था। जैत्र, जिसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था, एक सौ आठ सामन्तों में परम प्रसिद्ध हुआ, और उसका पुत्र लक्षण (लक्ष्मण) चौहान का महामात्य बना।

[2] स्व० गो० ही० ओझा ने यह घटना वि० सं० १३६८ (ई. स. १३११) में होना लिखा है।—सिरोही राज्य का इतिहास पृ० १८७।

हुआ था जहाँ अगनसेन का पुत्र मेरुतुंग अपने सात सौ सम्बन्धियों के साथ काम आया था। इन समयों के बीच-बीच में परमारों के छोटे-छोटे मातहत सामन्तों की संख्या को चौहान कम करते रहे; प्रत्येक विजय के अवसर पर एक नई शाखा उत्पन्न होती रही और इनमें से बहुत सी शाखाओं के बनने में तो उनके प्रमुख की सहायता भी आवश्यक न हुई; उनके वंशजों को प्रमुख की साधारण सी आज्ञा का पालन मात्र करना पड़ता था; मदार और गिरवर आदि के ऐसे ही सरदार हैं।

हिन्दू पुरातत्त्वान्वेषक के लिए ये विवरण कितने ही मनोरंजक क्यों न हों साधारण पाठक को इन भावनाओं में कोई रस नहीं आवेगा इसलिए मैं अब चन्द्रावती से विदा लेता हूँ—उसी चन्द्रावती से जो संवत् १४६१ अथवा १४०५ ई० में राव सुब्बू[1] द्वारा सिरोही की स्थापना होने पर तथा साथ ही अहमदाबाद बसाए जाने पर पूर्णतः नष्ट हो गई थी। मैंने अपने साथियों की एक टुकड़ी खण्डहरों को देखने के लिए भेज दी थी क्योंकि इन अवशेषों में किसी प्रकार की रुचि न रखने वाले मेरे देवड़ा मित्रों की गपशप की अपेक्षा मैं उन लोगों के विवरण से अधिक ठीक निर्णय पर पहुँच सकता था। उन लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण ने अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज को देखने के लिए मेरी इच्छा को जागृत कर दिया—जिस खोज को मैं सिन्धु पर आरोर, जमना [यमुना] पर सूरपुर[2], चम्बल पर वरौली, हाडौती में चन्द्रभागा और ऐसे ही बहुत से विस्मृत नामों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझता। उन्होंने मुझे आनन्दपूर्वक उन बचे-खुचे मन्दिरों और बावड़ियों का विवरण सुनाया जिनके—

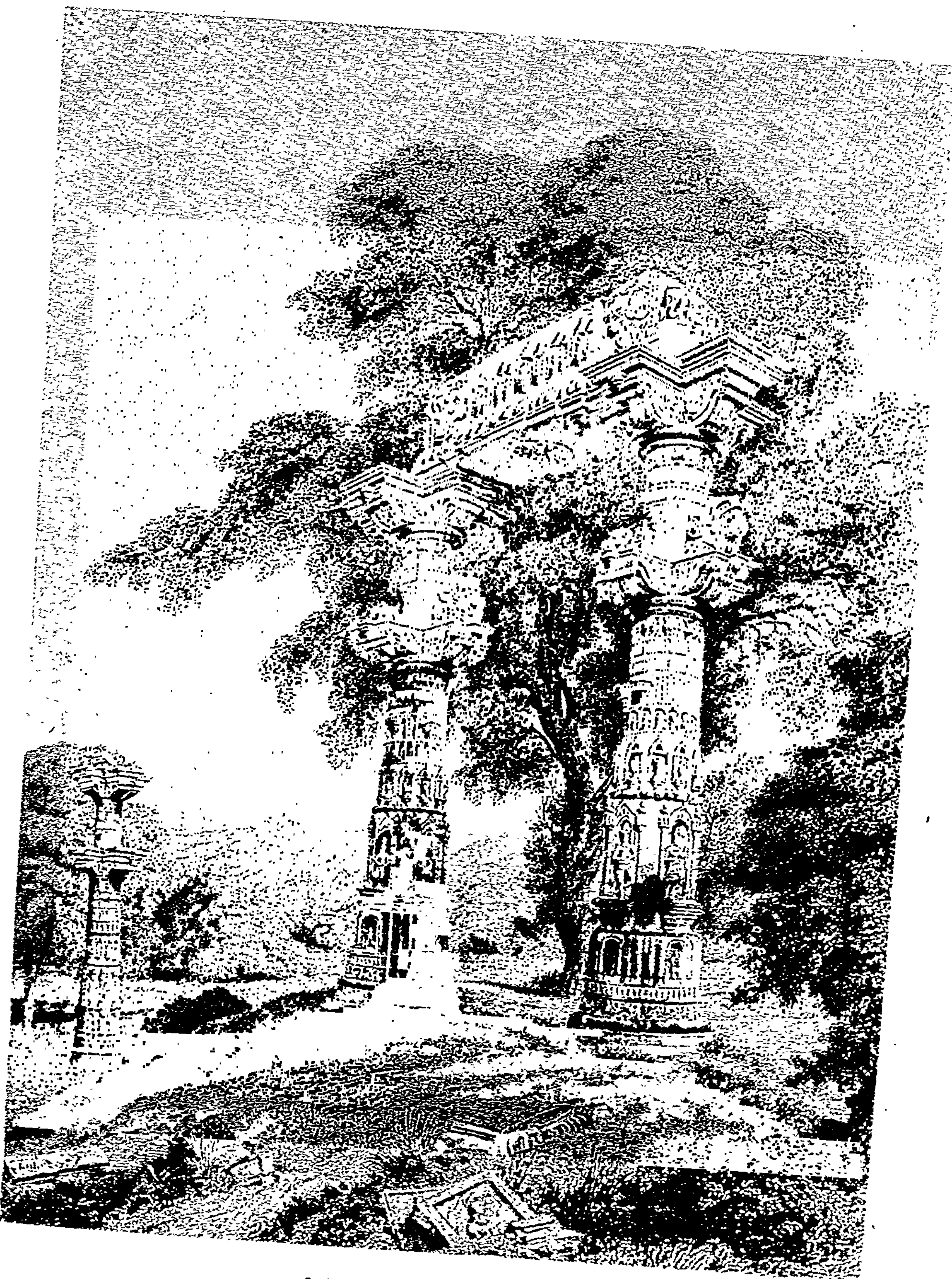
> खम्भे मिट्टी में लिपटे पड़े थे,
> मूर्तियां भग्न हुई पड़ी थीं,
> ये सब ढेरों में इस प्रकार पड़ी थीं मानों युद्ध में फेंकी गई हों,

ये सब किसी भावी यात्री की लेखनी को अमर बनाने के लिए रही जा रही हैं। यह एक विचित्र तथ्य है कि भारत में केवल धार्मिक स्थापत्य ही इस कला की प्राचीन अवस्था का सूचन करने के लिए बचा रह गया है। चित्तौड़ के अति-

---

[1] राव शिवभाण या शोभा ने वि० सं० १४६२ (ई० स० १४०५) में सिरणवा नामक पहाड़ी के नीचे एक शहर बसाया था और पहाड़ी के ऊपर किला बनवाया था जो वर्तमान सिरोही से प्रायः दो मील की दूरी पर अब भी खण्डहर के रूप में मौजूद है। वह नगर अपने संस्थापक के नाम पर शिवपुरी या पुरानी सिरोही कहलाता है। वर्तमान सिरोही नगर राव शोभा के पुत्र सहस्रमल्ल या सैंसमल ने वैशाख सुद २ संवत् १४८२ (१४२५ ई०) के दिन बसाया था।—सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. १९३–१९४

[2] सूरपुर मथुरा का नाम है।



चन्द्रावती में संगमर्मर का स्तम्भ [तोरण]

रिक्त कदाचित् ही कोई नागरिक स्थापत्य का नमूना कहीं देखने को मिलेगा; परन्तु, कहीं भी क्यों नहीं, वे मिस्री स्थापत्य की भांति वाहर की ओर 'ढालू' होने के कारण स्पष्ट रूप से पहचान में आ जाते हैं। घरेलू अथवा पारिवारिक इमारतों में हम उन उपयोगी एवं कलात्मक गड्ढों की गणना कर सकते हैं जो बावड़ियाँ कहलाते हैं; जलाशयों एवं ग्रीष्म ऋतु में रहने के स्थानों की भांति इनका दोहरा उपयोग किया जाता है। इनमें से कोई-कोई तो बहुत बड़ी होती हैं। ये प्रायः २० से २५ फीट तक व्यास की गोल गड्ढों जैसी होती हैं और इनकी गहराई पानी की आव के अनुपात से होती है। पानी के किनारे से धरातल तक एक पर एक बने हुए खण्डों में चारों तरफ कमरों के वर्ग होते हैं, जो गर्मी के दिनों में सरदारों और उनके परिजनों के लिए आराम करने की जगह बन जाते हैं। एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बनी होती हैं। यदि अन्दर की तरफ़ ढाल खूब न रखा जाय अथवा दीवारें खूब मोटी-मोटी दानवाकार न बनाई जाएँ तो वाहर के दवाव और भारत की बड़ी-बड़ी इमारतों को प्रायः खराब करने वाली वनस्पति के कारण ये बावड़ियां कुछ ही शताब्दियों में नष्ट हो जाएं। आजकल के राजाओं के खजानों में तो ऐसी विलास की सामग्रियां बनवाने के लिए शायद ही धन प्राप्त हो सके। मेरी जानकारी में तो दतिया का राजा ही एक मात्र अपवाद है, जिसने एक बड़ी, ठोस और विशाल वापिका बनवाई है।

मेरे अन्वेषक-दल ने इन्हीं खण्डहरों में परमारों के समय के तीन सिक्के भी प्राप्त किए जिनमें से एक पर तो छाप स्पष्ट है। अब, यहां पर थोड़ी देर के लिए मैं अपना नीरस ऐतिहासिक वृत्त रोक देता हूँ और अपनी एक मित्र के विवरण का अंश उद्धृत करके पृष्ठ को सजीव बना देने की चेष्टा करता हूँ। इन मित्र की पैंसिल का मेरी कृति को मुख्य आकर्षण देने के लिए, मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ। संसार को जब यह ज्ञात हो जायगा कि इन अतीत के स्मारकों का अब कोई चिन्ह भी अवशिष्ट नहीं है तो वह इनके वर्णन के प्रति दोहरा रुचि के साथ आकृष्ट होगा।[1] गिरवर के उस विनाशक ने, जिसको मैं पहले ही कोस चुका हूँ, बहुत बुरा काम किया है; और अब वह शिव का शिखरबन्ध देवालय तथा अद्वैतवादी जैनों के भव्य तोरण और मेहराबें आदि सब नष्ट कर दिए गए हैं, लूट लिए गए हैं और बेच दिए गए हैं अथवा ऐसी इमारतों को दृढ

[1] यहां लेखक का अभिप्राय श्रीमती हण्टर ब्लेयर से है, जो अपने रेखा-चित्रों द्वारा 'आबू को इंगलेण्ड ले गई थी।'

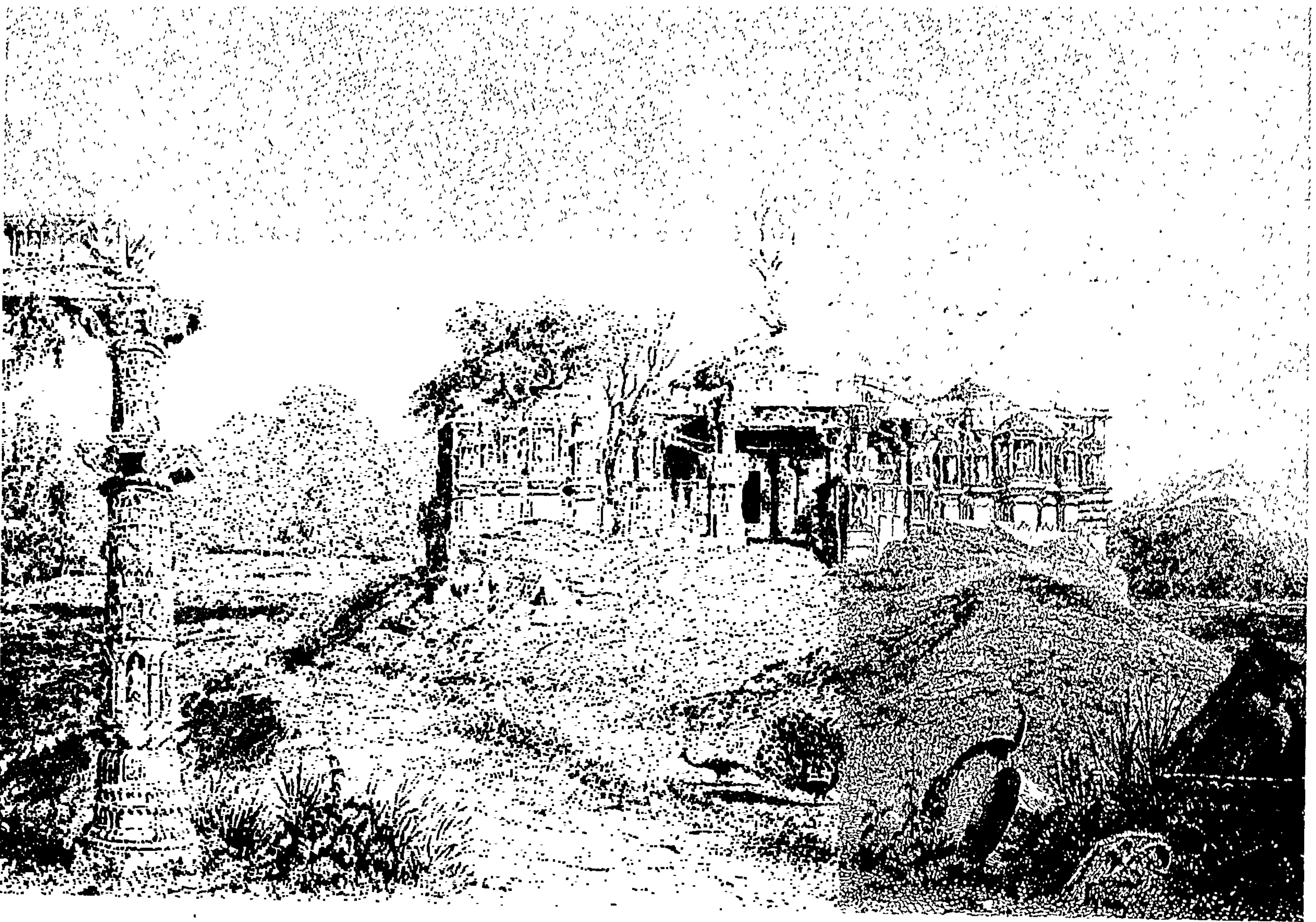
रिक्त कदाचित् ही कोई नागरिक स्थापत्य का नमूना कहीं देखने को मिलेगा; परन्तु, कहीं भी क्यों नहों, वे मिस्री स्थापत्य की भांति बाहर की ओर 'ढालू' होने के कारण स्पष्ट रूप से पहचान में आ जाते हैं। घरेलू अथवा पारिवारिक इमारतों में हम उन उपयोगी एवं कलात्मक गड्ढों की गणना कर सकते हैं जो वावड़ियाँ कहलाते हैं; जलाशयों एवं ग्रीष्म ऋतु में रहने के स्थानों की भांति इनका दोहरा उपयोग किया जाता है। इनमें से कोई-कोई तो बहुत बड़ी होती हैं। ये प्रायः २० से २५ फीट तक व्यास की गोल गड्ढों जैसी होती हैं और इनकी गहराई पानी की आव के अनुपात से होती है। पानी के किनारे से धरातल तक एक पर एक बने हुए खण्डों में चारों तरफ कमरों के वर्ग होते हैं, जो गर्मी के दिनों में सरदारों और उनके परिजनों के लिए आराम करने की जगह बन जाते हैं। एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां वनी होती हैं। यदि अन्दर की तरफ़ ढाल खूब न रखा जाय अथवा दीवारें खूब मोटी-मोटी दानवाकार न वनाई जाएँ तो वाहर के दवाव और भारत की बड़ी-बड़ी इमारतों को प्रायः खराब करने वाली वनस्पति के कारण ये बावड़ियां कुछ ही शताब्दियों में नष्ट हो जाएं। आजकल के राजाओं के खजानों में तो ऐसी विलास की सामग्रियां बनवाने के लिए शायद ही धन प्राप्त हो सके। मेरी जानकारी में तो दतिया का राजा ही एक मात्र अपवाद है, जिसने एक बड़ी, ठोस और विशाल वापिका बनवाई है।

मेरे अन्वेषक-दल ने इन्हीं खण्डहरों में परमारों के समय के तीन सिक्के भी प्राप्त किए जिनमें से एक पर तो छाप स्पष्ट है। अब, यहां पर थोड़ी देर के लिए मैं अपना नीरस ऐतिहासिक वृत्त रोक देता हूँ और अपनी एक मित्र के विवरण का अंश उद्धृत करके पृष्ठ को सजीव वना देने की चेष्टा करता हूँ। इन मित्र की पैंसिल का मेरी कृति को मुख्य आकर्षण देने के लिए, मैं वहुत-वहुत आभारी हूँ। संसार को जव यह ज्ञात हो जायगा कि इन अतीत के स्मारकों का अब कोई चिन्ह भी अवशिष्ट नहीं है तो वह इनके वर्णन के प्रति दोहरा रुचि के साथ आकृष्ट होगा।[1] गिरवर के उस विनाशक ने, जिसको मैं पहले ही कोस चुका हूँ, वहुत बुरा काम किया है; और अब वह शिव का शिखरबन्ध देवालय तथा अद्वैतवादी जैनों के भव्य तोरण और मेहरावें आदि सब नष्ट कर दिए गए हैं, लूट लिए गए हैं और बेच दिए गए हैं अथवा ऐसी इमारतों को दृढ

[1] यहां लेखक का अभिप्राय श्रीमती हण्टर ब्लेयर से है, जो अपने रेखा-चित्रों द्वारा 'आबू को इंगलेण्ड ले गई थी।'

बनाने के लिए तोड़-फोड़ कर काम में ले लिए गए हैं जो उक्त विनाशकों के समान ही अपवित्र और गर्ह्य हैं ।

"परमार राजाओं की प्राचीन राजधानी चन्द्रावती के खण्डहर आबू पर्वत की तलहटी से बारह मील दूर बनास नदी के किनारे घने जङ्गलों वाले प्रदेश में स्थित है। प्राचीन परम्परागत कहानियों और काव्यों में इसका विवरण पाया जाता बताते हैं परन्तु, १८२४ ई० के आरम्भ तक, अर्थात् जब यह निरीक्षण किया गया तब तक, यूरोपवासियों ने इसे कभी नहीं देखा था, जिनको अनुश्रुतियों के आधार पर भी इसका कोई ज्ञान नहीं था और इसका प्राचीन इतिहास भी विलुप्त हो चुका था, केवल थोड़ा सा विवरण कर्नल टॉड के पास बच रहा था। विशाल मैदान पर बिखरे हुए संगमरमर एवं अन्य पत्थर के टुकड़ों के आधार पर यदि निर्णय लिया जाय तो ज्ञात होता है कि यह नगरी बहुत बड़ी रही होगी और यहां की सुन्दरता एवं वैभव का अनुमान अब तक बची हुई विशाल संगमरमर की उन इमारतों से लगाया जा सकता है जिनमें से विभिन्न आकार-प्रकार वाली बीस इमारतों का पता उस समय लगा था जब हिज एक्सलेंसी सर चार्ल्स कॉलविल (Colville) ने अपने दल सहित सन् १८२४ ई० में इस स्थान का निरीक्षण किया था। एक का प्रतिनिधि-रूप से यहां पर वर्णन किया जाता है। यह कोई ब्राह्मण-समाज का मन्दिर है जिसमें आकृतियां और अन्य आलंकारिक वस्तुओं की सजावट बहुत बारीक कुराई एवं उभड़ी हुई रीति से की गई है। मानव-आकृतियां प्रायः मूर्तियों के समान हैं और आधारमात्र के लिए प्रभूत मात्रा में भवन में लगाई गई प्रतीत होती हैं। भारतीय मूर्तिकला में कदाचित् ही कोई अन्य कृति इनकी समानता कर सकती है, और कितनी ही मूर्तियां तो ऐसी हैं जो किसी बहु-परिष्कृत रुचि वाले कलाकार के लिए अपमान का कारण नहीं बनेंगी। यहाँ पर ऐसी एक सौ अड़तीस मूर्तियां हैं। छोटी से छोटी दो फीट ऊँची मूर्तियां हैं जो श्रेष्ठ कारीगरी से बनाये गए ताकों [आलों] में रखी हुई हैं। प्रधान मूर्तियां ये हैं—त्र्यम्बक (अथवा तीन मुँह वाली आकृति) घुटने पर स्त्री बैठी हुई, दोनों एक गाड़ी में बैठे हुए, बीस भुजाओं वाले शिव, वही शिव, जिनके बांई ओर एक महिष है और दाहिना पैर उठा कर गरुड़ जैसी आकृति पर रखा हुआ, महाकाल की एक प्रतिमा जिनके बीस भुजाएं हैं, एक हाथ में बालों से नरमुण्ड पकड़े हुए, अपराधी नीचे पड़ा हुआ और दोनों ओर दो योगिनियां खड़ी हुई हैं, जिनमें से एक तो नरमुण्ड से प्रस्रवित रक्त का पान कर रही है और दूसरी किसी मनुष्य के विलग हाथ को निगल रही है। ऐसी ही और भी बहुत सी आकृतियां हैं जो विविध मुद्राओं में विविध उपकरणों के



चन्द्रावती का एक मन्दिर

साथ बनी हुई हैं। परन्तु यहां सर्वाधिक प्रशंसनीय तो नाचती हुई अप्सराओं की मूर्तियां हैं जो हाथों में मालाएं और वाद्य-यन्त्र लिए हुए हैं; इनमें से अधिकांश आकृतियां बहुत ही गौरवपूर्ण और सुन्दर बनी हुई हैं। यह सम्पूर्ण भवन सफेद संगमरमर पाषाण से निर्मित है, जिसके प्रमुख भागों की आभा अभी तक नष्ट नहीं हुई है; जो भाग खुले हुए हैं अथवा खराब हो गए हैं वे ऋतु और वातावरण के प्रभाव से काले अवश्य पड़ गए हैं परन्तु इससे बारीक कुराई के काम की स्पष्टता घटने की अपेक्षा अधिक बढ़ गई है।

"मन्दिर के भीतरी भाग और मध्य की गुम्बद में काम बहुत बारीक और उच्चकोटि का है परन्तु बाहरी भाग और छत पर से संगमरमर का प्रावरण जाता रहा है। मण्डप के आगे की भूमि में खड़े हुए खम्भे रविश के ही अङ्ग मालूम होते हैं जो कभी मन्दिर के चारों ओर घूम गई थी; ये खम्भे संगमरमर के हैं और ऐसे ही पत्थर की सामग्री, जिसमें मूर्तियां, कोरनिस, खम्भे और शिलाएं हैं, पास वाले चौक में ढेर की ढेर बिखरी पड़ी है।

'और, कितने ही गर्व भरे
तत्कालीन ढेर जंगल की एकाकी शान्ति में उसे घेरे हुए पड़े हैं,
जहां मनुष्य बहुत कम जाते हैं—सिवाय इसके कि कभी-कभी
कोई पूर्वीय लुटेरा इस घने जंगल में वन्य पशु का पीछा करता हुआ आ निकलता है।"

जून १९वीं, सरोतरा (Sarotra) बहुत कुछ थकान दूर होने पर और सिरोही के इतिहास व कवियों [1] से जो कुछ प्राप्त हुआ उससे सज्ज हो कर मैंने अपना डेरा उठा दिया। सुबह १० बजे थर्मामीटर ८६° पर था, बॅरॉमीटर २८°९०′ पर और फ़ासला सामान्य दिशा में द-द० प० में १० मील। रास्ता एक घने जंगल में हो कर था जिसमें अधिकतर धोक के पेड़ थे; यद्यपि पैदल यात्री और बैल इस रास्ते से अच्छी तरह गुज़र सकते थे परन्तु बड़े जानवरों के लिए रास्ता साफ़ करने को मुझे कुल्हाड़ी सहित आदमियों को आगे भेजना पड़ा। उत्तरी भारत और समुद्री बन्दरगाहों के बीच में किसी समय व्यापार के मुख्य मार्ग बने हुए इस प्रदेश के वीरान हो जाने का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा कि यहां की सभ्यता का पतन हो कर यह भाग पुनः आदिम अवस्था को प्राप्त हो गया है? यहां आबू, तारंगी और चन्द्रावती के वैभवों को, जिनमें से कोई नष्ट हो चुका है तो कोई द्रुतगति से नाशोन्मुख है, देख कर तथा

---

[1] यहां मूललेखक ने Scaldo शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'स्केण्डेनेविया के विशिष्ट कवि' है।

उनके शाही निर्माताओं के अरमानों का अनुमान लगा कर हम, हिन्दुओं के 'जगत् नश्वर है,' इस सिद्धान्त पर विचार कर सकते हैं। ये सड़कें जो कभी व्यापारिक संघों [कारवानों] और यात्रियों की भीड़ से भरी रहती थीं अथवा रणतुरगों की टापों से गूंजा करती थीं, आज सूनी पड़ी हैं और उन पर किसी वनवासी कोली के अतिरिक्त कोई चलने वाला भी नहीं है, जो प्राय: जंगलों और चट्टानों में जाकर शरण लिया करता है। यूरोपीय यात्रियों के आरम्भिक काल में यह रास्ता राजपूतों (Razbouts) और कोलियों की आवारा और घुमन्तू जातियों की हरकतों के लिए प्रसिद्ध था जिनके रहन-सहन के बारे में थीवनॉट (Thevenot) और ओलीरिअस। (Olearius) ने जो कुछ विवरण दिया है उससे सिद्ध होता है कि मेरे देवड़ा मित्रों की नैतिकता में शाहजहां के जमाने से अब तक कोई अन्तर नहीं पड़ा है।[1]

गिरवर से चार मील दूर हमने एक झरना पार किया जो कालेड़ी (Kalaire) कहलाता है और जो पूर्ववर्णित (गिरवर) ग्राम से चार मील पश्चिम में मूंगथाल या मूंगथल नामक छोटी सी झील से निकलता है। हमारे दाहिनी ओर ठीक पश्चिम में चार मील पर एक तीन शिखरों वाला ऊँचा डूंगर खड़ा है जिस पर कोलियों की कुल-देवी आया-माता (Aya-Mata) अथवा ईशानी का मन्दिर है। यह माता और घोड़े की मूर्ति—बस, यही दोनों इस आदिम जाति में पूजनीय माने जाते हैं।[2] इस त्रिकूट से एक पहाड़ी श्रेणी पश्चिम में डीसा (Deesa) और दाँतीवाड़ा की ओर आरम्भ होती है; यद्यपि ऊपर से देखने में यह इससे असम्बद्ध दिखाई पड़ती है परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि

---

[1] हमें एक बनजारे व्यापारियों का 'काफ़िला' या कारवाँ मिला जिन्होंने कहा कि उन पर दो सौ लुटेरे राजपूतों ने हमला किया और बचाव के लिए सौ रुपये देने को बाध्य किया। इससे हमें अपनी रक्षा के लिए चौकस होना पड़ा क्योंकि पहले दिन ही उन्होंने दूसरे सौ आदमियों को देखा था, जिन्होंने जो कुछ उनके साथियों को मिला था उसीसे सब कुछ समझ लिया और कुछ नहीं कहा; केवल उनका एक बैल ले जा कर सन्तुष्ट हो गए। परन्तु वे पहले वाले एक सौ से जा मिले और हम पर हमला करने से न चूके।

—Olcarius, Vol. I, Liv. I, I13.

भूमिगर्भ में यह इससे मिली हुई है और साथ ही उस अधिक स्पष्ट श्रेणी से भी, जिसको हमने गिरवर और चन्द्रावती के बीच में पार की थी। आगे चल कर यद्यपि इसका क्रम टूट गया है परन्तु कहीं-कहीं पर इसकी सहज सुन्दर चोटियाँ खड़ी हुई ऐसी मालूम होती हैं मानों आगे फैले हुए दुर्भेद्य जंगल में से अकस्मात् निकल पड़ी हों; उधर, पूर्वीय क्षितिज में अपना सिर उठाए हुये दानवाकार अरावली इस क्रम-भंग को पन्द्रह मील चौड़ी एक सुन्दर घाटी द्वारा, जिसमें बनास का जल वहता रहता है, पूरा कर देता है। इसी बिन्दु से आरासण और तारिंगी के मन्दिरों का मुकुट धारण करने वाला अरावली दक्षिण की ओर चल पड़ा है और थोड़ी बहुत क्रमबद्धता एवं उठान के साथ पोलो और ईडर को घेरता हुआ नरवदा [नर्मदा] तक चला गया है, जो इसे राम-सेतु पर समाप्त होने वाले भारतीय एपिनाइन, कोंकण श्रेणी से पृथक् करती है। मैं यह कहना भूल गया था कि यह क्रमहीन श्रेणी बाईं ओर बीस मील की दूरी पर दाँतल में जाकर समाप्त हो जाती है जो राणा पदवीधारी बरड़ (Burrur) नामक राजपूत जाति के सरदार का निवासस्थान है। कहते हैं कि मूल में यह जाति सिन्ध की घाटी से आई थी। आख्यानों में कहा गया है कि स्वयं भवानी इन लोगों को वहाँ से लाई है और इसी कारण से इन्होंने माता के मन्दिरों में से सोने-चाँदी के चढ़ावे का आधा बाँटा लेने का अधिकार प्राप्त किया है। इसी सरदार ने अर्बुदा देवी के मन्दिर से सोने का प्याला हथिया लिया था और साथ ही उस पर दूसरा अभियोग यह भी था कि उसने दारू (Daroo) सरदार द्वारा चढ़ाए हुए आरासण की देवी के पात्र पर अपना अपवित्र हाथ डाला था। यदि इस सरदार का निकास सिन्ध से ही है तो इसके पूर्वज कितनी ही शताब्दियों पहले उठकर यहाँ आ गए होंगे, यद्यपि इस भयाविनी भवानी का एक मन्दिर और उसके उपासक सिन्धु के पश्चिम में मकरान के किनारे अब भी मौजूद हैं।

गिरवर और सरोत्रा[1] के बीच में कुरैतर (Kuraitur) ग्राम में हमने बनास को पार किया, जो थोड़ी देर के लिए जंगल के प्रच्छन्न भागों से प्रकट होकर सरोत्रा को चली जाती है; वहाँ उसी के किनारे पर हमने अपना डेरा लगाया। वन में चारों ओर जंगली मुर्गों का शब्द सुनाई दे रहा था और कोयल तो सुदूर दक्षिण में चित्रासणी (Cheerasani) तक हमारे साथ रही; कोली लोग

---

[1] सरोत्रा पालनपुर राज्य की उत्तर-पूर्वीय सीमा पर बनास नदी के किनारे पर एक छोटा-सा भीलों का गांव है।

इस पक्षी को 'सुक्खी' अथवा 'सुख देने वाली' कहते हैं। इसका भी ऐसा ही अर्थ है, जैसे कमेडी का अर्थ 'कामदेव का पक्षी' होता है। उदयपुर की घाटी और कोटा के पठार पर भी लोगों ने इस पक्षी को ऐसे ही कुछ नाम दे रक्खे हैं जिनका अर्थ यह होता है कि यह 'कामदेव का प्रिय पक्षी' है। जंगलों और पहाड़ों की गुफाओं के निवासी तथा भद्दे-भद्दे व्यवसाय करने वाले लोगों में ऐसी लाक्षणिक भाषा एवं सांकेतिक अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग देख कर कोई भी मनोवैज्ञानिक भाषाशास्त्री चकित हुए बिना न रहेगा।

सरोत्रा कोलीवाड़ा में है और एक तालुके अथवा दशमांश का थाना है। यहाँ पर भाषा एकदम बदल गई है। सिरोही में तो लोग हमारी बात समझ लेते थे परन्तु यहाँ पर साधारण से साधारण बात समझाना भी बहुत कठिन पड़ता था। ये लोग बर्नियर के मित्र कोलियों के वंशज हैं जो तब तक वही जिन्दगी बिताते रहेंगे जब तक कि यहाँ का यह पुराना जंगल साफ़ न हो जायगा। यह जंगल उतना ही पुराना है जितनी कि स्वयं ईशानी देवी हैं। यहाँ से चन्द्रावती आठ कोस और दांता तेरह कोस गिना जाता है और वसिष्ठ का मन्दिर उ० २५° पू० तथा त्रिकूट वाली पहाड़ी उ० २५° से ३५° पू० पर है।

जून १७वीं – चित्रासणी – दिशा द०द०प०; दूरी साढ़े ग्यारह मील। यहाँ हमारी आँखों को फिर मैदान के दर्शन हुए। पहले सात मील तक रास्ता उसी घने जंगल में होकर है। जहाँ यह समाप्त हुआ है वहाँ हाल ही में पालनपुर के शासक ने एक गाँव बसाया है। दो मील आगे चलकर हमको एक और झरना पार करना पड़ा जो बलराम-नाला (Balaram-Nalla) कहलाता है; यह अरावली से निकल कर चार मील नीचे बने हुए बलराम के छोटे-से मन्दिर के पास बनास में मिल जाता है और इसी से इसका यह नाम पड़ा है। यहाँ आकर वह जंगल समाप्त हो जाता है जिसमें होकर हमें आबू के किनारे से पचीस मील चलना पड़ा था। पहाड़ की वह त्रुटित श्रेणी, जिसका वर्णन मैं कल के मार्ग-विवरण में कर चुका हूँ, कहीं-कहीं ऊँची चोटी के रूप में अपने उसी क्रम से प्रकट हो जाती थी और हमारे मार्ग से चार पाँच मील की दूरी पर समानान्तर चली आ रही थी; इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम में ईशानी श्रेणी भी दांतीवाड़ा की ओर मुड़ गई थी।

आज के दिन की मंजिल खतम होते-होते मिट्टी में बालू की प्रकृति बढ़ गई थी और तदनुसार वनस्पति में भी बदल दिखाई देने लगा था। धो और रंग-बिरंगा पलास, जिसके पत्तों से घास के तिनकों की सहायता द्वारा लोग

प्याले और तश्तरी [पत्तल-दोने] बना लेते हैं, अब दिखाई नहीं देते थे और उनके स्थान पर बबूल, सदा हरे रहने वाले पीलू और करील के (मारवी) पेड़ सामने आ रहे थे। कदम-कदम पर बालू बढ़ रही थी। इस यात्रा में जमीन का ढाल स्पष्ट ही आँखों के सामने था और बॅरामीटर उसकी पुष्टि कर रहा था, जो दोपहर में २८° ८०' पर था और थर्मामीटर ६६° बतला रहा था। चीरासणी के पास एक टीबड़ी पर से मैंने आबू की ओर उ. उ. पू. में अन्तिम बार दृष्टि-निक्षेप किया।

जून १८ वीं—पालनपुर, दिशा द. प., दूरी नौ मील। यह कस्बा एक छोटे से स्वतन्त्र जिले का थाना है जो कि आजकल बम्बई प्रेसीडेंसी में बृटिश सरकार की संरक्षकता में है। आधे रास्ते पर ही यहां का प्रधान, जो कि दीवान कहलाता है, मेरी अगवानी करने के लिए आया और बड़ी आवभगत के साथ मुझको शहर में ले गया। वहां पर उसने मुझे मेजर माइल्स की सहृदयता-पूर्ण संरक्षता में उन्हीं के निवासस्थान पर ठहराया जो उन दिनों वहां के रेजीडेण्ट एजेण्ट (स्थानीय प्रतिनिधि) थे और उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण देख-रेख में वह नगर पूर्ण प्रगति कर रहा था। दीवान मुसलमान है और जालोर व उससे सम्बद्ध भूमि गुजरात के राजाओं द्वारा प्रदत्त जागीर के रूप में कुछ दिनों के लिए उसके पूर्वजों के अधिकार में रहे थे, परन्तु बाद में राठौड़ ने उन्हें वहां से निकाल दिया था। दीवान एक उदीयमान युवक है, उसका व्यवहार भद्रतापूर्ण एवं व्यक्तित्व सन्तोषप्रद और सम्माननीय प्रतीत हुआ। उसके सेवक अधिकतर सिन्धी हैं, जिनको सेवाओं के निमित्त जमीनें मिली हुई हैं। परन्तु, पालनपुर के एक पक्का परकोटा खिंचा हुआ है और इसमें छः हजार घरों की बस्ती बताई जाती है। प्राचीनकाल में यह चन्द्रावती (राज्य) की एक मुख्य जागीर में था और पाल परमार द्वारा, जिसकी मूर्ति यहां पर अब भी वर्तमान है, बसाया जाने के कारण इसका नाम पालनपुर पड़ा[1] तथा इसी से इसका

[1] पालनपुर—प्राचीन काल में यह प्रल्हादन पत्तन कहलाता था क्योंकि चन्द्रावती के धारावर्ष परमार के छोटे भाई प्रल्हादन देव ने इसको बसाया था। कहते हैं कि विक्रम संवत् से दो शताब्दी पहले यह नगर ऊजड़ हो गया था। बाद में पालनसी चौहान ने इसको फिर से आबाद किया इसी से इसका नाम पालनपुर पड़ा। कुछ लोगों का कहना है कि जगान (Jagan) के जगदेव परमार के भाई पाल परमार ने इसे बसाया था। ऐसा लगता है कि देवड़ा चौहानों द्वारा आबू और चन्द्रावती विजय (१३०३ ई०) के पश्चात् पालनसी ने इसकी पुनः स्थापना की होगी। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में चौहानों को दक्षिण की ओर बढ़ते हुए जालोरी मुसलमानों ने अपदस्थ कर दिया, जिनका नेता मलिक यूसुफ़

महत्त्व भी है। इस मूर्ति का जो सम्मान प्रदर्शित किया गया है उसका प्रकार प्राय: समझ मे नहीं आता क्योंकि यह उस चूने के ढेर में गड़ी हुई है जो इसके मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए इकट्ठा किया गया है। मुझे यह तो ज्ञात नहीं है कि यह मूर्ति पालनपुर में ही थी अथवा चन्द्रावती से लाई गई थी परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साधारण वेश-भूषा में समानता होते हुए भी आबू पर जो दैत्य-हन्ता की मूर्ति है उससे यह घटिया बनी हुई है। यह बहुत ही प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इस विषय में मुखाकृति देख कर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह अर्वाचीन नहीं है। पालनपुर को बल्हरा राजाओं में परम प्रकाशमान सिद्धराय महान् की जन्म-भूमि होने का भी गौरव प्राप्त है। यदि यह सच है तो, जैसा कि कुमारपाल के इतिहास में लिखा है, अवश्य हो उसकी माता, राजा कर्ण की स्त्री, हिन्दू कुलदेवी के मन्दिर की यात्रा न करके अपने मूल्यवान गर्भ को लिए हुए मनौती पूरी करने के लिए सिन्धु के पश्चिम में किसी अन्य स्थान की यात्रा के लिए जा रही होगी; इस विषय में विस्तार से फिर कभी लिखा जायगा।

आज और कल के दिन मैं मेजर माइल्स के साथ रहा। ऐसे आनन्द के साथ अड़तालीस घण्टे मैंने बहुत थोड़े अवसरों पर ही बिताए थे क्योंकि मैंने उनमें एक सहृदय मित्र व सह-अधिकारी के ही दर्शन नहीं किए वरन् उनके मस्तिष्क में भी वही रुचि और धुन बसी हुई थी जो मेरे दिमाग़ में घर किए हुए थी। हमारे पास बातें करने और तुलना करने के लिए बहुत कुछ था और पूर्वकालीन जातियों के चरित्र व रहन-सहन के विषय में हमारे निष्कर्ष प्राय: एक समान ही थे। ऐसे जंगलों में अपनी सी ही धुन वाला साथी पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने मेजर के प्रति सम्मान का सर्वोत्तम प्रमाण उन्हें

था। इसके अनुवर्तियों ने औरंगजेब के अन्तिम समय में हुई गड़बड़ियों के अवसर पर अपने आप दीवान पद ग्रहण कर लिया। किसी फारसी अथवा गुजराती इतिहास के आधार पर इस वंश को दीवान पद दिया जाना प्रमाणित नहीं होता। स्थानीय जनश्रुतियों में कहा जाता है कि इसका पुन: संस्थापन बहुत पहले पाँचवीं शताब्दी में हो चुका था।

—Gazetteer of Bombay Presidency, Vol. V
James M. Campbell 1880, p. 318

पालनपुर सम्बन्धी विशेष सूचना के लिए सय्यद गुलाब मियाँ मीर मुन्शी कृत 'पालनपुर की तवारीख़' (उर्दू व गुजराती दोनों में) देखनी चाहिए। यह तवारीख़ पालनपुर रियासत की ओर से १९१२ ई० में प्रकाशित हुई थी।

अपोलोडोटस[1] (Apollodotus) के बैक्टीरियन तग़में की एक प्रति (Duplicate) भेंट करके दिया जो मुझे अवन्ती के खण्डहरों में अथवा अजमेर की पवित्र झील पर प्राप्त हुआ था।

सिद्धपुर; जून २०वीं; हमारे भारतवर्ष के भूगोल के बाल्यकाल में प्रतिभाशाली द' आनविले (D' Anville) ने इस नगर के विषय में लिखा है कि "इस नगर का 'शिस्टे' [श्रीस्थल] नाम यहाँ पर तैयार होने वाले रंगीन चित्रों के कारण पड़ा है"[2] परन्तु इसकी व्युत्पत्ति इसके संरक्षक बल्हरा राजा सिद्धराय के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण और भी गौरवपूर्ण है। कुछ लोग सिद्धराज को इसका मूल निर्माता मानते हैं परन्तु इस बात के प्रमाण और भी प्रबल मिलते हैं कि उसने इस नगर का केवल कायाकल्प ही कराया था, जिसकी स्थिति अम्बा भवानी के मन्दिर से प्रवाहित होने वाली सरस्वती नदी के किनारे बहुत सोच समझ कर रक्खी गई है।[3] पूर्वकालीन हिन्दू स्थापत्य-कला के बड़े से बड़े नमूने यहाँ पर

---

[1] सिकन्दर के बाद उसके राज्य का सीरिया नामक प्रदेश सिल्यूकस के हिस्से में आया। सिल्यूकस के वंशज यूक्रेटाइडेस (Eukratides) के अधिकार में भी बैक्ट्रिया काबुल की घाटी, गान्धार तथा पश्चिमी पंजाब थे। उसके वंशज ई०पू० ४८ के लगभग तक इन भागों पर राज्य करते रहे। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ग्रीक वंश के लोग छोटे-मोटे भारतीय प्रदेशों पर अधिकार कर बैठे थे जिनका पता अब खुदाई में प्राप्त सिक्कों में मिलता है। इन्हीं सिक्कों में अपोलोडोटस प्रथम व द्वितीय के भी सिक्के मिले हैं जिनकी लिपि खरोष्ठी है, इनमें अपोलोडोटस को "माहारजस अपलदत्तस" लिखा है।
पेरीप्लुस (Periplus) के लेखक ने भी अपोलोडोटस और मिनान्डर के सिक्कों का भड़ोंच (Broach) में पाया जाना दर्ज किया है।
—Early History of India—V. Smith p. 242.

[2] ville qui tire son nom des Shites, ou toiles peintes, que s'y fabriquent.

[3] सिद्धपुर सरस्वती के उत्तरी ढालू किनारे पर बसा है। कहते हैं कि मूलराज ने उत्तर भारत से विद्वान् ब्राह्मणों को यहाँ लाकर बसाया था। सिद्धपुरुषों का निवासस्थान होने के कारण यह सिद्धपुर कहलाया। इसका प्राचीन नाम श्रीस्थल अथवा श्रीस्थलक था और यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता था। जिस प्रकार पितरों का श्राद्ध और तर्पण प्रयाग और गया में किया जाता है, मातृवर्ग के पूर्वजों का श्राद्ध व तर्पण सिद्धपुर में होता है। कहा गया है—

"गयाया योजनं स्वर्गः प्रयागाच्चार्धयोजनम्।
श्रीस्थलाद्धस्तमात्रं स्याद्यत्र प्राची सरस्वती॥"

गया से स्वर्ग एक योजन दूर है, प्रयाग से आधा योजन और श्रीस्थल से तो, जहां पूर्व दिशा में सरस्वती बहती है, स्वर्ग केवल हाथ भर दूर रहता है।

एक शिव-मन्दिर के अवशेषों के रूप में प्राप्त होते हैं; यह मन्दिर रुद्रमाला अर्थात् 'युद्ध के देवता रुद्र की माला' कहलाता है; परन्तु इसके भग्नावशेष इतने अस्तव्यस्त हो गए हैं कि इसके सम्पूर्ण रूप की कल्पना करना भी कठिन हो गया है। ये अवशेष मुख्यतः बरामदों अथवा रविशों के हैं; इनमें से एक के विषय में जनश्रुति है कि वह मण्डप के आगे बने हुए नन्दीगृह अथवा छतरी के अवशेष हैं, जिसमें रुद्र का वाहन नन्दी विराजमान था और निज-मन्दिर तो मसजिद में परिवर्तित हो ही चुका है। कहते हैं कि यह इमारत आयताकार थी और पाँच खण्ड की थी; यदि अब तक बचे हुए एक भाग से हम अनुमान लगाएं तो यह एक सौ फीट से कम ऊँची न होगी। यह बचा हुआ भाग दो खण्डों का खण्डहर मात्र है जो चार-चार खम्भों पर टिका हुआ है और तीसरे खण्ड के खम्भे बिना छत के अपनी सीध में—

> अपने ही आधार पर खड़े हैं;
> छत की पट्टियाँ टूट गई मालूम होती हैं,
> परन्तु, कितने ही युगों से यह हँसी उडाते रहे हैं
> सर्दी के तूफानों की और भूचाल के धक्कों की,

जिन्होंने इसके आधुनिक पड़ौसी अहमद के नगर [अहमदाबाद] की शान को धराशायी कर दिया है।[1] मेरे मित्र और सहाध्यायी सम्माननीय लिंकन स्टॅनहोप (Honorable Lincoln Stanhope) की लेखनी से मुझे इस [रुद्र-माला] के एक मात्र अवशेष का वृत्त ज्ञात हुआ है जिसे मैं जनता के सामने प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ। यह खुरदरे वलुआ पत्थर (Sand-stone) का बना हुआ है और कहीं-कहीं दानेदार बिल्लौर के टुकड़े भी इसमें लगे हुए हैं; भवन और सामग्री के अनुरूप स्थापत्य भी मोटा और सामान्य ही है। मुझे यहाँ दो

आजकल प्रचलित जनश्रुतियों के अनुसार बारहवीं शताब्दी में सिद्धराज जयसिंह द्वारा यहां पर रुद्रमहालय (रुद्रमाल) का निर्माण कराने के बाद इस स्थान का नाम सिद्धपुर हुआ। —The Archeological Antiquities of Northern Gujrat—J. Burges, 1903 pp. 58-59.

[1] यहाँ (अहमदाबाद) की सर्वोत्कृष्ट मस्जिद, जिसमें ऐसी मीनारें थीं कि जिन पर चढ़ कर कोई भी व्यक्ति झूल सकता था और जो 'झूलती हुए मीनारें' कहलाती थीं, तथा अन्य बहुत सी सुन्दर इमारतों को भूचाल ने नष्ट कर दिया था और यदि कैप्टेन ग्राइण्डले (Captain Grindlay) की लेखनी उन्हें अपनी मनोरञ्जक पुस्तक 'The Scenery and costumes of Western India' में सुरक्षित न रखती तो उनका पता भी न चलता।

शिलालेख मिले जिनमें से एक से विदित होता है कि राजा मूलराज (अणहिलवाड़ा के सोलंकी वंश के प्रवर्तक) ने इसको संवत् ९९८ (९४२ ई०) में बनवाना आरम्भ किया था और दूसरे से ज्ञात होता है कि सिद्धराज ने इसे पूरा करवाया। इस लेख का अनुवाद इस प्रकार है—'संवत् १२०२ (११४६ ई०) में माघ मास की चतुर्थी कृष्णपक्ष को सोलंकी सिद्ध ने रुद्रमाला को पूर्ण कराया और शुद्ध मन से शिव का पूजन कराया, इससे संसार में उसका यश फैला।'

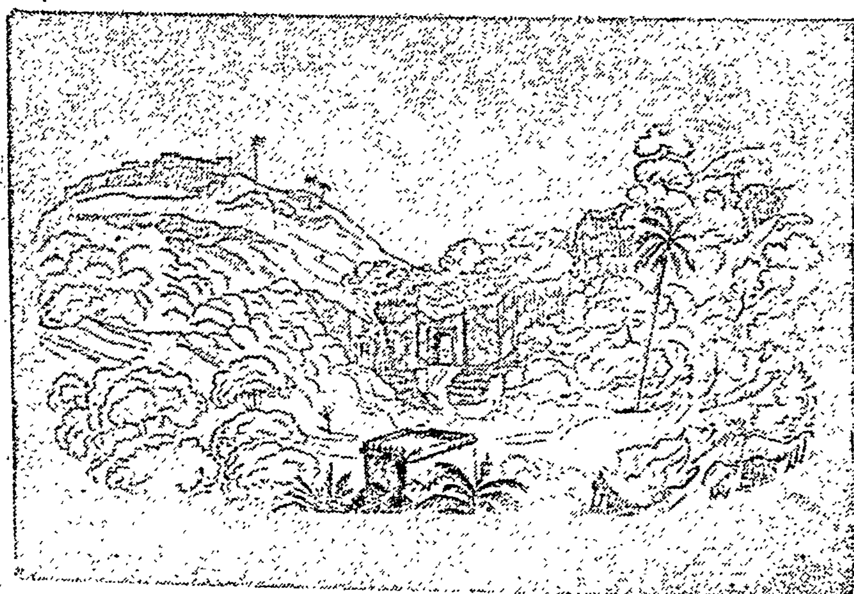
एक पद्य में अलाउद्दीन द्वारा इस (मन्दिर) के विध्वंस का विवरण है—'संवत् १३५३ (१२९७ ई०) में म्लेच्छ अला आया, नरेशों का नाश करते हुए उसने रुद्रमाला का विध्वंस किया।' फरिश्ता के मतानुसार इसी संवत् में गुजरात विजय हुआ और यहाँ के राजा कर्ण का वध हुआ था जिसको इन इतिहासकारों ने भूल से गोहिल लिख दिया है। परन्तु, उस निर्दय अत्याचारी अलाउद्दीन के मन में भी, जिसका नाम ही 'खूनी' प्रसिद्ध हो गया था, कोई न कोई मनोव्यथा अथवा पश्चात्ताप का भाव आ गया प्रतीत होता है; तभी तो उसने मूर्तिपूजकों के विशाल मन्दिर का इतना मात्र अंश बाकी छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त मेरे साथियों ने सांखला भाट (Chronologist) से भी मेरी जान-पहिचान कराई जिसे बहुत सी पुरानी बातें याद थीं और वह बहुत से ऐतिहासिक गीत दोहराता था; एक नमूना यह है—'रुद्र के मन्दिर में १६०० स्तम्भ थे, १२१ रुद्र की प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न कक्षों में विराजमान थीं, १२१ स्वर्ण कलश, १८०० अन्य देवी देवताओं की मूर्तियाँ, ७,२१३ विश्राम-कक्ष, जो मन्दिर के भीतर और बाहर बने हुए थे, १,२५००० कुराईदार जालियां व पर्दे और निशान तथा ध्वज लिए हुए चोबदारों, योद्धागणों, यक्षों, मानवों तथा पशु-पक्षियों की हजारों लाखों पुतलियां बनीं हुई थीं।' सभी पुरावृत्तों में उल्लेख है कि सिद्धराज ने इस मन्दिर के निमित्त एक करोड़ चालीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ व्यय की थीं; परन्तु, प्रत्येक मुद्रा का मूल्य स्पष्ट निर्धारित नहीं है। किसी समय के इस उत्कृष्ट स्मारक के मुख्य अवशेष और आधा भाग अब प्राय: कोली सूत्रकारों के घरों से घिरा हुआ एवं आच्छन्न है; भय यह है कि कभी उनके घर व उनके मस्तक उन पर टूट कर पड़ते हुए रुद्र के मुण्डों[1] से चकनाचूर न हो जायें क्योंकि यद्यपि उनकी नींव चट्टानों में लगी हुई है फिर भी, मुझे बताया गया है कि १८१९ ई० के भूचाल में, जो पूरे

---

[1] युद्ध के देवता रुद्र की माला नरमुण्डों की बनी हुई होती है—ये मुण्ड (खोपड़ियां) प्राचीनकाल में राजपूत वीरों द्वारा पान-पात्र के रूप में व्यवहृत होते थे।

पश्चिमी भारत में प्रभावशील हुआ था, दो बड़े-बड़े खम्भे टूट कर इधर आ पड़े थे। इन अवशेषों का सबसे अच्छा दृश्य इन झोंपड़ियों के अन्दर से ही देखा जा सकता है जो कि सम्पूर्ण चित्र की अग्रभूमि का अविच्छिन्न अंग बनी हुई हैं।





प्रकरण ८

पश्चिमी भारत की प्राचीन राजधानी नहरवाळा; लेखक द्वारा उसकी स्थिति की गवेषणा; प्राचीन भारत के विषय में ग्रीक भूगोल-शास्त्रियों की अपेक्षा अरब भूगोल-वेत्ताओं की लघुता; नहरवाळा अथवा अणहिलवाड़ा की स्थिति विषयक भूलें; गॉसलिन (Gasselin) की भूल और हॅरॉडोटस की संभावित शुद्धता; भारत के टायर (Tyre), अणहिलवाड़ा का पूर्व इतिहास; बल्हरा पद की उत्पत्ति; सूर्य-पूजा; बलभी नगर के अवशेष; बलभी से अणहिलवाड़ा में राजधानी का परिवर्तन; कुमारपालचरित्र अथवा अणहिलवाड़ा का इतिहास; इसके उद्धरण; समकालिक घटनाएं; इस बात के प्रमाण कि भारत में ऐतिहासिक कृतियां अज्ञात नहीं थीं; अणहिलपुर की स्थापना विषयक अनुश्रुति; भारत की तत्कालीन क्रान्ति; नगर की आकस्मिक ऐश्वर्यवृद्धि; राजाओं की सूची; बल्हरा सिक्के; नवीं शताब्दी में मुसलमान यात्रियों के सम्बन्ध।

यद्यपि सुप्रसिद्ध द' आँनविले और वैसे ही प्रतिभाशाली मेरे देशवासी रेनेल (Rennell)[1] के समय से भूगोल शास्त्र में बहुत कुछ प्रगति हो चुकी है परन्तु

---

[1] सुप्रसिद्ध भूगोल शास्त्री। १७५६ ई० में १४ वर्ष की अवस्था में नाविक सेवा में भर्ती हुआ। १७६० ई० में भारत आया। १७६७ ई० में सर्वेयर-जनरल के पद पर उन्नत हुआ। ग्यारह वर्ष के बाद १७७८ ई० में वह रायल एशियाटिक सोसाइटी का मेम्बर चुना गया और १७९१ ई० में ताम्रपदक भी प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त वह 'अफ्रीकन असोसियेशन' और 'रायल ज्योग्राफिकल सोसाइटी' का संस्थापक सदस्य भी था। अपर सोसाइटी ने उसकी मृत्यु के बाद कार्य आरम्भ किया था। उसकी मुख्य कृतियां ये हैं—

(i) A chart of Banks in South Africa (1778)
(ii) A description of the roads in Bengal and Behar (1778)
(iii) Bengal Atlas (1781)
(iv) An account of the Ganges and Burrampootur Rivers पर शोध-पत्र, जो रायल एशियाटिक सोसाइटी में १७८१ ई० में पढ़ा गया।
(v) Camel's rate as applied to Geographical purposes (1791) रा० ए० सो० में पढ़ा गया शोध-पत्र।
(vi) Marches of the British Army in the Peninsula of India (1792)
(vii) War with France, the only security of Britain (1794)
(viii) Geographical System of Herodotus (1800) उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति। लेखक का यहाँ पर इसी पुस्तक से अभिप्राय है।
(ix) A Treatise on the Comparative Geography of Western Asia.

पश्चिमी भारत की राजधानी नहरवाळा की सही स्थिति तो उस समय तक एक अन्वेषण का विषय ही बनी रही जब तक कि १८२२ ई० में मैंने आधुनिक पट्टण के उपप्रान्त में बल्हरा राजाओं के इस ध्वस्त एक्रॉपोलिस[१] (Acropolis) का ठीक-ठीक पता न लगा लिया, जिसका नाम आधुनिक एवं पूर्ववर्ती सभी भूगोल-शास्त्रियों के लिए एक पहेली बना हुआ था। इस उपनगर का नाम अनुरवाड़ा (Annurwara) अथवा अनूहलवाड़ा है, जो यहाँ के राजवंशों के इतिहास के अनुसार अधिक शुद्ध है; इसी का कुछ बिगड़ा हुआ रूप नेहलवड़े (Nehelvare) या नेहरवळे है अथवा जैसा इदरिसी (Edrisi)[२] में है, नहरौरा (Naharaora)

(x) Illustrations of the expeditions of Cyrus and the Retreat of the Ten Thousand.

यह पुस्तक अन्य बहुत सी सामग्री के साथ लेखक की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री ने १८३१ ई० में प्रकाशित की।

(xi) An Investigation of the Currents of the Atlantic Ocean... Indian ocean. Ed. John Purdy (1832)

यह पुस्तक भी उसके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई थी। मेजर जॉन रेनेल की मृत्यु २९ मार्च, १८३० को हुई थी। वह प्रायः १३ वर्ष तक भारत में रहा। उसके जीवन-काल तक इंगलिस्तान में उससे बड़ा भूगोल-वेत्ता पैदा नहीं हुआ था।

E. B., Vol. XX pp. 398-401

[१] ग्रीक की राजधानी एथॅन्स का गढ़।

[२] El Edrisi अल इदरसी—का मूल नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद था। यह शरीफ्-अल इदरिसी-अल-सिकली नाम से भी प्रसिद्ध था। इसका जन्म सियूटा अथवा सिबता (ad-septem) में ई० सन् १०९० में हुआ, जो मोरॉक्को में है। इसके पूर्वज मलागा नगर पर ९ वीं और १० वीं श० में राज्य करते थे। इसी कारण यह अल इदरिसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। युरोप का भ्रमण करने के उपरान्त वह सिसली के बादशाह रॉजर द्वितीय के दरबार में सम्मानित हुआ, जिसकी इच्छा से इसने अपनी प्रसिद्ध भूगोल की पुस्तक नुज़हतुल-मुश्ताक-अफाक्-फी-इख्तिराकुल (अर्थात्, उन लोगों की पसन्द, जो दुनिया में फिर कर सब नज़ारे देखते हैं) की रचना की। इस पुस्तक का पूरा अनुवाद फ्रेंच में १८३६ और १८४० सन् में एम. जौबेंट ने किया था। मूल का एक संक्षिप्त संस्करण रोम से १५९२ ई० सन् में तथा लैटिन भाषा में पेरिस से १६१९ ई० सन् में प्रकाशित हुआ था। हॉर्टमैन ने १७९६ में एक संक्षिप्त संस्करण और निकाला था जिसका शीर्षक 'Edrisii descriptio Africae' रक्खा। स्पेन से सम्बन्धित यात्रा के अंशों का स्पैनिश अनुवाद कोन्डो ने १७९९ ई० सन् में निकाला था। इस पुस्तक की दो हस्तलिखित प्रतियाँ बोड्लियन संग्रहालय में तथा एक आक्सफोर्ड में विद्यमान हैं।

गुजरात के नहरवारा स्थान के सम्बन्ध में इदरिसी का कहना है—'नहरवारा का शासक

है। इस नाम के पीछे कितने ही सुयोग्य ग्रीक, अरब, फ्रांसिसी, अंग्रेज और जर्मन विद्वान् लगे रहे है और इस कहावत को चरितार्थ करते रहे हैं कि 'विद्वानों की भूल भी बुद्धिमत्तापूर्ण होती है।' प्रायः सभी ने अपनी बिखरी हुई ज्ञान की किरणें उन प्रतापी वंशों पर केन्द्रित की हैं जो इस आवृत राजधानी में राज्य करते रहे थे और जो पूर्व में बल्हरा अथवा शुद्धतया बल्ह-राय (Balharaes) 'महान् शासक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जब हम जस्टिन[1] (Justin), स्ट्राबो[2] (Strabo) और एरियन[3] (Arrian) जैसे लेखकों की लेखनी को प्राच्य विषयों पर लिखने

'बल्हरा' पद से प्रसिद्ध है। उसके पास फौज है, हाथी है, वह बुद्ध की मूर्ति का उपासक है, सोने का मुकुट पहनता है और रईसाना लिबास पहनता है......नहरवारा नगर में अक्सर मुसलमान सौदागर आते रहते हैं, जिनके लिए तिजारत की गुंजाइश है।

—The History of India told by its own Historians—'Elliot.'
Vol. (1), 1867. pp. 74–75

—An Oriental Geographical Dictionary—Beale, 1894, p. 175.

[1] Justin—लॅटिन इतिहास लेखक था। उसके व्यक्तिगत जीवन के विषय में स्पष्टतया कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। परन्तु सेन्ट जेरोम (St. Jerome) ने उसका उल्लेख किया है, इससे उसका समय पाँचवीं शताब्दी से पूर्व का निश्चित होता है। वह अपने Historarium Philippicarum Libri नामक महान् इतिहास ग्रंथ के कारण प्रसिद्ध है जिसमें ऐसी बहुमूल्य सूचनाएँ मिलती हैं जो अन्यथा अप्राप्य होतीं।
E. B., Vol. XIII, p. 719.

[2] Strabo—सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक और भूगोलवेत्ता, जो ईसा से लगभग ५४–५५ वर्ष पूर्व हुआ था। उसकी पहली दो कृतियाँ Historical Memoirs और Continuation of Polybius थीं जो अब उपलब्ध नहीं हैं। उसने स्वयं और उत्तरवर्ती लेखकों ने इनका उल्लेख किया हैं। Geography उसका अन्यतम सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो सत्रह भागों में है। पन्द्रहवीं पुस्तक में भारत और पर्सिया का वृत्तान्त है जिसमें अन्य प्राचीन लेखकों के अतिरिक्त सिकन्दर और सिल्युकस के दल के इतिहास-लेखकों के भी आधार ग्रहण किए गए हैं। इनमें से सातवीं पुस्तक अपूर्ण है। इस विद्वान् ने होमर (Homer) के भूगोल-ज्ञान का समर्थन और हॅराडोटस के लेखों का खण्डन किया है।
E. B., Vol. XXII, pp. 581–583

[3] पॅरिप्लस का कर्ता, जो भडौंच या उसी के शब्दों में, बरुगाज़ा (Barugaza) नगर में व्यापारिक प्रतिनिधि के रूप में रहता था; यह बात हमारे सन् की दूसरी शताब्दी की है। उस समय भडौंच बल्हरा साम्राज्य के अन्तर्गत था।

एरियन का समय १४६ ई० के लगभग माना जाता है। वह Periplus of the Erythraean Sea नामक पुस्तक का कर्ता था। भारत के विषय में उसने अपनी इण्डिका (INDIKA) नामक पुस्तक में विवरण दिया है, जिसको उसकी पूर्व कृति एनाबासिस

के लिए प्रेरणा देने वाली अपूर्ण किन्तु स्पष्ट बुद्धि की तुल... सदियों पूर्व के अरब-यात्रियों द्वारा लिखित अस्पष्ट और ... वृत्तान्तों से करते हैं तो इन अपर लेखकों की भूलों का कोई ... में नहीं आता; यद्यपि सभी यूरोपीय लेखकों द्वारा निर्दिष्ट स्थि... शून्य नहीं है परन्तु अरब लेखकों द्वारा वर्णित स्थिति तो इतनी ... वह इस राज्य के किसी भी भाग पर घटाई जा सकती है; और मेरे ... इनसे ऐसा भी संशय उत्पन्न होता है कि ऐसे यात्री कभी पैदा भी हुए ... नहीं ? विशेषत: उन भागों के वर्णन से, जिनसे मैं अच्छी तरह परिचित हो गया हूँ। मैं तो कहता हूँ कि यदि ये वृत्तान्त प्रकाश में न भी आते तो संसार की कोई हानि नहीं होती।

'नवीं शताब्दी के अरब यात्री'[1] नामक पुस्तक के अनुवादक अब्बे रेनॅडो (Abb'e Renaudot)[2] ने एक लम्बी भूमिका में अबुलफ़िदा[3] (Abulféda)

(Anabasis) का ही उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इण्डिका के तीन भाग हैं; पहले में मेगस्थिनीज और इरॅतोस्थिनीज़ (Eratosthenes) के आधार पर इस देश का विवरण दिया गया है; दूसरे में क्रीट निवासी नीअरकॉस (Nearchos) की सिन्धु से पॉसितिग्रिस (PASITIGRIS) तक यात्रा का वर्णन स्वयं यात्री के विवरण के आधार पर किया गया है; और तीसरे में कुछ ऐसे प्रमाण इकट्ठे किए गए हैं कि दुनियां के दक्षिणी भाग अत्यधिक उष्ण होने के कारण बसने योग्य नहीं हैं।

'Ancient India, Magethenes and Arrian' by Mc Crindle, p. 182

[1] Arabian Travellers of the Ninth Century.

[2] Renaudot का जन्म पेरिस में १६४६ ई० में हुआ था। वह प्रसिद्ध धर्मशास्त्री और पुरातत्त्ववेत्ता था। abéé (पूज्य, धर्माचार्य) उसकी उपाधि थी। उसकी प्रसिद्ध पुस्तकें (1) Historia Patriarcharum Alexandrinorum (Paris, 1713) और (2) Collection of Eastern Litergie (2 vols. 1715-16) हैं। उसकी मृत्यु १७२० ई० में हुई। —E. B., Vol. XX, p. 394

[3] अरब के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक और भूगोलवेत्ता अबुल फ़िदा का जन्म दमिश्क में ६७२ हिज़री (१२७३ ई०) में हुआ था। बादशाह सलादीन के पिता अय्यूब का सीधा वंशज होने के कारण वह राजवंश का निकट सम्बन्धी था। उसने १३१० ई० से १३३१ ई० तक हमा'नामक जागीर पर शान्तिपूर्वक राज्य किया।

अबुलफ़िदा के मुख्य ऐतिहासिक ग्रन्थ का विषय 'मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास' है जिसमें संसार की सृष्टि से १३२८ ई० तक का इतिहास वर्णित है। लेखक ने यद्यपि अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के मतों का ही संकलन किया है और यह कहना कठिन है कि

के अनुवादक ग्रीव्स्[1] (Greaves) से लेकर सत्पुरुष सर जॉन चार्डिन[2] (Sir John Chardin) तक अरबी साहित्य के प्रत्येक अनुशीलनकर्त्ता यात्री की आलोचना की है, यहाँ तक कि विद्वान् हाइडे (Hyde)[3] तक को भी नहीं छोड़ा है

इसमें कितना अंश मौलिक है तथा कितना संकलित, फिर भी सरॉसन साम्राज्य के विषय में कितने ही तथ्यों की जानकारी का तो यह ग्रंथ ही एक मात्र स्रोत है। इस पुस्तक के बहुत से अनुवादों के सस्करण प्राप्य हैं। सब से पहला अनुवाद १६१० ई० में लैटिन भाषा हुआ था।

अबुल फ़िदा कृत भूगोल मुसलिम साम्राज्य के विस्तार और विवरण की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है, परन्तु लेखक को ज्योतिष का ठीक ठीक ज्ञान न होने के कारण उसके दिए हुए अक्षांश और देशांश अशुद्ध एवं अविश्वसनीय हैं। इसका सम्पूर्ण संस्करण १८४० ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ था।

उक्त दोनों ही ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ 'बोडलिअन लाइब्रेरी' और फ्रांस की 'नेशनल लाइब्रेरी' में सुरक्षित हैं। —E. B. Vol. I, pp. 60–61

[1] John Greaves का जन्म १६०२ ई० में हुआ था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई और १६३० ई० में वह Gresham College में रेखागणित का अध्यापक नियुक्त हुआ। यूरोप भ्रमण के उपरान्त १६३७ ई० में वह पूर्वीय देशों में भी गया और वहाँ उसने ग्रीक, अरबी व फारसी के बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ एकत्रित किये। उनके आधार पर उसने सम्बद्ध विषयों का व्यापक अध्ययन किया। मिश्र के पिरामिडों के विषय में उसका कार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु १६५२ ई० में हुई।

—E. B., Vol. X, p. 79

[2] Sir John Chardin का जन्म पेरिस में १६४३ ई० में हुआ था। वह दो बार फारस व भारत भ्रमण के लिए आया था। १६८६ ई० में उसने अपनी यात्रा के विस्तृत विवरण का प्रथम भाग 'The Travels of Sir John Chardin into Persia and the East Indies etc.' (London) प्रकाशित कराया। बाद में, १७११ में 'Journal du Voyage du Chevalier Chardin नाम से उसका सम्पूर्ण विवरण निकला। वह इंगलैण्ड के बादशाह Charles II का दरबारी जौहरी था। उसका देहांत १७१३ ई० में हुआ। —E. B. Vol, V, p. 400

[3] Thomas Hyde सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद् था। उसका जन्म Shropshire (श्रॉपशायर) में १६३६ ईस्वी में हुआ था। उसके पिता भी पूर्वीय भाषायें जानते थे और उन्हीं से उसने पूर्वीय भाषा का पहला पाठ पढ़ा था। हाइडे अरबी, फारसी, सीरियाई, तुर्की, मलाई और हिब्रू भाषाओं का बहुत अच्छा जानकार था। १६६५ ईस्वी में कुछ दिन सहायक के पद पर काम करने के बाद वह सुप्रसिद्ध बोडलियन लाइब्रेरी का प्रमुख पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुआ और १७०१ ईस्वी तक उस पद पर कार्य करता रहा। १७०३ ईस्वी में उसकी मृत्यु हुई।

परन्तु, शहरों के नामों में कुछ उच्चारण की समानता और कुछ चाँदी के सिक्कों के उल्लेख के अतिरिक्त यह सभी विवरण सन्देहात्मक और अस्पष्ट सा प्रतीत होता है; और, उक्त दोनों बातों का पता तो वे अपने 'आनन्दप्रद' समुद्रतट को छोड़े बिना किसी साधारण नाविक से पूछ कर भी चला सकते थे। कुछ भी हो, जहाँ तक 'मोहरमी-अल-अदर (कान छिदाने वालों) के बलूहरा राजाओं' का सम्बन्ध है, यह कृति इतनी भ्रामक है कि यदि एम० रेनॅडो की 'प्राचीन सम्बन्ध' (Relations anciennes) नामक पुस्तक न भी प्रकाशित होती तो साहित्यिक जगत् की किंचित् मात्र भी हानि न होती। अरबी और यूरोपीय आलोचक अपने बौद्धिक अनुमानों में पर्य्याप्त समय नष्ट करने के बाद भी इस अन्धेरे विषय पर पूरा-पूरा प्रकाश नहीं डाल सके। समरकन्द के राजवंशीय ज्योतिषी उलुग़बेग़[1] का अनुसरण करते हुए उन्होंने अणहिलवाड़ा की स्थिति

प्राच्य पुरातात्विक विशाल निधि की ओर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने वाले अग्रगण्य विद्वानों में हाइडे की गणना की जाती है। उसकी प्रमुख कृतियों में निम्न लिखित उल्लेखनीय हैं—

१. उलुग़बेगी सारणी के आधार पर देशांश और अक्षांश पर विचार सम्बन्धी ग्रन्थ—१६६५ ई०
२. मलाई भाषा सम्बन्धी ग्रंथ—१६७७ ई०
३. Historia Religionis—१७०० ई०
४. हाईडे के कुछ अप्रकाशित ग्रंथ और लेखादि को डा० ग्रीगोरी शॉर्प (Gregory Sharpe) ने १६६७ ईस्वी में प्रकाशित किया था।
५. हाइडे ने बोडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र भी १६७४ ईस्वी में प्रकट किया था।

—E. B., Vol. XII, p. 426-27

[1] मिर्ज़ा मुहम्मद बिन शाह रुख उलुग़ बेग़ समरकंद के बादशाह तैमूर महान् का पौत्र था। वह ज्योतिष शास्त्र का महान् विद्वान् था। उसने समरकंद में एक वेधशाला भी बनवाई थी जहाँ से सूर्य, चन्द्र और अन्य ग्रहों का वेध करके सारणियां प्रसारित की जाती थीं। इन सारणियों के साथ बड़े रोचक वक्तव्य भी निकलते थे जिन से त्रिकोणमिति और ज्योतिर्गणित पर प्रकाश पड़ता था। Sedillot (सीडीलोट) ने पेरिस से १८४७ ईस्वी में इनको प्रकट किया और बाद में १८५३ ई० में इनका अनुवाद भी प्रकाशित किया। (Prolegomenes des Tables Astronomiques d'Ouloug Beg)
उसने अरब सारणियों का भी शोधन किया था।

उलुग़ बेग़ का जन्म १३९४ ईस्वी में हुआ था; वह १४४७ ई० में समरकंद के तख्त पर बैठा और १४४९ ई० में उसके सब से बड़े पुत्र ने उसकी हत्या कर दी।

—E. B., Vol. XXIII, p. 722

जयपुर के संस्थापक महाराजा सवाई जयसिंहकारित 'जीच उलुग़ बेगी' का संस्कृत अनुवाद महाराजा जयपुर के नगर-प्रासाद-स्थित पोथीखाने में उपलब्ध है।

२२° अक्षांश उत्तर में निश्चित की है, और इस प्रकार इसे खम्भात की खाड़ी में खींच कर बन्दरगाह बना दिया है जब कि इस प्राचीन राजधानी की सही स्थिति २३°४८' उत्तर और २७°१०' देशान्तर पूर्व में है। बारहवीं शताब्दी में अल इदरिसी (El Edrisi) ने इससे नितान्त भिन्न विवरण दिया है। यह तो ठीक है कि उसने बहुत थोड़ा लिखा है परन्तु बल्हरा राज्य के विस्तार, वैभव, व्यापार और धर्म के विषय में जो कुछ लिखा है वह सही और तथ्यपूर्ण है, और वह सब मेरे एतद्विषयक सभी पूर्वनिष्कर्षों की पुष्टि करता है।

सौभाग्य से, और बहुतों के लिए दुर्भाग्य से, वह समय लद चुका जब कि साहित्यिक छल चल जाता था, अथवा जब हॅरॉडोटस[1] (Herodotus) जैसे अविश्वसनीय विद्वानों की सारहीन और अशुद्ध कृतियाँ गॉसलिन (Gosselin) जैसे लोगों के पृष्ठों पर तथ्य-रहित चाकचक्य-युक्त प्रकाश डाला करती थीं। इस सुप्रसिद्ध भूगोल-शास्त्री ने भारतीय भूगोल के पिता, हमारे रैनेल (Rennell) पर अपना सारा क्रोध इसलिए उँडेल दिया है कि उसने यह कल्पना करने का साहस किया कि सिन्धु (इण्डस) के मत्स्याहारी अथवा नरभक्षी पदीनों को सुन्दर गङ्गा के किनारे बसाया जा सकता था; और इस भूल के लिए परम उदारता दिखाते हुए यह अनुमान लगा बैठा कि उसने यह भूल 'पद्धर' (गंगा का संस्कृत नाम) शब्द के कारण की है—और, इसके प्रमाणस्वरूप वह आनन्दपूर्वक पॉम्पोनिअस मेला (Pomponius Mela) का प्रमाण भी देता है। एक प्राचीन भौगोलिक भूल के आधार पर कि पद्दर (Paddar) नाम की एक नदी अजमेर की पहाड़ियों से निकल कर कच्छ की खाड़ी में गिरती है, वह यह मान बैठा है कि हॅरॉडोटस के पदीन वहीं होने चाहिएँ, और हमारे देशवासी के "पदीनों को गंगा के तट पर रहने वालों में मिला देना, एक विचित्र ही कल्पना है[2]" वाक्य

---

[1] हॅरॉडोटस का जन्म ई० पू० ४८४ में हुआ माना जाता है। उसने महान् विश्व-इतिहास-ग्रंथ लिखा था जिसमें प्रायः तत्कालीन सभी ग्रीक ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। हॅरॉडोटस ने अपनी २० से ३७ वर्ष की अवस्था तक संसार के अधिकांश भाग में भ्रमण किया—मुख्यतः एशिया माइनर, यूरोपीय ग्रीस और बहुत से प्रायद्वीपों में। बाद में वह एन्थेस से इटली में जाकर बस गया था। उसने अपने ग्रंथ की विस्तृत भूमिका भी लिखी है। यद्यपि उसका लेख परिमाण में बहुत अधिक है परन्तु उत्तरवर्ती अनुसंधानकर्त्ता उसको प्रामाणिक नहीं मानते हैं। वह पृथ्वी के चपटी होने के सिद्धान्त को नहीं मानता था। भारतवर्ष के विषय में उसका ज्ञान अधूरा था।

— Ancient India, Mc Crindle, p. Intro. xv

[2] 'Idée bizarre de chercher ā confondre les Padeens avec les Gangarides'.

—'Recherches sur la Geographie des Anciens' par Gasselin.

(टिप्पणी पृ० १५२ पर चालू)

पर क्रोध कर बैठा है। अमूर्त की छाया पर झगड़ते हुए विद्वानों का विवाद भी एक मनोरंजन की वस्तु बन जाता है; अजमेर से निकल कर पद्दर नाम की कोई नदी कच्छ की खाड़ी में नहीं गिरती है और लूनी नदी पर, जो वहीं से निकल कर सिन्धु से आप्लावित वृहद् रण में जा मिलती है, कोई पदीन नहीं रहते। हॅरॉडोटस ने पदीनों को शिकारी और कच्चा माँस खाने वाले वताया है, अतः सम्भव है कि उसने भारत में अब तक 'पारधी' कहलाने वाली शिकारी अथवा वहेलिया जाति के बारे में सुन लिया होगा; परन्तु, इन लोगों के व्यवसाय के समान इनका निवास-स्थान भी स्थायी नहीं है।[१]

अब हम अणहिलवाड़ा राज्य के विषय में इसी के इतिहास से उद्धरण देते हुए इसकी वर्तमान स्थिति एवं निजी पर्यवेक्षण के आधार पर कुछ बातें प्रस्तुत करेंगे।

जिस प्राचीन नहरवाला के अन्वेषण में द' ऑनविले तत्पर था उसके विषय में तो हमें वृद्ध यहूदी पैगम्बर के समान यही कहना पड़ेगा कि 'वे भग्न-हृदय होकर तुम्हारे लिए यह कहते हुए विलाप करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे कि टायर (Tyre) नगर कैसा'क था?' अणहिलवाड़ा बन्दरगाह न होते हुए भी भारत का

Gangarides शब्द का संस्कृत रूप 'गाङ्गराष्ट्रिय' बताया गया है, परन्तु Lassen ने इसे विशुद्ध ग्रीक शब्द माना है। सामान्यतः गंगा के तट पर बसे हुए अथवा घूमने-फिरने वाले जन-समुदायों के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। Periplus के अनुसार गङ्ग (Gangé) इनकी राजधानी थी। Pliny का कहना है कि Parthalis इनकी राजधानी थी, जो 'वर्धन', आधुनिक बर्दवान, के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। सम्भवतः दक्षिण विहार के 'गोङ्ग्री', उत्तर-पश्चिम के 'गाङ्गयी' और पूर्वीय बंगाल के 'गङ्गरार' इसी Gangaride शब्द के परिवर्तित रूप हैं जो मूलतः उस समय एतद्देशीय समस्त जन-समुदाय के लिए व्यवहृत हुआ हो।

वैसे, संस्कृत में 'गङ्गाटेय' अथवा 'गाङ्गटेय' शब्द हैं, जिनका अर्थ 'गङ्गातट पर घूमने-फिरने वाले लोग' और 'मत्स्य विशेष' दिया गया है। स्वाभाविक है कि तटवासी मत्स्याहारी तो थे ही।—वाचस्पतयम् और त्रिकाण्डशेष कोष।

[१] इसी लेखक द्वारा हमें (पृ० २२२) यह भी गम्भीर सूचना प्राप्त होती है कि Syrastrene (साइरास्ट्रीनी) नाम की उत्पत्ति Syrastra—साइरास्ट्र [सौराष्ट्र(?)]—नामक एक छोटे-से गाँव से है (Vers le fond du Golfe de Cutch) जो कच्छ की खाड़ी के पास है; फिर, भाग ३ के पृ० २२४ पर स्वर-उच्चारण के साम्य के आधार पर ही यह तथ्य निर्धारित किया गया कि "Dunga se reconnoit avec une simple transposition de deux letters daus le petit village de Gundar."

टायर (Tyre) था क्योंकि भारतीय बन्दरगाह तो खम्भात में था; परन्तु, यह भी असम्भव नहीं है कि प्राचीन टायर नगर ने यहाँ के बहुमुखी व्यापार में योग दिया हो जिसके कारण अफ्रीका और अरब का माल अति प्राचीनकाल से विभिन्न शाखाओं में बँट गया था, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सॉलोमन के साथी और वाहक हिरम के नाविकों ने भारत के सीरिया, सौर भूमि, का मार्ग उस समय तक तलाश नहीं कर लिया था।

ऐतिहासिक काव्य 'कुमारपाल-चरित्र' में अणहिलवाड़ा के राजवंशों का चित्रण हुआ है। इस काव्य में से उद्धरण देने के पूर्व यहाँ के क्रमानुगत राजाओं द्वारा प्रयुक्त 'बल्हरा' पद का उद्गम अवगत करने के निमित्त इससे भी पहले के युग का अनुशीलन करना अधिक संगत होगा। भारतवर्ष के सुन्दरतम प्रदेश सौराष्ट्र में बहुत पहले आकर बसने वाली जातियों में बल्ल या वल्ल (Balla) नामक जाति[1] थी जिसको कुछ विद्वानों ने महान् इन्दुवंश की शाखा बतायी है—इसी लिए इसका नाम 'बलि का पुत्र' (Bali ca putra) पड़ा है, जिसका मूल (बालिक-देश), (Balica des)[2], Balk (बल्क) अथवा ग्रीकों का बेक्ट्रियां (Bactria) है। इस अनुश्रुति के मूल में कुछ भी तथ्य छुपा हो, परन्तु इस जाति के राजाओं को भाटों द्वारा दिये हुए 'ठट्ठ मुलतान का राय' (Tatta Mooltan ca Rae) विशेषण से इसका प्रबल समर्थन अवश्य हो जाता है। एक दूसरे अधिकारी विद्वान् का मत है कि राम के ज्येष्ठ पुत्र लव (जिसको लौ Lao बोलते हैं) के पुत्र का नाम बल्ल था। उसने धऊक (Dhauk)[3] नामक प्राचीन नगर को विजय किया था जो मूंगी-पट्टन कहलाता है और वही वळा-खेत्र (Bala-Khetra) नाम से प्रसिद्ध इस क्षेत्र की राजधानी है। कालान्तर में, इस वंश के लोगों ने वलभी की स्थापना की और 'बाल-राय'[4] का पद ग्रहण किया। इस प्रकार ये लोग सूर्यवंशी थे, न कि इन्दु-

---

[1] इसी कारण यह प्रदेश 'वल्ल-मण्डल' कहलाया।
—एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १८, पृ० ९५

[2] मिस्टर एल्फिन्स्टन ने बताया है कि इसका पूर्व-गौरव इसके विशेषण 'अम-अल-बेलाद' —Um-ul-Belad (नगरों की माता) से प्रतीत होता है।

[3] सौराष्ट्र में 'ढाँक' या 'ढंक' नामक स्थान से तात्पर्य है। Dhank के स्थान पर Dhauk मुद्रित होने से शायद यह गड़बड़ी हुई है।

[4] 'बालराय' अथवा 'बल्हरा' पद का सम्बन्ध 'वल्ल-प्रदेश' के राय अथवा राजा होने से है, केवल सोलंकी-वंश के राजाओं से ही नहीं। वलभी का राज्य ७६६ ई० के लगभग नष्ट हो चुका था और चौलुक्य राजा मंगलीश की मृत्यु के बाद उसका राज्य दो भागों में बँट गया था। उनमें से पुलकेशिन् के वंशज वल्लभ कीर्तिवर्मा को पराजित करके मान्यखेट के राष्ट्रकूट-वंशीय दन्तिदुर्ग ने ७५३ ई० के लगभग उसका राज्य हस्तगत कर लिया था और 'वल्लभराज' अथवा 'बालराय', जिसका अपभ्रंश 'बल्हरा' है, उपाधि ग्रहण की थी।

वंशी। मेवाड़ के राणा भी इसी वंश के हैं। ढाँक का वर्तमान शासक भी, जो मेरे उधर से निकलने के समय बन्दी था, बल्ल-वंशी ही है। बल्ल लोग केवल सूर्य की ही उपासना करते हैं और सौराष्ट्र में ही इस देवता के मन्दिर अधिक मिलते हैं।[1] इस प्रकार धर्म, उद्गम-सम्बन्धी जनश्रुति और आकृति आदि सभी बातों से यह विदित होता है कि इस जाति का उद्गम इण्डोसीथिक शाखा से हुआ है, और सम्भवतः म्लेच्छवंशीय होने की बात छुपाने के लिए राम के वंशज होने की कथा गढ़ ली गई है। वलभी, जिसको मानचित्र में वळेह[2] (Wulleh लिखा है और जिस [मूल] ग्राम का अब पता भी नहीं लगता है, की परिधि बारह अथवा पन्द्रह कोस बताई जाती है। यहाँ की नीवों में से अब भी बड़ी-बड़ी ईंटें खोद कर निकाली जाती हैं जो डेढ़ से दो फीट तक लम्बी होती हैं; परन्तु, इस विषय में फिर लिखेंगे। अरब-यात्रियों के बल्हरों अर्थात् टॉलेमी[3]

उसके वंशज भी इस पद का उपभोग ९७३ ई० तक करते रहे। तदनन्तर चौलुक्य-वंशीय तैलिप द्वितीय ने राष्ट्रकूट कक्कराज द्वितीय से पुनः यहाँ का राज्य छीन लिया। इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा० ११, पृ० १११ पर एक दानपत्र उद्धृत है, जिससे उक्त बातों की पुष्टि होती है।

[1] **बड़ौदा में भी एक सूर्यनारायण का मंदिर है; गायकवाड़ के प्रधान मन्त्री इसके उपासक हैं। यह प्रधान मन्त्री पुरवई (Purvoe) जाति के हैं, जो, मैं समझता हूँ, प्राचीन गुब्र (Guebre) जाति से निकले हैं। यदि मैं भूलता नहीं हूं तो बनारस में भी एक सूर्य-मन्दिर है।**

[2] वल्ल-मण्डल।

[3] Ptolemy (टॉलमी) मिस्र का निवासी सुप्रसिद्ध ज्योतिषी, गणितज्ञ एवं भूगोल-वेत्ता था। उसके जन्म-स्थान, समय एवं अन्य जीवन-वृत्तान्त के विषय में स्पष्टतया कुछ भी ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि वह अलॅक्ज़ॅण्ड्रिया में ईसा की दूसरी शताब्दी में पैदा हुआ था। यह भी कहा जाता है कि वह टॉलमी राजवंश का था और "अलॅक्ज़ॅण्ड्रिया का राजा" कहलाता था। परन्तु, इन बातों के लिए कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। टॉलमी ही पहला विद्वान् था जिसने ग्रीक ज्योतिष का क्रमबद्ध विषय-विवेचन किया था। उसका सब से बड़ा ज्योतिष-ग्रन्थ 'Megale Syntaxis les Astronomais' बताया जाता है, जो अरबी नाम 'अल् मॅजॅस्त' (Al magest) से अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में नक्षत्रों की गति, उनके प्रभाव एवं ग्रीकों द्वारा प्रयुक्त ज्योतिष-यन्त्रों का विस्तृत विवरण दिया गया है। कापर्निकस द्वारा निरस्त होने तक उसके सिद्धान्त सर्वमान्य रहे।
उसके भूगोल-ग्रन्थ Geographike Syntaxis का भी बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमें वर्णनात्मक सूचनाएँ तो बहुत कम हैं परन्तु विभिन्न देशों की अक्षांश और देशांश-स्थिति बताते हुए एक विशाल सूची दी हुई है। (चालू)

(Ptolemy) के बालेकूरों (Balekouras) के उद्गम के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है क्योंकि दूसरी शताब्दी में मिस्र के इस शाही भूगोल-शास्त्री को इस ओर भी ध्यान देना पड़ा था।

अब हम कुमारपालचरित्र में से वे उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनमें वंश और राजधानी के परिवर्तन का वृत्तान्त उस समय से आरम्भ होता है जब चावड़ों (Chaura) अथवा सौरों (Sauras) ने वल्लों से राज्य ग्रहण किया और राजगद्दी को वलभी से अणहिलवाड़ा ले आए। यह ग्रन्थ[1] अड़तीस हजार श्लोकों में है और इसका मूल संस्कृत में है; इसके रचयिता जैनों के प्रसिद्ध गुरु सैलग सूर आचार्य[2] ने जिस राजा के नाम पर, मुख्यतः उसीका चरित्र वर्णन करने के निमित्त, इसकी रचना की है उसने ११४३ [११३३] ई० से ११६६ ई० तक राज्य किया था। उसके कुल अथवा सोलंकी वंश के इतिहास को पूर्व-वर्ती चावड़ा वंश से सम्बद्ध करने के लिए ग्रंथकार ने संवत् ८०२ (७४६ ई०)

भारत विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने अपने पूर्ववर्ती भूगोल-शास्त्री हॅक्टोइस, (Hectoeus), ई० पू० ५००, हॅरॉडोटस—ई० पू० ४८४-४३१—टीसिअस (Ktesias), ई०पू० ३९८, डायोडोरस (ई०पू० १००-१०० ई०), प्लूटार्क, स्ट्राबो (ई०पू० ६०-१९ ई०), कर्टिअस (Curtius) १०० ई०, एरिअन–२०० ई०, जस्टिनस (५०० ई० से पूर्व), मेगस्थनीज़ (ई० पू० ३०५), इरॉटोस्थिनीज़ (ई० पू० १४०), प्लिनी (२३–७९ ई०) और मॅरिनोस (१२० ई०) आदि के लेखों से पर्याप्त सहायता ली थी।

—Ancient India as described by Ptolemy--Mc Crindle pp. 1927, Intro., xiii–xviii.

विशेष—क्लॉडियस टॉलेमी कृत 'अल मजॅस्त' का अरबी से संस्कृत भाषामें अनुवाद करके उसी के अधार पर जयपुर-नगर-संस्थापक सवाई जयसिंह के गुरु सम्राट् जगन्नाथ ने 'सिद्धान्त कौस्तुभ' नामक ग्रंथ की रचना की जिसकी एक हस्तलिखित प्रति महाराजा जयपुर के पोथी खाना में उपलब्ध है।

[1] इस ग्रन्थ का एक संस्करण गुजराती भाषा में है और इसी की संवत् १४९२ (१४३६ ई०) में लिखित प्रतिलिपि उदयपुर में महाराणा के पुस्तकालय से प्राप्त कर के सर्वप्रथम मैंने अनुवाद किया था। यह स्पष्ट है कि इसी संस्करण के आधार पर अबुल फज़ल ने अपने गुजरात के पूर्व इतिहास का ढाँचा तैयार किया था और उसमें राजवंशों की तालिका दी थी। बाद में, अणहिलवाड़ा के पुस्तकालय से मुझे संस्कृत मूल की भी एक प्रतिलिपि मिल गई जिसका भी मैंने जैन यति की सहायता से अनुवाद कर डाला, जो गुजराती संस्करण से पूर्णतः मिल गया। ये दोनों ही अनुवाद मैंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिए।

[2] शीलगुण सूरि, जिनको क० टॉड सैलग सूरि लिखते हैं, कुमारपालचरित के कर्ता नहीं, जैन आचार्य थे, जिन्होंने वनराज को अपने संरक्षण में रखा था। वास्तव में, क० टॉड को जो कुमारपालचरित्र की प्रति मिली थी वह सैलग सूरि की कृति नहीं थी। जिन-मण्डन गणि कृत कुमारपालप्रबन्ध (सं०) का रचना-संवत् १४९२ है। जिसके आधार पर ऋषभदास कवि ने सं० १६७० में गुजराती भाषा में 'कुमारपालरास' की रचना की है। जिन-मण्डन गणि ने 'अड़तीस शास्त्रों' की रचना की थी जिसको भूल से क० टॉड 'अडतीस सहस्र' समझ गए, ऐसा लगता है।

में सोलंकी-वंश की स्थापना के समय से, जब कि अणहिलवाड़ा की नींव पड़ी थी, वर्णन आरम्भ किया है और अपने वर्णनीय (कुमारपाल) के पूर्ववर्ती राजाओं का भी बहुत थोड़ा-थोड़ा वृत्तान्त लिखा है। इनके वर्णन में उसने वंशराज [वनराज] चरित्र अथवा अणहिलवाड़ा के संस्थापक के इतिहास का आश्रय ग्रहण किया है। उक्त ग्रन्थ का मैंने पता तो लगा लिया था परन्तु एक तनिक सी भूल के कारण मैं उसकी प्रतिलिपि प्राप्त न कर सका।

मैं यहाँ पर न तो उस क्रम का अनुसरण करूंगा जिसमें यह ग्रन्थ लिखा गया है और न शब्दशः इसकी आवृत्ति ही करूंगा वरन् केवल उन्हीं अंशों को लूंगा जो इस राज्य के अतीत गौरव के विकास का समर्थन करने के निमित्त आवश्यक हैं और जो विभिन्न राजवंशों के समयानुक्रम की तालिका से आरम्भ होते हैं। जिन राजाओं के कार्य उल्लेखनीय हैं उनके विषय में कुछ टिप्पणियां दे दी गई हैं। मैं यह भली भांति जानता हूँ कि ऐसे विवरण सर्वसाधारण की रुचि के विषय नहीं होते; अतः ये विशेषतः उन्हीं लोगों के लिए हैं जो आँख मींच कर यह मान बैठे हैं कि हिन्दुओं के पास ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसी कोई वस्तु ही नही है।

अणहिलवाड़ा के राजवंश

प्रथम—चाउड़ा, चावड़ा अथवा सौर वंश

राजा का नाम	राज्यारोहण काल		राज्यकाल	विशेष
	संवत्	सन्		
वंसराज	८०२	७४६	५०	Chronicle इतिहास कहता है 'उसने ५० वर्ष राज्य किया और वह ६० वर्ष जीवित रहा।
जू[जो]ग राज	८५२	७९६	३५	
खीमराज	८८७	८३१	२५	प्रथम अरब यात्री [२३७ अल हिज़री, ८५१ ई०]
व्यो[वी]रजी	९१२	८५६	२९	द्वितीय [अल हिज़री २५४, ८६८ ई०]
वीरसिंह [वैरिसिंह]	९४१	८८५	२५	
रत्नादित्य	९६६	९१९	१५	
सामन्त	९८१	९२५	७	संवत् ९८८ अथवा सन् ९३२ ई० तक राज्य किया।
			१८६	

द्वितीय - सोलंकी वंश

मूलराज	९८८[1]	९३२	५६	सिद्धपुर के स्मारक का आरंभ किया
चाउण्ड अथवा चामुंड	१०४४	९८८	१३	अबुल फजल के मतानुसार हिज़री ४१६ अथवा सं० १०६४ में महमूद से पराजित हुआ
वल्लिराव अथवा वलभी सेन	१०५७	१००१	१$\frac{1}{2}$	महमूद ने एक पुराने राजा को गद्दी पर बिठाया था; संभवतः वह यही 'वलभी' [वल्लभ] था।
दुर्लभ अथवा नाहर राव	१०५७	१००१	११$\frac{1}{2}$	धार के राजा भोज के पिता मुञ्ज का समकालीन जिससे वह भीमदेव को राज्य सौंपने के बाद मिला था
भीमदेव	१०६९	१०१३	४२	मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं का १०४४ई. में संघटन किय
कर्ण	११११	१०५५	२९	कोलियों और भीलों को वश में किया
सिद्धराज जयसिंह	११४०	१०८४	४९	
कुमारपाल	११८९	११३३	३३	
छोनीपाल, अजयपाल अथवा जयपाल	१२२२	११६६	३	कन्नौज के जयसिंह का समकालीन
भोला भीमदेव	१२२५	११६९	३	दिल्ली के पृथ्वीराज का विरोधी
वाल्लो [वाल] मूलदेव	१२२८	११७२	२१	सं. १२४९ अथवा सन् ११९३ ई० तक राज्य किया
			२६१	

[1] क. टॉड द्वारा दिये हुए सभी सन् संवतों में दस या अधिक वर्षों का अन्तर है; ये विश्वसनीय नहीं हैं। विशेष विवरण के लिए देखें—रासमाला 'रॉलिसन' भाग १, अध्याय ४।

तृतीय - बाघेला वंश जो, शिलालेखों में अब भी चालुक्य कहलाते हैं।

बीसलदेव	१२४९	११९३	१५	
भीमदेव	१२६४	१२०८	४२	आबू के शिलालेख
अर्जुनदेव	१३०६	१२५०	२३	सोमनाथ के लेख
सारङ्गदेव	१३२९	१२७३	२१	
गेहला कर्णदेव	१३५०	१२९४	३	संवत् १३५४ अथवा सन् १२९८ ई. में समाप्त; फरिश्ता के मतानुसार एक वर्ष पहले समाप्त।
			१०४	

पहले दोनों वंशों की तालिकाएँ केवल कुमारपालचरित्र के आधार पर दी गई हैं, जिसमें कुमारपाल तक ही विवरण प्राप्त है। इस वंश के शेष नाम एवं तीसरी तालिका अन्य दो स्रोतों से प्राप्त की गई है। पहला, उसी शाखा के, अब मेवाड़ में बसे हुए, सोलंकी सरदारों के भाट से प्राप्त वंशावली है; और दूसरा, भौगोलिक और ऐतिहासिक विषयों आदि के एक फुटकर संग्रह में दी हुई वंशावली है, जो पश्चिम की बोली में है और एक जैन यति से प्राप्त हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त इन राजवंशों के तिथिक्रम की जाँच मैंने बीस वर्षों के शोधकाल में एकत्रित शिलालेखों से भी कर ली है, जिनको अन्य वंशों के इतिवृत्तों की प्रतिलिपि से टकराने पर एक ऐसे समतिथिक्रमात्मक प्रमाण की रचना हो जाती है जो कि बिरले ही पौर्वात्य इतिहासों में देखने को मिल सकती है। संक्षेप में ये सभी बातें आगे चल कर हमारी जानकारी में आवेंगी। प्रसंगवश हम यहाँ पर यह भी कहेंगे कि सन्त अबुलफज़ल ने हमारे देशवासी आलोचकों की तरह आँख मींच कर यह फ़तवा नहीं दे दिया था कि हिन्दुओं के पास इतिहास जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। उसने अपना 'गुजरात के राजाओं का संक्षिप्त इतिहास' इस प्रकार आरम्भ किया है "हिन्दुओं की पुस्तकों में लिखा है कि विक्रमाजीत के संवत् ८०२ तदनुसार अल हिज़री सन् १५४[2] में बंसराज पहला राजा हुआ

---

[1] इस संग्रह में अणहिलवाड़ा के सभी राजवंशों की तिथिक्रमानुसार तालिका, पश्चिमी बनास के उद्गम एवं मार्ग तथा पुरातत्व-विषयक अन्य कितनी ही मनोरञ्जक बातों का विवरण दिया हुआ है।
इन तालिकाओं में दिया हुआ तिथिक्रम 'रासमाला' से भिन्न है।

[2] यहाँ पर अबुल फज़ल (अथवा उसके अनुवादक) की कालगणना गलत है। सं० ८०२-५६ =७४६ ई० आता है, परन्तु, हिजरी सन् १५४ के अनुसार ७७१ ई० होता है; अतः २५ वर्ष का अन्तर आता है। अणहिलवाड़ा की स्थापना एवं राजवंशों के विषय में हम हिन्दू तिथियों का ही अनुसरण करेंगे जिसके अनुसार अणहिलवाड़ा की नींव संवत् ८०२ अर्थात् ७४६ ई० में रखी गई।

जिसने गुजरात का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।" उसने कुछ ऐसे विवरण भी दिए हैं जो किसी अंश में 'चरित्र' से भिन्न हैं परन्तु यह स्पष्ट है कि उसके लेख का आधार वही है।

अब, यदि संवत् ८०२ (७४६ ई०) में अणहिलवाड़ा की स्थापना से लेकर संवत् १३५४ (१२६८ ई०) में अलाउद्दीन द्वारा इसके विध्वंस तक हुए राजाओं की एक अविशृंखल श्रेणी प्राप्त हो सकती है, जो शार्लमन, खलीफा हारूं[1] और और सैक्सन हैप्ट्रार्क्स्[2] (Saxon Heptrarchs) से लेकर प्लाण्टाजेनेट जॉन (Plantagenet John)[3] तक पूर्वीय राजाओं के समकालीन हुए हैं, तो क्या फिर भी हमें यही कहा जायगा कि हिन्दुओं के पास इतिहास जैसी कोई वस्तु नहीं है? यदि इसका अर्थ यह हो कि इतिहास-शास्त्र केवल समयानुक्रमगत घटना-वर्णन से ही सम्बद्ध नहीं है तो क्या संवत् १२२० में एक जैन साधु ने कुमारपाल द्वारा वल्हरों का राज्य हस्तगत करने के कारणों का विवेचन करना उचित नहीं समझा केवल इसी लिए हम यह कहने के अधिकारी हैं कि उसके द्वारा वर्णित तथ्य इतिहास से सम्बन्धित नहीं हैं? सैक्सन (Saxon)[4], अल्स्टर[5] और फ्रांस के

---

[1] बगदाद का खलीफा (७८६-८०६ ई०)

[2] सात एंगलो-सैक्सन राजा, जिनके अधिकार में इंगलैण्ड सात राज्यों में विभक्त था। राज्यों के नाम ये थे—Kent, Essex, Wessex, Sussex, Merica, East Anglia और Northumbria. यह समय ४४६ ई० से नवीं शताब्दी तक का माना जाता है।
N. S. E., p. 632

[3] देखिए टिप्पणी पृ० ४६

[4] Saxons प्राचीन टयूटॉनिक जाति के लोगों का नाम है। टॉलमी ने ही सब से पहले इनका उल्लेख किया है और उत्तर जर्मनी में इनका निवास बताया है। ये लोग बड़े वीर गिने जाते हैं। "Sahs" एक छोटे चाकू को कहते हैं। ऐसे ही शस्त्र रखने के कारण ये सैक्सन कहलाए। कुछ लोगों का मत है कि सैक्सन एक जगह घर बना कर बसने वाले लोगों को कहते हैं। ये साधारणतया मूर्तिपूजक धर्म को मानने वाले थे। शार्लमॅन से इनकी लम्बी लड़ाई चली परन्तु अन्त में इनकी हार हुई और इन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। इंगलैण्ड के विकास में इनका बड़ा योग रहा है।
N.S.E., p. 1104

[5] Ulster—अल्स्टर आयरलैण्ड के एक परगने का नाम है। आयरलैण्ड के इतिहास और विकास में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

तत्कालीन इतिहासों को उठा कर देखिए; ह्यूम[1] (Hume), हैलॅम (Hallam)[2] और वरनेंट (Vernet)[3] आदि की बड़ी-बड़ी वर्णनात्मक इमारतों के आधार विवरणात्मक हैं अथवा शास्त्रीय ? इसलिए, इस धारणा को हम उन्हीं लोगों की अनुभवशून्यता का उपशमन करने के लिए छोड़ देते हैं कि जिनकी शोध एक संकुचित क्षेत्र में ही सीमित है और (उनके मत को) अस्वीकार न करने की दशा में ही उनकी खोज-पिपासा शान्त होती रहती है। मैं फिर कहूँगा कि इस प्रकार के अर्थहीन अनुमान लगाने में प्रवृत्त होने से पहले हमें जैसलमेर और अणहिलवाड़ा के जैन-ग्रन्थ-भण्डारों और राजपूताना के राजाओं तथा ठिकानेदारों के अनेक निजी संग्रहों का अवलोकन कर लेना चाहिए। अस्तु, अब हम अणहिलवाड़ा के इतिहास में आगे चलते हैं।

"गुजरात में एक बद्यार (Budyar वढ़ियार)[4] नामक स्थल है जिसकी राजधानी पञ्चासर है। वहीं एक दिन शकुनों की तलाश में जंगल में घूमते हुए सालिग सूरि [शीलगुण] आचार्य ने कपड़े में लिपटे हुए एक शिशु को पेड़ पर लटकते हुए पाया; पास ही एक स्त्री बैठी थी जो उसकी माँ थी। पूछने पर उस स्त्री ने बताया कि वह गुजरात के राजा की विधवा थी और किसी आक्रमणकारी[5] ने उसके स्वामी को मार कर राजधानी को नष्ट कर दिया था। उसने यह भी बताया कि उस जनसंहार से वह किसी तरह बच निकली

---

[1] David Hume (१७११-१७७६ ई०) ग्रेट ब्रिटेन के महान् दार्शनिक, इतिहासकार और राजनैतिक अर्थशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध है। उसकी कृतियों में (1) A Treatise on Human nature, (2) Essays Moral, Social and Political, (3) Inquiry into the Principles of Morals; (4) Political Discourses और (5) History of England मुख्य हैं।
N.S.E., p. 662

[2] Henry Hallam (१७७७-१८५९ ई०) इंगलैण्ड का प्रसिद्ध इतिहासलेखक और साहित्यकार था। उसे प्राय: दार्शनिक इतिहासकार कहते हैं। उसकी प्रसिद्ध कृतियाँ—(1) The View of the State of Europe during the Middle Ages, (2) Constitutional History of England और (3) Introduction to the Literature of Europe in the 15th, 16th and 17th Centuries हैं।
N.S.E., p. 601

[3] Vernet वरनैट-नाम के तीन विख्यात चित्रकार फ्रांस में १८वीं शताब्दी में हुए हैं।
N.S.E., p.1262

[4] संस्कृत—'वृद्धिपथिका।

[5] 'रत्नमाला' के अनुसार कल्याण का राजा भूवद, भूयड़ अथवा भूयगड़ देव। परन्तु, कल्याण के भूवड़ का पंचासरके जयशेखर चावड़ा का समकालीन होना इतिहाससमान्य नहीं है।

और वन में आने पर उस बालक का जन्म हुआ। यह सुन कर आचार्य ने उस बालक को वंसराज अथवा, अधिक शुद्ध रूप में, वनराज का पद दिया जिसका अर्थ 'वन का राजा' हुआ।[1] जब वह बालक बड़ा हुआ तो उसने मावला के प्रसिद्ध डाकू सूरपाल[2] के साथ राज्यकर के खजाने को लूट लिया जो कल्याण ले जाया जा रहा था। उसी की सहायता से उसने सेना इकट्ठी की और राज्य स्थापित किया तथा एक नगर बसाया। इस नगर का स्थान उसने एक ग्वाले की सहायता से चुना था जिसका नाम अणहिल था और उसी के नाम पर यह अणहिलपुर अथवा अणहिल नग्रर[3] कहलाया"।

आगे चलने से पूर्व यह बता देना उचित होगा कि 'प्रकीर्ण संग्रह' और भाटों की परम्परा दोनों ही में उक्त काल का विवरण 'गुजरात के इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। 'प्रकीर्ण संग्रह' में लिखा है कि 'वंशराज सौराष्ट्र के राजा जसराज चावडा[4] का पुत्र था और उसकी मृत्यु के पश्चात् पैदा हुआ था। प्रायद्वीप के पश्चिमी किनारे पर देव बन्दर[5], पट्टण और सोमनाथ, ये जसराज के मुख्य नगर थे; चावड़ा राजा के समुद्री आक्रमणों और विशेषत: बंगाल के जंहाजों की लूट के कारण समुद्र में ज्वार आया और देव वंदर उसमें निमग्न हो गया। इस दुर्घटना में वंशराज की माता (Soonderoopa) सुन्दीरूपा [रूपसुन्दरी] को छोड़ कर अन्य सभी लोगों का अन्त हो गया। रूपसुन्दरी[6] को जलदेवता वरुण ने इस विपत्ति के विषय में पहले ही सचेत कर दिया था।" भाट-परम्परा में वंशराज के जन्म और वंश की पुष्टि करते हुए यह बताया गया है कि उसके पिता जसराज और उसकी सम्पूर्ण जाति का नाश किसी विदेशी आक्रमणकारी द्वारा हुआ और उस बालक ने अपने जीवन-रक्षक जैन साधु के प्रति कृतज्ञ होकर जैनमत को प्रश्रय दिया एवं स्वयं उसे ग्रहण किया।

सम्भव है, देव वन्दर के विषय में ऐसी कोई दुर्घटना हुई हो परन्तु मैं भाटों की पोथियों द्वारा समर्थित इस जनश्रुति को अधिक सही मानता हूँ कि इसका

---

[1] कुमारपाल-प्रबन्ध (जिन मण्डन कृत) में लिखा है कि कपड़े की झोली में जिस वृक्ष की शाखा पर शिशु वनराज को माता ने लटका रखा था वह 'वण' का पेड़ था इसी लिए आचार्य ने उस का नाम 'वणराज' या वनराज रखा।

[2] सूरपाल वनराज का मामा था, ऐसा प्रवन्धचिन्तामणि एवं अन्य प्रवन्धों में लिखा है।

[3] 'नग्रर' नगर का प्राकृत रूप है जिसका अर्थ परकोटे वाला शहर होता है।

[4] जयशेखर चावड़ा, फार्वस रासमाला (रॉलिन्सन, १६२४)–भा० १; अ० २।

[5] बन्दरगाह देव अथवा दिव (द्वीप) जिसको पुर्तगालियों ने Diu (दिउ) लिखा है।

[6] कुछ इतिहास-संशोधकों का मत है कि वनराज की माता का नाम अक्षता या छता देवी था और उसको मोढेरा ब्राह्मणों ने संरक्षण दिया था।
रासमाला, गुजराती अनुवाद भा. १, अध्याय २, दी० रणछोड़ भाई उदयराम।

विनाश किसी विदेशी आक्रमणकारी के हाथों हुआ।[1]

मैं अन्यत्र कह चुका हूँ कि यह एक ऐसा समय था जब कि सभी हिन्दू साम्राज्यों में एक तूफ़ान सा आया हुआ था। क्रान्ति, राज्यापहरण और नए नए वंशों एवं जातियों के जन्म सम्पूर्ण भारतवर्ष में हो रहे थे।[2] चौहानों का इतिहास उठा कर देखिए, ठीक इसी समय सिन्ध से किसी शत्रु ने अजमेर पर आक्रमण कर के वहाँ के राजा माणिकपाल [राय] का वध किया। इसी काल में, बप्पा रावल ने, जिसको 'वल्ला' भी कहते हैं, और जिसके पूर्वज वलभी से भाग निकले थे, चित्तौड़ प्राप्त किया तथा अपने काका मोरी (Mori) के निमित्त किसी विदेशी शत्रु से इसकी रक्षा की। ठीक इसी संवत् में, तँवरवंशी राजाओं द्वारा प्राचीन इन्द्रप्रस्थ अथवा दिल्ली की पुनः संस्थापना हुई; भोजचरित्र में लिखा है कि परमार राजा भोज को किसी उत्तरदेशीय शत्रु ने धार से निकाल दिया था और उसे चन्द्रावती में जाकर शरण लेनी पड़ी; चालुक्य अथवा सोलंकी राजाओं को भी गङ्गातट पर स्थित सोरों भद्र (Sooroh Bhadra) से निष्कासित कर दिया गया था अतः वे मलाबार में कल्याण में जा बसे थे; यदु भाटियों को पाञ्चालिका में सतलज के किनारे सुल्तानपुर (Sulthanpur) से निकाला गया और उन्हें भारतीय रेगिस्तान, मरुस्थली में जाकर बसना पड़ा; और यहाँ तक कि ग्वालकुण्ड (गोल-कुण्डा) तक भी उसी विनाशकारी शत्रु के प्रबल आतंक का प्रभाव फैल गया जिसको इन पुस्तकों में 'उत्तर का जादूगर' अथवा 'गजलीबन्ध[3] (Gujulibund) का दानव, आदि कह कर वर्णन किया गया है। ये सब तिथियाँ और घटनाएं उस काल से मेल खाती हैं जब कि इसलाम ने भारत में पहले-पहल पदार्पण किया था और वे अपने साथ हज़ारों की संख्या में इण्डो-सीथिक जाति के उन लोगों को लाए थे, जो केवल सूर्य, अश्व और अपनी तलवार को पूजते थे तथा किसी भी धर्म अथवा मत को मानने या अपनाने के लिए तैयार थे; इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुलतान से आते हुए काठियों ने इसी समय (कच्छ के) रण को पार किया था और वे सौरों[4] के देश में बस गए थे। यहाँ पर उनका प्रभाव

---

[1] Forbes' Rāsamālā, Rawlinson, Vol. I, p. 36

[2] इन घटनाओं का विस्तृत विवरण 'इतिहास' कुक्स संस्करण, १६२०; भा. १; पृ. २८८-२६० पर पढ़िए।

[3] गजलीबन।

[4] संभव है, अणहिलवाड़ा के प्रथम राजवंश का द्योतक 'चावड़ा' शब्द 'सौर' शब्द का ही अपभ्रंश हो (क्योंकि) 'च' और 'श' निरंतर अन्तःपरिवर्तनीय हैं। मराठा लोग 'च' नहीं बोल पाते; वे 'चीतो' को 'सीतो' कहते हैं, इत्यादि। संभव है, देव और सोमनाथ के सौर राजाओं ने ही गुजरात के प्रायद्वीप को 'अपना राष्ट्र' (सौराष्ट्र) नाम दिया हो।

इतना अधिक फैला कि इस प्रदेश का नाम काठी-वाड़ [काठियावाड़] प्रसिद्ध होकर पुराना नाम सौराष्ट्र गौण पड़ गया। प्राचीन हिन्दुओं की भ्रमणशील वृत्ति को अस्वीकार करने वाले चाहे न मानें परन्तु सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व एवं पश्चात् होने वाले इन विस्फोटों के कारण घटित हुए परिवर्त्तनों के विषय में वे कोई विवाद उपस्थित नहीं कर सकते। इस प्रदेश के अन्तर्निवासियों के लिए सिन्धु नदी 'अटक'[1] भले ही रही हो परन्तु बाहरी 'ईमाँ (Iman) लुटेरों' के झुण्डों के लिए इससे कोई ऐसी अटक नहीं थी। इसीलिए इस छोटे से प्रायद्वीप में उत्तर की बहुत सी जातियों के नमूने अब तक भी पाए जाते हैं। अस्तु, अब और आगे चलिए।

वंशराज द्वारा अणहिलवाड़ा की स्थापना के आगे नगर-वर्णन आता है जो बहुत ही शोभा-समृद्धि के साथ आरम्भ होता है। धार्मिक लेखक ने इस नगर का आँखों देखा चित्र खींचा है अथवा निर्माता के समय में यह जैसा था उसका वर्णन किया है, इस बात का तो हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। इन क्रान्तिकारी प्रदेशों में नया नगर बसाने के लिए लोगों को जो सुविधाएँ दी जाती हैं वे आश्चर्यजनक होती हैं; फिर भी, ग्रन्थकर्त्ता ने जिस शोभा और समृद्धि का वर्णन किया है वह एक ही राजा के राज्यकाल में प्राप्त हो गई हो, यह असम्भव है। परन्तु, यदि आचार्य का कथन ही सत्य मान लिया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पराजित चावड़ा राजा ने तो केवल अपनी राजधानी देवपट्टण से अणहिलपुर में बदल दी थी; और, इतना हम साधिकार अधिक कह सकते हैं कि विनष्ट वलभी के विस्थापित निवासियों के दल के दल बालरायों की नयी राजधानी बसाने के लिए वहाँ पर चले आए थे। यह भी असम्भव नहीं है कि जिस नगर की वंशराज ने वृद्धि की वह पहले ही से विद्यमान हो। इस अनुमान की पुष्टि किसी अंश में मेवाड़ के इतिहास से होती है, जिसमें यह वर्णित है कि गुहिलोत वंश का संस्थापक बप्पा (जिसके पूर्वज बहुत पहले वलभी के शासक रह चुके थे) चित्तौड़ में अच्छी तरह जम जाने के बाद एक सेना लेकर अपने भतीजे चावड़ा राजा को अपने पूर्वजों के राज्य में पुनः संस्थापित करने के लिये गया था। इससे हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि देव-पट्टण के चावड़ा वलभी

[1] 'अटक' का अर्थ है—अडचन या रुकावट अथवा रोधक। सिन्धु को यह नाम आधुनिक समय में दिया गया है जब कि हिन्दू लोग अपनी मतविभिन्नता के कारण (शेष संसार से) पृथक् रह गए। परन्तु, इतना होने पर भी मनु ने लिखा है कि मध्य एशिया में हिन्दू-धर्म स्थापित हुआ था; भारतीय इतिहास के Savans ने सिन्धु को अपनी शोध में उतना ही 'अटक' बना दिया जितना कि हिन्दुओं ने अपने धर्म को।

के अाधीन थे। मेवाड़ के इतिहास[1] में इस घटना का समय संवत् ७६६ (७४० ई०) बताया गया है।

इतिवृत्त [प्रकीर्ण संग्रह] में आगे लिखा है कि "अणहिलपुर बारह कोस[2] (१५ मील) के घेरे में बसा हुआ था, जिसमें अनेक मन्दिर और पाठशालाएं थीं; चौरासी चौक और चौरासी बाजार थे, जिनमें सोने और चाँदी के सिक्कों की टकसालें थीं। विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मोहल्ले थे, जिनमें अलग-अलग तरह के व्यवसाय चलते थे जैसे हाथीदाँत, रेशम, लाल, हीरे, मोती आदि के पृथक्-पृथक् चौक[3] थे। सर्राफों अथवा मुद्रा-व्यवसायियों का एक बाज़ार था; सुगन्धित द्रव्यों और अंगरागों का एक; चिकित्सकों अथवा अत्तारों का एक; दस्तकारों का एक; सुनारों का एक और चाँदी का काम करने वालों का दूसरा; मल्लाहों, चारणों और भाटों के भी अलग-अलग मोहल्ले थे। नगर में अट्ठारह वर्णों अथवा जातियों के लोग बसते थे। सभी सुखी थे। राजमहल भी शस्त्रागार, आलान (हाथीशाला), घुड़साल और रथागार आदि के लिए अलग-अलग बनी हुई इमारतों से घिरा हुआ था। विभिन्न प्रकार के सामानों के लिए अलग-अलग मंडियाँ थीं, जहाँ पर आयात, निर्यात और विक्री पर चुंगी ली जाती थी; जैसे—मसालों, फलों, औषधियों, कपूर, धातु, और देशी अथवा विदेशी प्रत्येक बहुमूल्य वस्तु पर कर लिया जाता था। यहाँ दुनियाँ भर की चीजों का व्यापार होता था। चुंगी की दैनिक आय एक लाख टंक[4] होती थी। यदि आप पानी माँगोगे तो आपको दूध मिलेगा। बहुत से जैन मन्दिर हैं और एक झील के किनारे सहस्रलिंग महादेव का मन्दिर भी बना हुआ है। यहाँ की आबादी—चम्पा, पुन्नाग, खजूर (ताड), जम्बू, चन्दन और आम की कुंजों के बीच में

[1] देखो 'राजस्थान का इतिहास' भा. १, पृ, २७७

[2] कोस शब्द का अनुमान गौ (गाय) के रँभाने [क्रोश] से लगाते हैं जो आवाज़ किसी भी दिन के शान्त वातावरण में सवा मील तक सुनी जा सकती हैं।

[3] इटालियन 'piazza' शब्द से इसका अर्थ बहुत अच्छी तरह व्यक्त होता है।

[4] एक तांबे का सिक्का जिसके मूल्य में परिवर्त्तन होता रहता है परन्तु साधारणतया उसकी कीमत एक रुपये के बीस टंक समझी जा सकती है। इस प्रकार अकेले अणहिलवाड़ा की चुंगी की आय पाँच हजार रुपये प्रतिदिन होती थी अथवा अट्ठारह लाख रुपया वार्षिक, जो दो लाख पचीस हजार पौण्ड के बराबर होती है। इस राशि का मूल्य यदि आज आंका जाय तो दस लाख (पौण्ड) होगा। अब यदि इस आय में राज्य के चौरासी बन्दरगाहों पर वसूल होने वाले आयात-निर्यात कर को और जोड़ दिया जाय तो फिर अरब यात्रियों ने जिस समृद्धि का वर्णन किया है उस पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

आनन्द से बसी हुई है, जहाँ तरह-तरह की बेलें फैल रही हैं तथा झरनों में अमृत जैसा निर्मल जल बहता है। यहाँ श्रोताओं के लिए वेदों पर उपदेशप्रद वाद (व्याख्यान) होता है। यहाँ पर बोहरे[1] वहुत हैं और वीरगाँव में भी कम नहीं हैं। यहाँ व्रतियों (यति अथवा जैन साधु), सत्यवादी और व्यवहार-कुशल व्यापारियों तथा व्याकरण-पाठशालाओं की भी कमी नहीं है। अणहिलवाड़ा नर-समुद्र है। यदि आप समुद्र के पानी को माप सकें तो यहाँ पर निवास करने वाली आत्माओं को गिनने का प्रयास करें।[2] सेना असंख्य है और घंटाधारी हाथियों की भी कमी नहीं है। सालिग सूरि ने वंशराज के ललाट पर राज-तिलक किया। वंशराज ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया जिनके धर्म का वह अनुयायी था। यह सब संवत् ८०२ में हुआ। वंशराज ने पचास वर्ष राज्य किया और वह साठ वर्ष तक जीवित रहा"[3]

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद चावड़ा राजाओं की वंशावलो देकर ग्रन्थकार ने सन्तोष कर लिया है। वंशराज के क्रमानुयायियों से वंश-परिवर्त्तन तक कोई व्याख्या अथवा टीका-टिप्पणी नहीं को गई है और इस प्रकार वह अपने वर्णनीय कुमारपाल तक जा पहुँचता है, जिसके निमित्त यह काव्य रचा गया है। अस्तु,

---

[1] कारीगरों (दस्तकारों) और किसानों को धन उधार देने वाले बोहरे हिन्दुस्तान भर में पाए जाते हैं जो उद्योगों की पैदावार को हस्तगत करने के लिए लिखा-पढ़ी करा लेते हैं। यह प्राचीन फ्रेंच प्रथा मेतायर (Métayer) के बहुत समान है।

[2] घनी आबादी की पुष्टि में इतिहासकार ने निम्नलिखित अतिशयोक्तिपूर्ण घटना का उल्लेख किया है। "एक दिन, एक स्त्री का पति खो गया। राजा के पास जाकर उसने अपना दुःख निवेदन किया। उसने नगरढिंढोरा पिटवाया कि जो कोई राणो (Ranoh) नाम का काना व्यक्ति हो वह बड़े चबूतरे (न्यायपीठ) पर उपस्थित हो जाय। इस पर नौ सौ निन्यानवे राणो नामक काने व्यक्ति वहाँ पर आ गए। वह दुःखिनी स्त्री उनकी कतार के चारों ओर घूम गई परन्तु उसका पति नहीं मिला। फिर दुबारा ढिंढोरा पीटा गया तब कहीं उसके पति का पता चला।"

[3] रत्नमाला ग्रंथ के अनुसार वनराज ५० वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था और फिर लगभग ६० वर्ष तक जीवित रहा। उसकी सम्पूर्ण आयु १०६ वर्ष २ मास २१ दिन की हुई थी। (प्रबन्ध चिन्तामणि पृष्ठ १३)। आईन ए-अकबरी में भी वनराज का ७४६ ई० में गद्दी पर बैठना और ८०६ ई० तक राज्य करना लिखा है। परन्तु, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने (इण्डियन एन्टीक्वेरी भा० १७, पृ० १९२) वनराज का राज्यकाल ७६५ ई० से ७८० ई० तक माना है और योगराज का राज्यारोहण समय ८०६ ई० बताया है। बीच के २६ वर्ष के अन्तर का कोई समाधान अभी नहीं हो पाया है।

अन्य नामों के विषय में हम उनके दूसरे समकालीन लेखकों के आधार पर ही उल्लेख करेंगे।

अणहिलवाड़ा के संस्थापक के बाद जूगराज [योगराज] संवत् ८५२ ७९६ ई०) में गद्दी पर बैठा और उसने पैंतीस वर्ष राज्य किया।

खीमराज [क्षेमराज] संवत् ८८७ (८३१ ई०) में गद्दी पर बैठा और पच्चीस वर्ष राज्य करके संवत् ९१२ (८५६ ई०) में मर गया। इसी राजा के राज्यकाल में सबसे पहला अरब-यात्री[1] अणहिलवाड़ा राज्य में हिज्री सन् २३७ तदनुसार ८५१ ई० में आया था और दूसरा सत्रह वर्ष बाद हिज्री सन् २५४ (८६८ ई०) में उसके उत्तराधिकारी के समय में आया था।

बीरजी [वीरसिंह] संवत् ९१२ (८५६ ई०) में सिंहासन पर बैठा तथा २९ वर्ष राज्य करके संवत् ९४१ (८८५ ई०) में दिवंगत हुआ।

इन अरब यात्रियों ने अपने आगमन के समय राज्य करने वाले राजाओं के नाम तक नहीं दिए हैं— अस्तु, उनके द्वारा प्राप्त सूचना का क्रमश: विभाजन न करके अणहिलवाड़ा के शासकों की इतिहास में वर्णित समृद्धि के विषय में उनके द्वारा सम्मत प्रमाण का ही यहाँ पर उपयोग करेंगे। "बल्हरा भारत भर में सब से प्रख्यात और महान् राजा है; दूसरे राजा लोग यद्यपि अपने अपने-राज्यों के स्वतंत्र स्वामी हैं परन्तु उसके इस महत्त्व और विशेषाधिकार को सदा स्वीकार करते हैं। जब कभी वह अपना राजदूत उनके यहाँ भेजता है तो वे उसके सम्मान के लिए असाधारण आदर प्रदर्शित करते हैं। अरबों की रीति के अनुसार यह राजा भी बहुमूल्य भेंट और पुरस्कार प्रदान करता है। इसके यहाँ बहुत बड़ी संख्या में घोड़े और हाथी रहते हैं तथा खज़ाने में भी अतुल धन है। इसके यहाँ वे तातारी चाँदी के सिक्के भी प्राप्य हैं जो 'तातारी द्रम्म' कहलाते हैं और जो तौल में 'अरब द्रम्म'[2] से आधा द्रम्म[3] अधिक होते हैं। इन सिक्कों पर राजा की मूर्ति का ठप्पा लगा होता है और पूर्ववर्ती राजा की मृत्यु के बाद वर्तमान शासक

---

[1] अरब के सौदागर सुलेमान ने, जो हिज्री सन् २३७ (९०८ वि; ८५१ ई०) में गुजरात आया था, 'सिल सिलात-उत्-तवारीख' नामक पुस्तक लिखी थी। बाद में, अबू जैद अल हसन ने उसका शोधन किया और हिज्री सन् ३०३ (९७३ वि; ९१६ ई०) में सम्पूर्ण की। अबू फारस की खाड़ी के किनारे सिराफ़ नामक स्थान का निवासी था।

—History of India, Elliot and Dowson; Vol. I, pp. 3-4

[2] Arabesque drachm

[3] चाँदी का सिक्का जो तोल में ६० ग्रेन के बराबर होता था। १ ग्रेन=१॥ रती, इसलिए ६० ग्रेन=१ तोला के लगभग।

के राज्यकाल का संवत् अंकित रहता है। ये लोग अरबों की तरह मोहम्मद के सन् से वर्षों का हिसाब नहीं लगाते अपितु अपने राजाओं के राज्यकाल के ही वर्ष गिनते हैं। इनमें से बहुत से राजा दीर्घ काल तक जीवित रहे हैं और पचास वर्षों से भी अधिक समय तक राज्य कर गये हैं; यहाँ के लोगों का विश्वास है कि इनका दीर्घजीवन और राज्यकाल अरबों के प्रति इनके सद्भाव का ही प्रतिफल है। वास्तव में, अरबों के प्रति इतना हार्दिक सौहार्द रखने वाले दूसरे राजा नहीं हैं और इनकी प्रजा का भी हमारे प्रति वैसा ही मित्रभाव है।

"बल्हरा कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है अपितु यह तो 'खुसरो' (Cosroes) एवं अन्य उपनामों तथा अवटंकों की भांति है, जो सभी राजाओं के नामों के साथ व्यवहृत होता है। जो देश इस राजा के अधिकार में है वह 'कमकम'[1] नामक प्रान्त के किनारे से आरम्भ हो कर थल-मार्ग से चीन तक जा पहुँचा है। इसका प्रदेश अन्य ऐसे-ऐसे राजाओं के राज्यों से घिरा हुआ है जो इससे लड़ाई रखते हैं; परन्तु, यह राजा कभी उन पर चढ़ाई नहीं करता। इनमें से एक हरज़ (Haraz)[2] का राजा है जिसके पास बहुत बड़ी सेना है और भारत के सभी अन्य राजाओं की अपेक्षा अधिक घुड़सवार रखता है। इस राजा को मोहम्मद के मत से बहुत घृणा है। इसका राज्य एक अन्तरीप [भूनासिका] पर स्थित है जहाँ पर बहुत सा माल, ऊँट और पशुधन है। यहाँ के निवासी चाँदी[3] लेकर यात्रा करते हैं जिसे वे खोदकर निकालते हैं। उनका कहना है कि प्रायद्वीप में बहुत सी चाँदी की खानें हैं। इन राज्यों की सीमा 'राहमी' नामक राजा के राज्य से मिली हुई है जो हरज़ के राजा और बल्हरों से लड़ाई रखता है। उच्चवंश अथवा राज्य की प्राचीनता के कारण तो इस राजा का कोई सम्मान नहीं है, परन्तु इसके पास सेना बल्हरा राजा से भी अधिक है। इसी देश में लोग रूई की ऐसी-ऐसी विचित्र पोशाकें बनाते हैं कि अन्यत्र तो वैसी देखने को भी नहीं मिलतीं। इस देश में कौड़ियों का चलन है, जो छोटे सिक्के की जगह काम में आती हैं; 'साथ ही यहाँ पर सोना, चांदी, लकड़ी, आबनूस और काला चमड़ा भी खूब मिलता है, जो घोड़ों की काठी और मकान बनाने के काम में आता है।"

---

[1] कोंकण।

[2] हर्ष।

[3] रूपा=चाँदी; अतः रूपावती नाम पड़ा।

अब हम इस विवरण का विवेचन करेंगे। सबसे पहले, 'वल्हरा' पद लें; यह 'बल्ला का राय' (Ballā cā Raē)[1] से बना है, जिनकी प्राचीन राजधानी वलभीपुर थी, जिसके स्थिति-स्थल पर टोलॅमी (Ptolemy) ने एक बाइज़ॅण्टियम[2] को ला कर रख दिया है। दूसरे, चांदी के तातारी[3] द्रम्म सिक्के, जिनमें से एक मेरे पास भी मौजूद है; इसके एक तरफ राजा की मूर्ति ठपी हुई है और पीछे की ओर एक घेरे [पीरिअम Pyreum] के चारों तरफ कुछ अस्पष्ट जैन अक्षर भरे हुऐ हैं; तीसरी बात, इन राजाओं के लम्बे-लम्बे राज्यकाल की है; ये यात्री तीसरे और चौथे राजा के समय में पट्टण आए थे और इनके द्वारा प्रयुक्त 'बहुत' (many) शब्द हमें अवश्य ही भ्रम में डाल देता यदि इनकी अन्य बातें सही और समझ में आने योग्य पाई जातीं। परन्तु, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि वे लोग गुजरात की बोली अच्छी तरह नहीं जानते थे इसलिए वंशराज के अर्द्धशताब्दी एवं उसके क्रमानुयायी के तीस वर्षों के लम्बे राज्यकाल के कारण उन्होंने इस शब्द का प्रयोग उचित मान लिया होगा; अथवा, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, केवल देवपट्टण से राजधानी का परिवर्तन हुआ था इस-लिए इस घटना से पूर्व के राजाओं के राज्यकाल के कारण ऐसा लिखा गया होगा। सन्त इतिहासकार सालिग तो नहरवाला में वंशराज के राज्याभिषेक के बाद कभी गये ही नहीं। चौथे, इन यात्रियों के भूगोल-सम्बन्धी ज्ञान के विषय में अनुवादक ने लिखा है कि "इन सभी स्थानों की स्थिति ऐसी भ्रमपूर्ण है, कि ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते।" अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनुवादक के अल्पज्ञान के कारण, जिसे उसने अपनी भूमिका में पूर्ववर्तियों पर थोपा है, यह पहले से अस्पष्ट विषय और भी अधिक दुर्बोध्य बन गया है, जिसे

---

[1] 'वल्हरा' पद की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है; यथा, 'वल्ल (प्रदेश) का राय (राजा)' 'वल्लभीराज, भट्टार्क भृतार्क और 'वल्लभराज' आदि। अन्तिम उपाधि मान्यखेट के राष्ट्रकूटों ने ग्रहण की थी।

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए Journal of the Royal Asiatic Society, Vol. xii, p, 7. देखना चाहिये।

[2] एक प्राचीन नगर, जो श्याम समुद्र (Black Sea) और मारमारा समुद्र (Sea of Marmara) को मिलाने वाली भू-पट्टी पर स्थित था। कुस्तुन्तुनिया की नई राजधानी की कल्पना भी इसी के आधार पर की गई थी।—N. S. E., p. 216

[3] अनुवादक ने हमें इनमें तातारी सिक्के का अनुमान न करने के लिए सचेत किया है। उसका कहना है कि ये देशी सिक्के हैं और वह इस शब्द को 'थ' से शुरू करता है। यहां अनुवादक से तात्पर्य Renedaut से है।

अब इस प्रान्त का स्थानीय ज्ञान एवं पुस्तकों तथा परम्पराओं की पूर्ण जानकारी भी सुगम नहीं बना सकते। यह तो सभी जानते हैं कि अरबी और फ़ारसी भाषा में बिन्दुओं अथवा नुक़्तों के ज़रा-से हेर-फेर[१] से नामों का रूप कुछ का कुछ हो जाता है; ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध नामों के उलट-फेर के उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं, जिनसे विदित होगा कि इस ग्रन्थ का एक नया अनुवाद होना कितना आवश्यक है।

बल्हरों के राज्य की जो सीमा कोंकण (जिसको यात्रियों ने 'कमकम' लिखा है) से चीन के छोर तक बताई गई है, वह पूर्ण रूपेण सही होती यदि 'रिलेशन्स' पुस्तक अगले राजवंश के समय में लिखी जाती जब कि सिद्धराज के अट्ठारह राज्यों के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने 'हिमालय पर्वत को' विजय कर के पाञ्चालिका की प्राचीन राजधानी सालपुरा (Salpoora) नगर में भी विजय-पताका फहरा दी थी। राज्य की इस तत्कालीन सीमा पर हमारा पूरा विवाद है क्योंकि कोंकण में उस समय सोलंकी राज्य करते थे जिनके समकालीन इतिहास से उनके स्वतंत्र पड़ौसियों का पता चलता है।[२] बल्हरों के सबसे बड़े शत्रु 'हरज़' के राजा और 'राहमी' राजा (जिसका कुल ऊँचा नहीं था और जो दोनों ही से लड़ता रहता था) के विषय में हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे कौन थे और अनुवादक ने अपनी टिप्पणी में यह कह कर हमारे लिए और भी अधिक गुंजाइश पैदा कर दी है कि "गोरज अथवा हरज़ इस प्रायद्वीप में कुमारी अन्तरीप और चीन के बीच में कहीं न कहीं होना चाहिए।" 'गुजरात' शब्द भारत के आदिवासी शूद्रों में से गूजर नामक जाति से बना है; परन्तु, हमें इस बात का पता नहीं है कि इस जाति द्वारा संस्थापित कोई राज्य उस समय वर्तमान था या नहीं, और यह तो स्पष्ट ही है कि उन यात्रियों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि यह नाम (गुजरात) उस समय बल्हरों के राज्य के प्रमुख भाग के लिए प्रयुक्त होता था। मेरा अनुमान है कि यह हरज़ का राजा गोल-

---

[१] Ex. gr. p. 87 "भारत में कुछ ऐसे लोग हैं जो बिकार (भिखार) Bicar कहलाते हैं और जो आजीवन नग्न रहते हैं।" हम यहाँ बिकार से फकीर समझ सकते हैं – यह ग़लती अशुद्ध नुक़ते की करामात है। इस ग़लती को, सेण्ट क्रोइस (St-Croix) ने रॉबर्ट डी नोबिली द्वारा लिखित Ezour Vedam नामक ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ज्यों की त्यों दोहरा दी है।

[२] भारत के राजनैतिक भूगोल के विषय में हमें पृ० ८७ पर यात्रियों के अज्ञान का स्पष्ट पता चल जाता है जहाँ उन्होंने कन्नौज को गोजर (गुजरात) के राज्य में एक विशाल नगर बताया है।

कुण्डा का राजा 'हर' होगा जो अजमेर के चौहानों की बड़ी शाखा में था और बल्ल रायों (बल्हरों) से निरन्तर लड़ता रहता था। यह अनुमान उसकी निम्न-कुलीन राहमी से घनिष्ठता के कारण भी ठीक बैठता है, जो, मैं समझता हूँ, तेलिंगाना का राय परमार था, जिसने एक बार 'सर्वशक्तिमान्' की उपाधि ग्रहण कर ली थी। उसके राज्य में बढ़िया सूती कपड़े बनने की बात से यह मत और भी पुष्ट हो जाता है क्योंकि ये कपड़े, मलमलें और बुरहानपुर का लाल कपड़ा रोम (Rome) तक प्रसिद्ध था और पॅरीप्लस के कर्ता के मतानुसार तो ये चीजें उस समय बहुत बड़ी व्यापारिक वस्तुएं समझी जाती थीं। यात्रियों द्वारा वर्णित शङ्खों तथा कौड़ियों का प्रचलन तो उस समय भी था और अब भी है और इस प्रान्त में समुद्र के किनारे खजूर की गुठलियों का प्रयोग तो आज तक भी होता है।

'काशबिन (Kaschbin) राज्य', जिसको जंगलों और पहाड़ों से भरा कहा गया है वह कच्छभुज होना चाहिए; और, हमें यह कल्पना करने का भी लोभ होता है कि 'छोटी और गरीब राजधानी हित्रुंज' ही शत्रिंज[1] [शत्रुञ्जय] पालीताना का क्षुद्र राज्य था जो आज तक प्रसिद्ध है। 'नेहलवरेह (Nehelwareh) नगर की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करने के बाद, जो नासिरउद्दीन और उलुग़बेग़ की तालिका के अनुसार १०२°३०' देशान्तर और २२° उत्तर अक्षांश पर स्थित है इसलिए कालीकट, कोचीन अथवा बीजापुर में से कोई भी नहीं हो सकता, व्याख्याकारने आगे कहा है कि 'काली मिर्च के व्यवसाय की सुविधा के लिए ही उसने बल्हरा का अनुवाद कालीकट कर दिया है, अतः सम्भव है कि कालीकट जाने से पूर्व वह कहीं पर गुजरात में कुछ समय रहा हो।' उसने पुर्तगाली लेखक जॉन डी बरॉस (John De Barros) का भी उद्धरण दिया है जिसने इस देश की पुस्तकों का अवलोकन कर के लिखा है कि 'उसे भारत के सभी राजाओं पर सम्राट् अर्थात् महाराजाधिराज के अधिकार प्राप्त थे।' आगे चल कर यह विदित होगा कि अणहिलवाड़ा के बल्हरों और कोंकण के राजाओं के, जिनकी राजधानी कल्याण थी, घनिष्ठ सम्बन्ध थे और अन्त में उनके राज्य एक ही विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, यद्यपि यह घटना इन यात्रियों के समय की नहीं है। एक विचित्र बात और है, और सम्भवतः वही कालीकट

---

[1] जैसा कि अन्यत्र सूचित किया गया है 'स' अक्षर का इस प्रान्त में विशेष रूप से उच्चारण होता है; 'सालिमसिंह' को 'हालिम हिंग' बोला जाता है जिससे 'सालिम मिश्री' 'हींग' बन जाता है।

नाम की रचना का मूल हो सकता है। नयर (Nyr) अथवा अणहिलवाड़ा का प्राकारयुक्त नगर 'कालीकोट' अथवा काली का दुर्ग कहलाता था और अब भी कहलाता है; इसी तथ्य के अज्ञान में अनुवादक ने वल्हरा राजाओं को काली मिर्च का संग्रह करने के लिए भारतीय प्रायद्वीप के हृदय में भेजना आवश्यक मान लिया होगा। इन अनुवादों (पृ० २४) में से एक और विचित्र बात का उल्लेख करके मैं इस टिप्पणी को समाप्त करता हूँ। इस सूचना के विषय में किसी आधार का उल्लेख नहीं किया गया है:—

हमारे लेखकों ने अरबों के प्रति सहृदय होने के कारण वल्हरों की जो प्रशंसा की है वह इन राजाओं के विषय में बहुत अनुकूल बैठती है क्योंकि इनमें से अन्तिम राजा सरमा पायरीमल (Sarama Payrimal) मुसलमान हो गया था और उसने अपने अन्तिम दिन मक्का में बिताए थे।[1]



[1] विलसन का मैकेन्जी कलेक्शन जि० १; पृ० xcvii

प्रकरण ९

अणहिलवाड़ा का इतिहास, चालू; कल्याण के सोलंकी राजा; अणहिलवाड़ा के राजवंश में परिवर्तन; समकालिक घटनाएँ; कल्याण का महत्त्व; मुसलमान लेखकों का भ्रम; अणहिलवाड़ा के राजाओं का क्रम (चालू); सिद्धराज; चालुक्यों की राजगद्दी पर चौहान राजा का उत्तराधिकार; बल्हरों के राज्यान्तर्गत प्रदेश; कुमारपाल के कार्य; अणहिलवाड़ा के विस्तार और वैभव के संबंध में 'चरित्र' द्वारा सम्पुष्टि; लार (Lar) का देश; बौद्ध धर्म का समर्थक कुमारपाल; उसके द्वारा स्वधर्म-त्याग और इसलाम धर्म का ग्रहण; अजयपाल।

अब हम बीच के राजाओं को छोड़ कर अरब यात्रियों के आगमन के समय जो राजा अणहिलवाड़ा में राज्य करते थे उनसे वंशराज के सीधे और अंतिम वंशज सामन्तराज के समय में आते हैं और कोंकण की राजधानी कल्याण के समकालीन शासकों की चर्चा आरम्भ करते हैं, जिन्होंने अणहिलवाड़ा में एक सौ छियासी वर्षों से राज्य करते आए चावड़ों को अपदस्थ कर दिया था। इस प्रयोजन के लिए हमें सोलंकियों की वंशावली के एक पृष्ठ का उपयोग करना पड़ेगा जो मुझे इस वंश के प्रतिनिधि, रूपनगर के शासक ने (जो अब मेवाड़ में जागीरदार है) दिया था। उसके घरू भाट के पास उनके मूल निकास, अणहिलवाड़ा की बातों की पोथी अब भी मौजूद है, जिसमें उनके पूर्वजों की परम्परा का वर्णन हैं।[1] क्योंकि भाट की कहानी उसीकी जबानी कही

---

[1] हम उनका गोत्र उन्हीं की बोली में लिखते हैं। इसका अनुवाद साधारण पाठकों के तो सन्तोष का विषय होगा नहीं; इसके गहरे जानकार तो कोई इक्के दुक्के ही होंगे, जो इस देहाती बोली में ही आनन्द ले सकेंगे।

"मदवाणी साखा* (Madwani Sac'ha), भारद्वाज गोत्र, गढ़लोकोत, खार निकास, सरस्वती नदी, सामवेद, कपलि मानदेव (Kupilman Déva), कर्दिमान ऋखेस्वर (Kurdiman Rikheswar), तीन प्रवर जनेऊ, सूरीपान का छत्तो (Su'ri'pa'na-ca-ch'hatto), गऊपालूपास (Gaopaloopas), गयानिकास (Gya-nekas), केवञ्ज देवी (Kewanj Devi), मैपाल पुत्र (Maipal Putra)"

यह महीपाल, जिसको पुत्र कहा गया है, नारायणा (Nairanoh) के रणक्षेत्र में वीरता दिखाने के कारण सोलंकियों के पनेतों (Penates) में गोद लिया गया था। वह राजा धीरदेव का तीसरा पुत्र था, जिसको साँभर के चौहान राजा की पुत्री व्याही थी और जो अपनी ननसाल के विरुद्ध इसलामी झगड़े में मारा गया था। यहाँ के प्रत्येक वंश का

---

* माध्यन्दिनी शाखा।

जा रही है इसलिए हम उसे सभी राजवंशों के काल्पनिक उद्गम से आरम्भ करने की छूट दे देते हैं। उसे अपने वर्णनीय राजाओं का जन्म आबू के अग्नि-कुण्ड से होना स्वीकार नहीं है। वह कहता है "जब ब्रह्मा ने सृष्टि का कार्य समाप्त कर लिया तो वह पवित्र नदी गङ्गा के सोरों घाट पर संध्या-वंदन करने के लिए आया और पवित्र दूब [दर्भ] की बाल अंजलि में लेकर उसने चुलुक बनाया तथा संजीवन मंत्र का उच्चारण किया। उसी समय एक मर्त्य मानव उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म-चौलुक्य[1] कहलाया। स्थान के कारण वही सोलंकी भी

इतिहास ऐसी ही घटनाओं से भरा पड़ा है। इसी प्रकार अजमेर के माणिकराय का लोट-पुत्र[*] (Lotputra), जो मुसलमानों के पहले हमले में मारा गया था, चौहानों का कुलदेवता माना जाता है। यहां 'पुत्र' का अर्थ है 'किशोर' अथवा वह जिसने अभी यौवन प्राप्त नहीं किया है।

[1] महाभारत के अनुसार द्रुपदराज पर कुपित होकर अपमान का बदला लेने के लिए द्रोणाचार्य ने चुलुक में जल भर कर संकल्प किया और चौलुक्य वीर उत्पन्न किया।
कलचुरी वंशीय युवराजदेव (द्वि.) का लेख—एपि. इण्डिया भा. १, पृ. ५७
चालुक्य वंश के लिए लेखों और दान-पत्रों में 'चौलुकिक', 'चौलिक', 'चालुकिक', 'चुलुक्य' और 'चौलुक्य' नामों के प्रयोग मिलते हैं--देखिए, गुजरात नों मध्यकालीन राजपूत इतिहास, भा. १-२; पृ. १२८-१३०
स्पष्ट है, 'च' का उच्चारण 'स' होने से सोलंकी शब्द प्रचलित हुआ। यहाँ स्थान के कारण 'सोलंकी' नाम पड़ने की बात समझ में नहीं आ रही है।
राष्ट्रकूटवंशीय दन्तिदुर्ग के एक दानपत्र (जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्राञ्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम २) में लिखा है कि इन्द्र की रानी मातृपक्ष में चन्द्रवंश से और पितृपक्ष में 'शालिक्य' वंश से सम्बद्ध थी--

'राज्ञी सोमान्वयी तस्य पितृतश्च शालिक्यजा'

इससे प्रतीत होता है कि 'शालिक्य' शब्द भी प्रचलित था जो 'सोलंकी' से अधिक निकट है।--History of Medieval Hindu India, C.V. Vaidya; p. 82
दक्षिण के चालुक्य राजा विमलादित्य के रणस्तिपुण्डी के दानपत्र (१०११ ई०) के अनुसार इस वंश के क्रम में ब्रह्मा, चन्द्र और अयोध्या के ५९ राजाओं का वर्णन है जिनमें उदयन भी सम्मिलित है। आगे कहा है कि इसी वंश का विजयादित्य राजा त्रिलोचन पल्लव से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी गर्भवती विधवा रानी ने विष्णुभट्ट सोमयाजी के संरक्षण में रह कर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम विष्णुवर्धन रखा गया। उसने 'चालुक्य' पर्वत पर स्थित गौरी माता की आराधना करके पुनः दक्षिणापथ का राज्य प्राप्त किया, इसीलिए उसका वंश चालुक्य कहलाया।

—The Early History of the Deccan, G. Yazdani; p. 206

---

[*] 'इतिहास' क्रुक्स संस्करण, १९२०; भा. ३; पृ० १४४७

प्रसिद्ध हुआ ।[1] यहीं पर उन्होंने अपनी राजधानी बनाई जिसको सोरों[2] भी कहते हैं और इसीलिए यहाँ पर गङ्गा का नाम 'सोरोंभद्र' पड़ा है। त्रेता और द्वापर अथवा स्वर्ण एवं रजत युगों में उन्होंने यहाँ पर राज्य किया।' पाठक स्वयं इस उद्धरण के तथ्य को आंक लें; भूगोल के विद्यार्थी को कम से कम इससे एक प्राचीन राजधानी के उद्‌गम का पता तो चल ही जाता है, जो दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् के समय तक प्रसिद्ध रही और अब तक भी एक धार्मिक तीर्थ-स्थान मानी जाती है। इस शाखा के गोत्र से हमें यह भी पता चलता है कि इसका निकास उत्तरी भारत अर्थात् लोकोट से है, जो पांचालिका (पंजाब) का एक प्राचीन नगर था। वहाँ से निकलने पर इन लोगों ने गंगा-तट पर सोरों बसाया। इतिहास में लिखे इस काल्पनिक युग का विशेष विचार न करते हुए अब हम भाट द्वारा बताई हुई पृष्ठभूमि पर अपना मत स्थिर करेंगे। 'विक्रम की सातवीं शताब्दी में दो भाई राज और बीज गंगा[3] को छोड़ कर गुजरात में आए। इनमें से पहले [राज] ने पाटन के चावड़ा राजा की पुत्री से विवाह किया, जिसकी सन्तान आगे चल कर गद्दी पर बैठी और वंशराज से कर्ण तक अर्थात् सिकन्दर[4] खूनी द्वारा निष्कासित होने तक पाँच सौ बावन वर्ष राज्य करती रही। टोडा (Thoda) और रूपनगर के सोलंकियों के भाट से हमें इतनी ही सूचना मिलती है। अब हम फिर 'चरित्र' के आधार पर आते हैं।

'राजा वीरदेव चावड़ावंश का था जो कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) का अधिपति राजा था। वह अपनी राजधानी कल्याण-कटक से गुजरात में आया, इस देश पर विजय प्राप्त करके उसने यहाँ के राजा का वध किया और फिर अपनी सेना

---

[1] मानव्य गोत्रीय क्षत्रिय और हारीत गोत्रीया ब्राह्मण कन्या के योग से यह 'ब्रह्मक्षत्र' भी कहलाये।

—मेवाड़ के गोहिल; स्व० मानशंकर पीताम्बरदास मेहता, पृ० ७६-८०

[2] कासगंज के पास नदी के सूखे पेटे का अब भी यही नाम है; पहले गंगा इधर ही से बहती थी। मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यह प्राचीन नगर सोलंकियों का बसाया हुआ है या नहीं। वीरदेव माणिकराय का समकालीन था, इससे एक और महत्वपूर्ण समसामयिकता का पता चल जाता है।

[3] भिन्नमाल के आसपास का प्रदेश गूर्ज्जरत्रा या गुजरात कहलाता था। राज या राजि उसी प्रदेश का एक सामन्त था।—ग्लोरी दैट वॉज़ गुर्जर देश; भा. ३; पृ० ७६

[4] यहाँ 'अलाउद्दीन' के स्थान पर भूल से 'सिकन्दर' लिखा गया प्रतीत होता है।

यहीं छोड़ कर वह कल्याण लौट गया।[1] बीरराय के मिलन देवी (मीनल देवी) नाम की पुत्री थी जो अजमेर के चौहान राजा को ब्याही गई थी। उसीकी पन्द्रहवीं पीढ़ी में कुमारपाल हुआ, जिसके नाम पर इस ग्रंथ की रचना हुई है।

'बीरराय के एक पुत्र हुआ जिसका नाम चन्द्रादित्य था। उसका पुत्र सोमादित्य और उसका तनुज भोमादित्य हुआ, जिसके तीन पुत्र थे, उर अथवा अर, धीतक और अभिराम। उर सोमेश्वर (सोमनाथ) की यात्रा करने पाटन गया और वहाँ पर उसने राजा सामन्त की पुत्री लीलादेवी के साथ विवाह किया। प्रसूति के समय उस राजकुमारी की मृत्यु हो गई, परन्तु उसकी कुक्षि को काट कर बच्चा बाहर निकाल लिया गया। इस बालक का जन्म मूल नक्षत्र में होने के कारण ज्योतिषियों ने उसका नाम मूलराज रखा। राजा सामन्त चावड़ा ने, अपना कोई पुत्र न होने के कारण, अपना राज्य जीवन-काल में ही मूलराज को सौंप दिया; परन्तु, बाद में पछता कर इसे वापस लेने वाला था कि उसके भानजे ने उसे मार डाला। ये सात कभी कृतज्ञ नहीं होते—जामाता, सर्प, सिंह, शराब, मूर्ख, भानजा और राजा। इनमें से कोई भी गुण (कृतज्ञता) नहीं मानता।[2]

---

[1] सोलंकी भाट के इतिहास में कल्याण के राजाओं में इन्द्रदमन नामक राजा का नाम आता है। भाट का कहना है कि इसी राजा ने जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया और 'पुरी' की नगरी बसाई जो उसके नाम पर इन्द्रपुरी कहलाती है। यह पिछली बात तो सही हो सकती ह और उसने मन्दिर का जीर्णोद्धार भी करवाया होगा परन्तु यह नहीं हो सकता कि जगन्नाथ का मन्दिर उसने ही बनवाया हो।

उड़ीसा की राज्य-सरकार द्वारा १९५८ ई० में प्रकाशित 'Visit Orissa' नामक पुस्तिका में पृ० १२१ पर लिखा है कि जगन्नाथ का मंदिर सर्व-प्रथम 'ययाति-केसरी' ने बनवाया था। ११९८ ई० में चोड़ गंगदेव ने इसका पुनर्निर्माण मात्र कराया। जगन्नाथ-मंदिर में सुरक्षित ताड़पत्रीय लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि ५०० ई० से ११३२ ई० तक केसरी-वंश के ४४ राजाओं ने राज्य किया था। ययाति इस वंश का संस्थापक था। फि गंग-वंश के हाथ में सत्ता आई। ऊपर की टिप्पणी में इन्द्रदमन के स्थान पर, इन्द्रवर्मन नाम हो सकता है। वास्तव में जगन्नाथ-मंदिर का जीर्णोद्धार कराने वाले राजा का नाम अनन्तवर्मन चौड़देव था जिसका समय १२ वीं श० का उत्तरार्ध माना गया है।

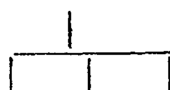
—History of Medieval Hindu India Vol. I; C.V. Vaidya pp. 318-326

[2] जामाता वींछी नइ वाघ,
मदिरा पांणी मूरख अभाग;
भगिनी-सुत, पृथ्वी नों नाथ,
कीधुं गुण नवि जाणइ सात ॥७३॥

कुमारपाल रास—ऋषभदास; पृ. १८

बल्हरों के इतिहास में आगे चलने से पहले यहाँ पर, (जब कि चावड़ों का राज्य चालुक्यों अथवा सोलंकियों के अधिकार में आया) इन दोनों वंशों के सम-सामयिक राजाओं की तालिका भी दे देना समुचित होगा।

कल्याण के चालुक्य राजा	अणहिलवाड़ा के चावड़ा राजा
१ बीरजी	१ वंशराज (७४६ ई० से ७९६ ई. तक)
२ कर्ण	२ योगराज
३ चन्द्रादित्य	३ क्षेमराज
४ सोमादित्य	४ बीरजी
५ भोमादित्य	५ बीरसिंह
	६ रत्नादित्य
६ उर धीतक अभिराम	७ सामन्त



उर ने सामन्त की पुत्री लीलादेवी से विवाह किया, जिसके मूलराज उत्पन्न हुआ, जिससे अणहिलवाड़ा के दूसरे राजवंश का आरम्भ होता है।

यद्यपि इन दोनों ही आधारों में तथ्यों की समानता है परन्तु आरम्भ में थोड़ा-सा अन्तर है, क्योंकि भाटों के इतिहास का कहना है कि राज और बीज नामक दो चालुक्य बन्धु सातवीं शताब्दी में सोरों छोड़कर आए; और 'चरित्र' का आरम्भ कन्नौज के राजा वीरराय से होता है, जिसने गुजरात पर आक्रमण करके यहाँ के राजा का वध किया और लौट कर कन्नौज न जाकर मलावार तट पर कल्याण चला गया। यहां पर इस सम्भावना का ध्यान रखना अनुचित न होगा कि यही वह विजेता हो सकता है जिसने पूर्व-इतिहास में स्वीकृत समुद्री लूट के अपराध के कारण चावड़ों को उनकी प्राचीन राजधानी देव-पट्टण और सोमनाथ से निकाल बाहर किया था; यह काल भाट द्वारा कहे हुए सातवीं शताब्दी वाले समय से भी मेल खाता है, जो उसने सोरों से कन्नोज में राजधानी का स्थानान्तरण और कल्याण में राज्य-संस्थापना के लिए बताया है। इस अनुमान को पट्टण के संस्थापक वंशराज-सम्बन्धी उस उपाख्यान से भी बल मिलता है जिसमें उसके विषय में लुटेरों के साथ मिल कर कल्याण को जाने वाली मालगुजारी के खजाने को लूटने की बात कही गई है। मैकेन्जी संग्रह[1] का

---

[1] मैकेन्जी संग्रह—कर्नल मैकेन्जी १७९६ से १८०६ तक सर्वेयर जनरल आफ इण्डिया के पद पर रहे थे। इस अवधि में उन्होंने हस्तलिखित ग्रन्थों, शिलालेखों, नक्शों एवं अन्य पुरा-

एक शिलालेख, जिसका अनुवाद श्री कोलब्रुक ने किया है और जो एशियाटिक रिसर्चेज, वॉल्यूम ९; पृ० ४३५ में सम्मिलित है तथा जिसका अभी तक कहीं उपयोग नहीं हुआ है, मेरी इन धारणाओं को पुष्ट करने और हस्तलिखित आधारों की सचाई को तौलने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ; इस लेख के अनुसार इस राजवंश की स्थापना एक हजार वर्षों से भी पहले हो चुकी थी। यह शिलालेख चतुर्थ राजा सोमादित्य के समय का है, जिसमें उसका वंश चालुक्य और राजधानी कल्याण बताई गई है। लेख इस प्रकार चलता है—"सोमेश्वर[1]... पर सदा अनुग्रह करें ...इत्यादि-इत्यादि, राजकुल में विशिष्ट, चालुक्यवंशभूषण... इत्यादि, जो कल्याण नगर में राज्य करता है, इत्यादि...।' यदि और कोई प्रमाण न भी मिले होते और केवल यही एक लेख होता तो अन्य सभी लेखों के संग्रह का महत्त्व प्रमाणित हो जाता क्योंकि उन सब में से यही एक ऐसा [प्रबल] है जिसने मेरे अनुसन्धान में सफलता एवं उत्साह प्रदान किया है।

प्राचीन समय में कल्याण व्यापारिक एवं राजनीतिक महत्त्व का नगर था।[2] एरिअन ने पॅरीप्लस में इसका कई बार उल्लेख किया है जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दूसरी शताब्दी में यह बालेकूरों (Balekouras) अथवा बल्हरों की सार्वभौम सत्ता के अधीन करद राज्य रहा था और इसके विस्तार की पुष्टि ओर्मे (Orme)[3] द्वारा उसके 'बिखरे खण्डों' (Fragments) नामक पुस्तक में इसके खण्डहरों के वर्णन से हो जाती है।

तत्त्व-संबंधी बहुमूल्य सामग्री का संग्रह किया, जिसको बाद में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १०,००० पौंड में खरीद लिया। सूची-पत्र, एच० एच० विल्सन, १८२८ ई०।

[1] यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सोमेश्वर और सोमादित्य का अर्थ एक ही है अर्थात् चन्द्र (सोम) का आदित्य अथवा स्वामी।

[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका के कर्त्ता विज्ञानेश्वर ने भी अन्त में लिखा है—
'नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरम्'

[3] रॉबर्ट ओर्मे का जन्म १७२८ ई० मे त्रावणकोर के एन्जेन्गो नामक स्थान में हुआ था। वह १७७४ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में प्रविष्ट हुआ और लार्ड क्लाइव के घनिष्ठ मित्रों में माना जाता था। बाद में, वह कम्पनी का इतिहासकार भी नियुक्त हुआ। उसकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें से यहाँ अपर पुस्तक से तात्पर्य है—

1 History of Military Transactions of the British Nation in Indostan from 1745.

2 Historical Fragments of the Mogul Empire from the year 1659.

ओर्मे ने बहुत सी हस्तलिखित और प्राच्यविद्या-विषयक सामग्री कम्पनी को भेट कर दी थी। उसका देहान्त १८०१ ई. में हुआ।—E.B. Vol.XVII, pp. 853-54

इन पूर्वकालीन घटनाओं की ओर कुछ मुसलमान लेखकों का ध्यान गया तो अवश्य था, परन्तु उनकी बौद्धिक अस्पष्टता के कारण विषय कुछ धुँधला-सा ही बना रहा। इन गुत्थियों को सुलझाने में असमर्थ अबुल फज़ल ने कन्नौज के राज्य का विस्तार समुद्रतट-पर्यन्त बताया है। मसूदी[1] ने इन प्रदेशों का विवरण दसवीं शताब्दी में लिखा है; वह 'बोरोह् (Bouroh)' राज्य की बात करता है और उसी को कन्नौज का राज्य कहता है। इस ग़लती का कारण यह समझ में आता है कि वह कल्याण के राजा 'वीर राय' के नाम को नहीं समझ सका, जो सोरों से कन्नौज के राज्य में चला गया था। ऐसा ज्ञात होता है कि पहला राज्य दूसरे से बड़ा होने का दावा करता था, जो सम्भवत: बाद में राजधानी बन गया था। बात यह है कि फ़ारसी अथवा अरबी लिपि में सोरों के 'शीन' के नीचे एक नुक़्ता लगाया कि वह 'बोरो' हो जाता है। अरब यात्रियों का कहना है कि जब वे भारत में आए थे तब यहाँ पर चार बड़े साम्राज्य थे। इनमें से बल्हरों को चौथे नम्बर पर बतलाते हैं और उनकी शक्ति का तो वे निस्सन्देह इतना बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करते हैं कि उनकी सेना की संख्या पांच लाख तक पहुँचा दी है। अबुल फज़ल ने तत्कालीन कन्नौज की शक्ति का जो विवरण दिया है वह भी सत्य से इतना ही परे है क्योंकि गंगा से समुद्र-तट तक विस्तार-वर्णन के स्थान पर उसके विवरण में अजमेर, चित्तौड़ और धार जैसे शक्तिशाली राज्य कन्नौज और अणहिलवाड़ा के बीच में आ पड़ते हैं, जिनके अन्तर्जातीय युद्धों एवं विवाहों के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु, अब हम चालुक्यों के नवीन राजवंश का विवरण आगे चलाते हैं।

---

[1] इसका नाम अबुलहसन अली मसऊदी (३०३ हिज़री) उच्चकोटि के इतिहास-लेखक, भूगोल-लेखक और यात्री के रूप में प्रसिद्ध है। उसका जन्म-स्थान बगदाद था। इसकी दो पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें इतिहास की बहुत सी बातें लिखी हुई हैं और जिनके नाम क्रमश: "उल तम्बीह वल-अशराफ" एवं "मरूजुज़-ज़हब व मआदनुल जौहर" हैं। दूसरी पुस्तक की भूमिका में सारे संसार की जातियों का उल्लेख हुआ है। उन्हीं में भारत भी है। मसऊदी के कथनानुसार (१) भारत में बहुत सी बोलियां बोली जाती हैं (२) कन्धार रहबूतों (राजपूतों) का देश है, आदि।

मसऊदी ने "मुरूजुज़ ज़हब" सन् ३३२ हि० में अपनी यात्रा समाप्त करने के उपरांत लिखी थी। यह पुस्तक पेरिस से फ्रान्सीसी अनुवाद सहित नौ खंडों में प्रकाशित हुई थी और मिस्र में कई बार प्रकाशित हो चुकी है।

—अरब और भारत के संबंध–अनु० रामचंद्र वर्मा, १९३०; पृ० ३२-३३

मूलराज अणहिलवाड़ा की गद्दी पर संवत् ९८८ (९३२ ई०)[1] में बैठा। चावड़ा वंश के संस्थापक के समान उसका राज्यकाल भी बहुत लम्बा था अर्थात् छप्पन वर्ष; और यदि हम पूर्ववर्णित 'प्रकीर्ण संग्रह' को सही मानलें तो यह दो वर्ष और भी बढ़ जायगा। उसने अपने शस्त्र लेकर पश्चिम की ओर कूच किया और सिन्धु की घाटी तक पहुँच कर वहाँ के राजपूत राजा से युद्ध किया; उसी ने रुद्रमाला मन्दिर की नींव रखी थी, जिसका हम अन्यत्र वर्णन कर चुके हैं।

चाउण्ड अथवा चामुण्डराय (जिसको अबुल फज़ल ने भूल से जामुण्ड लिखा है) संवत् १०४४ (९८८ ई०) में सिंहासनारूढ हुआ। उसने केवल तेरह वर्ष राज्य किया और उसके शासनकाल का अन्त उसके स्वयं के लिए एवं सम्पूर्ण भारत के लिए घटनापूर्ण सिद्ध हुआ। संवत् १०६४ अथवा १००८ ई० (मुसलमान इतिहासकारों के मतानुसार सन् ४१६ हिज़री अर्थात् १०२५ ई०) में ही गज़नी के बादशाह महमूद ने अणहिलवाड़ा पर आक्रमण किया था; उसने यहाँ की चारदीवारी को ध्वस्त करके मन्दिरों के ईंट-पत्थरों से नगर के चारों ओर की खाई को पाट दिया था। छः मास तक पाटण में विश्राम करने के बाद विजेता ने प्राचीन शासकों के एक वंशज को ढूंढ कर गद्दी पर बिठा दिया जिसका गँवारू-सा नाम दाबिशलीम (Dabschel im था। उसको देव और सोमनाथ के राजा का पुत्र बतलाया जाता है, जो स्पष्टतः चावड़ा वंश का था। शिलालेखों के अनुसार, जो मुझे प्राप्त हुए हैं, इन लोगों की वंशपरम्परागत सम्पत्ति अणहिलवाडा में बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी तक मौजूद थी। फरिश्ता के मेरे वाले संस्करण में इस (राजा) को 'मोर ताज' [मोरधज या मोरध्वज ?] उपाधियुक्त बॅवशेलीम कहा गया है, जिसका शुद्ध रूप इतिहास में वर्णित बल्लिराय अथवा बल्लभसेन[2] हो सकता है, जो चामुण्ड के बाद गद्दी पर बैठा था; और, क्योंकि इस आधार के अनुसार उसका राज्यकाल केवल छः मास ही वताया गया है, यह अनधिकारी दाबिशलीम के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। 'मोर ताज' की पदवी उभयभाषात्मक है, जिसका अर्थ

---

[1] मूलराज संवत् ९८८ में नहीं, ९९८ में गद्दी पर बैठा था। क. टॉड दस वर्ष की भूल कर रहे हैं। 'कुमारपाल रास' में भी, जिसके आधार पर टॉड यह वृत्तान्त लिख रहे हैं, मूलराज के राज्यारोहण का समय ९९८ संवत् ही लिखा है—

'संवत् नव अट्ठाणुं ज सई, मूलराज राजा थयो तसई ॥७५॥ पृ० १८

[2] अबुलफज़ल ने इस नाम का अपनी ओर से भी रूपान्तर कर दिया है जिसको आईन-ए अकबरी के अनुवादक ने बेसिर (Beysir) लिखा है और डी' हरबीलॉट (D' Herbelat) ने अरबियों का अनुसरण करते हुए इसको Dabschlimat जाति का लिखा है।

हिन्दू और फ़ारसी भाषाओं में, 'प्रधान' अथवा 'मुख्य ताज' या मुकुट है। इससे मुझे यह कल्पना होती है कि यह 'चौर ताज' का रूपान्तर है जिसका अर्थ होता है 'चावड़ों में मुख्य'। व्यक्तिवाचक नामों के विषय में फ़ारसी भाषा की यह अपूर्णता प्रसिद्ध ही है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि केवल एक नुकते के इधर-उधर हो जाने से शब्द कुछ का कुछ बन जाता है। अणहिलवाड़ा पर पड़ने वाली विपत्तियों, सोमनाथ और अन्य प्रसिद्ध मन्दिरों पर किए गए अत्याचारों के बदले में पथ-प्रदर्शकों द्वारा गज़नी लौटते हुए महमूद की सेनाओं को जंगल में गुमराह किए जाने की विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में पाठकों को फरिश्ता और अबुलफज़ल के विवरणों को पढ़ना चाहिए।

दुर्लभ अथवा नाहर राव – संवत् १०५७ (१००१ ई०) में गद्दी पर बैठा और उसने साढ़े ग्यारह वर्ष तक राज्य किया; इसके बाद, उसका मन आत्मानुसन्धान एवं आत्मोद्धार के लिए उद्यत हुआ। वह अपने पुत्र को राज्य सौंप कर गया को चला गया। प्राचीन राजपूत राजाओं में यह प्रथा सदा से चली आई है और असाधारण नहीं मानी जाती है। दुर्लभ धार के प्रसिद्ध राजा भोज के पिता मुञ्जराज का समकालीन था और हमें 'भोजचरित्र' से यह भी ज्ञात होता है कि गया जाते समय अपदस्थ राजा ने मुंज से भेंट की, जिसने उसे पुनः राज्य ग्रहण करने की सलाह दी परन्तु उसके पुत्र ने इस परामर्श को पसन्द नहीं किया।

भीमदेव, जिसका नाम उसके समकालीन राजपूत राजाओं में सुप्रसिद्ध है, संवत् १०६९ (१०१३ ई०) में गद्दी पर बैठा।[१] उसका ४२ वर्ष का दीर्घ राज्यकाल गौरव से हीन नहीं था, जिसमें मुसलमानों ने कई बार उत्तरी भारत पर हमले किए। महमूद की चौथी पीढ़ी में मौदूद इसी के समय में हुआ और तभी हिन्दुओं ने एक महान् प्रयत्न उस जूए को उतार फैंकने का किया, जो उनको दबाए हुए था। अजमेर के प्रसिद्ध चौहान राजा बीसलदेव (दिल्ली के विजयस्तम्भ के बीसलदेव) ने इस संघटन की संवत् ११०० (ई० १०४४) में अध्यक्षता की। अपने धर्म और स्वाधीनता के लिए संयुक्त प्रयत्न करने वाले देश के अन्य राजाओं के साथ, जिन्होंने बीसलदेव को अपना नायक चुना था, अणहिलवाड़ा के राजा को भी आमन्त्रित किया गया था; परन्तु, अजमेर और अणहिलवाड़ा के घरानों के पुराने वैर के कारण वह (भीमदेव) इस आमन्त्रण को स्वीकार न कर सका और इस अस्वीकृति के फलस्वरूप ही इन राज्यों में युद्ध का सूत्रपात हुआ, जो कवि चन्द की पुस्तक के ६९ अध्यायों में से एक का विषय बन गया। बीसलदेव अपनी सहयोगी सेनाओं के साथ विजय पर विजय करता चला गया, यहां तक कि सम्पूर्ण पंजाब शत्रुओं से रहित हो गया और

[१] भीमदेव संवत् १०७८ (१०२२ ई०) में गद्दी पर बैठा था।—रासमाला।

इसी विजय के फलस्वरूप दिल्ली के स्तम्भ पर लिखा गया कि विन्ध्य से हिमाचल तक म्लेच्छों को निकाल बाहर किया गया जिससे आर्यावर्त्त एक बार फिर 'पुण्यभूमि' बन गया। चन्द कहता है, जब गज़नी से कर के साथ-साथ वफ़ादारी की 'आन'[1] को मांग भेजी गई तो शाकम्भरी के स्वामी ने अपने सामन्तों के नाम फ़रमान जारी किया। फिर ठठ्ठ और मुलतान के सरदारों के साथ मण्डोर और भटनेर के 'भार'[2] भी आए। अन्तर्वेदकी[3] सभी (राजपूत) शाखाएं उसके झण्डे के नीचे एकत्रित हुईं। सभी आए, परन्तु चालुक्य नहीं आया; उसे अपनी स्वाधीनता के लिए अपनी ही तलवार का भरोसा था। मारवाड़ में सोजत नामक स्थान पर विरोधी सेनाओं की मुठभेड़ हुई, जिसमें सोलंकी परास्त हुआ। वह जालोर चला गया, जो सम्भवतः उसके और प्रतिपक्षी के राज्यों का सीमा-स्थल था; परन्तु, वह इस स्थान को भी छोड़ने के लिए बाध्य हुआ और विजेता ने प्रायद्वीप के मध्यभाग में गिरनार तक उसका पीछा किया। अपनी सेना को पुनः संगठित करके चालुक्य ने अपने दूतों को चौहान के पास भेज कर इस अकारण आक्रमण का कारण पुछवाया और कहलाया 'मैं तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ; एक मात्र कर, जो तुम ले सकते हो वह, तलवार है, जिसके टुकड़ों को, यदि पुनः युद्ध में विजयी हो जाओ तो, तुम बटोर ले जाना।' चौहान वीसलदेव उस समय अपने देश को लौटने की तैयारी कर रहा था। उसने सच्चा राजपूती सौजन्य प्रदर्शित करते हुए चालुक्य को अपनी बात पर पुनः विचार करने का अवसर ही नहीं दिया प्रत्युत उसके सभी बन्दियों को मुक्त कर दिया और लूट का सामान भी लौटा दिया कि जिससे, भाट के शब्दों में, पुनः विजय प्राप्त करने पर 'फिर भी उसके पास कुछ मिल सके।' 'चौहान ने अपनी सेना को चक्रव्यूह में सजाया और तुरन्त ही दो सहस्र सोलंकियों को मार गिराया। वाल-का-राय (वालूकराय) ने स्वयं सेना-संचालन करके व्यूह का भंग किया। 'तलवार ने शोणित की नदी में फिर स्नान किया।' दोनों प्रतिभट आपस में भिड़ गए और घायल हुए; रात्रि ने आकर उनको विलग किया। दूसरे दिन सन्धि हुई, जिसमें चालुक्य ने वीसलदेव के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना स्वीकार किया और यह भी तय हुआ कि उस स्थान पर चौहान के नाम पर

---

[1] शपथ।

[2] Array—सैन्य-समूह।

[3] गंगा और यमुना के बीच (अन्तर) का प्रदेश।

रासो में यह वर्णन पृथ्वीराज और भोला भीम के युद्ध-प्रसंग में आया है न कि किसी बीसलदेव और भीम के रण-विवरण में।

एक नगर बसाया जाय। वीसल नगर, जो आज तक विद्यमान है, इस इतिहास की सत्यता को प्रमाणित करता है। इस वृत्तान्त में सर्वत्र ही भाट ने अणहिलवाड़ा के राजा का 'बालूकराय' के नाम से उल्लेख किया है; परन्तु 'हमीर रासो' में, जिसमें रणथम्भोर [रणस्तम्भवर] के इसी चौहान वंशीय राव हम्मीर के पराक्रम का वर्णन है, भाट ने यह लिखा है कि वीसलदेव राजा भीम के पुत्र कर्ण को बन्दी बनाकर ले गया था। राजा भीम के दो रानियाँ थीं, बीकलदेवी और उदयामती। पहली के पुत्र का नाम क्षेमराज था और दूसरी का पुत्र था—

कर्ण, जो राजगद्दी पर बैठने वाले राजपूतों में परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ और अपने बड़े भाई[1] के होते हुए भी संवत् ११११ (१०५५ ई०) में पिता के सिंहासन पर आरूढ हुआ। उसके अनेक पराक्रमों में से एक कोली और भील जातियों का पूर्ण दमन भी गिना जाता है। इसी प्रसंग में उसने आसा भील का वध किया था जो पल्लीपति (Pallipati) अथवा एक लाख धनुर्धारियों का स्वामी कहलाता था। उसने पुराने नगर को मिटाकर उसकी जगह निज के नाम पर कर्णावती[2] नगरी की स्थापना की, जिसकी स्थिति के बारे में हमें ठीक-ठीक पता नहीं है। चरित्र में लिखा है कि उसने सात 'डड्डों'[3] [डकारों] को निकाल बाहर किया था; वे ये हैं—डण्ड, डाँड, डोम (डूम = गाने बजाने वाले) डाकण, डर, डम्भ (Damb'h ठग) और डूभ (निराशा)। उसने रैवताचल पर पहले से विद्यमान बावन विहारों के अतिरिक्त नेमिनाथ का परम ऐश्वर्य-युक्त मन्दिर बनवाया, जो उसी के नाम पर कर्णविहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने कर्णाटक के स्वामी अरिकेसर (Ari-cesar) की पुत्री मीनल देवी के साथ विवाह किया जिसने अणहिलवाड़ा के गौरव, सिद्धराज को जन्म दिया। कहते

---

[1] अपने पूर्वजों की परम्परानुसार भीमदेव ने बड़े पुत्र क्षेमराज को गद्दी सौंप कर वन में तपश्चर्या करने की इच्छा की, परन्तु क्षेमराज ने भी पिता के साथ वन में रह कर सेवा करना चाहा, अतः कर्ण को गद्दी पर बिठाया गया। (रासमाला)

[2] हमें इस समय की आदिवासी जातियों के बहुत से उल्लेख मिलते हैं और इन्हीं जातियों से सम्बन्धित बहुत सी गढियों और नगरों के भी चिह्न प्राप्त होते हैं, जिनका अनुसन्धान होना चाहिए।

[3] डंड, डांड, नइं डुंबी जेह,
डाडणि, डाकणिओ काढ्या तेह;
डर छतो दूरि कीउ डंभ,
काढ्या रोप्यो कीर्ती थंभ ॥ ८१ ॥—कुमारपाल रास–ऋषभदास; पृ० १९

हैं कि जब कर्णाटक के सिंह[1] की पुत्री अणहिलवाड़ा पहुँची तब कर्ण उससे इतना अप्रसन्न हुआ[2] कि उसने विवाह करना ही अस्वीकार कर दिया था, परन्तु अपनी माता के आग्रह का पालन करने एवं वधू को आत्मघात से बचाने के लिए ही, अन्त में उसने विवाह कर लिया। फिर भी कहते हैं कि, उसने कितने ही वर्षों तक उसके साथ सम्भोग नहीं किया; अन्त में, अपने सद्‌गुणों के अनवरत प्रकाश के द्वारा उसने केवल राजा की घृणा को ही अपसारित नहीं कर दिया वरन् उसके प्रेम और आदर को भी प्राप्त करके स्ववश में कर लिया। कर्ण ने उनतीस वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र—

सिद्धराज जयसिंह – संवत् ११४० (१०८४ ई०)[3] गद्दी पर बैठा जिसके अर्द्धशताव्दी जितने राज्यकाल में अणहिलवाड़ा ने अभूतपूर्व गौरव प्राप्त किया। वंशपरम्परागत एवं विजय के द्वारा प्राप्त किए हुए पूरे अट्ठारह राज्यों पर उसका आधिपत्य था और इस प्रकार 'चरित्र' में उसके लिए जो "अपने समय के राजाओं में परम बलशाली" विशेषण प्रयुक्त हुआ है वह सर्वथा सही है। इन सभी राज्यों के नामों एवं समकालीन अन्य राज्यों के साथ सम्बन्धों का वर्णन इस राजा के उत्तराधिकारी के राज्य-वृत्त में किया जावेगा। अतः अब इतिहासकार के साथ साथ हम आगे चलते हैं और कुमारपाल के राज्य का वर्णन आरम्भ करते हैं जिसके निमित्त उक्त विवरण भूमिका के रूप में दिया गया है। यहाँ मैं इतिहासकार के वर्णन का ही अनुसरण करूँगा।

"अट्ठारह राज्यों के विजेता महाबली सिद्धराज[4] के कोई सन्तान नहीं थी इसलिए सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति उसके लिए व्यर्थ हो गई थी। उसने ब्राह्मणों,

---

[1] देखिए 'एशियाटिक रिसर्चेज वॉल्यूम १६' में इस राजा के विषय में टिप्पणी। मैकेञ्जी-संग्रह भी इस विषय में देखना चाहिए। Cesar (सीज़र) अथवा Ke'sar (कैसर), जिसका अर्थ सिंह है, प्राचीन काल के राजपूतों की साधारण उपाधि है; सिंघ का अभिधान तो प्रायः सभी राजपूतों के नामों के साथ जुड़ा रहता है। यह अभिधान जंगल के राजा के लिए इसी संस्कृत शब्द से निकला है अथवा फारसी शब्द कैसर से या रूसी ज़ार से अथवा रोमन सीज़र से, यह विषय हम शब्द-शास्त्रियों के निर्णय के लिए छोड़ते हैं।

[2] कहते हैं कि कर्णाटक के राजा की पुत्री मीनलदेवी कर्ण की आशा के विपरीत बहुत कुरूप और आकर्षण-हीन निकली इसलिए उसने उसके साथ विवाह करना नहीं चाहा; परन्तु, वह राजपुत्री सद्‌गुणों का भण्डार थी, यह उसके भावी चरित्र से भली प्रकार सिद्ध होता है।

[3] सिद्धराज का राज्यकाल १०९४ ई० से ११४३ ई० तक था।—रासमाला।

[4] 'सिद्ध' नाम के विषय में एक विचित्र आख्यान है। कहते हैं कि उसकी माता जो शुद्ध संस्कृत में अरि-केसरी और जन भाषा में गया-केसर (Gya-Kesar) अर्थात् अरि

ज्योतिषियों और भविष्य वक्ताओं को बुला कर उनको मनुष्य द्वारा सभी अभिलषित वस्तुएँ देना स्वीकार किया कि उसे किसी के भी प्रयत्न से पुत्र प्राप्ति हो जाय। परन्तु, जो बात परमात्मा को मञ्जूर न हो वह कोई भी पूरी नहीं कर सकता। एक साधु ने कहा 'दैथली'[1] [देवस्थली] के सरदार का पुत्र तुम्हारा उत्तराधिकारी होगा, यही विधि का विधान है।" इस पर राजा बहुत कुपित हुआ और एक सेना भेज कर दैथली पर आक्रमण कर दिया। वहाँ का चौहान सरदार मारा गया और उसका पुत्र कुमारपाल किसी तरह उस क़त्ले-आम से बच कर निकल भागा। उसने अपने बहनोई[2] कृष्णदेव के यहाँ, जो पाटण में रहता था, छुप कर प्राण बचाए। परन्तु, वह उसका सम्बन्धी और जयसिंह का मन्त्री था इस कारण अधिक दिनों तक यहाँ भी छुपे रहने की कोई आशा न थी इसलिए वह एक कुम्हार के घर चला गया। कुछ समय वहाँ रहने के बाद वह पाटण में ही साधुओं और भिखारियों के साथ घूमता रहा। फिर वह किसी तरह अपने जन्म स्थान दैथली भी जा पहुँचा। एक वार तो वह पकड़ा ही जाता परन्तु उसके एक कुम्हार मित्र ने उसे ईंटों की भट्टी में छुपा कर बचा लिया। अब, उसने उज्जैन जा कर भाग्य-परीक्षा करने का विचार किया और चलता-चलता खम्भात बन्दर जा पहुँचा। वहाँ थकान और भूख से व्याकुल हो कर एक पेड़ के नीचे सो रहा। उसी समय सुप्रसिद्ध हेमाचार्य अपने शिष्यों सहित पास ही के जंगल में जा रहे थे। उन्होंने उसे जगाया और यह देख कर कि कोई साधारण पुरुष नहीं है, उसे अपनी जैन युवक शिष्य-मण्डली में सम्मिलित कर लिया। फिर आचार्य ने उसकी जन्म-कुण्डली बनाई जिससे उसके भावी-महत्त्व का पता चला। परन्तु, सिद्धराज के गुप्तचरों ने यहाँ भी उसका पता

(शत्रु) के लिए सिंह और अजेय सिंह की पुत्री थी) पर बारह वर्ष का कुग्रह था। इस कुसमय में उसने बहुत दुःख पाया और इस अवधि को समुद्र में बिताने के लिए वह द्वारका को रवाना हुई। मार्ग में उसे एक सिद्ध अथवा दरवेश मिला जिसको उसने अपना मनसूबा बताया। उस सिद्ध के वरदान से उसे पुत्र की प्राप्ति हुई जिसकी कृतज्ञ होकर उसने उस पुत्र का नाम सिद्धराज रखा।

[1] राजा कर्ण के सौतेले भाई क्षेमराज के पौत्र और देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल के तीन पुत्र और दो पुत्रियां थीं। पौत्रों के नाम महीपाल, कीर्तिपाल और कुमारपाल थे और पुत्रियाँ प्रेमल देवी तथा देवल देवी थीं। प्रेमल देवी का विवाह सिद्धराज के प्रधान सेनापति कान्हदेव के साथ हुआ था और देवल देवी का विवाह शाकम्भरी के राजा आन्न अथवा अर्णोराज के साथ हुआ था। (रासमाला प्रक० ११।)

[2] यह ग्राम कर्ण ने अपने काका के पुत्र देवप्रसाद को जागीर में दिया था।

लगा लिया तब वह योगी के वेश में भड़ौंच जा पहुँचा। खम्भात के एक वनिए ने, जो पक्षियों की बोली समझता था, इस पलायन में उसका साथ दिया। ज्योंही वे नगर में पहुँचे एक मन्दिर के कलश पर बैठे हुए दैवी शकुन-पक्षी ने दो स्पष्ट वाणी उच्चारित कीं जिनका बनिये ने यह अर्थ लगाया कि हिन्दू और तुर्क दोनों राज्यों पर उसका अधिकार होगा। एक बार फिर उसके आश्रय-स्थान का पता चल गया और वह कुलू नगर को भाग गया। यहाँ पर एक प्रसिद्ध योगी ने उसे मन्त्र-दीक्षा दी कि जिससे उसका भाग्य चमक उठे, परन्तु यह मन्त्र तभी सिद्ध हो सकता था जब किसी शव पर बैठ कर उसका जाप किया जाए। कुमारपाल ने योगी के आदेश का पालन किया और मन्त्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि मृतक-शरीर बोल उठा और उसने यह भविष्यवाणी की कि पाँच वर्ष में वह गुजरात का राजा हो जाएगा। वहां से योगी के वेश में ही वह कल्याण कारिका[1] देश में कान्तिपुर गया और फिर वहाँ से उज्जैन जाकर प्रसिद्ध कालिकादेवी[2] के मन्दिर में शरण ली, जहाँ एक सर्प ने उसे 'गुजरात का स्वामी' कह कर सम्बोधित किया। फिर, उसने चित्तौड़ की यात्रा की। वहाँ के सभी मन्दिरों के दर्शन और विवरण के अनन्तर मध्यभारत की इस प्राचीन राजधानी की स्थापना और इसके चित्राङ्गगढ़[3] नाम के विषय में एक लम्बी व्याख्या की गई है। वहाँ से वह कन्नौज, बनारस अथवा काशी, राजगढ और सम्पू (Sampoo) आदि स्थानों में घूमता रहा, जो सभी बौद्धधर्म के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम नगर में, जो चीन के राज्य में है, उसने जगडू नामक एक धनवान् सेठ का वर्णन किया है, जिसने संवत् ११७२ के अकाल में उस देश के राजाओं की सेवा कई करोड़ रुपये देकर की थी। जिन लोगों ने इस सेठ की उदारता से लाभ उठाया उनमें से सिन्ध (Sinde) का हमीर[4] भी था। कुमारपाल इसी

---

[1] ग्रन्थ के दूसरे भाग में इसको 'कल्याण कटक' लिखा है। कान्तिपुर का पता चलने से इसकी भौगोलिक स्थिति का प्रश्न हल हो सकता है।
मूलमें, यह 'कल्याणकारक देश', ऐसा पाठ है जिसका अर्थ मङ्गल करने वाला देश भी हो सकता है।

[2] अति प्राचीन काल से सुप्रसिद्ध यह मन्दिर अब भी विद्यमान है; 'कालिका' काल-मूर्ति का स्त्रीलिङ्ग है।

[3] स्थानीय आख्यानों के अनुसार चित्राङ्गद मोरी चित्तौड़गढ़ का संस्थापक था।

[4] इस साधारण सी बात का बहुत महत्त्व है क्योंकि इससे, इस राजा के राज्यकाल का समय निर्धारित होने पर, इस बात का पता चलता है कि प्राचीन पद्य के अनुसार मरु का नाला कग्गर अथवा कङ्कर (Caggar or Kankar) इसके समय में सूख गया था। देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जि० २, पृ० २६४।

प्रकार घूमता रहा परन्तु संवत् ११८९ (११३३ ई०)[1] में सिद्धराज के अन्त समय तक किसी महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन नहीं आता। कहते हैं कि सिद्धराज ने कृष्णदेव और कामदेव (Kamideo)[2] नामक मन्त्रियों को बुला कर अपने कण्ठ के हाथ लगा कर यह शपथ दिलाना चाहा कि वे कुमारपाल को कभी राजा न होने देंगे, परन्तु वे उसकी इस आज्ञा का पालन कर पाते इसके पूर्व ही वह मर गया। स्वर्गीय राजा का एक सम्बन्धी, जो कि सोलंकी शाखा का ही था, गद्दी पर बिठाया गया, परन्तु मूर्ख सिद्ध होने के कारण तुरन्त उतार दिया गया। कुमारपाल उस समय तिब्बत[3] के पहाड़ों में था। समाचार मिलते ही वह पाटण चला आया; वहाँ पर उसने सभी वर्गों के लोगों को दिवंगत राजा की पादुकाओं और चरण-चिन्हों को पूजते पाया। इतने सम्मान के साथ वे उसका स्मरण करते थे! बड़े-बड़े दरबारी जब गद्दी के उत्तराधिकारी का निर्णय करने में सफल न हुए तो उन्होंने वही उपाय ग्रहण किया जिसके द्वारा डेरियस (Darius) को फारस का राज्य प्राप्त हुआ था; परन्तु, राजपूत सरदारों ने अणहिलवाड़ा के अधीनस्थ अट्ठारह राज्यों के लिए उपयुक्त शासक ढूंढने में हाथी से काम लिया, जो घोड़े की अपेक्षा अधिक शाही और बुद्धिमान् होता है। उस हाथी[4] की सूंड में एक पानी का घड़ा पकड़ा दिया गया और सब ने यह स्वीकार किया कि वह गणेश का प्रतीक जिस पर उस पानी को उँडेल देगा

[1] यहां संवत् ११९९ (११४३ ई०) होना चाहिए।

[2] इसका शुद्ध नाम कान्हड़देव है।

[3] इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर के पहाड़ों में कुमारपाल को किसी धर्म-श्रद्धालु जाति के लोगों ने ही शरण दी थी। तिब्बत के विहारों (धार्मिक-स्थानों) में प्रयुक्त लिपि में और मध्य एवं पश्चिमी भारत के शिलालेखों की लिपि में बहुत थोड़ा ही अन्तर है। तिब्बत के बौद्ध कभी-कभी सौराष्ट्र के पर्वतों की यात्रा करने आया करते हैं, परन्तु यह स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि यह धर्म वहीं से उत्तर में गया था।

[4] बहुत सम्भव है कि इस दृश्य के महान् अभिनेता को बहुत पहले से ही अभ्यस्त किया गया होगा और इस योजना की पूर्व-व्यवस्था कुमारपाल के बहनोई ने की होगी। इस बुद्धिमान् पशु को कुछ गन्नों के लोभ से गलियों में घुमा कर उसके द्वारा राजा के किसी प्रतिरूप का अभिषेक करवाने की शिक्षा देना बहुत सरल है।
'कुमारपाल रास' में यहाँ हथिनी से अभिषेक कराना लिखा है।
डेरिअस (Darius) को [फारस का] राजा बनाने में भी ऐसी ही तरकीब काम में लाई गई थी। कहते हैं कि एक घोड़ी उसके डेरे के किनारे बाँध दी गई थी और वह शुभ अश्व छोड़ते ही उससे मिलने के लिए, वहाँ दौड़ आता था।
मेरे एक मित्र एडवर्ड ब्लण्ट ने भी आगरे में हमारे खच्चरों की दौड़ के अवसर पर

वही उनका राजा अभिषिक्त होगा। जब उस हाथी ने वह घड़ा एक योगी पर उँडेल दिया तो सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा और वही योगी तुरन्त 'मार्गशीर्ष कृष्णा ४ सम्वत् ११८९' को राजगद्दी पर बिठाया गया।[१] यह योगी छद्मवेष में कुमारपाल ही था। जब सिद्धराज का सम्बन्धी गद्दी पर बैठाया गया तो सभी एकत्रित सरदारों ने उससे पूछा—'जयसिंह द्वारा छोड़े हुए अट्ठारह प्रान्तों पर आप कैसे शासन करेंगे ? तब उसने उत्तर दिया 'आप लोगों के परामर्श और शिक्षा के अनुसार।' परन्तु, जब कुमारपाल सिंहासन पर बैठा तो उससे भी यही प्रश्न किया गया, तब वह तुरन्त उठ कर खड़ा हो गया और उसने अपनी तलवार हाथ में उठा ली। सभा-भवन जयजयकार से गूंज उठा और सब को विश्वास हो गया कि वही सिद्धराज का योग्य उत्तराधिकारी था। इसके आगे राज्याभिषेक का विवरण है, जिसको यहाँ पर उद्धृत करना अनावश्यक होगा; कुमारपाल के भ्रमण एवं राज्याभिषेक-विषयक वर्णन से ही 'चरित्र' के अड़तीस हजार श्लोकों का अधिकांश भरा पड़ा है।

इस राजा का विशेष विवरण लिखने से पूर्व हम उसके पूर्ववर्ती राजा (सिद्धराज जयसिंह) से सम्बन्धित कुछ उन घटनाओं का वर्णन करेंगे जिनके कारण उसका समय इतिहास में इतनी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ और उसके नाम एवं पराक्रम का उस समय के राजपूताना की प्रत्येक रियासत के ऐतिहासिक काव्यों में वर्णन हुआ।

चन्द वरदाई ने कन्नौज के राजा के विरुद्ध उसके उन युद्धों का सूचन किया है जब कि 'उसने अपनी तलवार को गङ्गा में प्रक्षालित किया था।' उसने उसकी सार्वभौम विजय को रोकने के निमित्त मेवाड़ और अजमेर के राजाओं में हुई सन्धि का भी उल्लेख किया है। इन घटनाओं से सम्बन्धित अभिलेख ताड़पत्रों से भी अधिक टिकाऊ शिलालेखों पर अंकित हैं, जो अब उन नगरों के खंडहरों में पाए जाते हैं जिनके नाम भी लुप्त हो चुके हैं। उसने

पूरी तरह ऐसी ही चालाकी का प्रयोग किया था यद्यपि उसमें वैसी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसने अपने गधे को दाने (अनाज) का बोरा लादे हुए घोड़े की पूंछ से बाँध कर शिक्षित किया और वह अनाज निश्चित विजयस्थान पर पहुँचते ही उसे खिला दिया जाता था। घुड़दौड़ के दिन वह अभ्यास काम कर गया। दाना मिलने के लोभ में गधा दौड़ा और उसके स्वामी को पुरस्कार प्राप्त हुआ।

[१] 'संवत् ११९९ रा मंगसर वद ४ पुख नखत्र सूरज वार जद अणहलपुर पाटण सोळंकी कुमारपाल सिधराव जैसिंघ री गादी पाई।'—बाँकीदास री ख्यात, १५५२, (पृ० १३३ रा.प्रा.वि.प्र. से प्रकाशित संस्करण, सं. २०१३ वि०)
राज्य-वंशावली में लिखा है कि कुमारपाल मार्गशीर्ष शुक्ला ११ संवत् ११९९ वि. को गद्दी पर बैठा। (देखिए—रासमाला गुजराती अनुवाद, टिप्पणी, पृ. २३९)

अर्णोराज की पुत्री से विवाह किया, जो चित्तौड़ के स्वामी के अधीन सात सौ ग्रामों का अधिपति था। यह सामन्त मेवाड़ की पूर्वीय सीमा के पठार पर था और उसकी राजधानी मीनल [मेनाल ?] (अन्यत्र वर्णित)[1] थी, जिसके खंडहरों में मुझे इस सम्बन्ध को प्रमाणित करने वाला शिलालेख मिला है। चन्द्रावती के परमारों से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण शिलालेख से विदित होता है कि अर्णोराज कुमारपाल का भी समकालीन था। इसमें लिखा है कि 'कुमारपाल और अर्णोदेव के बीच युद्ध हुआ, जिसमें लक्षणपाल ने रणक्षेत्र में अमरत्व फल प्राप्त किया।'

'चरित्र' के संस्कृत संस्करण में लिखा है कि सिद्धराज ने धार के परमार राजाओं से युद्ध किया। उन्होंने कितने ही वर्षों तक सामना किया परन्तु अन्त में उसने धार पर अधिकार कर लिया और वहाँ के राजा नीरवर्मा [नरवर्मा] को पकड़ लिया। इस उदयादित्य के पुत्र के समय का कितने ही तत्कालीन शिलालेखों एवं हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर मैं निर्णय कर चुका हूँ[2] और यहाँ पर जिज्ञासु पाठकों के लिए इतना ही कहूँगा कि 'चरित्र' का यह उल्लेख मेरे उस निर्णय का पुष्टि में एक और महत्वपूर्ण समकालिक तिथि-प्रमाण के रूप में उपस्थित हुआ है। सुप्रसिद्ध जगदेव परमार, जिसका जीवन-चरित्र एवं पराक्रम एक छोटी पुस्तिका में वर्णित है, बारह वर्ष तक सिद्धराज की नौकरी में पाटण रहा था। उदयादित्य के पुत्र यशोवर्मा के दो पुत्र थे, बाघेली राणी का रणधवल और पाटण की सोलंकिनी का जगदेव। बड़ा पुत्र धार का राजा हुआ और उसकी मृत्यु के बाद सिद्धराज की सहायता से जगदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ।

इसी जगदेव की वात में यह भी लिखा है कि सिद्धराज ने कच्छ के फूलजी जाडेचा की पुत्री से विवाह किया था, जो वातों में लाखा फूलाणी[3] के नाम से प्रसिद्ध है। विक्रम की वारहवीं शताब्दी के अन्त में वह 'जंगल का राजा' बना हुआ था और उसके पराक्रमपूर्ण 'धाडों' के कारण उसका नाम पड़ौसी राज्यों के इतिहासों में भी प्रसिद्ध है।

---

[1] देखिए 'राजस्थान का इतिहास', जि० २, पृ० ७४६। दूसरा शिलालेख मीनल (Mynal) के खण्डहरों में प्राप्त हुआ है, जो 'वलभी के द्वार' पर मेवाड़ के राजाओं की महत्ता का प्रमाण उपस्थित करता है, जो पहले वल्हरा ही थे।

[2] देखिए, रा. ए सोसाइटि जर्नल, जि० १, पृ० २०७।

[3] लाखा फूलाणी तो मूलराज का समकालीन था जिसका समय ८३० ई० से ९७९ ई० तक का माना गया है।

ऐसी पद्धति है जिससे राजपूत राजतन्त्र के दो तथ्यों का पता चलता है, जो इस (तन्त्र) को एक साथ चुनाव और दत्तक प्रथाओं पर आधारित सिद्ध करते हैं यद्यपि पूर्व प्रथा को किन्हीं विशेष और आवश्यक अवसरों पर ही ग्रहण किया जाता है। इन राज्यों की संपूर्ण सत्ता यहां के वड़े-वड़े सामन्तों में निहित होती है; हम ऐसे कितने ही उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं कि राज्य के उत्तराधिकारी में व्यक्तिगत दोष होने के कारण राजवंश की अन्यतम शाखा में से किसी व्यक्ति का चुनाव कर लिया गया है और सामन्तों की इच्छानुसार राजा ने उसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी स्वीकार करके गोद लें लिया है। परन्तु, मुझे ऐसा कोई दूसरा उदाहरण याद नहीं है कि जिसमें किसी अन्य शाखा का राजा गद्दी पर बिठाया गया हो और फिर भी उस राजवंश के अभिधान में कोई परिवर्त्तन न हुआ हो। यद्यपि कुमारपाल ने 'सिद्धराज की पगड़ी नहीं बँधाई थी (जो कि गोद होने का चिन्ह है)' फिर भी चालुक्य बन जाने के नाते यह उसका कर्त्तव्य हो गया था कि वह इस बात को बिलकुल भूल जाए कि राजा (सिद्धराज) के अतिरिक्त उसका पिता कोई और था, और उसके इसी व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए सोलंकियों के भाट ने अपनी वंशावली में उसे चालुक्य के अतिरिक्त कभी और कुछ नहीं वताया है। 'इन सब वंशों में चालुक्य वंश प्रधान है; कुमारपाल, जिसके गुरु हेमाचार्य हैं, इस वंश का भूषण है; (ये दोनों) मानव जाति के सूर्य और चन्द्रमा हैं।'

अब हम उन अट्ठारह[1] प्रदेशों के नामों का वर्णन करेंगे जो उस समय वल्हरा साम्राज्य के अधीन थे; इन सब का मिल कर इतना वड़ा विस्तार था कि यदि शिलालेखों से इस उल्लेख की पुष्टि न होती तो हम इसे 'चरित्र' लेखक की सारहीन अतिशयोक्ति मात्र ही समझ लेते। आश्चर्य तो इस बात का है कि वारहवीं शताब्दी में लिखे हुए इस विवरण का आठवीं शताब्दी में अरब यात्रियों द्वारा किए हुए वर्णन से भी पूर्ण सामंजस्य है कि यह साम्राज्य भारतीय प्रायद्वीप से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी तक फैला हुआ था। 'गुजरात[1], कर्णाटक[2], मालवा[3], मरुदेश[4], सूरत[5], (सौराष्ट्र), सिन्धु[6], कोंकण[7], सेवलक[8], (शैवलक) राष्ट्रदेश[9], भंसवर[10] (Bhansber), लारदेश[11], संकुलदेश[12], कच्छदेश[13], जालंधर[14], मेवाड़[15], दीपकदेश[16], ऊच[17], (Outch) बम्बेर[18], कैरदेश[19], भीराक[20] (Bheerak); और इनके अतिरिक्त चौदह और प्रदेश थे 'जिनकी

---

[1] कर्णाटे[2] गुर्जरे[1] लाटे[11] सौराष्ट्रे[5] कच्छ[13] सैन्धवे[6]।
उच्चायां[17] चैव भम्भेर्यां* मारवे[4] मालवे[3] तथा॥ १

अर्णोराज की पुत्री से विवाह किया, जो [illegible] भी उसीके अधीन हुए। आगे चल ग्रामों का अधिपति था। [illegible] के साथ कुमारपाल की वंशावली एवं अणहिल- और उसकी राज[illegible] राज्यों का वर्णन किया गया है। कुमारपाल सिद्ध- हरों में [illegible] नहीं था अपितु अजमेर के चौहान राजाओं से उसका निकास [illegible] गुजरात में दैथली (देवस्थली) नामक ग्राम में त्रिभुवनपाल रहता था जो बारह ग्रामों का स्वामी था। काश्मीर[1] से व्याही हुई एक रानी से उसके तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं, जिनके नाम कुमारपाल, महीपाल और कीर्तिपाल तथा पेमलदेवी और देवलदेवी थे। उसका वंश छत्तीसों जातियों में सबसे ऊँचा था।" इन जातियों की एक तालिका भी दी हुई है, जिसके अन्त में यह पद्य है—

"इन सबसे ऊँचा चौहान कुल है,
जिस कुल में कुमार नरिंद उत्पन्न हुआ है,
जो आकाश में सूर्य के समान है,
मानसरोवर मे हंस के समान है,
और जिसने चालुक्यवंश को उज्ज्वल कर दिया है।"[2]

यहां हम चौहानवंशीय राजा के चालुक्यों की राजगद्दी पर बैठने एवं अपरवंश के नाम में कोई परिवर्तन न होने के विषय में विचार करेंगे। यह एक

---

[1] बौद्ध मतावलम्वी इन राजपूतों और काश्मीर के राजाओं में ऐसे वैवाहिक सम्बन्धों के कितने ही उल्लेख मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये लोग एक ही जाति के थे और उसी मत के मानने वाले थे।
संस्कृत मूल में 'नाम्ना कश्मीरीदेवीति' पाठ है, इससे ज्ञात होता है कि रानी का नाम 'कश्मीरदेवी' था। राजकुलों में रानियों को पितृवंश से संवोधित करने का रिवाज़ है।

[2] मूल पद्य इस प्रकार हैं—

छत्रीस राज कुळीअ बखाण,
सघळामां मोटो चूहाण ॥ ३४
जिम तारांमां मोटो चंद,
जिम सुर मांही मोटो इंद।
जिम परवतमां मेरु बखांणि,
तिम क्षत्रीमां जाति चुहाण ॥ ३५
जेणई कुली हुओ कुमरनरिंद,
जाणे प्रगटयो गगनि दिणंद ॥
मांनसरोवर जेहो हंस,
जेणाई दीपाव्यो चउलुकवंस ॥ ३६

ऐसी पद्धति है जिससे राजपूत राजतन्त्र के दो तथ्यों का पता चलता है, जो इस (तन्त्र) को एक साथ चुनाव और दत्तक प्रथाओं पर आधारित सिद्ध करते हैं यद्यपि पूर्व प्रथा को किन्हीं विशेष और आवश्यक अवसरों पर ही ग्रहण किया जाता है। इन राज्यों की संपूर्ण सत्ता यहां के बड़े-बड़े सामन्तों में निहित होती है; हम ऐसे कितने ही उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं कि राज्य के उत्तराधिकारी में व्यक्तिगत दोप होने के कारण राजवंश की अन्यतम शाखा में से किसी व्यक्ति का चुनाव कर लिया गया है और सामन्तों की इच्छानुसार राजा ने उसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी स्वीकार करके गोद लें लिया है। परन्तु, मुझे ऐसा कोई दूसरा उदाहरण याद नहीं है कि जिसमें किसी अन्य शाखा का राजा गद्दी पर बिठाया गया हो और फिर भी उस राजवंश के अभिधान में कोई परिवर्त्तन न हुआ हो। यद्यपि कुमारपाल ने 'सिद्धराज की पगड़ी नहीं बँधाई थी (जो कि गोद होने का चिन्ह है)' फिर भी चालुक्य बन जाने के नाते यह उसका कर्त्तव्य हो गया था कि वह इस बात को बिलकुल भूल जाए कि राजा (सिद्धराज) के अतिरिक्त उसका पिता कोई और था, और उसके इसी व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए सोलंकियों के भाट ने अपनी वंशावली में उसे चालुक्य के अतिरिक्त कभी और कुछ नहीं बताया है। 'इन सब वंशों में चालुक्य वंश प्रधान है; कुमारपाल, जिसके गुरु हेमाचार्य हैं, इस वंश का भूषण है; (ये दोनों) मानव जाति के सूर्य और चन्द्रमा हैं।'

अब हम उन अट्ठारह[1] प्रदेशों के नामों का वर्णन करेंगे जो उस समय वल्हरा साम्राज्य के अधीन थे; इन सब का मिल कर इतना बड़ा विस्तार था कि यदि शिलालेखों से इस उल्लेख की पुष्टि न होती तो हम इसे 'चरित्र' लेखक की सारहीन अतिशयोक्ति मात्र ही समझ लेते। आश्चर्य तो इस बात का है कि बारहवीं शताब्दी में लिखे हुए इस विवरण का आठवीं शताब्दी में अरब यात्रियों द्वारा किए हुए वर्णन से भी पूर्ण सामंजस्य है कि यह साम्राज्य भारतीय प्रायद्वीप से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी तक फैला हुआ था। 'गुजरात[1], कर्णाटक[2], मालवा[3], मरुदेश[4], सूरत[5], (सौराष्ट्र), सिन्धु[6], कोंकण[7], सेवलक[8], (शैवलक) राष्ट्रदेश[9], भंसवर[10] (Bhansber), लारदेश[11], संकुलदेश[12], कच्छदेश[13], जालंधर[14], मेवाड़[15], दीपकदेश[16], ऊच[17], (Outch) बम्बेर[18], कैरदेश[19], भीराक[20] (Bheerak); और इनके अतिरिक्त चौदह और प्रदेश थे 'जिनकी

---

[1] कर्णाटे[2] गुर्जरे[1] लाटे[11] सौराष्ट्रे[5] कच्छ[13] सैन्धवे[6]।
उच्चायां[17] चैव भम्भेर्यां* मारवे[4] मालवे[3] तथा ॥ १

सीमा में कोई जीव नहीं मारा जाता था।' इसके आगे उसकी राज्यव्यवस्था का वर्णन है, परन्तु यदि ऊपर दिए हुए सभी प्रदेशों पर उसकी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार भी करली जावे तो उसकी सेना की संख्या पर सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता; ग्यारह सौ हाथी, पचास हजार सांग्रामिक-रथ, आठ लाख पैदल और ग्यारह लाख घोड़े। ये सब मिला कर उस संख्या से भी बहुत बढ़ जाते हैं जो सेना क्षरक्षॅस[1] (Xerxes) ग्रीस पर चढ़ा कर लाया था।

कौङ्कणे[७] च महाराष्ट्रे[६] कीरे[१६] जालंधरे[१४] पुनः।
सपादलक्षे[१०] (?) मेवाडे[१५] दीपाभी[१६]राख्ययोरपि ॥२ (कु.पा.च)

ऊपर टॉड साहब ने अट्ठारह की जगह बीस देश गिनाए हैं। उक्त पद्य में जिन अट्ठारह प्रदेशों के नाम दिए गए हैं वे प्रायः टॉड साहब की सूची में आ गए हैं, केवल भम्भेरी नहीं आया है। राष्ट्र देश सम्भवतः महाराष्ट्र है और भंसवर शायद साँभर, शाकम्भरी अथवा सपादलक्ष है। सेवलक और संकुलदेश के नाम उक्त पद्य में नहीं आए हैं।

१७–झेलम और चिनाव के संगम से पश्चिम में थोड़ी दूर पर उच्च नामक स्थान अब भी है जो ऊंछ नाम से प्रसिद्ध है। यही उच्च देश का प्रधान नगर था।

*भम्भेरी या बम्बुरा सिन्ध के कराची जिले का एक प्राचीन नगर था। इसके आसपास ही कोट है जहाँ प्रसिद्ध देवालय थे, जिनको सन् ७११ ई. के आक्रमण में मुसलमानों ने तोड़ डाले थे, इसीलिए अब भी लोग इस स्थान को देवल, देवल अथवा दाबल नाम से पुकारते हैं।

१४–जालंधर—इसका क्षेत्रफल १२,१८१ वर्गमील गिना जाता है; इसके ईशानकोण में होशियारपुर जिला है। वायव्य कोण में कपूरथला और व्यास नदी है—दक्षिण में सतलज आ गई है, और सतलज और व्यास के बीच का त्रिकोणाकार भाग जालंधर का दोआबा कहलाता है, जो बहुत उपजाऊ है।

प्राचीनकाल में यह प्रदेश चन्द्रवंशी राजाओं के अधिकार में था। कांगड़ा के आसपास छोटे-छोटे संस्थानों में अब भी इस वंश के लोग बसते हैं। ये लोग महाभारतकाल के सुशर्म चन्द्र के वंशज हैं। सुशर्म ने महाभारत युद्ध के बाद मुलतान का राज्य छोड़ कर जालंधर के दोआबे में काटोच अथवा तैगर्त्त नामक राज्यों की स्थापना की।

चीनी यात्री ह्यू्आन साँग के लेखानुसार सातवीं शताब्दी में होशियारपुर, कांगड़ापर्वत का प्रदेश और आधुनिक चम्बा, मंडी तथा सरहिन्द के इलाके भी जालंधर में सम्मिलित थे। पद्मपुराण में लिखा है कि जालन्धर नामक दैत्य ने इसकी स्थापना की थी। चीनी यात्री ने लिखा है कि जालन्धर का घेरा दो मील का है और इसके दोनों तरफ दो तालाब हैं। गज़नी के इब्राहिम मुसलमान का इस पर अधिकार हो गया था। मुगलकाल में यह नगर सतलज और व्यास नदियों के बीच के दो-आवे की राजधानी था। इसके अलग-अलग विभाग बने हुए हैं और प्रत्येक विभाग के पृथक्-पृथक् परकोटे हैं।

रासमाला, गुजराती अनुवाद, पृ. २३७-३८।

[1] क्षरक्षॅस फारस के बादशाह डेरियस प्रथम का पुत्र था। उसने एक विशाल सेना लेकर ई० पू० ४८० में ग्रीस पर चढ़ाई की थी।—N.S.E; p. 1311

कुमारपाल के सोलह रानियां, बहत्तर सामन्त और अन्य सेनानायक थे। उसने अणहिलवाड़ा को बारह विभागों में बांट दिया था; प्रत्येक विभाग एक मुख्य न्यायाधीश के अधीन था। लार जाति को उसने अपने राज्य से निकाल दिया था। उसने अपने बहनोई शाकम्भरी के राजा पूर्णपाल से युद्ध करके उसे वन्दी बना लिया और उसके राज्य को आक्रान्त किया। सूरत के स्वामी समरेश (Samar-e's) पर भी आक्रमण करके उसको अपने आधीन कर लिया था।[1] संवत् १२११ (११५५ ई०) में उसने मन्दिर[2] पर सोने का कलश चढ़ाया और विदेशियों से कर वसूल करके पवित्र पर्वत गिरनार पर सीढ़ियां बनवाने का खर्चा पूरा किया। कहते हैं कि उसने सिन्ध के रास्ते से होने वाले कितने ही मुसलमानी हमलों का सामना किया था। 'चरित्र' में कुमारपाल को 'जैनधर्म का स्तम्भ' लिखा है, जिसमें जीवहिंसा वर्जित होने के कारण वह राजपूत के लिए उपयुक्त धर्म नहीं माना गया है और इसी धर्म के अनुयायी को सर्वाधिकारी मन्त्री बनाना तो और भी असंगत बात थी।

वर्षा ऋतु में जब वह शाकम्भरी के युद्ध से लौटा तो उसे विचार आया कि इस युद्ध में असंख्य जीवों का[3] भी वध हुआ है; अतः, सम्भवतः हेमाचार्य की प्रेरणा से, उसने भविष्य में उस ऋतु में कभी युद्ध न करने की शपथ ग्रहण की। कहते हैं कि इस सिद्धान्त का पालन करने के निमित्त उसने कन्नौज के राजा जयसिंह के पास भी एक पत्र भेजा जिसमें उसका स्वयं का चित्र याचना करते हुए अंकित था। उस पत्र में कन्नौज के राज्य में पशु-वध बन्द करने की प्रार्थना की गई थी; साथ में, दस लाख सोने के सिक्के और दो हज़ार चुने हुए घोड़े भी थे

---

[1] सम्भवतः यह सरम (Sarama) था, जिसका उपनाम पेरीमल (Perimal) था अर्थात् वह 'प्रमारवंश' का था जिसका रेनॉडॉट (Renadout) ने उल्लेख किया है कि वह मुसलमान हो गया था और उसने अपने अन्तिम दिन मक्का में बिताए थे। (पृ० १७१ अध्याय ८ की अंतिम पंक्ति)

[2] इसको केवल मंदिर लिखा है; हम अनुमान करें कि यह सोमनाथ पत्तन का सूर्यनारायण का मन्दिर होगा। अथवा यह शत्रुञ्जय का मन्दिर होगा।

संवत् १२११ में कुमारपाल ने बाहड़पुर में त्रिभुवनटाल-विहार पर कलश चढ़ाया।
—कुमारपालप्रवन्ध; जिनमण्डन; पृ० ७४ (A)

[3] सन् १८२० ई. में जब मैं मारवाड़ में था तो वहां के असन्तुष्ट सैनिकों ने शिकायत की कि वे तो भूखों मर रहे थे और वहां के जैन मन्त्री कुत्तों को खिलाने में सैकड़ों रुपये खर्च कर रहे थे। ऐसे ही पक्षपातपूर्ण व्यवहार से अणहिलवाड़ा का पतन हुआ होगा। यह एक अजीब सी बात है, परन्तु इसका ठीक-ठीक कारण ज्ञात नहीं है कि सभी वणिक् जातियां विशेषतः ओसवाल जाति अणहिलवाड़ा के सोलंकी राजपूतों से निकली है और आश्चर्य इस बात का है कि प्रायः जैन गुरुओं का चुनाव इन्हीं ओसवालों में से होता है;

अतः राठौड़ ने तुरन्त ही यह प्रार्थना स्वीकार कर ली यद्यपि हम जानते हैं कि इस प्रतिज्ञा का अधिक समय तक पालन करना उसके वश की बात नहीं थी। कुमारपाल के शत्रुओं ने भी उसकी इस सनक से लाभ उठाने में भूल नहीं की। सोलंकियों की वंशावली में भाट ने लिखा है कि रक्तपात को वर्जित करने वाले जैनमत के कारण ही पाटण राज्य का तख़्ता उलट गया। 'चरित्र' में लिखा है कि "गज़नी के ख़ान ने उस पर आक्रमण किया परन्तु उसके ज्योतिषी [गुरु?] ने उसे वर्षा ऋतु में युद्ध करने से मना कर दिया और मन्त्रबल से सोते हुए आक्रमणकारी ख़ान को चालुक्य राजा के महल में मँगवा लिया जिससे ख़ान में और उसमें पक्की मित्रता हो गई।"[1] जहाँ तक पदवी अथवा उपाधि से ही काम चल जाय वहाँ तक हिन्दू इतिहासकार प्रायः व्यक्तियों के नामों का उल्लेख नहीं करते; मुसलिम इतिहासों में इस राजा के राज्यकाल में गज़नी से हुए किसी आक्रमण का विवरण नहीं मिलता। अतः इस आक्रमणकारी के विषय में इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता कि यह निर्वासित शाहज़ादा ज़लालु-

---

[1] कुमारपाल रास में यह वृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

"बात हवि परदेशि जसि, मुगल गिज़नि आव्यो तसि।
सबल सेन लेइ निज साथ, गज रथ घोड़ा बहु संघात।
आँकस बाजी लेई करी, वाटई मुगल पाटण करी।
आव्या मुगल जाण्या जसि, दरवाजा लई भीड़्या तसि
चिन्तातुर हुवा जन लोक, पाटण मांहि रह्या सहि कोक।
एक कहि नर खंडी जहि, एक कहि नर मंडी रहि।
एक कहि कांइ थाइसें, एक कहि ए भागि जासे।
एक कहि ए निसंतराय, एक कहि नृप चढी जाय।
एक कहि नृप नासि आज, एक कहि क्षत्री नी लाज।

मुसलमानी सेना से डर कर लोग उदयन मंत्री के पास गए। उसने उनको धीरज बँधाया और वह स्वयं हेमाचार्य के पास गया तब उसने चक्रेश्वरी देवी का आव्हान किया।

"गुरु वचन देवी सज थई, निश भरी मुगल दल मां गई।
आवी जहाँ सूतो सुलतान, निद्रा देई कीधुं विज्ञान।
प्रहि उगमती जागे जसि, पसि कोई न देखी तसि।
पेखई क्षत्रीनो परिवार, असुर तब हइडि करि विचार।"

ऐसा होने पर खान को बहुत पश्चात्ताप हुआ, परन्तु कुमारपाल ने कहा 'मैं चालुक्यवंशी राजा हूँ, बन्धन में पड़े हुए को मारने वाला नहीं हूँ, अतः तुम्हें भी नहीं मारूंगा।' ऐसा कह कर राजा ने उसका सत्कार किया जिससे ख़ान बहुत प्रसन्न हुआ और कुमारपाल के साथ मैत्री करके अपना लश्कर वापस ले गया।' (रासमाला गुज., अनु., पृ. २९०-९१)

द्दीन ही हो सकता है, जिसके सिन्ध पर हमले और उमरकोट के राजा पर आक्रमण का हाल हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इतिहासकारों ने लिखा है। परन्तु, यह जादू से पकड़ मंगवाने की बात समझ में नहीं आती; यह तो एक कल्पना मात्र है जिससे यह मालूम पड़ता है कि पट्टण पर अधिकार कर लिया गया था। इस कथा का अन्त तो और भी घटनापूर्ण है। उस मुसलमान के साथ मित्रता का फल यह हुआ कि कुमारपाल इसलाम के मूल तत्वों से प्रेम करने लगा और इस कार्य में हेमाचार्य ने पहल की। कहते हैं कि वह भी आचार्य की तरह इस्लाम धर्म में परिवर्तित होकर ही मरता यदि उसके राज्यकाल के तेतीसवें वर्ष में विष देने से उसकी मृत्यु न हो जाती। इस कृत्य का सन्देह उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी अजयपाल पर किया जाता है। इसका कारण यह बताते हैं कि जब राजा को यह मालूम हो गया कि उसे विष दिया गया है तो उसने अपने भण्डार में से सींप से बनी हुई विष-उतार की दवा मंगाई, जो अजयपाल ने इधर-उधर करदी। हेमाचार्य की मृत्यु एक वर्ष पहले ही हो चुकी थी। यद्यपि पागलपन का पर्दा डाल कर जैनमत के इस महान् आचार्य के स्वधर्म-त्याग की असाधारण घटना को छुपाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु, कहते हैं कि मरते समय 'अल्लाह' 'अल्लाह' के अतिरिक्त उनके मुंह से और कोई शब्द नहीं निकले थे। परन्तु, उनके धर्म-परिवर्तन का अकाट्य प्रमाण यह है कि मरने के बाद उनके अवशेषों को गाड़ा गया था।[1] इस सुप्रसिद्ध व्यक्ति का अन्त संवत् १२२१ में हुआ। उनका जन्म संवत् ११४५ में हुआ था। 'चरित्र' के शब्दों में ही हम इस राजा का चरित्र समाप्त करते हैं 'संवत् १२२२ (११६६ ई०)[2] में कुमारपाल प्रेत हो गया। उसके उत्तराधिकारी अजयपाल द्वारा विष दिए जाने के कारण उसकी मृत्यु हुई।'

---

[1] जयसिंह सूरिकृत कुमारपाल चरित (सर्ग १०; पद्य २१५-२१७) में यह प्रमाणित किया गया है कि हेमाचार्य का अग्निदाह किया गया था। लिखा है कि चन्दन, मलयागरु और कपूर आदि उत्तम पदार्थों द्वारा सूरि के मृत शरीर का संस्कार किया गया। उसकी भस्म को पवित्र मान कर राजा ने तिलक लगाया और नमस्कार किया। यह देख कर सामन्तों एवं अन्य लोगों ने भी ऐसा ही किया। भस्म बीत जाने पर लोग वहाँ से मिट्टी भी खोद ले गए जिससे एक घुटनों तक गहरा खड्डा बन गया। यह खड्डा पाटण में 'हेम खाडा' के नाम से प्रसिद्ध है।

[2] संवत् और सन् लिखने में क० टॉड ने सर्वत्र भूल की है। यहाँ भी उनके आधारभूत कु० पा० चरित्र में कुमारपाल का मरण समय संवत् १२३० लिखा है—

"संवत् बारसें त्रीसइं राय, कुमारपाल व्यंतर मां जाय।

अब हम इस राजा के राज्यकाल के विषय में प्राप्त विभिन्न एवं विचित्र विवरणों की व्याख्या करेंगे और अन्य विश्वसनीय वृत्तान्तों के आधार पर 'चरित्र' में वर्णित तथ्यों की जाँच भी करेंगे। इसी राजा के समय में प्रसिद्ध अरब भूगोल-वेत्ता अल-इदरिसी बल्हरा-राज्य में आया था जिसके वर्णन से बेयर (Bayer) और द'ऑनविले ने बहुत-सी सूचनाएं प्राप्त की हैं। ऊपर दिए हुए उद्धरण के बाद ही द'आनविले लिखता है—"नहरूरा (Nahroora) का उल्लेख इदरिसी में आता है। निस्सन्देह, यह भारत में है जिसे हम गुजरात के नाम से जानते हैं। इस भूगोलवेत्ता के अनुसार भारत के सभी दूसरे राज्यों में इस नगर का प्रभुत्व रहा है। यहां के राजा का भारतवर्ष के अन्य सभी राजाओं से अधिक सम्मान होता था; उसे 'बलहरा' की पदवी प्राप्त थी जिसका अर्थ 'राय' अथवा 'सर्वश्रेष्ठ अधिपति' होता है। इस प्रसिद्ध राजा का निवासस्थान इसी नगर में था। टॉलेमी ने बालेकूरों के शाही नगर के रूप में 'हिप्पोकूरा' (Hippocoura) नाम बताया है और वह इसकी स्थिति 'लारिस' के समीप एक भारतीय प्रान्त में मानता है, जिसको अफ्रीका की संज्ञा देता है; मैं पहले ही इसको 'गुजरात' बता चुका हूँ। 'बालेकूर' और 'बल्हरा' पदवी की समानता एवं प्रान्त की सुलभता को देखते हुए मुझे विश्वास है कि यह प्रसंगगत राजा से ही सम्बद्ध है।" इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने उपर्युक्त वक्तव्य से यह समुचित निष्कर्ष निकाला है—"भारत में एक गौरवपूर्ण सुप्रसिद्ध राज्य है, जिसका हमें तीसरी (सम्भवतः दूसरी ?) शताब्दी के आरम्भ में ही पता चल जाता है और जिसका विवरण बारहवीं शताब्दी में अरब विद्वान् द्वारा लिखी गई पुस्तक में भी मिलता है।" यहां वह पन्द्रहवीं [शताब्दी] भी जोड़ सकता था। निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सूचना के साथ वह अपना वक्तव्य समाप्त करता है—"इदरिसी हमें बताता है कि बल्हरा बुद्ध का भक्त था।"

उपर्युक्त एवं अन्य सूचनाओं के आधार पर ही द'आनविले ने इस सुप्रसिद्ध नगर की स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया है। "स्वयं पूर्वीय भूगोल-शास्त्रियों के ही विवरण ऐसे हैं कि जिनसे बल्हरा के राजकीय नगर की स्थिति का निश्चित रूप से पता लगना सुगम नहीं है। इब्न सईद ने तीन बार समुद्री मार्ग से खम्भात बन्दर की यात्रा की थी; उसके मतानुसार इसकी स्थिति मैदान में है।"

न्यूबिअन (Nubian) भूगोल-शास्त्री के इन स्पष्ट उद्धरणों से 'चरित्र' में वर्णित अणहिलवाड़ा के गौरव, यहां के राजाओं की शक्ति एवं उनके द्वारा प्रतिपालित धर्म-विषयक विवरण की भली भांति संपुष्टि हो जाती है; और

जब इदरिसी यह कहता है कि यह भारतीय राज्यों में सब से बड़ी इसी राजधानी का नगर था तो चरित्रकार के इस कथन पर हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता कि इस नगर का विस्तार पन्द्रह मील की परिधि में था और कुमारपाल को इस राज्य को बारह प्रान्तों में विभाजित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इदरिसी ने इस राजा की शक्ति एवं प्रभाव के विषय में भी अपना मत देकर समर्थन किया है। उसने लिखा है कि "भारत के अन्य सभी राजा उसका सम्मान करते हैं।" इस विषय में हमारे पास ऐसे ही और भी सबल प्रमाण मौजूद हैं। उसके सैन्य-विस्तार के समान ही हम उसके द्वारा अधिकृत अट्ठारहों राज्यों के विषय में भी शंका को व्यक्त करते हुए अवश्य परीक्षण करते, परन्तु इस सम्बन्ध में ऐसे पुष्ट और निर्विवाद प्रमाण मौजूद हैं कि संदेह का कोई अवसर ही उपस्थित नहीं होता। इनमें सबसे सबल प्रमाण दो शिलालेखों का है (परि० सं० ३ व ४) जिनमें से एक चित्तौड़ के मन्दिर में सुरक्षित है और दूसरा पाटण नगर में। 'चरित्र' में वर्णित उसकी मेवाड़ विजय, पंजाब में सालपुर नगर और हिमालय की बाह्य श्रेणी शैवलक (Sewaluc) पर्वत तक आधिपत्य होने की बातों के अकाट्य प्रमाण इन शिलालेखों से प्राप्त होते हैं। जालन्धर, उंछ और सिन्धु पर विजय प्राप्त करना तो इससे भी सरलतर बात थी। इस प्रकार अरब भूगोलशास्त्री अबुल फ़िदा के वर्णन की पुष्टि होती है, जिसका उद्धरण बेयर (Bayer) ने अपने चूडासमा ख़्वार्ज़्म (Chorasmia-Khwarzm) विवरण में दिया है।[1]

'चरित्र' के इन अंशों से लारिस(Larice) और एरिआक (Ariaca) देशों से सम्बन्धित बहुत समय से चला आया विवाद भी स्पष्टतया शान्त हो जाता है। टॉलॅमी ने इनको पड़ौसी देश लिखा है। उसके मतानुसार यह देश सायरा-स्ट्रीन (Syrastrene) (सौराष्ट्र ?) अथवा सौरों के प्रायद्वीप का एक मुख्य भाग था। 'चरित्र' में अणहिलवाड़ा के अधीनस्थ अट्ठारह राज्यों में लार देश का भी वर्णन आया है और यह भी उल्लेख है कि किसी अपराध के कारण कुमार-पाल ने 'लार जाति को देश से बाहर निकाल दिया था।' इब्न सईद ने इस देश की स्थिति के प्रश्न को यह कह कर हल किया है कि 'मैंने उन अधिकारी विद्वानों से भेंट की है, जो सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर की स्थिति लार देश में बताते हैं।" कुछ भी हो, इससे यह बात तो सिद्ध हो ही जाती है कि यह जाति

---

[1] 'Terram Khanbalek ab Austro attingunt montes Belhar, qui est rex rex regum Indiae.'

टॉलॅमी (Ptolemy) के समय में इतनी शक्तिशाली थी कि एक पूरा देश ही इसके नाम से विख्यात था और बारहवीं शताब्दी तक इसमें इतनी शक्ति मौजूद थी कि अणहिलवाड़ा के राजा को बदला लेने के लिए बल प्रयोग करना पड़ा। इस जाति के बचे-खुचे लोग अब तृतीय वर्ण अथवा वैश्यों में पाए जाते हैं। मरु देश में बसने वाली चौरासी जातियों[1] में से यह भी एक है, जो जैन मत का अवलम्बन करती है। मिस्र देशीय महान् भूगोलशास्त्री के 'लारिस' (Larice) और हमारे 'लार' देश के निवासियों के सम्बन्ध में इतना ही विवरण पर्याप्त है। 'लारिस' के पड़ौसी प्रान्त, जिसका नाम उसने 'एरिआक' लिखा है, के विषय में हम प्रसंगवश पाठकों को पहले ही परिचय दे चुके हैं, और यदि विद्वान विल्फोर्ड (Wilford) 'तगर (Tagara) के स्थान पर एरिया (Aria) की राजधानी की इस व्याख्या को पूर्णतया मान लेता तो वह हिन्दू-पुरातत्त्व के महान् अन्वेषकों में गिना जाता। तगर (Tagara) और एरिआक (Ariaca) के इस विवरण का अवसर एक शिलालेख के कारण उत्पन्न हुआ, जो बम्बई के पास तन्न (थाना या ठाणा) के खण्डहरों की खुदाई में प्राप्त हुआ था और सौभाग्य से जनरल करनाक (Caranc) के हाथ पड़ गया था। निःसंदेह इन लेखों से अब तक प्राप्त प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों में एक और मनोरंजक तथ्य की वृद्धि हो जाती है और विल्फोर्ड के विषय में यह कथन पूर्णतया न्यायसंगत ठहरता है कि इनकी प्राप्ति के अनन्तर ऐसा योग्य रहस्योद्-घाटक व्याख्याता (Expositor) और कोई नहीं हुआ। इन मूल्यवान अभिलेखों पर अतिरिक्त प्रकाश डालने के लिए मैं स्वयं को भी सौभाग्यशाली मानता हूँ क्योंकि इनसे प्रस्तुत विषय में पर्याप्त स्पष्टता आ जाती है।

---

[1] 'इतिहास' में वैश्यों की चौरासी जातियाँ इस प्रकार गिनाई गई हैं—
श्री श्रीमाल, श्रीमाल, ओसवाल, बघेरवाल, डिण्डू, पुष्करवाल, मेड़तवाल हरसोरा, सूरवाल, पल्लीवाल, भम्बू, खण्डेलवाल, दोहलवाल, केडरवाल, देसवाल, गूजरवाल, सोहड़वाल, अग्रवाल, जायलवाल, मानतवाल, कजोटीवाल, कोरतवाल, छेहत्रवाल, सोनी, सोजतवाल, नागर, माद, जल्हेरा, लार, कपोल, खेड़ता, बरारी, दशोरा, भाँभरवाल, नागद्रा, करवरा, बटेवड़ा, मेवाड़ा, नरसिंहपुरा, खेतरवाळ, पञ्चमवाळ, हनेरवाल, सरखेड़ा, वैस, स्तुखी, कम्बोवाल, जीरणवाल, बघेलवाल, ओरछितवाल, बामनवाल, श्रीगुरू, ठाकरवाल, बलमीवाल, तिपोरा, तिलोता, अतबर्गी, लाडीसाख, बदनोरा, खींचा, गसोरा, बहावहर, जेमो, पदमोरा, महरिया, धाकड़वाल, मनगोरा, गोलवाल, मोहोरवाल, चीतोड़ा, काक-लिया, भाड़ेजा, अन्दोरा, साचोरा, भंगरवाल, मनदहला, ब्रामणिया, बगड़िया, डिण्डोरिया, बोरवाल, सोरबिया, ओरवाल, नफाग, और नागोरा। (एक कम है)
—कुक्स संस्करण, भा० १; १९२०; पृ० १४४

इन ताम्रपत्रों में भूमिदान का विवरण है, जो शक संवत् ९३९ अथवा १०७४ विक्रमीय तदनुसार १०१८ ई० में हुआ था। साधारण रीत्यनुसार इनमें भी दाता की वंशपरम्परा का उल्लेख है। पाँचवें पद्य में लिखा है कि कपर्दिन् 'सिलॉर वंश का प्रधान' था जिसका उल्लेख अणहिलवाड़ा के सम्राटों के अधीनस्थ छत्तीस जातियों में 'राजतिलक' विशेषण के साथ हुआ है। सम्भवत: यह सिलार 'लार' ही है, जिसके साथ सि अथवा सु उपसर्ग 'श्रेष्ठ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और क्योंकि टॉलॅमी एवं एरिअन के समय में भी 'लारिस' और 'एरिआक' के पड़ौसी प्रान्त उसी सम्राट् के अधीन थे इसलिये हमें इस व्याख्या को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। अंतिम 'a' अनावश्यक है, जो अंग्रेजी सम्पादक ने रख दिया है; यह अक्षर बोला नहीं जाता और प्राय: व्यक्तिवाचक नामों के साथ लगाने पर भ्रम ही उत्पन्न करता है। आठवें पद्य में कहा है कि बाद में उसका पौत्र गोगनी (Gogni)का स्वामी हुआ। सम्भवत: उसने खम्भात (Cambayet) के प्रसिद्ध नगर और बंदरगाह पर अधिकार कर लिया होगा, जिसका प्राचीन नाम गर्जनी (Garjni) अथवा गजनी (Gajni) था और जो लारिस और एरिआक के मध्य में स्थित होता हुआ उन्हें आपस में सम्बद्ध करता था। सोलहवें पद्य में उपभोक्ता का नाम अरिकेसर आया है जिसका शब्दार्थ यद्यपि अरियों अर्थात् शत्रुओं के लिए केसरी या सिंह के समान होता है, परन्तु यदि इसे अपने देश अरिया (Aria) का सिंह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उसका मूल नाम देवराज आगे के वाक्य में परिणत हुआ है अर्थात् 'अरिकेसर देवराज सिलार वंश का राजा तगर (Tagara) नगराधिपति समस्त कोंकण देश पर शासन करता है, जिसमें चौदह सौ ग्राम एवं नगरादि हैं' इत्यादि। इन्हीं में से एक मम्बई (बम्बई) से मिला हुआ तन्न (Tanna) [थाणा] भी था। एरिअन के पॅरिप्लस नामक ग्रन्थ में से उद्धरण देते हुए विल्फोर्ड ने लिखा है कि "तगर एक विशाल प्रान्त की राजधानी था, जो एरिआक कहलाता था; इस प्रान्त में औरङ्गाबाद और कोंकण आदि सूबे भी सम्मिलित थे।' (वास्तव में, (यहाँ) शिलालेख के शब्द ज्यों के त्यों दोहराए गए हैं), 'क्योंकि दमाँऊ (दम्मन), कल्याण, सालसिट (Salsette) जिसमें तन्न [थाणा] था और बम्बई आदि एरिअन और इब्न सईद के मतानुसार, लारिकेह (Larikeh) अथवा लार के राजा के अधिकार में थे।" यह वही निष्कर्ष है जिस पर मैं 'चरित्र' एवं अन्य स्थानीय प्रमाणों के आधार पर पहुँचा हूँ। विल्फोर्ड ने आगे भी एरिअन के उद्धरण दिए हैं। 'उसका (एरियन का) कहना है कि ग्रीक लोगों को कल्याण एवं अन्य बन्दरगाहों पर नहीं उतरने दिया जाता था।' ऐसा पहिले नहीं था,

क्योंकि वे स्वतन्त्रतापूर्वक दक्षिण में प्रवेश कर सकते थे और कल्याण तथा बम्बई से अपना अपना माल जहाजों में लाद सकते थे। आगे चल कर उसने लिखा है कि बरुगाजा (Barugaza)[१] ही एक ऐसा बन्दरगाह था जहाँ वे लारकेह अथवा लार के राजा सन्दनेश [स्यन्दनेश?] (Sandanes) की आज्ञा से व्यापार करने के लिए रह सकते थे और उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने वालों को पकड़ कर भडौंच भेज दिया जाता था। सम्भवतः यह स्थिति रूमी (Roman) दूतों के प्रबल प्रभाव से पैदा हुई थी जैसा कि विल्फोर्ड ने कहा है कि मिस्र-विजय करने के बाद उन्होंने भारतीय व्यापार (क्षेत्र) पर एकाधिपत्य जमा लिया था और अन्य देशीय व्यापारियों के लिए लाल-समुद्र (का मार्ग) बन्द कर दिया था। विल्फोर्ड का मानना है कि ग्रीक लोगों ने दक्षिण में अपनी विजय को सुगम बनाने के लिए सालसिट में जबरदस्ती एक बस्ती बसा लेने का प्रयत्न किया था जिसमें उनके बैक्ट्रिया (Bactria) वाले बन्धुओं का प्रभाव भी काम कर रहा था। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि मेनान्दर (Menander) और ओपोलोडोटस (Appolodotus) सौरों के ΣVPOl राज्य में घुसते चले गए थे तो हमें विल्फोर्ड की कल्पना असङ्गत प्रतीत नहीं होती। उसने कल्याण से दक्षिण में बन्दरगाहों पर जहाजों की रोकथाम के विषय में प्लिनी, एरिअन और टॉलॅमी के लेखों से प्रमाण उद्धृत किए हैं और यह बताया है कि ग्रीक लोगों के लिए वहाँ पर उतरना वर्जित था।

अब, इन भिन्न-भिन्न प्रमाणों को जब हम एक करके देखते हैं तो बाद के जमाने में भी वही लोग हमारे सामने आते हैं और मुख्यतः स्थानीय जनश्रुतियाँ भी यही प्रमाणित करती हैं कि जहाजी विप्लवों के कारण ही देवबन्दर के सौर अथवा चावड़ा राजा को 'लारिक देश' से निकाला गया था। परन्तु, निकालने वाला कौन था? मिस्री, ग्रीक और रोमन लोगों ने बारी-बारी से भारतीय व्यापार पर आधिपत्य जमा लिया था; परन्तु, इन सभी को नील (नदी) और लाल समुद्र से, जहाँ इस्लाम का विजय-ध्वज फहरा रहा था, सन् ७४६ ई० में वंशराज द्वारा अणहिलवाड़ा की पुनः स्थापना होने पर निकाल बाहर किया गया था। अतः यह दुर्घटना जल के अधिपति वरुण देवता द्वारा न होकर हारूँ के जहाजी बेड़े द्वारा हुई होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कुमारपाल बौद्ध धर्म का महान् रक्षक था। इसकी पुष्टि 'चरित्र' से भी होती है और अल-

---

[१] भडौंच।

इदरिसी में भी लिखा है कि जैन और बौद्ध मत प्रायः समान ही हैं; केवल एक की मान्यताओं का दूसरे में परिष्कार मात्र हुआ है। इस कथन पर सन्देह करने का कोई अवसर नहीं है। मैं अणहिलवाड़ा की इतिवृत्तीय रूपरेखा का वहाँ के धर्म, व्यापार एवं जहाजी-सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए उपसंहार करना चाहता हूँ। अतः हम कुमारपाल सम्बन्धी वृत्तान्त को यही कह कर समाप्त कर देते हैं कि मुसलमान इतिहासकारों ने शाहबुद्दीन के विस्फोट के अतिरिक्त और किसी आक्रमण का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, जो कुमारपाल और उसके गुरु हेमाचार्य के स्वधर्मत्याग की घटना के बीस वर्ष बाद हुआ था और जिससे हिन्दू सत्ता पर पतन की छाप लग गई थी। मेरे गुरु भी उन्हीं सुप्रसिद्ध जैनाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में हैं और मेरे अणहिलवाड़ा-सम्बन्धी अनुसंधानों में भी मुझे इनसे बहुत सहायता मिली है; इन्होंने भी जनश्रुति के तथ्य को स्वीकार किया है, परन्तु धर्म-परिवर्त्तन की बात को जादू के प्रभाव से उत्पन्न पागलपन बताकर लीपापोती कर दी है। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इन दोनों का धर्म-परिवर्त्तन बलपूर्वक किया गया था। अतएव हम कुमारपाल-विषयक वृत्तान्त को यह कह कर समाप्त करते हैं कि वह अपने समय का सबसे बड़ा राजा था और साथ ही उस धर्म का, जिसको त्याग कर उसने इस्लाम ग्रहण किया था, क्रमशः सबसे बड़ा सबल पोषक और तदनन्तर घोर विरोधी भी था।

अजयपाल संवत् १२२२ अर्थात् ११६६ ई० में गद्दी पर बैठा।[1] जैसलमेर के इतिहास में उसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि संवत् १२१५ में धार के राजा यशोवर्मन के पुत्र रणधवल[2] की बहन से विवाह के सम्बन्ध में वह जैसलमेर के राजकुमार का प्रतिद्वन्द्वी था। राजा भोज[3] के महत्त्वपूर्ण समय का निर्धारण करने वाले शिलालेख से सोलंकी और भाटी वंशों के इतिहास की समकालीनता तुरन्त ही प्रमाणित हो जाती है। यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता कि अजयपाल कुमारपाल का उत्तराधिकारी होने के

---

[1] प्रबन्ध-चिन्तामणि के कर्ता आचार्य मेरुतुंग ने लिखा है कि अजयपाल संवत् १२३० वि० (११७४) ई० में गद्दी पर बैठा।

[2] उसी इतिहास में लिखा है कि परमार के तीन पुत्रियां थीं और पाटण के अजयपाल के अतिरिक्त चित्तौड़ का युवराज भी वहाँ पर प्रतिस्पर्धी के रूप में उपस्थित था। भाटी के प्रति पक्षपात रखते हुए भी एक उपाख्यान में मेवाड़ के युवराज की श्रेष्ठता स्पष्ट स्वीकार की गई है। इस उपाख्यान में दोनों के झगड़े का वर्णन है, जो इस बात को लेकर खड़ा हुआ था कि भाटी ने मेवाड़ के राजकुमार के प्याले से पानी पी लिया था। इस इतिहास में कमसे कम चार समकालीन राजवंशों का वर्णन आया है।

[3] देखिए 'टॉन्जॅक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, जि० १, पृ० २२६।

साथ-साथ उसका पुत्र भी था।[१] सोलंकियों के भाट की वंशावली में उसका नाम छोनीपाल लिखा है और समकालीन शिलालेखों में भी यही नाम मिलता है। उसी (जैसलमेर के) इतिहास में लिखा है कि "वह तीसरे राजवंश अर्थात् वाघेलावंश का संस्थापक था।" यह भी लिखा है कि कुमारपाल को ज्योतिषियों ने पहले ही कह दिया था कि उसके मूलनक्षत्र में पुत्र उत्पन्न होगा, जो अपने पिता की मृत्यु का कारण होगा। इसीलिए उसको पैदा होते ही वाघेश्वरी माता के मन्दिर में चढ़ा दिया गया था। वहाँ पर माता ने सोलंकी बालक को नष्ट होने से बचाया ही नहीं वरन् वाघिनी के रूप में अपना स्तनपान भी कराया, जिससे उसके पुत्र का वंश देश में वाघेला[२] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने पिता के समान वह भी इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गया था और उसके शासन में सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मन्दिरों को, वे आस्तिकों के हों अथवा नास्तिकों के, जैनों के हों अथवा ब्राह्मणों के, नष्ट करवा दिया। किसी प्रकार तारिंगी (Taringi) की पहाड़ी पर एक मन्दिर बच गया, जो कूगर (Kugar) की लकड़ी का बना हुआ बताया जाता है[३]। कहते हैं कि यह लकड़ी आग नहीं पकड़ती। अजयपाल अपने उत्कर्ष और पितृ-घात, स्वधर्मत्याग तथा देवस्थान-भंजन के कार्यों के पश्चात् अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा। क्रोधावेश में उसने हेमाचार्य के उत्तराधिकारी की आँखें निकलवा लीं[४] और इसके बाद ही वह घोड़े पर से गिर पड़ा। वह पशु उसे मार्ग में घसीटता हुआ ले भागा और इसीसे उसकी मृत्यु हो गई।[५] अबुल-फज़ल ने लिखा है कि कुमारपाल ने तेवीस वर्ष राज्य किया और अजयपाल ने आठ वर्ष; परन्तु, 'चरित्र' में इन दोनों का राज्यकाल मिला कर तीस वर्ष लिखा है, जिसमें अजयपाल का समय दो वर्ष से भी कम बताया गया है।[६]

---

[१] द्व्याश्रय के कर्त्ता का कहना है कि अजयपाल मृत राजा कुमारपाल के भाई महीपाल का पुत्र था।

[२] वाघेलखण्ड (Baghelcund) के राजा इसी वंश के हैं। गुजरात में इस जाति के और भी छोटे-छोटे राज्य हैं जैसे, लूणावाड़ा, माण्डवी, माहीड़ा, गोध्रा, डभोई आदि।

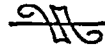
[३] कहते हैं कि यह मन्दिर नौ मंजिला है और अब तक विद्यमान है।

[४] 'प्रबन्धचिन्तामणि' में लिखा है कि उसने सौ प्रबन्धों के रचयिता रामचन्द्र नामक जैन विद्वान् को तप्त ताम्रपट्ट पर बिठा कर मारा था।

[५] एक दिन वयजल्ल देव नाम के प्रतिहार ने उसके कलेजे में छुरी भोंक दी। प्र. चि. ४, पृ. १५६।

[६] 'चरित्र' में लिखा है, अकेले कुमारपाल ने तीस वर्ष राज्य किया।

इस इतिवृत्त की पुष्पिका इस प्रकार है, 'इस प्रकार 'चरित्र' का गुजराती भाषान्तर, जो संवत् १४६२ (१४३६ ई०) में किया गया है, समाप्त हुआ और उसकी यह प्रति अकबर के राज्य में लिखी गई। सालिग सूरि आचार्य-कृत मूल इतिहास संस्कृत में अड़तीस हजार श्लोकों में है और यह गुजराती भाषान्तर तेरह हजार श्लोकात्मक है।'[1]



[1] संवत् १४६२ में हुए तेरह हजार श्लोकात्मक किसी गुजराती भाषान्तर का पता नहीं चलता है। वस्तुत: उपाध्याय जिन मण्डन गणि ने कुमारपालप्रबन्ध की रचना १४६२ संवत् में की है, जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

प्रबन्धो योजितः श्रीमत्कुमारनृपतेरयम्।
गद्यपद्यैर्नवैः कैश्चित्, कैश्चित् प्राक्तननिर्मितैः॥
श्रीसोमसुन्दरगुरोः शिष्येण या श्रुतानुसारेण।
श्रीजिनमण्डनगणिना, द्व्यङ्कमनु (१४६२) प्रमितवत्सरे रुचिरः।

इसी का अनुवाद विजयसेनसूरि के भक्त श्रावक ऋषभदास ने संवत् १६७० (१६१३ ई०) में किया था, जो बादशाह अकबर से तुरन्त बाद का समय है। प्रशस्ति से पूर्व ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी गुरु-परम्परा में हीरविजयसूरि का गुणगान किया है, जिसमें 'साहि अकब्बर' का नाम बार-बार आया है। अकबर ने हीरविजय को आमन्त्रित करके एक विशाल ग्रन्थ-संग्रह भेंट किया था। सम्भवतः इसी कारण टॉड साहब को ऐसी भ्रान्ति हुई है। संस्कृत में कुमारपाल सम्बन्धी अड़तीस हजार श्लोकों वाला कोई प्रबन्ध नहीं मिलता, न तेरह हजार श्लोक परिमाण का गुजराती अनुवाद ही उपलब्ध है।

विशेष टिप्पणी—इस प्रकरण में कुछ नाम ऐसे आए हैं जो तुरन्त ही स्पष्ट नहीं होते। इनके विषय में कुछ सूचनाएं बाद में मिलीं जो यहाँ दी जा रही हैं। इनसे इनको समझने में सुविधा रहेगी।

Areake (एरियाके अथवा एरिआक)—यह महाराष्ट्र प्रदेश हो सकता है। यहाँ के निवासी मराठा या महाराष्ट्रों ने इसका यह नाम इसलिए रखा होगा कि वे मुख्यतः आर्य थे और उनके राजा भी भारतीय थे। वे इस नाम 'आर्यक अथवा एरिआके' के

[पृष्ठ २०३ का शेष]

द्वारा पड़ौसियों अथवा आधीनता में आई हुई जातियों से अपनी वरिष्ठता बताना चाहते थे। टॉलॅमी के समय में यह प्रदेश तीन मुख्य भागों में बँटा हुआ था, जिनमें से एक Sadinies (सादिनी) वंश के अधीन था। इनकी प्रजा में बहुत करके वे उन्नतिशील व्यापारिक जातियाँ थीं जो, समुद्र-तट पर बसी हुई थीं।

इस वंश का वर्णन पॅरिप्लुस (शीर्षक ५२) में आया है, उससे ज्ञात होता है कि Sandanes (सन्दनेस या स्यन्दनेश) ने कल्याण पर अधिकार कर लिया, जो पहले सॅरॅग्नीस (Saragnes) के अधीन था। इसके बाद उसने व्यापार पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए जिसके अनुसार यदि कोई ग्रीक जहाज भूल से भी उसके राज्य के बन्दरगाह पर आ जाता था तो उसे गिरफ्तार करके 'बरुगाज़ा' राजधानी में पहुँचा दिया जाता था।

लासॅन (Lassen) के अनुसार Sandanes का आधार संस्कृत 'साधन' (Sadhana) शब्द है जिसका अर्थ पूर्ण, पूरक अथवा प्रतिनिधि होता है। Saraganes सम्भवतः महान् शातकर्णी अथवा आन्ध्र वंश में से कोई है। 'पॅरिप्लुस' के अनुसार 'एरिआके' से मलाबार अथवा सम्पूर्ण भारत के राज्य का आरम्भ होता है। (पृ. ३८-४०)

Barygaza (बॅरिगाज़ा) का आधुनिक नाम भड़ौंच है, जो समुद्र से ३० मील दूर नर्मदा के उत्तर में स्थित है। पॅरिप्लुस में इसका बार-बार उल्लेख हुआ है। उस समय यह पश्चिमी भारत का सबसे बड़ा नगर और शक्तिशाली राज्य की राजधानी था। डॉ० जॉन विलसन ने (Indian castes, Vol. II, p. 113 में) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

'भार्गव शब्द भृगु से बना है। भृगु ऋषि थे। भड़ौंच के निवासी अवश्य ही पूर्व में भृगु के अनुयायी होकर यहाँ आए होंगे। यह क्षेत्र उनको किसी विजेता ने प्रदान किया होगा।' टॉलॅमी का 'बॅरिगाजा' भृगुक्षेत्र अथवा भृगुकच्छ का ही अपभ्रंश है। अब तक भी अपढ़ गुजराती इसको 'बरगछ' कहते हैं। (पृ. १५३)

Larike—लार देश गुजरात और कोंकण के उत्तरी क्षेत्र का प्राचीन नाम है। यह नाम बहुत दिनों तक चलता रहा क्योंकि आरम्भिक मुसलमानी समय तक पश्चिमी तट के पश्चिम में आया हुआ समुद्र, लार समुद्र कहलाता था और यहाँ की भाषा 'मसऊदी या लारी कहलाती थी।'—Yule's Morcopolo, Vol, II, p. 535

टॉलॅमी का दिया हुआ 'लारिके' (Larike) नाम का आधार भौगोलिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिक है। यह भाग समुद्र के समीप होने के बजाय अन्तरंग की ओर है, जहाँ खूब खेतीबाड़ी और व्यापार होता था। (पृ. १५३)

—Mc Crindle's Ancient India as described by Ptolemy.

प्रकरण १०

अणहिलवाड़ा का इतिहास (चालू); भीमदेव; उसका चरित्र; अणहिलवाड़ा और अजमेर में युद्ध का कारण; भीम और दिल्लीपति पृथ्वीराज का युद्ध; भीमदेव का वध; पृथ्वीराज द्वारा गुजरात–विजय; शिलालेख; मूलदेव; वीसलदेव; भीमदेव; अणहिलवाड़ा का वैभव; अर्जुनदेव; सारङ्गदेव; कर्णदेव गैला (विक्षिप्त); मुसलमानों का आक्रमण; बल्हरा सत्ता का अस्त; टाक जाति द्वारा गुजरात-प्राप्ति और राजधानी का परिवर्त्तन; अणहिलवाड़ा के नाम का पाटण में पर्यवसान; इन ऐतिहासिक अभिलेखों का मूल्य; परिणामों का सिंहावलोकन।

भीमदेव संवत् ११६६ ई०[1] में गद्दी पर बैठा। समसामयिक इतिवृत्तों में उसके नाम से पूर्व 'भोला' पद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सीधा, मूर्ख या पागल होता है। राजपूत इतिहासकार एक ही नाम वाले राजाओं में भेद बताने के लिए गणनात्मक अंकों का प्रयोग न करके किसी विशिष्ट पद अथवा उपसर्ग का ही सहारा लिया करते हैं। भीमदेव के विषय में जो कुछ वृत्तान्त ज्ञात है वह हमें चौहानों के इतिहास से ही प्राप्त हुआ है; यदि वह 'भोला' था तो बल्हरा वंश की राजगद्दी पर बैठने वाले राजाओं में क्रमेण वह तीसरा पागल राजा था। यह एक ऐसी बात थी, जो इस शक्तिशाली साम्राज्य को पैंदे बिठा देने के लिए मुख्य और पर्याप्त कारण थी; फिर, भले ही इन राजाओं के सभी पूर्वज सुलेमान के समान ही बुद्धिमान क्यों न हुए हों। ऐसा भी हो सकता है कि लिपिकार ने 'बल' या 'बाल' को ही 'भोला' लिख दिया हो क्योंकि चन्द [वरदाई] ने उसे 'बाल का राय, चालुक्य वीर' लिखा है; कवि ने यदि वास्तव में उसका ऐसा चित्रण किया है तो यह विशेषण एक स्वाभिमानी और उद्धत राजपूत के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भीम ने अपने पूर्ववर्ती राजाओं के दोषों को जल्दी ही भुला दिया और एक वीर योद्धा के रूप में अपने आपको सिद्धराज का राजदण्ड ग्रहण करने के लिए सब प्रकार से योग्य प्रमाणित किया। शाकम्भरी के चौहान राजा सोमेश्वर से युद्ध करके उसका वध करने और अन्त में उसके पुत्र

---

[1] ११७६ ई०—रासमाला, भाग १, रालिन्सन, १९२०; पृ. २००।

राजपूत रोलॅण्डो[1] पृथ्वीराज से लोहा लेने की कथाएँ चन्द कवि के महाकाव्य में अत्यन्त रोचक उपाख्यानों के रूप में वर्णित हैं। यदि इसी को पागलपन या भोलापन कहा जाय तो यह बहुत ऊँचे दर्जे का पागलपन था। कवि चन्द के काव्य में से प्रभूत मात्रा में उद्धरण देना यहां आवश्यक नहीं है, विशेषत: इसलिए भी कि किसी दिन इस काव्य का बहुत कुछ भाग जनता के सामने प्रस्तुत करने का मेरा विचार है; परन्तु, फिर भी यहाँ इतनी मात्रा में तो इसके अंश उद्धृत कर ही रहा हूँ कि जिससे इसका मूल्यांकन हो सके। यह सब इसलिए नहीं कि प्राचीन राजपूतों के रहन-सहन व रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालना अभीष्ट है वरन् इससे उस समय के इतिहास और विशेषत: प्रस्तुत विषय का भी बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। इस युद्ध के वर्णन से 'चौहान के शत्रु' के व्यक्तिगत गुणों का बखान करने का ही अवसर प्राप्त नहीं होता प्रत्युत उसके राज्य के विभिन्न अंगों, साधनों एवं वल्हरा के झण्डे के नीचे एकत्रित होने वाली विविध खाँपों और उनके मुखियाओं का भी परिचय प्राप्त हो जाता है।

'गुर्जर धरा में भोला भीम भुअंग[2] राज्य करता था जिसके पास असंख्य घोड़ों, हाथियों और रथों से युक्त सेना थी। उसकी कृपाण का पानी[3] समुद्र के जल के समान चमकदार और गहरा था। उसके काका सारंगदेव की बराबरी कौन कर सकता था? वह आकृति में देवता के समान था और उसके पुत्र

---

[1] रोलॅण्डो आठवीं शताब्दी में फ्रांस के प्रख्यात राजा शार्लमॅन का सामन्त एवं भतीजा था। वह बहुत नेक, वीर एवं स्वामिभक्त था। उसके पराक्रमपूर्ण कार्यों का वर्णन योरप की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सांग ऑफ रोलॅण्डो (Song of Ronald) में हुआ है। स्पेन-विजय के लिए जब शार्लमॅन ने चढ़ाई की तब रोलॅण्डो उसके साथ था। वापस लौटते समय उन लोगों पर सॅरॅसनों ने अचानक आक्रमण कर दिया। इसी हमले में रोलॅण्डो की मृत्यु हुई (सन् ७०८ ई०) —N. S. E.; p. 1066

[2] भुअंग, भुजङ्ग का अपभ्रंश—सर्प की उपमा।

भोरा भीम भुअंग तपै गुज्जरधर आगर।
है गै दल पायक्क बल तेजह सागर॥
काका सारंगदेव, देव जिम तास वडाइय।
तासु पुत्र परताप सिंव सम सत्त सु भाइय॥
परतापसिंघ अरसी प्रवर, गोकुलदास गोविन्द रज,
हरसिंघ स्याम भगवान भर, कुलअ रेह मुख नीर सज॥२

(राजस्थान विश्व विद्यापीठ संस्करण, (सं०२०११; समय१६; कन्ह पट्टी)

[3] यहां 'पानी' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे हीरे का पानी (आब); इसी प्रकार यह लोहे के पानी के अर्थ में भी आता है।

प्रताप आदि सातों भाई, सिंह के समान थे। उनके चेहरों पर राजपूती तेज विराजमान था। वे जैसे शक्तिशाली थे वैसे ही बुद्धिमान भी थे; अपनी शक्ति पर उन्हें गर्व था और उसी के बल पर वे गरजते हुए तूफ़ानों से भी टक्कर लेते थे। जब उनका स्वामी शत्रु से मुठभेड़ करने की आज्ञा देता था तो वे उस पर इस प्रकार टूट पड़ते थे जैसे बिजली पृथ्वी को झुलसा देती है।[1] अग्नि के समान प्रचण्ड, राणाओं के स्वामी शक्तिशाली झाला[2] राणा का वध करने वाले वही थे। सारङ्गदेव वीरों के लोक (सुरलोक) को चला गया और प्रताप उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके साथ में पाँच सौ योद्धा थे, जिनमें से प्रत्येक अपने आपको वीराग्रणी समझता था। उन्हीं वीरों के साथ वे सब भाई अपने राजा की सेवा में सदा तत्पर रहते थे और गुर्जर धरा के सत्रह हजार ग्रामों के लिए कल्पवृक्ष[3] के समान थे, वे परम स्वामिभक्त थे और अपने स्वामी के निमित्त पर्वतों के भी सिर झुकवा देते थे।

आगे चल कर इस कथा में पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा गुजरात के मैदान पर हुए एक ऐसे भयानक आक्रमण का वर्णन आता है कि उनसे युद्ध करने के लिए स्वयं वल्हरा को [सेना का] नेतृत्व करना पड़ा। लुटेरों को तुरंत ही खदेड़ कर भगा दिया गया और वे अपने जंगली घरों में चले गए। राजा और अन्य सामन्त जंगल में शिकार खेल कर मन बहलाने लगे। परन्तु, उसी समय एक ऐसी दुर्घटना हो गई जिसका आंशिक रूप से ही वर्णन करके हम कथा का] रस बिगाड़ना नहीं चाहते। यह घटना आत्मरक्षा के लिए राजा के प्रिय हाथी को मार देने के कारण हुई, जिससे रुष्ट हो कर राजा ने उनको [प्रताप आदि को] 'देशवाटी' अर्थात् देश छोड़ कर बाहर चले जाने का आदेश दिया। वे अजमेर चले गए और चौहान राजा ने अन्तर्जातीय सौहार्द प्रदर्शित करते हुए उनका स्वागत किया। 'उसने उनके हाथ में एक पट्टा सौंप दिया

---

[1] रासो में पाठ यों है—"हुकुम स्वामि छुट्टत सु इम, मनु तित्तर पर बाज।"

[2] झाला शाखा के मुखिया की पदवी राण (?) है। इस जाति के नाम 'ज्वाला' का अर्थ है, 'अग्नि की लपट'। चन्द ने बार बार इस शब्द का प्रयोग किया है।

[3] इन्द्र की स्वर्गपुरी का काल्पनिक वृक्ष जिसके स्वर्णफल लगते हैं।

"अर्द्ध सहस दल बल अनंत, बहु ग्रब्ब वर अप्प।
सतरि सहस धर गुज्जरनि, मधि ओपत जिमि कप्प।"

(समय १६, पद्य ७)

यहाँ 'ओपत जिमि कप्प' का अर्थ 'हनुमान के समान शोभायमान थे, ऐसा किया गया है (रा. वि. विद्यापीठ सं.२०११); परन्तु, कल्पवृक्ष वाला अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

और प्रत्येक को एक-एक पोशाक एवं एक-एक सौ घोड़े प्रदान किए।"[1] चौहान के बड़े सामन्तों में उनकी गिनती हुई और उत्कर्ष उनके भाग में आया; तब ही एक दिन दुर्भाग्यवश "सुमेरु के समान [विशाल] सोमेश का पुत्र अपने सामन्तों के बीच में बैठा हुआ प्राचीन काल का इतिहास सुन रहा था तब प्रताप की आत्मा जाग उठी और कथा सुनते सुनते ज्यों ही उसका उत्साह बढ़ा तो उसका हाथ अपने आप मूंछों पर ताव देने लगा।"

अपने से बड़ों के सामने मूंछों पर ताव देना (जो अवज्ञासूचक कार्य समझा जाता है) राजपूतों में एक विशेष अक्षम्य अपराध माना जाता है। चौहान राजा के भाई और पृथ्वीराज के काका कन्हराय ने प्रताप की इस चेष्टा को देख लिया। पृथ्वीराज के बाल्यकाल में कन्हराय ही राज्य का सैन्य-संचालन करता था; फ़रिश्ता[2] ने भी 'खाण्डेराय' के नाम से गज़नी के सुल्तान के साथ उसके द्वन्द्व-युद्ध और विजय का वर्णन करके उसको अमर कर दिया है। अस्तु, भयानक कन्ह काका ने उसकी इस चेष्टा का विपरीत अर्थ लगा कर उसे जमीन पर गिरा दिया। प्रताप के भाइयों ने भी उसकी रक्षा करने व बदला लेने के लिए तलवारें निकाल लीं। बड़ी गड़-बड़ी हुई; युवक राजा तो किसी तरह बच गया परन्तु, सभामण्डप में मृत्यु और रक्तपात का दृश्य उपस्थित हो गया। वे सभी भाई वीरगति को प्राप्त हुए और भाट की प्रशंसा के पात्र बन गए। हो सकता है, अपने मन की करने के निमित्त उसी [भाट] ने इस कुकृत्य के लिए उनको प्रोत्साहित किया हो।

"चालुक्य धन्य हैं, जिन्होंने परदेश में भी स्वाभिमान की रक्षा की। संध्या समय महादेव[3] ने अपनी मुण्डमाला की पूर्ति की। योगिनियों[4] ने अपने खप्पर अच्छी तरह भर लिए। चौहान वीर खून में लथपथ पड़े थे; यमराज के समान कन्ह उनके बीच में स्थाणु के सदृश खड़ा था क्योंकि उसी सुमेरु के भाई ने सभाभवन के क्षेत्र को रक्त से आप्लावित किया था।

---

[1] रासो में सात वीरों को सात घोड़े देना लिखा है—

"बाजि सपत दीने बगसि, संबोधे सत भ्रात।
एक एक सिरपाव दिय, बहु आदर किय बात ॥" १२

[2] प्रसिद्ध मुसलिम इतिहासकार।

[3] युद्ध के देवता की माला नरमुण्डों की होती है।

[4] एक प्रकार की राक्षसी, जो युद्ध क्षेत्र में चक्कर लगाया करती है।

"पात्र भरें जुग्गिनि रुहिर, ग्रिध्धिय मंस डकारि।
नच्यौ ईस उमया सहित, रुण्डमाल गल धारि ॥" ३३

ऐसे थे राजपूत, और ऐसे ही हैं भी, जो एक तिनके के लिए ही लड़ मरें। इसी कारण 'भेंडा' (Bhenda) अथवा भोला पद उनके लिए सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है तथापि चन्द ने ऐसी ही बातों के लिए उनकी प्रशंसा की है। "कन्ह भारत में भीम के समान है। वह रावण के समान है। कन्ह ने (बड़े-बड़े) बलशालियों के नथनों में नाथ डाल दी।"[1]

यही वह नासमझी का कार्य था जिससे अणहिलवाड़ा और अजमेर के पुराने प्रतिद्वन्द्वियों में युद्ध छिड़ गया; दोनों के प्राण गए और मुसलमानों की अन्तिम विजय के लिए मार्ग निष्कण्टक हो गया। 'देशवाटी' का दण्ड भुला दिया और जिस कारण यह दण्ड दिया गया था वह अपराध भी क्षमा कर दिया गया, "चालुक्य वंश के सम्मान पर आँच आ गई थी।" प्रताप और उसके

'रासो' में लिखा है कि झगड़ा समाप्त होने पर सामंतगण कन्ह को समझा-बुझा कर किसी तरह घर ले गए। पृथ्वीराज को इस दुर्घटना से बहुत दुःख हुआ। कन्ह को जब मालूम हुआ कि पृथ्वीराज नाराज़ हो गया है तो वह दरबार में नहीं गया और अपने घर बैठा रहा। तीन दिन तक अजमेर में हड़ताल रही 'तीन दिवस अजमेर में, परी हट्ट हटनार"। सात दिन हो जाने पर भी जब कन्ह दरबार में नहीं आया तो कुँअर पृथ्वीराज स्वयं उसके घर पर मनाने गया और कहा कि "आफ़त के मारे घर आए चालुक्यों को अकारण मारने से आपके शिर पर कलंक का टीका लग गया है।" कन्ह ने कहा "मेरे रहते दरबार में कोई मूंछ पर हाथ रखे, यह मैं सहन नहीं कर सकता।" तब पृथ्वीराज ने कहा 'हे कन्ह, आप एक बात मान लें तो सभा में ऐसी घटना भविष्य में न हो सकेगी, वह यह कि आपकी आँखों पर रत्नजटित पट्टी बाँध दी जाय।" कन्ह ने मान लिया, तब से उसकी आँखों पर पट्टी रहने लगी—

'सो पट्टी निसदिन रहै, छोरि देइ द्वैं ठाम।
कैं सिज्या वामा रमत, कै छुट्टत संग्राम ॥४७

[1] इसो कन्ह चहुआन, जिसो भारथ्थ भीम वर।
इसो कन्ह चहुआन, जिसो द्रोनाचारज वर॥
इसो कन्ह चहुआन, जिसो दससीस बीस-भुज।
इसो कन्ह चहुआन, जिसो अवतार वारिसुज॥
जुध वैर इम्म तुट्टै जु रिन, सिघ तुट्टि लखि सिंघनिय।
प्रथिराज कुँअर साहाय कज, दुरजोधन अवतार लिय ॥५१
जहँ जहँ राजन काज हुअ, तहँ तहँ होइ समथ्थ।
मेर हथ्थ वथ्थह भरैं, नरनाहाँ नर नथ्थ ॥५२

भाइयों की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु-कथा सुनने के बाद अणहिलवाड़ा के प्रत्येक श्वास में प्रतिहिंसा जाग उठी थी। "जब चालुक्य भीम और उसके योद्धाओं ने सारंगदेव के पुत्रों के दुर्भाग्य का हाल सुना तो उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी।" चालुक्य के आत्मीय जनों की हत्या को कारण मानते हुए चौहान के पास पत्र द्वारा युद्ध का सन्देश भेजा गया जिसका संक्षेप में यही उत्तर प्राप्त हुआ कि "सोमेश तुमसे युद्ध में भेंट करेगा।"[1]

युद्ध के कारणों की साधारण रूपरेखा ऊपर दी गई है। अगले 'समय' अर्थात् उनहत्तर पोथियों के ग्रन्थ के अगले भाग में दोनों ओर से युद्ध की तैयारियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी में हमें उन वंशों और जातियों के नाम तथा उनके मुखियाओं का परिचय प्राप्त होता है, जो उन दोनों प्रतिस्पर्द्धियों के झण्डों के नीचे एकत्रित हुए थे।

"गुर्जर देश में चालुक्य भीम राज्य करता है, जो पाण्डव भीम के समान है। उसकी कीर्ति और राजनीति का बखान शब्दों में नहीं हो सकता। परन्तु, साँभर का सोमेश उसके हृदय में काँटे की तरह चुभता रहता था; उसे न दिन में चैन था न रात में।"

इसके पश्चात् उसके सामन्तों के नाम एकत्रित होने की घोषणा जारी होती है। आगमन के अनन्तर उनमें से कितनों ही ने दरबार में उपस्थित होकर भाषण भी दिए।

झालापति राणिङ्गदेव ने चालुक्यों के इन्द[2] से इस प्रकार कहा 'यदि आप इस क्रोधाग्नि से ही सन्तप्त हैं तो देश की सेना एकत्रित कीजिए जिससे हम पवन के वेग से शत्रु पर टूट पड़ें; जैसे भील मधु के छत्ते को तोड़ लेता है उसी प्रकार हम संभरी[3] को लूट लेंगे।" फिर, कन्ह, काठी नरिंद महाबली राणिग राजभान, देवपति[4] योद्धा धवलाङ्ग, धवलरा (Dholara), सुरतान और जिसके शरीर पर असंख्य घाव थे उस जूनागढ तातार[5] के साथ मकवाणा सरदार सारंग भी बोले। तदनन्तर अपने परामर्शदाता मुख्य सामन्तों के बीच में चालुक्यराज ने

---

[1] "जब तुम मांगी वैर वर, तब हम बैर सु देह" ॥५६॥

[2] 'इन्द्र' का संक्षिप्त रूप जिसका अर्थ राजा या स्वामी होता है।

[3] 'साँभर' को बिगाड़ कर 'संभरी' कहा गया है—शायद अपमान करने के लिए।

[4] इस उपाधि से प्राचीन देव और सोमनाथ के राजाओं की पहचान होती है, जो अब अणहिलवाड़ा के करद सामन्त थे।

[5] इससे इस राज्य में मुसलिम प्रभाव का सूचन होता है कि प्रायद्वीप के बीचों-बीच महत्वपूर्ण गढ उनके अधिकार में था।

इस प्रकार भाषण किया, "पुराना वैर मेरे हृदय में सुई की तरह चुभ रहा है। फिर भी, साँभर मेरे सामने क्या है ? परन्तु, जब तक मैं उसके स्वामी का शिर रंग न दूंगा तब तक मुझे चैन नहीं है। क्या सोजत का युद्ध जीत लेने से ही उसे युद्ध का खिलाड़ी मान लिया गया है ? जब तक उससे युद्ध न करूँगा वह मेरे शरीर में काँटे की तरह कसकता रहेगा।" फिर राणिङ्गराव, चूड़ासमा भान, श्याम (Sham) नरेश[1] शम्भु (Shamoh) और काठी योद्धा थानुंग (Thanung), ने जिसकी बुद्धि गहरी और शरीर सुन्दर था[2] तथा जो युद्ध में अपने राजा की सहायता करने में सक्षम था, बारी-बारी से उत्तर दिए। क्रोध से उबलता हुआ वीरसिंह चौहान भी, जो अपने क्रोध से ज्वालामुखी को भी समुद्र में डुबो सकता था, वहीं उपस्थित था। सबने शपथ ली कि वे ऐसा युद्ध करेंगे कि समस्त संसार उसको सुनेगा।"

फिर सैन्य-प्रस्थान का वर्णन है। "सेना ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है त्यों त्यों उत्तर दिशा से उमड़ कर आते हुए पर्वताकार बादलों के समान बड़ी होती जाती है। बली और उत्साही योद्धा कदम बढ़ाते हैं और कहते हैं "हमसे बराबरी करने वाले कहाँ हैं ?" जिस प्रकार राम के वीरों ने लङ्का पर चढ़ाई की थी उसी प्रकार चालुक्य की सेना चौहान पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रही थी। उनकी गिनती करने में आँखें चकरा जाती थीं। अमरसिंह[3] सेवड़ा के क्या कहने ? उसके मुख पर राजभक्ति स्पष्ट झलक रही थी; उत्साहवर्द्धक छन्दों के खज़ाने, भैरूँ बारैठ के विषय में भी क्या कहें ? वेदों में पारंगत लीलाधर ब्राह्मण[4] अद्वितीय था और सुन्दर मुखवाला दण्डरूप चारण भी बेजोड़ था। ये चारों मन्त्री भीम के साथ थे।"

---

[1] क्या हम अनुमान करें कि उसकी सेना में सीरिया के सैनिक थे ? श्याम ही सीरिया है। यह क्रूसेड्स का समय था और शाहबुद्दीन ने फ्रैंकों [फिरंगियों] को अपनी सेना में स्थान दिया था।

[2] यह काठियों के शारीरिक सौन्दर्य का बहुत अच्छा उदाहरण है। ये लोग अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के पुराने शत्रु थे, जो आस पास की जातियों की अपेक्षा अधिक गोरे ही नहीं होते प्रत्युत नीली आंखों के कारण इनका उद्गम भी उत्तरदेशीय ही प्रतीत होता है।

[3] सेवड़ा जैन-पुरोहित होते हैं। परन्तु, हमें यहाँ प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह का भ्रम नहीं होना चाहिए क्योंकि संयोगवश वह भी कितने ही बल्हरा राजाओं के दरबार में रहा था। ये लोग तांत्रिक और ऐन्द्रजालिक होते थे। जहाँगीर ने एक बार नाराज़ हो कर इनको निकाल दिया था।—तुज़के जहाँगीरी (अं. अनु. रॉजर्स बैवरिज भा. १, पृ.४३)

[4] अणहिलवाड़ा के राजा की सभा में ब्राह्मण मन्त्री था इसी से यह अनुमान नहीं लगा लेना चाहिए कि वह शैव था।

चौहान वीर के विषय में यहाँ अधिक न कह कर हम युद्ध के परिणाम पर आते हैं, जो सोमेश्वर के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस परिणाम के विषय में अपने वर्णनीय युवक वीर के प्रति पक्षपात वर्तते हुए चन्द ने कहा है कि पृथ्वी-राज उस समय उत्तर में नहीं था और उसकी अनुपस्थिति के कारण ही ऐसा हुआ। "जयसिंह का पुत्र[1] उत्तरीय नक्षत्र के समान है; फिर भी, यदि पृथ्वी-राज वहाँ होता तो वह हमारी भूमि पर पैर नहीं रख सकता था।" सच्चे राज-पूत की भाँति उसने अपने शत्रु की भी प्रशंसा की है। "जब चालुक्य ने प्रस्थान किया तो दिल्ली के निवासी अपने-अपने घरों में काँप उठे। वसन्त-कालीन बहुरंगे पुष्प-समूह के समान प्रतीत होने वाला साँभर का ध्वज आगे बढ़ा। रक्त-रंजित रणक्षेत्र में सोमेश योद्धाओं में सर्वश्रेष्ठ था। युद्ध छः घड़ी तक चलता रहा और तब "पचास बलवान सामन्तों के साथ सोमेश ने युद्ध की लहरों का पान किया, अमरत्व प्राप्त किया। सोमेश ने सोमेश को उठा लिया।[2] साँभरपति रणक्षेत्र में धराशायी हुआ और चालुक्य को पालकी में ले जाया गया। यदि चालुक्य और चौहान फिर कभी मिलेंगे तो दूसरे ही सामन्तों के साथ मिलेंगे क्योंकि इस युद्ध में आए हुए वीरों में से कोई भी नहीं बचा था। योगी लोग जीवन में लम्बे समय तक तपस्या करने के पश्चात् जिस गति को प्राप्त करते हैं वह सोमेश्वर ने एक ही क्षण में प्राप्त करली। संसार ने "धन्य, धन्य" उच्चारण किया और देवताओं ने कहा "शोक, शोक।"[3]

इस युद्ध से अणहिलवाड़ा के राजा की शक्ति में कोई कमी नहीं आई; वह गुजरात के सत्रह हज़ार ग्रामों और प्रायद्वीप का स्वामी था, जिसके सीमान्त पर झालावाड़, काठियावाड़, देव और अन्य प्रान्तों का बार-बार उल्लेख हुआ है। चालुक्य की यह विजय ही अन्त में उसके सर्वनाश का कारण हुई। पृथ्वीराज, जिसके भाग्य में दिल्ली का प्रथम और अन्तिम सम्राट् होना लिखा था, अपने पिता का बदला लेने के लिए कृत-संकल्प हुआ। [रासो का] एकतालीसवाँ समय इस प्रकार आरम्भ होता है "नरेश के हृदय में भीम एक हरे घाव के समान अथवा काँटे के समान कसकता रहता है। उसे वह अग्नि खाए जा रही है, जिसे शत्रु के रक्त से ही बुझाई जा सकती है।" वह अपने दुःख को इस प्रकार प्रकट करता है—"मेरे पिता का झगड़ा [वैर] अभी मेरे सिर पर है; जब मैं पानी

---

[1] अर्थात् अन्तिम राजा अजयसिंह का पुत्र। 'जय' का अर्थ है जीत, 'अजय' अर्थात् दुर्जय।

[2] यहाँ एक 'सोमेश' का अर्थ 'शिव' है, जो सोम अर्थात् चन्द्रमा को धारण करते हैं।

[3] क्योंकि उन्हें भय हुआ कि वह स्वर्ग में आकर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेगा।

पीता हूँ तो मुझे उसमें अपने ही रक्त का स्वाद आता है; मेरा शत्रु बलवान् है।" अन्यत्र वह कहता है "फिर भी, किसी दिन मैं अपने पिता को इस भीम की आँतों में से निकाल लूंगा।"

इसके आगे चौहान की चौसठ हजार सेना और उसके मुखियाओं का वर्णन बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। यह समाचार चालुक्य के पास भी पहुँचा; परन्तु, वह अनुत्साहित नहीं हुआ और उसने युद्ध के लिए कमर कस ली। सेना में एकत्रित होनेवाले सामन्तों की नामावली के निमित्त हम इस प्रसंग को संक्षेप में यहाँ उद्धृत करेंगे और प्रतिपक्षी वरदाई को, अपने शत्रु के विषय में ऐसा वर्णन करने के लिए, एक बार फिर भी प्रशंसा करेंगे।

"जयसिंह का पुत्र कुपित हुआ। आवेश के कारण उसके अंग-प्रत्यंग फड़क उठे; उसकी आँखों में अग्नि प्रज्वलित हो गई और युद्ध के लिए सज्जित होने को उसने अपने वीरों का आह्वान किया। उसने देश भर में आमन्त्रण भेजा। नरेशों ने उसकी आज्ञा का पालन किया। खोत बाणों[1] (Khotbans) से लैस हो कर दो हज़ार ख़ान आए। तीन हज़ार घुड़सवारों के साथ तोशकदार कवच पहने हुए कच्छ का बल्ल आया। एक हज़ार योद्धाओं के साथ सोरठ[2] का स्वामी और भयानक मुखाकृति वाला असाधारण धनुर्धारी ककराइच काले (Kakraicha kale) भी आया, जिसको अपने तूणीर से एक लक्ष्य के लिए दूसरा बाण नहीं निकालना पड़ता था। फिर, झालावाड़ का झाला नरेन्द्र आया, जिसके प्रस्थान करते ही सूर्य की किरणें भी धुंधली पड़ जाती थीं। कावा[3] सरदार मकरावण उपस्थित हुआ जिसके चलते ही देश के देश खाली हो जाते थे। फिर काठी की अर्गला-समान (काठी) नरेन्द्र आए, जिनके शत्रुओं को कहीं भी शरण नहीं मिलती थी। इनके अतिरिक्त और भी वहुत से छोटे-मोटे सामन्त एकत्रित हुए जिनकी गिनती मैं (चन्द) कहाँ तक करूँ? ऐसी चालुक्य की सेना थी, जो उसके देश गुर्जर-खण्ड से एकत्रित हुई थी और जिसे दिल्ली के गुप्तचरों ने एकत्रित होते देख कर अपने स्वामी को विवरण प्रस्तुत किया था। उन्होंने

---

[1] एक नली में से चलने वाले तीर [नावक ?]

[2] आधुनिक सूरत अथवा सौराष्ट्र का एक उपप्रान्त।

[3] गुजरात में रहने वाली एक जाति—जिसका पेशा चोरी करना है। ये लोग अब भी वहाँ पाए जाते हैं।

श्रीकृष्ण के स्वर्गमन के बाद जब अर्जुन यादव स्त्रियों के साथ द्वारिका से लौट रहा था तो कावों ने ही उनको लूट लिया था।

कहा "लहराते हुए सागर के समान चालुक्य बढ़ा आ रहा है; लाखों पैदल और हज़ारों हाथियों के चलते ही समुद्र की मर्यादा भी भंग हो गई।"

यहाँ चौहान की सेना का वर्णन करने का मेरा अभिप्राय नहीं है। कन्ह-राय उसका प्रधान सेनापति था, जो अपनी पूर्व-पराजय का बदला लेने के लिए भी उत्सुक था। पिछले दिनों, उसने शाहबुद्दीन को परास्त किया था, उसी प्रकार अब भी उसके शिर पर राजचिन्ह, चँवर[1] और छत्र विराजमान थे। हरौल का नेतृत्व स्वयं पृथ्वीराज कर रहा था, निडरराय मध्य में था और पृष्ठ भाग की बागडोर परमार के हाथ में थी।

राजपूतों की विशेषता का परिचायक एक अंश और भी उद्धृत करते हैं। जब सेनाएं आमने सामने हुईं तो दोनों ओर से दूत, विरोध प्रदर्शन के लिए, राजाओं के पास भेजे गए। युद्ध जैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर यह कार्य भाटों द्वारा सम्पन्न होता है इसलिए युवक सम्राट् ने चन्द को ही बल्हरा के पास भेजा। "हे चन्द ! चालुक्य से जा कर कहो, मैं वैर लेने आया हूँ. परन्तु, मुझ से दो भेंट स्वीकार करो, एक लाल पगड़ी और दूसरी एक काँचली (अंगिया)। उसे इनमें से जो अच्छी लगे वही स्वीकार करने को कहो। उसे यह भी बता दो कि यह संसार स्वप्नवत् है, हम दोनों में से एक को [इस युद्ध में] मरना है।" चन्द ने दूत के पवित्र कार्य का उचित रूप से पालन करते हुए, अपनी ओर से और भी बहुत-सी उत्तेजक बातें कहीं, जिनका चालुक्य ने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया "मैं भीम हूँ और भारत के भीम के समान तुम से युद्ध करूँगा। जो पिता की गति हुई वही पुत्र को होगी।" तत्पश्चात् उसने भी जगदेव नामक भाट को पृथ्वीराज के पास भेजा। उसके शब्दों का तो यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है परन्तु कवि ने उन्हें विष से भरे हुए बताया है। चन्द ने अपने राजा की ओर से बोलते हुए दूत की असंस्कृत भाषा पर कटाक्ष कर के उसकी बात समाप्त कर दी। "गळबळ गळवळ गुजराती बोल कर हमें क्यों परेशान कर रहे हो।" इससे यह अर्थ निकलता है कि दोनों बोलियों में उस समय भी उतना ही अन्तर था जितना कि आजकल है।

---

[1] गाय की पूंछ के बालों का बना चमर और छत्र; ये चिह्न युद्ध में प्रायः मुख्य योद्धा अथवा राजा पर नहीं लगाए जाते कि जिससे लोगों का ध्यान अन्यत्र बँटा रहे और वे सुरक्षित रहें।

शेक्सपीयर 'कृत बॉसवर्थ फील्ड के युद्ध' वर्णन में रिचमाण्ड ने वीर आक्रमणकारी पर हमला करते हुए कहा है "तीन मुकुटधारी तो अब तक मारे जा चुके हैं।"

सेनाएं आमने सामने होती हैं और कवि की प्रतिभा चमक उठती है। वह कहता है "चन्द के लिए धर्मक्षेत्र सामने था, सुरलोक का मार्ग यात्रियों से भर गया था और अमरत्व पर अधिकार कर लिया गया था।" बहुत लम्बे समय तक घमासान युद्ध हुआ। जब युवक चौहान ने शत्रुओं से युद्ध किया तो दोनों ओर के बहुत से वीर काम आए, जिनके नाम और पराक्रम का उल्लेख है।

"एक पहर[1] तक वीरों के शिरस्त्राणों पर तलवारें बरसती रहीं; कवचों के टुकड़े-टुकड़े हो गए। सरस्वती[2] नदी में रक्त की बाढ़ आ गई। योगिनियों ने रणक्षेत्र में से अपने खप्पर भर लिए और पलचरों[3] (Palacharas) की कामना पूर्ण हुई। पृथ्वीराज ने शत्रु को देखा और घोड़े की बागडोर खींच कर उसे आगे बढ़ाया। पृथ्वी डर से काँप उठी। संसार के संरक्षक [दिक्पाल] अपने अपने स्थानों से भाग गए। देवताओं को कँप-कँपी छूटी। उसका हाथ स्वर्ग तक ऊँचा उठा हुआ था और जब उसका धनुष खिच कर गोलाकार हो जाता था तो फिर उससे कौन बच सकता था ? शिव की समाधि टूट गई और जब चौहान और चालुक्य युद्ध में भिड़ गए तो उनके हाथ से माला गिर पड़ी। प्रत्येक योद्धा की तलवार बिजली के समान चमक रही थी, बीजलसर[4] के वार हो रहे थे। आमने-सामने होते ही पृथ्वीराज ने कहा, "भीम ! तेरा अन्तिम समय आ गया है, सम्हल जा !" भीम ने कहा, "मैं तुझे सोमेश्वर के पास भेजता हूँ।" पृथा ने लपक कर वार किया और उसकी तलवार भीम के गले पर वहाँ पड़ी जहाँ जनेऊ सुशोभित थी; गिरते समय उसने [भी] पृथ्वीराज के ललाट पर टीका कर दिया। देवगण ने 'जय-घोष' किया और अप्सराओं के विमानों से रणक्षेत्र पर छाया हो गई। स्वामी के गिरते ही चालुक्य-सेना के पैर उखड़ गए।"

भाट ने भीम के सद्गुणों का वर्णन किया है। वह आगे कहता है—वह देव-विमान में बैठ कर शिवपुर को चला गया। परन्तु, यह विजय पृथ्वीराज को

---

[1] दिन का चतुर्थांश।

[2] अणहिलवाड़ा में हो कर बहने वाली नदी।

[3] बीजलसर का अर्थ है बिजली का सार। राजपूत योद्धा अपनी प्रिय तलवार के लिए प्रायः इसी नाम का प्रयोग करते हैं।

[4] पृथ्वीराज की बीजलसर भी ऍरिऑस्टो (Ariosto) के बॅलीसारडा (Balisarda) की तरह प्रसिद्ध थी।

ऍरिऑस्टो (१४७४-१५३३ ई०) इटली निवासी कवि था। उसका Orpando Furio नामक काव्य प्रेम गाथा और वीर-वर्णन के लिए प्रसिद्ध है।

मंहगी पड़ी। "पन्द्रह सौ घोड़े और पन्द्रह सौ प्रख्यात वीर (जिनमें आबूपति जैत्र भी था) काम आये और इनके अतिरिक्त पाँच सौ छोटे-मोटे योद्धा युद्धक्षेत्र में घायल होकर पड़े थे।" कवि ने जो युद्धोत्तर रात्रिकाल का वर्णन किया है उसे यहाँ पर उद्धृत करना अप्रासंगिक तो होगा परन्तु उपमाओं की छटा को देखते हुए यहाँ अवतारित करना अनुचित भी न होगा।

"पृथ्वीराज ने युद्ध में विजय प्राप्त की। यद्यपि वीरों के शरीर घावों से भरे हुए थे, फिर भी उन्होंने विजयशंख की ध्वनि की। पिता का वैर ले चुकने पर चौहान का क्रोध शान्त हो गया था। योद्धागण एक दूसरे की वीरता की प्रशंसा कर रहे थे। योद्धाओं का यश ही पृथ्वीराज का धन है। वे उस रात युद्धक्षेत्र में ही घायलों की देख-भाल करते रहे; परन्तु, वह रात बहुत लम्बी बीती; वे प्रातःकाल के लिए उत्सुक हो रहे थे। रात बीती, प्रातः कमल खिल उठा, रात भर जो भौंरा इसमें आबद्ध था उसने उड़ान भरी। तारे मन्द पड़ गए और रात्रि का काला पर्दा दूर हुआ। चन्द्रमा अन्तर्हित हो गया। मनुष्यकृत स्तवन को प्रवेश देने के निमित्त देवद्वार अनावृत हो चुके थे। रात के पक्षी (राजा) की आंखें फिर मुँदने लगी थीं। देवालयों में शंख-ध्वनि हो रही थी और सूर्यदेव ने अपनी यात्रा पुनः आरम्भ कर दी थी।"

इस परम चमत्कारिक वर्णन के बाद तुरन्त ही कवि की सहानुभूति उन लोगों के प्रति जाग उठती है जो उसके चारों ओर मरे हुए पड़े हैं और जो अब इस प्रकाशमान जगत् की किरणों से कभी प्रभावित न हो सकेंगे। वह कहता है "इस पृथ्वी पर कितने ही योद्धा उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपने शरीर तलवारों को अर्पण कर दिए हैं। स्वयं चन्द ने कितनी ही बार उनका यशोगान किया है। यह संसार एक स्वप्न है; इसमें जो कुछ है वह सब एक दिन नष्ट हो जायगा। मूर्खतावश लोग सांसारिक भोगों की कामना करते हैं। मृत्यु बधिक के समान है, परन्तु युद्ध में मृत्यु का पारितोषक प्राप्त करना ही वीरों का परम धन है; केवल तलवार की धार से ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है।" सुरलोक (वीरों के स्वर्ग) के सुख-साधनों से सुसज्जित, मुसलमानों के जन्नत के विलासों से संवलित और स्कँण्डेनेविया निवासियों के युद्ध और महाभोज से चित्रित यह सिद्धान्त राजपूतों में अपने स्वामी एवं देश के प्रति भक्ति उत्पन्न करने में सर्वथा पूरा उतरता है।

दिल्ली और (पिता की मृत्यु के बाद) अजमेर के चौहान राजा ने अपनी विजय को पूरी की और "चालुक्य के चौरासी बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया।" उसने कच्छरा (Cutcra) नामक राजकुमार को गद्दी पर बिठाया और

उसको इनमें से दस बन्दरगाह दे दिए तथा उसे अपने साथ दिल्ली ले गया। यह कच्छ-रा कौन था, इसका पता चलाने में मेरे सभी प्रयत्न विफल हुए। इस नाम से उस वंश की एक शाखा का बोध हो सकता है जिसके अधिकार में कच्छ का करद राज्य था क्योंकि अंतिम शब्दांश 'रा' 'का' दा' 'चा' ही इस भाषा में सम्बन्धकारक पहचानने की कसौटी है।

चौहानों के इतिहास में गुजरात पर इस आक्रमण का संवत् १२२४ दिया गया है, परन्तु सोलंकियों के भाटों ने भोला भीम की मृत्यु का समय संवत् १२२८ लिखा है; यह अन्तर नगण्य है। इस प्रकार हमें एक और समकालिक-तिथि-निर्णायक तथ्य मिल जाता है, जिसकी पुष्टि हाँसी के शिलालेख से भी होती है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण युग था कि जब प्रायः सभी हिन्दू राज्य समाप्त हो रहे थे। जिस शिलालेख का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसे मैं हाँसी-स्थित पृथ्वीराज के टूटे-फूटे महलों में से लाया था और उसी वर्ष मार्क्विस हेस्टिंग्स् के पास कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी में पहुंचाने के लिए भेज दिया था, परन्तु उसके बारे में आज तक कोई खबर नहीं मिली है। यह लेख केवल इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इससे अन्तिम हिन्दू-सम्राट् के समय का पता चलता है प्रत्युत इससे उसके अन्यान्य समकालीन राजवंशों का भी समय निर्णीत करने में सहायता प्राप्त होती है। इनमें से अणहिलवाड़ा के साथ हुए युद्ध का एक उदाहरण विस्तार-सहित लिखा जा चुका है। एक और है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है; वह है आम्वेर के राजाओं के महान् पुरुषों का समय-निर्णय। राव पिरज़ूण [प्रद्युम्न] उस समय आमेर का राजा था और वह चौहाण के सर्वाग्रणी सामन्तों में से था। उसका नाम हांसी के शिलालेख में भी हम्मीर के साथ सीमाप्रान्तीय महत्व-पूर्ण गढ़ का संरक्षण करने के सम्बन्ध में उल्लिखित है। जिस युद्ध में पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर मारा गया था उसके वर्णन में भी राव पज्जूण का नाम आता है और एक छोटा सा 'समय' अथवा सर्ग भी 'पज्जूण सम्यौ' के नाम से दोनों युद्धों के वर्णन के बीच में रखा गया है। इस 'समय' में इस सामन्त के पराक्रम का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार उसने सम्राट् के मृत्यु-स्थल पर खोई हुई उसकी कलंगी को खोज निकाला था। भाट ने उसकी सफलता और पाग में कलंगी के पुनः स्थापन का वर्णन किया है।[१] हम इसे मारकेश्वर

---

[१] रासो में यह वर्णन 'पंज्जून छोंगा' नाम से है, परन्तु कथावस्तु में अन्तर है। चालुक्यराज भोला भीम ने राणिङ्ग के पुत्र महाबली मकवाणा के सिर पर 'छोंगा' (तुर्रा) बँधवा कर सेनापति बनाया और सोनिगरों की राजधानी (जालोर ?) पर आक्रमण करने भेजा। तब पृथ्वीराज ने अपने कछवाहा सामन्त पज्जून को सेनापति नियुक्त किया और

अथवा मारक के स्वामी द्वारा सफल आक्रमण और लूट का आलंकारिक वर्णन मान लेते हैं। उपरि वर्णित शिलालेख का वृत्तान्त ट्रांजॅक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी (वॉल्यूम १, पृ. १५४) में दिया गया है क्योंकि सौभाग्यवश मैंने मूल लेख की नकल और अनुवाद अपने पास रख लिए थे।

बालमूलदेव संवत् १२२८ (११७२ ई०)[1] में गद्दी पर वैठा। आलंकारिक विशेषण का यह एक और उदाहरण है और यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इस वंश के आद्य और अन्तिम राजा उसी (मूल) नक्षत्र में जन्म लेने के कारण एक ही नाम के हुए। उसने अणहिलवाड़ा पर इक्कीस वर्ष अर्थात् संवत् १२४९ (११९३ ई०) तक राज्य किया। यह काल राजपूत-इतिहास में चिरस्मरणीय है क्योंकि इसी वर्ष दिल्ली और कन्नौज के प्रासादों पर इसलाम का विजय-नक्षत्र उदित हुआ था; इसी वर्ष परमवीर योद्धा पृथ्वीराज कग्गर (Caggar)[2] के किनारे युद्ध करके वीरगति को प्राप्त हुआ, और कन्नौज का सम्राट् अपनी आन के अतिरिक्त सब कुछ गँवा कर गङ्गा में जा डूबा। इस प्रकार यद्यपि अणहिलवाड़ा के सभी वड़े-वड़े प्रतिस्पर्द्धी राजाओं का अन्त हो गया था परन्तु 'बाल मूलदेव' तक यह आघात नहीं पहुँचा और उसका उत्तराधिकारी वीसलदेव बाघेला[3] हुआ। उसका राज्यकाल संवत् १२४९

मकवाणा से युद्ध करने भेजा। इस युद्ध में पज्जूण के पुत्र मलयसी ने मकवाणा के सिर पर से 'छोंगा' छीन लिया और अपने पिता को ला कर भेंट कर दिया। फिर—

गयौ सु चालुक गेह तजि, रही कनै गिरि लाज
छोंगा कूरंमराव लै, कर दीनौ प्रथिराज ॥१२॥ पृ. ६८, (रा. वि. वि. संस्करण)

तदनन्तर पृथ्वीराज ने—

राज सु छोंगा फेरि दिय, वर है-वर आरोह।
घटि चालुक वढ़ि कूरमा, अयुत पराक्रम सोह ॥१२॥—वही. पृ. ६०

[1] मूलराज द्वितीय अथवा बाल मूलराज ११७७ ई० (१२३४ वि०) में गद्दी पर वैठा और उसने केवल दो वर्ष राज्य किया।—रासमाला, रालिनसन, १९२४; पृ. १९९

[2] घग्घर।

[3] गुजरात के इतिहास से बाल मूलराज के बाद वीसलदेव का गद्दी पर वैठना सिद्ध नहीं है। टाड साहब ने किस आधार पर यहां वीसलदेव के राज्यकाल की बात लिखी है, यह ज्ञात नहीं हुआ। एक पट्टावली में लिखा है कि 'बाल मूलराज ने संवत् १२३२ वि० की फाल्गुन कृष्णा १२ से १२३४ वि० की चैत्र शुक्ला १४ तक २ वर्ष १ मास राज्य किया। तदनन्तर उसके भाई भीमदेव (भोला भीम) ने राज्य आरम्भ किया। एक अन्य जैन लेख के अनुसार भीम १२३५ में राजा हुआ। प्रबन्धचिन्तामणि में भी स्पष्ट लिखा लिखा है 'संवत् १२३५ पूर्व वर्ष ६३ श्री भीमदेवन राज्यं कृतं'। चालुक्य राजवंश की तिथियों पर अद्यतन अनुसंधान के आधार पर श्री अशोक कुमार मजूमदार ने भी भोला भीम का राज्यकाल वि० सं० १२३५ से १२९८ निश्चित किया है।

(११९३ ई.) से आरम्भ होता है। उसको 'भागेला' अथवा वाघेला वंश का प्रथम राजा क्यों कहते हैं, इसका कारण मुझे ज्ञात नहीं हुआ क्योंकि नाम परिवर्तन के विषय में जो आख्यान प्रचलित है वह कुमारपाल के पुत्र से सम्बन्धित है और उससे यह सूचित होता है कि सब से पहले मूलदेव ही इस नाम से संबंधित हुआ था। अस्तु, यह कोई अधिक महत्वपूर्ण विषय नहीं है क्योंकि वीसलदेव के बाद वाले शिलालेखों में भी इस वंश का वही पूर्व नाम चालुक्य अथवा सोलंकी प्रयुक्त हुआ है। इस राजा ने पन्द्रह वर्ष तक राज्य किया, परन्तु हमें इसके विषय में एक भी उल्लेख योग्य घटना का पता नहीं चलता।

भीमदेव संवत् १२६४ (१२०८ ई०)[1] में गद्दी पर बैठा और उसने बयालिस वर्ष से कम राज्य नहीं किया। इसके अतिरिक्त राज्यारोहण के बीस वर्ष बाद उसके मंत्रियों द्वारा चित्तौड़ के मंदिरों का निर्माण इस बात का स्वतःसिद्ध प्रमाण है कि जिन इसलामी शस्त्रों ने दिल्ली, कन्नौज और चित्तौड़ के राज्यों को उलट दिया था वे अणहिलवाड़ा के राज्य को कोई भी हानि नहीं पहुँचा सके थे। आबू में प्राप्त सभी शिलालेखों में उसे सार्वभौम शासक लिखा है और पृथ्वीराज ने जिनको किंचित्काल के लिए मुक्त करा दिया था वे आबू और चंद्रावती के परमार राजा भी पुनः उसकी आधीनता में आ गए थे। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वल्हरों की शक्ति न दक्षिण में क्षीण हुई थी, न पश्चिम में। वास्तव में, वलभी के शिलालेख से, जिसमें उसके अनुवर्ती अर्जुनदेव के गुणों का वर्णन है, यह बात स्पष्टतया प्रमाणित हो जाती है कि केवल लार (लाट) देश ही नहीं वरन् सम्पूर्ण सौराष्ट्र पर उसका दृढ़ आधिपत्य था; हाँ, अरब के मल्लाहों को समुद्रतट पर बस्तियाँ बसाने की आज्ञा अवश्य मिल चुकी थी। अणहिलवाड़ा के वैभव का इससे अधिक सजीव प्रमाण और नहीं मिल सकता क्योंकि यदि आबू और तरङ्गी के पहाड़ों पर, चंद्रावती नगरी में तथा समुद्रतट पर एक साथ निर्मापित मंदिरों को इसकी उन्नतिशीलता का प्रमाण न भी माना जाय तो भी हम यह अवश्य कह सकते हैं कि यह राज्य उस समय

---

[1] बाहडमेर के पास किराडू के वि० सं० १२३५ (११७९ ई०) के लेख से ज्ञात होता है कि वह भीमदेव के राज्यकाल में लिखा गया था। इसी प्रकार डा० व्युह्लर द्वारा प्रकाशित ११ लेखों में से ९ वां ताम्रलेख संवत् १२९५ का है। इसके बाद १२९८ सं० का लेख (ताम्रपट्ट) त्रिभुवनपाल के समय का है। अतः सिद्ध है कि भीमदेव ने संवत् १२३५ (११७९ ई०) से संवत् १२९८ (१२४१-४२ ई०) तक राज्य किया। कर्नल टॉड की एतद्विषयक तिथियां प्रामाणिक नहीं हैं।

महानता की पराकाष्ठा पर न होते हुए भी वस्तुत: इसका कोई पतन नहीं हुआ था; अथवा यदि इतिहास और लोक-कथाओं में सुप्रसिद्ध देश के महान् राजा कर्ण और सिद्धराज के बाद 'तीनों वालों'[१] (पागलों) के राज्यकाल में कुछ उतार भी आ गया था तो भी क्या इस देश की धन-सम्पत्ति और शान उस समय अपने वैभव के शिखर पर पहुंची हुई नहीं थी जब कि एक शताब्दी के बाद विदेशी आक्रमणों में बहुत कुछ सफ़ाया हो जाने पर भी इतनी समृद्धि और समर्थता विद्यमान थी कि इन मंदिरों में से प्रत्येक की श्री-वृद्धि हेतु करोड़ों की धनराशि यहाँ के केवल तीन श्रेष्ठियों के अतिशय-धन कोष में से ही दान में दे दी गई ? हम कह सकते हैं कि यहाँ के श्रेष्ठी राजा थे।'

भीमदेव और उसके सामंत धारावर्ष ने मिल कर मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध गौरवपूर्ण प्रतिरक्षा की और बादशाह कुतुबुद्दीन को युद्ध में पराजित किया।[२] इस युद्ध में कुतुब घायल भी हुआ; यही नहीं, उसके क्रमानुयायी भी अणहिलवाड़ा पर उस समय तक कोई विजय प्राप्त न कर सके जब तक कि आधी शताब्दी बाद क्रूर अल्लाह[३] का राज्य सर्वत्र स्थापित न हो गया।

अर्जुनदेव[४] संवत् १३०६ (१२५० ई०) में गद्दी पर बैठा। उसने तेवीस वर्ष तक राज्य किया और वह प्राय: अपने पिता की ही नीति का अनुसरण करता रहा। उसने आक्रमणों से तो प्रतिरक्षा की, परंतु साथ ही मुसलमानों से मित्रता भी बढ़ाता रहा, जो बड़ी तेजी से उसके राज्य के चारों ओर बढ़ते जा रहे थे। फिर भी 'चालुक्य चक्रवर्ती' (वलभी का शिलालेख) 'चालुक्य सार्व-भौम' और साथ ही 'सदा विजयी' आदि उसकी पदवियों से ज्ञात होता है कि उसकी शक्ति में कोई कमी नहीं आई थी। यह शिलालेख एक प्रकार का आज्ञा-पत्र है जो उसके जल-सेनापति हरमज (Hormuz) निवासी नूरुद्दीन-फ़ीरोज के नाम, जो सोमनाथ के समीपवर्ती बिलाकुल (Billacul) बंदर का

---

[१] बाल मूलराज, भोला भीम और कर्ण गैला।

[२] यह युद्ध ई० सं० ११९७ में हुआ था।—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० ४३-४४

[३] अलादीन खिलजी।

[४] क० टॉड के तिथिक्रम में ही गड़बड़ी नहीं है, राजाओं के नामानुक्रम में भी पर्याप्त विपर्यय है। वीसलदेव बाघेला वि० सं० १३०२ में त्रिभुवनपाल के बाद गद्दी पर बैठा था, उसको बाल मूलराज का उत्तराधिकारी बना दिया और वीसलदेव के उत्तराधिकारी अर्जुनदेव को भीमदेव के बाद गद्दी पर बिठा दिया है। वास्तव में वीसलदेव का समय वि० सं० १३०२-१३१८ है और अर्जुनदेव का १३१८-१३३१ वि० सं०। अर्जुनदेव वीसलदेव के भाई प्रतापमल्ल का पुत्र था।

स्वामी था तथा उसके अधीनस्थ देव बन्दर एवं द्वीप के अधिकारी अन्य चावड़ा सरदारों के नाम लिखा गया था, जिसमें उनको व्यापारी सामान के कर की देख-भाल करते रहने के लिए आदेश दिए गए थे। यह कर सोमनाथ में स्थित महान् सूर्य-मन्दिर के जीर्णोद्धार के निमित्त समर्पित कर दिया गया था। चावड़े अब तक भी सूर्यदेव के भक्त थे। इस महत्वपूर्ण अभिलेख से चार मुख्य बातें प्रकट होती हैं। पहली यह कि सोमनाथ (अथवा चन्द्रमा के स्वामी) का मन्दिर सौरों द्वारा बनाया हुआ विशाल सूर्य-मंदिर है, जिनके कारण इस प्रायद्वीप का नाम सौराष्ट्र पड़ा है, जिसको बॅक्ट्रिया (Bactria) के ग्रीक राजा सायराष्ट्रीन (Syrastrene) कहते थे, जिनमें से दो अपोलोडोटस (Appollodotus) और (Menander) इसी ΣUPOV[1] प्रदेश में शस्त्र लेकर आए थे।

दूसरी बात यह है कि देव द्वीप और पवित्र नगर सोमनाथ के चावड़ा राजा अधीनस्थ होते हुए भी चौदहवीं शताब्दी तक अपनी इस प्राचीन राजधानी पर अधिकार बनाए हुए थे, जहाँ से निष्कासित होने पर उन्होंने ७४६ ई० में अणहिलवाड़ा बसाया था।

तीसरी यह कि वलभी के स्वामी बालरायों का अपना संवत् चलता था जो विक्रम संवत् ३७५ अथवा ३१९ ई० से आरम्भ होता था।

चौथी बात यह थी कि हरमज़ बन्दर का एक अरबी अमीर १२५० ई० में अणहिलवाड़ा के एक जहाज़ी बेड़े का एडमिरल[2] (नायक) था।

सारङ्गदेव संवत् १३२९ (१२७३ ई०)[3] में गद्दी पर बैठा। इस दुःखपूर्ण समय में उसका इक्कीस[4] वर्ष का राज्यकाल बहुत लम्बा निकला; परन्तु, अब वह समय शीघ्र ही आ रहा था जब कि अणहिलवाड़ा की गर्वभरी गर्दन झुकने वाली थी।

---

[1] इस विषय पर 'ट्रांजॅक्शन्स् ऑव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' वॉ० १; पृ० ३१३ में विवेचन देखिये।

[2] साधारणतया लोगों को यह ज्ञात नहीं होगा कि एडमिरल (Admiral) शब्द अरबी भाषा से निकला हुआ है, अर्थात् 'अमीर-अल-आब' (जल का स्वामी) से।

[3] विचारश्रेणी और बॉम्बे गज़ेटियर के अनुसार सारङ्गदेव का राज्यारोहण संवत् १३३६ में हुआ था।

[4] सारङ्गदेव ने संवत् १३३१ से १३३४ वि० तक राज्य किया।—वही

गैला कर्णदेव संवत् १३५० (१२९४ ई०) में राजा हुआ। राजपूत राज्यों के भाग्य में परिवर्तन का यह एक ऐसा विशेष समय आया था कि उनमें से प्रत्येक के लिए अपनी अतिशय शक्ति का उपयोग करने के निमित्त सुलेमान की सी बुद्धिमानी की भी आवश्यकता थी। ऐसे ही समय में अणहिलवाड़ा की गद्दी पर एक पागल अथवा मूर्ख मनुष्य का अधिकार हुआ। गैला का अर्थ यही है, गोहिल नहीं, जैसा कि अबुलफज़ल ने लगाया है, क्योंकि 'वंसराज' की गद्दी पर इस वंश का कोई भी राजा नहीं बैठा। क्रूर अलाउद्दीन, जिसके लिए हिन्दुओं के पास 'खूनी' अथवा 'लोहू का प्यासा' के अतिरिक्त और कोई विशेषण न था और जो भारत के प्रत्येक राजपूत वंश के लिए विनाशकारी दैत्य के समान था, इसी समय में अणहिलवाड़ा आया था और अन्य सभी स्थानों के समान 'देखते देखते उसको भी फतह कर लिया था।' अणहिलवाड़ा की नींव पड़ने के बाद पाँच सौ बावन वर्षों से टिकी हुई वल्हरों की सत्ता गैला कर्ण के साथ समाप्त हो गई। राजधानी में और उसके आ पास अन्तिम बागेला वंश के छोटे-छोटे सरदार अपनी अपनी जागीरों पर बने रहे, परंतु उन पर आधीनता की मोहर लग चुकी थी; कालीकोट की गरबीली दीवारें भूमिसात् कर दी गई थीं।[1]

---

[1] वल्हरों की महानता के बहुत थोड़े अवशेष देखने को मिलते हैं। प्रथम चावड़ा वंश के कुछ ठिकाने गुजरात में हैं, जिनमें सब से बड़े की आमदनी एक लाख रुपया आँकी जाती है। उसी के बराबर की दूसरी बड़ी जागीर चालीस हज़ार रुपये आमदनी की बताई जाती है। इन सभी के साथ मेवाड़ के राणाओं का प्राचीनकाल से वैवाहिक सम्बन्ध चला आता है क्योंकि वे अपने पड़ौस के अधिक समृद्ध घरानों की अपेक्षा इन लोगों में चावड़ों का विशुद्ध रक्त होना मानते हैं। मेवाड़ का वर्त्तमान राणा और उसकी अभागिनी बहिन कृष्णाकुमारी की माता उक्त दूसरे ठिकाने की ही लड़की थी। रीवाँ का राजा, जिसका देश बघेलखण्ड कहलाता है, इस वंश के मूलपुरुष बाघजी की बत्तीसवीं पीढ़ी में है। दूसरे अर्थात् सोलंकी वंश के लोग अभी तक अपनी ही भूमि पर रह रहे हैं और उनमें मुख्य लूणावाड़ा का राजा है। पीथापुर (Peetapur) और थेराद (Therad) वाले दोनों बाघेला हैं। टोंक-टोडा के सोलंकी भी अपने समय में प्रसिद्ध थे। 'इतिहास' में वर्णित उनका बूंदी का झगड़ा पढ़िए; वे भोला भीम और पृथ्वीराज के युद्ध में कारणीभूत अणहिलवाड़ा के बाहरबाट हुए भाइयों में से एक के वंशज बताए जाते हैं। उन्हें अजमेर के पास रामसर का पट्टा प्राप्त हुआ और वीरदेव का विवाह पृथ्वीराज की बहिन के साथ हुआ था। संवत् १२८० में इस सम्बन्ध से प्रसूत तीसरे वंशज गोविन्दराय ने गोलवाल (Geolwal) राजपूतों को टोडा से बाहर निकाल दिया, जिसका प्राचीन नाम तक्षशिला (Taksilla) है। जब १८०६ ई० में मैं उधर से निकला

[पृष्ठ २२२ का शेष]

तो वहाँ पर स्थापत्यकला के कुछ बहुत सुन्दर नमूने मुझे देखने को मिले। टोडा के रायों ने एक सुरक्षित राज्य कायम कर लिया था और वे अधिक शक्तिशाली पड़ौसी राजाओं से किसी बात में कम न थे। इस राज्य में रिन बिनाइ (Rin Binai)[1], उणियारा, टोडरी, जहाजपुर और माँडलगढ शामिल थे। जहाजपुर और माँडलगढ के जिले मेवाड़ की ओर से जागीर में थे। माँडलगढ में एक टूटे-फूटे तालाब पर मुझे दो बड़े पत्थर मिले, जिन पर इन रायों की वंशावलियाँ खुदी हुई थीं। इनमें इनको बालनोत (Balnote) लिखा है और अब तक भी ये लोग परम्परानुसार इसी अवटंक से सम्बोधित होते हैं, जिससे उनकी पितृ-भूमि (fatherland) से उनका सम्बन्ध ज्ञात होता है, ओत (ote) का अर्थ है 'सम्बन्धित'। मांडलगढ के बालनोतों के प्रतिनिधि मिरची-खेड़ा (Mircheakhaira) और बटवाड़ा (Butwarro) के सरदार हैं, जो अब तक राव पदवी धारण करते हैं, परन्तु उनके अधिकार में केवल एक एक ही गांव है। राय कल्याण ने टोडा खो दिया था। राजा मान ने इसे लेकर आम्बेर में मिला लिया। उस ने कल्याण को निवाई के पास कुछ जमीन दे दी, जहाँ वह अपनी समस्त बस्सी के साथ जाकर बस गया—बस्सी शब्द एक साथ, प्रजा और गृह देवताओं का द्योतक है; जिस स्थान पर उसने अपना डेरा गाड़ा वहीं पर एक कस्बा बस गया, जो आज तक बस्सी कहलाता है और यहीं पर टोडा के राओं और अणहिलवाड़ा के महान् सिद्धराज का वंशज 'अट्ठारह राज्यों' की एवज तीन कौड़ी (२०×३=६०) आदमियों (प्रजा) पर राज्य करता है। मीरखाँ के आक्रमणों के कारण बस्सी के राव की यह दशा हो गई है। उसका सम्बन्धी, जो टोंक के राव की पदवी धारण करता था, वह भी अच्छी दशा में नहीं है। परन्तु, कितनी ही बीघा जमीन हाथ से निकल जाने पर भी इन लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों में कोई कमी नहीं आई है, क्योंकि राजपूत का मान धन के कारण नहीं होता। आमेर के जयसिंह महान् ने टोंक के गरीब सोलंकी घराने से भी एक पत्नी प्राप्त की थी। मेवाड़ में रूपनगर के ठाकुर भी टोंक-टोडा वंश की ही शाखा में हैं और अपने बड़े भाइयों की अपेक्षा अच्छी दशा में हैं। कहते हैं कि उनके पास सिद्ध-राज के 'रण शंख' का कुल-चिह्न (heir-loom) मौजूद है। इन्हीं के द्वारा मैं इस वंश के भाट से मिला था। और भी बहुतसी मिश्रित जातियां अपने को अणहिलवाड़ा के सोलंकियों से निकली हुई मानती हैं, जैसे सोंट (Sont) और कोठारिया के गूजर (वास्तव में, गुर्जरराष्ट्र के मूल निवासी), ओगणा और पानरवा तथा हाड़ोती में मऊ-मैदनो (Mow-Maidano) के भील, बोंकन (Bonkun) के सुनार एवं अन्य बहुत सी हस्तकलाओं का व्यवसाय करने वाली जातियां।

इस प्रकार हमने किसी समय शक्ति-सम्पन्न बल्हरों का इतिहास उनके भाग्य-विपर्यय की सभी दशाओं में आठवीं शताब्दी से, जब वे अणहिलवाड़ा की गद्दी पर बैठे, उन्नीसवीं शताब्दी तक, जब वे देश में तितर-बितर हो गये, खोज डाला है।

[1] यह अजमेर के पास 'भिणाय' हो सकता है।

इस दुर्घटना से कितने ही वर्षों बाद अणहिलवाड़ा के बचे-खुचे राज्य पर सहारन के रूप में एक नये वंश का अधिकार हुआ, जो प्राचीन परंतु अब निःशेष, टाक जाति का था; परंतु इसलाम धर्म में परिवर्तित होने के कारण सहारन ने मुज़फ्फर नाम धारण करके अपने नाम और जाति को छुपा लिया था। उसका पुत्र[1] सुप्रसिद्ध अहमदशाह था जो शासकों (राजाओं) की एक दीर्घ परम्परा कायम करने के सपने देख रहा था; अतः उसने गुजरात की राजधानी को सरस्वती के किनारे से उठा कर साबरमती के किनारे स्थापित की। जब प्राचीन राजधानी ध्वस्त चंद्रावती से लाए हुए अवशेषों से अहमदाबाद बन कर तैयार हो गया तो समय की गति के अनुसार धीरे-धीरे सब लोग अणहिलवाड़ा को भूल गए; और जब अहमदशाही तथा उनके परवर्ती एवं अधिक वैभवशाली तैमूर वंशीय सुलतान भी बारी बारी से भुला दिये गये और उनका अधिकार गाय[क]वार (साधारण ग्वाले) राजाओं के हाथ में चला गया तो अहमदाबाद की बारी आई और वह नगर भी उपेक्षा में पड़ गया। दामाजी ने अपनी विजय की पूर्ण महत्वाकांक्षा से एक नया नगर बसाया अथवा वंशराज के नगर के उपप्रांत के चारों ओर परकोटा खड़ा कराया, परंतु अब वह अणहिलवाड़ा पट्टण 'अणहिल की राजधानी' न कहला कर केवल पट्टण कहलाया।

कुछ लोगों के लिए तो यह संक्षिप्त इतिहास राजाओं के राज्यारोहण और उनके श्मशान में महाशयन के वृत्तांत के अतिरिक्त और कुछ प्रस्तुत नहीं करता, परंतु जो लोग गहराई से इस पर विचार करेंगे उनके लिए इसमें कितने ही संकेत, संदर्भ, वस्तुओं एवं पुरुषों के नाम तथा ऐसे ऐसे विचार मौजूद हैं, जिनको ठीक ठीक समझ लेने पर उन लोगों को उस विषय की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हो सकती है जिसे 'इतिहास का दर्शन' कहा जा सकता है—यथा—धर्म एवं तत्कालीन मतमतांतर; व्यापार और उसका प्राचीन जातियों में विस्तार; जातियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन; कलाएं, विशेषतः स्थापत्य, मूर्तिकला एवं मुद्राएं; युद्ध, राजनीतिक एवं भौतिक भूगोल और इन ग्यारह सौ वर्षों में राजपूत राजाओं के अंतर्जातीय व्यवहार। हमारे इतिहासकारों ने भी अतीत के अंधकारपूर्ण इतिहास में गोता लगा कर वे दार्शनिक परिणाम (तथ्य) एवं उदाहरण प्रस्तुत नहीं किए हैं, जो उनकी कृतियों में आकर्षण भर सकते; उन्होंने जो ताना-बाना बुना है वह उस बहुरंगी सामग्री के आधार पर है जो कितने ही स्रोतों से प्राप्त की गई है; वह इतिहास के विस्तृत क्षेत्र में केवल

[1] वास्तव में अहमदशाह मुज़फ्फर का पौत्र था।

"कितने ही प्रान्तों के फल-फूल मात्र" के रूप में है, जिसमें उनके अर्थ का साधन करने वाली कोई भी बात नहीं छूट पाई है।

फिर, इन प्रदेशों में ऐसी सामग्री की भी कमी नहीं है जिसका उपयोग शोध [विषयक प्रवृत्ति] को समान रूप से सम्मानित एवं प्रोत्साहित करने में किया जा सकता है; चाहे उसके मूलतन्तु इतने प्रभावशील न हों जितने कि उस देश की सामग्री के, जहाँ पर हमने जन्म लिया है अथवा उन राज्यों में प्राप्त सामग्री के, जो कि उस देश से सम्बद्ध हैं। गौण होते हुए भी इन विषयों में अनुसंधान की जो अभिरुचि उत्पन्न होती है वह सुनिश्चित प्रकार की होती है। शिलालेखों के आधार पर चरित्रों एवं ऐतिहासिक वृत्तों के तिथिक्रम के तथ्यों को निश्चित करना, भाटों के लेखों से जीत, तुरुष्क अथवा तक्षक, बल्ल, अर्यस्प, हूण, काठी तथा अन्य विदेशी नामधारी जातियों के उत्तरी एशिया से चल कर इन प्रदेशों में बसने के क्रम का पता चलाना, उन विभिन्न पूजा-प्रकारों पर विचार करना जो वे अपने 'पूर्व पुरुषों की भूमि' से यहाँ पर लाए और यहाँ से जिन लोगों को हटा कर वे बस गए, उनके रहन-सहन आदि के प्रकारों में घुलने-मिलने से जो आंशिक परिवर्त्तन हुए उनके विषय में अनुमान लगाना, तथा इस बात की भी शोध करना कि उनकी प्राचीन आदतों और संस्थाओं में से कितनी अब भी बच रही हैं—ये ऐसे विषय हैं, जो किसी भी विचारशील मस्तिष्क के लिए थोड़े और गौण नहीं हैं, और इस सौर प्रायद्वीप में शोध के लिए जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वे प्राय: भारत के किसी भी अन्य शोध-क्षेत्र में प्राप्त सुविधाओं से बढ़ कर हैं।

बौद्धमत यहीं पर पला था, यही वह भूमि है जहाँ पर एतन्मतावलम्बियों का जन्म हुआ अथवा उस मत का पोषण और संरक्षण उस समय हुआ जब कि उनको अन्य प्रदेशों से निकाल दिया गया था अथवा वे स्वयं ही वहाँ से चल कर इधर आ गये थे। कच्छ की खाड़ी से सिन्ध के डेल्टा तक फैला हुआ यह सायराष्ट्रीन (Syrastrene) अथवा सूर्य-पूजक सौरों का प्रान्त एरिया (Aria) और बॅक्ट्रीआना (Bactriana) के अग्निपूजकों के लिए सिन्धु नदी द्वारा विभाजित अवश्य था परन्तु बौद्धों के लिए इसमें कोई 'अटक' नहीं थी। उनकी अनुश्रुतियाँ प्रमाणित करती है कि इसलाम के आगमन से बहुत पूर्व ही उनके महाभिक्षु पश्चिम में स्थित अपने विहारों की यात्रा करते समय इस नदी को पार किया करते थे। ज़रदुश्त (Zerdusht) और सामानियों (Samaneans) की भूमि एरिया (Aria) में बौद्धमत के लिए प्रयुक्त आर्य (Arhya) और

आर्यपुन्ति (Arhya Punti) (पुन्ति अर्थात् पथ) शब्दों से क्या तात्पर्य अथवा सन्दर्भ हो सकता है, इसका अनुमान हम उसी प्रकार लगा सकते हैं जैसे कि इस मत के नाम में और सम्भवतः मान्यता के विषय में समानता का अनुमान लगाया करते हैं कि 'पार्श्व' के समान उसके कुछ अन्तिम जिनेश्वर एरिया (Aria) में ही हुए होंगे। उनके देवत्वप्राप्त धर्माचार्यों में से इस तेवीसवें आचार्य का समय ई० पू० ६५० का था जब कि पश्चिमी एशिया से नए आगन्तुकों के झुण्ड के झुण्ड भारत में चले आ रहे थे। उनके नाम से भी प्राचीन 'पार्स' (Pars) और 'पार्थिक' (अग्निपूजक) में साम्य प्रकट होता है और जैनों के पवित्र पर्वतों पर उत्कीर्ण शिलालेखों और सिक्कों के अक्षरों एवं चिह्नों में हिन्दू अक्षरों और चिह्नों का कोई सादृश्य नहीं हैं; वे सम्भवतः चाल्दिअन[1] (Chaldean) अक्षरों और चिह्नों के परिष्कृत रूप हैं, जो या तो व्यवहार द्वारा सीधे यूफ्राटीस (Euphrates) से प्राप्त किए गए हों अथवा एरिया (Aria) हो कर आए हों; इस कल्पना का हमारे कुछ सृष्टिसिद्धान्त-वादी विरोध करेंगे, जो इन तटों को सेमेटिक यात्रियों का भारत में आने का मार्ग मानते हैं। सम्भव है, इन पवित्र विजन पर्वतों पर प्राप्त प्राचीन सभ्यता के खण्डहरों और शिलालेखों के आधार पर शोध करने से कुछ और भी रहस्य सामने आएँ।

स्थापत्य के विषय में बौद्ध और जैन मन्दिरों से अब तक प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसके मौलिक तत्त्वों को यदि वे अपने धर्म के साथ पश्चिमी एशिया से नहीं लाए थे तो भी जो कुछ प्रकार उन्होंने यहाँ पर आकर ग्रहण किया उसका परिष्कार ऐसे रूप में हो गया है कि वह अपने आपमें एक स्वतन्त्र शैली बन गया है, जैसा कि अब तक वर्तमान उन स्मारकों में देखा जा सकता है, जिनको नमूने के रूप में विश्व के सामने सर्वप्रथम प्रस्तुत करने की मुझे प्रसन्नता है।

भारत के 'टायर' द्वारा आठवीं शताब्दी में बाहर से मँगाए हुए माल का विवरण देख कर संक्षेप में यही कहा और माना जा सकता है कि बढ़े-चढ़े और बहुत काल से संस्थापित व्यापार के कारण ही ऐसे परिणाम निकल सकते थे।

जब मैं यह कहता हूँ कि चरित्रों, ऐतिहासिक वृत्तान्तों, सिक्कों और शिलालेखों आदि से इतनी सामग्री प्राप्त होती है कि अणहिलवाड़ा और उसके अधीनस्थ राज्यों का एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है तो प्रश्न होता है

---

[1] अति प्राचीन लिपि जिससे लैटिन अक्षरों का उद्भव हुआ बताया जाता है।

कि मैंने ही ऐसा प्रयास क्यों नहीं किया ? उत्तर सीधा है, कि अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ऐतिहासिक और कालक्रम-सम्बन्धी तथ्यों की संगति कर देना ही अधिक उपयुक्त समझा और जैसा कि मैंने अपनी पूर्व-कृति[1] में किया है, इतनी ही सामग्री इतिहास-लेखकों के लिए प्रस्तुत करने में मुझे सन्तोष भी है, तथापि यहाँ पर हम उन टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयास कर सकते हैं जो पश्चिमी भारत के वल्हरा राजाओं के इतिहास को ईसाई सन् के समकालीन युगों से संबद्ध करती हैं।

गुर्जरराष्ट्र (भाषा गुजरात) और सौराष्ट्र (गूजरों और सौरों का प्रदेश) के संयुक्त देशों में ही वल्हरों के साम्राज्य का मूल स्थान है और राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुसार इन्हीं क्षेत्रों में, कभी यहाँ तो कभी वहाँ, राजधानियों की स्थापना होती रही है। इस विषय में तीन बार राजधानी की स्थिति में एवं इससे दुगुनी वार राज्य-वंशों में परिवर्त्तन होने का विवरण हम स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। मेवाड़ के इतिहास के अनुसार पहले राजवंश का संस्थापक उनका पूर्वज सूर्यवंशी (चावड़ा) कनकसेन[2] था, जिसकी राजधानी लोकोट (Lokote) उत्तरी प्रदेश में थी। ढाँक (Dhank) अथवा मूंगीपट्टन[3] में उनका निवासस्थान था। वहाँ से उन्होंने वलभी की स्थापना की जिसके विषय में, सौभाग्य से शिलालेख प्राप्त हो जाने के कारण, यह सिद्ध हो चुका है कि इस नगर के स्थापनाकाल से इसका अपना संवत् प्रचलित हुआ, जो ३१९ ई० से आरम्भ हुआ था। पाँचवीं शताब्दी में पार्थियनों, जीतों (Getes), हूणों और काठियों अथवा इन सब जातियों के मिश्रित समूहों के आक्रमण से जब यह नगर, 'जहाँ जैनों के चौरासी मन्दिरों के घण्टे श्रद्धालुओं का आमन्त्रण करते थे,' नष्ट हो गया तब इस शाखा के लोग पूर्व की ओर भाग गए और अन्त में चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। उस समय इस प्रान्त में देव-द्वीप और सोमनाथ-पट्टण, जिसको लारिक (Larica) भी कहते हैं, राजधानी बने हुए थे। आठवीं शताब्दी के मध्य में, इसके नष्ट होने पर अणहिलवाड़ा में राजधानी स्थापित हुई और अभिलेखों के अनुसार यह नगर चौदहवीं शताब्दी तक, जब

---

[1] राजस्थान का इतिहास।

[2] इस राजा का आक्रमणकाल ईसा की दूसरी शताब्दी था। यदि इससे पूर्व होता तो इसे विल्सन के इतिहास, राजतरंगिणी का कनक्ष (Knaksha) समझा जा सकता था।

[3] जिसको तिलतिलपुर-पट्टन (Tila-tilpoor-puttun) भी कहते हैं।

कि 'वाल-का-राय' की पदवी ही निःशेष हो गई थी, राजधानी बना रहा। विभिन्न लेखकों के समानान्तर-प्रमाणों के अतिरिक्त इन राजाओं की महानता उनके सिक्कों से भी प्रमाणित होती है, जो मुझे कच्छ और प्राचीन उज्जैन के खण्डहरों में प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर बौद्ध अक्षर पाए जाते हैं क्योंकि इस धर्म से वल्हरों का घनिष्ठ एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध था।

इन राजाओं की व्यापारिक-महानता पर सर्व-प्रथम दृष्टि-निक्षेप करने के लिए हम 'पॅरिप्लुस' के कर्त्ता के आभारी हैं, जो इन्हीं के राज्य में वॅरिगाज़ा (Barygaza), जिसका शुद्ध रूप भृगुकच्छ (Brigu-gocha), आधुनिक रूप वरवच (Berwuch) और अंग्रेजी बरौच (Baroach) है, में रहता था। यह नगर तब भी 'चौरासी बन्दरगाहों' में से एक था जव कि राजधानी अणहिलवाड़ा में स्थापित हो चुकी थी। टॉलमी ने भी बालेकूरों (Baleo-Kouras) के राज्य का वर्णन किया है यद्यपि 'हिप्पोकुरा'[1] (Hippocura) हमारे समझ में नहीं आता, जिसको वह राजधानी का नाम वतलाता है; यह एक ऐसा नाम है जिस पर हमें बॉइज़ॅण्टिअम (Byzentium) से भी अधिक आश्चर्य होता है, जिसे उसने वलभी के स्थान पर ला रखा है। एरिअन से हमें लारिक (Larica) निवासियों की समुद्री डाके डालने की आदतों का सूचन मिलता है; निस्सन्देह, वे इसी कारण सिद्धराज के समय में देश से वाहर निकाले गए थे। एरिअन के दिनों, अर्थात् दूसरी शताव्दी, से आठवीं शताव्दी में अणहिलवाड़ा के संस्थापक के समय तक और दशवीं शताव्दी में दूसरे राजवंश के अन्तिम राजा के राज्यकाल तक राज्य की आन्तरिक दशा कुछ भी रही हो परन्तु उसके (Arrian के) द्वारा वर्णित व्यापारिक अवस्था में कोई अन्तर या न्यूनता नहीं आई थी। ग्रीस के प्रतिनिधि द्वारा दूसरी शताव्दी में वर्णित पदार्थ आठवीं और बारहवीं शताब्दियों में भी यहाँ की विशाल मण्डी के "चौरासी बाज़ारों' में भरे रहते थे। कच्छ और खम्भात की खाड़ियों के बन्दरगाहों से समान दूरी पर सरस्वती के किनारे पर उसकी (राजधानी की) स्थिति होने के कारण अफ्रीका, मिस्र और अरब के सभी पदार्थ उसके उत्संग में आ ठहरते थे। उसका प्रधान बन्दरगाह गजना (Gujna) अथवा खम्भात (Cambayet) सौ मील से अधिक दूरी पर नहीं था

---

[1] कोल्हापुर और नासिक, ये ही दोनों ऐसे स्थान हैं जिनमें से किसी एक का इसके साथ ऐक्य हो सकता है।

Mc Crindle's 'Ancient, India as described by Ptolemy.'

—notes by S. Majumdar; p. 385

और माँडवी भी इस से कुछ ही अधिक फासले पर था। यदि एण्टवर्प[1] (Antwerp) में "आसपास के देशों से एक बार में चार सौ जहाजों द्वारा लाए और ले जाने वाले व्यापारिक माल को ढोने के लिए दस हज़ार गाडियाँ चलती थीं" तो एक समय 'अट्ठारह राज्यों' की राजधानी बने हुए भारत के टायर (Tyre) को कौन सा गौरव प्राप्त नहीं था, जहाँ पर एशिया के प्रत्येक बन्दर-गाह से जहाजों द्वारा धन खिच-खिच कर आता था और जिसका भूमार्ग से होनेवाला व्यापार तारतारी (Tar-tary) पहाड़ों तक फ़ैला हुआ था ? ये ऐसे तथ्य हैं जो आठवीं, दशवीं और बारहवीं शताब्दी में अरब यात्रियों को आश्चर्य से भर देते थे। अब हम एरिअन (Arrian) द्वारा सूचित बॅरिगाज़ा (Bary-gaza) और लाल समुद्र के बीच होने वाले व्यापार की कुछ मुख्य वस्तुओं और 'चरित्र' में वर्णित पदार्थों की तुलना करेंगे। हीरे और मोतियों आदि जवाहरात के बाद उसने ओज़िनी [Ozene उज्जयिनी ?] से भेजी जाने वाली मैलो (Mallow) घास के रंग की मलमलों का विशेष रूप से वर्णन किया है। ये अग-हिलवाड़ा के 'सालू'[2] हैं, जो लाल कपड़े और रेशम पर तैयार होते हैं; इनका एक बाज़ार ही अलग था। निस्सन्देह, अफ्रीका से आने वाला हाथीदांत पट्टण में एक मुख्य आयात की वस्तु थी। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ललनाओं में हाथीदांत की चूड़ियों[3] का शौक उस समय भी इतना ही बढ़ा-चढ़ा और व्यापक रूप में प्रचलित था जितना कि अब है। मद्य भी आयात की वस्तुओं में से था; इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों का राजपूत भी 'प्याले' का उतना ही भक्त था जितना कि आज है। एरिअन के विद्वान् अनुवादक ने प्रश्न किया है कि 'यह ताड़ की शराब अथवा ताड़ी होती थी ?' हमारा उत्तर है 'दोनों ही नहीं', क्योंकि 'जाल' का सुगन्धित रस तो उनके घर में ही बहुत था; वे लोग तो शुद्ध अंगूर की शराब (शायद शीराज़ की) मंगवाते थे जिसके गीत सुलेमान और हाफ़िज ने भी

---

[1] बेल्जियम का बन्दरगाह।

[2] एक विशेष प्रकार की ओढ़नी ?

[3] इन चूड़ियों से स्त्रियाँ कभी-कभी हाथ के गट्टे से कोहनी तक का भाग ढक लेती हैं। मैंने अन्यत्र दो पाषाण मूर्तियों का वर्णन किया है, जो मोज़ेइक (सिनाइ पर्वत) के प्राचीन गिरजाघर के द्वार पर बनी हुई हैं। यह स्थान टॅर्न (Tarn) और गॅरोनी (Garonne) के जंक्शन के पास है। मूर्तियाँ सर्वथा एशियाई पहनावे की प्रतीक हैं और सम्भवतः पश्चिमी गॉथ लोगों (Visigoths) के समय की हैं, जिनकी राजधानी ताउलाउस (Toulouse) थी।

समान रूप से गाए हैं। सप्त-धातु (हफ़्त धात) अणहिलवाड़ा में पाया जाता था, परन्तु विदेशी भूरे रंग के टिन की अपेक्षा देशी टिन तो घर के पास ही प्राप्त किया जा सकता था क्योंकि मेवाड़ में जवन (Jawan) की खानों से पता चलता है कि उनमें खुदाई का काम बहुत पहले से आरम्भ हो चुका था और यहां की पहाड़ियां शीशा, ताँबा, टिन और सुरमें (antimony) से भरी पड़ी हैं। सम्माननीय बीड (Venerable Bede)[१] के पास कालीमिर्चें, दालचीनी और लोहबान रहता था; डॉक्टर विंसेन्ट का प्रश्न है कि "उस समय, ७३५ ई० में ऐसे पदार्थ ब्रिटेन में एक पादरी की कोठरी तक कैसे पहुंच जाते थे ?"

एरिअन ने बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यों और अंगरागों का वर्णन किया है और 'चरित्र' में लिखा है कि अणहिलवाड़ा में ऐसी वस्तुओं का एक अलग ही बाजार था। जटामांसी या बालछड़, पीपल, लोहबान और गोमेदक[२] के विषय में भी एरियन ने लिखा है कि ये वस्तुएं मीनागढ़ (Minagara) से भेजी जाती थीं 'जहां पर' उसका कहना है कि 'एक पार्थिअन अधिकारी रहता था, जो गुजरात से कर वसूल किया करता था।' अन्तिम (गोमेदक) पदार्थ के अतिरिक्त ये सब वस्तुएं तिब्बत में पैदा होती हैं और इस चक्करदार रास्ते से बचने के लिए सिन्धु नदी ही सीधा व्यापारिक मार्ग था। डी' गुइग्नीस् (De Guignes)[3] ने दूसरा शताब्दी में इण्डोसीथिक (Indo-Scythic) विस्फोट के बारे में और कॉसमस (Cosmas)[४] ने छठी शताव्दी में हूण आक्रमण के विषय में लिखा है;

---

[१] गोमेदक पत्थर का पूर्वीय देशों में लाक्षणिक मूल्य है और विशेषतः तावीजों में इसका प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इस पत्थर की सुमरनी [माला] भी बहुत प्रभावशील मानी जाती है।

[२] वॅनरेबुल बीड का जन्म ६७३ ई. में मॉंकवियर माउथ (Monkwearmouth) में हुआ था। वह अपने समय का अंग्रेजों में सबसे बड़ा विद्वान् और ख्यातिप्राप्त लेखक माना जाता था। उसे 'ऑंग्ल इतिहास का पिता' भी कहा जाता है। उसने सब मिला कर ४० ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें २५ बाइबिल पर आधारित थे; शेष इतिहास आदि अन्य विषयों पर। उसकी मृत्यु ७३५ ई० में हुई।—E. B.Vol. III. p. 480-81

[3] फ्रेञ्च प्राच्य विद्याविद्, "Historie Generale des HUNS" का लेखक।

[४] छठी शताब्दी के इस लेखक की ग्रीक पुस्तक 'A Christian Topography Embracing the Whole World' के अतिरिक्त उसके विषय में कोई सूचना प्राप्त नहीं है। इस पुस्तक के सब मिला कर १२ अध्याय हैं। पहले पाँच तो ५३५ ई. के तुरन्त बाद ही लिखे गए प्रतीत होते हैं। बाद के सात आगे चल कर लिखे गए। लेखक पहले व्यापारी था, बाद में पादरी बन गया था। व्यापारी होने के नाते उसने लाल समुद्र, हिन्द महा-

सीथिक लोग डेल्टा के ठट्ठ (Tatta) अथवा सामीनगर (Saminagur), मीनागढ़ (Minagara) पर बस गये थे और दूसरे (हूण) कुछ ऊपर की ओर जम गए थे।

पूर्व विस्फोट का समय यूति (Yuti) अथवा जीत (Gete) अभियान का समय था जिसका वर्णन मैंने यादवों के इतिहास[1] में किया है। इन प्रदेशों में अब तक अत्यधिक संख्या में प्राप्त होने वाले अस्पष्ट अक्षरों से युक्त बहुत से प्राचीन पदक एवं चट्टानों पर उत्कीर्ण लेखों को इन्हीं इण्डो-पार्थिक अथवा इण्डो-गेटिक आक्रमणकारियों से सम्बद्ध मानना चाहिए। अन्य बहुमूल्य पत्थरों की तरह गोमेदक और सुलेमानी पत्थर गुजरात में राजपीपली नामक स्थान पर पाया जाता है। मेरे पास सिन्धिया के डेरे पर खरीदा हुआ एक फूलदान है, जो स्पष्ट ही यूनानी (Grecian) कारीगरी का है; पंजाब में इकट्ठे किए हुए बहुत से गोमेदक पत्थर[2] जिन पर नक्काशी का काम हो रहा है तथा सिकन्दर की विजय के अन्य बहुत से ऐसे अवशिष्ट पदार्थ भी हैं जिन से प्रतीत होता है कि ऐसी चीजें उस समय प्रभूत मात्रा में यहाँ पर मौजूद थीं।

भाँति भाँति के रेशम के कपड़े भी एरिअन द्वारा निर्यात के मुख्य पदार्थों में गिनाए गए हैं और 'चरित्र' में लिखा है कि पट्टण के 'चौरासी बाज़ारों' में से एक बाज़ार इन्हीं के लिए था। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी भारत के इस महान् व्यवसाय-केन्द्र में रेशमी कपड़े का व्यापार समीपवर्ती तगर (Tagara)

सागर में होते हुए अबीसीनिया, सुकॉत्रा, फारस की खाड़ी; पश्चिमी भारत और लंका की यात्राएं की थीं। यह पुस्तक अलेक्जॅण्ड्रिया में लिखी गई थी। इसकी दो हस्त-प्रतियां अब भी उपलब्ध हैं। पहली ८वीं शताब्दी की प्रति पोप की वेटिकन (Vatican) लाइब्रेरी में है और दूसरी इटली में टस्कनी के ड्यूक के मॅडिशिअन (Medicean) पुस्तकालय में है जो १०वीं शताब्दी की है। इस प्रति का अंतिम पत्र अप्राप्त है।

E. B. Vol. VI; pp. 445-46

[1] देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जिल्द २; पृ. २२१

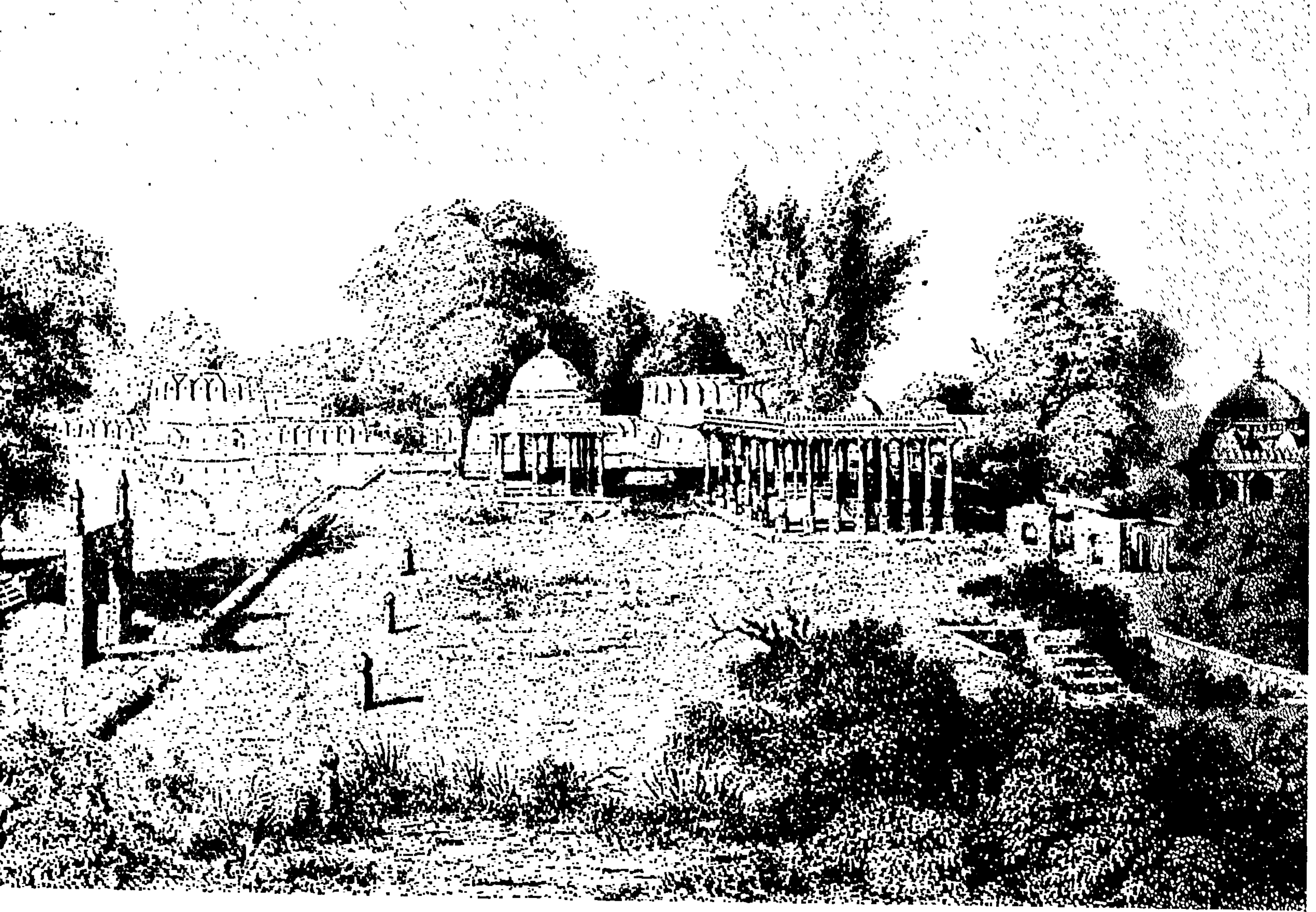
[2] जब १८०३-४ ई० में लॉर्ड लेक ने Altars of Alexander (आलटर्स आफ अलॅक्जॅण्डर) से होल्कर के साथ सन्धि की तो ऐसे पत्थर इतनी मात्रा में पाए गए कि मथुरा और आगरा के देशी कारीगर कुछ समय तक सफलतापूर्वक उनसे नकली नगीने बनाते रहे और यदि उन्हें प्रोत्साहन मिलता तो बहुत प्रसिद्धि हो जाती। मेरे मित्र कैम्पशाट (Kempshot) के एडवर्ड ब्लण्ट (Edward Blunt) के पास एक विशुद्ध ग्रेसियन नमूना है जिसमें कारीगर ने गोमेदक की काली पतली झिल्ली से लाभ उठाकर एक सुन्दरी के मुख की स्पर्द्धा में पत्थर के सफेद हिस्से में काटकर एक हब्शी (Moor) का शिरोभाग बना दिया है।

के बाजार तक ही सीमित नहीं था वरन् हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि मुल्तान, सरहिन्द और अन्य उत्तरीय प्रदेशों से भी (जहाँ अब भी इन पदार्थों का बनना बन्द नहीं हुआ है) बल्हरों की राजधानी में रेशम आया करता था। प्राचीन पश्चिमीय लेखकों ने प्रायः एकमत होकर सैरिका (Scirca) की स्थिति चीन देश के दक्षिणपूर्वीय प्रान्तों में मानी है। परन्तु, हम यह अनुमान क्यों न करें कि रेशम के बाजार के लिए काकेशस (Caucasus) पहाड़ को पार करने का कोई अवसर नहीं था? सरहिन्द अथवा सिरका-हिन्द अर्थात् हिन्द (भारत) के सीमा-प्रान्त के सिर से ही रेशम की प्राप्ति होती थी।[1]

यह भी असंभव नहीं है कि एरिअन के रचना-काल में पंजाब किसी इण्डो-ग्रीशिअन अथवा इण्डो-गेटिक राजा के अधिकार में हो, क्योंकि डेरिअस (Darius) के समय से ही, जो इसको पारसी साम्राज्य का सब से अधिक धनी मण्डल (सूबा) मानता था, पंजाब झगड़े की जड़ रहा है। रेशम के व्यापार के निमित्त ही उज्जैन के पोरस नामक राजा ने ऑगस्टस (Augustus) के पास एक राजदूत और ग्रीक (यूनानी) भाषा में लिखा हुआ पत्र भेजा था, इससे विदित होता है कि उस समय इन लोगों का मध्यभारत में पदार्पण हो चुका था। इस राजा को राना (Ranae) लिखा होने के कारण डॉक्टर विन्सेण्ट ने उसको मेवाड़ के राणाओं का पूर्वज माना है और यह एक विचित्र ही निष्कर्ष निकाला है। अब, यदि राजपूत राजाओं में सब से अधिक शक्तिशाली राणाओं और गुजरात के समान हितों के सम्बन्धों का ज्ञात होना सम्भव हो तो हम यह साबित कर सकते हैं कि बॅरिगाजा (Barygaza) और नलकुण्डा (Nalkunda) का व्यापार इतना महत्वपूर्ण था कि इन राजपूत राजाओं और रोम के बादशाह में सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक हो गया था। यदि इस आरम्भकाल का कोई ऐसा इतिहास प्राप्त हो जाय जिसमें तथ्यों की सत्यता एवं सम्भावना की मात्रा विद्यमान हो तो इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है, जो इस समय केवल अनुमान और कल्पना पर आधारित है।' पर्याप्त दृढ़ता के साथ हम यह प्रमाणित कर सकते हैं कि 'तत्कालीन राजपूत राजाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली राणाओं के हित गुजरात से सम्बन्धित ही नहीं थे' वरन् उन्होंने (राणाओं के रूप में नहीं) वास्तव में, प्रथम बल्हरा राजाओं के रूप

---

[1] जैसे लारिस (Laricc) 'लार का देश' (Lari-ca-Des) का संक्षिप्त रूप है उसी प्रकार 'सिर' भी राजनैतिक अथवा भौगोलिक सीमा के लिए प्रयुक्त साधारण शब्द है और 'सिर का हिन्द' अर्थात् हिन्द (भारत) का सिर (सीमा) का छोटा रूप सिर-का (Siri-ca) हो सकता है।



अणहिलवाड़ा पत्तन

में द्वितीय शताब्दी में कनकसेन से लेकर पांचवीं शताब्दी में शीलादित्य के समय तक, जब कि इण्डोसीथिक आक्रमणकारियों द्वारा वलभी का नाश हुआ, गुजरात में राज्य किया था।

मैंने अन्यत्र अपना मत प्रकट किया है कि भारत की एक अति प्राचीन और शक्तिशाली जाति परमार है, जिसको पँवार बोलते हैं (उज्जैन और धार के पूर्वकालीन राजा)। इस जाति के नाम के कारण उसका अपभ्रष्ट रूप एक व्यक्तिवाचक नाम बन गया जिससे आगस्टस (Augustus) से पत्रव्यवहार करने वाले (इस वंश के) राजा और सिकन्दर के विरोधी राजा दोनों के नामों में भ्रम उत्पन्न हो गया है। मैं यह भी सिद्ध कर सकता हूँ कि राणा का सर्वोच्च पद उज्जैन के इसी वंश से सम्बन्धित था और थार-स्थित उमरकोट का पदच्युत सोढ़ा-जातीय राजा अब भी इसको धारण करता है। यह परमारों का एक विशेष उप-ज़िला था, जो किसी समय सतलज से समुद्रपर्यन्त पश्चिमी भारत के एकाधिकारी शासक थे। मेवाड़ के प्राचीन राजाओं का पद 'रावल' था; बाद में जब तेरहवीं शताब्दी में मरुदेश की राजधानी मण्डोर पर विजय प्राप्त की तो उन्होंने 'राणा' पद ग्रहण कर लिया।

दूसरी शताब्दी में एरिअन (Arrian) द्वारा वर्णित लाल-समुद्र के बन्दरगाहों के लिए धनवृद्धि के साधनभूत बल्हरों की राजधानी से, जिस पर बॅरिगाज़ा (Barygaza) की स्थिति निर्भर थी, व्यापार की आगे तुलना करना अनावश्यक है; और इससे भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि राजधानी अणहिलवाड़ा थी अथवा सूरोई (Suroi) प्रायद्वीप के समुद्रीय तट पर लार देश में स्थित देवपट्टन, क्योंकि राजवंश एक ही था। 'गुजरात में बल्हरा नाम से नहरवाला राजधानी में राज्य करने वाले सम्राट्, उनके विशाल राज्य, धन और सभा-वैभव का' विस्तार सहित जो वर्णन अरब यात्रियों ने किया है वह ठीक ही है; परन्तु, हम फिर कहेंगे कि यह व्यवसाय-केन्द्र इस (राज्य) के संस्थापक की कृति नहीं कहा जा सकता वरन् इसकी अन्तःस्थलीय स्थिति इस बात का दृढ़ प्रमाण उपस्थित करती है कि यह व्यापार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था और उस प्रतिकूल अवस्था से भी सामान्य व्यापारिक यातायात में कोई अन्तर नहीं आया, जिसके कारण यहाँ के बाज़ार समृद्धि से परिपूर्ण थे। इस विषय में मैं मसूदी (Masaudi) का एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण उपस्थित करूँगा जो दशवीं शताब्दी में अणहिलवाड़ा आया था; यह उस समय के आसपास की बात है जब कि यह राज्य चावड़ों से चालुक्यों के अधिकार में आ गया था। उसने भी अपने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा वर्णित 'बाल-का-रायों' के वैभव और तत्कालीन

अणहिलवाड़ा की बढ़ती हुई समृद्धि की सम्पुष्टि की है। वह इसका एक विलक्षण कारण बताता है और वह है, हिन्दुओं की सहिष्णुता और मुसलिमों का सदाचार।

"मुसलमानों की इज्ज़त बहुत थी; उनकी मसजिदें शहर में बनी हुई थीं, जहाँ दिन में पाँच वार नमाज़ पढ़ी जाती थी और वे (मेरे विचार से अणहिलवाड़ा के लोग) अपनी प्रार्थनाओं में वल्हरों के दीर्घ-जीवन की कामना करते थे।" इसमें मूलराज के शासन के अन्तिम दिनों की ओर संकेत है, जो दशवीं शताब्दी के मध्य से अन्त तक के छत्तीस वर्षों का समय था। यद्यपि इसके थोड़े ही वर्षों बाद महमूद ने अपने बर्बर सैन्यदल के साथ आ कर इस देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और नगरों की संपदा को समेट ले गया था जिससे कि गजनी[1] का वैभव बढ़ गया। फिर भी, अणहिलवाड़ा फोनिक्स (अपूर्व पौराणिक पक्षी)[2] के समान अपने भस्मावशेषों से पुनर्जीवित हो गया; और, जब बारहवीं शताब्दी में सिद्धराज के राज्यकाल के अन्त और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के शासन-काल के आरम्भ में अल-इदरिसी यहाँ आया तो उसे उसी वैभव और अपार समृद्धि के दर्शन हुए, जिसका वर्णन उसके पूर्ववर्तियों ने आठवीं, नवीं और दशवीं शताब्दियों में किया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस समृद्धि का मूल केवल व्यापार-व्यवसाय पर ही निर्भर था, जिसके स्रोत अपनी विविधता और महत्ता के साथ-साथ इतने सुदृढ़ भी थे कि महमूद के आक्रमण जैसी अस्थायी विपत्तियाँ उनको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकीं। अल-इदरिसी का एक रोचक अनुच्छेद हम यहाँ उद्धृत करेंगे—

"राज्य-ग्रहण की प्रथा वंशपरम्परागत नियम के अनुसार प्रचलित है। उस राजा की महान् शक्ति के कारण लोग उसे वल्हरा (वलभी का राजा) कहने लगे हैं जिसका तात्पर्य्य उसके राजत्व और साम्राज्यशक्ति का द्योतक है। वह राजाओं का राजा (राजाधिराज) है। 'नहरौरा' नगर में मुसलमान व्यापारी बड़ी संख्या में व्यापार करने आते हैं।"[3]

---

[1] यदु (यादव) राजपूतों का कहना है कि इस नगर को उनके पूर्वज राजा गज ने बसाया था। (देखिए—राजस्थान का इतिहास, जि० २, पृ०२२२)

[2] कहते हैं कि यह पक्षी तेरह हज़ार वर्षों के लगभग जीवित रहता है, फिर अपने घोंसले में अपने आप जल मरता है। उसकी भस्म से एक नया फोनिक्स उत्पन्न हो जाता है।

[3] Regnum hoc hereditario jure possidetur a regibus suis, qui omens uno invariabli nominee vocantur Balhara, quod significat Rex Regum.Ad urben Narhroara multi se conferunt mercatores Moslemanni ad negotiandum.

(चालू)

और आगे उसने कहा है कि पूर्व-कथनानुसार बुद्ध का पूजन ही उस समय का प्रचलित धर्म था। इस सहिष्णुता के कारण व्यापारी मुसलमानों का राजधानी में प्रवेश होने के अतिरिक्त और भी परिणाम निकला; प्रायद्वीप के मध्य में जूनागढ़ का किला एक मुसलमान जागीरदार के अधिकार में था और जहाजी बेड़े की कमान एक हरमज़ (Hormus) निवासी के हाथ में थी। भविष्य में, इसी सहिष्णुता के वे विनाशकारी परिणाम भी निकले जिनका वर्णन किया जा चुका है।

ऊपर लिखे वृत्तान्त के आधार पर हम यहाँ एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं जिसका यथास्थान प्रयोग हम उस समय करेंगे 'जब सौरों के प्रायद्वीप' में आगे चल कर यहां के धर्म, जातियों और चट्टानों पर उत्कीर्ण विचित्र अक्षरों के विषय में मन्तव्य प्रकट करने का अवसर आएगा। वह निष्कर्ष यह है कि पश्चिमी भारत के राजपूत राजाओं और अरब, मिस्र तथा लाल-समुद्र के तटों के बीच ईसा से बहुत पूर्व ही विपुल व्यापार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था; और ईसवीय दूसरी शताब्दी में बल्हरों के चौरासी बन्दरगाहों में बसने वाले ग्रीक और रोमन आढ़तियों की साक्षी से हम स्वतन्त्रतापूर्वक इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि रोमन लोग चार लाख पाउण्ड जितना धन प्रतिवर्ष अपनी पूंजी के रूप में भारत को देते थे और टॉलमियों[१] (Ptolemies) के राज्यकाल में 'एक सौ पच्चीस भारतीय जहाजों के बेड़े एक बार में म्यूस (*Myus*), हरमस (*Hormus*) और बेरीनीस (Berenice) के बन्दरगाहों पर पड़े रहते थे; ये ही वे बन्दरगाह थे, जहाँ से मिस्र, सीरिया और रोम के प्रधान नगर में भी भारतीय पदार्थ पहुँचते थे और यहीं से मलाबार की कालीमिर्च सॅक्सन सप्त-राज्य (Sexon Heptarchy)[२] के समय में उस पादरी की गुफा में पहुँच पाई थी।



इन पंक्तियों का अंग्रेजी रूपान्तर मेरे लिए श्रद्धेय डॉ० परमात्मा-शरणजी, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने किया तदर्थ उनका आभारी हूँ। उसी के आधार पर आनुमानिक अनुवाद ऊपर दिया गया है।

[१] मिस्र का राजवंश (ई०-पू० ३२५ से ४० ई० तक)

[२] ४४९ ई० से ९वीं शताब्दी तक का समय। इस बीच में इंगलैण्ड सात राज्यों में विभक्त रहा था।

प्रकरण ११

अणहिलवाड़ा के भग्नावशेष; उनका द्रुतगति से गायब होना; स्थापत्य के केवल चार नमूने; सारासेनिक (Saracenic) मेहराब के नमूने; इसका आविष्कार; हिन्दू-अणहिलवाड़ा के अवशेषों का अहमदाबाद और आधुनिक पाटण के निर्माण में उपयोग; नए नगर में प्राचीनताएं; शिलालेखों और ग्रंथभण्डार की मुसलमानों से रक्षा; जैनों की खरतर-शाखा की सम्पत्ति, ग्रन्थालय के ग्रंथ और विस्तार; जैनों के अन्य ग्रंथ-भंडार, जिनकी खोज नहीं हुई; वंशराज-चरित्र।

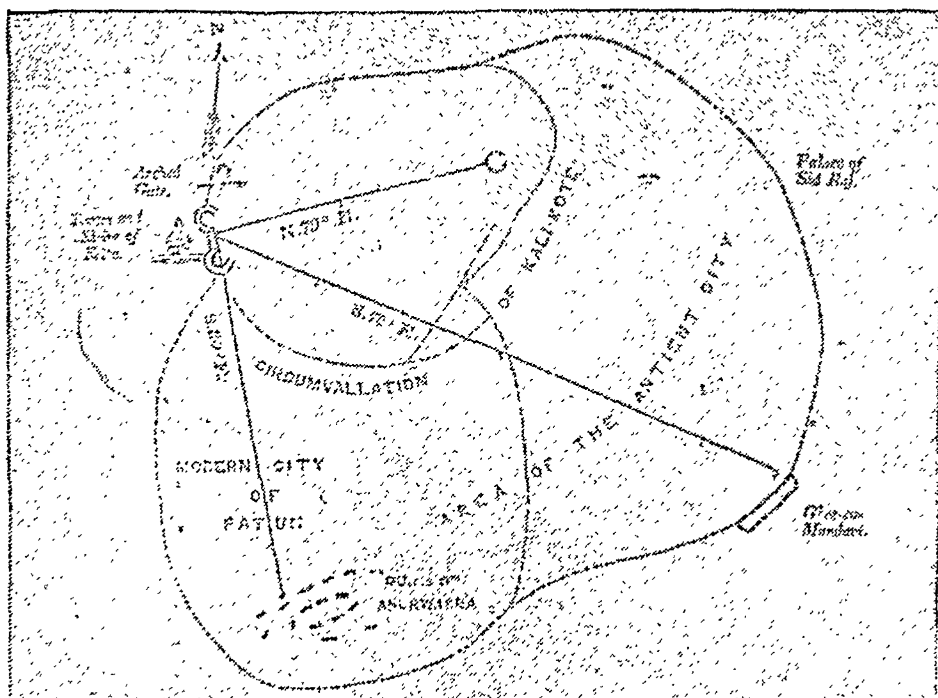
जिसका धार्मिक-ग्रन्थों की भविष्यवाणी में विश्वास न हो ऐसा मनुष्य जब बल्हरों की इस एकदा गौरवमयी राजधानी में जायगा तो वहाँ उसे अतीत के इस विशाल नगर में, जहाँ 'चौरासी चौपड़ें और चौरासी बाज़ार थे', यह देखने को मिलेगा कि कैसी सुगमता से इतनी बड़ी बड़ी राजधानियाँ खड़ी की जाती थीं और उसी तरह नष्ट करके छोड़ दी जाती थीं। उस (दर्शक) को वहाँ के 'सीज़रों'[1] (राजाओं) के प्रासादों को घेरने वाले परकोटे की ऊंची-ऊंची दीवारों के ही अवशेष दिखाई देंगे; दूसरी इमारतों की दीवारों का तो 'बैबिलोन'[2] की दीवारों की तरह यह हाल है कि एक पत्थर पर दूसरा पत्थर भी न मिलेगा। पूर्व के देशों में जब बरबादी शुरू होती है तो वहाँ पर धार्मिक भवनों, मन्दिरों, बावड़ियों और पानी के टाँकों के अतिरिक्त कुछ नहीं बच रहता।

वहाँ जाते ही नगर के मुख्य द्वार के पास नीचे बने हुए काली के मन्दिर से देखने पर जो पहली वस्तु दृष्टि को आकर्षित करती है वह 'काली-कोट' अथवा अन्तरंग नगर का अवशेष है, जिसमें दो मज़बूत बुर्जें बनी हुई हैं; वे काली की छतरियाँ कहलाती हैं। इन छतरियों पर से उस परकोटे पर दृष्टि दौड़ाई जा सकती है, जो एक भोंडे से द्वि-समानान्तर चतुर्भुज के रूप में लगभग पाँच मील के गिरदाव में फैला हुआ है। इसके बाहर चारों ओर मुख्यतः पूर्व और दक्षिण में उप-नगर बसे हुए थे जिनकी सुरक्षा के लिए बाहरी परकोटा बना होगा। वहाँ के दृश्य का अनुमान नीचे दिए हुए अधूरे से खाके से लगाया जा सकता है।

---

[1] रूस के बादशाहों।

[2] एशिया के सुप्रसिद्ध बैबिलोनिया साम्राज्य का युफ्राटीस नदी पर स्थित नगर। सिकन्दर की मृत्यु यहीं हुई थी। बाद में यह नष्ट हो गया। इसके अवशेषों की खुदाई निरन्तर हो रही है। —N.S.E. pp 98-99।



अणहिलवाड़ा पर राज्य करने वाले तीनों राजवंशों के अब केवल तीन ही स्मारक अवशिष्ट हैं; परन्तु, 'चरित्र' और अनुश्रुतियों के आधार पर इस राज्य के भूतपूर्व गौरव के पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। प्रथम, काली की छतरियाँ; द्वितीय, सिद्धराज के प्राचीन महलों के अवशेष; तृतीय, चौरासी बाजारों में से एक घी की मण्डी के खण्डहर, जो छतरियों से चार मील दूर हैं, और अंतिम परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, अणहिलवाड़ा के खण्डहर, जो कालीकोट-द्वार से दो कोस अथवा तीन मील की दूरी पर हैं।

इस शोध के पश्चात् कई वर्षों की चिन्ता दूर हुई; यहीं पर वंशराज [वनराज] के प्रथम नगर की स्थिति थी, जैसा कि अब भी यहाँ के लोग कहते हैं; परन्तु, कुछ ही वर्षों बाद यह अतीत की वस्तुओं में गिना जायगा। काली-कोट को नष्ट करने में काल ने अथवा तुर्कों ने जो कुछ किया उससे भी अधिक नष्ट करने का दायित्व दामाजी गायकवाड़ का है; परन्तु, इसमें सन्देह भी हो सकता है क्योंकि यह सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला[1] ने दीवारों को तोड़ कर ही दम नहीं ले लिया था वरन् मन्दिरों का बहुत-सा भाग नीवों में गड़वा दिया, महल खड़े किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खड़े थे। अब, सब वीरान है और केवल रेत में पनपनेवाला सदा-हरा पीलू ही खण्डहरों के अवशेषों की शोभा बढ़ा रहा है। काली-कोट आस-पास के प्रदेश से बहुत ऊँचा खड़ा किया गया था। आजकल जिसको सिद्धराज के महल का खण्डहर कहा जाता है वह एक कृत्रिम

[1] अल्लाउद्दीन।

सरोवर के बीच में खड़ा है परन्तु इसकी गहराई अब नाम मात्र की है। यहीं पर एक विशाल जलाशय (बावड़ी) के भी अवशेष हैं, जिसकी सामग्री से आधुनिक पट्टण[1] में एक नई बावड़ी बन गई है; इसी के साथ एक छोटी बावड़ी भी है, जो 'स्याही का कुण्ड' कहलाती है। लोगों का कहना है कि इसमें, हेमाचार्य के शिष्य उनके सूत्रों को लिखते समय अपनी कलम डुबोते थे।

काली की छतरियों से कोई डेढ़ सौ गज की दूरी पर एक विशाल दरवाज़े की मेहराब (तोरण) का ढांचा खड़ा है। यदि इस शोभमान अवशेष से अनुमान लगाया जाय कि अणहिल का नगर 'वाडा' कैसा था तो स्थापत्य-सम्बन्धी एक बड़ी गुत्थी तुरन्त ही सुलझ जाती है, क्योंकि सारसेनिक (Saracenic) कहलाने वाली मेहराबों के जितने ढाँचे मैंने देखे हैं उनमें यह सबसे अधिक सुन्दर है, और यदि हम यह प्रमाणित कर सकें कि इसका उद्‌गम हिन्दू है तो हमें इसमें अलहम्ब्रा की मेहराबों एवं गॉथिक कहलाने वाली उस बहुविध नुकीली शैली के मूल रूप का पता चल जायगा, जिससे योरप भरा पड़ा है। यदि वास्तव में यह दरवाज़ा वंशराज द्वारा ७४६ ई० में बनवाए हुए परकोटे का ही भाग है तो यह ग्रेनाड़ा-राज्य में हारूँ द्वारा बनवाए हुए सर्वश्रेष्ठ 'अलहम्ब्रा भवन' के निर्माण-समय के आसपास का बना हुआ होना चाहिए। मैं अपना यह मन्तव्य पहले ही प्रकट कर चुका हूँ कि यद्यपि चावड़ा राजा ने इन्हीं दिनों अपना वंश (राज्य) स्थापित कर लिया था परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि इस नगर का इतना विस्तार और गौरव-प्रसार उसी के समय में हो गया होगा। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि जब वंशराज को, उसके कुटुम्बियों की समुद्री-लुटारूपन की आदतों के कारण, देव-बन्दर से निकाल दिया गया था तो वह किसी दूसरी राजधानी में जा बसा अथवा किसी अधिक प्राचीन राजवंश का उत्तराधिकारी बन गया। हम जानते हैं कि बग़दाद के ख़लीफ़ों को, जिन्होंने स्थलीय महान् विजय प्राप्त करने के साथ-साथ समुद्री साम्राज्य भी काफ़ी बढा लिया था, भारत के साथ लम्बे व्यापारिक सम्बन्धों के कारण महान् समृद्धि विरासत के रूप में मिली थी और वे जिस देश पर विजय करके उसे अधिकृत कर लेते थे वहाँ की मूल्यवान् कला और विज्ञान का तुरन्त

---

[1] यहां पर दिया हुआ छापा श्री आर्थर मैलट (Mr. Arthur Malet) के रेखा-चित्र का है जिसका विवरण यों दिया है—पट्टण के प्राचीन किले की बावड़ी के खंडहर। सीढ़ियाँ और सुरंगें गिर गई हैं; केवल दीवार का एक-हिस्सा बचा है, जो सुन्दर बना हुआ है; मुसलमान संभवतः इसके पत्थर किसी हिन्दू-मन्दिर से लाए थे क्योंकि इन पर मूर्तियां भी बनी हुई हैं।

राष्ट्रीयकरण कर लेते थे। मैंने अन्यत्र[१] यह भी प्रकट किया है कि आठवीं शताब्दी में ही इसलाम के बाजू सिन्ध और एब्रो (Ebro)[२] तक फैल चुके थे; परन्तु अरबों ने यह मेहराब काटना या तोरण बनाना सीखा कहाँ से ? स्पेन में विसिगॉथ[3] (Visigoth) से नहीं और न प्राचीन ग्रीक और पारसी मठोठदार इमारतों से; न रेगिस्तान में टेडमोर (Tadmor)[४] से, न पर्सीपोलिस (Persepolis)[५] से, न हारूँ से, न हालिब (Haleb) से। तब क्या उन्होंने ही इसका आविष्कार किया और योरप भर में प्रचार कर दिया अथवा उन्होंने हिन्दू-शिल्पियों से इसका ज्ञान प्राप्त किया जिनका वित्रुविअस (Vitruvius)[६] उस समय भी विद्यमान था जब कि उनके रोम्युलस (Romulus)[७] का जन्म भी नहीं हुआ था ? एक बात पक्की है, जिसका हमें पूर्ण विश्वास है और वह यह कि इस मेहराब को बनाने वाला कारीगर हिन्दू था और इसके सभी अलङ्करण विशुद्ध हिन्दू हैं; यदि अरबों का इससे कोई सम्बन्ध है भी तो वह प्रकार मात्र का है। परन्तु, क्या सम्भावना-मात्र पर हम इतना विश्वास कर लें ? हम जानते हैं कि मुसलमानों ने पाटण पर कभी राज्य नहीं किया ? जब टॉक जाति ने गुजरात पर अधिकार पाया तो उन्होंने तुरन्त ही राजधानी को स्थानान्तरित कर दिया था।

---

[१] देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जि. १., पृ. २४३ ।

[२] स्पेन की ३४० मील लम्बी नदी।

[3] पूर्वीय शाखा की जर्मन (ट्यूटॉनिक) जाति जो अब निःशेष हो गई।

[४] इसका ग्रीकनाम पामीरा (Palmyra) है। यह नगर सीरिया रेगिस्तान के मध्य में स्थित है। वहाँ एक सूर्य-मन्दिर भी है। इसका 'टॅडमोर' नाम ओल्ड 'टॅस्टामेण्ट' में मिलता है।

[५] पारसी साम्राज्य की प्राचीन राजधानी जो आधुनिक सीराज के समीप थी। इस नगर को थाया (Thais) नाम की गणिका के कहने से नशे की झोंक में सिकन्दर ने नष्ट कर दिया था।

अनातोले फ्रांस ने सम्भवतः इसी थाया को अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' में चित्रित किया है।

इस घटना का उल्लेख ड्राइडॅन (Dryden) के गीत-मुक्तक 'Alexander's feast' में भी हुआ है।

The Oxford Companion to English Literature
—Harvey; pp. 299, 608, 778.

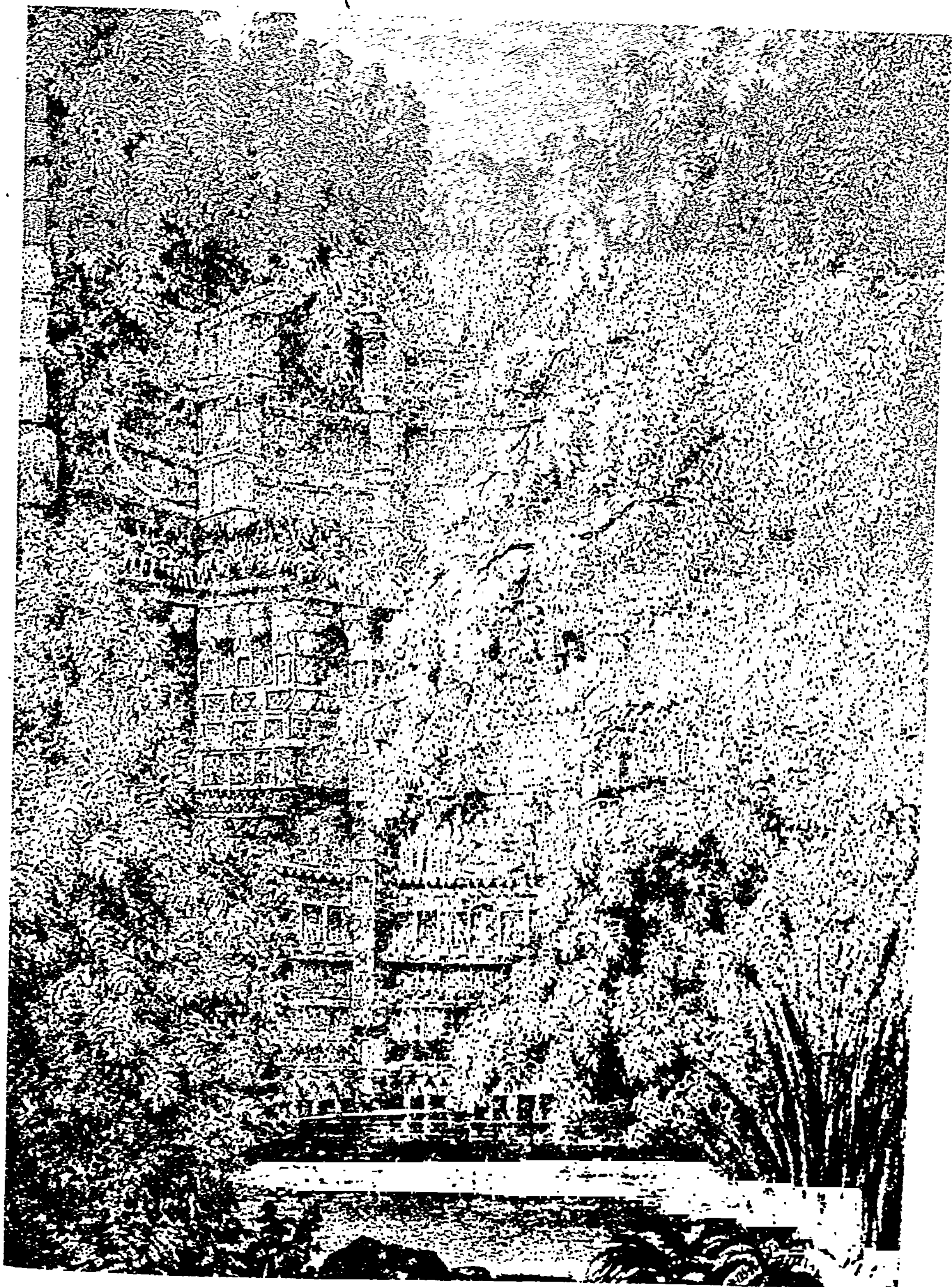
[६] सुप्रसिद्ध पोलेण्ड के बादशाह ऑगस्टस (1670 – 1733 A.D.) का शिल्पकार और 'de Architectura' का कर्ता।

[७] रेमस (Remus) और रोम्यूलस दोनों भाई रोम के संस्थापक थे।

और, यह भी किसी प्रकार सम्भव नहीं है कि जब मज़हब के दीवाने 'अल्ला' ने एक बार इसके मन्दिरों और दीवारों को बरबाद कर दिया तो फिर किसी मुसलमान बादशाह ने हिन्दुओं के रहने के लिए इसका पुनर्निर्माण कराया हो। इस स्थापत्य का प्रकार 'अल्ला' से पहले गोरी वंश के समय का होने के कारण बहुत पुराना है; बाद में, इसमें धीरे धीरे कोमलता आती गई और अन्त में बेल-बूटे एवं फूल-पत्तियों की सजावट साज-सज्जा तथा मुगलों की स्त्रैण किन्तु आकर्षक विशिष्टता का समावेश भी इसमें हो गया। नुकीली शैली के विभिन्न प्रकारों का भेद ज्ञात कर लेना योरप में बहुत आसान है परन्तु अरबों द्वारा पश्चिम में जीते हुए देशों में इण्डो-सारसेनिक (शुद्ध सारसेनिक प्रणाली से भेद करने के निमित्त इस शब्द के प्रयोग की हमें छूट दी जावे) प्रणाली में इन प्रकारों का भेद ज्ञात करना इसकी अपेक्षा कठिन है क्योंकि उन्होंने (अरबों ने) अथवा उनके अनुवर्त्तियों ने प्रत्येक धार्मिक इमारत को नष्ट कर दिया या इसलाम के इबादतखाने में बदल लिया, और इस प्रकार जानने का कोई चारा न रहा कि विशुद्ध हिन्दू प्रकार क्या था? यदि कोई कलाकार अथवा गवेषक पुरानी दिल्ली जाये और कुछ महीनों तक विभिन्न राजवंशों के समय में बनी हुई टूटी-फूटी इमारतों के अपार ढेरों में रहे तो उन गुम्बदों की बनावट को देख कर वह इनके भेद को इतिहास के पन्नों की अपेक्षा अधिक शुद्धता से जान सकेगा क्योंकि इनमें से प्रत्येक का प्रकार उन सभी शैलियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, जिनको (पुस्तकों में ?) हमने गॉथिक बाइ-जॅन्टाइन या तेदेस्के (Tedesque) सारसेनिक और सॅक्सन आदि कह कर विभक्त किया है। मैं समझता हूँ, ओजी (Ogee)[1] या सिकुड़ी हुई मेहराब को हम हिन्दुओं द्वारा आविष्कृत मान सकते हैं क्योंकि उनके सभी वैवाहिक अथवा विजय-काल के साधारण से साधारण तोरणों की बनावट इसी प्रकार की है और घोड़े की नाल जैसी नुकीली मेहराब, जिसको सारसेनिक कहना गलत न होगा, इसी का परिशोधित रूप हो सकता है। ज्योतिष की ऊँची से ऊँची गति, बीज-गणित और सूक्ष्मतम आध्यात्मिक विषय की सभी गुत्थियों को सुलझाने में जिन समृद्ध और वैज्ञानिक हिन्दुओं के अनुसंधान एक ऐसे स्थल पर विद्यमान हैं कि जिसके मूल में कोई विवाद नहीं है उन्हीं के विषय में, जंगली और

---

[1] इस 'प्रकार' का नाम 'ओ-जी' इसकी आकृति के कारण पड़ा है जो ऐसा होता है जैसे 'G' अक्षर पर 'O' रख दिया गया हो। प्राचीन पाण्डुलिपियों में इसे Ressaunt (रेसाँ) कहा गया है।—E.B. Vol. II; p. 468



अणहिलवाड़ा पाटण की एक वापिका

घुमक्कड़ वेडोइन [1] (Bedouin) की अपेक्षा, इसके आविष्कारक होने की वहुत अधिक सम्भावना है।

अणहिलवाड़ा के तोरण को काल और गायकवाड़ के लिए छोड़ने से पहले हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि सर्वसंहारी विध्वंसों में वह बच कैसे गया ? विशुद्ध हिन्दू कंगूरों और व्यूह-रचना-सदृश परकोटे से युक्त उसकी एकांत छतरियां हिन्दू और तुर्क दोनों ही से अछूती रह गईं इसका और कोई अभिप्राय हमारी समझ में नहीं आता—वह एक मात्र इसका अत्यधिक सौन्दर्य ही हो सकता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि नीचे से ऊपर तक इस ढाँचे की पसलियाँ [ईंटें ?] मात्र वच रही हैं, जिन पर (चूने का) किंचित् भी लगाव नहीं रहा है; ये पसलियाँ जिन चौकोर खम्भों के सहारे टिकी हुई हैं उनकी सीध में कोई अन्तर नहीं आया है और वे चुनावट के साथ वैसे ही पच्ची हो रहे हैं जैसे उस दिन थे जब खड़े किए गए थे। वे खम्भे सादा और तोरण के अनुरूप बने हुए हैं; उनका शिरोभाग विशुद्ध हिन्दू ढंग का है और साँकलों के गजरों से मण्डित है, जिनके वीच-वीच में जंजीर से वीरघण्ट अथवा युद्ध-घण्ट वैसे ही लटका हुआ है जैसे बाड़ौली (Barolli) [2] के खम्भों में है; यह वीरघण्ट जैनों (वल्हरा भी इसी मत के थे) के स्तम्भ-निर्माण की वहुत प्राचीन एवं सामान्य सजावट का अंग है। तोरण के वृत्त-खण्ड के मध्य में दोनों ओर कमल है। यहाँ पर यह भी वतला देना उचित होगा कि अहमदा-वाद की वहुत सी प्रसिद्ध मसजिदों में भी इसी प्रकार की सजावट है। इससे यही सिद्ध होता है कि चन्द्रावती और अणहिलवाड़ा के अवशेषों से अहमद का नया नगर निर्माण करते समय मुसलमान लोग अपने प्रयोजन की सभी सामग्री इन नगरों में से ले गए थे।

मुझे इसका कारण ज्ञात न हो सका कि यहाँ के लोग तोरण से दक्षिण की ओर तीन मील तक के खण्डहरों का ही 'अन्हरवारा' नाम (जैसा कि वे बोलते हैं) क्यों सीमित कर देते हैं ? यद्यपि अरब के जहाजियों के नाम पर बने हुए अथवा तगर (Tagara) के बैंगनी सामान के चौक की तलाश अधिक

---

[1] खानाबदोश और डेरे तम्बुओं में रहने वाला अरब।
अरब की एक घुमक्कड़ जाति, जो भेड़ें चरा कर जीवन-निर्वाह करती थी। इन लोगों ने धीरे-धीरे अपना प्रभाव वढ़ा कर 'संगे-मूसा' वाले तीर्थ-स्थान पर भी अधिकार कर लिया था। 'The Outline of History'—H.G. Wells, pp. 595-96

[2] देखिये 'राजस्थान का इतिहास' जि. २, पृ, ७१०।

आनन्द-दायक होती, परंतु घी की मण्डी देख कर ही मुझे संतोष हो गया क्योंकि इससे 'चरित्र' के इस कथन का पुष्ट प्रमाण मिल गया कि प्रत्येक पदार्थ के व्यापार के लिए पृथक् मण्डी बनी हुई थी।

मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि यह नगर सरस्वती नदी के किनारे नहीं बसा था, जो अब इससे कुछ ही दूरी पर है; परन्तु मेरा तो दृढता के साथ यह कहने को मन होता है कि कम से कम उत्तर-पूर्व में तो इसका प्रसार नदी तक था ही, और आधुनिक पाटण का उससे भी अधिक भाग इसके अंतर्गत था जितना कि गायकवाड़ के अनुवर्ती आज स्वीकार करना चाहते हैं। इस मत की ओर मेरा झुकाव कुछ तो नए नगर के परकोटे के भीतर के मन्दिरों को देख कर होता है और कुछ वहीं पर एक विशाल सरोवर के कारण जो अब भी बहुत अच्छी तरह सुरक्षित है और जिसकी खुदाई नगर से लगभग तीन मील की दूरी पर असम्भव हो जाती है। यहीं पर अहमदाबाद की तरफ एक और तालाब है, जो इससे भी अधिक सुन्दर है। यह मानसरोवर कहलाता है और अब बिलकुल सूखा पड़ा है। इसके विषय में एक कहानी है कि इसको एक ओड अथवा ईंट बनाने वाले ने बनाया था; जैसे ही यह बन कर तैयार हुआ उसमें और उसकी स्त्री में झगड़ा हो गया। स्त्री ने उसको शाप दे दिया जिसके कारण पानी जैसे बहकर आया था उसी तेजी से रिस-रिस कर निकल गया। जिन पाठकों ने मेरे पूर्व ग्रन्थ में गोता लगाया है उनको झालरापाटण के एक ऐसे ही सुन्दर तालाब की कथा याद आई होगी, जो भी एक ओड की ही कृति है। वास्तव में बात यह है कि ओड या ओड़ शब्द यद्यपि ईंटें बनाने वाली जाति का ही द्योतक है, जैसे कुम्हार बर्तन बनाने वाली जाति का, परन्तु, प्राचीन काल में इस नाम की एक शक्तिशाली जाति थी। ओड़ीसा (Orissa) के राजा इसी जाति के थे जिनके शिलालेख भी वैसे ही अस्पष्ट अक्षरों में पाए जाते हैं जैसे इस प्रदेश में, जो हमारे वर्णन का विषय बना हुआ है।

कालिका अथवा काली की छतरी के चबूतरे पर से ये सभी स्थान साफ़ दिखाई देते हैं; इनके चारों ओर का विरल वृक्षावली वाला मैदान धीरे धीरे लहराता हुआ सा प्रतीत होता है। यह दृश्य सुदूर क्षितिज द्वारा परिसीमित है। दक्षिण की ओर जंगल घना और अधिक है, जो एकाकिनी समतलता से उत्पन्न हुई अरुचि को दूर करता है। आगे चलकर आबू की लघु-श्रेणियां भी इस कार्य में सहायक बन जाती हैं जिनकी काली चोटियां छत्रायमान स्वच्छ नील आकाश से स्पष्ट ही भिन्न प्रतीत होती हैं। सम्भवतः अणहिलवाड़ा के निर्माण में प्रयुक्त सामग्री इन्हीं पहाड़ों से प्राप्त हुई थी

आधुनिक पट्टण का आधा परकोटा तो प्राचीन नगर से प्राप्त प्रस्तर-खण्डों से बना हुआ है और शेष कार्य को पूरा करने में, दामाजी की इस नगर का संस्थापक कहलाने की महत्वाकांक्षा के कारण, बल्हरों के प्रासादों, जलाशयों और मन्दिरों से जो कुछ मसाला मिला वह बिना सोचे-समझे लगा दिया गया है। साधारण-सा निरीक्षण करने के बाद ही मेरी यह निश्चित धारणा बन गई कि यदि वेशभूषा और लेखों का अध्ययन करने के लिए इन उत्कीर्ण प्रस्तर-खण्डों में खोज की जाए तो समय और परिश्रम कदापि व्यर्थ नहीं जा सकता।[1] इन प्रस्तर-खण्डों से बनी सुदृढ नींव पर खड़ी हुई ईंटों की दीवार अदरख की रोटी जैसी अलग ही दिखाई पड़ती है और इस बात का प्रमाण उपस्थित करती है कि संस्थापक गायकवाड़ में राजपूत देव-पर्वत (Olympus) पर अनलकुण्ड से आविर्भूत जातियों के विशुद्ध देव-रक्त (Tutonic) का कोई अंश नहीं था। मैं यह कहना भूल गया था कि कालिका की छतरियां ईंटों की बनी हुई हैं, परन्तु मैंने यह नहीं देखा कि इनकी नींव भी पत्थर की है या क्या? फिर भी, यही अधिक सम्भव है कि वे पत्थरों से ही भरी गई हैं क्योंकि इन बालुकामय[2] क्षेत्रों में क्षारीय अंश बहुत होता है, जो ईंटों को धीरे-धीरे नष्ट करके नींवों को खोखली कर देता है अतः यह आवश्यक है कि नींवें पत्थरों से ही भरी जावें। वास्तव में, जिन नगरों की इमारतें और दीवारें ईंटों से बनी हुई हैं उनके प्रकार को देख कर उन सभी के निर्माण का समय ज्ञात कर लेना सम्भव हो जायगा। आगरा शहर और इसकी दीवारें इस विषय में उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, क्योंकि दो शताब्दी से कुछ ही अधिक प्राचीन होने पर भी किसी एक दीवार की भी नींव साबुत नहीं है; अपनी अपनी शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री के अनुसार प्रत्येक दीवार की सतह टूट-फूट कर धरातल के समीप आ गई है और एक क्षीयमाण ध्वंसोन्मुख श्रेणी का दृश्य उपस्थित करती हुई यह बतलाती है, जैसा कि हिन्दू लोग कहा करते हैं, कि प्रकृति और कला में निरन्तर युद्ध चलता रहता है। काली अथवा 'नाश की देवी' के मन्दिर में और कोई उल्लेख-

---

[1] मध्य भारत में एक हूण राजा के राज-चिन्हों की महत्वपूर्ण खोज के बारे में मैं अन्यत्र कह चुका हूं; यह खोज भैंसरोड़ की दीवारों के परिश्रमपूर्ण अध्ययन के आधार पर की गई है, जो हिन्दुओं की अन्य इमारतों और नगरों की भांति तोड़ी-फोड़ी जाकर पुनः बनाई गई हैं।

[2] 'बालू' Sand के लिए हिन्दू शब्द है; 'बालू का देश' बालुकामय प्रदेश हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी आधार पर उत्तरीय आगन्तुक जातियों के 'तत्त मुलतान का राय, ने इन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करके यहां बस जाने पर 'बल्ल' उपाधि ग्रहण करली होगी।

योग्य बात नहीं है, केवल उसकी शक्ति के स्मारक कुछ प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियों के टुकड़े मन्दिर के आस-पास पड़े हुए हैं। इसके पास ही वह तालाब है जो हेमाचार्य के 'मसिपात्र' के रूप में प्रयुक्त हुआ था।

ऐसी बात नहीं है कि नए नगर में कोई आकर्षण की वस्तु ही न हो; यहां पर दो चीजें ऐसी हैं जो विशेष समादरणीय हैं; एक, अणहिलवाड़ा के संस्थापक वंशराज की मूर्ति और दूसरी जैनों का 'पोथी-भण्डार'। सफेद पत्थर से बनी हुई वह मूर्ति पार्श्व (नाथ) के मन्दिर में रखी हुई है और लगभग साढ़े तीन फीट ऊँची है। एक और छोटी मूर्ति इसके दाहिने हाथ की ओर रखी हुई है और वह वंशराज के प्रधान-मंत्री की बताई जाती है, परन्तु यह अधिक सम्भव है कि वह उसके संरक्षक आचार्य की प्रतिमा हो। दोनों ही मूर्तियों के साथ एक-एक शिलालेख लगा हुआ है, जिनसे स्पष्टतः दूसरी मूर्तियों के स्थान का सूचन होता है जिनको महान् मूर्तिभञ्जक अल्ला [उद्दीन] ने नष्ट कर दिया था और उसका नाम भी इन पर खुदा हुआ है 'महाराज श्री खूनी आलम मोहम्मद पादशाह—उसका पुत्र (अथवा उत्तराधिकारी) श्री आलम फ़ीरोज़ जिनकी कृपा से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, बृहस्पतवार,' इत्यादि।

'सान्देरा गच्छ के शीलगुण सूरि पंचासर के वन में मुहूर्त देखने गए थे। एक महुवा-वृक्ष के नीचे लटकते हुए झूले में उन्होंने पेड़ की छाया में एक नवजात शिशु को देखा; वह छाया स्थिर थी, इससे शीलगुण सूरि को उस शिशु के महान् भविष्य का ज्ञान हुआ। उसकी माता-सहित वे उसको अपने साथ ले गए और अपने सेवकों से उनका पालन-पोषण करने की अभिलाषा प्रकट की; उन्होंने ऐसा ही किया भी। वन में जन्म होने के कारण उस बालक का नाम वंश (वन ?) राज रखा गया और संवत् ८०२ में उसी ने अणहिलवाड़ा के परकोटे की दीवार खिंचवाई तथा देवीचन्द्र सूरि आचार्य ने अल्लेश्वर[1] महादेव की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई।'

दूसरा लेख इस प्रकार है—"संवत् १३५२ [१२९६ ई०] शुक्रवार, ९ वैशाख मास। वह, जिसका निवास पूर्व में है, जिसकी जाति मोर है, केलण का

---

[1] एक नया नाम, सम्भवतः 'आलय' अर्थात् निवासस्थान।

यह भी सम्भव है कि अल्लाउद्दीन को प्रसन्न करने के लिए उसकी स्मृति रक्षित करने हेतु 'अल्लेश्वर' नाम रख दिया हो। प्रायः ऐसा चलन है कि मन्दिर का निर्माता अपना या जिसके निमित्त मन्दिर बनाया जाता है उसके लघु नाम के साथ 'ईश्वर' शब्द जोड़ कर उस शिव मूर्ति को प्रसिद्ध करता है।

पुत्र नागेन्द्र जिसके पुत्र असोरा (Asora) ने संसार में से धन का सार प्राप्त किया जिससे श्रीमान् महाराज वंशराज के मन्दिर में कीर्तिलता को विकसित करने के निमित्त उसके पुत्र अरिसिंह ने आशादेवी की मूर्ति प्रतिष्ठित की; प्रतिष्ठा की विधि शीलगुण सूरि आचार्य के पुत्र देवीचन्द्र सूरि ने सम्पन्न कराई।"

ये शिलालेख या तो अणहिलवाड़ा के संस्थापन-समय के ही हैं अथवा उनकी प्रतिलिपियाँ हैं और इनमें से एक पर आरम्भ में क्रूर अल्ला (उद्दीन) की प्रशस्ति तथा दूसरे में संवत् १३५२ का उल्लेख, जब उसने इस नगर को ध्वस्त किया था, केवल इसी बात का सूचन करते हैं कि वे उसकी प्रशंसा में अथवा उस विध्वंसक अत्याचारी से 'घणी खमा' की याचना के निमित्त लिखे गए होंगे। पहले शिलालेख में नगर के संस्थापक के असाधारण जन्म-सम्बन्धी कथा की रूपरेखा है जिसकी 'चरित्र' से पुष्टि होती है। दूसरे से एक महत्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान होता है, वह यह कि उसमें देवत्व एवं अलौकिकता के गुण विद्यमान थे। अस्तु, सम्भावना यही है कि यह मूर्ति उसके पूर्वजों के नाम पर बने हुए मन्दिर से प्राप्त की गई होगी, जो उस महा-संहार के समय 'ढाह' दिया गया था; अथवा यह भी हो सकता है कि उन्होंने उसके मन्दिर को ही पार्श्व (नाथ) के मन्दिर में परिवर्त्तित कर दिया हो और इसी में इस पूर्व देश-वासी भक्त ने अपनी रक्षिका आशा देवी को भी एक आले (niche) में पधरा दिया हो। हम सहज ही में यह निर्णय नहीं कर सकते कि मोर जाति का यह वंश द्वितीय वर्ण में था या तृतीय में, अथवा ये लोग सैनिक (राजपूत) थे या व्यापारी (वैश्य), परन्तु साधारणतया राजपूत शत्रुओं से तलवार के बल पर प्राप्त की हुई धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त ये और किसी प्रकार के धन की बात नहीं करते; अतएव ये लोग सम्भवतः राजपूतों की उस बड़ी खांप में होंगे जिन्होंने जैन-धर्म में परिवर्तित होकर इसके अहिंसक सिद्धान्तों के पालनार्थ शस्त्रों के व्यवसाय के स्थान पर व्यापार को अपना लिया था। परमारों और चौहानों, दोनों ही राजपूत-वंशों में मोर या मोरी नाम की उप-जाति होना पाया जाता है और 'आशा' चौहानों की कुल देवी है; इसलिये यह धनी व्यक्ति इसी जाति का व्यापारी होगा, जो अपने व्यापार के प्रसंग में पश्चिमी भारत की बड़ी मण्डी से सम्बन्ध स्थापित करने आया होगा। 'पूर्व' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है परन्तु यह साधारणतया उस प्रान्त के लिए प्रयुक्त होता है जिसको हम मुख्य बंगाल कहते हैं और जो बनारस तक फैला हुआ है। यह व्यापारी उसी धनी-धरा के 'कालीकोट' का निवासी होगा जिसे बिगाड़ कर हमने कलकत्ता कर दिया है।

महान् आचार्य के इस राज-शिष्य के पूजा-सत्कार में अब भी आधुनिक पट्टण के निवासी जैनों की ओर से कोई कमी नहीं आई है; यद्यपि इस वंश के प्रथम और अन्तिम राजा पाट-परमार और धारावर्ष के समयों को भी इतना काल बीत चुका है कि यह देवोपम सत्कार अत्यन्त प्राचीन हो चुका होता, परन्तु फिर भी स्वयं पार्श्व (नाथ) के चढ़ी हुई केसर चावड़ा राजा को अब भी प्राप्त होती है। ग्यारह सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी आज इस साधारण सी बात से हमें सौर वंशराज के जीवन की एक विवादहीन व्याख्या प्राप्त होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसके पूर्वज किसी भी धर्म के मानने वाले रहे हों, चाहे वे बाल-शिव के उपासक हों अथवा साधारण सूर्य-पूजक, परन्तु वह बुद्ध का अनुयायी हो गया था। उधर, सर्व-मान्य प्रथा के अनुसार नया नगर अपने नाम से न बसाने के कारण यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसका आदि-संस्थापक वह नहीं था।

मैं यहां पर यह भी बता दूं कि नवपुर अथवा नये नगर में और भी बहुत से मन्दिर हैं—यद्यपि उनमें विशेष उल्लेख करने जैसी कोई बात नहीं है। दो मन्दिर रघुनाथजी के नाम पर हैं और वे कुम्हारों और सुनारों के बनवाए हुए हैं। तीसरा, महालक्ष्मी अथवा धन की देवी का मन्दिर है जो बर (Burr) जाति के वैश्यों ने त्रिपोलिया नामक दरवाज़े के पास बनवाया है; इसी जाति के लोगों ने एक और भी मन्दिर बनवाया है, जो गोवर्द्धननाथ अथवा हिन्दुओं के अपोलो [इन्द्र देवता ?] का है। गूजरी दरवाजे पर द्वार-रक्षक हनुमान की मूर्ति है और एक अन्य द्वार पर सिद्ध भिक्षुओं के आराध्य सिद्धनाथ महादेव की मूर्ति विराजमान है।

अब हम दूसरे उल्लेखनीय विषय पर आते हैं—वह है पोथी-भण्डार अथवा पुस्तकालय, जिसकी स्थिति, मैंने उसका निरीक्षण किया उस समय तक, बिलकुल अज्ञात थी। यह भण्डार नए नगर के उस भाग में तहखानों में स्थित है जिसको सही रूप में अणहिलवाड़ा का नाम प्राप्त हुआ है। इसकी स्थिति के कारण ही यह अल्ला [उद्दीन] की गिद्ध-दृष्टि से बच कर रह गया अन्यथा उसने तो इस प्राचीन आवास में सभी कुछ नष्ट कर दिया था। यह संग्रह खरतरगच्छ की सम्पत्ति है, जिसमें आम्र और हेम 'श्रीपूज' थे। इस खरतर अथवा कट्टर (Orthodox) (दीर्घकालीन आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ के पश्चात् सिद्धराज द्वारा प्रदान किया हुआ पद) शाखा में उपासकों की संख्या अन्य गच्छों की अपेक्षा सब से अधिक है, जो गणना करने पर सिन्धु से कन्याकुमारी तक ग्यारह सौ शिष्यों से कम नहीं मिलेंगे। यद्यपि प्रत्येक खरतर-नामधारी

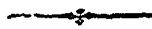
जन-साधारण अथवा यति की सम्पत्ति ग्रन्थ-भण्डार में मौजूद है परन्तु यह नगर सेठ और सरपंच अथवा मुख्य न्यायाधीश तथा नगर पंचायत के कड़े नियन्त्रण के आधीन है और इसकी देखभाल का सीधा भार कुछ यतियों पर होता है, जो हेमाचार्य के आध्यात्मिक शिष्यों की परम्परा में होते हैं तथा उनमें से ज्येष्ठ को विद्वान् होने का भी गौरव प्राप्त होता है। मेरी यात्रा से कितने ही वर्षों पूर्व मुझे इस भण्डार की स्थिति का पता मेरे गुरुजी से लग चुका था और वे भी मेरे ही समान अपने संशय को दूर करने के लिए उत्सुक थे। निदान, वहाँ पहुँचते ही सब से पहले वे 'भण्डार की पूजा' करने के लिए जा पहुँचे। यद्यपि उनकी सम्मानपूर्ण उपस्थिति ही कुलूफ [मोहर] तोड़ने के लिए पर्याप्त थी परन्तु नगर-सेठ के आज्ञा-पत्र बिना कुछ नहीं हो सकता था। पञ्चायत बुलाई गई और उसके समक्ष मेरे यति ने अपनी पत्रावली अथवा हेमाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में होने का वंशवृक्ष उपस्थित किया, जिसको देखते ही उन लोगों पर जादू का सा असर हुआ और उन्होंने गुरुजी को तहखाने में उतर कर युगों-पुराने भण्डार की पूजा करने के लिए आमन्त्रित किया। सूची की एक बड़ी पोथी है और इसको देख कर इन कमरों में भरे हुए ग्रन्थों की संख्या का जो अनुमान मुझे उन्होंने बताया उसे प्रकट करने में मुझे अपनी एवं मेरे गुरु की सत्य-शीलता को सन्देह में डालने का भय लगता है। ये ग्रन्थ सावधानी से सन्दूकों में रखे हुए हैं जो मुग्द अथवा कग्गर की लकड़ी (Caggarwood) के बुरादे से भरे हुए हैं। यह मुग्द का बुरादा कीटाणुओं से रक्षा करने का अचूक उपाय है। भण्डार को देख कर जब वृद्ध गुरु मेरे पास वापस आए तो उनके आनन्द की कोई सीमा न थी। परन्तु, सूची में और सन्दूकों की सामग्री में बहुत अन्तर था; दो ग्रन्थों की खोज में उन्होंने चालीस (सन्दूकों) का निरीक्षण किया था। वे ग्रन्थ 'वंशराज-चरित्र' और 'शालिवाहन-चरित्र' थे। शालिवाहन ताक (Tak) अथवा तक्षक समुदाय का नेता था जिसने उत्तर से आकर भारत पर आक्रमण किया था और सार्वभौम सम्राट् विक्रम की गद्दी को उलट कर दक्षिण भारत में पहले से प्रचलित संवत् के स्थान पर शक-संवत् चालू किया था। तहखाने के तंग और अत्यन्त घुटन-पूर्ण वातावरण के कारण उनको इस अन्वेषण से विरत होना पड़ा और उन्होंने इसे तुरन्त ही बन्द कर दिया क्योंकि उन्हें यह वचन दे दिया गया था कि लौटने पर वे जिस ग्रन्थ की भी चाहें प्रतिलिपि करा सकेंगे। अभी उन्हें बारह मील की यात्रा मेरे साथ और करनी थी और वर्षा शुरू हो चुकी थी इसलिए मेरे क्षीण स्वास्थ्य के कारण यह यात्रा लम्बी होकर मेरे सामने खड़ी थी। यदि मेरे पास ठहरने का समय

भी होता तो शोध के इस नवीन क्षेत्र में नियोजित करने के लिए प्रतिलिपिकर्त्ता उपलब्ध नहीं थे। अतः मैं यही आशा करता हूँ कि मेरे इस अन्वेषण से दूसरे लोगों का मार्ग-दर्शन हो सकेगा। इस विषय में पूर्ण सावधानी और शिष्टाचार से काम लेना चाहिए; शक्ति-जैसी चीज का स्वल्पमात्र प्रयोग होने पर तो प्रत्येक प्रति को सदा-सर्वदा के लिए मोहर-वन्द किया जा सकता है क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस संग्रह की रखवाली बड़े सन्देह-पूर्ण ढंग से की जाती है और जिनका इसमें प्रवेश है वे ही इसके वारे में कुछ जानते हैं। जब अल्ला (उद्दीन) ने पट्टण पर आक्रमण किया उस समय तो यह सम्भव नहीं था कि प्राचीन पट्टण के परकोटे के वाहर इन लोगों ने ऐसा सुरक्षालय बनाया हो और, इस वात को ध्यान में रखते हुए कि नगर के इस भाग का नाम अब भी अणहिलवाड़ा ही है, हमें यह विश्वास करने के लिए और भी कारण मिल जाते हैं कि आधुनिक नगर का यह भाग प्राचीन सीमाओं के अन्तर्गत था। किसी निश्चित दूरी [सीमा] में रहने वाले गच्छ के सदस्यों को इस ग्रन्थालय से ग्रन्थ उधार दिए जा सकते हैं परन्तु वे उन्हें दस दिन से अधिक नहीं रख सकते।

जब तक अणहिलवाड़ा के भूगर्भस्थित 'भण्डार' में हमारी कुछ गति न हो जाय, जैसलमेर के ओसवालों के विषय में विशेष ज्ञान एवं वहाँ के ग्रंथ भण्डार में, जहाँ पट्टण के भण्डार जितनी ही संख्या में और सम्भवतः अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ विद्यमान हैं, हमारी पहुँच न हो जाय, और सबसे बड़ी बात यह कि जब तक जैन-मत के बड़े-बड़े आदमियों एवं ग्रंथपालों से हमारा कुछ परिचय न हो जाय तब तक हम इस स्थिति में नहीं पहुँच सकते कि जैनों की बौद्धिक-सम्पदा के विषय में कोई प्रशंसा कर सकें। ऐसी स्थिति में तो हम उस दम्भपूर्ण मिथ्याभिमान के प्रति दयाभाव ही प्रदर्शित कर सकते हैं, जिसने इस विचार को प्रेरणा दी है कि हिन्दुओं के पास कोई ऐतिहासिक लेख सामग्री नहीं है और जिसके द्वारा इस प्रकार के अन्वेषणों को व्यर्थ का प्रयास घोषित करके जिज्ञासा की भावना को दवा देने का प्रयत्न मात्र किया गया है। इन गुप्त भण्डारों से लाभ उठाने की व्यावहारिकता के विषय में मुझे अपनी गतिविधि का तो थोड़ा ही भरोसा है।

वर्षा और अत्यन्त विगड़े हुए स्वास्थ्य के कारण मुझे वड़ौदा ठहरना पड़ा। वहाँ के रेजीडैण्ट की कृपा और प्रभाव से प्रेरित होकर गायकवाड़ के एक मंत्री ने, जो स्वयं जैन थे, 'वंशराज-चरित्र' की एक प्रतिलिपि के लिए पत्र लिख दिया था। उसके लिए 'हाँ' भर ली गई, और मैं इस राजवंश के इतिहास का उद्धार करने के लिए, जिससे हमें विक्रम और वलभी के राजाओं तक का पिछला

विवरण प्राप्त हो सकता है, आतुरता से प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु, खेद है कि प्रतिलिपिकर्ताओं ने, भूल से अथवा प्रार्थना-पत्र लिखने में असावधानी होने के कारण, कुमारपालचरित्र की नकल कर दी जिसकी दो प्रतियाँ मेरे पास पहले ही से मौजूद थीं। इस भूल का तत्काल सुधार होना सम्भव नहीं था। भविष्य में अन्वेषण के लिए अधिक महत्वपूर्ण विषय तो स्वयं सूची-पत्र की प्रति ही हो सकती है क्योंकि ग्रन्थों के नामों में और विषयों में, चाहे वे आस्तिक पंथ के हों अथवा नास्तिक पंथ के, अधिक समानता नहीं होती. परन्तु, ऐतिहासिक कृतियों, रासों, चरित्रों, स्तिपासा (Stipasa), [स्तुतिपाठ ?] माहात्म्य आदि के विषय में ऐसी बात नहीं है। लोगों को परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करने के निमित्त मैं एक बात फिर कह दूँ, जो साधारणतया बार बार नहीं कही जा सकती, कि मैंने जैसलमेर से कागज और ताड़पत्र की कितनी ही प्रतियां प्राप्त करली थीं; ताड़पत्र की प्रतियां तो तीन, पांच और आठ शताब्दियों तक पुरानी हैं, जो रायल एशियाटिक सोसाइटी[1] के पुस्तकालय की आलमारियों में अछेड़ पड़ी हुई अब भी शोभा बढ़ा रही हैं। इनमें सबसे पुरानी प्रतियां व्याकरण विषय की हैं और हमारे बुद्धिमान् लोग (साथी) समझते हैं कि वे इस विषय में बहुत जानते हैं। परन्तु, क्या इन इतनी पुरानी कृतियों का परीक्षण करना इसलिए भी समीचीन न होगा कि उस परीक्षण से किसी जिज्ञासु को यही प्रकट हो जाए कि उनमें कोई नई बात नहीं है ? अब, इस विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है अथवा भारतीय विराम-पद्धति की वाक्यावलि में 'अलमिति विस्तरेण'।



[1] इनमें से 'हरिवंश' की एक प्रति का अनुवाद पैरिस के एक पुरातत्वविद् कर रहे हैं। यदि वे ही विद्वान् 'आबू-माहात्म्य' को भी ले लें तो धार्मिक क्रिया-कर्म-पद्धति के वर्णन से ऊबने पर उनका मन बहलाने के लिए प्रकृति और मानव का मिला-जुला इतिहास भी पर्याप्त मात्रा में उन्हें मिल जायगा।

प्रकरण १२

यात्रा चालू; अहमदाबाद; यहाँ का स्थापत्य; अणहिलवाड़ा के अवशेषों का इसमें उपयोग; हिन्दू शिल्पियों की कला; हिन्दू और इसलामी शैलियों की तुलना; खेड़ा (Kaira); वर्षा ऋतु में यात्रा की कठिनाइयाँ; ऑनरेबुल कर्नल स्टेनहोप (Stanhope); खेड़ा की प्राचीन वस्तुएँ; मही नदी का संकटमय मार्ग; एक सईस डूब गया; बड़ौदा; रेजीडेण्ट मिस्टर वलियम्स के यहाँ डेरा; बड़ौदा का इतिहास।

अब जून में वर्षा अच्छी तरह जम गई थी और हमको घोड़ों के खुर-डूब कीचड़ में होकर यात्रा करनी पड़ रही थी। किसी आराम की जगह तक पहुँचने के लिए डेढ़-सौ मील की यात्रा मुझे पूरी करनी थी। इस किंचित् निम्नोन्नत रेतीले मैदान में वर्णन-योग्य और कोई नई बात नहीं थी—केवल इतना ही कि यह सदा-हरे खोयेनी (Khoenie) के पेड़ों से भरा हुआ था, जो 'बाल-का-देश' की विशेष वनस्पति माने जाते हैं। 'बाल-का-देश' गुजरात के उस भाग का नाम है जो बनास नदी और सौराष्ट्र के मध्य में स्थित है। वास्तव में, यह मरुस्थली अथवा महा-मारव की दक्षिणी सीमा है, परन्तु यहाँ की रेतीली सतह के नीचे ऐसी अच्छी मिट्टी है जो मक्का की फसल और घास के लिए बहुत उपयोगी समझी जाती है और साथ ही आलू भी इसके पेटे में अच्छे बैठ सकते हैं।

तीन लम्बी मंज़िलें मुझे अहमदाबाद ले आईं, जो अणहिलवाड़ा का प्रतिस्पर्द्धी नगर है; और, मैंने मुज़फ्फरवंशी बादशाहों के एक सुन्दर ग्रीष्म-प्रासाद में डेरा किया जहाँ से मैं उनके अचिरस्थायी किन्तु दीप्तिमान वैभव की कल्पना उन मसजिदों और मदरसों[1] (Madrissas) को देख कर कर सकता था जिनकी गुम्बदें और मीनारें अपना सिर उठाए उन रास्तों में खड़ी थीं जिनमें कभी बड़ी भीड़-भाड़ रहती होगी और जो अब चुप-चापी व बरबादी के घर बने हुए थे। अहमदाबाद, माण्डू एवं अन्य नगरों में विजेताओं द्वारा छोड़ी हुई पर्याप्त सामग्री को देख कर ऐसा लगता है कि आदिम जातियों के खण्डहरों में उनकी स्थिति क्षणभङ्गुर कीड़े-मकोड़ों के जीवन के समान थी; इस बात

[1] फ़रिश्ता (भा. ४; पृ. ६७) में लिखा है कि गुजरात के विद्या-प्रेमी मुज़फ्फर शाह द्वितीय ने फारस, अरब और तुर्की से विद्वानों को बुला कर गुजरात में बसाया था और मदरसे क़ायम किए थे।

का इससे अधिक प्रवल उदाहरण और क्या हो सकता है कि राजनैतिक महत्ता का विकास क्रमिक होना चाहिए और वड़े वड़े राज्य एवं राजधानियों को, मानव-शरीर की भाँति, वलपूर्वक बढ़ाना अशक्य है। जो लोग इस नगर में स्थापत्य-कला सम्वन्धी (जिसके कतिपय उदाहरण अद्यावधि वर्तमान हैं) विषय पर विचार करते समय उन मस्तिष्कों को कुछ भी श्रेय देना नहीं चाहते, जिन्होंने इसका निर्माण किया है, उन्हें भी राजपूतों के प्रति मेरी अपेक्षा (उदार अर्थ में) अत्यधिक पक्षपात करना होगा क्योंकि हम उन अनमेल तत्त्वों के सम्मिश्रण की ओर से आँखें बन्द नहीं कर सकते जो सुन्दर से सुन्दर इमारतों में, विशेषत: स्तम्भों एवं उनकी सजावट में, प्रयुक्त हुए हैं और जो मुसलमानों द्वारा रूपान्तर के भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी पुकार पुकार कर अपने हिन्दू उद्गम का डिण्डिमघोष कर रहे हैं। यह वात स्पष्ट और प्रत्यक्ष है कि अहमदावाद को खड़ा करने के लिए चन्द्रावती और अणहिलवाड़ा को ध्वस्त ही नहीं किया गया अपितु पुनर्निर्माण का कार्य भी किसी हिन्दू शिल्पी द्वारा ही हुआ है। परन्तु, इन सब असंगतियों के होते हुए भी हमें उस धैर्य और कौशल की तो प्रशंसा करनी ही होगी जिसके द्वारा सभी कठिनाइयों को परास्त करते हुए हिन्दू शैली के स्तम्भाधारों पर अरब शैली की इमारतें इस प्रकार खड़ी की गई हैं कि वे आंखों में विलकुल नहीं खटकतीं। मुसलमानी और हिन्दू स्थापत्य का जो अन्तर यहां एकत्र लक्षित है उससे अधिक स्पष्टता शायद ही कहीं देखने को मिले; एक नुकीली, ऊँची और हवादार [इमारतों से युक्त] है तो दूसरा [स्थापत्य] दृढ़, विशाल और गौरवपूर्ण है। मेरा विचार है, यद्यपि ग्रीशियन और गॉथिक शैलियों की भांति इसलामी और हिन्दू दोनों ही शैलियों के प्रशंसक मिल जायेंगे, परन्तु यदि संयुक्तता को छोड़ कर मत लिए जावें तो, इसलामी शैली को मत अधिक प्राप्त होंगे।

गहरे कटावदार हिन्दू भवन-समूहों को देखने पर एक चित्र-सरीखी श्यामल छाया गम्भीरतम दृश्य को उपस्थित करती है और वे मेघाच्छन्न आकाश से अधिक साम्य लिए हुए तथा अपने पिरामिड जैसे शुण्डाकार शिखरों के चारों ओर खेलते हुए तूफानों की शक्ति पर एक तिरस्कारपूर्ण हँसी हँसते हुए-से जान पड़ते हैं, जव कि किसी गुम्वददार मसजिद और इसकी परियों-जैसी गगनचुम्वी मीनारें उसी समय सुन्दरतम दृश्य उपस्थित कर पाती हैं जव प्रकृति शान्त होती है अथवा जव निरभ्र आकाश से किसी खिड़की की रंगीन चौखट में होकर आती हुई-सी सूर्य-रश्मियाँ संगमर्मर की गुम्वद पर अवाध गति से खेल रही होती हैं। परन्तु, जव इस विषय में पेंसिल ही इतना अधिक और सुन्दर चित्रण

कर चुकी है तो लेखनी द्वारा प्रयास करना तो ज़्यादती ही होगी। जिन लोगों को हिन्दू-अरबी स्थापत्य में रुचि हो, मैं उन्हें टिप्पणी में दिए हुए ग्रन्थ[1] का अवलोकन करने के लिए अनुरोध करूँगा।

खेड़ा (Kaira)—मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई कि इसी स्थान पर विश्राम करना था और विशेषत: इसलिए कि इस विश्राम-स्थान तक, जहाँ मुझे वर्षा का प्रकोप बढ़ता हुआ जान पड़ा था, मैं घुड़सवारी कर के जल्दी ही आ पहुँचा था।

"बादल पर बादल जमा हो रहे हैं,
समीपवर्ती आकाश की श्यामल भौंहों ने
तेजोमय सूर्य के मुख-मण्डल को आवृत कर लिया है,
जो अपने वायु-मण्डलीय सिंहासन पर विराजमान हो कर
निरभ्र, प्रकाशमान और शान्त गम्भीर प्रताप (तेज) के साथ
समस्त पृथ्वी पर शासन करता है।
आकाश-मण्डल पर भय का जादू छा गया है,
यह वह जादू है, जिसको प्रतिभावान् कवि की अन्तर्दृष्टि ही देख सकती है
और उसका कोमल हृदय ही इसके आकर्षण का अनुभव कर सकता है।"

'वर्षा आरम्भ होने पर' भारत में किसी यात्री के भ्रमण का वृत्तान्त, पढ़ने में, कितना ही मनोरञ्जक क्यों न हो, परन्तु उस स्वयं के लिए इसमें कोई विशेष आनन्द नहीं रहता, और उसके साथियों के लिए तो बिलकुल ही नहीं। हाँ, किसी चित्रकार के लिए तो वर्षा में अपने डेरे में बैठ कर कला की साधना करने के

---

[1] "Scenery and Costumes of Western India" by Captain Grindlay.

यह पुस्तक Smith Elder & Co., London से १८३० ई० में प्रकाशित हुई है। इसमें पश्चिमी भारत के बहुत से प्राचीन और सुन्दर अवशेषों के चित्ताकर्षक मुंह-बोलते चित्र छपे हैं, जो कैप्टेन ग्राइण्डले द्वारा तैयार किए गए थे। प्रत्येक फलक के साथ एक परिचयात्मक टिप्पणी भी दी गई है। फलक सं० ५ में अहमदाबाद की झूलती हुई मीनारों का चित्र है। उसके साथ की टिप्पणी में कैप्टन ग्राइण्डले ने लिखा है—

'बहुत-सी मसजिदों और अन्य धार्मिक इमारतों के पत्थरों पर जो अत्यधिक कुराई का काम हो रहा है उससे उस समय की विकसित और उच्चस्तरीय कला का परिचय मिलता है। निस्सन्देह, इनमें अति प्राचीन उस हिन्दू स्थापत्य का अनुकरण किया गया है जिसके नमूने प्रान्त भर में फैले हुए मिलते हैं और यह भी निर्विवाद है कि इन मुसलिम इमारतों का निर्माण भी हिन्दू धर्मावलम्बी कारीगरों के हाथों से ही हुआ है; केवल इतना-सा अन्तर आ गया है कि इनमें से उन देवताओं और जीवित प्राणियों की आकृतियों को कम कर दिया गया है, जो मोहम्मद के धर्मानुसार स्पष्टत: वर्जित हैं।

—Plate No. 5

लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकती है, विशेषतः गुजरात जैसे देश में। दिन में बड़ी कठिनाई रहती है; पहले, मार्ग में भीगे हुए परिकर को सुखाने का प्रयत्न करना; फिर, जब वरुण और अग्नि देवता (जल और आग) प्रभुत्त्व के लिए सङ्घर्ष कर रहे हों तो आकाशमण्डप के नीचे खुले में भोजन बनाना; ऊँट जुगाली करने में मगन हैं तो नतग्रीव घोड़े वर्षा की निर्दय फुहारों का सामना करने में डटे हुए हैं, प्रत्येक मोड़ पर उनकी अयाल में से, ओस की बूंदें नहीं, बाल्टी भर पानी गिरता है; उधर, आदमी बेचारे ठिठुरते हुए, उदास-से होकर चुपचाप चलते रहते हैं। सिपाही कहता है 'ऐ भाई, मेरा खाना किस सूरत से पकेगा ?' उसे भय है कि आज तो चबेनी खा कर ही गुज़र करना पड़ेगा और घी की चित्ताकर्षक सुगन्धि एवं धीरे धीरे पकने का शब्द और आटे की रोटियों का पेलिअॉन (Pelion[1]) जैसा लघु पहाड़ उसकी इन्द्रियों को तृप्त नहीं कर सकेंगे। उससे भी अधिक विलासप्रिय पठान अश्वारोही व्यर्थ ही मिस्री 'मांस-पात्र' की कामना कर रहा है। जब देवता उनकी प्रार्थना सुन लेते हैं तो सम्भवतः सूर्य को आज्ञा होती है कि वह इन्द्र के आवरण को भेद कर वरुण के राज्य का क्षय कर दे; ऐसे समय में सभी लोग हँसते-बोलते अपने-अपने कोनों में से निकल पड़ते हैं और जब तक धूप निकली रहे तभी तक हाथोंहाथ भोजन बनाने में जुट जाते हैं। परन्तु, यदि जल का देवता (वरुण) वश में नहीं होता और सूर्य अन्धेरे में जाकर बैठ जाता है तो मुसलमान अपना कपड़े में लिपटा हुआ कल का बासी खाना खोलता है, जब कि [हिन्दू] सिपाही के धर्म में बासी भोजन वर्जित है इसलिए उसे भुने हुए चने खा कर पानी पी लेने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रहता। चना और पानी की उसके लिए कोई कमी नहीं है। फिर, सब दृश्य रात में बदल जाता है और वे आज के चूके हुए भोजन को कल दुगुनी मात्रा में प्राप्त कर लेने के सपने देखने लगते हैं; परन्तु, 'आँधी आया' की एक समस्वर पुकार शायद उनके स्वप्नों को भङ्ग कर देती है। बिना बिगुल बजाए ही सभी लोगों के हाथ गिरते हुए पाल को रोकने के लिए एक साथ निकल पड़ते हैं। वास्तव में, उस समय जाग पड़ने में बड़ा आनन्द आता है जब आपके डेरे की भीगी हुई क़नात आ कर आपके पटिये से टकराती है और खलासी ज़ोर से चिल्ला पड़ते हैं, "उठो साहिब, डेरा गिरा जाता (है)"। आप उठ

---

[1] पेलिअॉन (Pelion) थिसेली के एक पहाड़ का नाम है, जिसको दैत्यों ने ओसा (Ossa) पर परत पर परत जमा करके देवताओं के निवास ओलिम्पस पर्वत को मापने के लिए खड़ा किया था।

का पर्यवसान मृत्यु में है" इसी विश्वास के साथ और उसी के कोष में से दूसरे प्रसिद्ध नीतिवाक्य "वड़े से बड़े दिन के बाद रात आती ही है"को सामने रखते हुए मैंने इनका अक्षरशः पालन किया है और इन्हें सभी समय के सभी दर्शनों के लिए उपयुक्त भी पाया है, चाहे वह सांख्य (Sanchya) का मत हो अथवा प्लेटो का।

खेड़ा में मुझे मेरे पुराने मित्र और (वॉनी कैसल के) सहाध्यायी सम्मान्य कर्नल लिंकन स्टेनहोप मिले जो उस समय सम्राट् की १७ वीं घुड़सवार सेना के नायक थे। जब से वे भारत में पहले-पहल आये थे तभी से हमारा पत्र-व्यवहार चल रहा था; और, पिण्डारी-युद्ध में तो मेरे एक अधीनस्थ अधिकारी एजेण्ट के द्वारा उज्जैन से सूचना पहुँचाने पर वे अपने रिसाले को लेकर आगे वढ़ गए और एक ऐसा वीरतापूर्ण आक्रमण कर दिया कि जिसको इन लुटेरों की सेना सदैव ही याद करती रहेगी। हम दोनों प्रायः एक ही समय योरप लौटने वाले थे इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि हम लोग साथ-साथ ही स्वदेश जायेंगे और 'लिवानस-निवासिनी' उसी नाम वाली सुप्रसिद्ध महिला से मिल कर उसको नमस्कार करेंगे। परन्तु, पिछले छः मास के कठिन परिश्रम ने मेरे शरीर और मस्तिष्क को इतना थका दिया था कि मैं अपने साथी के लिए भारस्वरूप ही सिद्ध होता। इसलिए मैंने अपना यह बहुत दिनों का विचार छोड़ दिया, यद्यपि मुझे उन मित्र के साथ स्थानीय पर्यवेक्षण के उपरान्त हिन्दू, मिस्री और सीरियन धर्मों एवं स्थापत्य-सम्वन्धी भेदों के विषय में असाधारण परिणाम ज्ञात होने की आशा थी। मैं अपने मित्र के आतिथ्यपूर्ण घर में एक सप्ताह पर्यन्त, खेड़ा में, ठहरा और इस अवधि में आगे की यात्रा के लिए अपने को पर्याप्त स्वस्थ अनुभव करने लगा।

खेड़ा में भी अनुसन्धान के लिए वहुत कुछ क्षेत्र था। दीवारों के वड़े-वड़े ढेर वता रहे थे कि इस स्थल पर कभी कोई वड़ा प्रमुख नगर था, और वहाँ पर थोड़े ही दिनों के मुकाम में मैंने कुछ चाँदी के सिक्के अपने संग्रह में वढ़ा लिए, जो वहीं के खण्डहरों में प्राप्त हुए थे। इन सिक्कों पर कोई लेख तो नहीं था परन्तु कुछ विचित्र-से निशान अवश्य वने हुए थे। मेरे मित्र कर्नल स्टेनहोप ने भी मेरे सिक्कों की संख्या में दो अथवा तीन की वृद्धि कर दी थी। इस प्रकार यदि शोध एवं अनुसन्धान को प्रोत्साहन दिया जाय तो भारतवर्ष के सभी भागों में वहुत कुछ किया जा सकता है। परन्तु, एक वात मैं यहाँ पर फिर दोहरा रहा हूँ जिस पर मैंने प्रायः वल दिया है; वह यह है कि सिक्कों, प्रत्येक भाँति की प्राचीन सामग्री, प्राचीन शिला-लेखों एवं हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह के विषय में प्राचीन भारत की छानवीन करने में अंग्रेज लोग किसी से

पीछे नहीं रहे हैं, और इसकी पुष्टि में मैं कह सकता हूँ कि यदि स्वास्थ्य और पर्याप्त अवकाश मुझे मिलता तो जो कुछ मैंने किया है उससे दस गुना काम करता और यदि विशेष सुविधाएँ मिली होतीं तो उस दस गुने का भी दस-गुना करके दिखाता; मेरे इस कथन पर विश्वास कर लेना चाहिए।

मही नदी को पार करने के लिए बड़ी चढ़ाई करनी पड़ी। प्रत्येक दिन की मंजिल के बाद भी इसका विस्तार बढ़ता हुआ ही प्रतीत होता था। मुझे अपने सङ्घ और सामान को पार ले जाने के लिए एक मात्र छोटी-सी नाव मिली थी और नदी में पहले से ही बड़ा भारी चढ़ाव आ गया था; वह खम्भात की खाडी में प्रचण्ड वेग के साथ समुद्राभिमुख वह रही थी। घोड़ों को नाव में चढ़ाना किसी प्रकार सम्भव नहीं था इसलिए उनको ऊँचे घाट पर से परली पार ले जाने का एक मात्र प्रकार यही था कि उनके चाबुक लगा कर बगल से पानी में उतार कर ले जाया जाए। यह क्रिया यद्यपि साधारण थी परन्तु इसे दमघोंट जोखिम उठा कर पूरा करना पड़ा; इसके अतिरिक्त दिन बहुत चढ़ गया था और सब घोड़ों को पार उतारने के लिए उतने ही आदमियों की आवश्यकता थी जितनी उनकी संख्या थी अर्थात् पूरे तीस; ऊपर से पानी पोटों पड़ रहा था और उधर पहुँचे बिना रसद मिलने वाली नहीं थी। इसी तर्क-वितर्क में मैंने अपने लवाजमे के नायक बूढ़े रिसालदार के पास जाकर कहा, 'यदि ऐसी नदी के कारण अपनी सेना को रुकी हुई देखते तो सिकन्दर साहिब क्या कहते?' बस इतना ही पर्याप्त था और उस वृद्ध ने स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—'कपड़े उतारो।' पाँच ही मिनट में उन्होंने अपने कपड़ों की गठरियाँ बाँध कर नाव में रख दीं और उस वृद्ध ने अपनी घोड़ी पानी में उतार दी तथा धीरे-धीरे पार ले गया; उसके पीछे-पीछे धारा से जूझती हुई वह सवारों की छोटी-सी टुकड़ी चली, जिसमें कुछ अपने घोड़ों की पूंछ के भरोसे थे तो कुछ उनकी अयालों से अटके हुए थे; इस प्रकार वे सब अच्छी तरह उस पार पहुँच गए। यह बड़ी उद्विग्नता का क्षण था, एक बार बढ़ावा दिया गया कि फिर इसे रोकना कहाँ? सिपाहियों के लिए यह रुकना अपराध समझा जाता और 'स्किनर्स'[1] के

[1] कर्नल जेम्स स्किनर के नाम पर बनी 'केवलरी'। जेम्स का पिता स्काटिश और माता मिर्जापुर जिले की राजपूतानी थी। निज़ाम की सेना के कर्नल पिरान का १८०५ ई० में देहान्त होने पर उसके २००० घुड़सवारों का रिसाला अंग्रेजी सेना में मिल गया। उसकी कमान जेम्स स्किनर को दी गई, जो 'स्किनर्स हार्स' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये Yellow Boys भी कहलाते थे। स्किनर को देशी सिपाही 'सिकन्दर साहिब' कहते थे। १८४१ ई० में उसकी मृत्यु हुई।
—European Military Adventures (1784-1803); H. Compton, p. 398

सिपाहियों' (Skinner's soldiers) के लिए तो यह दोहरा अपराध होता क्योंकि वे जानते थे कि उनसे किस बात की आशा की जा रही थी। परन्तु, जब मैं यह और कहूँ कि नदी की चौड़ाई दो सौ गज के लगभग थी, गहराई बहुत थी और पानी कम से कम पाँच मील प्रति घण्टे की गति से बह रहा था, तो उनका यह सब कार्य प्रशंसा के योग्य ही समझा जाना चाहिए। उस शान्त, निर्भय वृद्ध ने अविचल रह कर वीरता दिखाई और यह सब क्रिया किसी भागदौड़ या हड़बड़ाहट के बिना पूर्ण शान्ति के साथ पूरी हो गई। डेरे पर पहुँचने पर मुझे मालूम हुआ कि एक सईस गायब था; तैरना न जानने के कारण उसने मेरे उत्तम 'हय-राज' (Hae-raj) को अपने सहायक को सम्हला दिया था। जब शाम हो गई और वह दिखाई न पड़ा तो नदी में उसके लिए व्यर्थ खोज की गई—यह मालूम हुआ कि जब प्रायः सब लोग उतर चुके थे तो किसी ने उसे नदी में कूदते हुए देखा था—मानों, वह उसे पार कर जायगा—परन्तु, यह उसका पागलपन था, विशेषतः इसलिए कि वह प्रतीक्षा करता और फिर नाव में पार उतर जाता। बेचारे सईस के दुर्भाग्य ने इस प्रदेश की पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिया 'उतरा मही, हुआ सही', यद्यपि यह कहावत अन्य आपत्तियों के विषय में प्रयुक्त होती है, जो उन जातियों की लुटारू एवं ग़ैर-कानूनी आदतों के कारण उत्पन्न होती हैं, जो इस नदी के किनारे-किनारे इसके उद्गमस्थल विन्ध्य की पहाड़ियों से कच्छ की खाड़ी तक दस मील की दूरी में बसी हुई हैं। इसके तट अथवा निकट बसी हुई एक जाति का नाम माहीर (Mahyeer) है, जो आदिवासी गौंड़ों की ही एक शाखा है। एक दूसरी जाति माँकड (Mankur) कहलाती है, परंतु उनकी आदतें और रहन-सहन भी वैसा ही है; उनमें वे सभी भेदभाव और पक्षपात मौजूद हैं जो दुराराध्य एवं उच्चजातीय ब्राह्मणों में होते हैं और जिनके कारण वे अपने-आप को ऊँचा समझते हैं, जैसे—अन्य जातीय हिन्दू अथवा मुसलमान का स्पर्श उन्हें अपवित्र कर देता है और उसके लिए प्रायश्चित्त अनिवार्य हो जाता है। वे संस्कृत-भाषी ब्राह्मण और तुर्क दोनों ही को समान रूप से अपने से भिन्न मानते हैं। उनमें यह एक मौलिक गुण है। मिही अथवा मही नदी के बहुत से नामों में से एक पापासिनी (Papasini) अथवा पाप की नदी भी है; दूसरा नाम 'कृष्ण-भद्रा' अथवा काली नदी है; इस अन्तिम नाम से ही वे सब नाम निकले होंगे जो इस खाड़ी में गिरने वाले पद्दर (Paddar) पर लिखे हुए हैं।

उस गरीब सईस की याद से बेचैनी के कारण वह संध्या मेरे लिए शोकपूर्ण हो गई थी। वह बड़ा अच्छा सेवक था और कितने ही वर्षों से मेरे साथ था।

वड़ौदा— जून...। मुझे इस विश्राम-स्थल पर पहुँच कर वहुत प्रसन्नता हुई। यहाँ के रेज़ीडैण्ट मिस्टर विलियम्स की भ्रातृत्वपूर्ण कृपाओं ने इसे मेरे लिए अत्यन्त आराम का स्थान वना दिया था। वम्वई जाने वाली सड़कें (वर्षा के कारण) वन्द थीं और मेरे स्वास्थ्य की दशा ने मुझे उनके मित्रतापूर्ण तर्कों को मानने के लिए सहज ही विवश कर लिया कि वर्षा का वह समय मुझे उन्हीं की छत के नीचे विताना चाहिए। इस वीच में, मैंने एक मार्ग सोच निकाला; क्योंकि नव-वर्षारम्भ तक मुझे (जहाज में) जगह मिलने वाली नहीं थी इसलिए मैंने अपनी इच्छापूर्ति की वढ़ती हुई सम्भावनाओं की खुशी में सोचा कि सौराष्ट्र के अन्तरंग में हो कर निकला जाय। मेरे मित्र ने भी इस योजना को प्रोत्साहन दिया और यह भी प्रतिज्ञा की कि मेरे दृष्टिकोण को पूरा करने में सहायक हो कर वे भी मेरे साथ चलेंगे। वीच का समय मैंने चढ़े हुए काम को पूरा करने में विताया, जैसे—वहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों एवं शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ करना, जिनका मुझे राजपूत जातियों के चित्रण में समावेश करना था—सारांश यह है कि प्रतिदिन मैं अपने भण्डार की कुछ न कुछ वृद्धि करता ही रहा।

वड़ौदा यद्यपि वहुत पुराना नगर है परन्तु वहाँ अन्वेषण के योग्य कोई वस्तु नहीं है। तालाव में मुझे एक शिलालेख मिला जो प्राचीन कुटिल जैन लिपि में लिखा हुआ था परन्तु उसके अज्ञानी स्वामी ने उसको मिटा दिया था। वड़ौदा का प्राचीन नाम चन्दनावती है क्योंकि इसे दोर (Dor) जातीय राजपूत राजा चन्दन ने वसाया था।[1] उपाख्यानों में उसका वर्णन खूब आता है। उसकी सुप्रसिद्ध रानी मुलीग्री (Muleagri) [मलयागिरि ?] से दो कन्याएं हुईं जिनके नाम सौकरी (Socri) और नीला थे।[2] इनकी कथाओं में ले जा

---

[1] Provincial Gazetteers of India—Baroda State – 1908

[2] मूल कथा में राजा चन्दन और उसकी रानी मलयागिरि के राजकुमारों के नाम सायर और नीर लिखे हैं।

वड़ौदा का पूर्व नाम चन्दनावती और वीरावती नगरी से वदल कर कव 'वटपद्र' हो कर कालान्तर में वडोदरा और तदनु वड़ोदा या वड़ौदा हो गया इसका ठीक-ठीक इतिहास नहीं मिलता।

आजकल प्राय: गुजरात के निवासी इस नगर को 'वड़ोदरा' कह कर वोलते हैं, जो संस्कृत 'वटोदर' शब्द से निकटतम है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा होगा कि पहले जव यह एक छोटे-से गाँव के रूप में था तो इसके चारों ओर घने वट-वृक्ष लगे हुए थे; अत: वटों के उदर अथवा वीच में वसा हुआ ग्राम 'वटोदर' हुआ। वैसे, अव भी नगर के आसपास में वहुत वड़ी संख्या में वट-वृक्ष विद्यमान हैं। वडोदरा के साथ-साथ इसको वीरावती नगरी अथवा वीर-क्षेत्र भी कहते हैं। गुजरात के कवि प्रेमानन्द (१७ वीं शताव्दी) ने अपने काव्य में इन नामों का प्रयोग किया है। (चालू)

कर मैं पाठकों को अधिक कष्ट देना नहीं चाहता। अन्य प्राचीन नगरों के समान इसका नाम चन्दनावती (चन्दन की लकड़ी का नगर) से वीरावती (वीरों का निवास) में बदल गया; फिर 'वटपद्र' हुआ। सम्भव है, इसका कारण इसके परकोटे के आकार की उस पवित्र पत्र के साथ काल्पनिक समानता

वटपद्र या वटपद्रक नाम भी बहुत पुराना है। 'पद्र' शब्द का अर्थ 'लघु ग्राम' है। इससे विदित होता है कि पहले यह एक साधारण ग्राम था। परन्तु, इसका उल्लेख प्रायः आठवीं शताब्दी से मिल रहा है। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने 'उपदेश पद' में एक सत्य नामक वणिक् पुत्र का उल्लेख किया है, जो 'वड़वड्डु' का रहने वाला था। आचार्य हरिभद्र का समय ७०१ से ७७१ ई० माना गया है।

इण्डियन एण्टीक्वेरी भा० १२ (१८८३ ई०) में पृ० १५६–१५८ पर सुवर्णवर्ष अथवा कर्क (कक्क, द्वितीय) का एक दान-पत्र छपा है जिसमें 'वटपद्रक' ग्राम के दान और उसकी स्थिति का उल्लेख किया गया है। यह लेख वैशाप शुक्ला पूर्णिमा, शक संवत् ७३४ (८१२–१३ ई०) का है। इसमें लिखा है कि अंकोटक नामक चौरासी ग्रामों के मंडल में वटपद्रक नामक ग्राम वात्स्यायन गोत्रीय माध्यन्दिनी शाखा के चतुर्विद्य (चतुर्वेदी) ब्राह्मण भानु भट्ट को दिया गया, जो सोमादित्य का पुत्र था और वलभी से आ कर वहाँ बसा था। वह ग्राम विश्वामित्री नदी के पश्चिमी किनारे पर कुछ झोंपड़ियों के समूह में बसा हुआ था। लेख में ग्राम के चारों ओर की सीमा का भी उल्लेख है।

'गौडवहो' नामक काव्य की संवत् १२८९ में लिखित एक हस्त-प्रति में भी 'वट्टपट्टक' का उल्लेख मिलता है। जैसे—

"कइरायलंछणस्स वप्पइरायस्स गउडवहे ॥ गाहावीढं समत्तं ॥ इति महाकाव्यं समाप्तमिति ॥ कथानिलानानदिव्या ॥छ॥ मंगलं महा श्री ॥ संवत् १२८९ वर्षे पौष शुदि ८ भौमे अद्येह 'वट्टपट्टके' गौडवहमहा।" Goudavaho of VAKPATI, Ed. S.P. Pandit, 1887, Intro. p. IV.

गुजरात के सुल्तान महमूद वेगड़ा के पुत्र खलील खान ने, जो बाद में मुज़फ्फ़रशाह द्वितीय के नाम से सुलतान हुआ था, उस नगर का दुर्ग बनवाया था। उसका समय १५१३ से १५२६ ई० का था। Wollebrandt Geleynssen de Jogh नामक एक पुर्तगाली अफसर 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' में १६२५ ई० में था; उसने लिखा है कि ब्रोदेरा (Brodera) का नगर सुल्तान मोहमत वेगड़ा के पुत्र मूर (मुसलिम) ने बसाया था।

मैण्डल्स्लो ((Mendelslo) ने १६३८ ई० में लिखा है कि वड़ौदा को सुल्तान महमूद वेगड़ा के पुत्र 'रसिया घी' (Rasia Ghie) ने ब्रोदेरा के खण्डहरों के आधार पर बसाया। ब्रोदेरा यहाँ से आधी लीग की दूरी पर था।

—Bombay Gazetteer, Vol. vii; p. 529

(चालू)

वह नगर खम्भात के अस्तित्व में आने से पूर्व अन्तःस्थलीय राजधानी का बन्दरगाह था। यह वृत्तान्त मेवाड़ के इतिहास से पूरी तरह मेल खाता है, जिसमें गजना को 'वाल-रायों' की राजधानी वलभी से दूसरी श्रेणी का नगर बताया गया है। ओमेटा के सामने ही एक छोटे-से ग्राम में मुझे कुछ हूणों की झोंपड़ियाँ भी मिलीं। वे अभी तक उसी प्राचीन 'हूण' नाम को बनाए हुए हैं जिसके द्वारा हिन्दू-इतिहास में उनका परिचय प्राप्त होता है। वड़ौदा से तीन कोस पर त्रिसावी (Trisavi) नामक ग्राम में भी उनके तीन अथवा चार वंशों का निवास-स्थान वताया जाता है। यद्यपि इनके शरीर-गठन एवं वर्ण के द्वारा तातार कहलाने वाले हूणों से इनका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता और इस परिवर्तन का कारण जलवायु एवं रक्त-संमिश्रण हो सकता है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि वे उन्हीं आक्रमणकारियों की संतानें हैं, जिन्होंने दूसरी एवं छठी शताब्दी में सिन्धु नदी के तट पर साम्राज्य स्थापित किया था और जो राजपूतों में इतने घुलमिल गये थे कि जीट (Gete), काठी और मध्य एशिया से आने वाली उन अन्य सासी (Sacae) जातियों के साथ-साथ उन्हें भी भारत के छत्तीस राजवंशों में स्थान प्राप्त हो गया था, जिनके वंशज अब तक सूर्योपासक सौरों अथवा चावड़ों की भूमि पर बसे हुए हैं। निस्सन्देह, ये उन्हीं जातियों में से एक हैं। इन समस्त विदेशी जातियों के लिए यदि हम जेटी-भारतीय (Indo-Getae) अथवा सासी-भारतीय (Sacae-Indian) पदों का व्यवहार करें तो वे नासमझी से प्रयुक्त होने वाले इण्डो-सीथिक (Indo-Scythic) पद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होंगे।

प्राचीन काम्वे, जिसको देशी भाषा में खम्भायत कहते हैं और जो अब उजड़ा पड़ा है, वर्तमान नगर से तीन मील की दूरी पर है। इसका नाम प्राचीन काल में 'पापावती' अथवा 'पाप की नगरी' था।[1] इसका यह नाम उस स्थान के समीप स्थित होने के कारण पड़ा है जहाँ मही नदी पापासिनी खाड़ी में प्रवेश करती है। यह खाड़ी भी अपने भयावह रूप के कारण ही पापासिनी कहलाती है। कुछ

---

[1] यहाँ के व्यापारी व्यवसाय के प्रसंग में असत्य भाषणादि पापाचरण करते थे अतः अन्य लोगों ने इसको 'पापावती या 'पापनगरी' कहना शुरू कर दिया। कुछ लोगों का मत है कि खम्भात के अखात में एक स्थल 'गोपनाथ' कहलाता था जिसको दूसरी शताब्दी के ग्रीक लेखकों ने 'पापिके' (Papike) लिख दिया (देखिये, पॅरिप्लुस ऑफ़ द इरिथ्रिअन सी, पृ० ६८) और यही आगे चल कर इसके नाम में 'पाप' का अभिशाप बन गया। परन्तु, यह अनुमान मात्र लगता है।

समय पश्चात् यह नाम अमरावती अथवा 'अमर नगरी'[1] में बदल गया जो, पहले से सुन्दर तो अवश्य था परन्तु, अधिक समय तक चल न सका। अतः यह 'बाघवती'[2] अथवा 'बाघों का निवास स्थान' हो गई और फिर 'त्रिम्बावती' अथवा 'ताम्र-नगरी'[3] कहलाने लगी। यह अपर नाम इस विचार पर आधारित था कि इसका परकोटा ताँबे की धातु का बना हुआ था। अन्तिम परिवर्तन होकर यह खम्भायत[4] अथवा खम्भावती (स्तम्भ नगर) हो गई जिसका कारण यों बताया जाता है कि एक राजा ने खाड़ी का पानी आ जाने अथवा मही की उपजाऊ मिट्टी अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाने के कारण प्राचीन नगर को निवास-योग्य नहीं समझा और वर्तमान नगर की स्थापना की। उस समय उसने देवी को प्रसन्न करने के लिए समुद्र-तट पर एक स्तम्भ (देशी 'खम्भ') स्थापित किया और उस पर प्राचीन नगर एवं चौरासी ग्रामों की आय नवीन नगरस्थ देवी-मंदिर के भोगराग-निमित्त व्यय करने का लेख उत्कीर्ण करवाया। यद्यपि उस स्तम्भ

---

[1] अमरावती नाम इसकी तत्कालीन शोभा-सम्पन्नता के कारण ही पड़ा होगा।

[2] बाघवती तो नहीं, भोगवती अथवा भोगावती नाम बहुत प्राचीन समय से मिलता है। सम्भव है, क.-टॉड ने 'भोगवती' को ही 'बाघवती' समझ कर इस शब्द की व्युत्पत्ति 'बाघों का निवास-स्थान' कर डाली है।

[3] खम्भात गजेटियर, बम्बई (टिप्पणी), पृ० २१२।
वास्तव में. त्रम्बावती ताम्रलिप्ति (सं०) का अपभ्रंश है। ताम्रलिप्ति, तामलिति, तामलुक आदि नाम प्राचीन ग्रंथों और गुजराती रासो आदि में मिलते हैं। वेबर ने सिंहासन-द्वात्रिंशिका के विवरण में Indische Studien, पृ० २५२ में साबरमती और मही नदियों के 'बीच ताम्रलिप्ति' का उल्लेख किया है।
स्कन्दपुराण के कुमारिका-खण्ड के अनन्तर नगर-खण्ड (अध्याय २६४) में तारकासुर का निवास-स्थान ताम्रवती नगरी लिखा है।

[4] खम्भात अथवा खम्भायत नाम सिद्धराज के समय से भी बहुत पहले से चला आता है। अरब यात्रियों ने ९१५ ई० के लगभग भी इसका नाम कम्बायत या खम्भायत लिखा है। कहते हैं, पादलिप्ताचार्य ने प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन राजा की पद्मिनी रानी चन्द्रलेखा के हाथ से पारद का स्तम्भन कराया था इसलिए इसका नाम स्तम्भनपुर पड़ा। वि० सं० ११६३ में पं० गंगाधर-रचित 'प्रवासकृत्य' नामक ग्रन्थ में भी इसका नाम 'स्तम्भतीर्थ' लिखा है। मेरुतुंगाचार्य ने स्वरचित 'स्तम्भनाथ-चरित्र' में लिखा है "सं० १३६८ वर्षे इदं च बिम्बं श्रीस्तम्भतीर्थे समायात्"। इससे विदित होता है कि स्तम्भपार्श्वनाथ की स्थापना से पूर्व ही इस स्थान का यह नाम प्रसिद्ध हो चुका था।
कुछ विद्वानों का मत है कि शिव का पूजन अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का अंग रहा है। यह महादेव अथवा 'शिव-लिंग' स्तम्भ अथवा 'स्कम्भ' के आकार में पूजा जाता है इसलिए 'स्तम्भायतन' अथवा 'स्कम्भायतन' से ही बिगाड़ कर 'खम्भायत' या 'खम्भात' बना है।

का अब कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया है परन्तु इस आख्यान की सत्यता ग्यारहवीं शताब्दी में सिद्धराज द्वारा निर्मापित स्तम्भ-पार्श्वनाथ के जैन-मन्दिर के अस्तित्व से सिद्ध हो जाती है, जो अब मसजिद में परिवर्तित हो चुका है, फिर भी वह इस नगर में एक-मात्र मुख्य दर्शनीय भवन है और हिन्दू एवं मुसलिम निर्माण-कला का एक विचित्र सम्मिश्रित उदाहरण उपस्थित करता है ।

प्राचीन नगर के स्थान पर अब घना जंगल उग आया है और प्राचीन अवशेषों के नाम पर दो मन्दिर ही बताए जाते हैं—एक पार्श्वनाथ का और दूसरा महादेव का ।

आधुनिक काम्बे नगर में कुछ भी दर्शनीय नहीं है । अहमदाबाद के दरबार के किसी कृपापात्र का एक वंशज है[1], जो अपने निवास-स्थान को बड़े गर्व के साथ 'महल' कहता है, और दिल्ली में सफदरजंग के नमूने पर बना हुआ बताता है । यद्यपि यह मकान उसके द्वारा सगर्व वर्णित मूल-भवन से बहुत भिन्न है, परन्तु मेरे द्वारा इस विषय में कुछ भी कहने से उसके सुखद विश्वास को ठेस पहुँचती और यह एक असहृदयतापूर्ण कार्य होता । हेमाचार्य के समय से बहुत पहले से ही और अब तक खम्भायत जैन-शास्त्राध्ययन का एक मुख्य केन्द्र रहा है और यहां पर नगर के भीतर जैन-मन्दिरों की संख्या पचास अथवा साठ से कम नहीं है । जिस प्रकार अन्यत्र जहां-जहां जैनों की जन-संख्या अधिक होती है वहां ग्रन्थ-भण्डार होते हैं, उसी प्रकार यहां भी इस जाति का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-भण्डार है ।[2] यदि, बिना गड़-

---

[1] निज़ाम राज्य के संस्थापक का दादा अब्दुल्ला खांन फीरोज़ जङ्ग बहादुर गुजरात का सूबेदार था । उसकी क़ब्र अब भी अहमदाबाद में मौजूद है । स्वयं निज़ाम भी थोड़े दिन अहमदाबाद का सूबेदार रहा था । खम्भात की गद्दी का संस्थापक मोमिन खांन बहादुर और उसका पुत्र मोमिन खांन द्वितीय भी गुजरात के सूबेदार थे । मुगल-सम्राट् की ओर से निज़ाम को 'निज़ाम-उल-मुल्क फतहजङ्ग बहादुर आसफजहां' का खिताब मिला और खम्भात के नवाब ने 'नजमुद्दौला मुमताज़उल्मुल्क मोमिन खांन बहादुर दिलावरजङ्ग' का अलकाब पाया । १७६१ ई० में पानीपत की अंतिम लड़ाई के बाद गुजरात में बहुत से छोटे-छोटे राजा, ठाकुर और नवाब अपने-अपने रूप में स्वतंत्र हो गए । कर्नल टॉड का उक्त नवाब के ही वंशज से मिलना हुआ होगा । इस वंश का James Forbes लिखित विवरण Oriental Mémoirs, Vol. I, Chap. XVI, 1834 में द्रष्टव्य है ।

[2] खम्भात के 'शान्तिनाथ-ग्रन्थ-भण्डार' से तात्पर्य है । राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध में लिखा है कि महामात्य वस्तुपाल तेजपाल ने खम्भात के ज्ञान-भण्डार की स्थापना करने में ३००,००० द्रव्य व्यय किया था । इस भण्डार में 'धर्माभ्युदय-काव्य' की एक ताड़पत्रीय प्रति है जिस पर स्वयं वस्तुपाल के हस्ताक्षर मौजूद हैं ।

(चालू)

बड़ी मचाये, इन ग्रन्थों के अवलोकन का प्रयास किया जाये तो इस धर्म के सिद्धान्तों और उनके प्रवर्तकों के विषय में बहुत-सी नई बातों का पता चल सकता है क्योंकि व्यक्तियों के जीवनवृत्तों से ही हमें इतिहास की सामग्री प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु, यह कार्य बहुत सावधानी और धैर्यपूर्वक अनुसन्धान के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है; अधिकार-प्रदर्शन से इसमें कभी काम नहीं चल सकता। अनुसन्धान का सब से अच्छा उपाय तो यह है कि किसी ऐसे जैन साधु को 'मुंशी' बना लिया जाय जिसकी पत्रावली में हेमाचार्य अथवा अमर उसके धर्मगुरु पाए जाते हों; बस, फिर उसके माध्यम से सभी ताले खुल जावेंगे। ब्राह्मण को कभी साथ नहीं लेना चाहिए; हां, मुसलमान द्वारा सफलता की अच्छी सम्भावना हो सकती है।

सुलेमानी पत्थर, मोचा-पत्थर, इन्द्रगोप और अन्य सभी प्रकार एवं जाति के लाल एवं गोमेदक पत्थरों को लोग राजपीपला के खण्डहरों में से लाते हैं और उनसे कई तरह के गहने, प्याले, पेटियां, मालाएं और कटार, चाकू तथा कांटों के मूठिए या मुद्राएं आदि तैयार करते हैं, जो यूरोपीय जनता में तुरन्त बिक जाते हैं क्योंकि वे ऐसी वस्तुएं इङ्गलैण्ड में (अपने मित्रों आदि के पास) भेंट-स्वरूप भेजते रहते हैं। यह बड़ी विचित्र बात है कि नगीने के कच्चे पत्थरों का रंग ताव देकर निखारा जाता है; गरमी पहुँचाने से दूधिया पीला हो जाता है, पीले से नारंगी रंग का, फिर भूरा तथा अन्य रंगों में बदल जाता है। मैंने भी अपने मित्रों के लिए बहुत सी चीजें खरीदीं और यदि मेरे सामने अधिक महत्वपूर्ण कार्य न होते तो अच्छी-अच्छी वस्तुओं का चयन करने हेतु कुछ और भी अधिक समय लगाता; अस्तु, हमारे घोड़ों, डेरों, सामान और साथियों को खाड़ी के उस पार सौराष्ट्र के किनारे तक पहुँचाने के लिए नावें प्राप्त करने में ही बहुत-सा समय बिताना पड़ा।

नवम्बर - खम्भात के लम्बे दलदली तट पर ज्वार-भाटा के समय, दृष्टि फैलाई जाय वहाँ तक 'लूणा पानी' ही दिखाई पड़ता है। हमारे संघ के साथी इस नमकीन पानी को 'लूणा पानी' ही कहते हैं। मेरे जैसे सदैव चिन्ताग्रस्त रहने वाले व्यक्ति को बीस वर्षों की अनुपस्थिति के बाद भी समुद्र का यह गम्भीर

इस भण्डार के ग्रन्थों की एक सूची पीटर्सन ने तैयार करके १८८२-८३ ई० में प्रकाशित की थी। तदनन्तर ज्ञान-भण्डार के मंत्रियों की ओर से एक सूची १९४२ ई० में निकली और फिर गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज में लिस्ट का प्रथम भाग १९६१ ई० में प्रकट हुआ है। इनमें कहा गया है कि पीटर्सन की सूची के अनुसार बहुत से ग्रन्थ अब नहीं मिल रहे हैं।

वातावरण कोई विशेष प्रसन्नता न दे सका। बड़ी देर बाद ज्वार उतरने पर पानी लदान की स्थिति में आया, परन्तु, संध्या बड़ी सुहावनी हो गई थी और हमारा बजरा अर्द्धरात्रि तक धीरे-धीरे पानी पर बढ़ता रहा, इसके बाद फिर ज्वार आ गया। 'लंगर डालो' यह आज्ञा हुई। इस नवीन दृश्य को देख कर मैं अपने आपको एक प्रकार से मन्त्रमुग्ध-सा अनुभव करने लगा और इसके प्रभाव से मेरे मस्तिष्क एवं शरीर में एक प्रकार की नवीन स्फूर्ति पैदा हो गई। मेरे सहयात्री 'कैप्टेन शोर' अपनी वाँयलिन ले आए और मैंने अपनी बाँसुरी उठाई। 'तारामण्डल के मधुर प्रभाव' से प्रेरित होकर हम कुल्हाड़ी से छिले हुए नाव के पृष्ठ भाग पर चढ़ गए और खाड़ी की जल-परियों के साथ धारा-प्रवाह सहगान करते रहे तथा आपस में एक दूसरे की प्रशंसा भी करते रहे।

प्रातःकालीन शीतल समीर बहने लगा और अट्ठारह घण्टों बाद हमें पीरम द्वीप एवं बारह मील भीतर की ओर फ़ैली हुई पहाडियाँ दिखाई दीं। हम गोगो पर उतरे और जब तक खाडी (रण) के सिरे पर किनारे-किनारे यात्रा करके हमारा भारी असबाब न आ पहुँचा तब तक हमें वहां पर कुछ दिन ठहरे रहना पड़ा। गोगो बन्दरगाह की दशा अब बहुत गिर गई है; यह अब केवल मल्लाहों का निवास-स्थान मात्र रह गया है, जो देखने-भालने व शरीर की गठन में बहुत कुछ अरबियों के समान परन्तु सर्वथा भिन्न वर्ग के दिखाई पड़ते हैं। फिर भी, वे हिन्दू हैं और नहरवाला के राजाओं द्वारा पोषित समुद्री जाति के वंशज हैं। नहरवाला नगर में उन्हीं के नाम पर चत्वर बसा हुआ था और बदले में वे विदेशों से सम्पत्ति ला-ला कर यहाँ भरते रहते थे। फिर भी, गोगो में एक प्रकार की गम्भीरता दृष्टिगत होती है; इसकी प्राचीन और धुंधली दीवारें, जिन्होंने कभी इन समुद्रों में भरे पड़े जल-डाकुओं से इसकी रक्षा की होगी, इसको एक प्रकार का गम्भीर एवं आकर्षक स्वरूप प्रदान करती हैं। इसका दक्षिणी मुख, जिधर बहुत सी विभिन्न ऊँचाई की छतरियाँ बनी हुई हैं, लम्बाई में बारह-सौ गज से किसी भी प्रकार कम नहीं है—फिर भी, यह पश्चिमी दीवार से बहुत कम है, जिधर यह परकोटा स्पष्ट ही समुद्र के आघातों से टूट-टूट कर नीचे से नष्ट हो गया है।

गोगो पहले गोहिल राजपूतों का निवास-स्थान था। नगर के दक्षिण-पश्चिमीय कोने में एक छोटा-सा किला है, उसी में वे लोग रहा करते थे। यहां के थोड़े-से दर्शनीय स्थानों में एक बावड़ी भी है जिसका सामने का भाग पत्थर की पूठियों का बना हुआ है। इन प्रस्तर-खण्डों पर पानी की टक्कर लग-लग

कर गहरे गोल-गोल गड्ढे-से पड़ गए हैं जिनसे इस बावड़ी की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस पर कुटिल-लिपि में एक शिलालेख के अवशेष भी दिखाई देते हैं परन्तु इसके स्थान पर गुजराती में एक नवीन शिलालेख लगा दिया गया है, जो ढाई सौ वर्ष से पुराना नहीं है। इसमें राजवाड़ा की 'गधा-गाळ' या शाप का उल्लेख है अर्थात् जो कोई इस जलाशय को अपवित्र करेगा वह अपने माता-पिता को इस गर्दभ-युग्म जैसी अश्लील अवस्था में देखेगा। वहीं पर हमें अरबी और फारसी के लेख भी मिले जिनमें से एक पर 'ज़फरखाँ बिन वजीर उल् मुल्क' (के राज्य में) 'शाह उल् आज़म शम्स उद्दूरिकउद्दीन, सुलतान मुज़फ्फर' का नाम भी खुदा हुआ था। इस लेख की तिथि १० रजब, ७७७ (१३७५ ई०) है।

अहमदाबाद के इतिहास की रूपरेखा तैयार करने के इच्छुक विद्वान् के लिए यह स्मारक बड़े महत्व की वस्तु है क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि गोगो उस वंश की महत्त्वाकांक्षा का प्रथम लक्ष्य-बिन्दु था जिसने आगे चल कर विपुल वैभव प्राप्त कर लिया था। वज़ीर उल् मुल्क टाँक अथवा गेटिक-भारतीय जाति का स्वधर्म-त्यागी राजा था जिसके इतिहास का वर्णन मैं अन्यत्र[1] कर चुका हूँ। उसके पुत्र ज़फर खाँ को मण्डोर के राजपूत सरदार चूंडा ने चौदहवीं शताब्दी के अन्त में नागोर से निकाल दिया था। चूंडा मारवाड़ की वर्तमान राजधानी जोधपुर को बसाने वाले जोधा का पितामह था। राजपूतों के मध्य अपना संस्थान स्थापित करने के प्रयत्नों में जफ़र खाँ की असफलता उसके लिए वरदान सिद्ध हुई क्यों कि वहाँ यदि सफलता मिल भी जाती तो भी वह अधिक दिनों तक टिक न पाता; इधर, यहाँ अस्तव्यस्त पड़ी हुई नहरवाला की राजधानी में सामरिक विरोध का कोई विशेष अवसर भी उपस्थित न हुआ और उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सहज ही में एक उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त हो गया। इस लेख की तिथि से चौसठ वर्ष बाद वज़ीर उल् मुल्क के पौत्र और ज़फर के पुत्र अहमद ने साबरमती के किनारे अपने नाम पर नई राजधानी बसाई। हमें इस विषय में कोई जानकारी नहीं है कि अहमद के पूर्वजों ने इस व्यापारिक बन्दरगाह (गोगो) को गोहिलों से किन उपायों द्वारा प्राप्त किया जिसको वे संवत् १२०० से अपने अधिकार में किए हुए थे जब कि कन्नौज से राठोड़ों के

---

[1] देखिए, राजस्थान का इतिहास, जिल्द १, पृ० ६६, १०५।

इस प्रसंग में 'रा.प्रा.वि.प्र.' से प्रकाशित और अनुवादक द्वारा सम्पादित 'राजविनोद महाकाव्य' का 'प्रास्ताविक परिचय' भी द्रष्टव्य है।

आक्रमण के कारण उन्हें मरुस्थली में खेरधर छोड़ना पड़ा था। परन्तु, हम इस विषय को गोहिल-वंश की रूपरेखा के हेतु सुरक्षित रखेंगे क्यों कि इस वंश के लोगों का इस प्रदेश में अब भी राज्य मौजूद है और सौर प्रायद्वीप का एक उप-विभाग गोहिलवाड़ा के नाम से प्रसिद्ध है। अब हम इस विभिन्नता-युक्त प्रदेश में भली-भाँति प्रविष्ट हो चुके हैं और मुझे अपना आगे का मार्ग इसी में होकर पूरा करना है, अतः मैं समझता हूँ कि यहाँ के प्राचीन एवं वर्तमान इतिहास पर विशेषतः यहाँ पर राज्य करने वाली जातियों पर दृष्टिपात करने का सब से उपयुक्त अवसर यही है।

सौराष्ट्र का अर्थ है 'सौरों का देश', जो एक प्राचीन सूर्य-पूजक जाति है जिसके उद्भव का इतिहास अतीत के अन्धकार में विलुप्त हो चुका है। यह किसी प्रकार भी असम्भव नहीं है कि यह ऊपरी (उत्तरी ?) एशिया की गेटिक-भारतीय जातियों में से एक है जिनकी अतिरिक्त-बस्तियाँ सभी दिशाओं में बहुत पहले से इधर-उधर फैल गई थीं। इसका विश्वसनीय प्रमाण इतिहास से प्राप्त होता है क्यों कि अब तक बची हुई जातियों के लोगों के नामों और रीति-रिवाजों से भी उसकी पुष्टि हो जाती है। अवशिष्ट प्राचीन सूर्य-मंदिरों के उपासक काठी, कोमानी (Comani) और बालों में अब भी पाए जाते हैं जिनकी शारीरिक-गठन एवं सूरत-शकल, पहले आकर बसी हुई जातियों के साथ रक्त-सम्मिश्रण हो जाने के उपरान्त भी स्पष्ट ही उत्तर-निवासी जातियों से पैदा हुई जान पड़ती हैं।

सौरों ने इस प्रायद्वीप पर कब अधिकार जमाया इसकी हमें कोई जानकारी नहीं है, परन्तु जस्टिन (Justin) स्ट्राबो (Strabo), टॉलमी (Ptolemy) और दोनों एरियनों (Arrians) के आधार पर हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि उनके आक्रमण का समय अलक्षेन्द्र (Alexander) महान् का समकालीन था। सौरों के देश पर मीनान्डर (Menander) और अपोलोडोटस् (Appollo-dotus) की विजय के विषयों को लेकर विद्वान् बेयर (Bayer) और स्ट्रॉबो (Strabo) के फ्रेंच अनुवादकों ने एक बड़ा विवाद खड़ा कर दिया है। वे ΣΥΡΟΥ अथवा सौर को फोनिक्स (Pevinox) से संयुक्त देख कर हिन्द-महासागर के सीरिया को मध्यसागर के सीरिया और फोनीशिया में परिवर्तित कर रहे थे। अपनी छिन्न-भिन्न अनी[1] [सेना] के अवशिष्ट भाग को लेकर,

[1] राजपूत युद्ध-कला सम्बन्धी ग्रन्थ 'समर-सागर' में 'अनी' एक प्रकार के व्यूह का नाम लिखा है।

जिसमें निस्सन्देह उन्होंने अपनी गेटिक-भारतीय प्रजा को भी सम्मिलित कर लिया था, बॅक्ट्रिया के राजाओं के लिए एरियां और अराकोशिया (Arachosia) में होकर सिन्धु-घाटी द्वारा सौराष्ट्र में आना, रेतीले जंगलों और शत्रु-जातियों द्वारा अवरुद्ध सीरिया के लम्बे मार्ग का अवलम्बन करने की अपेक्षा, अधिक सुगम था। हमारे भारतीय-सीरिया के लिए प्राचीन अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रयुक्त सौराष्ट्रीनी (Saurastrene) और सायरास्ट्रीनी (Syrastrene) शब्दों के लिए हमें अधिक परिवर्तन के बिना ही सौराष्ट्र शब्द मिल जाता है; और, यदि हमें यहाँ के प्राचीन चाँदी के सिक्कों और चट्टानों पर खुदे हुए लेखों में प्रयुक्त, विचित्र किन्तु पूर्ण, लिपि के अक्षरों की पूरी जानकारी हो जाय तो हम कम से कम उन मुकुटधारी राजाओं के नाम तो जान ही सकते हैं, जिनकी मूर्तियाँ सिक्कों में अग्निवेदियों के दूसरी ओर ठपी हुई हैं और जिनके पार्श्व-चित्र एरिया (Aria) के प्राचीन सूर्य एवं अग्निपूजक सासियों (Sacae) के साथ उनके आकृति-साम्य की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं।[1]

इस विषय में शङ्का करना व्यर्थ है कि सौर जाति के लोग, जिनका प्राचीन लेखकों के वर्णन द्वारा तथा उनके सूर्य और लिङ्ग आदि पूजा-चिन्हों के अवशेषों द्वारा परम शक्तिशाली होना सिद्ध है, उसी वंश के हो सकते हैं, जिसको हेरोडोटस ने सौरोमेटी (Souromatea) लिखा है। यह निश्चित है कि वे ही संस्कार, उन्हीं नामों से, अपरिवर्तित रूप में, उन्हीं पर्व के दिनों में, उन्हीं देवताओं के निमित्त भारत के प्रायद्वीपीय सीरिया में भी सम्पन्न होते हैं जो मध्य-सागर के तटवर्ती सीरिया में माने जाते हैं। अन्यत्र मैंने इस विषय को विस्तार-पूर्वक लिखा है अतः यहाँ पर इतना ही फिर कहूँगा कि सीरिया में जिसको बाल (Bal) अथवा वेलनूस (Belnus) कहते हैं वही सौरों के बालनाथ हैं और सोमनाथ का विशाल मन्दिर सीरिया-देशीय 'बालबेक' का ही प्रतिरूप है। निम्न-लोक अथवा चन्द्र-मण्डल का अधिष्ठाता होने के कारण सोमनाथ 'बाल' का ही आलङ्कारिक अभिधान है। पूजा के महान् उपकरण के साथ सूर्य, उसके लाक्षणिक प्रतीक आचारहीन इसरायलियों के "प्रत्येक पहाड़ी पर खड़े फैलस"[2]

---

[1] इस पुस्तक के रचनाकाल और लेखक की मृत्यु के पश्चात् इस दिशा में पर्याप्त कार्य हो चुका है, जिसका परिणाम लेखक की मान्यताओं और अनुमानों की पुष्टि ही करता है।

[2] Phallus फ़ैलस की व्याख्या टॉड साहब ने अन्यत्र ('Annals of Rajasthan' में) की है और लिखा है कि यह 'फलेश' का रूपान्तर है; शिव का नाम आशुतोष है ही।

(स्तम्भों) और प्रत्येक वृक्ष के तले स्थापित पीतल के बैल" को और मिला लीजिए तो वे हमारे लिङ्गम् तथा नन्दिकेश्वर हो जाते हैं, जिनकी इन रहस्यों में विशेष पवित्रता मानी जाती है। चित्र में और कोई कमी नहीं रह जाती केवल इतनी ही कि सीरियनों ने पूजन के लिए दिन निश्चित कर रक्खा है और उस दिन कुछ चुने हुए मनुष्य ही पूजा करते हैं 'जिनके हृदय परमात्मा से हट गए हैं', यह दिन प्रत्येक मास का १५वाँ दिन होता है। यहाँ हमें सौरों और भारतीय अन्य जातियों में एक और समानता मिल जाती है; अमावस का दिन ही ऐसा है जो चान्द्र मास के कृष्ण और शुक्ल नामक दोनों पक्षों को विभाजित करता है; जब सूर्य और उसका उपग्रह अन्तरिक्ष में आमने सामने हो जाते हैं, एक अस्त होता है और दूसरा पूर्ण रूप में उदित होता है, तो सावीनों (Sabeans) के समान हिन्दू भी अपनी टोपियाँ नए चाँद की ओर फेंकते हैं. और दावतें करते हैं।'

ये सूक्ष्म समानताएँ आईं कहाँ से ? हम भली भाँति जानते हैं कि आकाशीय ग्रह-मण्डल की आराधना प्राकृत-धर्म का मूल-स्वरूप है, जो ध्रुवीय समुद्र के निवासियों और आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले प्राचीन 'जीत' (Gete) लोगों में समान रूप से पाया जाता है। परन्तु, यहाँ तो कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो एक मूल स्रोत अथवा सीधे सम्पर्क के बिना नहीं आ सकतीं। इन विषयों पर हम आगे, जैसे-जैसे अवसर और स्थान की अनुकूलता प्राप्त होगी वैसे-वैसे, समय-समय पर विचार और अनुमान करते रहेंगे।

सौराष्ट्र को प्राचीन हिन्दूशास्त्रों में भारत का उपविभाग बताया गया है। मनु ने इसको उल्लेख किया है; पुराणों में, विशेषतः जहाँ-जहाँ विश्व-विवरण आता है उन अंशों में, इसका भी वर्णन किया गया है। परन्तु, महाभारत में इसकी प्रसिद्धि और भी अधिक बढ़ गई है क्योंकि भगवान् कृष्ण और अन्य नेताओं के पराक्रमों एवं मृत्यु के दृश्य यहाँ पर ही घटित हुए थे। अतः यद्यपि इन प्रमाणों के आधार पर हम इस प्रायद्वीप में आकर सौर जाति के बसने की ठीक-ठीक तिथि तो निश्चित नहीं कर सकते परन्तु यह अनुमान करने में भूल नहीं हो सकती कि इसका समय सिकन्दर महान् से कितनी ही शताब्दियों पूर्व का था और बहुत करके यह (समय) सॉल (Saul)[1] का समकालीन अथवा उससे एक

---

[1] किश (Kish) का पुत्र साल (Saul) इज़रायल के यहूदियों का प्रथम बादशाह था। सैम्युअल, भा० १, अ० ३१ में लिखा है कि डेविड ने इसको गिलबॉय (Gilboy) पर्वत पर ई० पू० ९९० के लगभग हराया था। अतः इसका समय ईसा से प्रायः दस शताब्दी पूर्व का होता है। —The Outline of History.—H. G. Wells, p.260

शताब्दी पूर्व का हो सकता है जब कि सायरो-फोनिशियन (Syro-Phoenician) उपनिवेश सभी क्षेत्रों में फैलते जा रहे थे। अणहिलवाड़ा को स्थापित करने वाला वंश उस सौर जाति का था, जो समुद्री तट पर बसी हुई थी और उन लोगों की प्रवृत्तियाँ मुख्यतः जहाजी थीं। इनमें से कुछ जातियों में ऐसी विचित्र परम्पराएं पाई जाती हैं जो यद्यपि उनके धर्म पर आधारित नहीं हैं परन्तु, यह सिद्ध करती हैं कि वे अरब और लाल समुद्र से सम्बन्धित हैं (इनका वर्णन यथा-स्थान किया जायगा) और ये विचित्र शिलालेख इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

इन क्षेत्रों के राजनैतिक नामाङ्कन में अन्य सौराष्ट्र का कोई स्थान नही है; हां, अकबर के समय तक इस प्रायद्वीप का एक उपविभाग संक्षिप्त रूप में 'सोरठ' कहलाता था, जिसकी राजधानी जूनागढ़ थी और यह गहलोत (मेवाड़ के राणाओं की जाति के) राजाओं के अधिकार में थी; साम्राज्य में इनके निश्चित सैनिक संविभाग का वर्णन अबुलफ़ज़ल ने किया है। यद्यपि उस समय को वीते तीन ही शताब्दियाँ हुई हैं परन्तु अब इस भूमि में एक भी गह-लोत नहीं मिलता। इन देशों में इस द्रुतगति से जातियाँ नष्ट हो जाती हैं।

आजकल यह प्रायद्वीप बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ है। यद्यपि काठियों के अधिकार में इसका बहुत थोड़ा-सा भाग है परन्तु, किसी परम्परा के अनुसार इस गेटिक-भारतीय जाति के नाम पर ही इस सम्पूर्ण प्रायद्वीप का अभिधान किया गया है और इस प्रकार काठियावाड़ से सौराष्ट्र अभिभूत हो गया है। अस्तु—बीच में (काठियों के उदय से पूर्व) इस देश का एक नाम ऐसा था जिससे अल्माजेस्टम (Almagestum)[2] का कर्ता एवं हिन्दू भूगोल-शास्त्री भलीभाँति परिचित थे; यह नाम 'लारदेश' था, जो लार जाति के नाम पर पड़ा था और ग्रीकों का 'लारिका' (Larica) अथवा लारिस Larice) शब्द इसी से सम्बद्ध है।

सौराष्ट्र अणहिलवाड़ा राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। भारत में इतना सुगठित कोई दूसरा प्रदेश नहीं है, जिसकी गणना ऐसे सुसंहत राज्यों में की जा सके। जगत अन्तरीप से खम्भात की खाड़ी तक इसकी

---

[1] उत्तर अथवा दक्षिण के निवासियों द्वारा उच्चारण करने पर अक्षर 'स' और 'च' में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। इस प्रकार कुख्यात पिंजारी सरदार 'चीतू' को दक्षिणी उच्चारण में सदा ही 'शीतू' बोला अथवा लिखा जाता है।

[2] टॉलमी (Ptolemy) कृत गणित-सारणी (२४०)।

चौड़ाई लगभग एक सौ पचास मील है और, बनास तथा सरस्वती नदियाँ जिसमें गिरती हैं उस, छोटे 'उत्तरी' रण से चावड़ों की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर तक का विस्तार भी प्रायः इतना ही है। इसके सभी ओर समुद्र घूम गया है, केवल उत्तर में दोनों खाडियों के सिरे विस्तृत अरण्यों (अप० रणों) के द्वारा मिल गए हैं और केवल साठ या सत्तर मील की केन्द्रीय पर्वत श्रेणी (जिसको हिन्दू भूगोल-शास्त्री 'पार्वती' (Parvati) कहते हैं) से बहुत से निर्झर निकल कर इस प्रदेश में आते हैं और दोनों समुद्री तलों की ओर बहते हैं, इस कारण यहाँ की धरती में कई प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। इन पहाड़ियों से सभी प्रकार का इमारती सामान प्राप्त होता है तथा यहाँ की नदियों में मछलियों की बहुतायत है और उनके तटों पर घने जङ्गल भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब से अणहिलवाड़ा के राजवंश समाप्त हुए तब से यहाँ की जातियाँ स्वतंत्र होकर जंगली और लुटारू जीवन बिताने लगीं और यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि गायकवाड़ राजाओं ने इस प्रदेश के कुछ भागों पर सामन्ती और कुछ पर सम्पूर्ण-सत्तात्मक रूप में पूर्ण अधिकार न जमा लिया। यहाँ के मुख्य उप-विभाग ये हैं—खम्भात की खाड़ी पर गोहिलवाड़ अथवा गोहिलों का प्रदेश, उत्तर में झालावाड़ जहाँ झाला (राजपूत) बसते हैं, पश्चिम में नवानगर, जहाँ जाड़ेचों की एक शाखा के जैन रहते हैं, पोर-बन्दर में बालों का अधिकार है; जूनागढ़ में एक मुसलमान सरदार है और इसके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-छोटे ज़िले हैं। केन्द्र में काठी लोग हैं तथा चावडों की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर पर तीन शताब्दियों से पुर्तगालियों का अधिकार है, जिसका नाम उन्होंने बदल कर डयू (Diu) कर लिया है। प्रायद्वीप के इन भागों में उक्त मूल जातियों के अतिरिक्त और भी बहुत सी सीथिक जातियाँ पाई जाती हैं, जैसे कामरी (Camari), जो अब जेठवा कहलाते हैं, कोमानी (Comani), जो काठियों की ही एक शाखा है; मकवाणा, जो अपने को झालों में गिनते हैं; जीतवार के जीत तथा अन्य भी बहुत सी शुद्ध अथवा मिश्रित जातियां हैं, जैसे मीरिया (Myrea), काबा इत्यादि, जिनका वर्णन जैसे-जैसे उनके भेदों से हमारा सम्पर्क आता जायगा वैसे-वैसे यथास्थान आगे करेंगे।

सच तो यह है कि जातियों की विभिन्नता के विषय में, वे देशी हों अथवा विदेशी, सौराष्ट्र के साथ भारत के अन्य किसी भी प्रान्त की तुलना नहीं की जा सकती। यहाँ पर आपको नीली आँखों वाले और गोरे काठियों से लेकर, जो अब भी उतने ही स्वच्छन्द हैं जैसे कि उनके पूर्वज मुलतान में मैसीडोनिया वालों से लोहा लेते समय थे, काले और तीक्ष्ण दृष्टि वाले 'वनपुत्र' भीलों तक सभी

वर्णों के लोग मिलेंगे। मानवीय प्राकृतिक-इतिहास के शोधकर्त्ता के लिए उपयुक्त क्षेत्र होने के अतिरिक्त यह प्रदेश, एशिया के इस समुद्र-परिवेष्टित कोने की ओर मानव-मस्तिष्क को आकृष्ट करने वाले सभी धर्मों के इत्तिवृत्तों का भी केन्द्रीय अनुसंधान-स्थल है। आगे चल कर हम देखेंगे कि बौद्ध-धर्म के विषय में दो बातों में से एक अवश्य ही स्वीकार्य है—कि या तो इसका जन्म ही यहाँ पर हुआ अथवा एरिया (Aria) तक पहुँचने के लिए इस धर्म की जड़ पहले इसी प्रदेश में जमी थी। इस प्रश्न पर यह विवाद सामने आता है कि यहाँ पर कृष्ण की उपासना भी प्रायः उतने ही उत्साह और भक्तिभाव पूर्वक होती है; परन्तु, यदि हम परम्पराओं का समादर करें तो कहना पड़ेगा कि यह उपासना बुद्धपूजा का ही एक भेद है। पुरातत्त्वान्वेषकों और शिल्पशास्त्रियों को तो अपने अनुसन्धानों और चित्र-कक्ष के लिए नये-नये भाव सजाने का यहाँ पर बहुत बड़ा अवसर मिल जायगा क्योंकि उन्हें यहाँ लेखों की गूढ लिपियों को खोल कर पढ़ना और उन विविधाकार मन्दिरों की रचना करने वाले यांत्रिक मस्तिष्कों के आधार पर कल्पना करना होगा, जिनके द्वारा उनके संस्थापकों का धर्म चिर-स्थायी हो गया है। और, किसी पहाड़ी की चोटी अथवा समुद्र के तट पर निरभ्र चमचमाते दिन में अथवा वर्षा की सघन घनावली के घने अन्धकार में एक चित्रकार तो यहाँ की समरस विभिन्नताओं एवं सौन्दर्य की अनेकताओं को निरख कर पुलकित ही हो उठेगा। जलदावली की इस श्यामलता का वह सोमनाथ के मन्दिर और शिव के अस्पष्ट आचारों के साथ संयोजन कर सकता है अथवा राधा के प्रेमी के मन्दिर पर 'बोलते हुए' रंग बरसा कर यौवनपूर्ण सौन्दर्य का चित्रण कर सकता है। अथवा, जैसे-जैसे वह पहाड़ पर 'शक्ति' के उपासक के मन्दिर की ओर चढ़ता जायगा वैसे ही गम्भीर से गम्भीर एवं सूक्ष्मतम आकृति और वर्ण को चित्रित करने के भाव उसके मस्तिष्क में उदित होते जावेंगे। यह उस प्रदेश के आकर्षणों का एक साधारण-सा चित्र है, जिसमें हो कर मैं पाठकों को ले चलना चाहता हूँ—इस भूमि में इतने अधिक अध्येतव्य विषय हैं कि उनसे कितने ही ग्रन्थ और चित्र-संग्रह तैयार हो सकते हैं—परन्तु, मेरे अनुसन्धान एक त्वरित यात्रा के कारण सीमित हैं (यद्यपि विषय का कुछ पूर्व-ज्ञान मुझे है) अतः मैं सौर प्रायद्वीप के बहुत से अभिरुचिपूर्ण विषयों में से कुछ ही महत्त्वपूर्ण विषयों की परिमिति में रहने को विवश हूँ।

अब हम वापस गोगो चलें, जहाँ बारहवीं शताब्दी के अन्त में खेरधर से निकल कर जिस जाति के लोगों ने शरण ली थी। उनका नाम इसी स्थान के

आधार पर उनके पूर्वीय भाई-बन्धुओं से भिन्नता प्रकट करने के लिए गोगरा गोहिल पड़ा था। आजकल जो पीरम टापू बन गया है वहीं पर, गोगो से भी पहले, गोहिल लोग आकर बसे थे; उस समय यह टापू होने की विपरीत परि-स्थिति में नहीं था क्योंकि एक छोटे-से भू-खण्ड द्वारा यह मूल प्रदेश से संयुक्त था और गोगो बन्दर का सुदृढ़ गढ़ बना हुआ था। इतिहास के इन घनिष्ठ सम्बन्धों में निरन्तर प्राप्त होने वाली सांयोगिक एवं मनोरञ्जक सम-सामयिक घटनाओं में से हमें एक ऐसी घटना का वृत्तान्त मिल गया है, जिससे पीरम की प्रधानता का सुपुष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। मेवाड़ के इतिहास में सन् १३०३ ई० में, 'अल्ला' द्वारा उस देश के अधिकृत होने की चिरस्मरणीय दुर्घटना के सम्बन्ध में हिन्दू-धर्म की रक्षा के निमित्त एकत्रित हुए वीरों के नाम गिनाते समय 'पीरम के गोहिल' का भी उल्लेख किया गया है। उस ग्रन्थ का अनुवाद करते समय मुझे इस गोहिल के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई थी और न अभी इस समय तक ही हुई है। गोहिलों के इतिहास और परम्पराओं में इस घटना की स्मृति सुरक्षित है, जिसने इस जाति के सम्मान में वृद्धि कर दी है। उस गोहिल सरदार का नाम अखैराज था; जब वह बनारस की यात्रा से लौट रहा था तब चित्तौड़ की रक्षा के निमित्त उसने तलवार बजाई और उस दुर्भाग्यपूर्ण घटना में अपने वीर-समूह के साथ वीर-गति प्राप्त की थी। इन सेवाओं के उपलक्ष में उसे 'रावल' की उपाधि पहले ही प्राप्त हो चुकी थी, जो अब तक उसके उत्तरा-धिकारियों में चली आ रही है। उसके वंशज वर्तमान सरदार ने मुझे यह भी बताया कि उसके पूर्वज को चित्तौड़ (के राणा) की लड़की सूजन कुमारी के साथ विवाह करने का भी विशेष सम्मान प्राप्त हुआ था—परन्तु, उस नव-विवाहिता कन्या को 'अल्ला' की विजय का शिकार होकर सती हो जाना पड़ा। यह उपाख्यान इस कृति के अन्यतम भाग से सम्बद्ध है, यद्यपि इसका विषय पीरम का प्राचीन नगर है, जो गोगो से आने वाली जाति का (दिया हुआ) नाम है; इस (जाति) के पतन-विषयक वृत्तान्त वास्को-डे-गामा के अनुसन्धानों का एवं उसकी जाति के लोगों की इन समुद्री तटों पर प्रतिष्ठा का महत्त्व बढ़ाते हैं।

'सन् १५३२ ई० में जब भारत में पुर्तगाली हितों का गवर्नर, नन्हा दे कान्ह (Nunna de Canha) ड्यू (D,u) पर अधिकार करने के प्रथम प्रयास में असफल हो गया तो उसने अपने एक कप्तान एण्टोनिओ-दे-साल्दन्हा (Antonio de Saldanha) को केवल समुद्री लूटमार के लिए ही यहाँ छोड़ दिया था। उन लोगों ने ड्यू से बारह लीग दूर सौराष्ट्र के दोनों तटों पर निर्दयता से

लूटमार की, गोगो और पट्टन (पाटण सोमनाथ) को जलाया और वहाँ का धन हर ले गए।" इसके पाँच वर्ष बाद उन्होंने अपने हितकर्ता गुजरात के बादशाह बहादुर शाह को विश्वासघात करके नृशंसतापूर्वक मार डाला। सन् १५४६ ई० में गोगो पर फिर आक्रमण हुआ और आग लगाई गई, वहाँ के निवासियों को निर्बाध रूप से तलवार के घाट उतारा गया और जानवरों के पैर काट दिये गए; बहुत से दूसरे नगरों एवं वहाँ की नावों आदि की भी यही दुर्दशा हुई। हिन्दवासी अन्यधर्मावलम्बियों के विरुद्ध ईसाइयों के युद्ध के ये पहले उदाहरण हैं। ये उन लोगों के व्यवहार थे, जो अपने को उस महान् धर्म का अनुयायी मानते हैं जिसका प्रथम उपदेश 'अपने पड़ौसी से आत्मवत् प्यार करो' है। 'ला इल्लाह मोहम्मद रसूल ए अल्लाह' कह कर कलमा पढ़ लेने पर अथवा जीवन के बदले में कर-स्वरूप धन दे देने पर हत्यारा महमूद और पिशाच 'अल्ला' सन्तुष्ट हो जाते थे और काफ़िरों को रक्षा का वरदान दे देते थे। यदि भारत में इतिहास की वाणी मौन होती तो ईसाई धर्म का सौभाग्य होता और कितने ही ईसाइयों ने इसे मौन सिद्ध करने के प्रयास भी किए हैं क्योंकि इस प्रकार के अत्याचार हिन्दुओं को उनके मत से किसी भी प्रकार का सम्पर्क रखने में भयभीत करने के लिए पर्याप्त थे।

फिर भी, इन समस्त अपराधों के बीच, कितने ही मनुष्यों और उनके कार्यों में महानता की झलक अवश्य मिल जाती है तथा उदारता के अनेक उदाहरण अभिलिखित हैं। अलबुकर्क का एक आख्यान ही ऐसा है जो केवल व्यक्ति की ही नहीं अपितु उन लोगों के व्यवहार की विशिष्टता का भी परिचायक हैं, जिनसे उसका सम्पर्क हुआ था। अपनी आकांक्षा को प्रथम गति देने के निमित्त धन की तात्कालिक आवश्यकता उत्पन्न होने पर उसने शहर के नाम ऋण-हेतु माँग-पत्र के साथ अपनी मूंछ का एक बाल एकमात्र बंधक के रूप में जोड़ दिया और यदि इसके मूल में वह पुर्तगाल-निवासी इन प्रदेशों के रिवाज का पूर्णतः पालन कर रहा था, जहाँ मूंछें और प्रतिष्ठा आपस में परिवर्तनीय शब्द हैं, तथा उनके स्थिति और पतन साथ-साथ होते हैं, तो यही सबसे बडी प्रतिभूति थी, जो वह उपस्थित कर सकता था।

भावनगर; नवम्बर—गोहिलों की वर्तमान् राजधानी; यह नगर गोगो से उ०प० में आठ मील दूर एक लघु नदी पर स्थित है, जो कुछ मील आगे जाकर खाड़ी में मिल जाती है, जिसके पानी का चढ़ाव इसको जहाजों के याता-यात-निमित्त अच्छे और सुरक्षित बन्दरगाह में परिवर्तित कर देता है। गोगो

से यहाँ तक का प्रदेश बिलकुल सपाट है; नगर के पास की ऊँची भूमि बीच में आकर उसके दृश्य को ढक लेती है और जब आप इसके समीप आ जाते हैं तो आम्रकुंजों में से निकलती हुई यहाँ की ऊँची और गुम्बददार छतरियाँ दृष्टिगत होने लगती हैं। नगर में घुसते ही हमें कोई भी चीज़ विशेष ध्यान देने योग्य नहीं दिखाई दी, केवल धनी व्यापारी बाजारों में इधर-उधर घूम रहे थे, जिनसे, कवि चन्द के कथनानुसार 'नगरों को सौन्दर्य (वैभव) की प्राप्ति होती है'; और इस विचार से भावनगर निस्सन्देह सुन्दर था।

इस नगर की स्थापना चार पीढ़ी पूर्व गोगा के सरदार रावल भावसिंह ने की थी, जिसके नाम पर ही इसका नाम भावनगर पड़ा है। वर्तमान् ठाकुर का नाम विजयसिंह है, वह बड़ी सहृदयता से हमें गोगो से आधे रास्ते पर अपनी राजधानी में लिवा ले जाने के लिए सामने आया। राजपूत में मुझे सदैव ही मित्र के दर्शन होते हैं और हिन्दूपति के दरबार से, जिन्होंने इस ठाकुर के पूर्वजों का मान बढ़ाया था (यदि पदवियों से इनका मान बढ़ता हो), आने के कारण यहाँ तो मेरे लिए विशेष सौहार्द प्राप्त करना निश्चित ही था। साथ ही, मेरे मित्र मिस्टर विलियम्स् के समागम का भी आनन्द मुझे मिल गया था। घोड़ों पर बैठ कर हम कुछ मील साथ-साथ आए; इस बीच में आपस की बातचीत से यह यात्रा उत्साहपूर्ण रही और उनकी जहाजों एवं सेनाओं के अभिवादन के बीच राजधानी में सोल्लास प्रवेश करने से पहले ही हम 'खेरथल' से उनके निष्कासन से लेकर वर्त्तमान् तक उनके वंश और इतिहास की रूपरेखा, उनकी नीति, आय-स्रोत, दुख-दर्द, मित्रताएं और लड़ाई-झगड़ों के विषय में बातें कर चुके थे। राजपूतों से मेरी घनिष्टता होने के कारण उनके पूर्वजों के रिवाज के एक विशेष अतिक्रमण की ओर मेरा ध्यान गए बिना नहीं रहा और अन्य महत्त्वपूर्ण बातों के समान मैंने इस बात से भी यही निष्कर्ष निकाला कि 'मीडीज्' (Medes)[1] के समान राजपूतों के नियम अपरिवर्त्तनीय नहीं हैं। ठाकुर

---

[1] जब आर्य-भाषा-भाषी जनों का मुख्य समूह तुर्किस्तान और ईरान की ओर आया तो बहुत से लोग तो हिमालय की ओर बढ़ गए और कुछ छोटे-मोटे समूह पठार के पश्चिमी भागों में बस गए। यह घटना ई० पू० २००० की है। कितनी ही शताब्दियों तक ये लोग छोटे-छोटे राज्य बना कर रहते रहे। अन्त में, दो जातियों ने परम्परा भंग कर के अन्य सभी निम्न समूहों का नेतृत्व ग्रहण किया—ये लोग मीडीज़ और पर्सियन् कहलाए। मीडीज़ का अधिकार पश्चिमी ईरान के उत्तरी एवं मध्य-भाग पर था। ई. पू. नवीं शताब्दी में इन लोगों का असीरिया (Assyria) से संघर्ष हुआ परन्तु छिन्न-भिन्न और बिखरे हुए कबीलों में रहने के कारण इन में अनुशासन और संगठन की कमी थी, इसलिए

की सवारी के आगे-आगे उसके पूर्वजों के ढोली के स्थान पर एक अरबी बाजे वालों की टुकड़ी उसका यशोगान कर रही थी और यह टुकड़ी एक विचित्र-से समूह के रूप में दिखाई दे रही थी, परन्तु भद्दी नहीं मालूम होती थी। दरबार में भी इसी प्रकार की असंगतियाँ भरी पड़ी थीं; जब तीसरे पहर हम महल में गए तो वहाँ सजीव एवं निर्जीव सभी वस्तुओं का एक ऐसा विचित्र समाज देखने को मिला जैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यहाँ पर अरबी और राजपूत रिवाजों का सम्मिश्रण था, जहाँ प्रत्येक वस्तु में जलीय एवं स्थलीय दृश्यों के संयोग का दर्शन होता था। दीवानखाना सुन्दर-सुन्दर झाड़-फानूसों से सजा हुआ था परन्तु उनके दुसंखे लकड़ी के लट्ठों पर खड़े किए गए थे, जो अवश्य ही किसी डॉक-यार्ड से लाए गए थे, जहाँ पर अच्छी से अच्छी नावें रस्सों द्वारा इनसे बाँधी जाती होंगी। छत में बहुत पास-पास काच के टुकड़े जड़े हुए थे और उनमें दीवारों पर बने हुए राजाओं के चित्र प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिनकी स्मृति के साथ प्रत्येक वस्तु अंग्रेजों से सम्बद्ध थी—इनमें मुख्य, जार्ज तृतीय[1] और उसकी रानी थीं। आदरणीय सम्राट् के प्रतीक (उस चित्र) के प्रति सम्मान प्रकट करने हेतु जब मैंने अपना टोप उतारा तो इस ओर गोहिल सरदार का ध्यान गए बिना न रहा। जार्ज तृतीय और उसके पिता फ्रेडरिक, प्रिंस ऑफ वेल्स के चित्र राजपूताना में अपरिचित नहीं हैं। उदयपुर के राणाजी के यहाँ भी दोनों ही का एक-एक चित्र लगा हुआ था और जब उनके सामने अचानक आकर मैं इस प्रकार सिर उघाड़ कर नमस्कार करता, जिसका इस देश में प्रचलन नहीं है, तो वे बहुत प्रसन्न होते; वरन् मुझे अच्छी तरह याद है कि जब इसका (सिर उघाड़ने का) तात्पर्य मैंने उन्हें बताया तो उन्होंने अपने पास वालों को यह समझाने का अवसर न जाने दिया

विशेष सफलता न मिली। इस के अनन्तर इन्होंने आधुनिक 'हमदान' के स्थान पर अपनी राजधानी बनाई। यह स्थान घोड़ों की बढ़िया नस्ल के लिए बहुत उपयुक्त है। कालान्तर में इन के पास घोड़ों, ऊँटों और खच्चरों के रूप में विशाल पशु-धन हो गया और वे असीरियाई साम्राज्य को तावे कर सके। ये लोग युद्ध करते-करते बहुत पक्के और दृढ़ हो गए थे।—History of the World, Weech; W. N. pp. 260-61

[1] जॉर्ज तृतीय का पूरा नाम जॉर्ज विलियम फ्रेडरिक था। इस का राज्य-काल १७६० ई० से १८२० ई० तक था। अंग्रेज जाति में इसका अधिक सम्मान इसलिए होता था कि वह विशुद्ध अंग्रेज था और अपने पूर्ववर्ती राजाओं के समान जर्मन कुलोत्पन्न नहीं था जिनको इंगलैण्ड निवासी विदेशी समझते थे। जॉर्ज तृतीय जन्म से ही अंग्रेजी भाषा बोलता था, जो उसकी प्रजा की भाषा थी।

कि देश और काल का अन्तर अच्छे प्रजाजनों को 'उस महनीयता को नहीं भुलाता जो राजा में निहित होती है।' यदि मुझे उस समय ध्यान आता तो मैं उन्हें यह अवश्य कह देता कि हमारे प्राचीन अच्छे राजा के प्रति, विशेषतः विदेश में, सम्मान प्रकट करना हमारी आदत बन गई थी और यह मेरे समकालीन एवं समवयस्क प्रत्येक अंग्रेज की जातीय भावना का अंग था और राजा की सालगिरह इंगलैण्ड में प्रत्येक युवक के लिए त्यौहार का दिन होता है।

विविध-वस्तु-संग्रहालय (किरकिरीखाने) में एक बढ़िया अरगन बाजा था जिसके एक ओर तो कामदार पाइप [स्वरनालिकाएं] थीं और दूसरी ओर सुन्दर कारीगरी का काम था, जिसमें एक सुरीली घड़ी लगी हुई थी और उसमें जल-प्रपात एवं समुद्र के दृश्य बनाए गए थे; हाशिए पर पर्सियस (Perseus) और एण्ड्रोमीडा (Andromeda) की गाथा[1] चित्रित थी, जिसमें अश्वारोही पर्सियस ने एक समुद्री राक्षस अथवा दानव के द्वारा एक कुमारी को समूची निगल जाने से बचाया था। यह बाजा भूतपूर्व मराठा सरदार के पास था और उसने इसके लिए चार हजार पौण्ड खर्च किए थे; परन्तु, यह ठाकुर बड़े गर्व के साथ कहता था कि जब पेशवा का बचा-खुचा सामान बिका तो उसने इसे उपयुक्त कीमत के दशमांस में ही खरीद लिया। ऐसी ही कारीगरी की चीजों को देख कर यहाँ के लोग हमारी उच्चस्तरीय योग्यता एवं ज्ञान के विषय में धारणा बनाते हैं। पूर्व के देशों में यात्रा करने वाले के पास अपने देश के प्रदर्शनीय यन्त्रों के जखीरे से बढ़ कर और 'प्रवेश-पत्र' नहीं हो सकता। मेरे पास भी एक 'जादू की लालटेन' थी, जिसके साथ कुछ आकाशीय दृश्य दिखाने

---

[1] पर्सियस (Perseus) ग्रीक पौराणिक गाथा का वीर था, जिसने ईथोपिया के राजा सीफियस (Cepheus) की पुत्री एण्ड्रोमीडा (Andromeda) को एक समुद्री दैत्य से बचाया था। बात यह थी कि सीफियस की पत्नी ने यह घोषणा कर दी कि वह जलपरियों से भी अधिक सुन्दर थी। परियां नाराज़ हो गईं और झगड़े में समुद्र के देवता पोसीडोन (Poseidon) ने जल-देवियों का पक्ष ले कर एक जल-राक्षस को सीफ़ियस के राज्य में मनुष्यों और पशुओं का भक्षण करने के लिए भेज दिया। जब पर्सियस अपने वीर-अभियान के प्रसंग में वहां पहुँचा तो कुमारी एण्ड्रोमीडा को एक चट्टान से बँधी हुई देखी। प्रथम-दृष्टि में ही उनका प्रेम हो गया और परिणामतः विवाह हुआ।
पर्सियस और जल-राक्षस के युद्ध को बेबिलोन के लोग सूर्य देवता (मेरोडाच Merodach) और अन्धकार की शक्ति के संघर्ष का भी प्रतीक मानते हैं। यह गाथा अनेक चित्रों का विषय बन गई थी। Encyclopedia of Mythology ; Robert Graves p. 201.—Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol; V p. 609.

एवं नक्षत्र-समूह सम्बन्धी स्लाइडें (काच-पट्टियाँ) भी थीं तथा स्लाइडों का एक अन्य सैट हिन्दू पौराणिक दृश्यों का था, जो जोन्स को आर्डर देकर बनवाया गया था; कुछ और भी स्लाइडें स्थलीय दृश्यों तथा 'हॉल्बीन'[1] द्वारा चित्रित 'मृत्यु-नृत्य' आदि की थीं; इनके अतिरिक्त तरह-तरह के आईने थे, जिन में वस्तुओं के विकृत रूप और लम्बे अथवा छोटे चेहरे दिखाई देते थे, इस की सहायता से सिन्धिया ने अपने एक सरदार को डरा दिया था। जिससे उसको बीमारी का दौरा हो गया। रासायनिक प्रयोगों से तो लोगों को विशेष आश्चर्य होता ही था पर पदार्थों और रंगों के परिवर्तन को देख कर तो यही कहना पड़ता था कि 'यह क्या रहस्य है ?' परन्तु, इन चीजों में सब से अधिक आश्चर्यकारी 'कैमरा-ऑब्स्क्यूरा'[2] था, जिससे अच्छे-अच्छे आदमियों का भी मनोरञ्जन होता था और जिससे उदयपुर के महाराणा को अन्तिम क्षणों में भी कुछ आराम मिल सका था। वे मुझ से कहा करते थे, आप मेरे 'मन की दवा ले आए हो ?' और, मैं इन चीजों को दिखाने के लिए नित्य कई घण्टे उन के पलङ्ग के पास बैठा रहता था। ऐसे अवसरों पर उन के चारों ओर जनाने की स्त्रियां इकट्ठी रहती थीं, जो परदा नहीं करती थीं, परन्तु मैं उन के नाम और गुणों के विषय में कुछ भी नहीं जानता था। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे कुछ चुनी हुई (मर्ज़ीपात्र) दासियाँ ही होती थीं।

इसके पश्चात् ठाकुर के सब से छोटे लड़के ने हमें अपने चीनी खिलौने दिखाए जिनकी हम ने बारी-बारी से प्रशंसा की और हमारे मेजमान की खुश-मिजाजी के कारण हमें इस कार्य में कोई कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ।

विजयसिंह के दरबार से हम उनके बन्दरगाह पर गए, जिसका उन्हें बहुत शौक था। भारत के महान् मरुस्थल से भाग कर आए हुए एक राजपूत सरदार का व्यापारी के रूप में जहाज-व्यवसायी बन जाना एक विचित्र-सी सम्मिश्रण की बात है। हमने दो जहाज देखे; एक तो बर्फ के समान सफेद था, जिसमें अट्ठारह बन्दूकों के छिद्र थे, दूसरा दो मस्तूल वाला जहाज था। छोटी-छोटी नावों, डोंगियों, दो-मस्तूलें जल-वाहनों के अतिरिक्त सभी जहाज

---

[1] हॉल्बीन (Holbien) जर्मन चित्रकार था। उसका जन्म १४९७ ई० में हुआ था। काच पर चित्र बनाने में वह बहुत कुशल था। उसके बनाए हुए धार्मिक चित्रों की बहुत प्रसिद्धि थी। वह इंगलैण्ड के बादशाह हेनरी सप्तम का दरबारी चित्रकार भी रहा था। १५४३ में वह प्लेग से लन्दन में मर गया।—N.S.E., P. 645

[2] अंधेरे कमरे में सफेद भित्ति पर पदार्थों का [illegible] फेंकने वाला यंत्र।

दास का जैत नामक पुत्र था, जिस के रामसिंह हुआ, जो चित्तौड़ की रक्षा करते हुए काम आया और उस की स्त्री सूजन कुमारी उस के साथ सती हुई। उसके तीन पुत्र हुए—सत्त, देव और बीर। पिछले दोनों के नामों से 'देवाना' और 'बीराना' नामक गोहिलों की दो नई शाखाएं चलीं। सत्त के तीन पुत्र हुए, जिन में ज्येष्ठ पुत्र बीसल को सीहोर की जागीर प्राप्त हुई, जो अणहिलवाड़ा के मूलराज ने ब्राह्मणों को दान में दे रखी थी; परन्तु, वे आपस में लड़ पड़े और उन्होंने अपने पर शासन करने के लिए संवत् १५७५ (१५१९ ई०) में एक राजा का चुनाव किया। बीसल का पुत्र धूनो हुआ, जिस के पुत्र अखैराज ने निःसन्तान होने के कारण अपने भाई के पोते हर-ब्रह्म को गोद लिया। उस के पुत्र अखैराज का पुत्र रत्न हुआ, जिस के पुत्र भावसिंह ने जूना अथवा पुराने बडवार के स्थान पर संवत् १७७९ (१७२३ ई०) में भावनगर बसाया।

भावसिंह के अखैराज और बीसा हुए। बीसा बहुत समय तक बाहरबाट रहा और अन्त में उस ने वला और चमारनी को जागीर में प्राप्त किया। अखैराज का पुत्र बखतसिंह हुआ, जो साधारणतया अट्टाभाई के नाम से प्रसिद्ध था। उसी का पुत्र विजयसिंह वर्तमान ठाकुर है। उस का पुत्र और उत्तराधिकारी भावसिंह है, जो चौथी पीढ़ी में नगर के संस्थापक का नाम धारण करता है और इस समय बाली (प्राचीन बलभी) में रहते हुए वहाँ का शासन चलाता है।

इस प्रकार खेरथल से निकल कर आए हुए मूलपुरुष से लेकर अब तक छः सौ उनतीस वर्षों में इक्कीस पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। अनुपात से एक-एक पीढ़ी का समय उनतीस वर्ष आता है, जो अन्तः स्थलीय राजाओं की पीढियों से छः वर्ष अधिक है। यदि यह ठीक है तो इन की दीर्घ-जीविता का कारण अच्छा जलवायु एवं शान्तिपूर्ण जीवन तो नहीं माना जा सकता क्योंकि जन्मभूमि से निकलने के बाद समुद्री लूटमार ही गोहिलों का मुख्य व्यवसाय रहा है।

गोहिलों के सरदार को आलंकारिक भाषा में यहाँ के लोग 'पूरब का पातशाह' कहते हैं। इस में 'पूरब' का अर्थ प्रायद्वीप के पूर्वीय भाग तक ही सीमित है, जो सैक्सन सप्तराज्यों[1] में से कुछेक के बराबर है तथा 'फीफ' के साम्राज्य (Kingdom of Fife)[2] से भी उस की तुलना की जा सकती है। यह

---

[1] ई. पू. ३०० के लगभग सैक्सन जाति के लोग योरप में फैल गए थे। उसी समय इंगलैंड [illegible] का अधिकार था। उस स[illegible] सात छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त था।

[2] इस [illegible] ल ५०४ वर्ग मील का माना जाता [illegible] के बीच का प्रायद्वीपीय भाग है।

पूर्व का बादशाह चरित्र में सहृदय और सत्कुलोत्पन्न है। केवल चवालिस वर्ष की अवस्था में ही वह एक छः वर्षीय बालक का पितामह है। वह हमारे सम्मिलन से बहुत प्रसन्न प्रतीत होता था और हम भी उस के प्रत्येक कार्य में व्यवस्था और परिश्रम को देख कर प्रभावित हुए बिना न रहे, और इन प्रदेशों के पुरातन रीति-रिवाजों से सुपरिचित होने के कारण मैंने यही सोचा कि ये उपयोगी और मानवीय सभ्यता के सद्गुण उसे विस्तृत व्यापार के बदले में ही प्राप्त हुए थे।

सीहोर - नम्बवर – यह नगर नौ कोस दूर था। नहरवाला के शक्तिशाली राजा मूलराज द्वारा दशवीं शताब्दी में बसाए हुए इस ब्राह्मण-उपनिवेश की स्थिति बहुत ही मनोरञ्जक है, और इस के परकोटे में किलेबन्दी के किसी भी सिद्धान्त के स्वीकार्य न होने से इस की सुन्दरता और भी बढ़ गई है। अलग-अलग खड़ी हुई पहाड़ी चोटियों पर बनी हुई गोल बुर्जें नीची दीवारों से संयुक्त कर दी गई हैं और इन के पीछे खड़ी हुई ऊँची-ऊंची पहाड़ियाँ दृश्य के गौरवको बढ़ा देती हैं। नगर के परकोटे के चारों ओर एक स्वच्छ झरना बहता है, जिसके किनारे-किनारे बहुत बड़े-बड़े वृक्ष खड़े हुए हैं। सीहोर को अति पुरातनता का गौरव प्राप्त है, और इसके साथ बहुत-सी अतीत के उपाख्यानों की अनुश्रुतियाँ जुडी हुई हैं। इसके अतिरिक्त गोगो के हाथ से निकल जाने के बाद भावनगर बसाने तक के समय के लिए यह गोहिलों का प्रमुख निवास-स्थान भी रहा है। इसकी मूल-पावनता गोतम (पौराणिक मुनि) के प्रभाव से एक रोग-नाशक जलस्रोत के कारण उत्पन्न हुई, जिसमें स्नान करने से मूलराज के किसी पुराने दुष्ट रोग का निवारण हुआ और इस अवसर पर उसने सीहोर तथा आसपास की भूमि का दान ब्राह्मणों को कर दिया था। उनके पास यह उस समय तक रही जब तक कि उनके आपसी मतभेद राजनैतिक झगड़ों में परिणत न हो गए और इन ब्राह्मण-योद्धाओं के वंशजों ने अपने को किसी स्वामी के आधीन मानना स्वीकार न कर लिया। उन्होंने गोगो के गोहिल को अपना नवीन स्वामी चुना और उसको समस्त जाति की रक्षा एवं राजनैतिक नियंत्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण अधिकार दे दिए; परन्तु, एक बाग लगाने के निमित्त पर्याप्त भूमि के अतिरिक्त उन्होंने समस्त भूमि पर अपना ही अधिकार बनाए रखा और गोहिलों का भी प्राचीन संस्कारों के कारण 'शासन' तोड़ने अथवा धर्मार्थ प्रदत्त भूमि का पुनर्ग्रहण करने को, अब तक आठ शताब्दियाँ पूर्ण होने पर भी, साहस न हुआ, क्योंकि इस कर्म का दण्ड साठ हजार वर्ष तक नरकवास जो होगा! आज कल यहां पर गोहिल के युवराज भावसिंह का

गोहिल सरदार के थे। उन्होंने अपने सव
[illegible]र्ण शब्दों में आरम्भ किया, जो
जाते हुए पकड़े जाने के कारण
खारिज कर दिया गया था। उन्होंने
सम्बन्ध नहीं था, चाहे वह अवैध हो अथवा
पारी को निश्चित रकम में किराए दिय
अतिरिक्त और किसी वात से उनका
व्यापार के नियमों को न जानने के कारण उ
के आधार पर जहाज को खारिज कर देने
था। हमने उन्हें फैसला लौटने के सम्बन्ध में
की आय का अधिकांश वन्दरगाह के कर से प्रा
लाख तक पहुंच जाता था परन्तु जवसे हमने
रिक मण्डियों, जैसे घोलारा आदि पर अधिका
आमदनी आधी से भी कम रह गयी है; भूमि
इतनी ही आय होती है और सब मिल कर
प्राप्त हो जाती है। उन्होंने मुझे वताया कि गो
बाहर कुल आठ-सौ ग्राम उनके आधीन थे
चतुर्थांश के स्वामी थे क्योंकि अपने प्रदेश के अति
और सुदूर वावरियावाड़ तक में जीत कर वहुत-
में कर रखी थी। परन्तु, विजय की भावना
सर्वव्यापी शान्ति के काल में अविकार ही स्वा

अब मैं गोहिल वंश का साधारण-सा चित्र
बताने के लिए कि समय एवं स्थानभेद अथवा द
कारण कोई राजपूत सरदार अपनी वंश-परम्परा
है। ऐसा होता है कि भ्रमणशील कविपुत्र (
भूमि में आकर इन लोगों को अतीत की याद दिला
[illegible] इस सृष्टि में विपरीत दिशा में रहते
[illegible] ऐसी [illegible] का मन समुद्री बन्दरगाहों औ
नहीं रह सकता; और, यह मानना पड़ेगा कि
[illegible] सब [illegible] लिखे हुए [illegible] से, सब में अधि

प्राचीन राजधानी खेरथल बालोत्रा से दश मील की दूरी पर है, अथवा थी। वहाँ से जिस सरदार को राठौड़ों ने निकाला था, उस का नाम सेजक था और वही सब से पहले सौर देश में भाग कर आया था, जहाँ उस ने विजय प्राप्त कर के सेजकपुर नाम से नया नगर वसाया। उस का पुत्र राणजी हुआ जिस ने एक और नगर ले लिया और उसको अपने नाम पर राणपुर की संज्ञा प्रदान की। उस के पुत्र मोखड़ा (Mocarro) ने भीमाज, चमारनी, उमराला, खोखरा और प्राचीन बाली अथवा वलेह् ले लिए, जो सब आजकल गोहिलवाड़ में सम्मिलित हैं। उसने गोगो और पीरम भी कोलियों से छीन लिए और पीरम को अपना निवासस्थान बनाया। वह प्रसिद्ध समुद्री डाकू हो गया था और अपने व्यवसाय की आमदनी के बल पर ही पीरम को हड़प गया; धन से लदे हुए छः जहाजों को लूटने के बाद वह इतना भयंकर हो गया था कि बादशाह को (आख्यान में बादशाह का नाम नहीं दिया है)[1] उस के विरुद्ध सेना भेजनी पड़ी। मोखड़ा ने, जो लम्बाई में छः हाथ का था, वीरतापूर्वक सामना किया और एक ही झपट्टे में बादशाह के भतीजे को भी मार डाला; पचीस हज़ार आदमियों के मारे जाने पर भी उस ने आमरण आत्म-समर्पण नहीं किया। इस घटना के कारण इस वंश को एक बार फिर देश छोड़ना पड़ा। मोखड़ा का बड़ा पुत्र डूंगा किसी प्रकार गोगो में बना रहा, परन्तु उस का भाई सोमसी-जी नाँदोद चला गया और उस के वंशज आज तक राजपीपला में राज्य करते हैं।

डूंगा के वीजली [जी] (Beejuli) और उस के कानजी और रामजी हुए। कानजी बादशाह के विरुद्ध गोगो की रक्षा करता हुआ युद्ध में मारा गया और उस का पुत्र सारङ्ग बन्दी हुआ। परन्तु, एक स्वामिभक्त नौकर किसी प्रकार बन्दीगृह में पहुँच गया और उस की जंजीरें तोड़ कर उसे चित्तौड़ ले गया। वहाँ के राजा ने उसे एक सेना देकर गोगो पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए भेजा, जहाँ पर उस समय उस के काका कानजी, [रामजी ?] ने कब्ज़ा कर रखा था और अत्याचारी होने के कारण वहाँ की प्रजा उस से घृणा करती थी। उसे गद्दी से उतार कर पालीताना व लाटी के चौवालिस गाँवों का तपा[2] (Tuppa) उस की जागीर में दे दिया गया। सारङ्ग का पुत्र श्योदास था। एक वार फिर शाही सेना ने गोगो से गोहिलों का अधिकार हटा दिया और वे भाग कर खोखरा और उमराला चले गए। सम्भवतः उन का शत्रु वज़ीर-उल्मुल्क ही था, जिस के शिलालेख के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

---

[1] मुहम्मद तुग़लक; History of Gujrat, Commissariat, Vol. I; p. 42

[2] तप्पा-जिला या परगना।

श्योदास का जैत नामक पुत्र था, जिस के रामसिंह हुआ, जो चित्तौड़ की रक्षा करते हुए काम आया और उस की स्त्री सूजन कुमारी उस के साथ सती हुई। उसके तीन पुत्र हुए—सत्त, देव और बीर। पिछले दोनों के नामों से 'देवाना' और 'बीराना' नामक गोहिलों की दो नई शाखाएं चलीं। सत्त के तीन पुत्र हुए, जिन में ज्येष्ठ पुत्र बीसल को सीहोर की जागीर प्राप्त हुई, जो अणहिलवाड़ा के मूलराज ने ब्राह्मणों को दान में दे रखी थी; परन्तु, वे आपस में लड़ पड़े और उन्होंने अपने पर शासन करने के लिए संवत् १५७५ (१५१६ ई०) में एक राजा का चुनाव किया। बीसल का पुत्र धूनो हुआ, जिस के पुत्र अखैराज ने निःसन्तान होने के कारण अपने भाई के पोते हर-ब्रह्म को गोद लिया। उस के पुत्र अखैराज का पुत्र रत्न हुआ, जिस के पुत्र भावसिंह ने जूना अथवा पुराने बडवार के स्थान पर संवत् १७७६ (१७२३ ई०) में भावनगर बसाया।

भावसिंह के अखैराज और बीसा हुए। बीसा बहुत समय तक बाहरवाट रहा और अन्त में उस ने वला और चमारनी को जागीर में प्राप्त किया। अखैराज का पुत्र बखतसिंह हुआ, जो साधारणतया अट्टाभाई के नाम से प्रसिद्ध था। उसी का पुत्र विजयसिंह वर्तमान ठाकुर है। उस का पुत्र और उत्तराधिकारी भावसिंह है, जो चौथी पीढ़ी में नगर के संस्थापक का नाम धारण करता है और इस समय बाली (प्राचीन बलभी) में रहते हुए वहाँ का शासन चलाता है।

इस प्रकार खेरथल से निकल कर आए हुए मूलपुरुष से लेकर अब तक छः सौ उनतीस वर्षों में इक्कीस पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। अनुपात से एक-एक पीढ़ी का समय उनतीस वर्ष आता है, जो अन्तः स्थलीय राजाओं की पीढियों से छः वर्ष अधिक है। यदि यह ठीक है तो इन की दीर्घ-जीविता का कारण अच्छा जलवायु एवं शान्तिपूर्ण जीवन तो नहीं माना जा सकता क्योंकि जन्मभूमि से निकलने के बाद समुद्री लूटमार ही गोहिलों का मुख्य व्यवसाय रहा है।

गोहिलों के सरदार को आलंकारिक भाषा में यहाँ के लोग 'पूरब का पातशाह' कहते हैं। इस में 'पूरब' का अर्थ प्रायद्वीप के पूर्वीय भाग तक ही सीमित है, जो सैक्सन सप्तराज्यों[1] में से कुछेक के बराबर है तथा 'फीफ' के साम्राज्य (Kingdom of Fife)[2] से भी उस की तुलना की जा सकती है। यह

[1] ई. पू. ३०० के लगभग सैक्सन जाति के लोग योरप में फैल गए थे। उसी समय इंगलैंड पर भी इन का अधिकार था। उस समय यह देश सात छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था।

[2] स्कॉटलैण्ड राज्य का एक भाग; इसका विस्तार केवल ५०४ वर्ग मील का माना जाता है और यह फोर्थ (Forth) और टे (Tay) नदियों के बीच का प्रायद्वीपीय भाग है।

पूर्व का बादशाह चरित्र में सहृदय और सत्कुलोत्पन्न है। केवल चवालिस वर्ष की अवस्था में ही वह एक छः वर्षीय बालक का पितामह है। वह हमारे सम्मिलन से बहुत प्रसन्न प्रतीत होता था और हम भी उस के प्रत्येक कार्य में व्यवस्था और परिश्रम को देख कर प्रभावित हुए विना न रहे, और इन प्रदेशों के पुरातन रीति-रिवाजों से सुपरिचित होने के कारण मैंने यही सोचा कि ये उपयोगी और मानवीय सभ्यता के सद्गुण उसे विस्तृत व्यापार के बदले में ही प्राप्त हुए थे।

सीहोर - नम्ववर – यह नगर नौ कोस दूर था। नहरवाला के शक्तिशाली राजा मूलराज द्वारा दशवीं शताब्दी में बसाए हुए इस ब्राह्मण-उपनिवेश की स्थिति बहुत ही मनोरञ्जक है, और इस के परकोटे में किलेबन्दी के किसी भी सिद्धान्त के स्वीकार्य न होने से इस की सुन्दरता और भी बढ़ गई है। अलग-अलग खड़ी हुई पहाड़ी चोटियों पर बनी हुई गोल बुर्जें नीची दीवारों से संयुक्त कर दी गई हैं और इन के पीछे खड़ी हुई ऊँची-ऊंची पहाड़ियाँ दृश्य के गौरवको बढ़ा देती हैं। नगर के परकोटे के चारों ओर एक स्वच्छ झरना बहता है, जिसके किनारे-किनारे बहुत बड़े-बड़े वृक्ष खड़े हुए हैं। सीहोर को अति पुरातनता का गौरव प्राप्त है, और इसके साथ बहुत-सी अतीत के उपाख्यानों की अनुश्रुतियाँ जुड़ी हुई हैं। इसके अतिरिक्त गोगो के हाथ से निकल जाने के बाद भावनगर बसाने तक के समय के लिए यह गोहिलों का प्रमुख निवास-स्थान भी रहा है। इसकी मूल-पावनता गोतम (पौराणिक मुनि) के प्रभाव से एक रोग-नाशक जलस्रोत के कारण उत्पन्न हुई, जिसमें स्नान करने से मूलराज के किसी पुराने दुष्ट रोग का निवारण हुआ और इस अवसर पर उसने सीहोर तथा आसपास की भूमि का दान ब्राह्मणों को कर दिया था। उनके पास यह उस समय तक रही जब तक कि उनके आपसी मतभेद राजनैतिक झगड़ों में परिणत न हो गए और इन ब्राह्मण-योद्धाओं के वंशजों ने अपने को किसी स्वामी के आधीन मानना स्वीकार न कर लिया। उन्होंने गोगो के गोहिल को अपना नवीन स्वामी चुना और उसको समस्त जाति की रक्षा एवं राजनैतिक नियंत्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण अधिकार दे दिए; परन्तु, एक बाग लगाने के निमित्त पर्याप्त भूमि के अतिरिक्त उन्होंने समस्त भूमि पर अपना ही अधिकार बनाए रखा और गोहिलों का भी प्राचीन संस्कारों के कारण 'शासन' तोड़ने अथवा धर्मार्थ प्रदत्त भूमि का पुनर्ग्रहण करने को, अब तक आठ शताब्दियाँ पूर्ण होने पर भी, साहस न हुआ, क्योंकि इस कर्म का दण्ड साठ हजार वर्ष तक नरकवास जो होगा ! आज कल यहां पर गोहिल के युवराज भावसिंह का

अधिकार है जिसकी, जैसा कि एशिया में ही नहीं, सभी जगह रिवाज़ है, अपने पिता से नहीं पटती, क्योंकि यहां पर भी अन्य उन्नत देशों की तरह उपासकों द्वारा उगते हुए और अस्तोन्मुख सूर्य को समान रूप से अर्घ्य नहीं दिया जाता।

वलभी – 'सौरों की भूमि' की यात्रा करने का मेरे लिए एक मुख्य आकर्षण यह भी था कि मुझे मेवाड़ के राणाओं की प्राचीन राजधानी का पता लगाना था, जहां से इण्डो-गेटिक आक्रमणकारियों ने उन्हें विक्रम की पहली शताब्दी में निकाल दिया था। आजकल इसका नाम बाली अथवा वलेह है; परन्तु जब मैंने गोहिल राजा से इसके विषय में पूछा और उन्होंने इसका पूरा प्राचीन नाम 'वलभीपुर' वताया तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई; साथ ही, मुझे यह जान कर दु:ख भी हुआ कि भूतकाल में जिस नगर का घेरा अट्ठारह कोस (बाईस मील) में था और जहां तीन सौ और साठ जैन-मन्दिरों के घण्टे उपासकों को प्रार्थना के लिए आमन्त्रित करते थे वहाँ उसकी महानता का अब कोई भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रह गया था—केवल नींव की ईंटें खोदने पर ऊपर ही खूब मिल जाती हैं, जिनमें से प्रत्येक लम्बाई में दो फीट और तौल में आधा मन अथवा पैंतीस पौण्ड की होती है। प्राय: गडरियों को विचित्र भाँति के सिक्के भी मिल जाते हैं। ये खण्डहर मेरे पालीताना के मार्ग से उत्तर की ओर पूरे दश मील की दूरी पर थे और गोहिल राजा ने, जिसके राज्य में ये स्थित थे, मुझे अच्छी तरह विश्वास दिला दिया था कि वहाँ कुछ भी दर्शनीय नहीं है, इसलिए मैंने वहां जाने का विचार छोड़ दिया।

बलभी सिद्धराज के समय तक प्राचीन सूर्यवंशी राजाओं के एक वंशज के अधिकार में बना रहा। बाद में, ब्राह्मण जाति पर अत्याचार करने के कारण उसको निकाल दिया गया था। इन ब्राह्मणों को सिद्धपुर में विशाल रुद्रमाला मन्दिर के निर्माणोपरान्त यह नगर उसने एक सहस्र ग्रामों सहित 'सासन' अथवा धर्मार्थ प्रदान कर दिया था। इन लोगों के अधिकार में यह उस समय तक रहा जब तक कि आपसी झगड़ों के कारण वह जाति आधी न रह गई। उन लड़ाकुओं में से एक ने गोहिल राजा को यह प्रलोभन दिया था कि यदि वह उसकी सहायता करेगा तो वह अपने विरोधियों की भूमि उसको दिला देगा; उस समय-से, तीन शताब्दियां हो गईं, यह गोहिलों के ही अधिकार में है।

पवित्र पालीताना पहुँचने तक एक और भी अवसर मुझे मिला जब कि मैं अपने बलभी-विषयक ज्ञान में कुछ मनोरंजक वृद्धि कर सका; इस अवसर से मेरी उन सभी सूचनाओं की पुष्टि हो गई, जो मैंने बाली और मारवाड़ में सांडेरा के यतियों से सुन-सुन कर एकत्रित कर रखी थीं। ये उन लोगों

के वंशज हैं, जिनको संवत् ३०० (२४४ ई०) में इसके विध्वंस के समय यहाँ से निकाल दिया गया था। मुझे जिन लोगों से जानकारी प्राप्त हुई वे विद्वान् जैन साधु थे और उन्होंने सभी तथ्यों के प्रमाण अपनी पोथियों एवं परम्परागत अनुश्रुतियों के आधार पर प्रस्तुत किए थे। उपर्युक्त दोनों ही सूचना-स्रोतों के आधार पर उन्होंने इसकी प्रसिद्धि, प्राचीनता, विस्तार, विशालता और इतिहास में उस समय जैन-धर्म का मुख्यकेन्द्र होने के विषय में बातचीत की जब कि यहाँ पर सूर्यवंशी राजा राज्य करते थे। मेरे समान उनका भी यही अनुमान था कि सूर्य और सौर में समानता थी, और अपर शब्द के आधार पर ही इस प्रायद्वीप का नाम (सौराष्ट्र अथवा सौर द्वीप) पड़ा था—और उपर्युक्त दोनों नामों की उत्पत्ति सूर्योपासना के कारण ही हुई थी। मेरी इस प्रसंगोपात्त किन्तु महत्वपूर्ण खोज के भी यहां पर पर्याप्त प्रमाण मिले कि वलभी का एक स्वतन्त्र संवत् प्रचलित हुआ था—जैसे कि मेवाड़ में मयणल [मेनाल] का शिलालेख, जो 'वलभी के द्वारों' की ओर आकर्षित करता हुआ यहां के राजाओं की महत्ता का प्रमाण उपस्थित करता है और यह भी सिद्ध करता है कि वे वलभी से ही निकल कर उधर गए होंगे, क्योंकि उत्तर से आने वाले आक्रमणकारियों ने यहाँ के वैभव को नष्ट कर के 'सूर्य-कुण्ड की पवित्रता को गोमांस से भ्रष्ट कर दिया था।'

अब तक भी पुस्तकें और अनुश्रुतियां दोनों ही बल्ल जाति को बलभी के राजाओं से सम्बद्ध बताते हैं। उनका कहना है कि कनकसेन, जो लव अथवा लोह का (अयोध्या के सूर्यवंशी राजा का ज्येष्ठ पुत्र, जो पञ्चालिका अथवा आधुनिक पंजाब के लोहकोट में बस गया था) वंशज था, वहां से इस प्रायद्वीप में आ गया था और उसने धानुक [धेनुका] को अपना निवास-स्थान बनाया था, जो प्राचीन समय में मून्जीपट्टण कहलाता था। तत्पश्चात् बालक्षेत्र पर विजय प्राप्त करके उसने बाल राजपूत की पदवी धारण की। बालक्षेत्र के स्वामी ही 'बाल-का-राय' कहलाए क्योंकि, निस्सन्देह ही, बल्हरा राजाओं के लिए बहुधा प्रयुक्त इस पद की उत्पत्ति इसी कारण से हुई होगी। धानुक अब भी एक बल्ल जातीय राजा के अधिकार में है और इस प्रायद्वीप में भली-भांति प्रसिद्ध है। यद्यपि ये लोग अपने को विशुद्ध राजपूत कहते हैं, परन्तु लोगों का कहना है कि इनका रक्त काठियों से मिश्रित हो चुका है। उधर, काठी कहते हैं कि वे भी बल्लों की ही एक शाखा हैं और दोनों ही, अनुश्रुतियाँ तथा 'भाट का विरद' अर्थात् 'तत्त मुल्तान का राय', काठी की स्थिति वहीं जाकर बताते हैं, जहां पर काठी ने अलक्षेन्द्र से टक्कर ली थी, अर्थात् लोहकोट में, जो इस जाति का उद्गम स्थान है। अब हमारी आशा काव्य पर लगी हुई है।

बलभी से अधिक दूर न चल कर यात्रियों के लिए अद्यावधि एक तीर्थ-स्थान विद्यमान है, जो भीमनाथ के नाम से प्रसिद्ध है और यहां के राष्ट्रीय महाकाव्य महाभारत से सम्बद्ध है; यहां पर एक जलस्रोत है जिस का पानी प्राचीन काल में चमत्कारपूर्ण प्रभाव से युक्त था। इसी के किनारे पर पवित्र शिव-मन्दिर है, जहां पर देश के कोने-कोने से यात्री आया करते हैं। इस स्थल की उत्पत्ति पाण्डव बन्धुओं के पराक्रम और उन के विराट-वन में बनवास से सम्बन्धित बताई जाती है। अनुश्रुतियों के आधार पर इसी प्रदेश को विराट-क्षेत्र बताया जाता है और इस की राजधानी विराटगढ़ आधुनिक परन्तु अधिक आकर्षक धोलका को बताया जाता है, जो बाल-क्षेत्र के अन्तर्गत है और जो मेवाड़ के प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तों की सचाई को सद्यः एवं दृढ़ता के साथ प्रमाणित करता है—उन ऐतिहासिक वृत्तान्तों में लिखा है कि बलभी, विराट-गढ़ और गढ़-गजनी—ये तीन प्रमुख नगर थे, जो उन लोगों के 'सौर देश' से निष्कासित होने पर उन्हीं के अधिकार में रहे थे।

भीमनाथ का नाम पाण्डव भीम के नाम पर पड़ा है और इस शिवलिङ्ग की स्थापना के मूल में उस का अपने अनुज अर्जुन के प्रति स्नेह-भाव ही था, जो अपने धनुष के बल पर शिवार्चन किए बिना भोजन नहीं छूता था। जब हरिका (जिस में विराट था) के दुर्गम्य जङ्गलों में कितने ही दिन घूमने पर भी कहीं कोई शिवलिङ्ग न मिला और थका-माँदा अर्जुन मूर्छित हो कर आगे चलने में समर्थ न हुआ तो भीम को थोड़ी दूर पर एक चरवा (पानी भरने का बड़ा बर्त्तन) मिला। उस ने झरने में से पानी भर कर चरवे को आधा जमीन में गाड़ दिया और इस के चारों ओर शिवजी के चढ़ाने योग्य पत्र-पुष्प, जैसे वेल, आक और धतूरा आदि रख कर किसी गवेषक के समान उत्साहित हो कर वह अपने भाई अर्जुन के पास दौड़ा गया और उसे प्रसन्न हो कर पूजा करने के लिए कहा। इस प्रकार, धोखे से, अपने भाई की शक्ति पुनः प्राप्त होने पर वह खुशी के मारे अपने षड्यन्त्र का उद्घाटन करने के लोभ को भी न रोक सका और अट्टहास करते हुए कहने लगा कि उसने तो एक पुराने चरवे की पूजा कर ली। भाई की इस हँसी से अर्जुन बहुत अप्रसन्न हुआ और वे आपस में लड़ाई पर उतारू हो गए। उसी समय, भीम ने विश्वास दिलाने के लिए उस चरवे पर गदा से चोट मारी और उस के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। परन्तु, तभी एक बड़े आश्चर्य की बात हुई कि जहाँ उस की चोट पड़ी थी वहीं दरार होकर एक रक्त का नाला उभल पड़ा। अपने इस पापकर्म पर पश्चात्ताप करते हुए भीम ने आत्म-बलिदान करने का निश्चय किया और अर्जुन

के वहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर भी अपनी इस प्रतिज्ञा को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। तव स्वयं शिवजी एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए तथा उस के अनुताप को स्वीकार करते हुए उन्होंने इच्छानुसार वरदान माँगने के लिए कहा। भीम ने प्रार्थना की कि उस के इस पाप की याद सदैव वनी रहे इसलिए जिस देवता का उसने अपराध किया है उस के साथ भीम का नाम भी जुड़ जाये और तदनन्तर वह स्थान भविष्य के लिए तीर्थ रूप वन जाये——इस प्रकार इस स्थान का नाम 'भीमनाथ' पड़ा।

झरने के किनारे पर एक शिवलिंग का पूजन होता है। कहते हैं कि कुछ समय पूर्व यहाँ के मुख्य पुजारी ने देवता के दृश्यमान लिंग पर मन्दिर खड़ा करवाने का विचार किया और कुतूहलवश जमीन में गड़े हुए लिंग की गहराई जानने के लिए उत्खनन भी किया। तीस फीट खोदने पर भी कोई पता नहीं चला, फिर भी उस ने अपना काम चालू रखा, तव स्वयं शिवजी प्रकट हुए और उन्होंने कहा कि 'मुझे विशाल बड़ के पेड़ के अतिरिक्त और किसी मन्दिर की आवश्यकता नहीं है, जिस की लम्बी-लम्बी शाखाएँ स्तम्भों के समान हैं और जिस का छत्राकार घेरा ही सर्वथा उपयुक्त चँदोवा है, जो स्वयं मेरे व मेरे भक्तों के लिए पर्याप्त है।' श्रद्धालु भक्तों के उत्साह से वहाँ पर वहुत वड़ा संभार चलता है, क्योंकि भगवान् शिव तो (प्राकृतिक) तत्वों से अपनी (प्रतिमा की) रक्षा करने में समर्थ हैं, परन्तु उन के स्थानीय एवं आगन्तुक भक्तों के कलेवर तो पाषाण की अपेक्षा अति कोमल सामग्री के वने हुए हैं। अतः उन्होंने महान् वटतरु की अपेक्षा सुदृढ़तर सुरक्षा-गृह वनाना ही अधिक उपयुक्त समझा। निदान, सभी स्थानों से यहाँ आने वाले यात्रियों के लिए पर्याप्त भवन वने हुए हैं। महन्त के पास अभी पिछले दिनों तक कच्छ और काठियावाड़ के एक-सौ चुने हुए घोड़ों का अस्तवल था——परन्तु, भाटों और चारणों को दान कर के उस ने अव उन की संख्या आधी रख ली है। कहते हैं कि इस दान का मुख्य लक्ष्य व्यय में कमी करना ही था। अन्य वहुत-से तीर्थ-स्थानों की तरह यहाँ भी महन्त की ओर से सदावर्त चलता है और प्रत्येक आगन्तुक यात्री को किसी भी प्रकार के जातीय भेदभाव के विना भोजन दिया जाता है। घुमन्तू काठी जाति के लोग इस तीर्थ की वहुत 'मानता' करते हैं। शान्ति से पहले के विगड़े हुए जमाने में, जव इन लोगों के भाले हल के फल के रूप में परिणित नहीं हुए थे तव, वे लोग यहां पर अपने शस्त्र पैने किया करते थे और शिवजी की मनौती मनाया करते थे कि यदि उनका मनोनीत डाका सफल होगा तो लूट के माल में से दशमांश

उत्कोच के रूप में चढ़ावेंगे; अथवा, यदि किसी की घोड़ी वंध्या होती तो वह यह 'बोलारी' बोलता कि वह पहला फल (बछेरा या बछेरी) भगवान् के अथवा महन्त के, जो एक ही बात है, अर्पण करेगा; परन्तु, अपनी मनौतीं को पूरी करना या न करना आगरे की सब्ज़ी बेचने वाली कुँजड़िन की तरह उस घुमक्कड़ की इच्छा और मन पर ही निर्भर रहता था। कहानी इस प्रकार है कि एक बार उस कुँजड़िन का वह बैल या गधा खो गया, जिस पर वह अपनी सब्ज़ी बेंचने के लिए बाज़ार ले जाया करती थी। उस ने मनौती बोली कि वापस मिल जाने पर वह उस की कीमत का आधा भाग पास वाली मसजिद में चढ़ा देगी अथवा ग़रीबों को बाँट देगी। उस का जानवर मिल गया परन्तु कृतज्ञता प्रकट करने के बजाय उस ने रो-रो कर अपने पड़ोसियों को परेशान कर दिया। एक पड़ोसिन कुँजड़िन ने उस के दुःख का कारण पूछा और जब उस ने कहा कि उसका जानवर बिकने की नौबत आ पहुँची है तो वह ठहाका मार कर हँसी और कहने लगी कि 'यदि तेरे दुःख का कारण यही है तो अपनी ज़बान बन्द और दिल काबू में रख, क्योंकि इसी तरह मैंने कई बार खुदा को चकमा दिया है।'

भीमनाथ की यात्रा के ये आनन्द हैं कि केवल उन का नाम लेना ही सब जगह के लिए एक प्रभावशाली पासपोर्ट (अनुमति-पत्र) का कार्य करता है तथा यात्री के लिए एक सिद्ध-मन्त्र के समान है, जिस के बल पर वह शत्रु-दल से आकीर्ण मार्ग में हो कर भी सकुशल यात्रा कर सकता है। मैं इस प्रसंग का इसी अनुमान के साथ उपसंहार करूंगा कि यहीं पर वलभी का वह प्रसिद्ध सूर्य-कुंड है जिस को उत्तरदेशीय आक्रमणकारियों ने भ्रष्ट कर दिया था।

इस प्रदेश में आप को कदम-कदम पर ऐसे दृश्य मिले बिना नहीं रह सकते; जो स्वयं मनोमोहक हैं अथवा प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक गाथाओं से सम्बद्ध हो-कर आकर्षण की वस्तुएं बन गए हैं।



प्रकरण १४

पालीताना, जैनों का तीर्थस्थान; शत्रुञ्जय पर्वत; जैन-यात्री; जैनमत की उदारता और बौद्धिकता; माहात्म्य; जैनों के पांच तीर्थ; शत्रुञ्जय के शिखर; पर्वत पर निर्मित भवनों के अधिष्ठाता महापुरुष; मक्का के मन्दिर की हिन्दू शैली; शत्रुञ्जय पर भवन-निर्माण की तिथियाँ; पालीताना से पर्वत तक का मार्ग; चढ़ाई; उपाश्रय और मन्दिर; कुमारपाल का मन्दिर; आदिनाथ का उपाश्रय; गच्छों के मतभेद का दुष्परिणाम; मन्दिरों में पुरावस्तुएं; आदिनाथ के मन्दिर में गहनों की कुप्रथा; मन्दिर पर से विहङ्गमदृश्य; आदि बुद्धनाथजी की मूर्ति; रतनघोर का मन्दिर; आदिनाथ की प्रतिमा; जैन तीर्थङ्करों और शिव की मूर्तियों में समानता और उनके लिङ्ग; हुंगा पीर की मजार; उतराई; देवकी के पुत्रों के मन्दिर; भाट; पवित्र पर्वत की सम्पत्ति; यात्रियों के संघ; पालीताना नाम की व्युत्पत्ति; पुरावस्तुओं का अभाव; सैदेवाह और सावलिङ्गा की प्रेमगाथा; पालीताना का आधुनिक इतिहास और वर्तमान दशा।

पालीताना—नवम्बर १७वीं —मेरी तबीयत इतनी खराब थी कि सीहोर और जैनों के इस सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान के बीच में ठीक से कुछ भी देख-भाल न सका; यद्यपि इधर कोई देखने योग्य बात भी नहीं बताई गई थी, फिर भी, यह असम्भव है कि इस भूभाग में पन्द्रह बीस मील की दूरी में भी किसी जिज्ञासु यात्री के श्रम को सफल करने के लिए यहाँ के निवासियों की किन्हीं विशेषताओं अथवा स्थानीय लक्षणों के दर्शन ही न हों। फिर, मैं तो ऐसी भी प्रत्येक वस्तु के निरीक्षण की अपेक्षा रखता था जो मेरे मस्तिष्क पर विशिष्ट प्रभाव डालने वाली न हो तो भी कोई बात नहीं है; परन्तु, इतना अवश्य है कि शायद ही कोई जैन अथवा बौद्ध यात्री मुझ 'असभ्य' 'फिरंगी' जैसी उमंग लिए हुए पवित्र शत्रुञ्जय पर्वत पर पहुँचा होगा।

मैंने यहाँ अनुभव की अपेक्षा कल्पना को ही आगे बढ़ने का अधिक अवसर दिया क्योंकि इन भूभागों में मुझे किसी महत्वपूर्ण अनुसन्धान का अधिकार नहीं दिखाई दे रहा था, जहाँ 'मोहम्मद' और 'अल्ला' ने इसलाम के पैगम्बर द्वारा प्राप्त मूसा के मूर्तिभञ्जन-आदेशों के पालनार्थ अपनी सेनाओं का सञ्चालन किया था। यद्यपि 'दश आज्ञाओं'[1] में से द्वितीय आज्ञा के पालन में बाधक हो कर जो

---

[1] परमात्मा की दश आज्ञाएं, जो उन्होंने पैगम्बर मूसा को 'सनाइ' Sanai पर्वत पर दी थीं। ये सर्वप्रथम दो प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण हुई थीं।

कोई सामने आता था उसे वे निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देते थे, परन्तु यह सौभाग्य की बात थी कि मन्दिरों को मसजिदों में परिवर्तित करना वे श्लाघनीय समझते थे और अन्दर घुसकर 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगाना उस नापाक इमारत को पवित्र करने के लिए पर्य्याप्त मान लेते थे। फिर, धार्मिक भवनों का नाश उन्होंने कितने ही बड़े पैमाने पर किया हो, परन्तु एक ऐसे सम्प्रदाय के स्मारकों को नष्ट करना उन विजेताओं की शक्ति के बाहर की बात थी, जिसमें सिद्धान्तों का प्रतिपालन अन्य बातों की अपेक्षा परम्पराओं पर अधिक निर्भर है।

पालीताना, पल्ली का निवासस्थान, शत्रुञ्जय की पूर्वीय तलहटी में स्थित है। यह पर्वत आदिनाथ (जैनों के चौबीस में से सर्वप्रथम तीर्थंकर) के नाम से पवित्र है और लगभग दो हजार फीट ऊँचा है। रास्ते के मोड़ और घुमाव आदि का हिसाब लगावें तो इसकी चढ़ाई दो और तीन मील के बीच में आती है। इस मनोरञ्जक स्थल पर मेरे अनुसन्धानों में कुछ विद्वान साधुओं से वास्तविक सहायता मिली, जिनसे मेरा परिचय मेरे यति ने करवा दिया था। ये लोग इस समय यात्रा करने आए हुए थे और उन्होंने मुझे अपने धर्म तथा तीर्थ के विषय में 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' के आधार पर बहुत से विवरण एवं सूचनाएं दीं, जिसका कुछ अंश उनके साथ था। अन्य उदाहरणों के साथ-साथ मैं यह भी प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि उन संकुचित और ईर्ष्यापूर्ण मनोविकारों के कारण हमारी जिज्ञासाओं की शान्ति में यहाँ कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती कि जिनका वर्णन मेरे देशवासियों ने बहुत ही बढ़ा चढ़ा कर किया है। मैंने इस मत के जितने भी अनुयायियों से बात-चीत की, चाहे वे जनसाधारण में से हों अथवा पढ़े-लिखे, उनमें बहुत उदारता पाई और ज्ञान की भी उनमें कोई कमी नहीं थी।

प्रत्येक तीर्थस्थान का एक माहात्म्य-ग्रन्थ होता है जिसमें भक्तजनों द्वारा सम्पादनीय धार्मिक कृत्यों के वर्णन के साथ बीच-बीच में बहुत-सा कथा भाग भी ग्रथित रहता है; मन्दिर के निमित्त भेंट, दक्षिणा, जीर्णोद्धार और भूमिदानादि के उल्लेखों में, जो प्रायः शिलालेखों में सुरक्षित रहते हैं, कुछ प्राकृतिक उपज के भी सूचन दिए होते हैं (जैसे आबू माहात्म्य में)। 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य की रचना बलभी नगरवासी धनेश्वर सूरि आचार्य ने संवत् ४७७ (४२१ ई०) में की थी जब सूर्यवंशी राजा शिलादित्य ने आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।' इस उद्धरण से हमें इन ग्रंथों के अवलोकन से प्राप्त होने वाले लाभ का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है क्योंकि इस ग्रंथ के रचनाकाल के साधारण उल्लेख से ही हमें इस क्षेत्र से सम्बन्धित तीन ऐतिहासिक तथ्यों का पता चल जाता है। पहली बात तो यह है कि यह पर्वत आदिनाथ को अर्पित है, जिनके मन्दिर का

जीर्णोद्धार मात्र ४२१ ई० में हुआ था, इससे मूल मन्दिर के निर्माण का समय हम कतिपय शताब्दियों पीछे ले जा सकते हैं। दूसरे, हमें कर्त्ता के निवासस्थान का पता चलता है कि वह वलभी का आचार्य था; तीसरी बात जो सब से अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि यह राजा शिलादित्य सूर्यवंशी था। ये सभी बातें विशेष रूप से मेवाड़ के इतिहास की पुष्टि करती हैं। यही वह राजा था जिसका वर्णन उस इतिहास में किया गया है कि वह पश्चिमीय एशिया के आक्रामक वर्बरों से वलभी की रक्षा करते हुए मारा गया था। मोहम्मद से पहले हुए हमलों में यह दूसरा था कि जिसका उल्लेख प्राप्त होता है। पॅरिप्लुस (Periplus) के कर्त्ता के मतानुसार प्रथम आक्रमण दूसरी शताब्दी में हुआ था; और कॉसमस (Cosmas)[१] के आधार पर तीसरा आक्रमण छठी शताब्दी में हुआ जब हूण लोग सिंध की घाटी में आकर बसे थे; इसी कारण जेटों अथवा जीतों (Getes or Jits), हूणों और काठियों आदि के मूल अब भी सौराष्ट्र में पाये जाते हैं।

मानो भारत के प्रमुख वंश के इतिहास-सम्बन्धी मेरी अशिथिल शोध में चार चाँद लगाने हेतु अथवा बलभी के वृत्तांत को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ आगे चलकर मैंने एक प्रस्तर-लेख प्राप्त किया, जिसमें लिखा था कि वलभी का स्वतंत्र संवत् भी प्रचलित था जो इस माहात्म्य की रचना से एक शताब्दी पूर्व ही चालू हुआ था।

शत्रुञ्जय जैनों के पञ्चतीर्थों में से है। इनमें से तीन अर्थात् अर्बुद, शत्रुञ्जय और गिरनार तो पास-पास हैं। चौथा समेल [सम्मेत] शिखर मगध अथवा वर्तमान बिहार की प्राचीन राजधानी में है और पांचवां चन्द्रगिरि, जो शेषकूट अथवा 'सहस्र-शिखर' भी कहलाता है, हिन्दूकोट अथवा पर्वतपति पामीर के बर्फीले क्षेत्रों में स्थित है, जिनको ग्रीक लोग कॉकेशस (Caucasus) और पैरोपैमीसस (Paropamisus) कहते हैं। पहले बौद्ध धर्मगुरुओं के लिए सिन्ध में कोई 'अटक' नहीं थी और अनुश्रुतियों के साथ कल्पना और चमत्कार का सम्मिश्रण करते हुए (जो उनके मत की मूल विशेषता है) उन्होंने लिखा है कि 'जब आचार्य जैनादित्य सूरि[२] अपने दलों से मिलने सिंध के पश्चिम में जाया

---

[१] कॉसमॅस (Cosmas) का समय १०४५-११२६ ई० है। उसने Chronicon Bohemorum नामक बोहेमियां का इतिहास लिखा था, जो १६०२ ई० में मुद्रित हुआ।

—E. B. VI. p. 446

[२] सुप्रसिद्ध युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि का जन्म गुजरात प्रान्त में धोलका में श्रेष्ठी वाछिग के यहाँ वि० सं० ११३२ में हुआ था। इनकी माता का नाम वाहड़देवी था। वर्णित विषय में यह दोहा प्रचलित है :—

करते थे तो वे अपनी चद्दर पर तैर कर नदी पार कर लिया करते थे। एक दिन पानी के देवता (वरुण?) ने अपने राज्य में से निकलने के निमित्त दान कर?) मांगा तब आचार्य ने अपना अँगूठा काटकर भेंट कर दिया। कहते हैं कि वह चमत्कारिक चद्दर विचित्र लिपि में लिखित पुस्तक[1] के साथ अब भी जैसलमेर में चिन्तामणि [?] (Chortaman) के मन्दिर में सुरक्षित है। यही चद्दर जैनादित्य की गद्दी पर बैठने वाले प्रत्येक आचार्य के कन्धों पर डाली जाती है।'

इस गर्वोन्नत पर्वत के नाम चौबीस से कम नहीं हैं और एक सौ आठ शिखर इसको गिरनार पर्वत से संयुक्त करते हैं ; जैन भूगर्भवेत्ता इस क्रम को आबू और तरिंगी [तारिंगा] तक गया हुआ मानते हैं और सीहोर, वल्ल तथा अन्य पर्वत-शृङ्खलाओं से, जिनमें कुछ बहुत नीची हैं और कुछ भूगर्भित हैं, सम्बन्धित बताते हैं। नाममाला में से एक उद्धरण इस प्रकार है :

प्रथम। शत्रुञ्जयतीर्थनामानि ।। माहात्म्य में इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है। प्राचीन काल में सुखराज पालीताना में राज्य करता था। जादू की सहायता से उसके छोटे भाई ने उसकी-सी सूरत बना ली और राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। राज्यच्युत राजा बारह वर्षों तक जंगलों में भटकता रहा और इस अवधि मे नदी का सद्य जल नित्य श्रीसिद्धनाथ की प्रतिमा पर चढ़ाता रहा।' उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर देव ने उसे शत्रु पर विजय प्रदान की। कृतज्ञ हो कर राजा ने उस प्रतिमा को पर्वत पर स्थापित किया, जो शत्रुञ्जय कहलाया। अतः यह पर्वत मूलतः शिव के अर्पित रहा होगा, जिनका एक मुख्य नाम 'सिद्धनाथ' अथवा 'सिद्धों के स्वामी' है; मेरा विश्वास है कि यह विशेषण जैनों के प्रथस तीर्थङ्कर आदिनाथ को कभी नहीं प्राप्त हुआ।

पण्ढरी पर्वत – आदिनाथ के प्रिय शिष्य पण्ढरी [पुण्डरीक] का पहाड़।
श्रीसिद्धक्षेत्र पर्वत – पवित्र अथवा सिद्धक्षेत्र का पर्वत।
श्रीविमलाचल तीर्थ – शुद्धि यात्रा तीर्थ (विमल=शुद्ध, पवित्र)।

सिन्धु देश में पञ्चनदी पर, साधे पांचों पीर।
लोई ऊपर पुरुप तिराए, ऐसे गुरू सधीर ।।
(दादा साहेब की पूजा; यति रामलालजी कृत)

जिस लोई (चद्दर) का यहाँ विवरण दिया गया है वह पहले महोपाध्याय वृद्धिचन्द्र के उपाश्रय में सुरक्षित थी, अब जैसलमेर के वड़े ज्ञान-भण्डार में रख दी गई है।

[1] यह विचित्र (Sylulline) पुस्तक, जो अब मुद्राङ्कित हो गई है, एक जंजीर से लटकी रहती है और वर्ष में केवल एक बार पूजन करके नये वेष्टन में लपेट कर पुनः रख देने के लिए ही उतारी जाती है। इसके अक्षर वड़े विचित्र हैं और जब एक स्त्री-यति (साध्वी) ने इसको पढ़ने की चेष्टा की तो वह अन्धी हो गई।

सुरगिरि – देवताओं का पर्वत।
महागिरि – बड़ा पर्वत।
पुण्यरसतीर्थानिकम् – पुण्य देने वाले तीर्थस्थान।
श्रीपतिपर्वत – धन देने वाला पर्वत (श्री=लक्ष्मी)।
श्रीमुक्तशील [शैल] – मुक्ति देने वाला पर्वत।
श्रीपृथ्वीपीठ = पृथ्वी का मुकुट।
श्रीपातालमूल = जिसकी जड़ पाताल में है।
श्रीकामद पर्वत = सर्व कामना पूरी करने वाला पर्वत।[1]

शत्रुञ्जय के स्थापत्य को समझने के लिए पाठकों को उन महापुरुषों से परिचित कराना आवश्यक है जिनको ये भवन अर्पित किए गए हैं अथवा जिनके नामों पर इनके नाम रखे गये हैं; इसके लिए हमें फिर 'माहात्म्य' का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसमें यह उद्धरण आता है कि 'आदिनाथ के दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। बाहुबलि का राज्य मक्का देश पर था जो बालि देश[2] कहलाता था। वहां से जावड़शाह (Javur Sah) ने विक्रमादित्य से सौ वर्ष बाद उसकी (बाहुबल की) मूर्ति लाकर शत्रुञ्जय पर स्थापित की थी। वहां से यह मूर्ति गोगो ले जाई गई जहां यह उस समय तक रही जब गोहिलों ने अपनी राजधानी बदल कर भावनगर में स्थापित की। वहां यह मूर्ति अब तक वर्त्तमान है। बाहुबलि से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई और उसके बड़े भाई भरत से सूर्यवंश की।'

यह मेरे देखे हुए उन महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों में से है जिसमें तुरन्त ही बौद्धधर्म का उद्गम अरब में बताया गया है। साथ ही उस तथ्य का भी उल्लेख है जिसका मनु और पुराणों ने प्रतिपादन किया है कि भरत उन सभी वंशों का

---

[1] मूल पुस्तक में पाठ इस प्रकार है जिसमें २१ नाम गिनाये गये हैं—

शत्रुञ्जयः पुण्डरीकः सिद्धिक्षेत्रं महाबलः।
सुरशैलो विमलाद्रिः पुण्यराशिः श्रियः पदम् ॥३३२॥

पर्वतेन्द्रः सुभद्रश्च दृढशक्तिरकर्मकः।
मुक्तिगेहं महातीर्थं शाश्वतं सर्वकामदः ॥३३३॥

पुष्पदन्तो महापद्मः पृथ्वीपीठं प्रभोः पदं।
पातालमूलं कैलासः क्षितिमण्डलमण्डनम् ॥३३४॥

[2] 'बालू' का अर्थ संस्कृत में रेत है। बालूदेश को फारसी में रेगिस्तान कहते हैं, जो अरब के रेगिस्तान पर लागू होता है। हिन्दू भूगोल में बल्ख अथवा बालुका देश का भी यही अर्थ है।

आदि पुरुष था, जो भारतवर्ष अथवा भरतखण्ड में (जिसमें एशिया का वह भाग सम्मिलित था जो कास्पियन और गङ्गा के बीच में है) फैले हुए हैं। इससे हमें नृवंशीय विभिन्नताओं का भी कुछ अनुमान हो जाता है। 'आदिनाथ' एक अनिश्चित शब्द है जिसका अर्थ आदि (वृद्ध) पुरुष भी हो सकता है; आदि का अर्थ है प्रथम अथवा मूलपुरुष; और इस प्रकार उनका दो बड़ी शाखाओं में से एक को अरब के समुद्री तट हो कर भारत में और दूसरी को उत्तर की ओर भेजना इस ज्योति-केन्द्र से मानव जाति के आदिम प्रसार होने का द्योतक है। इसी से इस प्रायद्वीप के सौर अथवा सीरिया होने तथा यहां के धर्म का पश्चिमीय सीरिया से भेद ज्ञात होता है। और, इसी प्रकार भारतवर्ष के शकों और जीतों (Getes) में मनु द्वारा उल्लिखित सुपरिचित यवन' अथवा 'ज़वन' नाम भी सम्भवतः 'जवन' की ही सन्तान का द्योतक है। हमें यह बात आगे चल कर भी ध्यान में रखनी चाहिए और मुख्यतः 'कालनेमि' का ईथोपीय (Ethopic) मुखमण्डल, घुंघराले बाल एवं प्रशस्त अधरों को देखते समय तथा हिन्दुओं के भू-छोर, जगत-कूंट पर कृष्ण के मन्दिर को देखते समय, जहाँ उससे भी पुराना बुद्ध त्रिविक्रम का मन्दिर आज तक विद्यमान है। मैं फिर इस बात पर ज़ोर दूंगा कि गिरनार के प्रस्तरलेख का अध्ययन करने की दिशा में कुछ प्रयत्न होने ही चाहिएं।

यह तो निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लिया गया है कि मक्का में एक हिन्दू मन्दिर था, जहां हिन्दू धर्म से सम्बद्ध मूर्तिपूजा प्रचलित थी और जो लोग उस मन्दिर में प्रवेश पा सके हैं, जिनमें बर्कहार्ड (Burkhardt) भी एक है, यह सिद्ध करते हैं कि वह काला पत्थर, जिसका इसलामी लोग अब भी पूजन करते हैं, हिन्दुओं का शालग्राम है और 'कृष्णवर्ण देवता कृष्ण का स्वरूप होने के कारण पूजनीय है।' हमें इस बात में भी कोई सन्देह नहीं है कि बहुत प्राचीन काल से हिन्दू यात्री प्रायः मक्का जाया करते थे और अब तक भी अष्ट्रखान (Astrakhan)[1] की बस्ती में रहने वाले लोग वॉलगा के किनारे पर उसी प्रकार विष्णु की पूजा करते हैं जैसे वे अपनी मातृभूमि मुलतान में किया करते थे। ये लोग उसी वंश के हैं जिसका जावड़ शाह काश्मीरी धनिक बनिया था और जिसके द्वारा शत्रुञ्जय पर बाहुबलि की मूर्ति लाने का समय विक्रम से १०० वर्ष बाद अर्थात् ४६ ई० माना गया है।

---

[1] वॉलगा नदी पर तातार जाति की बस्ती। ये लोग तुर्कों की उस शाखा में हैं जो हूण आक्रमण के अनन्तर वालगा नदी के निम्न भागों में बस गए थे। बाद में १५५७ ई० में रूस ने इन पर विजय प्राप्त कर ली थी—E. R. E; Hastings, Vol. XII; p. 623

अब फिर प्रकृत विषय पर आते हैं। यह पहाड़ तीन भागों में बँटा हुआ है, जो 'टूक' कहलाते हैं; पहले का नाम मूलनाथ है, दूसरा सिवर सोमजी [शिवा सोमजी] (Sewar Somji) का चौक कहलाता है, जो अहमदाबाद का धनी मूल निवासी था। उसने संवत् १६७४ (१६१८ ई०) में मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया एवं चारों ओर पक्की दीवार बनवाई थी, जिसमें बहुत बड़ी धनराशि खर्च हुई थी क्योंकि 'चौरासी हजार रुपये (लगभग दस हजार पौण्ड) तो माल मसाला लाने के बारदाने में ही व्यय हुए थे।' तीसरा भाग बड़ौदा के एक धनी धान-व्यापारी के नाम पर 'मोदी का टूक' कहलाता है, जिसने भी इसी प्रकार इन पर लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व ही विपुल धनराशि व्यय की थी। इन मन्दिरों में विविध प्रकार की पवित्र वस्तुएं, निम्नलिखित प्रकार से, उनकी पुरातनता के आधार पर रखी गई हैं—

'पहली इमारत भरत ने वनवाई थी, दूसरी उसी की आठवीं पीढ़ी में हुए धुन्धवीर्य [दण्डवीर्य] ने, तीसरी ईशानेन्द्र (Isa Nundra) ने, चौथी महेन्द्र ने, पांचवीं ब्रह्मेन्द्र ने, छठी भवनपति ने (Bhowun patti)[1], सातवीं सगर चक्रवर्ती ने, आठवीं विन्त्र इन्द्र [व्यन्तरेन्द्र] ने, नवीं चन्द्रयशा [?] (Chandra Jessa) ने, दशवीं चक्रायुध (Chakra Aevnda) ने, ग्यारहवीं राजा रामचन्द्र ने, बारहवीं पाण्डव बन्धुओं ने, तेरहवीं काश्मीर के व्यापारी जावड़ शाह ने विक्रमादित्य से एक सौ[2] वर्ष बाद बनवाई, चौदहवीं अणहिलवाड़ा के राजा सिद्धराज के मन्त्री वर्हिदेव [बाहड़] मेहता[3] ने, पन्द्रहवीं दिल्लीपति के काका सुमरा सारङ्ग [समराशाह] ने संवत् १३७१ (१३१५ ई०) में और सोलहवीं का चित्तौड़ के मन्त्री कर्मा शाह डोसी [?] (Carma Dasi) 'देवताओं के दास' ने संवत् १५७८ (१५२२ ई०) में निर्माण कराया।'[4]

यह भी लिखा है कि जावडशाह (जो मूर्ति को यहाँ लाया था) अन्त में प्राचीन नगरी मधुमावती (वर्तमान महुवा) में ही सौराष्ट्र के किनारे पर बस गया था।

---

[1] जिनहर्ष गणि और समयसुन्दर उपाध्याय ने षष्ठ उद्धार का कर्ता चमरेन्द्र लिखा है, वह 'भुवनपति' भी कहलाता है।

[2] शत्रुञ्जयरास और माहात्म्य में इस उद्धार का समय विक्रम से १०८ वर्ष वाद लिखा है।

[3] वाहड (वाग्भट) मेहता ने वह उद्धार सं० १२१३ में कराया था। वह, वास्तव में कुमारपाल का मंत्री था।

[4] यह संवत् १५८७ होना चाहिए।

पालीताना से इस पर्वत की तलहटी तक की सड़क का मार्ग विशाल वट-वृक्षों से आच्छादित है, जिनसे पूजा के निमित्त आई हुई यात्रियों की मण्डलियों को पवित्र छाया प्राप्त होती है। यह मार्ग खूब चौड़ा है और जगह-जगह पर कुण्ड और बावड़ियाँ तथा पवित्र पानी के तालाब बने हुए हैं, जिनका पवित्र आत्माओं ने निर्माण कराया है। सजीव चट्टानों में कटी हुई एक सोपान-श्रेणि तलहटी से चोटी तक चली गई है, जिसके दोनों ओर वेदियों पर चौबीस में से किसी न किसी सुप्रसिद्ध तीर्थङ्कर के चरण-चिह्न बने हुए हैं, जैसे आदिनाथ, अजितनाथ (जिनको तरिङ्गी पर्वत अर्पित है) सन्तनाथ और गोतम (अथवा गौतमार्य, जैसा कि उन्हें सर्वसाधारण में कहा जाता है), जो चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के अनुवर्ती थे; यद्यपि उनका (गोतम का) नाम भारत से बाहर भी बहुत दूर दूर तक फैला हुआ है, फिर भी उन्हें वह सम्मान और अमरत्व प्राप्त न हो सका जिसका उपभोग उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करने किया था। थोड़ी दूर चल कर पहाड़ो पर एक बीसाम (विश्राम) अथवा ठहरने का स्थान है, जो इण्डो-सीथिया के राजा आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत की पादुकाओं से पवित्र है। कुछ और आगे चल कर एक स्वच्छ पानी का टाँका है जो 'अच्छा' कहलाता है और नेमिनाथ की चरणपादुकाओं से पवित्र है। यहाँ से लगभग चार सौ गज की दूरी पर दूसरा विश्रामस्थान है, जहाँ एक सरोवर भी है, जिसको अणहिलवाड़ा के राजा कुमारपाल ने खुदवाया था। इसके पास ही हिन्दुओं की शक्ति देवी हिङ्गलाज माता का मन्दिर है। यहाँ से चल कर पहाड़ी की चढ़ाई के लगभग आधे मार्ग पर एक तीसरा बीसाम्ब (विश्राम) है, जो प्रायः इस चढाई में आने वाले सभी विश्राम-स्थानों से बड़ा है और यहाँ के सरोवर के नाम से 'शील-कुण्ड' ही कहलाता है। यहीं एक छोटा-सा बगीचा है और सीढ़ियों की श्रेणी बनी हुई है जो छोटे-से जल-प्रपात को विस्तार प्रदान करती है। यह स्थान विशेष रूप से पवित्र माना जाता है क्योंकि यहाँ पर 'परमेश्वर' की पादुकाएं हैं, जो सब के स्रष्टा कहे जाते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से विश्रामस्थल हैं जहाँ पर सरोवर और प्राचीन ऋषियों के चरण-चिह्न बने हुए हैं। सभी तालाबों में पानी स्वच्छ था। बहुत-सी चक्करदार चढ़ाई के बाद हम सब से ऊँची चोटी के तल में पहुँचे, जो चारों ओर से सुरक्षित परकोटे द्वारा घिरी हुई है और जिसकी पूर्वीय मीनार पर 'हञ्जा पीर' नामक मुसलमान सन्त की सफेद ध्वजा फहराती रहती है। जैन तीर्थङ्करों में इस मुसलिम सन्त के बलात् प्रवेश के विषय में आगे विवरण दिया जायगा। इसे अपनी दाहिनी ओर छोड़ कर हम पर्वत के दक्षिणी मुख की ओर आदीश्वर की टूक-

को मुड़े। थोडी दूर तक इस सड़क के दोनों ओर की दीवारों के बीच चल कर हम अन्त में किले के पहले दरवाज़े पर पहुँचे, जो रामपोल कहलाता है। वहाँ से पत्थर-जड़ी हुई सड़क पर होते हुए, जिसके दोनों ओर नीम के पेड़ लगे हुए थे, चार अन्य दरवाजों को पार करके हम एक मन्दिरों की कुञ्ज में जा पहुँचे जो पर्वत के दक्षिण-पूर्वीय मुख पर इकट्ठे बने हुए थे। रामपोल से ठीक आगे ही एक तालाब है, जो पाण्डवों की माता कुन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। अनुश्रुति कहती है कि जब उसके पुत्र विराट में वनवास भोग रहे थे तब उसी की आज्ञा से इसका निर्माण हुआ था, परन्तु (भूकम्प के) झटकों से इसकी चट्टानें टूट गई हैं और वसुदेव की पुत्री [वहन ?] का यह पवित्र स्मारक अपने तत्त्व (पानी) से रीता हो गया है। दूसरे दरवाज़े का नाम सूगल पोल (Sugal pol) है, जो बंगाल के एक धनी व्यापारी की उदार दानशीलता के कारण पड़ा है; इसके पास ही पालीताना के 'प्रथम गोहिल' नवघन द्वारा खुदवाया हुआ सरोवर है। दर्शक लोग यहाँ ठहर कर विश्राम करते हैं और यात्री लोग विभिन्न पूजा-स्थानों पर भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं। तीसरा द्वार 'बाघन पोल' कहलाता है और यहाँ पर हिन्दुओं की सिबिली[1] सिंह केसरी[2] माता की एक लघु मूर्ति है। यहीं पर गिरनार के नेमिनाथ की चौंरी भी है। इस इमारत से सटा हुआ एक चपटा पत्थर है, जिसमें जमीन से तीन फीट ऊँचा पन्द्रह इन्च व्यास का एक वृत्ताकार छिद्र है, जो 'मुक्तिद्वार' कहलाता है और जो कोई भी अपने शरीर को संकुचित कर के इस पवित्रता की कठिन परीक्षा में पार निकल सकता है उसे मुक्ति मिलना सुनिश्चित है। 'दुर्बल पृथ्वी को अपनी मेदिनी बनाने वाले लक्ष्मी-पुत्रों में से वहुत थोड़े हो ऐसे होंगे जो अपने मांस को खूब सुखाए विना इस परीक्षा में पूरे उतर सकें। 'मुक्ति-पोल' के सामने ही एक ऊंट की वड़ी विचित्र प्रस्तर-मूर्ति है, जो आकार में प्राय: सजीव ऊंट के बराबर है; ये सभी खड़े पत्थर 'शूल' या सुई कहलाते हैं इसलिए हमारे अक्षरवद्ध लेखों में हम इनकी कल्पना मात्र कर लेने का ही सुझाव दे सकते हैं। चतुर्थ द्वार अर्थात् हाथीपोल पर अन्यतम प्रमुख जिनेश्वर पार्श्व [नाथ] का मन्दिर है जो शेष [सहस्र] फणि के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् वह देव जिस का छत्र सहस्र फणों वाला सर्प [शेष] है। यहाँ पर मिस्र के हरमीज़ (Hermes)[3] के

---

[1] ग्रीक प्रकृति देवी।

[2] सिंहवाहिनी माता।

[3] ग्रीक माइथोलॉजी के अनुसार एक देवता, जो ज्यूस Zeus का पुत्र था और मृतकों की आत्मा को निम्न लोकों में ले जाया करता था। वह वाणी और भाग्य का अधिष्ठाता तथा यात्रियों और व्यापारियों का रक्षक भी माना जाता था।

साथ विचित्र साम्य का एक और भान होता है जिसका चिह्न सर्प है और जिसका एक नाम फ़ैनेटीज़ (Phanetes) भी है।

इसके बाद हम उस मन्दिर पर पहुंचते हैं, जो बंगाल के सुप्रसिद्ध सेठ का बनवाया हुआ है। इतिहास में वह जगतसेठ के नाम से विदित है। मरहठों के आक्रमण के समय धन (शब्द) उसके नाम का पर्याय माना जाता था और दो करोड़ रुपयों की हानि (यदि श्रम और वस्तुओं का भी हिसाब लगावें तो ८ करोड़ के बराबर) का तो उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा था। यह तथ्य त इतना आधुनिक है कि इस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। इससे लगा हुआ ही दूसरा मन्दिर 'सहस्र स्तम्भ' या हजार खम्भों वाला मन्दिर कहलाता है, यद्यपि इसमें कुल मिला कर चौसठ ही खम्भे हैं। पास ही में कुमारपाल का मन्दिर है, जिसमें बावन प्रतिमाएं हैं। इसके और पांचवीं पोल के बीच में दो कुण्ड हैं जो सूर्यकुण्ड और ईश्वरकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम कुण्ड पर एक शिवालय है और उसके नज़दीक ही अधिक दयामयी अन्नपूर्णा देवी का मन्दिर है।

अब एक लम्बी सोपान-सरणि को पार कर के पण्ढरी पोल नामक द्वार से हम 'पावनानां पावन' श्री आदिनाथ के मन्दिर के सामने पहुंचे। चौक में जाने के लिए जिस पण्ढरी के नाम पर बने द्वार से जाना पड़ता है वह तीर्थङ्कर का प्रिय शिष्य था और द्वार के ऊपर बने हुए कक्ष में उसका निवास था। प्राचीनता और पवित्रता की सभी सामग्री इस चौक में उपलब्ध है, परन्तु साम्प्रदायिक वैमनस्य, मूलनिर्माता कहलाने की आकांक्षा और अन्यधर्माव-लम्बियों की मतान्धता ने मिल कर इस पवित्र पर्वत पर धार्मिक श्रद्धा से प्रेरित होकर बनवाये हुए सभी सुन्दर कार्य को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। ऐसी कुप्रसिद्धि है कि समधर्मानुयायियों के मत-वैमनस्य ने अन्यधर्मियों की घृणा की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचायी है, और यहां पर 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले विद्वान् जैनों के मुख से यह तथ्य ज्ञात हुआ कि 'उनके तपागच्छ और खरतरगच्छ नामक मुख्य भेदों के आपसी कलह के कारण ही पुराभिलेखों का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानों द्वारा कम, क्योंकि जब तपागच्छ वाले प्रभाव में आए तो उन्होंने खरतर वालों के उत्कीर्ण लेखों को निकलवा कर तोड़-फोड़ डाला और अपने लेख लगवा दिए—फिर, जब सिद्ध-राज सोलंकी के समय में खरतरगच्छ को शक्ति प्राप्त हुई तो उन्होंने तपागच्छ वालों के लेखों के टुकड़े-टुकड़े करवा दिए।' इन दोनों प्रमुख मतों में पृथक्त्व चतुर्थ सोलंकी राजा दुर्लभसेन के समय में उत्पन्न हुआ था, जो ११०१ ई० में

गद्दी पर बैठा था। इनमें ऐसी कटुता आ गई थी कि आपस में अनेक गहरी लड़ाइयाँ हुईं और अपने मूल सिद्धान्त एवं पर्वत की पवित्रता को भुला कर उन्होंने इसे अपने रक्त से अपवित्र किया। अणहिलवाड़ा के अजयपाल ने अपने पूर्ववर्ती राजा कुमारपाल के बनवाये हुये सभी मन्दिरों को तुड़वा दिया। कुछ लोग इस कृत्य के मूल में उसके प्रधान मन्त्री की कट्टरता को कारण मानते हैं और दूसरे लोगों का ऐतिहासिक संगति के आधार पर कहना है कि वह ऐसे सिद्धान्तों में विश्वास करने लगा था जो हिन्दू धर्म से सर्वथा विपरीत थे।

हमें इस बात के प्रमाण तो नहीं मिलते कि महमूद गज़नवी इन पवित्र जैन पर्वतों को भी देखने आया था परन्तु यह निश्चित है कि 'खूनी अल्ला' के क्रोध के कारण सभी धर्मावलम्बियों ने अपने-अपने देवताओं को भूगर्भ(गृहों) में छुपा दिया था क्योंकि जिनको नहीं छुपाया गया उनको उन्होंने (मुसलमानों ने) नष्ट कर दिया था। यद्यपि बहुत से (देवताओं की प्रतिमाएं) अब बाहर आ गई हैं परन्तु अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी ही प्राचीन मूर्तियां बच पाई हैं। इसी प्रकार मन्दिर भी नष्ट हुए, केवल वे ही बच पाये जो मसजिदों में परिवर्तित कर दिये गये थे। परिणाम यह है कि आदिनाथ के चौक में दृष्टि घुमाने पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि वहां प्राचीनता का अंश ही नहीं है परन्तु पूरी इमारत को यह श्रेय नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसका बहुत-सा भाग नष्ट-भ्रष्ट और बचे-खुचे हुये हिस्सों पर खड़ा किया गया है, यहां तक कि स्वयं कुमारपाल के मन्दिर में भी निरन्तर टूट-फूट और मरम्मत के कारण हाल ही में धनिक श्रेष्ठी द्वारा पुनर्निर्माण से पहले की प्राचीनता के कोई निशान नहीं मिलते।

यद्यपि आदिनाथ का मन्दिर एक आकर्षक इमारत है परन्तु इसमें आबू के मन्दिरों का-सा स्थापत्य-सौष्ठव बिलकुल नहीं है—न बनावट की दृष्टि से न सामग्री की दृष्टि से। निज-मन्दिर एक चौकोर कक्ष के रूप में बना हुआ है जिस पर गोल छत है, इसी प्रकार सभामण्डप अथवा बाहरी बरामदा भी ऐसी ही छत से ढका हुआ है। देवप्रतिमा बहुत विशाल और सफेद संगमर्मर की बनी हुई है। ऋषभदेव सुपरिचित विचार मुद्रा में पद्मासन लगाए बैठे हैं, उनका चिह्न वृषभ, जिसके कारण उनका प्रसिद्ध नाम वृषभदेव (प्राकृत-ऋषभदेव) पड़ा है, नीचे पीठिका पर उत्कीर्ण है। मुखाकृति में वही गम्भीरता है जो प्रायः जैन तीर्थङ्करों की सभी प्रतिमाओं में पाई जाती है परन्तु तराशे हुए हीरे के नेत्र भावगाम्भीर्य लाने में उसी प्रकार सहायक नहीं हैं जिस प्रकार किसी आधुनिक भक्त द्वारा उत्साह से प्रेरित होकर प्रतिमा की सजावट के लिए बनवाये हुए

अरुचिपूर्ण सुनहरी कड़े और बलेवड़े (कण्ठाभूषण)। सम्पूर्ण वातावरण की गम्भीरता को इस निम्नस्तरीय रुचि के कारण और भी आघात पहुंचा है, जो सम्भवत: फिरंगियों के पड़ौस और देवपट्टण में पुर्तगाली गिरजाघरों को देखने के कारण बढ़ गई है अथवा प्रेरित हुई है। आदिनाथ के मन्दिर को भारी उच्च-बनावट की आकृतियों के सुनहरी चित्रों से सजाया गया है और मोटे चेहरे वाले तथा सुनहरी पंखों वाले देवदूतों के चित्र बनाए गए हैं जैसे इंगलैण्ड के किसी देहाती गिरजाघर में चिह्न-स्वरूप बनाए जाते हैं। और लीजिए, अंग्रेजी दीपकों का झाड़ वेदी को प्रकाशित करता है और पुजारियों को प्रात:कालीन स्तुतिगान के लिए जगाने को लोहे के मुद्गर से जो घण्टा बजाया जाता है वह किसी पुर्तगाली युद्धपोत का घण्टा है, जिस पर उसके बनाने वाले डा कॉस्टा (Da Casta) का नाम मौजूद है। इन बातों से आप इस पवित्र मन्दिर की असंगतियों का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

ड्यौढी पर संगमर्मर की बनी हुई एक बैल की मूर्ति के अतिरिक्त उसी पत्थर की परन्तु छोटी माप की हाथी की मूर्ति भी है जिस पर आदिनाथ की माता मरुदेवी अपने पौत्रों भरत और बाहुबलि को गोद में लिए विराजमान हैं। द्वार पर दो शिलालेख हैं जो महत्वपूर्ण नहीं हैं। एक में लिखा है 'चित्रकूट (चित्तौड़), मेवाड़ के महाजन जोशी ओसवाल बीसा कुमार शाह ने बहादुरशाह गुजरात के बादशाह के समय में इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया; शनिवार संवत् १५७८'। दूसरे लेख में आदिनाथ, उनके मन्दिर की महिमा और जीर्णोद्धार कराने वालों के पुण्य का वर्णन है। चौक में अन्दर जाकर बाएं हाथ की ओर इस धर्म के अनुयायियों के लिए एक विशिष्ट पवित्र स्थान है जहां आदिनाथ 'एक ईश्वर' की उपासना में बैठा करते थे; उस समय इस पर्वत-शिखर पर केवल आकाश का चन्दोवा था और उनका मुख्य आराधना स्थल यही था। एक रायां का पेड़ उस स्थान पर उगा हुआ है और धार्मिक लोगों का दृढ़ विश्वास है कि यह उसी अमर वृक्ष की संतान है जिसकी छाया में आदि जिनेश्वर बैठा करते थे और जो आज भी उनकी पवित्र पादुका पर छाया हुआ है। 'प्रकृति के द्वारा प्रकृतीश्वर' तक पहुंचने के लिए चित्त को एकाग्रता प्रदान करने वाला इससे अधिक उपयुक्त स्थान वे चुन भी नहीं सकते थे।

दृश्य मनोरमा था; यद्यपि स्थल भाग की ओर बादल दृष्टिप्रसार को रोक रहे थे परन्तु सूर्य की एक किरण प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वीय भाग में प्राचीन गोपनाथ और मधुमावती (वर्तमान महुवा) को आलोकित करती हुई समुद्र तक फूट पड़ी थी। पश्चिम में हम को नेमिनाथ के पवित्र पर्वत और गौरवपूर्ण

गिरिनार की झांकी मिल गई थी; परन्तु, उत्तर और पूर्व में हल्का अन्धकार हमें समुद्र तट और बीस मील तक के भू-भाग से आगे देखने में बाधक हो रहा था। हमने पर्वत की तलहटी में नागवती नदी को सूर्य किरणों में चमकते हुए और छोटी-छोटी लहरियों द्वारा क्षार समुद्र की ओर प्रधावित होते हुए देखा, और अन्त में, गहन वृक्षावली में से ऊपर निकलती हुई छतरियों और पूर्वीय झील सहित पालीताना भी प्रकाश की आँख-मिचौनी में कभी कभी अपनी झलक दिखा देता था।

पास ही में आदिनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का भी एक छोटा-सा मन्दिर है जिसको पिता के प्रति भक्तों की आस्था का बहुत-सा भाग प्राप्त हो जाता है, परन्तु भारत में अन्यत्र भी कहीं इस 'मक्काधिपति' का पूजन होता है, ऐसा मैंने नहीं सुना। इससे सम्बद्ध दो अन्य पवित्र पर्वतों के नाम भी हैं—सौर भूमि से बाहर सिन्धु के पार सहसकूट और मगध की राजधानी में समेत शिखर जो अब बंगाल में है। बाहुबल के मन्दिर के पास ही सासन नाम की जैन देवी की छोटी-सी मूर्ति है और ढाल पर ही इस धर्म की दूसरी स्त्री-प्रतिमा वेहोती (Vehoti) माता की है, जिसका यह मन्दिर अणहिलवाड़ा के एक राजसी वणिक् ने बनवाया है, परन्तु इसकी तुलना उसके द्वारा आबू पर बनवाये हुए देवालय से नहीं हो सकती।

चौक में दीवार के सहारे-सहारे अनगिनती कोठरियां बनी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक में कोई-न-कोई प्रतिमा विराजमान है। ये कोठरियां आदिनाथ की चरण सेवा में विभिन्न प्रांतों से आये हुये यात्रियों के लिए एकान्त साधना के काम में आती हैं। मैंने अपनी तिपाई रायां वृक्ष के नीचे रख दी और देखा कि पारा २८.०४' के निशान पर था और तापमापक दोपहर में भी ७२° बता रहा था, पहला यंत्र वही ऊंचाई बता रहा था जो आबू के गणेश मन्दिर की थी और उदयपुर की ऊंची घाटी की भी वही ऊंचाई थी।

मन्दिर में भद्दापन और हीनता लाने वाले बेमेल जहाजी घण्टों, अंग्रेजी दीपकों, देवदूतों और न्यायाधीशों के चित्रों के होते हुये भी यदि कोई दर्शक 'बाबा आदम के टूक' (शिखर) पर से सन्तोष की भावना लिये बिना विदा होता है तो उसे केवल पुरातनता के रंग में डूबा हुआ आवश्यकता से अधिक एकाङ्गीण आलोचक ही माना जायगा; हां, यह बात अवश्य है कि इतिहासज्ञ और कलाकार को सन्तुष्ट करने के लिए वहां बहुत कम सामग्री है। मैंने प्राचीन पाली अथवा अन्य समझ में आने योग्य लेखों को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। मुझे जो प्राचीनतम लेख मिला वह संवत् १३७३ अर्थात्

१३१७ ई० का था अथवा यों कहिए कि 'अल्ला' या नरक के स्वामी 'यम के अवतार' की मृत्यु के बीस वर्ष बाद का वह लेख था। सब ओर प्राचीन काल की टूटी-फूटी इमारतों के ढेर पड़े हुए हैं और इन्हीं में से अतीत की स्मृति बनाए रखने को आधुनिक मन्दिर खड़े किए गए हैं।

अब इस मन्दिर को छोड़ कर हम पर्वत के दूसरे भाग पर चलें जो बड़ौदा के धनी अन्न-व्यापारी के नाम पर 'प्रेम मोदी का टूक' कहलाता है। दौलत की सर्वशक्तिमत्ता का इस से अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि केवल आधी शताब्दी पहले हुए एक साधारण मोदी के नाम ने उस प्रतापी सम्प्रतिराज के नाम को लुप्त कर दिया, जो विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुआ था, जिसकी पवित्रता, महानता और सुरुचि के ऐश्वर्यपूर्ण स्मारक अजमेर और कुम्भलमेर के मन्दिरों के रूप में वर्त्तमान हैं तथा जिस को सभी जैन लोग राजग्रह (Rajgrah) के राजा श्रेणिक (Srinica) के समय से अब तक—अणहिलवाड़ा के स्वामियों को मिला कर भी, अपना महानतम और सर्वश्रेष्ठ राजा मानते रहे हैं। मैं इस तथ्य की सूचना के लिए उन आचार्यों के प्रति, जिनकी कृतियों के विषय में पहले लिख चुका हूं, और स्थानीय परम्पराओं के लिए आभारी हूं, जो मोदी के नाम के साथ सम्प्रति के नाम को जोड़ रही हैं। कुछ भी हो, वह (मोदी) भी प्रशंसा का पात्र अवश्य है क्योंकि उसने केवल गिरे हुए मन्दिरों का जीर्णोद्धार और सजावट करा कर पुजारियों के निर्वाह के लिए धन-राशि ही प्रदान नहीं की अपितु उनको रक्षार्थ चारों ओर व्यूह रचनाकार सुदृढ़ परकोटा भी बनवा दिया है। देवताओं की सुरक्षा का इससे अच्छा प्रबन्ध और कहीं नहीं है; यहां पर आदिनाथ और उनके अनुयायी, यदि उन्हें अपनी जनशक्ति में विश्वास हो तो, सब प्रकार से निर्भय होकर रह सकते हैं।

ये शिखर एक घाटी द्वारा विभाजित हैं जिसमें चट्टान को काट कर एक विशाल सोपान-सरणि ऐसी रीति से बनाई गई है कि लघु-श्वास लक्ष्मी पुत्रों के लिए यह चढ़ाई सुगम से सुगम हो जाय। आधे रास्ते पर आदि बुद्धनाथजी की रूप और आकृतिहीन मूर्ति खड़ी है; इसके पास ही खोरिया माता का तालाब है जिसमें सब रोगों को दूर करने का प्रभाव है। किम्वदन्ती है कि इस महामाया ने तप और पूजा के इस पवित्र स्थान को हथियाने और भ्रष्ट करने वाले दानवों, दैत्यों और सौरों की 'खोर' अथवा हड्डियों को अलग-अलग कर दिया था। उक्त नाम बुद्ध और जिनेश्वर के अवतारों की एकता का एक और प्रमाण उपस्थित करता है और मेरे प्रमाणों के आधार पर 'अद्-बुध' और 'आदिनाथ' अर्थात् आदि बोध और आदि-देव में कोई भेद नहीं है

यद्यपि बहुत से यूरोपवासियों ने इस विषय में अपने-आप कितनी ही उलझनें पैदा करली हैं। वे इन पवित्र पर्वतों की यात्रा करें और इस जलाशय के तट पर बैठ कर प्रचलित रीति से इस मत के आचार्यों से श्रद्धापूर्वक ज्ञानामृत का पान करें।

जल्दी ही हम मोदी द्वारा सफेद संगमर्मर से बनवाये हुए उस मन्दिर में पहुंचे जो यहां पर साधारणतया रत्नघोर (गृह) कहलाता है। इसमें आदिनाथ की संगमर्मर-निर्मित पांच मूर्तियां हैं; कहते हैं कि ये पाण्डव बन्धुओं की मूल कृतियां हैं, जिनमें से प्रत्येक ने एक एक मूर्ति 'आदि जिनेश्वर' को अर्पित की थी और एक छठी मूर्ति, जो नीचे है, माता कुन्ती की आस्था का परिणाम मानी जाती है, जो वनवास काल में उनके साथ इस भूमि पर आई थी। द्वार के पास ही 'पञ्चपाण्डव-निवास' है, जिसके प्रति सभी मतों के यात्री श्रद्धा प्रकट करते हैं। इससे थोड़ी दूर चल कर एक जलाशय है जो जिञ्जूकुण्ड़ कहलाता है।

परकोटे में बने हुए एक दरवाजे से निकल कर हम 'मोदी टूक' से शिवा-सोमजी के टूक पर गए जो अहमदाबाद के एक धनिक नागरिक थे। उनकी पवित्र दानशीलता के फलस्वरूप उनका नाम उस पूजनीय प्रतिमा के साथ जुड़ गया, जिसके मन्दिर का जीर्णोद्धार उन्होंने करवाया था; यह मन्दिर मूलत: विक्रम संवत् की उन्नीसवीं शताव्दी पूर्व का समकालिक था। मूर्ति का नाम चौमुखी आदिनाथ है, जो मुख्य मन्दिर वाली ११ फीट ऊंची मूर्ति से विशालता में किसी प्रकार कम नहीं है। कहते हैं कि इसके एक-एक पत्थर को मारवाड़ की पूर्वीय सीमा पर स्थित मकराणा की खान से यहां लाने में आठ हज़ार पौण्ड व्यय हुआ था; परन्तु, उन्हें इसके लिए इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इससे भी अच्छा संगमर्मर आबू तथा पास ही अरावली पहाड़ में खूब मिलता है। 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' के एक पत्र पर इस कार्य का लेख मिलता है—'संवत् १६७५ सुलतान नसरुद्दीन जहाँगीर सवाई विजय राज्ये और शाहजादा सुल्तान खुसरू व खुर्रम के समय में। शनिवार, बैसाख सुदि १३ (२८ बैसाख) देवराज और उनके परिवार, (जिसके सोमजी और उनकी पत्नी राजुलदेवी थी), ने चतुर्मुख आदिनाथ का मन्दिर बनवाया।' इसके बाद आचार्यों की एक लम्बी सूची है, जो मैंने छोड़ दी है। इसी में 'जिनमाणिक्य सूरि' का नाम आता है, जिनके लिए यह प्रशस्ति है कि उन्होंने अपने धर्म के हेतु प्राप्त प्रथम वरदान के रूप में बादशाह अकबर से यह फरमान प्राप्त किया था कि जहाँ-जहाँ जैन धर्म की मान्यता है वहाँ पशु-बध नहीं होगा। उसके शक्तिशाली साम्राज्य में विभिन्न मतों की धार्मिक मान्यताओं के प्रति इस विवेकपूर्ण समादर-भावना के

कारण ही उस बादशाह को 'जगद्गुरु' की स्पृहणीय पदवी प्राप्त हुई थी और इसी कारण वैष्णव लोग उसे कन्हैया का अवतार मानते थे। उसके अव्यवस्थित चित्त वाले पुत्र जहाँगीर ने भी समय-समय पर इन बातों और अन्य सुविधाओं को सम्पुष्ट किया, यद्यपि इसलाम के सिद्धान्तों से विचलित हो कर वह हिन्दुओं के वेदान्ती मठों में घूमा करता था। एक बार तो उसने अपने राज्य के सभी ओसवाल साधुओं की सुनत कराने की आज्ञा जारी कर दी थी—इस दुर्भाग्य को एक आचार्य की चतुराई ने ही टाला था।[१]

शिवासोमजी की टूक छोड़ कर मैंने एक छोटे-से मन्दिर में आदिनाथ की माता मरुदेवि के दर्शन किये, जिनको उनके पुत्र के दर्शनार्थ आने वाले सभी यात्रियों की श्रद्धा प्राप्त होती है। इसी प्रकार वहाँ एक छोटा-सा मन्दिर सन्तनाथ का भी है; चौबीस जैन तीर्थंकरों में से यही एक हैं जिनकी मूर्ति सिद्धाचल पर भी है और जो प्रथम तीर्थंकर के नाम से पवित्र है। इस नाम में पर्वत के बहुत से पर्यायों में से इस शब्द के प्रयोग (अचल, एक आलंकारिक शब्द है अर्थात् न चलने वाला) और प्रथम जैन तीर्थंकर के अन्य नामों में से इस नाम (सिद्ध) के योग में हमें शैवों के शाश्वत प्रयोग का एक साम्य दिखाई पड़ता है। शिव का एक नाम सिद्धनाथ भी है अर्थात् वे सब सिद्धों के स्वामी हैं। आदिनाथ और आदीश्वर एक ही हैं और आदिनाथ का प्रसिद्ध नाम 'वृषभदेव' 'नन्दिकेश्वर' का पर्याय है जिसका अर्थ है, 'वृषभ का स्वामी'। इसके अनुसार आदिनाथ अथवा वृषभदेव की मूर्ति सदा उनके नीचे उत्कीर्ण चिह्न वृषभ या बैल से पहचानी जाती है; और ईश्वर अथवा शिव को भी नन्दिक से उसी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता जैसे 'मूविस' से 'ओसिरिस' को।[२] सम्भवतः इनका नाक्षत्रिक महात्म्य भी समान ही है, और सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ये भारतीय 'सीरिया', पालीताना में और मध्यसागरीय सीरिया पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) में, सिन्धु और गंगा के तट पर तथा उसी प्रकार नील नदी के किनारे पर समान रूप से पाये जाते हैं और बाल अथवा सौरों या सूर्य-देवता (जिसके नाम और पूजा के कारण दोनों देशों का नाम सीरिया पड़ा) के उपासकों द्वारा पूर्ण भक्ति के साथ वृषभ अथवा लिंग के रूप में पूजे जाते हैं, जिनके विषय में कभी बौद्धों और जैनों का ऐकमत्य था।

इस पर्वत की तीनों टूकों का सामान्य वर्णन करने के बाद अब हमें आदिनाथ के मन्दिर से नीचे उतरना चाहिए। प्रत्येक मन्दिर के पृथक् वर्णन,

---

[१] ये आचार्य युग प्रधान जिनचन्द्र सूरि थे।

[२] देखिए टिप्पणी पृ० ५५।

परम्परा और ऐतिहासिक स्फुट संसूचन के लिए अधिक अवकाश और योग्य मार्गदर्शन में शोध आवश्यक है, जिसकी मैं अपनी इस अल्पकालीन यात्रा के अवसर पर आपको आशा नहीं दिला सकता; परन्तु, मैं अन्य (गवेषकों) को अधिक गहराई से शोध करने का अनुरोध करूँगा और कहूँगा कि उदाहरण के रूप में मैंने जो कुछ किआ है उस पर विचार करें और पता लगाएं कि इन अद्भुत और मनोरञ्जक धर्मावलम्बियों के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त होने पर क्या-क्या परिणाम निकल सकते हैं ?

इस पवित्र अहाते के ठीक उत्तर में, दीवार में बनी हुई खिड़की में होकर हम सब से ऊंचे स्थान से बाहर आए और जल्दी ही मुसलमानी असहिष्णुता के प्रत्यक्ष चिह्न-स्वरूप 'हुंगा पीर' की दरगाह पर पहुँचे। यह पीर कौन था और कब हुआ था, इन बातों को जानने के हमारे प्रयत्न विफल हुए; धर्मान्धता के जनक अज्ञान के कारण चल पड़ी इस किम्वदन्ती के अतिरिक्त कोई जानकारी न मिल सकी कि दिल्ली के बादशाह का भतीजा गोरो वेलम पालीताना में रहता था और उसी ने अपने समय में भीतर और बाहर दोनों मसजिदें और ईदगाहें बनवाई थीं। नीचे दी हुई कहानी के आधार पर हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि 'पीर' किसी 'दीन के दीवाने' विजेता के वंश का था। कहते हैं कि उक्त 'हुंगा' ने अपनी तलवार आदिनाथ के सिर पर चलाई, जिसको वे रोक तो न सके परन्तु आक्रामक को चोट देकर मार डाला।' जब वह जिन (भूत) हो गया तो पुजारियों के पूजा-पाठ में इतने विघ्न करने लगा कि एक वड़ी सभा करके हुंगा के प्रेत को वुलाया गया और पूछा गया कि उस की आत्मा को शान्ति किस प्रकार मिल सकती है ? जवाब मिला कि 'मेरी हड्डियाँ इस पवित्र पर्वत की चोटी पर रखी जावें' और जीवित अवस्था में भूतों को वश में करने वाला हुंगा पीर अब भी वहाँ लेटा हुआ है। हिन्दुओं को ऐसो किम्वदन्तियाँ मिल जाने पर बड़े आनन्द का अनुभव होता है जिनके द्वारा उनके धर्म के प्रति किए गए अपमान में, जिसका अधिक शक्तिपूर्ण प्रतिरोध वे न कर सके हों, कुछ हलकापन आ जाए; अस्तु, इस समय जो दरवेश अपने पीर की दरगाह की देखभाल करते हैं उन्होंने स्थानीय नियमों के पालन को आवश्यक मान रखा है; वे न तो पहाड़ी पर भोजन छूते हैं और न नीचे आ कर ही मांसाहार करते हैं।

ज्यों ही हम नीचे उतरे त्यों ही बहुत दिनों से इकट्ठे हो रहे बादल भी कुछ फुहारें छोड़ कर बिखर गए और हवा ठण्डी हो गई। बॅरोमीटर पहाड़ पर २८° पर था और थर्मामीटर पहाड़ से नीचे आने पर भी ७२° बता रहा था।

पश्चिमी ढाल से घूम कर जैसे ही हम उतरे वैसे ही थोड़ी दूर पर हमें एक हलवाई का पालिया या चबूतरा मिला। कहते हैं कि जब घुमक्कड़ काठियों ने आदिनाथ के पुजारियों को लूट लिया था तो उस हलवाई ने 'पवित्र पर्वत की रक्षा करने के लिए अपना जीवन बेच दिया था।' कुछ आगे चल कर हम कृष्ण की माता देवकी के छः पुत्रों के 'थान' पर आए जिनको भारत के हराड (Herod)[१] कंस ने मार डाला था। इस दुर्भाग्य से केवल कृष्ण ही द्वारका को भाग कर बच सके थे।[२] मन्दिर षट्कोण है और इसमें केवल चबूतरा और स्तम्भ बने हुए हैं। बध किए हुए शिशुओं की मूर्तियां काले पत्थर की हैं। यहीं पर हमें वृद्ध गायक के रूप में एक विदूषक मिला। उसके सिर पर लाल कपड़े की टोपी थी, जिसमें झूठे मोती लगे हुए थे। वह रेशमी चोला पहने हुए था, उसके हाथ में इकतारा और मंजीरे थे और पैरों में घुंघरू वंधे हुए थे। मंजीरों की ताल पर अपने पैरों के घुंघरू झनझनाता हुआ वह पुरातन भाटों द्वारा रचित अपने प्रान्तीय गीत गा रहा था और बीच-बीच में आदिनाथ की महिमा का वर्णन करता जाता था। वह औरों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न और आत्म-गौरवयुक्त दिखाई देता था और बड़े प्रसन्न भाव से घाटी की तलहटी तक हमारे आगे आगे चलता रहा। वहाँ आकर हम लोग विलग हो गए।

अपने डेरों में चलने और पालीताना घूमने से पहले, आइए, इस पवित्र पर्वत की सम्पत्ति के बारे में भी कुछ शब्द कह दें।

आदिनाथ की भौतिक सम्पत्ति का प्रबन्ध अहमदाबाद, बड़ौदा, पट्टण और सूरत आदि प्रमुख नगरों के धनिक भक्तों की एक समिति करती है। ये लोग स्थानीय और पर्यटक गुमाश्तों को नियुक्त करते हैं, जो भक्तों से भेंट ग्रहण करके हिसाब में जमा करते हैं तथा मरम्मत, धूप केसर आदि दैनिक पूजा-सामग्री, बलिमुक्त कबूतरों व पशुओं तथा मन्दिर के पवित्र अहाते में रखी हुई पिंजरा-पोल की वृद्धा गायों के दाने-चारे का खर्च लिखते हैं। वर्तमान स्थानीय प्रबन्धक मेवाड़ का निवासी है। कहते हैं कि मुख्य देवालय का खजाना सोने और

---

[१] हैरॉड गैलिली (Galilee) का बादशाह था उसका समय ४० ई० पू० से ४ ई० पू० तक का माना गया है। वह निरपराध प्राणियों और बच्चों का वध कराने के लिए कुख्यात है।—N.S.E; p. 636.

[२] यहाँ टॉड साहब को भ्रम हो गया है। जन्म के समय तो श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाया गया था और द्वारका तो वे कंस की मृत्यु के बाद जरासंध के आक्रमण के समय गए थे।

जवाहरात से खूब भरा हुआ है और इस शान्तिपूर्ण 'सतयुग' अथवा स्वर्णयुग में शीघ्र ही इसकी और भी वृद्धि हो जायगी। पिछले पचास वर्षों से जिन काठी लुटेरों की टुकड़ियाँ धनी श्रावकों और सामान्य जैन गृहस्थों को अपने इस 'पेलस्टाइन' की यात्रा करने से रोकती थीं उनका अब नाम मात्र शेष रह गया है; अन्यथा पहले ऐसा होता था कि कभी संयोग से ही किसी यात्री को किसी के किले में से इस पवित्र चट्टान की झांकी मात्र लेकर अपनी यात्रा पूरी करनी पड़ती थी और वहां पर मुक्ति-धन चुकाने तक सड़ना पड़ता था। परन्तु यदि आज की तरह ही यह छोटा-सा प्राचीन सौरों का राज्य पैतृक भावना के साथ शासित होता रहा तो अवश्य ही इसके उपजाऊ मैदान, सीरोस (Ceres)[1] के वरदान से, पुन: समृद्ध दिखाई देने लगेंगे और आदिनाथ के यात्रियों को यातना देने वाले लुटेरे कहीं भी दिखाई न देंगे। विशेष मेलों के अवसर पर भारत के प्रत्येक भाग से असंख्य यात्री इस प्रायद्वीप में आते हैं। इन यात्रियों के झुण्डों को 'संघ' कहते हैं और कभी-कभी तो एक एक संघ में बीस-बीस हजार यात्री होते हैं। सामान्यतया कोई धनिक व्यापारी अपने क्षेत्र के यात्रियों का प्रमुख संघपति होता है और अपने निर्धन किन्तु धर्मात्मा धर्मबन्धुओं का इस पवित्र पर्वत की यात्रा में आते-जाते समय का खाने-खर्चे का व्यय अपने पास से देता है—यह एक प्रकार का पुण्य है, जिसका सुफल अवश्य मिलता है। ऐसे ही अवसरों पर आदिनाथ की सम्पत्ति का प्रदर्शन होता है और उसकी वृद्धि भी होती है क्योंकि प्रत्येक यात्री अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ भेंट अवश्य चढ़ाता है। उस समय प्रतिमा पर भारी-भारी सोने की शृंखलाएं और चांदी के बाजूबन्ध चढ़ाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त आदिनाथ की तिजोरी में सोना केतो बह-बह कर आता ही रहता है। हाल ही में, हेमा भाई नामक अहमदाबाद के धनिक व्यापारी ने बड़े-बडे पन्नों (नीलम) से जड़ा हुआ सोने का भारी मुकुट बनवाया है जिसका मूल्य ३५०० पाउण्ड के बराबर आंका जाता है। आदिनाथ के मस्तक पर सदा ही एक मुकुट रहता है, जो अवसर के अनुकूल मूल्य का होता है—जिस समय मैंने दर्शन किए उस समय एक सादा सोने चाँदी का गंगा-जमुनी गोल मुकुट था।

किसी पाश्चात्य फिरंगी यात्रीं के लिए सब से अधिक आकर्षण की बात यह है कि ऐसे सङ्घों के अवसर पर आचार्यों और अन्य जैन विद्वानों के विचारार्थ

---

[1] ग्रीक देवशास्त्र के अनुसार वनस्पति और शस्य की देवता। ऑलिम्पस पर्वत पर उसका निवास माना गया है।

एवं सम्मानार्थ साहित्यिक निधियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ऐसे उत्सवों में कार्तिक की पञ्चमी का उत्सव सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसका नाम 'ज्ञानपञ्चमी' ही 'ज्ञान' का द्योतक है; उस दिन समस्त भारत में जैन ग्रन्थ-भण्डारों के ग्रन्थ गम्भीरतापूर्वक बाहर धूप में निकाले जाते हैं, उनको साफ किया जाता है और फिर उनका पूजन करके वापस रख दिया जाता है। आदिनाथ का ज्ञान-भण्डार एवं भौतिक वस्तु-भण्डार (खजाना) उनकी स्वयं की सुरक्षा में मूर्ति के पास ही अवस्थित है।

पालीताना—शत्रुञ्जय की तलहटी में कुछ मीलों के फेर में समस्त पृथ्वी पवित्र मानी जाती है और 'पल्लि' का निवास तो इस पर्वत से सटा हुआ ही है। 'इस नाम में क्या रहस्य है ?' मैं बहुत दिनों से दृढ़ आशा लिए बैठा था कि जिस भूमि पर पल्लि ने अपने यश और धर्म का प्रसार किया था वहाँ मुझे इस इण्डो-सीथिया की गलाती (Galatae) अथवा केट्टी (Kettae) नामक भ्रमणशील जाति के विषय में चिरप्रतीक्षित सूचना मिलेगी, परन्तु पुरातत्त्वज्ञ पाठक मेरी घोर निराशा का अनुमान लगाएं जब प्रमाण के रूप में मुझे ऐसी शब्द-व्युत्पत्ति बताई गई जो केवल आधारभूत कल्पना को नष्ट करने वाली ही नहीं थी अपितु इतनी भद्दी और अशास्त्रीय थी कि पालीताना, शत्रुञ्जय, आदिनाथ और उनके शिष्यों के विषय में जो मेरा उत्साह था उस पर पानी फेर दिया। मिस्र के 'फिलातीनों' अथवा पूर्व इटली[1] निवासी पेलों (Pales) के साथ कोई साम्य बताने के बजाय मुझे पादलिप्त नामक एक महातान्त्रिक का नाम सुनाया गया, जो अपने निवास-स्थान भृगुकच्छ (जिसको ग्रीक लोग Barygaza कहते थे और जो आजकल भड़ौंच कहलाता है) से आदिनाथ पर्वत तक आकाश मार्ग से यात्राएं किया करता था। इस विद्वान् का यह नाम उड़ान के लिए तैयारी करते समय पैर के तलुओं पर एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करने के कारण पड़ा था। इस प्रकार के माहात्म्य की प्रामाणिकता में विश्वास करने में हम मजबूर हैं। इसी नामकरण को ले लीजिए, विद्वान् आचार्यों ने जो कुछ इसकी व्याख्या

---

[1] एट्रूरिया इटली का एक जिला है, जो आजकल टस्कनी (Tuscany) नाम से विदित है। रोम (Rome) के अभ्युदय से पूर्व यहां ऐसी सुसभ्य जातियां निवास करती थीं जिनकी महान् सभ्यता के चिन्ह पाये जाते हैं। अवश्य ही रोमी सभ्यता पर उनका प्रभाव पड़ा था। कुराई के काम और संगतराशी की कारीगरी से युक्त गुम्बदें तथा फूलदानों पर चित्रकारी और अन्य वर्तनों के कलात्मक नमूने इसके प्रमाण हैं। एट्रुस्कन लोग संगीत कला से भी सुपरिचित थे।—N.S.E. p. 462

की है वह बिलकुल बच्चों की सी और असन्तोषप्रद है। इस कथन से प्रभावित हो कर मैं अपनी मान्यता का बलिदान न करते हुए, यह बात अस्वीकार करने में तनिक भी संकोच न करूंगा कि वृद्ध पादलिप्त और उसके पादलेप ही, भले ही वे कितने ही चमत्कारिक रहे हों, पल्लियों (Pallis) के इस निवासस्थान के नामकरण में मूल कारण थे। पल्लियों ने सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में विचित्र अक्षरों और नगरों के नामों के रूप में अपनी निशानियाँ छोड़ी हैं। मेरी यह भी धारणा है कि यह मध्य एशिया से एक महान् जाति के प्रस्थान का परिणाम है, जो अपने साथ कम से कम उन धार्मिक तत्त्वों को लेकर आई थी, जिनका यहाँ पर बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में विकास हुआ और वे तत्त्व अधिक परिष्कृत रूप में उन्हीं प्रदेशों में मानवता का प्रसार करने के लिए परावृत कर दिए गये (जहाँ से कि वे आये थे)।

पालीताना में प्राचीन युगों के बहुत-से अवशेष हैं। बहुत से देवालय और धार्मिक इमारतें यद्यपि, वहाँ पर हैं, परन्तु कोई भी प्राचीन मन्दिर अथवा इमारत गॉथिक से भी गए बीते इसलामियों के हाथों नहीं बच पाई है। इमारतें अधिकतर कच्चे पत्थर की बनी हुई हैं, जिनकी सतह की पपड़ियाँ सहज ही में उखड़ जाती हैं। इससे बहुत से शिलालेख भी नष्ट हो गये हैं यद्यपि वे प्रायः सुघड़ खड़िया पत्थर अथवा भूरे पत्थर पर ही खोदे गये थे। शहर का विस्तार पहले बहुत अधिक था, गोरी बेलम की बनवाई हुई मसजिद भी पहले शहर के अन्दर ही थी, जो आजकल इसके बाहर है। परन्तु, मेरी बादशाह के भतीजे के विषय में सूचना देने वाले किसी शिलालेख की खोज व्यर्थ गई। इतिहास में हमें किसी भी ऐसे गोरीवंश का पता नहीं चलता जिसका इन प्रदेशों पर कभी राज्य रहा हो अथवा वे दिल्ली-सल्तनत के प्रतिनिधि बन कर यहाँ रहे हों। परन्तु, इस मसजिद तथा पालीताना के अन्य मुसलिम अवशेषों से हिन्दू-स्थापत्य की कला एवं रुचि का ज्ञान अवश्य हो जाता है। यहाँ तक कि 'मम्बार' या मुल्लाँ के चबूतरे के दोनों ओर बने हुए तोरण भी शैव-पवित्रता को धारण किये हुए हैं।

शहर के अन्दर की ओर एक प्राचीन स्मारक अवश्य है; यह एक सार्वजनिक बावड़ी या जलाशय है जो परम्परागत कथाओं के अनुसार सुप्रसिद्ध सदयवत्स और सावलिंगा के प्रेमी-युग्म के नाम से विख्यात है, जिनकी प्रेमगाथा हिन्दुओं की अनेक प्रणयकथाओं में से एक है। इसकी सम्पुष्टि में यदि कोई शिलालेख मिल जाता तो हम इस बावड़ी के निर्माण को कम से कम अट्ठारह शताब्दी पूर्व का अवश्य मान लेते। सदयवत्स तक्षक शालिवाहन का पुत्र था। जिसने हिन्दुस्तान के

सर्वोच्च सम्राट् (विक्रम) को पराजित किया था और जिसका संवत्, जो ईसवीय सन् से छप्पन वर्ष पूर्व का है, अब भी उत्तरी भारत में सुप्रचलित है। किसी समय यह सम्वत् सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित था, बाद में टाक अथवा तक्षक शासक ने विक्रम पर आक्रमण करके नर्मदा के दक्षिण भाग में से उसके शासन को उखाड़ फेंका, अपना सम्वत् शक नाम से प्रचलित किया जो उसके सीथिक अथवा गेटिक उद्गम का एक और अन्यतम प्रमाण है। यदि हम पुरानी गाथाओं पर विश्वास करें तो यह मानना होगा कि इन दोनों शासकों के युद्ध का परिणाम एक समझौते के रूप में हुआ जिसके अनुसार शालिवाहन भारत के प्रायद्वीपीय भाग का स्वामी हो गया और महती विभाजन रेखा बनी हुई नर्मदा का समस्त उत्तरी भाग विक्रम के अधिकार में रहा। आज भी पूर्व भाग अर्थात् दक्षिणी भारत में शक का प्रयोग होता है और अपर भाग में अर्थात् उत्तरी भारत में (विक्रम) संवत् प्रचलित है। परन्तु, अब हम बावड़ी को प्राचीन गाथा पर आते हैं—

कहानी की नायिका सावलिंगा उस समय अपने रूप और गुणों के कारण सर्वत्र प्रशंसा की पात्र बनी हुई थी। वह जैन-धर्म का पालन करती थी और उसके पिता पद्म को उस पर बहुत गर्व एवं सन्तोष था। पद्म उस समय का बहुत धनवान् व्यापारी था। वह गोदावरी के तट पर शालिवाहन की राजधानी पैठान[1] नामक नगर में रहता था। भारत के महान् जंगल, मरुस्थली के सुदूर दक्षिणी भाग में स्थित पारकर (Parkur)[2] नामक नगर के निवासी एक समान-धर्मी और धनी महाजन ने सावलिंगा के माता-पिता से उसकी मांग की थी और उसी के साथ उसकी सगाई हुई थी। उसका भावी पति अपनी माँग को लेने के लिये पैठान आया था। परन्तु, हन्त ! सावलिंगा का हृदय अपने वश में नहीं था; उसने शालिवाहन के पुत्र को देख लिया था; वह उसकी प्रेमिका थी और वह उसका प्रेमी ; उस युवक के वियोग की अपेक्षा वह मृत्यु श्रेयस्कर समझती थी और पारकर के नख़लिस्तान की अपेक्षा वनवास अच्छा मानती थी। अभी उनका प्रेम पवित्र था ; जगन्माता कालिका देवी के मन्दिर में एक ही आचार्य के पास विद्याध्ययन करने वाले इन दोनों शिष्यों के हृदयों में प्रेम का पौधा अनजाने ही पनप गया था। और, वियोग का प्राणघातक दिन आया

---

[1] यही Periplus का Tagara है जहाँ से रोम के बाजारों में मलमलें जाया करती थीं। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यह नाम 'टाकनगर' अथवा 'तक्षकनगर' का ही अपभ्रंश है।

[2] मूल कथा में 'पारा नगर' और 'रूपसी मेहता' नाम लिखे हैं। पारा नगर की स्थिति अन्वेष्य है।

उससे पहले उन्हें यह भी ज्ञात नहीं हुआ था कि अदृश्य रूप में कामदेव उनकी शिक्षा का अधिष्ठाता बन चुका था जिसने एक ऐसा पाठ पढ़ा दिया था कि जिसे पढ़ लेना सुकर था परन्तु आचार्य द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण ज्ञान के बल पर भी भुला देना कठिन था। अन्त में, वह घातक सत्य सामने आ ही गया, और सदयवत्स को उसके भविष्य का निर्णय कालिका माता की वेदी के सामने ही सुना दिया गया, जो उन दोनों की पारस्परिक शपथों की साक्षी थी कि वे एक दूसरे के लिए ही जीवित रहेंगे।

यह निश्चय हुआ कि विवाह के दूसरे दिन प्रातःकाल ही में पारकर का महाजन अपनी नव वधू को लेकर विदा होगा और मरुस्थल के मार्ग में पड़ने वाले सभी सौर-देशस्थ धार्मिक मन्दिरों के दर्शन भी करता हुआ जायगा। सावलिंगा ने किसी प्रकार इस कार्यक्रम की सूचना अपने प्रेमी को पहुँचा दी और अन्तिम मिलन के लिए देवी के मन्दिर का स्थान निश्चित किया जहाँ उन्होंने प्रेम-प्रतिज्ञा की थी। सदयवत्स देवी के मन्दिर में जा छुपा और प्रेम-पगी प्रेमिका भी वहीं जा पहुँची परन्तु देवी को एक स्त्री की यह कर्तव्यच्युति सहन न हुई क्योंकि वह अन्य पुरुष की परिणीता हो चुकी थी, अतः उसने राज-कुमार को गहरी निद्रा में मग्न करके उस योजना को विफल कर दिया—ऐसी गहरी निद्रा में कि सावलिंगा की सभी प्रणय-चेष्टाएं उसे जगाने में असफल रहीं। समय के पर लग गये थे और यह डर सर पर चढ़ा था कि लोग इसे ढूंढ़ लेंगे; साथ ही इस बात का भी दुःख था कि वह अपने प्रेमी को वचन-पूर्ति की सूचना दिए बिना सदा के लिए छोड़ दे। अन्त में, उसे एक ही तरकीब तुरन्त सूझ पड़ी; पान के निचुड़े हुए रस (पीक) से उसने अपने प्रेमी की हथेली पर कुछ लिखा और विदा हो गई। स्पष्ट है कि जब राजकुमार की मोह-निद्रा भंग हुई तो वह बहुत निराश हुआ। उसने भिक्षुक का वेश बनाया, हाथ में दण्ड लिया, कन्धे पर मृगछाला डाली और प्रेमिका की खोज में पैठान का राजमहल छोड़ दिया। पालीताना पहुँच कर वह शहर की पुरानी बावड़ी में मुंह हाथ धोने गया; जब वह स्नान करने लगा तो उसे एक पुर्जा दिखाई दिया जिस पर लिखा था 'कालिका के मन्दिर में ली हुई शपथ याद रखना।' इन अक्षरों का अर्थ समझाने के लिए किसी व्याख्याकार की आवश्यकता न थी; इन्हें प्रेम की आँखें ही पढ़ सकती थीं, और कोई नहीं। शालिवाहन के युवराज का हृदय खुशी से भर गया; उसने तुरन्त ही प्रसन्नता से अपना डण्डा उठाया और आशा और उत्साह के साथ मरुस्थल की ओर पुनः प्रस्थान कर दिया।

पाठकों को कहानी के इतने ही अंश से सन्तोष करना पड़ेगा (क्योंकि

अवशिष्ट भाग मेरी टिप्पणी और स्मृति, दोनों ही से गायब हो गया है) अथवा जीवित इतिहासकारों से परिणाम ज्ञात करने के लिए पालीताना की बावड़ी का आश्रय लेना पड़ेगा क्योंकि यद्यपि सावलिंगा का पुर्ज़ा तो अब इसकी शोभा नहीं बढ़ाता है; परन्तु जब तक यह बावड़ी कायम रहेगी तब तक यह कथा मुँहों-मुंह कही जाती रहेगी। भारत में ऐसे बहुत से कथानक प्रचलित हैं जिनके मूल में कोई-न-कोई ऐतिहासिक वृत्तान्त रहता है, जिससे साधारण कृषक से लेकर राजा तक समान रूप से परिचित होते हैं। परन्तु, मेरी प्राचीन शिलालेखों की खोज व्यर्थ गई—क्रूर तुर्क मेरे सामने था, टूटी-फूटी इमारतों की अन्य सामग्री के साथ उत्कीर्ण लेखों वाले पत्थरों को भी नई इमारतों में काम में लेने की दोनों ही हिन्दू और मुसलमानों की आदत सदा ही भूत के अधिकांश को वर्तमान की आँखों से तब तक ओझल करती रहेगी जब तक कि वह अपने आप समय की वेदी पर बलिदान न हो जायगी अथवा और कोई विध्वंसक उन इमारतों को ध्वस्त करके प्राचीन अवशेषों को प्रकाश में न ले आएगा।

आधुनिक पालीताना का इतिहास अधिक लम्बा नहीं है। यह गोहिलवंश की एक शाखा के अधिकार में उसी समय से चला आ रहा है जब से यह जाति कोई पचीस पीढ़ी पूर्व सौराष्ट्र में आकर बस गई थी। पिछले साठ सत्तर वर्षों में इसकी महिमा और भी बढ़ गई है, कारण कि गायकवाड़ सरकार के निर्दयतापूर्ण अत्याचारों और काठियों के आक्रमणों से जान बचाने के लिए गोड़िया-धार निवासी उस प्रान्त को छोड़ कर यहां आ बसे हैं। वर्तमान शासक का नाम काण्ड (Kanda) भाई है; वे अवस्था में बावन वर्ष के हैं और अच्छी सुप्रसिद्धि का उपभोग कर रहे हैं। उनके छोटे से राज्य में गौरियाधार की टूक सहित पचहत्तर गाँव (कस्बे) थे, परन्तु वे सब—कुछ तो उनके वंश की ज्येष्ठ शाखा के प्रमुख भावनगर के राव से द्वेषपूर्ण वैरभाव के कारण और कुछ काठियों की लूट-खसोट तथा उनके स्वामी गायकवाड़ की लोलुपता के कारण, प्राय: ऊजड़ और दुर्दशाग्रस्त हो गये हैं। सामयिक रीति-रिवाज के अनुसार उनको अपनी सुरक्षा के लिए क्रूर अरबों की एक बड़ी भारी जमात की खातिरदारी करनी पड़ती थी। जब शान्ति का राज्य आरम्भ हुआ तो उन्हें अपने इन रक्षकों से ही महान् भय की आशंका हुई, अत: उनकी भयानक धमकियों से बचने के लिए उन्होंने अपने खर्चे निमित्त चालीस हजार रुपया वार्षिक निश्चित करके यात्री-कर सहित अपनी समस्त जायदाद की आय एक बनिये के गिरवी रख दी और उसने इन आततायी अरबों से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक रकम अदा कर दी। यह प्रणाली कैसे कार्यान्वित होती है, यह समझने के लिए मैं केवल एक दिन के

मुकाम में पर्याप्त तथ्य एकत्रित न कर सका। स्पष्ट है कि ऋणदाता दस वर्ष का ठेका होने के कारण भूमि-सुधार और कृषकों की समृद्धि में रुचि लेता था। परन्तु, यह भय और अत्याचार का राज्य बहुत लम्बे समय तक चला था और अब भी आन्तरिक नीति इतनी अस्थिर है कि उन्हें अभी यह सीखना बाकी है कि उनके निजी हित किस सीमा तक जनहित पर अवलम्बित हैं। पहले गोहिल राजाओं द्वारा लगाया हुआ यात्री-कर स्थिति और यात्रा की दूरी के आधार पर एक रुपये से पाँच रुपये प्रति व्यक्ति तक था किन्तु अब मुझे बताया गया कि वह बिना भेदभाव के एक रुपया कर दिया गया है। परन्तु, यदि यह मान लिया जाय कि सङ्घों में धनवान सदा ही गरीबों का कर चुकाते आये हैं तो इस हिसाब से भी दस से बीस हजार तक की आमद होनी चाहिये और इससे इस नगर की पुनः वृद्धि होनी चाहिये। इस समय आसपास के प्रदेशों में खेतीबाड़ी कम होती है, यद्यपि मध्य भारत की तरह यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है जिसमें चिकनी बुकनी की अधिकता रहती है और जो 'माल' नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके कारण उस भू-भाग का नाम मालवा पड़ा है।

हमें पालीताना से, स्मारक-शिलाओं अथवा 'पालियों' के विषय में कुछ कहे बिना विदा नहीं होना चाहिये। नगर के पश्चिमी द्वार पर एवं अन्य स्थानों पर पवित्र पहाड़ी की तलहटी तक ऐसे पत्थरों के बहुत से समूह लगे हुए हैं। सौराष्ट्र के वीरकाल के स्मारक ये पत्थर उत्तरी भारत के यात्री को चकित किये बिना नहीं रहते, विशेषतः यदि वह राजपूताना में न घूमा हो जहां इन्हें 'जूझार' (पालिया का पर्याय) कहते हैं और जहाँ ये बहुत अधिक संख्या में उन स्थानों का सूचन करते हैं, जहाँ वीरों ने अपने स्वत्वों के लिए जूझते हुए प्राण दे दिये थे। परन्तु, यहाँ जो पत्थर गाड़े गए हैं वे अंग्रेजी चर्च के कब्रिस्तान के समान बहुत मोटे-मोटे हैं। इन छोटे-छोटे पत्थरों पर खुदे हुए संक्षिप्त और सरल इतिहास प्रायः ध्यान देने योग्य होते हैं; यदि उस यात्री को इनसे किसी ऐतिहासिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त करने में सफलता नहीं मिलती है तो भी उसे किसी ऐसी जाति के रीति-रिवाजों और रहन-सहन के बारे में तो उल्लेख मिल ही जाता है, जो उसकी जानकारी से भिन्न (नवीन) होता है। यहां तक कि लेख के अभाव में इन पत्थरों पर सामान्यतया खोदी हुई सन्दर्भमय आकृतियों से भी विनोद के अतिरिक्त बहुत कुछ और मिल जाता है, जैसे उस व्यक्ति का सामाजिक स्तर। उदाहरण के लिए, पास ही के खैरवा गांव में हत व्यक्ति की मूर्ति रथ में दिखाई गई है, जो अपने आप में प्राचीनता की घोषणा कर रही है, क्योंकि युद्धों में रथों का उपयोग बहुत समय पहले ही बन्द हो चुका है।

जैनों, उनकी परम्पराओं, पट्टावली और आधुनिक दशा के विषय में जो थोड़ा-बहुत मुझे कहना है वह गिरिनार के पवित्र पर्वत की यात्रा तक सुरक्षित रख रहा हूँ। इसके पश्चात् भी मेरी टिप्पणी बहुत ही संक्षिप्त और पूर्व पृष्ठों में वर्णित सन्दर्भों से स्वतन्त्र होगी; मेरे मित्र मेजर माइल्स ने इस विषय में बहुत कुछ और बहुत भली प्रकार से प्रकाश डाला है।[1] वे मुझ से बहुत-कुछ अपेक्षा भी रखते हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि बहुत विस्तार से लिखने पर केवल उनकी कही हुई बातों की आवृत्ति मात्र करना होगा। हमारी जानकारी के स्रोत, विचारधारा और निष्कर्षों पर पहुँचने की प्रणाली समान है अतः निश्चय ही नतीजे एक होंगे। इसलिए मैं केवल उन्हीं बिन्दुओं तक अपने विचार सीमित रखूंगा जो उनके अनुसन्धान में पर्याप्त अवधान नहीं प्राप्त कर सके हैं।



[1] देखिए 'ट्रांजेक्शन्स् ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम ३, पृष्ठ ३३५।

प्रकरण १५

गौरियाधार; प्रान्त की रूपरेखा; दम्मनगर; कृषि; आकला; महामारी का प्रकोप; अमरेली; काठी क्षेत्र; काठियों की पुरुषाकृति; सौराष्ट्र प्रान्त का अधिपति; सिंचाई के यन्त्र; ग्रामों के क्षुद्र दृश्य; लुभावनी मृगमरीचिका; देवला; एक काठी सरदार; पूर्वीय और पश्चिमी जातियों के रीतिरिवाजों में समानता; जैसाजी की कथा; एक डाकू का सन्त में परिवर्तन; गढ़िया; काठियों की आदतें; पाण्डवों का शरणस्थल; कुन्ती की कथा; बलदेव की मूर्त्ति; तुलसीशाम; कृष्ण और दैत्य के युद्ध की झांकी; मन्दिर; हमारे मानचित्रों में इस भाग का गलत भूगोल; दोहन; खनिज सूचनायें; कौरवार; इस क्षेत्र के चरवाहे; श्रेष्ठ पशुधन; मूल द्वारका का पवित्र पर्वत; शूद्रपाड़ा; कृषक बस्ती में सुधार; सूर्यमन्दिर; सरस्वती का उद्गम।

गौरियाधार - नवम्बर - हमें इस स्थान तक आने में लगभग सत्रह मील उपजाऊ भूमि का रास्ता तय करना पड़ा—उपजाऊ इस अर्थ में कि यहाँ की मिट्टी उर्वर है, यद्यपि खेतीबाड़ी तो कुछ गाँवों के आस-पास ही होती है। यहाँ के मैदान भी क्रमशः ऊँचे-नीचे हैं; कहीं तो कुछ मीलों की परिधि में ही दृष्टि अवरूद्ध हो जाती हैं और कहीं शत्रुञ्जय पर्वत और दक्षिण की ओर बढ़ती हुई अवर श्रेणियों का दृश्य भी सामने खुल जाता है। इस भू-भाग में वृक्षावली बहुत विरल है; केवल गांवों के आसपास उगे हुए कुछ आमों और नीमों के पेड़ों से आँखों को सुख मिल जाता है और जंगलों में तो बबूल ही बबूल उगे हुए हैं, जो किसी अंश में दृश्य की गम्भीरता की रक्षा कर लेते हैं। पूर्व अध्याय में वर्णित कारणों के अनुसार गौरियाधार में देखने योग्य कुछ भी नहीं है, फिर भी, यह एक मुख्य टूक है और पालीताना के ठाकुर के सम्बन्धी का निवास-स्थान है।

दम्मनगर - नवम्बर १९वीं - यह बारह मील की छोटी-सी यात्रा थी। गायकवाड़ का 'खास' तालुका होने के कारण कृषकों को संरक्षण प्राप्त था, इसलिए यह स्थान अच्छी खेती के लिए प्रसिद्ध था। पहले, यह गोहिलों के अधिकार में था पर बाद में उनसे ले लिया गया और अब तो यह अमरेली विभाग का एक हिस्सा है। प्राचीन काल में इसका कोई हिन्दू नाम था, परन्तु प्रथम दक्षिणी शासक दामोजी ने इसको अपने ही नाम पर नाम और संरक्षण दिया। यह वही दामोजी था जिसने पाटण का कोट बँधवाया था। हमने काले गन्ने के कुछ हरे-भरे खेत देखे और नवीन धान तथा तिल (मीठा तेल) और उपयोगी मूंग के पौधे भी बहुतायत से लहलहा रहे थे। परन्तु, सियालू फसल के ज्वार और

बाजरा के पतले डण्ठल बता रहे थे कि अनियमित वर्षा से गुजरात का प्रायद्वीप भी कम प्रभावित नहीं था। मुझे कपास के कुछ बहुत अच्छे खेत देख कर कृषीय अर्थशास्त्र की यह नई जानकारी प्राप्त हुई कि उन्हीं खेतों में एरण्ड की भी होनहार फसल लहलहा रही थी। मुझे बताया गया कि पानी केवल बीस ही फीट गहरा था, परन्तु गेहूं की सिंचाई के लिए न कुँए थे न अन्य साधन। गोगो छोड़ने के उपरान्त मुझे कोई ऐसे चिह्न भी दिखाई नहीं दिए कि जिनसे सिंचाई होती हो, यद्यपि गेहूं के लिए इससे अच्छी मिट्टी नहीं हो सकती। यह कमी अवश्य ही राजनैतिक कारणों से रही होगी। कसबे के पास होकर छोटा-सा नाला बहता है, जिसमें बड़ी सुन्दर मछलियाँ हैं। ये उत्तर भारत की गोरया मछली जैसी हैं और सफेद (मछली) से बहुत समानता लिए हुए होती हैं।

आकला – नवम्बर २०वीं – हमें डर था कि यदि एक सांस में अमरेली पहुँचे, जो बाईस मील थी, तो हमारे साथी थक जाएँगे इसलिए हमने इस मंजिल के विभाग करने का निश्चय किया; परन्तु, जब मालूम हुआ कि आकला पिछले मुकाम से केवल नौ ही मील था तो कुछ चिढ़-सी हुई। हम अपने डेरे पर प्रातः ८ बजे ही पहुँच गये और उस समय तापमापक ६८° बता रहा था। यह एक सुन्दर झरने के किनारे बसा हुआ छोटा-सा गांव है। इस झरने को सौराष्ट्र राज्य में नदी कहते हैं। मिट्टी, सतह और फसलें कल जैसी ही हैं परन्तु यहां के दृश्य अधिक प्रभावोत्पादक हैं, जिनकी सीमा दोनों ओर गिरिनार और शत्रुञ्जय को स्पर्श करती है। बीच-बीच में कुछ और भी छोटी-छोटी पहाड़ियां आ गई हैं। मैं छोटी-छोटी पहाड़ियों के एक समूह को पार करता हुआ निकला जहां खोड़िया माता का मन्दिर है—यह बड़ी दुर्गम्य यात्रा का स्थान है। कोई भी तपस्वी यहां लम्बे समय तक दुःख भोगे बिना नहीं रह सकता। उसके शरीर और श्रद्धा में कितनी भी दृढ़ता क्यों न हो, इस महामारी के स्थान में दुःख सहन करता हुआ कोई अधिक से अधिक तीन महीने का समय निकाल ले तो निकाल ले, इससे अधिक सम्भव नहीं है। हां, लोगों का कहना है कि हर दूसरे या तीसरे वर्ष अपने-आप आग लग कर पूरा जंगल का जंगल भस्म हो जाता है और यों यहां की हवा शुद्ध हो जाती है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह कोई भूगर्भीय अग्नि है, जो समय-समय पर भड़क उठती है और वायु-मण्डल में भी गंधक का मेल तो बना ही रहता है। सौती या साती (Soutee) नामक छोटा-सा गांव यहां से तीन मील की दूरी पर है।

अमरेली – नवम्बर २१वीं – तेरह मील। सड़कें उत्तम और मिट्टी के प्राकृतिक रूप में उपजाऊ होने का जवाब नहीं। प्रायद्वीप में अब तक देखी हुई सभी

फसलों से यहां की फसल भी बढ़िया है। सात मील तक लगातार गेहूँ के पौधे भरपूर लहलहा रहे थे और तिल भी कम नहीं था, परन्तु चना कुछ कमज़ोर था। गाँवों की दशा बहुत गरीब दिखाई देती थी और वहां की मिट्टी की दीवारें काठियों से बचाव करने के लिए पर्याप्त नहीं थीं।

पास पहुँचने पर अमरेली का क़स्बा आकर्षक लगा। इसके चारों ओर पक्का परकोटा है, जिसमें जगह-जगह बड़ी-बड़ी गोल बुर्जें बनी हुई हैं। परकोटे के भीतर कोई दो हजार घरों की बस्ती होगी और यह उत्तरी मुख की ओर एक छोटे-से नाले से घिरा हुआ है। यहां पर प्रान्तीय शासक (गवर्नर) रहता है और 'खास' होने के कारण यह पांच जिलों का मुख्य शहर है, इसीलिए इसकी दशा सम्पन्न है। जब से ब्रिटिश सरकार ने इस प्रायद्वीप के करद सामन्तों को संरक्षण दिया है तब से तो यहाँ और भी अधिक सुधार हो गया है। विशाल गिरिनार की सूच्याकार आकृति स्पष्ट होती जा रही थी और थोड़ी ऊंचाई पर चढ़ कर देखने से तो इसके सभी शिखर, जो इसे शत्रुञ्जय से सम्बद्ध करते हैं, हमारे बाईं ओर एक अर्द्ध-गोलाकार में दौड़ते हुए से दिखाई पड़ते थे।

अब हम काठी क्षेत्र के बीचोंबीच आ पहुँचे हैं, जो गोहिलों की भूमि से घाघरा नदी द्वारा विभाजित होता है। आज प्रातःकाल ही, मैं एक ठेठ काठी पुरुष को देख कर कृतार्थ हो गया। वह अपने गेहूँ के खेतों की रक्षा के लिए जा रहा था, जिनकी बड़ी मेहनत से सिंचाई की गई थी और जो उसकी देह के समान ही एक विशुद्ध प्राकृतिक उपज के नमूने थे। उसकी पुरुषाकृति, खुला हुआ चेहरा और स्वतंत्र चाल देख कर पीछे छोड़े हुए क्षेत्रों के तथा गङ्गातटीय भारत के चिन्ताग्रस्त किसानों से उसमें स्पष्ट भिन्नता पाई जाती थी। उसकी निगाहों से मालूम होता था कि वह खेत उसी का था और उपज का लगान (दशमांश) वसूल करने में उस पर दबाव की अपेक्षा सौहार्द अधिक प्रभावशील हो सकता था। सभी बातें क़ायदे की थीं; बैल बड़े-बड़े और सुपुष्ट; विशेष प्रकार की पोशाक पहने हुए सभी काठी हलवाहों ने हमारा हृदय से अभिवादन किया और हमारे प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर दिये। वे सीधे खड़े रहते थे और मानो यह जताते थे कि मानव जाति में उनका भी कोई महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रत्येक काठी में यद्यपि पूर्ण राजपूती शौर्य और गर्व भरा है परन्तु इतनी ही असमानता है कि वह 'हल की पूजा करता है'; फिर भी, जब वह अपने औजार (यन्त्र) को हाथ में लेता है तो उतनी ही समझदारी और शान से लेता

है जितनी तत्परता से कि वह सिनसिनाटस (Cincinnatus)[1] की भूमिका अदा करने को तलवार हाथ में लेने के लिए तैयार रहता है। अपना दैनिक कार्य आरम्भ करने से पूर्व वह तलवार को हल की लकीर में दृढ़ता से गाड़ देता है मानों यह कहने को कि 'या तो यह खेत में रहे अथवा खेत धनी के पास।' अनवरत संघर्ष से जीवन को एकाकी शान्ति में बदलने के कारण परस्पर विरोधी भाव उसके मन में अवश्य उठते होंगे; और, इन लोगों को पुराने वैरियों एवं उत्पीड़क स्वामियों से घिरे देख कर इनकी सैनिक तथा श्रमिक प्रवृत्तियों में अलगाव से मुझे भी खेद होता है, परन्तु मैं चाहता हूँ कि अत्याचार का डट कर मुकाबला करने को तैयार रहते हुए भी ये शान्ति के वरदान का आदर करना सीखें और जब तक इनके अधिकार सुरक्षित हैं तब तक, हमें आशा है कि, इनकी गैर-कानूनी प्रवृत्तियों पर, (उनके) उस ऊंचे अदम्य उत्साह को बिना भंग किए भी, नियन्त्रण रखा जा सकता हैं, जिसके बल पर इनकी मानसिक स्वतंत्रता सिकन्दर के समय से अब तक टिकी चली आ रही है।

तीसरे पहर प्रान्त का सूबेदार गोविन्दराव हमसे मिलने आया। थोड़ी देर बातचीत करके हम साथ-साथ शहर देखने निकले और बाद में उसके निवास-स्थान तक भी गये। अमरेली का मुख्य बाजार अच्छा लम्बा-चौड़ा और श्रमिक आबादी से आकीर्ण है। बीच में एक चौक है जहाँ से गलियाँ फूटती हैं। भीतरी घेरे के उत्तर-पश्चिमी कोने पर एक शस्त्रागार है, जो यद्यपि अधिक बड़ा नहीं है परन्तु मजबूत है। यह दामोजी के शासनकाल में बना था। इसके सामने ही एक अच्छे परकोटे वाला चौक है, जिसमें खपरैल की छत के नीचे गायकवाड़ का तोपखाना लगा हुआ है। ज्यों ही हम गवर्नर (सूबेदार) के निवास-स्थान में प्रविष्ट हुए, पाँच तोपों की सलामी दागी गई। मेरी समझ में, सौराष्ट्र के सूबेदार के निवास में प्रवेश करने से अधिक आश्चर्योत्पादक कोई बात किसी यूरोपीय यात्री के लिए नहीं हो सकती, विशेषतः जब कि वह अपने देश से नया ही आया हुआ हो। हम लोग एक बड़े दीवानखाने में गये जो पचास फीट लम्बा, बीस फीट चौड़ा और इससे कुछ अधिक ऊँचा होगा; इसके दोनों ओर छः छः खम्भे थे जो मेहराबों

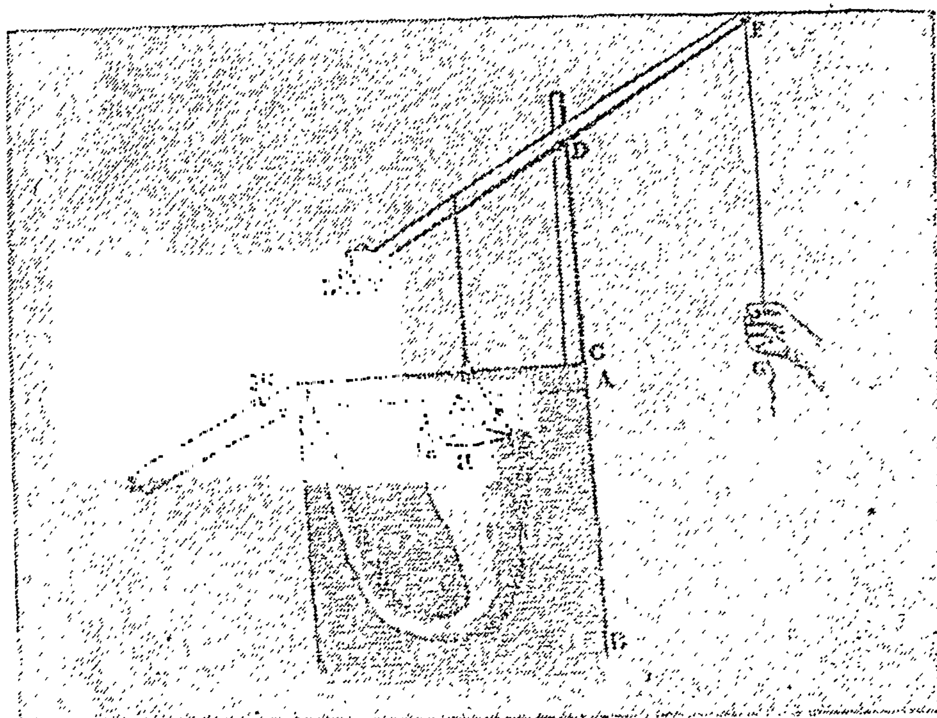
---

[1] Cincinnatus (सिनसिनाटस) एक रोमन वीर था। ई० पू० ४६० में वह अपने पद से निवृत्त होकर खेतों में काम करने चला गया था। ई० पू० ४५८ में जब रोम पर आक्रमण हुआ तो उसे खेत छोड़ कर शासक बनने के लिए बुलाया गया। उसने शत्रु को परास्त किया और पुनः खेत को लौट गया। ई० पू० ४३९ में अस्सी वर्ष की अवस्था में एक बार फिर वह डिक्टेटर बना, परन्तु उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई।—N.S.E; p. 258

से सम्बद्ध थे; छत पर सुरुचिपूर्ण कोरनिस की सजावट हो रही थी और चार चमकदार कटे हुए काच के झाड़ लटक रहे थे; बीच-बीच में गोल दीपक की हाँडियाँ भी पंक्तिबद्ध आलम्बित थीं। इस विशाल हाल के चारों ओर पूरे बीस फीट चौड़ा एक बरामदा था जिसकी रंगीन लकड़ी की बनी हुई ढालू छत से भी ऐसे ही दीपकों की पंक्तियां लटक रही थीं। दीवानखाने के ऊपरी हिस्से में हम लोगों के लिए कुर्सियाँ लगी हुई थीं। ठीक सामने ही एक फव्वारा पूरी रफ़्तार से चल रहा था, जिसके ओस-सदृश चमकदार माध्यम से हमने प्रकाशमान आतिशबाजी देखी जो विशाल आँगन में जलाई जा रही थी। स्पष्ट है कि इस जंगली क्षेत्र में 'सहस्त्र-रजनी-चरित्र' के से दृश्य देख कर हुआ आश्चर्य थोड़ा नहीं था क्योंकि कुछ ही वर्षों पहले यहाँ दलदली लुटेरों के घोड़ों की टापों अथवा धाड़े की सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ सुनाई ही नहीं देता था। हम अपने मेजमान के साथ पूरे एक घण्टे तक विनोदपूर्ण बातें करते हुए बैठे रहे; वह सभ्य, सलीकेवाला और समझदार आदमी था। इसके अनन्तर, हमारे इत्र लगा कर गुलाबजल छिड़का गया और सुवासित पान के बीड़े पेश किये गये, जिनको खाना या न खाना हमारी इच्छा पर छोड़ दिया गया था।

देवला – नवम्बर २३ वीं — हमारे दस कोस के अनुमान के विरुद्ध यह पूरे सत्ताईस मील की बड़ी लम्बी और साथियों को थका देने वाली मंज़िल निकली। हम ठहरने के मुकाम पर पहुँचे उससे पहिले ही सूर्य आकाश के मध्य में चढ़ चुका था और हम यह जान कर और भी परेशान हुए कि तुलसीशाम, जिसके कारण गिरनार का सीधा मार्ग छोड़ कर हम इस रास्ते आयें थे, यहां से अभी छः के बजाय दस कोस था; और तुर्रा यह कि मार्ग टेढ़ामेढ़ा और पहाड़ों में होकर जाता था इसलिए हमें इसे दो मंजिलों में बांटना पड़ेगा। इसकी तो कोई परवाह न थी, परन्तु समय निकला जा रहा था और वे लोग बहुत दूर बैठे थे जो यह समझे हुए थे कि मैं गहरे समुद्र पर चल रहा हूँ जब कि मैं अभी यहां काठियावाड़ के जंगलों में ही मंजिलें तय कर रहा था।

आज प्रातः दस बजे तक हवा प्रसन्नता और ताज़गी देने वाली थी परन्तु हमारे डेरे तक पहुँचते-पहुँचते थर्मामीटर ९०° तक जा चुका था। इस क्षेत्र में खेतीबाड़ी खूब है और सिंचाई के लिए चमड़े का चड़स, जिसको चलाने के लिए एक ही आदमी काफ़ी है, सर्वत्र प्रचलित है। उद्योग के सभी यन्त्रों के समान इस प्रान्त में इस चड़स की बनावट और उपयोग भी अत्यन्त सरल है। यद्यपि समस्त भारत में कुछ ऐसे ही चड़स काम में लाये जाते हैं परन्तु हू-ब-हू ऐसा ही तो मेरे देखने में और कहीं नहीं आया। मैं यहां इसका एक खाका दे रहा हूँ—



AB. कुआ

CD. कुए के सिरे पर खड़ा लट्ठा

EF. आड़ा डण्डा जो D बिन्दु पर झुकता है और ऊंचा होता है

E. मिट्टी का लौंदा या भारी पत्थर जो H चड़स को पानी में डुबोता है

FG. रस्सी, जिसके द्वारा किसान चड़स को डुबोता है और ऊंचा उठाता है

IH. चमड़े का लचकीला [सूंडया] चड़स जिसके दोनों मुंह खुले होते हैं। चौड़े मुँह का व्यास करीब १५ इंच होता है; यह लोहे के गोल चक्कर [माँडळ—मंडल] के सहारे खुला रहता है जिसमें abcd लोहे के दो आड़े डंडे भी लगे रहते हैं।

KI. चड़स की सूंड को कायम रखने का तस्मा

KL. पानी की नाली (ढांणा)

जब चड़स भर जाता है तो E.D.F डंडा खींच लिया जाता है, इससे चड़स किसान के पास आ जाता है, फिर KI तस्मे पर झोला देने से इसका मुँह ढांणे में आ जाता है, जहां यह स्थायी रूप से अटका रहता है। चौड़े मुँह को तब तक ऊंचा उठाये रहते हैं जब तक कि पूरा पानी खाली न हो जाये, और फिर पुन: भरने के लिए नीचे उतार देते हैं।

जहां पानी की सतह नजदीक है वहां बागों और पौधघरों को सींचने के लिए इस यंत्र के उपयोग को सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। कोटा के

महान् कृषक जालिमसिंह ने, जो उपयोगी और कमखर्च चीजों की तलाश में कभी नहीं चूकता, इसी की नकल कर डाली है।

अमरेली से आठ मील दूर हमने शत्रुंज नदी की मुख्य शाखा को पार किया जिसका उद्गम गिरनार की दक्षिणी पहाड़ियों में है और जो इस प्रायद्वीप में मेरी देखी हुई नदियों में सब से बड़ी है। गांव तो बहुत थे, परन्तु उनमें बस्ती हल्की थी। इन गांवों में और गुजरात के गांवों में, जहां व्यापार और खेतीबाड़ी मिले हुए धन्धे हैं, रात दिन का अन्तर है। यहां अमरेली जैसे कसबों को छोड़ कर कहीं व्यापार का नाम भी नहीं है। आज का रास्ता दक्षिण की ओर था, गिरनार दाएं और शत्रुञ्जय वाएं, प्रायः समान ही दूरी पर; और उनकी नीची पहाड़ियां तो प्रायः इधर-उधर थीं ही। प्रातःकालीन प्रकाश में चमकती हुई मरीचिका में होकर देखने पर इनकी शोभा और भी बढ़ जाती थी जब कि उन पवित्र पर्वतों द्वारा ग्रहण की हुई तरङ्गायमान और निरन्तर परिवर्तनशील आकृतियां आंखों के सामने छाया-चित्र से उपस्थित कर रही थीं। पहले तो एक घना काला स्तम्भ गिरनार पर्वत पर टिका हुआ दिखाई दिया, फिर वह धीरे-धीरे आदिनाथ के निवास शत्रुंजय तक फैलता चला गया। यह एक मोटी, स्पष्ट दौड़ती हुई-सी रेखा थी जो प्रायः दृष्टिवृत्त की आधी परिधि में लिपट-सी गई थी। इस घोर अन्धकारपूर्ण वाष्प-समूह ने तुरन्त ही दोनों पर्वतों के बीच की जगह को भर दिया; यह दृश्य उत्तर की ओर के पारदर्शक माध्यम से सर्वथा भिन्न था जिसमें होकर अमरेली की मीनारें स्पष्ट दिखाई दे रही थीं; इस दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर उनकी ऊँचाई, नीची स्थिति होने पर भी, बहुत बढ़ी हुई सी लगती थी और ऐसा प्रतीत होता था मानो वे सुदूर सिहोर के पर्वत-शृंगों से जा मिली हैं। शत्रुञ्जय का दृश्य प्रतिक्षण वदल रहा था। एक काली, भद्दी और विषम किनारों वाली आकृति से यह स्तम्भाकार वन गया, फिर अपनी मूल आकृति में बदल गया और कुछ ही क्षणों में दूसरा वेश ग्रहण कर लिया—एक विशाल पर्वत-खण्ड, जिसकी वगलें स्पष्ट टूटी हुईं, नीची संयोजक श्रेणी के कुछ भाग ऊँचे उठ गये और वड़ा तथा ऊँचा खण्ड दब गया। सब से अधिक आकर्षक दृश्य तो उस समय उपस्थित हुआ जब कि समुद्र-तल से उठ कर सूर्य की ऊर्ध्वगामी किरणों ने पर्वत के समस्त विस्तार को आलोकित कर दिया—ऐसा प्रतीत हुआ मानो अन्तरिक्षीय अन्धकार में तरल अग्नि की एक झील लहरें ले रही हो। धीरे-धीरे प्रकाश ने धुंध पर विजय प्राप्त की और इसके मण्डल ने अपना ऊपरी छोर पर्वत के समतल भाग से भी ऊपर जा टिकाया, जो प्रत्यक्ष ही अंधेरी रात में तोप का झपाका-जैसा मालूम पड़ रहा था। ज्यों-ज्यों

प्रकाश की शक्ति बढ़ती गई, धुंध की शृंखला टूटती चली गई और अन्त में यह विचित्र एवं रहस्यमय आकृतियों में विभक्त हो कर अनस्तित्व में विलीन हो गई। मैंने ऐसे ही और इस से भी बढ़ कर दो दृश्य और देखे हैं—एक मरुस्थल के उत्तर में हिसार नामक स्थान पर और दूसरा कोटा में, जिनका वर्णन मैंने अन्यत्र[1] किया है।

हमने ज़ैर (Jair) गांव की पहाड़ी पर चढ़ाई शुरू की, जो दोनों पवित्र पर्वतों की संयोजक शृंखला है। थूर एवं खजूर से ढँकी हुई इस पांच मील ऊँची भूमि को पार कर के हम अपने ठहरने के स्थान, देवला ग्राम में पहुँचे जिसका, वहाँ के ठाकुर के अतिरिक्त, कोई महत्त्व नहीं था। अब भी उस के गढ़ के चारों ओर छोटा मिट्टी का परकोटा है जिसमें बुर्जें भी हैं और इसके स्वामी को इस पर उतना ही गर्व है जितना कि लुई चौदहवें को अपने किले लिले (Lille)[2] पर था। एक स्वच्छ पानी के छोटे पहाड़ी नाले पर देवला की सरहद पूरी हो जाती है; यहाँ के जो थोड़े-बहुत निवासी हैं वे कुनबी और कोली जातियों के हैं तथा उनका ठाकुर भी काठी है जिससे हमने तीसरे पहर भेंट की।

जेसा, अथवा अधिक आदरसूचक रूप में जेसाजी, अपनी जाति का एक अच्छा नमूना है। उन्होंने अपनी अवस्था पचास वर्ष की बताई परन्तु यदि वह अपनी दाढ़ी के अधकटे बाल, जो एक सप्ताह से बढ़ रहे थे, और काली मूँछें कटा कर चेहरा साफ करा लें तो उनकी इस अवस्था में सहज ही पाँच वर्ष की कमी नजर आने लगे। कुछ देर आराम से बैठ कर वाणी की पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करते हुए सच्चे काठी की तरह वह बेरोकटोक बातें करते रहे; तभी मैंने यह पूछ कर बातचीत के सिलसिले को उनके विगत जीवन के विषय में मोड़ दिया, 'क्या आपने इस एकान्त निवास-स्थान को छोड़ कर कभी अपने सम्मानपूर्ण शस्त्रों के उपयोग का व्यवसाय नहीं किया ?' तब उस दलदल के अश्वारोही ने बड़ी उदासीनता से उत्तर दिया, 'बहुत थोड़ा, भावनगर, पाटण और झालावाड़ से आगे कभी नहीं।' यदि पाठक मानचित्र देखें तो पता चलेगा कि जेसाजी के

---

[1] एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ़ राजस्थान, वॉल्यूम १, पृ० ७६८।

[2] यह दुर्ग फ्रांस की राजधानी पेरिस के उत्तर में १५५ मील की रेलवे दूरी पर स्थित है। स्पेन के फिलिप चतुर्थ की मृत्यु के बाद लुई चौदहवें ने लिले के क़िले पर १६६७ ई० में अधिकार कर लिया था। इसका 'पेरिस-गेट' दरवाज़ा १६८२ ई० में उसी के सम्मान में फ्लैण्डर्स-विजय के उपरान्त बनाया गया था।—E. B., Vol. XIV; pp. 641-42

तीन बिन्दु एक त्रिकोण बनाते हैं जो प्रायद्वीप के पूर्वीय, दक्षिणी और पश्चिमी सुदूर भागों तक फैला हुआ है और यदि किसी भी दिशा में वह थोड़ा भी आगे निकले तो घोड़ा और घुड़सवार दोनों ही समुद्र में जा पहुँचें। थोड़ा और बढ़ावा दे कर यह पूछने पर कि यह क्षेत्र तो बहुत सीमित है, क्या कभी उत्तरी भाग में प्रयत्न नहीं किया गया ? तो उन्होंने उसी सादगी के ढंग और व्यङ्ग्यात्मक लहजे में उत्तर दिया—'क्यों, मैंने अहमदाबाद की पोळ तक में अपना भाला जा टेका है ।' बस, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं पूछना था। देवला के ठाकुर जेसाजी और उसके एक दर्जन साथियों ने, जिनकी भूमि एक अच्छी सी विशाल जायदाद से अधिक नहीं थी, गुजरात की राजधानी का मानभंग कर दिया था। अध्ययन के समय मेरे मस्तिष्क पर स्थिर प्रभाव डालने वाला रूपक, जिसे इन दृश्यों ने जन्म दिया था, मुझे याद आ गया—वह था आदिम जातियों द्वारा उत्तरी इटली की लूट। जेसा काठी की विशेष प्रकार की मूर्ति की समानता लाङ्गोवार्ड जातीय अल्बोइन (Longobard Alboin)[1] से की जा सकती है जो उसकी सफल शक्ति का प्रमाण उपस्थित करती थी।

एलबोइन की जाति का ही एक अन्य व्यक्ति भी इसी उपमा के लिए और इसी उद्देश्य के लिए हमारे सामने है। जब ज़ार-साम्राज्य के संस्थापक रूरिक (Rurik) का उत्तराधिकारी पहली बार अस्सी हज़ार सेना ले कर बोरिस्थिनीज़ (Borysthenes) को पार कर के राजधानी पर (जो अब तक भी आकांक्षा का स्थल बनी हुई है) हमला कर के गया तो नगर की पराजय और अपनी विजय के चिन्ह-स्वरूप 'उसने बाइजेण्टिअम (Byzantium) के दरवाजे पर अपनी ढाल कीलों से जड़वा दी थी तथा वहाँ के बादशाह को उसने एक संधि करने के लिए विवश कर दिया था, जिसमें विजेता के वाराञ्जिअन (Varangian) रक्षकों ने अपने शस्त्रों और ढालों की शपथ ली थी।' इस कथा से हमें केवल विजय के वृत्तान्त का आलंकारिक साम्य ही नहीं ज्ञात होता वरन् शपथ लेने का एक विशेष प्रकार भी सूचित होता है जो स्वरूप में विशुद्ध राजपूती है और साधारणतया जंगल के निवासी प्रत्येक काठी के मुँह से सुनने को मिलता है। परन्तु,

---

[1] Longobard (अथवा Long beard—लम्बी दाढ़ी वालों की) जाति एल्ब Elbe नदी के तटीय उपजाऊ मैदानों में रहती थी। इस शब्द का इटालिअन रूपान्तर Lombard है। इनके बादशाह Alboin (एल्बोइन) ने ५६८ ई० में इटली पर आक्रमण कर के लूट-पाट की थी। ५७३ ई० में वेरोना (Verona) नामक स्थान पर उसकी हत्या कर दी गई।—E.B., Vol. XIV; p. 813.

लॉङ्गोबार्ड अलबोइन (Longobardic Alboin) और वाराञ्जिअन ज़ार (Varangian Czar) दोनों ही नॉरमन (Norman) थे जिस जाति के लोगों ने वेज़र (Weser)[1] और एल्ब (Elbe)[2] के मुँहानों को आबाद कर रखा था और स्कैण्डिनेविया (Scandinavia) के प्रारम्भिक इतिहासकारों ने भी जिनको एशी अथवा एशियाई कह कर उनकी भिन्नता प्रकट की है। प्रतिदिन ऐसे प्रमाण मिल रहे हैं कि कोई आदिकालीन भाषा ट्यूटॉनिक (Teutonic) से जिसका पृथक्त्व बताने के लिए इण्डो-जरमनिक (Indo-Germanic) संज्ञा दी गई है उससे बहुत अधिक मिलीजुली है और उनकी प्राचीन मान्यताएं एवं रीति-रिवाज़ भी समान हैं। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि आज इन देशों के निवासियों के देश, रंग, धर्म और रहन-सहन में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है फिर भी यह असम्भव नहीं है कि एल्ब के काठी और सिकन्दर का सामना करने वाले काठी के पूर्वज मध्य एशिया के किसी एक ही क्षेत्र से निकल कर विभिन्न स्थानों को चले गए हों।

परन्तु, अब हम मार्ग में आने वाले मनोरञ्जक उदाहरणों के आधार पर वर्तमान रंगढंग की रूप-रेखा बनाते हुए आगे चलें और पुनः जेसाजी से मिलें। आजकल की अधम शान्ति के दिन उनकी पैदा के लिए घातक सिद्ध हुए हैं और उनके मस्तिष्क की गति किसी भी दूर के धाड़े में तलवार हाथ में होने पर गिरफ्तार कर लिए जाने की अस्पष्ट आशंका से रुद्ध हो गई है; इसका मज़ा उन्हें पहले मिल चुका है जैसा कि उन्होंने हमारे सामने अपनी सहज सरलता के साथ वर्णन किया है। उनकी घुड़सवारी की शान अब गढ़ के आसपास के खेतों में काम करने वाले कृषकों की देखभाल करने तक ही सीमित रह गई है और केवल इसी पर उनके गुजारे की आशा टिकी हुई है। हां, तो उनकी कहानी इस प्रकार है—अपने अनियमित धन्धे के अतिरिक्त जेसाजी ने गोंडल के चार गांवों पर अपना ग्रास[3] कायम कर लिया था; और इस विषय में यह एक सबक़ था

---

[1] जर्मनी की एक नदी जो मिण्डेन (Minden) नामक स्थान पर फुल्दा (Fulda) और वेरा (Wera) नामक नदियों के मिलने से बनती है और ३०० मील उत्तर में बह कर उत्तरी समुद्र में गिरती है।

[2] यूरोप की प्रसिद्ध नदी जो बोहेमियां के पहाड़ों से निकल कर ७२५ मील का मार्ग पूरा कर के उत्तरी समुद्र में मिलती है।

[3] ग्रास या गिरास उस लगान या कर वसूल करने के अधिकार को कहते हैं, जो किसी सरदार द्वारा धौंस जमा कर किसी गांव से या व्यापार-मार्ग से वसूल किया जाता था।

—Asiatic Studies I, Lyall; p. 181

जो उनके भले अपग्राहक ने ऐसा पढ़ा दिया था कि जिससे उन पर पहला प्रभाव जमाने में धोखा नहीं हुआ। लगान की, अथवा लूट की कहिये, अन्तिम 'किश्त' की कौड़ियां कमरबन्ध में बांधे वे चुपचाप अपने पहाड़ी निवास को लौट रहे थे कि उन्हें घेर लिया गया, पूरे सफर की साथिन घोड़ी से उतार दिया गया और बुरी तरह बांध कर गोंडल के किले में डाल दिया गया। परन्तु, जेसाजी की बुद्धि ने साथ न छोड़ा; नये घर के किसी भाग से निकाली हुई एक कील उनकी बेड़ियां खोलने का औज़ार बन गयी और आधी रात का मौका देख कर गर्दन टूट जाने तक की जोखिम उठाते हुए वे जेल की दीवार से कूद पड़े। भाग्य से कोई चोट न आई और कुछ ही घण्टों में वे सही सलामत एक काठी गांव में जा पहुंचे। कहानी का उपसंहार करते हुए उन्होंने अपनी घोड़ी को रख लेने पर रोष प्रकट किया; उनके समझ में नहीं आ रहा था कि वे किस क़ायदे से उस घोड़ी को रख सकते थे और उनसे कौड़ियां छीन सकते थे, जो उन्होंने अपनी तलवार के बल पर, बहुत दिनों से अमल में आने के कारण अपने मूल अधिकार के आधार पर वसूल की थीं ? जेसाजी की आकृति देखते हुए उनका यह कथन ठीक मालूम पड़ता था कि 'मैंने लोगों को चिथड़े छोड़ने के लिए डराया ज़रूर, परन्तु कभी खून नहीं बहाया।' दस्यु की भाषा में चिथड़े के अन्तर्गत साफ़ा, पगड़ी और ऐसी ही चीज़ें अथवा 'कोई भावनगर की गाय, भैस या घोड़ा-घोड़ी जो भी रास्ते में मिल जाय' आते हैं। इस पुराने दस्यु ने पाटण तक इन पहाड़ियों में हमारा मार्ग-दर्शक बनना स्वीकार कर लिया है और कहता है कि हर पहाड़ी क्या, इसका एक-एक पत्थर उससे छुपा नहीं है; इसमें कोई सन्देह की बात भी नहीं है। बिछुड़ने से पहले शायद कुछ और कहानियां भी सुनने को मिलेंगी।

इस प्रायद्वीप के घुमन्तू लोगों के रीतिरिवाजों के बारे में उदाहरण के लिए एक और भी घटना का वर्णन कर दूँ। जब हम कल की यात्रा में उधर से निकले तो एक ब्राह्मण हमें चरूरी के काठी सरदार के यज्ञ में ले जाने लगा। चरूरी आठ हजार रुपये की वार्षिक आय का गांव है। वहां के ठाकुर ने ब्राह्मण-भोजन के अतिरिक्त एक मन्दिर बनवा कर उसका प्रबन्ध भी किया था और साथ ही प्रत्येक त्यागी योगी को एक-एक रुपया और एक-एक कम्बल दान में दिया था। संक्षेप में, हमारे पथ-प्रदर्शक ने उसका पूरे सन्त का सा चित्रण उपस्थित किया। इन भले-लुटेरों की खोह के बीच में रहने वाले इस एकाकी धार्मिक मनुष्य का इतिहास जानने की उत्सुकता से मैंने और भी पूछताछ की तो पता चला कि कभी काठियावाड़ की 'भायाद' में वह बहुत ही साहसी और कुख्यात रहा है।

परन्तु, जब वह स्वयं अपने धंधे के सक्रिय कर्तव्यों को पूरा करने में समर्थ न रहा तो उसने यह काम अपने पुत्रों पर छोड़ दिया और अपनी जवानी में लूटी हुई सम्पत्ति एवं पुत्रों की लूटपाट के धन को धार्मिक कार्यों तथा दानपुण्य में खर्च कर के आत्म-शान्ति के लिए मन बहलाने लगा है। सभ्यता के समान-युगों में भी हमें इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रायः ऐसे ही चरित्रों का वर्णन मिलेगा। दृश्य को केवल हमारे सम्राट् की ग्यूल्फिक (Guelphic)[1] पूर्वज-परम्परा में बदल दीजिए, जिसके विषय में कॉनराड (Conrad)[2] से भी पूर्व मध्यकालीन अस्पष्ट युगों का वर्णन करते हुए, प्रतिभाशाली गिबन (Gibbon)[3] ने कहा है 'हम उनके बारे में बहुत कम जानते हैं, परन्तु यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे जवानी में धन लूटते थे और बुढ़ापे में गिरजे बनवाते थे।'

काठी अथवा ऐसे ही अन्य मनुष्यों के जीवन की विचारधारा को सर्वथा बदलने के लिए बल-प्रयोग ही कोई अचूक साधन नहीं है क्योंकि 'भौमिक आकर्षण' के इन देशों में ऐसे धन्धों को अपमान की दृष्टि से नहीं देखा जाता; यही नहीं, यदि अन्त में वे पूर्णतया बदल जाते हैं तो पूर्व-कुकृत्यों की परवाह न करते हुए उनके स्वामी (राजा) भी उनका कम सम्मान नहीं करते और ऐसी एक अशान्त आत्मा द्वारा आत्म-समर्पण के अवसर पर, शान्त और नियमित रूप से कर देने वाले तथा 'बाहरबाट' होने का स्वप्न में भी विचार न करने वाले निन्यानवे प्रजाजनों के आधीन हो जाने की अपेक्षा, अधिकाधिक खुशियां मनाते हैं।

गढ़िया, नवम्बर २४ वीं—इस ऊँची वन-भूमि के सुन्दर और अत्यन्त मनोरम दृश्यों में हो कर सात मील चले। हमारे मार्ग में प्रत्येक मील पर हमने वनाच्छादित घाटियों से बह कर आते हुए छोटे झरनों को गहरी दरारों में होकर अपना निर्मल जल-प्रपात करते हुए देखा; ये झरने पठार भूमि पर पुनः

---

[1] इंगलैण्ड का राजवंश। सन् १९१७ ई० में बादशाह जार्ज पञ्चम ने अपने वंश की सभी पूर्व जर्मन उपाधियों का त्याग करके विन्डसर कुल (House of Windsor) कायम किया था। पहले यह कुल Guelphic कहलाता था।—N.S.E.; p. 1301

[2] अंग्रेजी उपन्यासकार Joseph Conrad; जन्म १८५७ ई०। इनकी कहानियों में समुद्र एवं समुद्रवासियों का वर्णन अधिक पाया जाता है। कॉनराड की मृत्यु अगस्त, १९२३ ई. में हुई —N. S. E., p. 314

[3] प्रसिद्ध अंग्रेजी इतिहासकार। जन्म १७३७ ई०, २७ अप्रेल; मृत्यु १६ जनवरी १७९७ ई. लन्दन में। इसकी लिखी Decline and Fall of the Roman Empire नामक पुस्तक प्रसिद्ध है।—N. S. E; p. 559

धीरे-धीरे वहते हुए शत्रुञ्जय नदी में जा मिलते हैं। घनी वनावली में थोड़ी-थोड़ी दूर पर झोंपड़ियाँ भी दिखाई देती हैं, जो यह वताती हैं कि ऐसे स्थानों पर भी मनुष्यों का अभाव नहीं है, जो किसी डकैत के लिए पूर्ण स्वर्ग के समान हो, जहाँ किसी छायादार वड़ या पीपल के नीचे वह अमल की पीनक में आनन्द लेता रहता है अथवा किसी कुनवी किसान के काम की देखभाल करता रहता है; जो उस भूमि में खेती द्वारा रोटी पैदा करता है। वहाँ भी जहाँ-जहाँ रेतीली भूमि है वह नीचे के मैदानों जैसी ही समृद्ध दिखाई देती है। सुदूर नील गगन में पहाड़ी चोटियाँ दृष्टिगत होती हैं; अमरेली में गौरवगिरि गिरनार का एक ही क्रमवद्ध शिखर दिखाई पड़ता था, उसके वजाय यहाँ से पाँच शिखरों का स्पष्ट दर्शन होने लगा। गढ़िया पहुँचने पर काठी सरदार के निवास की सुन्दर छवि देखने को मिलती है; अनगढ़ पत्थरों से वनी वर्गाकार काली छतरी—इसकी सन्धियाँ नुकीली चट्टान पर टिकी हुई, चारों ओर नीचे की तरफ रक्षा के लिए वने कच्चे घरों की टेढी-मेढी लहराती हुई पंक्तियाँ और यह सब दृश्य वटवृक्षों के झुरमुटों से घिरा हुआ, जिनके वीच में स्वच्छ जल का झरना वहता हुआ। इस स्थान पर पहुँचते ही मैंने देखा कि एक छोटा-सा तम्वू तना हुआ है और घर के लोग तथा अन्य कार्यकर्ता कल की थकान के वाद आराम कर रहे हैं। इस दृश्य को पूर्णता प्रदान करता हुआ जेसा, एक पड़ौसी के घोड़े पर सवार, हाथ में भाला लिए झुरमुट में प्रविष्ट हुआ, जहाँ से एक सुपुष्ट घोड़ी की नंगी पीठ पर सवार केवल रस्से की लगाम वनाए एक खिलाड़ीकी-सी आकृति सहज ही कन्धों पर कम्वल डाले पूरी तेजी से दौड़ती दिखाई दी। मेरे पास से निकलते हुए उसने वहुत आदर से सलाम की। इस मूर्ति के वारे में जव जेसा से पूछा गया तो उसने वताया कि वह पास ही की ढाणी का स्वामी वाल राजपूत था और अपनी खोई हुई गाय की तलाश में आया था। यद्यपि यह कोई नया दृश्य नहीं था फिर भी मुझे वहुत पसन्द आया क्योंकि यह सभी जगह के राजपूती रीति-रिवाजों के अनुकूल था। यह वाल राजपूत जिस ढाणी का स्वामी था उसमें तीन ही घर थे—दो कोलियों के और एक कुणबी का। वाद में, वह अपने स्वजातीय 'झिरी' के भूमिया के साथ हम से मिलने आया। इन के मुखों और अंगों पर प्रकृति ने यौवन की छाप लगा दी थी; एक के चेहरे पर लम्वी दाढ़ी थी, जिसके सिरे दो नोकों में विभक्त थे और दूसरा अभी वाईस वर्ष का सुपुष्ट युवक था। जेसाजी उनको भली भांति जानता था और निःसंकोच अनुमान लगाया जा सकता है कि 'वहुत से भले आदमियों को 'ठहर जा' इस तरह दकालने में वे साथ रहे होंगे।' प्रायद्वीप पर वसने वाली विभिन्न

जातियों में अन्तर बताने वाले गुणों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कैप्टेन (कप्तान) मैकमुरड़ो (Captain Mac Murdo) ने राजपूत और काठी के बीच एक रेखा खींची है, जो किन्हीं अंशों में ठीक हो सकती है, परन्तु ऐसे अवसरों पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, जब वे हमें एक ही गैर-कानूनी उद्देश्य के लिए सम्मिलित दिखाई पड़ते हैं तो इनमें स्पष्ट विभाजन रेखा को ढूंढ़ना अत्यन्त बारीक नज़र का ही काम होगा; पोशाक, रंगढंग, भोजन, विश्वास और सोचने के प्रकारों में वे समान हैं—केवल एक छाया, नाम मात्र का ही अन्तर उनमें होता है।

तुलसीशाम—नवम्बर २५वीं—सौराष्ट्र के पहाड़ी भागों में जो अनुमानित दूरी अथवा कोस माने जाते हैं उनमें और देशी कोस अथवा गांव-कोस में वास्तविक अन्तर है क्योंकि गढ़िया से यहाँ तक दस या ग्यारह मील के बजाय जो सात कोस के बराबर होते—हम पूरे सोलह मील चले आये; फिर भी हम थके नहीं और न इन विभिन्न प्रकार का सौन्दर्य लिए हुए दृश्यों में किसी को रुचि के बहाने अपने आपके बारे में सोचने का ही अवसर मिला। पहले दो मील तक तो पठार पर चलना पड़ा जिसमें भी थोड़ी सी चढ़ाई अवश्य थी परन्तु दोनों ओर प्रहरी के समान खड़े शिखरों के बीच से निकलने के बाद जंगलों में होकर उतराई शुरू हुई। शेष यात्रा का वर्णन मैं इससे अच्छा नहीं कर सकता कि हम एक के बाद दूसरी पृथक् वन-संकुल और परिमित लम्बाई-चौड़ाई वाली रंगभूमि में से गुज़रे जो कि थोड़ी ऊंचाई वाली क्रमहीन पहाड़ी चोटियों से घिरी हुई थीं। अमरेली के मैदानों से पठार तक की चढ़ाई क्रमिक है परन्तु यात्री को इस ऊबड़खाबड़ और द्रुत अवरोह से ही शत्रुञ्जय और गिरनार के महान् शिखरों को संयुक्त करने वाले पर्वतीय भाग की ऊँचाई का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। आज के दिन की मंजिल में बैरोमीटर ने पूरे पांच सौ मील का उतार दिखाया। गढ़िया छोड़ने के बाद झरनों का बहाव दक्षिण की ओर देख कर ऊँचाई का मध्यबिन्दु स्पष्टतया लक्षित हो जाता था क्योंकि यहाँ तक वे शत्रुञ्जय की ओर पश्चिमी ढाल पर बह रहे थे। महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ये झरने सौराष्ट्र के भूगोल में अधिक ध्यान देने योग्य हैं। हमारे बायीं ओर वनाच्छन्न एक ही घाटी में दौड़ती हुई 'काली गढ़िया' और ऊना में समुद्र-संगम के लिए अग्रसर हो रही 'दूधिया रानला' का, जिसके इस पार और उस पार हमको बार बार आना जाना पड़ा था, अन्तर यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ता था। मैंने रानला के लिए दूधिया शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि ज्यों ही इसके चूनामिश्रित पेटे में हलचल हुई कि इस स्वच्छ झरने का जल दूध के

समान श्वेत हो जाता है कि जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसका मार्ग चूना-बहुल चट्टानों पर होकर है। हमारे कुछ सिपाहियों ने, जो कभी काठियों के विरुद्ध इधर आए थे, मुझे इस पानी के विशेष अस्वास्थ्यकर होने के विषय में बताया। परों की सी शकल के झोव (Jhow) के पेड़ बहुत बड़ी तादाद में इस झरने पर झुके हुए थे; किनारे पर छाए हुए अन्य बहुत से वृक्षों में वृहदाकार 'टेंडू' को मैं तुरन्त पहचान गया।

इस टेढ़े-मेढ़े और चित्ताकर्षक मार्ग में मेरा पथ-प्रदर्शक एक बढ़िया घोड़ी पर सवार था। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं वह गढ़िया का काठी सरदार तो था ही, परन्तु उसमें मनुष्यता की भी कमी नहीं थी; रास्ते भर वह लोक-कथाओं से हमारा मनोरञ्जन करता रहा और ऐसा कोई भी स्थल नहीं बताया जो किसी मर्मस्पर्शी कथा से सम्बद्ध न हो। जब हम हमारे रास्ते के बाँई ओर नदी के किनारे पर खुले पत्थरों के एक पालिये [समाधिस्थल] के पास से निकले तो उसने ठंडी साँस लेकर कहा, 'यहाँ जब बावरिया झगड़ा करने आए थे तो मेरा भाई काम आया था; उसकी मृत्यु से पुराना वैर चुक गया था।' ज्योंही वह घुमक्कड़ ठाकुर रास्ते में पड़े हुए एक लकड़ी के लट्ठे के पास होकर निकला तो उसकी घोड़ी भड़क गयी, इस पर उसने बड़ी निर्दयता से उसके चमड़े के चाबुक लगाए। जब वह उसको काबू में ले आया तो मैंने कहा, 'मैं समझता था कि तुम काठी लोग अपनी घोड़ियों को अपने बच्चों की तरह समझते हो और उनसे दयापूर्ण व्यवहार करते हो!' उसने कहा, 'यह ठीक है, परन्तु जैसे आप और मैं जानते हैं उसी प्रकार यह घोड़ी भी जानती है कि यह लकड़ी का लट्ठा है।' यह कह कर वह अपनी घोड़ी को उसकी नासमझी पर झिड़कने लगा जैसे वह सब कुछ समझती हो। उसका गाँव गढ़िया जूनागढ़ में है, परन्तु गायकवाड़ उनसे चौथ वसूल करता है। यह एक घृणित प्रकार का कर है जो बन्द होना चाहिए और जब तक यह बन्द नहीं होता तब तक काठी न शान्त होकर बैठेंगे न उन्हें बैठना ही चाहिए।

जैसे जैसे हम अपनी यात्रा में गन्तव्य स्थान के समीप-समीपतर पहुँचते थे वैसे ही इस भूमि का कदम-कदम सन्दर्भ-गर्भित मिल रहा था। इसी जंगली प्रदेश में, जो निश्चित रूप से 'हिडम्बा-वन' के नाम से प्रसिद्ध है, वनवासी पाँडवों ने यमुना के सुरम्य तट से निर्वासित होने पर शरण ग्रहण की थी; और, यदि कम से कम अनुमान लगाया जाय तो भी इस घटना को घटे तीन हजार वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी हिन्दू मानव का मन इसके महत्व एवं व्यापक प्रभाव से इतना व्याप्त है कि इस भूमि का प्रत्येक स्थल, जहाँ उनके दु:खों का प्रशमन

अथवा बढ़ावा हुआ था वह पवित्र माना जाता है। तुलसीश्याम से दो मील इधर ही हम वहाँ के पवित्र दृश्यों में से उस स्थल पर पहुँचे जहाँ पाण्डवों की माता कुन्ती ने अन्तिम विश्राम लिया था और अपने वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से इसे पवित्र बना दिया था। शत्रुओं के गुप्तचरों से बचते-बचाते जब पाँचों भाई वन में घूमते हुए इस स्थान पर पहुँचे तो उनकी माता थकान और प्यास से त्रस्त होकर मूर्छित हो गई, परन्तु उसे पुनः चेतना में लाने के लिए कहीं भी पानी नहीं मिला, तब भीम ने अपनी गदा से एक चट्टान को तोड़ा और वहीं पानी का एक फव्वारा छूट पड़ा। परन्तु यह पुण्य कार्य बहुत घातक सिद्ध हुआ क्योंकि कुन्ती के जीवन की चिनगारी और प्यास एक साथ ही बुझ गई।[1] यहीं पर उसका अन्तिम संस्कार किया गया और स्मृति में एक छोटा-सा मंदिर बनाया गया, जिसका अनुवर्ती-युगों में श्रद्धा एवं सम्मानपूर्वक पुनरुद्धार होता रहा। हमारे मार्ग में बाँई ओर एक पगडण्डी उस स्थान को जाती है जहाँ कोई भी यात्री चट्टान में एक दरार को देख सकता है, जिसमें से स्वच्छ पानी का झरना इस अनुश्रुति की सम्पुष्टि करता हुआ झरता है और इसका पानी सदा से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक रहा है और आजकल भी इधर का 'हवा पानी' वर्जित है।

इसी स्थान से सम्बद्ध एक और भी कथा प्रचलित है, जो सम्भवतः अधिक सही है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण और दानव तुलसी के युद्ध का अखाड़ा यही था, जिसकी पराजय और मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण ने गतक्षम होकर शुद्ध होने की इच्छा की तब उनके बन्धु बलदेव ने अपने हल की फाल से चट्टान पर चोट मारी। तभी इसकी दरार में से झरना जारी हो गया। यह दरार अब तक भी 'बलदेव की फाड़' कहलाती है और बहुत ध्यान से देखने पर, जिसे पवित्र वात्सल्य के पुजारियों ने पाण्डवों को मानवता की मूर्ति मान रखा है, मुझे वह 'भारतीय हरक्यूलीज़' की प्रतिमा प्रतीत हुई और भूल से बचने के लिए उसकी पीठिका पर बलदेव का नाम भी उत्कीर्ण करा दिया गया। वे सभी समकालीन थे और साथ रहते थे; उनका कुल 'हरिकुल' अथवा हरि का कुल कहलाता था। 'हरि' श्रीकृष्ण की विशेष उपाधि थी।

'तुलसीश्याम' एक बहुत पवित्र स्थान है, जो श्याम (श्रीकृष्ण के साँवले रंग का द्योतक पर्याय) और सौराष्ट्र के तूल नामक दैत्य के युद्ध का अखाड़ा होने

---

[1] महाभारत से तो इस कहानी का मेल नहीं बैठता। पाण्डवों की माता कुन्ती का अन्त तो महायुद्ध में उसके पुत्रों की विजय के अनन्तर हुआ था जब वह धृतराष्ट्र और विदुर के साथ वनवास में चली गई थी।

के कारण प्रसिद्ध है। यह दैत्य सभी पवित्र और धार्मिक लोगों के लिए भय का कारण बना हुआ था; वह किसी भी घातक अमोघ शास्त्र से मृत्यु को न प्राप्त होने का वरदान प्राप्त कर स्वयं देवताओं को ही अपमानित और पीड़ित करने लगा था; परन्तु, उसे यह पहले ही जता दिया गया था कि श्रीकृष्ण के अवतार से सावधान रहे क्योंकि वह उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। और, उपाख्यान में कहा गया है कि जब वह अपने विजेता के चरणों में पड़ा अन्तिम साँसें गिन रहा था तो उसने अन्तिम अभिलाषा यह प्रकट की कि उसका नाम उसके शरीर के साथ ही नष्ट न हो जाये, इसीलिए विजेता और विजित के संयुक्त नाम से यह क्षेत्र 'तुलसी-श्याम' कहलाता है। इस दानव का निवास एक जङ्गली घाटी में है, जो चारों ओर पहाड़ियों से घिरी हुई है; यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि यह एक विशाल प्याले के समान है जिसकी दीवारें वनस्पति से ढकी हुई हैं और इसके पैंदे में एक सीताकुण्ड अथवा गरम पानी का कुआ है, जो बड़े आश्चर्य की वस्तु है। एक कुण्ड ऐसा पानी एकत्रित करने का है जो बहुत सी व्याधियों के उपचार में लाभदायक माना जाता है। ऊपर के सिरे पर इसकी लम्बाई अस्सी फीट और चौड़ाई पैंतालीस फीट है; फिर एक सोपान-पंक्ति इसके पैंदे की ओर उतरती है, जहाँ इसकी लम्बाई चौड़ाई कम होकर पचपन और बीस फीट रह जाती है। मेरा मन इसमें स्नान करने को हुआ। पानी का तापमान बाहरी हवा से २१° ऊपर था और वह असह्य रूप से उष्ण था। इस समय डेरे (तम्बू) में थर्मामीटर ८६° बता रहा था और बाहर केवल ८९°। कुण्ड में थोड़ी देर डुबोए रखने पर यह ११०° पर चढ़ गया और बाहर निकालते ही ७६° पर आ गया; फिर तेज़ी से वह बाहरी तापमान को ८९° बताने लगा।

यहीं पर श्याम देवता का एक छोटा और भोंडा-सा मन्दिर है, जिसके भीतरी भाग में स्वास्थ्यप्रद जल के अधिष्ठातृ देवता की प्रतिमा विराजमान है। अहाते के फाटक पर ही युद्धप्रिय शिव और भैरव के भी मन्दिर बने हुए हैं। यदि हम यहाँ के लोक-प्रवाद को स्वीकार करें तो यह लगेगा कि गरम पानी का झरना तूल दानव के जीवनकाल में विद्यमान नहीं था। युद्ध के उपरान्त भूखे और थके श्याम अपनी प्रिय पत्नी रुक्मिणी के कोमल हाथों से बने पाक की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। रुक्मिणी चाँवलों का भात बनाने में व्यस्त थी। इतने ही में भूख से उत्तेजित हो श्याम ने कुछ ऐसे वाक्य कहे जो रुक्मिणी को सहन नहीं हुए और वह उबलते हुए चाँवलों के पात्र को उलट कर अपने भूखे और उद्विग्न पति को 'भावना के खट्टे मीठे स्वाद' लेने के लिये वहीं छोड़

कर पहाड़ी पर दौड़ गई। ग्रीस के देवताओं की भाँति हिन्द के देवताओं का कोप भी कभी निष्फल नहीं होता; अतः वह ओंधाया हुआ चावलों का पानी [माँड] उपयोग करने वालों को पवित्रता और स्थिर बुद्धि देने वाला अमर झरना बन गया। इस कथा के प्रमाणस्वरूप ये लोग अब भी सीता-कुण्ड के किनारे पर मण्डप-स्थित रुक्मिणी की प्रतिमा की प्रार्थना करते हैं।

यह एक अलग ही जंगली स्थान है, जो एक बड़े यात्री-संघ के लिए अत्यन्त सीमित है। हमारे इस प्याले में घोड़ों, पैदल और गाड़ियों की भीड़ ने ऐसी हलचल मचा दी थी जो ऐसे एकान्त स्थान के लिए बिलकुल अनुरूप नहीं थी। इस कुण्ड में से एक निकास-नाले द्वारा अतिरिक्त पानी बाहर निकलता है और यही एक छोटे से झरने का उद्गम स्थान है, जिसके किनारे-किनारे खजूर आदि के पेड़ उगे हुए हैं। यह नाला ऊबड़-खाबड़ और टूटी हुई चट्टानों में होकर टेढ़ी-मेढ़ी चाल से वहता है और यहाँ के सुन्दर दृश्यों में कितनी ही कल्पनाओं का सृजन करता है।

दोहन—नवम्बर २६वीं—पन्द्रह मील तक हम बहुत रद्दी रास्तों से चलते रहे (यदि उन्हें रास्ता कहा जाय तो) परन्तु वास्तव में रास्ता था ही नहीं—वह तो ऐसा कर्कश मार्ग था जिसमें दृश्य की भी कोई सुन्दरता बच नहीं पाई थी। अन्य पहाड़ी क्षेत्रों की तरह इसको देख कर कोई प्रसन्न भले ही हो ले परन्तु, रामणीयकता के नाते कोई भी इस यात्रा को दोहराने की इच्छा नहीं करेगा। इस क्षेत्र को हमारे मानचित्रों में बहुत ही अशुद्धता से दिखाया गया है और प्रशासनिक खण्डों तथा नदी-विज्ञान का चित्रण तो अत्यन्त दोषपूर्ण है; परन्तु भूलें बताना उनमें सुधार करने की अपेक्षा सरल है और मेरा स्वास्थ्य यहाँ का सर्वेक्षण करने के श्रम को सहन नहीं कर सकता। इस पर मैंने अपने समय में खूब ध्यान दिया था, परन्तु यदि मैं स्वस्थ होता तो इस आकर्षक क्षेत्र के प्राकृतिक एवं राजनैतिक लक्षणों को सूक्ष्मता से चित्रित करने के अतिरिक्त मेरे ध्यान में और कोई ऐसा कार्य नहीं है कि जिसमें पूर्ण मनोयोग करने से मुझे अधिक आत्म-सन्तोष होता। दोहन से दो मील इधर ही हेतिया गाँव में हम पहाड़ियों के पार हो गए। हेतिया दो सुन्दर, चौड़े और वनस्पति-संकुल झरनों के वीच में वसा हुआ है; इन दोनों ही झरनों को हमने पार किया। एक का नाम मच्छन्दरी है जिसकी स्वच्छ सतह पर हलू के झाड़ों और सरपत की घनी परछाँही पड़ रही थी, फिर भी जल का विस्तृत दृश्य स्पष्ट देखने को इसका विस्तार पर्याप्त था। दोहन नदी का पानी विशेष रूप से अस्वाथ्यकर और जलोदररोग-कारक माना जाता है। कहते हैं कि कुछ ऋतुओं में यह इतना

प्रबल हो जाता है कि कोली सरदार का गाँव और कुछ अन्य बस्तियाँ (जो जूनागढ़ के आधीन हैं) बहुत से लोगों की मृत्यु हो जाने अथवा स्थान छोड़ कर चले जाने के कारण ऊजड़ हो गई हैं। हम यहाँ समुद्री तट पर स्थित ऊना से छः मील की दूरी पर हैं।

कोरवार (Kowrewar) नवम्बर २७ वीं—इस मंज़िल के दस कोस इक्कीस मील के बराबर निकले। कैसा आनन्ददायक परिवर्तन था! हम तुलसी-श्याम से चल कर बाबरियावाड़ के ऊसर, अस्वास्थ्यकर और पहाड़ी इलाके से निकल कर आज नोसगेर (Nosgair) जिले में पहुँच गये थे और वहाँ की हरी-भरी भूमि पर चल रहे थे। पहले चार मील तक एक उपेक्षित सड़क है जिस पर पीले, सछिद्र अथवा कृमिसंकुल कंकड़ बिखरे हुए हैं, जिनमें चमकीले पत्थर के दाने भी अधिकता से मिले हुए हैं। जहाँ जहाँ जमीन बिना ढकी हुई थी वहाँ वहाँ इसकी किस्म इसी जात की मालूम हुई, जिस पर लहरदार रेखायें बनी हुई थीं मानो असंख्य सर्प इस पर ये लकीरें बनाते हुए इधर से उधर निकल गए हों। इन हरे-भरे मैदानों में प्रवेश करने के थोड़ी देर बाद ही हमने रूपनी अथवा 'काच सदृश' नदी को पार किया, जिसका स्वच्छ और गहरा पानी एक सँकड़े पेटे में सीमित था और जिसके किनारे-किनारे घनी वनस्पति उगी हुई थी। इसके बाद शीघ्र ही हमने संगवरी (Sangavari) और गौरीदर के पास दूसरी मच्छुन्दरी को पार किया। यहाँ पर पैंसिल से काम करने के लिए बहुत अच्छा अवसर है। गांव के ऊपर ही किला और चौबुर्जे बने हुए हैं, जो एक चट्टान पर स्थित हैं, वे काल-क्रम से काले पड़ गए हैं और पहाड़ी तथा घाटी से ऊपर निकल कर चौकसी करते हुए-से प्रतीत होते हैं। एक ओर गिरनार के शिखर हैं, दूसरी ओर समुद्री तट पर बसे हुए शहर हैं, जिनकी चट्टानी परिधियों के कारण समुद्री दृश्य आँखों से परोक्ष रहते हैं। दोपहर के लगभग हमने इस यात्रा में जामुनवाडा और भील नामक गाँवों के बीच विजयनाथ महादेव के मंदिर के खण्डहरों में विश्राम किया। यह मन्दिर एक छोटे से झरने के किनारे पर एकान्त स्थान में बना हुआ है। इसका प्रवेश-द्वार तो अभी खड़ा है और निज-मन्दिर भी, जिसमें देवता का लिङ्ग स्थापित है, साधारण स्थिति में सुरक्षित हैं, परन्तु मण्डप अथवा मन्दिर का शरीर टूट कर ढेर हो गया है। स्थान के अनुरूप ही यहाँ का प्रबन्धक पुजारी एक दरिद्र मुर्दे की सी शकल वाला कोढ़ी जोगी था, जो तमाखू के पत्तों की गड्डी को धूप में सुखा रहा था। मेरे रैबारी मार्गदर्शक ने तुरन्त ही शिवलिङ्ग के आगे साष्टाङ्ग दण्डवत की और प्रार्थना का उच्चारण किया; सम्भवतः यह उसकी

व्यक्तिगत प्रार्थना ही थी कि उसकी गायें दूध के अजस्र झरने बहाने वाली हों। यह स्थान 'आदिपुष्कर' कहलाता है; मुझे आज ही ज्ञात हुआ कि इस नाम के कोई बारह तीर्थ-स्थान हैं।

भारतवर्ष में बाईस वर्ष रह कर मैंने जिन क्षेत्रों को देखा है उनमें हरियाणा को छोड़ कर यही एक ऐसा है, जिसको मैं विशुद्ध पशुपालन-क्षेत्र कह सकता हूँ; और मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि यहाँ के निवासियों में वही सादगी मौजूद है जो इस प्रकार के जीवन से सम्बद्ध मानी जाती है। इन समृद्ध और विस्तृत मैदानों में बसने वाले पशुपालक रैबारी कहलाते हैं; इस अभिधान से उत्तरी भारत में प्रायः ऊँट चराने वाले अथवा उनकी रक्षा करने वाले लोगों का बोध होता है। यहाँ इस शब्द से चरवाहे अथवा गडरिया का व्यवसाय करने वाले का ही अर्थ लिया जाता है और इनकी बहुत सी जातियाँ होती हैं—वर्ग कहूं तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि बहुत से वंश-परम्परा के अध्येताओं ने भी कहा है कि उनमें हूणों का सम्मिश्रण है। इन सुन्दर चरागाहों में हमने आनन्द से चरते हुए जानवरों के झुण्ड के झुण्ड देखे। आकृति, सुन्दरता और शक्ति में भारत के किसी भी भाग के जानवर इनसे बढ़ कर नहीं हैं—यहाँ तक कि हरियाना में भी, जहां मैंने कर्नल स्किनर के खेत में गो-वंश के ऐसे-ऐसे चित्र देखे थे, जो एक अनुभवहीन दर्शक की दृष्टि में भी उसी पूर्ण प्रशंसा के पात्र थे जिसके लिए अच्छी से अच्छी नस्ल के घोड़े अधिकारी हुआ करते हैं; और वास्तव में, उनके मस्तक अरबी घोड़ों की तरह एक समान थे और आँखें (भारत में जहाँ इनकी पूजा होती है, ऐसा कहना धृष्टता होगी) समझदारी से भरी हुई तथा सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर एवं सुगठित थे। इनका तुलनात्मक मूल्याङ्कन इनसे प्राप्त होने वाली कीमत के आधार पर किया जाता है। गायें दस से पन्द्रह डॉलर प्रत्येक के मूल्य पर बिकती हैं और चार साल के बैलों की जोड़ी प्रायः चालीस डॉलर में मिल जाती है; यहाँ डालर से तात्पर्य रैबारियों द्वारा प्रयुक्त विनिमय-मुद्रा से है। मैं कह चुका हूँ कि इस जाति के लोग ईमानदार और सीधे होते हैं; मैं अपने इस निष्कर्ष के आधारभूत उदाहरण देता हूँ।

मेरा मार्गदर्शक स्वयं एक पशु-पालक है। वह सभ्य, विनम्र और समझदार है। जब चौदह मील तक वह मेरे साथ चल लिया और सामने ही गाँव दिखाई देने लगा तो मैंने चाहा कि वह अपने गाँव लौट जाय इसलिए मैं उसे कुछ चाँदी के सिक्के देने लगा। परन्तु, उसने लेना अस्वीकार कर दिया और कहा, 'मैं तो राज़ी-राज़ी पूरे रास्ते आपके साथ चलता, परन्तु एक भैंस मेरे ही हाड़ हिली

हुई है, और किसी को दूध नहीं देती।' फिर, उसने जिस गाँव में हम पहुँचने वाले थे उधर ही एक झोंपड़ी की ओर इशारा करके कहा, 'परन्तु कोई बात नहीं, वहाँ मेरा भानजा है, आप केवल आवाज़ लगा दीजिए, वह आ जायगा।' यह कह कर विदाई की सलाम कर के वह घर की ओर चल दिया, परन्तु कुछ कदम चल कर वह फिर लौटा और उसने मुझ से प्रार्थना की कि उसे कभी न भूलूं। मैंने कहा 'मैं कभी नहीं भूलूंगा' और अब भी उस बाबरियावाड़ के ईमानदार किसान से की हुई प्रतिज्ञा को याद करता हूँ। एक और भी ग्रामीण को मैंने देखा जो अपनी रोटी में से तोड़ कर दूसरे को हिस्सा देने का पूर्ण आग्रह कर रहा था। इन्हीं बातों के आधार पर और इनके चेहरों पर झलकते सन्तोष को देख कर ही (क्योंकि मैं सदा से लॅवॅटर (Lavater)[1] का अनुयायी रहा हूँ) मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन लोगों का रहन-सहन और स्वभाव इनके व्यवसाय के अनुरूप है। मैंने अपने मार्गदर्शक के भानजे को आवाज़ दी जिसको सुन कर वह 'मीठिया की ढाणी' में से निकल कर आया, परन्तु हमारी यात्रा का लक्ष्यबिन्दु कोरवार सामने ही दिखाई पड़ रहा था इसलिए मैंने उसे वापस अपने काम पर भेज दिया और वृत्ताकार छतरियों तथा समाधि के पालियों (चबूतरों) को अपने दाहिनी बाजू छोड़ते हुए हम आगे बढ़े। ये बुर्जें, जो गांव की सुरक्षा के लिए बनाई गई प्रतीत होती हैं, इस क्षेत्र के दृश्यों में विशेष महत्व की वस्तुएं बन गई हैं। ये प्रायः दो-दो मंज़िल ऊँची हैं अथवा यों कहें कि बत्तीदार बन्दूकें छोड़ने के लिए बने छिद्रों के दो-दो घेरे इन पर बने हुए हैं। कुछ पर साधारण मिट्टी की छतें हैं और कुछ पर नासमझी से फूस के छप्पर डाल दिए गये हैं, जिनको यदि आग लगा दी जाय तो रक्षार्थियों के लिए कोई ओट ही न रहेगी।

कोरवार से एक मील इधर हमने सौराष्ट्र में अब तक देखे हुए झरनों में से सर्वश्रेष्ठ झरने को पार किया, जो सिंगोरा (निकुन्ती भी) कहलाता है; इसका निर्मल जल सुन्दर सपाटों के बाद कंकड़ीले पेटे में गिरता है और इसके किनारे पवित्र वट-वृक्षों के झुरमुटों से घटाटोप हो रहे हैं। मैं घोड़े से नीचे उतर कर डेरे तक पैदल ही गया; डेरे के पीछे ही कोरवार का किला खड़ा है और झरने के किनारे पर ही रणछोड़ का मन्दिर है। यह झरना चिरचेई (Chirchae) नामक पर्वत श्रेणी से निकल कर उत्तर में छः मील दूर रुद्र

---

[1] ज्यूरिच (फ्रांस) का रहने वाला सुप्रसिद्ध आकृति-विज्ञान का विद्वान्। उसका समय १७४१-१८०१ ई० का है।

महादेव के मन्दिर के पास होता हुआ मूल द्वारका के पवित्र पर्वत के समीप समुद्र में जा गिरता है। मूल द्वारका के पास इसका वेग बढ़ कर उसको टापू जैसा बना देता है।

हिन्दुओं और विशेषतः वैष्णवों के लिए उस भूमि का चप्पा-चप्पा पवित्र है क्योंकि वे इस स्थान को, अपने अपकीर्तिकर विग्रह रणछोड़ रूप में पूजित, कन्हैया के अवतार से भी बहुत पूर्व से ही, मूल द्वार अथवा देव-भूमि का प्रवेश-द्वार मानते आए हैं। मूलतः यह प्रतिमा कच्छ की खाड़ी के मुख भाग पर बेट (Bate) द्वीप के मन्दिर में प्रतिष्ठित थी, परन्तु १४०० वर्ष हुए यह वहाँ से हटा ली गई है और ब्राह्मणों ने मूल रणछोड़ नाम की प्रसिद्धि से बहुत लाभ उठाया है। हिन्दू लोग गायकवाड़ के दीवान की धार्मिकता के प्रति भी बहुत आभारी हैं, जिसने नये मन्दिर का निर्माण करा कर उसमें सोमनाथ के एक बहुत प्राचीन लिंग की स्थापना की है। इन दोनों ही देव-प्रतिमाओं का पूजन करने के लिए 'आखा तीज' [अक्षय तृतीया] अथवा वैशाख मास की तृतीया को बहुत बड़ी भीड़ लग जाती है। यहाँ से कोई बारह कोस की दूरी पर एक और पवित्र स्थान है जो 'गोपति प्रयाग' (Gaopati Prag) कहलाता है; यहाँ एक पानी के सोते से निकल कर लघु झरना बहता है, जो गंगा के पवित्र नाम से प्रसिद्ध है। यहीं पर सन्यासियों का एक मन्दिर है जिनका निर्वाह इसके जल में स्नान करके पवित्र होने वाले यात्रियों की श्रद्धा पर निर्भर है। कोरवाड़ का धार्मिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्व है क्योंकि यह चौरासी (गांवों के) परगने का मुख्य स्थान है।

शूद्रपाड़ा—नवम्बर २८वीं—यह सोलह मील की चित्ताकर्षक यात्रा बड़ी अच्छी सड़क पर मनोरञ्जक प्रदेश में हुई, जहाँ हमने पहाड़ी भूमि के दरिद्र झोंपड़ों को छोड़ कर कोरवाड़ के मैदानों में कृषकों के सुखद आवासों की भूमि में प्रवेश किया; सौराष्ट्र के पहाड़ी इलाके में उलझी हुई झाड़ियों, विषम चट्टानों और अजस्र-प्रवाही झरनों के बीच भूरे रंग का परिधान पहिने प्रकृति से बातें करना कितना ही सुखप्रद क्यों न हो, परन्तु इस दृश्य का जन-संकुल और सभ्यतापूर्ण पक्ष में बदल जाना भी कम आनन्ददायक नहीं है। झगड़ालू, लुटारू और शिकारी प्रवृत्ति के लोगों को देखते-देखते मस्तिष्क में थकान-सी होने लगती है। यद्यपि मैदान में प्रवेश करने पर हमने देखा कि हल की फाल ने तलवार को बहिष्कृत कर दिया है फिर भी यहाँ के लोगो में अभी पर्याप्त मात्रा में सैनिक आदतें बनी हुई हैं, जो इनको निस्तेज नहीं होने देतीं। कैसा भी गांव हो, उसकी सुरक्षार्थ बनी काली चौकोर बुर्जें सगर्व खड़ी हुई हैं और

यद्यपि मुसलमानों की मसजिदें और मज़ारें अब सूनी पड़ी हैं, परन्तु वे उनके साम्राज्य के विरुद्ध हुए प्रत्येक झगड़े की साक्षी दे रहीं हैं। हम कुछ ऐसे ही गांवों में होकर गुज़रे जैसे सिंगुर, लोदवा, पछनौरा और मुख्य शूद्रपाड़ा, जिसका समुद्री तट पर पत्थर की पूठियों से बना दुर्ग बहुत आदरणीय है। यहाँ के निवासी मुख्यतः अहीर, गोहिल और केरिया जाति के हैं; इनमें से अहीर विशुद्ध चरवाहे हैं और अन्तिम जाति के लोग यद्यपि अपने नाम के अनुसार राजपूत हैं परन्तु अब व्यवसाय से कृषक हैं—और, निःसंदेह उनकी फसल बहुत अच्छी थी।

शूद्रपाड़ा के तट और नगर के बीच में एक अपूर्व सूर्य-मन्दिर है, जिसमें इस सुन्दर भू-भाग में एकदा मान्यता-प्राप्त सूर्यदेव की प्रतिमा विराजमान है। वह मूर्ति अब अपनी रश्मिराशि से वियुक्त होकर इतनी बदल गई है कि ईसा के पवित्र दश आदेशों में से दूसरे अध्याय के अन्तर्गत जो वर्णन आया है उससे शायद ही मेल खा सके। ग्रीकों के विश्वदेवताओं के समान प्रत्येक हिन्दू देवता के पराक्रमों में उसकी सहधर्मिणी भी भागीदार होती है और तदनुसार यहाँ भी एक पुतली अथवा 'रेणादेवी' की मूर्ति उसके स्वामी के पास प्रतिष्ठित है। जहाँ जहाँ सूर्य मन्दिर हैं वहाँ एक पानी का कुण्ड भी होता है। यहाँ के कुण्ड पर एक शिला-लेख है, जिससे केवल इतना ही पता चलता है कि चार सौ वर्ष पूर्व इसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इसके पास ही नवदुर्गा का मन्दिर है, जिसमें छोटी-छोटी नौ मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर से पूर्व की ओर थोड़ी दूर पर एक और कुण्ड है, जो प्राचीन ऋषि च्यवन (Chowun) के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तर में कोई सात मील की दूरी पर एक स्थान प्राची नाम से प्रसिद्ध है, जो सरस्वती नदी का उद्गमस्थान होने के कारण बहुत पवित्र माना जाता है और यहाँ यात्रियों की भीड़ भी लगी रहती है। इसके किनारे पर ही 'मधुराय' का मन्दिर है, जो भारतीय 'अपोलो' का ही एक रूप माना गया है; इसके विषय में कहते हैं कि यद्यपि यह निर्झर अपने किनारे पर स्थित देव-प्रतिमा को जल-निमग्न करने के लिये निरन्तर जूझता रहता है परन्तु वह मूर्ति अपने ही स्थान पर सुस्थिर बनी रहती है। इसी स्थान पर 'लूटेश्वर' अर्थात् लूट-पाट के देवता का छोटा-सा मन्दिर है, जिसकी इन भागों में बहुत मान्यता है। इस देवता को लोग शिव का ही स्वरूप मानते हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि इसको 'मरकरी' अथवा बुध-ग्रह मानना अधिक संगत होगा जैसा कि आगे चल कर विदित होगा कि इस ग्रह में समुद्री डाकुओं का, जो इस तट पर आदिकाल से छाए हुए हैं, संरक्षण करने का गुण है। पूजा और यातायात-सम्बन्धी मेले, जो

साधारणतया इन क्षेत्रों में सम्मिलित रूप में हुआ करते हैं, प्राची में खूब भरते हैं, जिनमें समीप के गाँवों और शहरों से ब्राह्मण-बनिये तो आते ही हैं, साथ ही उन वन-प्रदेशों से, जिन्हें हम पीछे छोड़ आये हैं, बहुत से 'स्वतन्त्र लोग' भी आ कर सम्मिलित होते हैं।



प्रकरण १९

पट्टण सोमनाथ अथवा देवपट्टण; इसकी प्रसिद्धि; सूर्य - मन्दिर; सिद्धेश्वर का मन्दिर; कन्हैया की कथा; उनकी निर्वाणस्थली; भीमनाथ-देवालय; कोटेश्वर महादेव के मन्दिर में पत्थर का त्रिशूल; प्राचीन नगर का वर्णन; मूल वास्तु, नुकीली मेहराब; सोमनाथ के मन्दिर का वर्णन; इसके दृश्य की सुन्दरता; मूर्तिभञ्जक महमूद का नाम नगर में अज्ञात; 'सोमनाथ के पतन की कथा' का हस्तलिखित ग्रन्थ; महमूद से पूर्व विध्वंस के चिह्न; दो नये संवत्सर; आधुनिक नगर।

पट्टण सोमनाथ – नवम्बर २९वीं – अन्त में मुझे भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर के, जिसको अधिक आदरपूर्वक देवपट्टण अथवा शुद्ध रूप में देवपत्तन अर्थात् देव का मुख्य निवास-स्थान कहते हैं, दर्शन हुए। हमारे पिछले डेरे से यहां तक सात मील का फासला है जिसकी भूमि सपाट, मिट्टी अच्छी और फसलें उत्तम हैं। यहां पहुँचने पर हमें त्रिवेणी को पार करना पड़ा; यह 'व्रजिनी', सरस्वती (हिन्दू मिनर्वा) और हिरण्या (स्वर्णमयी) का संगम है। पहली नदी दल-दल में होकर बहती है इसलिए इसके विषय में कोई प्रशंसनीय वक्तव्य नहीं है, परन्तु अपर दोनों नदियों का जल स्वच्छ और निर्मल है। अन्तिम नदी को पार करने पर सूर्य का शिखरहीन मन्दिर और नगर के परकोटे की धुँधली बुर्जें पत्रावली में होकर दिखाई पड़ने लगीं तो वे मस्तिष्क की आंखों के सामने आठ शताब्दी पूर्व महमूद और उसकी विजय की दृश्यावली को उपस्थित करने लगीं। हिन्दू और मुसलिम इतिहास से सम्बद्ध इस सुप्रसिद्ध मन्दिर की यात्रा का विचार करने वाले व्यक्ति के मन में कैसे कैसे भावों की बाढ़ आती होगी! अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ मैं, पूर्वधारणा और उपेक्षा के मिश्रित [illegible] को लिये हुए, मुसलिम सन्त 'अब्बीशाह' की मजार के पास होकर निकला, [illegible] 'सूर्य-मन्दिर' में पहुँचने तक सांस लेने को भी बीच में नहीं ठहरा। यह [illegible] उजाड़ और अपवित्र दशा में पशुओं का आश्रय-स्थान बना हुआ है और [illegible] टूटा-फूटा शिखर और गर्भगृह टुकड़े-टुकड़े हो जमीन पर बिखर [illegible] यद्यपि इसमें विशालता जैसी कोई बात नहीं है, परन्तु इसकी बना[illegible] है और शिल्पशास्त्र में विहित पवित्र शिखरबन्ध भवनों के सर्वा[illegible] अनुकूल है। भित्तियों पर बनी आकृतियों के ढांचे स्थूल [illegible] हाव-भाव भी कहीं-कहीं आकर्षक हैं, परन्तु [illegible] प्रयुक्त [illegible] किरकिरी मिट्टी या बजरी मात्र है जिस [illegible]

अथवा अनुकूलता नहीं है। फिर भी, सब मिला कर इमारत प्रभावोत्पादक है। प्रवेश-द्वार की चौखटें अच्छी तरह रोगन किये हुये पीले रंग के खनिज से बनी हुई हैं, जो देखने में सूर्यकान्त जैसी लगती हैं, यद्यपि यह चौखट प्राचीन गढ़ने योग्य संगमरमर की ही कोई किस्म होगी। मण्डप का व्यास सोलह फीट से अधिक नहीं है; यह हल्की सजावट वाले सुदृढ़ खम्भों पर आधारित है और चारों ओर बरामदे से घिरा हुआ है, जिसके सिरे पर चौकोर खम्भे बने हुए हैं, जो बाहरी दीवार से आकर एक जगह मिल जाते हैं। मण्डप से आगे एक अलिंद है जिसकी छतरियाँ चौकोर और सीधे स्तम्भों पर टिकी हुई हैं; इसमें होकर निज-मन्दिर (गर्भ-गृह) में जाते हैं, जहां लाल रंग [सिन्दूर] से गो-पालकों ने एक गोल निशान बना रखा है। अब वही सूर्य-देवता का एक मात्र चिह्न रह गया है। महमूद द्वारा की हुई क्षति की पूर्ति तो नहरवाला के सम्राटों ने करा दी थी परन्तु धर्मान्ध 'अल्ला' ने जिस शिखर को तोड़ कर फेंक दिया था वह अभी तक पुनः खड़ा नहीं किया गया है। मन्दिर के उत्तर में ठोस चट्टान को खोद कर बनाया हुआ सूर्य-कुण्ड है। इसमें उतरने के लिए छोटी-छोटी सँकड़ी सीढ़ियों की श्रेणी बनी हुई है। कहते हैं कि इसका पानी शारीरिक और मानसिक व्याधियों का शमन करने वाला है, परन्तु स्नान और परीक्षण की अवधि पूरे एक सौर वर्ष की रखी गई है, जिसमें पूर्ण श्रद्धा के साथ अन्यान्य सत्कार्य भी करना आवश्यक है, तभी यह उपचार अधिक प्रभावशील हो सकता है। हमें बड़ी गम्भीरता के साथ बताया गया कि जिन लोगों पर भगवत्कृपा नहीं होती उनकी पहचान इस प्रकार हो जाती है कि 'जितनी चांदी वे साथ लाये होते हैं वह सब तांबे में बदल जाती है।' इससे ये नतीजे निकाले जा सकते हैं कि पूर्ण श्रद्धालु व्यक्ति को इस जल का आचमन करने से पूर्व अपनी समस्त चांदी सूर्य देवता के पुजारी को दे देनी चाहिए; दूसरा यह कि जो लोग अपनी नकदी अपने साथ रखते हैं उनको यह समझाया जाता है कि वह सब, उनके पापों के कारण, न कि पानी की गन्धकाम्लवत्ता के कारण, तांबे में परिवर्तित हो जाती है।

'प्रकाश के देवता' के मन्दिर से उतर कर मैं सिद्धों के आराध्य सिद्धेश्वर के मन्दिर में आया जो एक अन्धेरी चट्टान को खोद कर बनाया गया था। वह अन्धकारपूर्ण और नम था तथा उसकी नीची छत टूटे-फूटे खम्भों पर किसी तरह टिकी हुई थी। कोई भी आदमी इसको देख कर डॅलफॉस (Delphos)[1]

---

[1] ग्रीस का Delphi (डॅलफी) नगर जहाँ प्रसिद्ध भविष्यवाणी होती थी।

की गुफा की कल्पना कर सकता है; यद्यपि हमारे इस अन्धे ओलिया की भविष्यवाणियां उसके अन्य बन्धुओं की अपेक्षा अधिक कटु, परन्तु सत्य निकली थीं। अस्तु, कैसा भी भौंडा बना हुआ हो, यह 'रौरव अन्धनरक' का प्रतीक था। हिंगलाजमाता[1] और पातालेश्वर की प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक छोटे-से मण्डप की खुरदरी दीवार पर नौ छोटी-छोटी मूर्तियां स्पष्ट कुरेदी हुई थीं, जिनको अन्धे महन्त ने नवग्रह बताया था, 'जो मनुष्य के भविष्य का नियन्त्रण करते हैं।' गुफा के सामने ही एक छोटा-सा आँगन है, जिसकी दीवारों का जीर्णोद्धार कराया गया है अथवा उसको दूसरे टूटे-फूटे मन्दिरों के मसाले से चिनवाया गया है; इसके प्रत्येक भाग में देव-मूर्तियों के टुकड़े मौजूद हैं। इस आँगन में बड़ के पेड़ छाए हुए हैं, जो शिवजी को बहुत प्रिय हैं। यद्यपि यहाँ पर कोई ऐसी आकर्षक वस्तु नहीं है फिर भी जो पुराणों का जानकार है, उसको लगेगा कि गुहा-मन्दिर की रचना पौराणिक आधार पर होने के अतिरिक्त, यहाँ पर प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के तारतम्य का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है और साथ ही, भक्त का एक वातावरण से दूसरे में तुरन्त आ जाना भी ध्यान देने योग्य बात है।

---

[1] हिङ्गुलाज माता को चारण लोग आद्या शक्ति का अवतार मानते हैं। लोकगाथाओं में यह चारण जाति की प्रथम कुलदेवी के रूप में कही गई है। इसका मुख्य स्थान बलोचिस्तान में है। कहते हैं कि पहले चारण लोग इसी की छत्र-छाया में बलोचिस्तान में ही बसते थे। बाद में, दक्षिण और पूर्व की ओर चल पड़े। कुछ वंश गुजरात-काठियावाड़ आदि स्थानों में बस गए और कुछ राजस्थान की ओर आ गए। जहां-जहां पर ये लोग बसे वहां-वहां ही हिङ्गुलाज के मन्दिर भी बनाते गए। इस प्रकार देश में इस देवी के अनेक मन्दिर हैं।

बलोचिस्तान में (सिन्ध और अफगानिस्तान के बीच की पहाड़ियों में) रमठ नामक स्थान पर एक वृक्षविशेष के रस को एकत्रित करते हैं, जो 'हिङ्गु' कहलाता है [हिमं गच्छति = हिङ्गुः]। ऐसे देश की निवासिनी होने के कारण ही सम्भवतः यह देवी 'हिङ्गुलाजा' कहलाई। रमठ स्थान में प्राप्त होने के नाते 'हिङ्गु' को 'रामठ' भी कहते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि हिङ्गुलाज माता के पिता का नाम कापड़िया था और उसका समय प्रायः सातवीं शताब्दी के आसपास का था। विक्रमीय आठवीं शताब्दी में सिन्ध के ही सांडवा चारण शाखा में उत्पन्न भादा के पुत्र मामड़िया [मम्मट ?] की पुत्री 'आवड़' को हिंगुलाज का अवतार मानते हैं।

वास्तव में, समस्त विद्याओं की जननी महाविद्या 'महात्रिपुरसुन्दरी' का ही एक स्वरूप 'हिङ्गुला' भी है।

'हिङ्गुला मङ्गला सीता सुषुम्णा मध्यगामिनी'

—वामकेश्वरतंत्रगत महात्रिपुरसुन्दरीसहस्रनाम

इस गुफा से मैं उस स्थान पर गया, जिसको हिन्दू लोग परम पवित्र मानते हैं, जहाँ पर गोपाल-देव (Shepherd-god) परम धाम को गए थे। हम अन्यत्र इस यदु [यादव] राजकुमार के पूरे इतिहास का वर्णन कर चुके हैं, जो अपने जीवन-काल में ही देवता के समान पूजे जाते थे और कृष्ण अथवा (शरीर का रंग पक्का होने के कारण) श्याम के नाम से विष्णु का पूर्ण अवतार माने जाते थे तथा कन्हैया के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। अपने आत्मीय-जनों, कौरवों और पाण्डवों के गृह-युद्ध में उन्होंने पाण्डवों का पक्ष लिया था और वनवास-काल में भी उनका साथ दिया था। उस समय उन्होंने अपने मदनमोहन मुरलीधर-रूप को छोड़ दिया था जिससे वे मुरली (वंशी) बजा कर सूरसेन-देश के गोकुल में गौएं चराते हुए गोपियों को मोहित किया करते थे और अब इण्डो-गेटिक (Indo-Getic) जाति के प्राचीनतम शस्त्र चक्र[1] को धारण करके चक्रधारी बन गए थे। यद्यपि इस अवसर पर वे सौरों के क्षेत्र में विजेता होकर ही प्रविष्ट हुए थे, परन्तु उनका यह स्वरूप स्थायी नहीं था, क्योंकि इससे बहुत पूर्व उनको चेदि के राजा[2] से डर कर भागना पड़ा और यहाँ आकर शरण लेनी पड़ी थी; और इसी कारण उनका अस्पृहणीय 'रणछोड़' नाम पड़ा था, जिसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। परन्तु, उन्होंने कोई भी नाम धारण किया हो, उन्हें नए से नए भक्त और श्रद्धालु प्राप्त होते रहे और जो फाल्स्टाफ (Falstaff)[3] के समान 'शौर्य के सर्वोत्तम स्वरूप, विवेक' में विश्वास करने वाले हिन्दू 'रणछोड़' नाम को भी प्रशंसात्मक ही मानते हैं, क्योंकि उनके इस विग्रह का पूजन करने वाले लोग[4] भी बहुत बड़ी तादाद में हैं। परन्तु, मैं फिर कहता हूँ कि इस बार वे, भारत को उजाड़ कर देने वाले भयंकर घोर युद्ध में से बचे-खुचे कुछ संबंधियों के साथ अपनी आयु के शेष दिन, महत्त्वाकांक्षावश अपने स्वत्त्वों की रक्षा के लिए ही सही, रक्तपात से दुखी होकर पश्चात्ताप में बिताने के लिए हिन्दुओं के मतानुसार इस 'जगतकूंट' स्थान पर आए थे। इस प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर (भारत का राजपद-मुक्त सम्राट्) और बलदेव आदि अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा करते हुए सोमनाथ-मन्दिर के आस-पास की पवित्र भूमि में पहुँचे। पवित्र त्रिवेणी में स्नान करने के उपरान्त

---

[1] भारत में अब सिक्खों के अतिरिक्त और कोई इस शस्त्र का प्रयोग नहीं करता।

[2] श्री कृष्ण चेदि के राजा से डर कर कभी नहीं भागे। जरासंध के आक्रमण पर भागने से ही 'रणछोड़' नाम पड़ा था।

[3] शेक्सपीयरकृत 'हेनरी चतुर्थ' नाटक का विदूषक पात्र जो प्रत्युत्पन्नमति और विपत्ति से येन केन प्रकारेण टल निकलने की नीति में विश्वास करता था।

[4] हमें मान लेना चाहिए कि इन भक्तों में राजपूतों की संख्या अत्यधिक है।

दोपहर की चिलचिलाती धूप से वचने के लिए कन्हैया ने एक छत्राकार पीपल-वृक्ष के तले विश्राम लिया; जब वह लेटे हुए थे तो (जनश्रुति के अनुसार) एक भील ने उनके चरण-तल में अङ्कित पद्म-चिन्ह को हरिण की आंख समझ कर अपने तीर का निशाना बनाया। जब उनके सम्बन्धी लौटे तो उन्होंने देखा कि जीवन निश्शेष था। वहुत देर तक बलदेव मृत शरीर से लिपट कर विलाप करते रहे परन्तु अन्त में उन लोगों ने तीन नदियों के संगम पर उनकी उत्तरक्रिया सम्पन्न की। पीपल का एक पौधा, जो निश्चित रूप से 'मूल वृक्ष' की ही परम्परा में माना जाता है, अब भी उस स्थान को निर्दिष्ट करता है, जहां हिन्दू अपोलो [विष्णु] ने शरीर छोड़ा था, और वहीं से एक सोपान-सरणि 'हिरण्य' (नदी) के तल तक चली गई है, जिसके द्वारा यात्री वहाँ पहुँच कर पवित्रता प्राप्त करता है। यह पावन भूमि 'स्वर्ग-द्वार' के नाम से प्रसिद्ध है और पापों का शमन करने में देवपट्टण की स्पर्द्धा में अधिक सामर्थ्यवती मानी जाती है। यह भलका और पद्म-कुण्ड नामक दो सुन्दर सरोवरों से सुशोभित है। प्रथम भलका-कुण्ड बारह समान भुजाओं वाला सरोवर है, जिसका व्यास तीन सौ फीट के लगभग है। पद्मकुण्ड कुछ छोटा है और इसकी सतह पर कन्हैया के प्रिय पद्म-पुष्प छाये रहते हैं; इसी से उनका अत्यन्त मधुर नाम 'कमल' पड़ा है। कुण्ड के पूर्वीय किनारे पर एक छोटा-सा महादेव का मन्दिर है। गोपालदेव के भक्तों की दृष्टि में ये दोनों कुण्ड वहुत पवित्र माने जाते हैं और अकबर के समय में भी इनका ऐसा ही माहात्म्य था, क्योंकि अबुल फज़ल ने अपनी कृति के कुछ अंश में पीपलेश्वर और भलका-तीर्थ की यात्राओं का वर्णन किया है। इस पवित्र पीपल-वृक्ष को छूते हुए एक मसजिद के निर्माण से मुसलिम-असहनशीलता स्पष्ट परिलक्षित होती है; और, यद्यपि इन क्षेत्रों पर अब बहुत समय से धर्म-परायण हिन्दू राजाओं का आधिपत्य चला आ रहा है, परन्तु वह आपत्तिजनक मसजिद अछेड़ अवस्था में ज्यों की त्यों वनी हुई है। इससे एक धर्म की सर्वप्रिय सहनशीलता [सह-अस्तित्त्व भावना और दूसरे की कट्टर धर्मान्धता को लेकर दोनों का प्रबल और स्पष्ट अन्तर ज्ञात हो जाता है।

यहां से मैंने अपने कदम हिरण्य (नदी) से ऊपर की ओर आगे बढ़ाये और भीमनाथ के मन्दिर पहुँचा, जो शिव का ही नाम है। इसका शिखर डेरे की भाँति का है, जिसकी छत पिरामिड के ठोस आधार जैसी है; सम्भवतः महाकाल के मन्दिर का यही प्राचीनतम प्रकार है। मुझे शायद इस मन्दिर की वर्तमान अवस्था की अपेक्षा इसकी भूतकालिक दशा का वर्णन करना चाहिये, क्योंकि एक घेरघुमेर वट-वृक्ष ने इसमें जड़ें जमा ली हैं और उसकी

इस गुफा से मैं उस स्थान पर गया, जिसको हिन्दू लोग परम पवित्र मानते हैं, जहाँ पर गोपाल-देव (Shepherd-god) परम धाम को गए थे। हम अन्यत्र इस यदु [यादव] राजकुमार के पूरे इतिहास का वर्णन कर चुके हैं, जो अपने जीवन-काल में ही देवता के समान पूजे जाते थे और कृष्ण अथवा (शरीर का रंग पक्का होने के कारण) श्याम के नाम से विष्णु का पूर्ण अवतार माने जाते थे तथा कन्हैया के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। अपने आत्मीय-जनों, कौरवों और पाण्डवों के गृह-युद्ध में उन्होंने पाण्डवों का पक्ष लिया था और वनवास-काल में भी उनका साथ दिया था। उस समय उन्होंने अपने मदनमोहन मुरलीधर-रूप को छोड़ दिया था जिससे वे मुरली (वंशी) बजा कर सूरसेन-देश के गोकुल में गौएं चराते हुए गोपियों को मोहित किया करते थे और अब इण्डो-गेटिक (Indo-Getic) जाति के प्राचीनतम शस्त्र चक्र[1] को धारण करके चक्रधारी बन गए थे। यद्यपि इस अवसर पर वे सौरों के क्षेत्र में विजेता होकर ही प्रविष्ट हुए थे, परन्तु उनका यह स्वरूप स्थायी नहीं था, क्योंकि इससे बहुत पूर्व उनको चेदि के राजा[2] से डर कर भागना पड़ा और यहाँ आकर शरण लेनी पड़ी थी; और इसी कारण उनका अस्पृहणीय 'रणछोड़' नाम पड़ा था, जिसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। परन्तु, उन्होंने कोई भी नाम धारण किया हो, उन्हें नए से नए भक्त और श्रद्धालु प्राप्त होते रहे और जो फाल्स्टाफ (Falstaff)[3] के समान 'शौर्य के सर्वोत्तम स्वरूप, विवेक' में विश्वास करने वाले हिन्दू 'रणछोड़' नाम को भी प्रशंसात्मक ही मानते हैं, क्योंकि उनके इस विग्रह का पूजन करने वाले लोग[4] भी बहुत बड़ी तादाद में हैं। परन्तु, मैं फिर कहता हूँ कि इस बार वे, भारत को उजाड़ कर देने वाले भयंकर घोर युद्ध में से बचे-खुचे कुछ संबंधियों के साथ अपनी आयु के शेष दिन, महत्त्वाकांक्षावश अपने स्वत्त्वों की रक्षा के लिए ही सही, रक्तपात से दुखी होकर पश्चात्ताप में बिताने के लिए हिन्दुओं के मतानुसार इस 'जगतकूंट' स्थान पर आए थे। इस प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर (भारत का राजपद-मुक्त सम्राट्) और बलदेव आदि अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा करते हुए सोमनाथ-मन्दिर के आस-पास की पवित्र भूमि में पहुँचे। पवित्र त्रिवेणी में स्नान करने के उपरान्त

---

[1] भारत में अब सिक्खों के अतिरिक्त और कोई इस शस्त्र का प्रयोग नहीं करता।

[2] श्री कृष्ण चेदि के राजा से डर कर कभी नहीं भागे। जरासंध के आक्रमण पर भागने से ही 'रणछोड़' नाम पड़ा था।

[3] शेक्सपीयरकृत 'हेनरी चतुर्थ' नाटक का विदूषक पात्र जो प्रत्युत्पन्नमति और विपत्ति से येन केन प्रकारेण टल निकलने की नीति में विश्वास करता था।

[4] हमें मान लेना चाहिए कि इन भक्तों में राजपूतों की संख्या अत्यधिक है।

दोपहर की चिलचिलाती धूप से बचने के लिए कन्हैया ने एक छत्राकार पीपल-वृक्ष के तले विश्राम लिया; जब वह लेटे हुए थे तो (जनश्रुति के अनुसार) एक भील ने उनके चरण-तल में अङ्कित पद्म-चिन्ह को हरिण की आंख समझ कर अपने तीर का निशाना बनाया। जब उनके सम्बन्धी लौटे तो उन्होंने देखा कि जीवन निश्शेष था। बहुत देर तक बलदेव मृत शरीर से लिपट कर विलाप करते रहे परन्तु अन्त में उन लोगों ने तीन नदियों के संगम पर उनकी उत्तरक्रिया सम्पन्न की। पीपल का एक पौधा, जो निश्चित रूप से 'मूल वृक्ष' की ही परम्परा में माना जाता है, अब भी उस स्थान को निर्दिष्ट करता है, जहां हिन्दू अपोलो [विष्णु] ने शरीर छोड़ा था, और वहीं से एक सोपान-सरणि 'हिरण्य' (नदी) के तल तक चली गई है, जिसके द्वारा यात्री वहाँ पहुँच कर पवित्रता प्राप्त करता है। यह पावन भूमि 'स्वर्ग-द्वार' के नाम से प्रसिद्ध है और पापों का शमन करने में देवपट्टण की स्पर्द्धा में अधिक सामर्थ्यवती मानी जाती है। यह भलका और पद्म-कुण्ड नामक दो सुन्दर सरोवरों से सुशोभित है। प्रथम भलका-कुण्ड बारह समान भुजाओं वाला सरोवर है, जिसका व्यास तीन सौ फीट के लगभग है। पद्मकुण्ड कुछ छोटा है और इसकी सतह पर कन्हैया के प्रिय पद्म-पुष्प छाये रहते हैं; इसी से उनका अत्यन्त मधुर नाम 'कमल' पड़ा है। कुण्ड के पूर्वीय किनारे पर एक छोटा-सा महादेव का मन्दिर है। गोपालदेव के भक्तों की दृष्टि में ये दोनों कुण्ड बहुत पवित्र माने जाते हैं और अकबर के समय में भी इनका ऐसा ही माहात्म्य था, क्योंकि अबुल फज़ल ने अपनी कृति के कुछ अंश में पीपलेश्वर और भलका-तीर्थ की यात्राओं का वर्णन किया है। इस पवित्र पीपल-वृक्ष को छूते हुए एक मसजिद के निर्माण से मुसलिम-असहनशीलता स्पष्ट परिलक्षित होती है; और, यद्यपि इन क्षेत्रों पर अब बहुत समय से धर्म-परायण हिन्दू राजाओं का आधिपत्य चला आ रहा है, परन्तु वह आपत्तिजनक मसजिद अछेड़ अवस्था में ज्यों की त्यों बनी हुई है। इससे एक धर्म की सर्वप्रिय सहनशीलता [सह-अस्तित्त्व भावना और दूसरे की कट्टर धर्मान्धता को लेकर दोनों का प्रबल और स्पष्ट अन्तर ज्ञात हो जाता है।

यहां से मैंने अपने कदम हिरण्य (नदी) से ऊपर की ओर आगे बढ़ाये और भीमनाथ के मन्दिर पहुँचा, जो शिव का ही नाम है। इसका शिखर डेरे की भाँति का है, जिसकी छत पिरामिड के ठोस आधार जैसी है; सम्भवतः महाकाल के मन्दिर का यही प्राचीनतम प्रकार है। मुझे शायद इस मन्दिर की वर्तमान अवस्था की अपेक्षा इसकी भूतकालिक दशा का वर्णन करना चाहिये, क्योंकि एक घेरघुमेर वट-वृक्ष ने इसमें जड़ें जमा ली हैं और उसकी

शाखाएं छत में घुस पैठी हैं; कालान्तर में यह वृक्ष इस समूचे मन्दिर को ले वैठेगा और इस पर एकमात्र आकाश का ही चँदोवा रह जायगा। भक्तों को वृक्ष के हाथ लगाने का साहस नहीं होता क्योंकि सर्व-संहारक महाकाल के मन्दिर के साथ-साथ इसका भी महत्त्व है—शायद इसीलिए शिव ने अपने अन्य वहुत-से उपकरणों के साथ इसको भी मान्यता प्रदान की है। मैंने कार्यवाहक पुजारी को तर्क के बल पर समझाया कि यदि वह पेड़ को नष्ट नहीं करेगा तो वह कभी न कभी मन्दिर को ध्वस्त कर देगा; ऐसी दशा में, दो आपत्तियों में से हल्की वाली का वरण क्यों न किया जाय ? उसने इस सत्य को स्वीकार तो किया परन्तु अपनी आलंकारिक भाषा में कहा, 'क्या करूं, इधर पड़ूं तो कुआ है और उधर पड़ूं तो खाई है, विचित्र उलझन है।'

इस मन्दिर के समीप ही महादेव का एक बहुविग्रहिक लिंग है, जो कोटेश्वर कहलाता है। यह विशुद्ध लाल पत्थर का महालिंग है जिस पर वहुत-से छोटे-छोटे लिंग भी वने हुए हैं। मैं पापेश्वर [मूर्तिमान् पाप][1] के ऐसे मन्दिर में जाकर खड़ा हुआ, जिसकी इमारत का किञ्चित् भी अवशेष नहीं वचा था। यह पहला ही अवसर था कि जव मैंने विश्व-देवताओं में इस देवता का नाम सुना। कहते हैं कि कन्हैया की प्रियतमा सुन्दरी रुक्मिणी इस मन्दिर की मुख्य पुजारिन ही नहीं थी अपितु इसका निर्माण भी उसी ने कराया था। यदि यह सत्य है तो यह इस बात का दूसरा प्रमाण है कि कृष्ण, हिन्द में देवत्व-पद प्राप्त करने और उनके अनुयायियों का सम्प्रदाय बनने से पूर्व, शिव के ऐसे अशुद्ध विग्रहों और बुध (ग्रह) का पूजन किया करते थे, जो एक साथ ही चोरों और वुद्धि का रक्षक माना जाता है। ऐसा लगता है कि मुसलमानों ने 'पाप-देवता' के इस मन्दिर पर मजहवी शरअ को अच्छी तरह लागू करने के लिए विशेष प्रयत्न किए थे, क्योंकि उन्होंने एक भी पत्थर को दूसरे पत्थर पर टिका नहीं छोड़ा; परन्तु मेरे यह समझ में नहीं आया कि उन्होंने मुख्य लिंग को क्यों नहीं छेड़ा ? यह सम्पूर्ण कथा वहुत ही अलंकारमयी है और वास्तव में यह बड़ा विचित्र रूपक है; यद्यपि, वहुत सी अन्य कथाओं के समान, पहले तो देखने में यह वच्चों की-सी छिछली कहानी लगती है, परन्तु इससे विचार करने को वहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह ठीक है कि पाप की जड़ पाताल में गड़ी है, तो भी इसकी क्या संगति है कि पूजनीय यदु (जिसको ये लोग इन्द्र, सूर्य और

[1] वास्तव में 'पापेश्वर' से तात्पर्य है 'पापों का नाश करने वाला ईश्वर या शिव।' इस विग्रह को पाप की मूर्ति मानना सही नहीं है।

बुध के रूप में पूजते हैं) की अर्धाङ्गिनी सुन्दरी रुक्मिणी को इसकी पुजारिन बनाया गया है ? 'हिरण्य' के ठीक उस पार इस महान् विश्व के चक्षु और आत्मा के प्रतीक इसी मण्डलाकार के दूसरे मन्दिर का दृश्य पौराणिक सादृश्यों को प्रमाणित कर रहा है।

अस्तु, मैंने सङ्गम पार किया, जहाँ दो छोटी नदियों का पानी 'हिरण्य' में मिल कर समुद्र की ओर सह-प्रवाहित होता है। यहाँ भक्तों के लिए कुछ मन्दिर और धर्मशालाएं बनी हुई हैं, जो विशाल प्रायद्वीप से आए हुए केवल उन यात्रियों के लिए ही आकर्षक हो सकती हैं जो पहली बार त्रिवेणी के सीमित अन्तस्तल में समुद्र द्वारा धकेली हुई विस्तृत लहरों के दृश्य को देखते हैं। इन सब को, जो मेरी यात्रा के उद्देश्य में सहायक मात्र थे, देख कर तथा जिसका मेरे पूर्व जीवन में तो पूरा साहचर्य रहा था परन्तु जिसके गुरु-गम्भीर गर्जन से सुदीर्घ बीस वर्षों तक अपरिचित-सा रहा और अब जिस जलराशि के भरोसे शीघ्र ही अपने आप को सौंपने जा रहा था उसी समुद्र को परमश्रद्धालु आराधक के समान उत्साह से प्रणाम कर के मैंने सोमनाथ के मन्दिर की ओर चरण बढ़ाए। सूर्य-मन्दिर और बाल नगर के प्रवेश-द्वार के बीचोंबीच दामोदर महादेव के पास हो कर निकला, जिसका गायकवाड़ के दीवान विट्ठलराव ने, जिसके उदार, धार्मिक और वास्तव में उपयोगी कार्यों ने उसकी स्वयं की और सरकार की प्रतिष्ठा बढ़ाई है, आमूल पुनर्नवीकरण करा दिया है; और इसमें जो बात असाधारण (भारत में ही नहीं) है वह यह है कि अन्दर और बाहर से जो मरम्मत कराई गई है वह मूल ढाँचे के अनुरूप है। यद्यपि यह मन्दिर दर्शनीय है, परन्तु सपरिश्रम विवरण लिखने जैसी कोई बात नहीं है। हाँ, इतना उल्लेख अवश्य करूंगा कि इसके एक बाहरी ढँके हुए आले में जहाँ पहले 'सूखा माता', अकाल की देवी, की मूर्ति विराजमान थी वहाँ अब एक बड़ा प्रस्तर-खण्ड रखा है, जिस पर 'सैण्ट एण्ड्र्यू'[1] का क्रॉस बना हुआ है। स्कॉटलैण्ड के इस रईस की सुदूर पूर्व में यहाँ तक की यात्रा के विषय में मैंने कभी नहीं सुना और शायद मेरा अनुमान ग़लत नहीं है कि यह पुर्तगालियों का कृत्य है, जिनके अधिकार में कभी यह पूरा समुद्री तट रहा था और जो सौराष्ट्र के अतीत गौरव के लिए स्वयं महमूद से भी बड़े शत्रु प्रमाणित हुए थे। यह बात नहीं है कि बहुत-सी तरह के क्रॉस-चिह्न हिन्दुओं में प्रचलित न हों और विशेषतः जैनों ने, जिनके सिक्कों और इमारतों पर मैंने

---

[1] स्काटलैण्ड का प्रोटेस्टेण्ट शहीद।

दुर्बोध्य मिस्री निशान देखे हैं, इनमें पूजा के अन्य उपकरणों का साम्य लिए हुए और भी बहुत प्रकार के चिह्न जोड़ दिये हैं।

मैं देवपट्टण में सूर्यपोल से प्रविष्ट हुआ। नगर के परकोटे की दीवार, इसमें प्रयुक्त हुई सामग्री और बनावट की दृष्टि से, उसी उद्देश्य के अनुरूप है, जिसके लिए इसका निर्माण हुआ है। ये दीवारें पास ही की खानों के अनगढ़ पत्थरों से बनाई गई हैं और यहाँ के क्षारीय वायुमण्डल में से नमी सोखने के कारण इन की प्राचीनता का रंग और भी धूमिल पड़ गया है जब कि चौकोर छतरियाँ, जिनकी बनावट बाहर की ओर स्पष्ट ढलान या 'तालस' लिये हुए है, जो केवल प्राचीन खण्डहरों में ही द्रष्टव्य है, सौन्दर्य और सुदृढ़ता की परिचायक हैं। परकोटे का घेरा तीन-चौथाई कोस माना जाता है, परन्तु मैं इसे पौने दो मील से कम मानने को तैयार नहीं हूँ। इसका पश्चिमी मुख, जो सब से छोटा है और प्राय: उत्तर से दक्षिण को दौड़ गया है, लगभग पाँच सौ गज लम्बा है; दक्षिणी अथवा समुद्राभिमुख दीवार, जो सीधी नहीं है और अंतिम दो सौ गज लम्बाई में उत्तर पूर्व की ओर मुड़ गई है, सब मिला कर लगभग सात सौ गज है तथा पूर्वीय प्राकार आठ सौ गज के करीब है।[1] इन दीवारों की ऊँचाई कहीं पचीस और कहीं तीस फीट है और नींव पर इनका आसार सोलह फीट है। एक पचीस फीट चौड़ी और लगभग इतनी ही गहरी खाई (जिसकी दीवारें चुनी हुई और प्राकार की भाँति ढलाव लिए हुए हैं) चारों ओर घूम गई है; इसको एक बढ़िया कृत्रिम जलप्रवाहक से इच्छानुसार भरा या खाली किया जा सकता है। मैंने सब मीनारों की गिनती तो नहीं की परन्तु प्राकारों की निगरानी और सुरक्षा के लिए उनकी संख्या पर्याप्त है; किनारों पर (कम से कम दक्षिणपूर्वीय कोण पर) ये पँचकोनी हैं और इनका मुख्य भाग नगर की ओर निकला हुआ है। इतिहास से हमें इस बात का पता नहीं चलता कि वाबन (Vauban)[2] का और नहरवाला के राजाओं का क्या सम्बन्ध था? यदि एक मात्र यही प्राकार

---

[1] दुर्भाग्य से चौथी अथवा उत्तरी दीवार की माप मेरे जर्नल [नित्यलेख] में नहीं मिल रही है, परन्तु हम इसे पूरे छः सौ गज मान सकते हैं।

[2] वॉबन (Vauban) फ्रेंच सैनिक और इञ्जीनियर था और स्पेन की सेना में नौकर था। उसने ३५ युद्धों का संचालन किया, ३३ नये किले बनवाये तथा ३०० जीर्ण दुर्गों का उद्धार कराया था। उसकी Dime Royal नामक पुस्तक १७०७ ई० में प्रकाशित हुई जिसमें कर-व्यवस्था का विवेचन है। उसी वर्ष लुई १४वें ने उसकी योजना को अस्वीकार कर दिया और उसकी मृत्यु हो गई।—N.S.E. p. 1259
यहाँ नहरवाला के राजाओं को भग्न-इमारतों का जीर्णोद्धार कराने में रुचि से तात्पर्य है।

और मीनारें ऐसी नहीं हैं कि जिन पर इसलाम की सीढ़ियां प्रयोग में लाई गईं हों तो इतना अवश्य है कि इनको इन्हीं के खण्डहरों से पुनः खड़ा किया गया है, क्योंकि इनकी आकृति और दृश्य समान हैं। वास्तव में, ये सोमनाथ की सुरक्षा के लिए ही बनाई गई थीं न कि देवपट्टण के मर्त्य-निवासियों के रक्षणार्थ, क्योंकि यह घेरा वहां की आबादी और सम्पत्ति से, जो कोई एक मील की दूरी पर बताई गई

बहुत फासले पर बना हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शहर के अन्दर की ओर भी दीवार बनी हुई थी। भद्रकाली के मन्दिर में प्राप्त एक महत्व-पूर्ण शिलालेख (सं० ५) से यह प्रश्न हल हो जाता है, जिससे ज्ञात होता है कि सोमनाथ की प्राचीन आड़ का जो भाग महमूद के अग्रदूतों से बच गया था, उसको सौराष्ट्र के सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट् और नहरवाला के महाराजा कुमारपाल ने ठीक दो शताब्दी बाद पुनः सम्पूर्ण बनवा दिया था। नगर के पूर्वीय प्रवेशद्वार पर बाहरी दरवाजे के अतिरिक्त एक अन्तर्वर्ती सुरक्षा-प्राङ्गण है जिसकी एक नुकीली मेहराबदार दूसरी पोल या ड्योढ़ी है; मेहराब के दोनों पार्श्वक खूब सजे हुए आजू-बाजू के चार चपटे स्तम्भों से उठ कर उन्हीं पर टिके हुए हैं। इनके शीर्षों पर समुद्री जलराक्षस बनाये गए हैं, जिनके फैले हुए जबड़ों में से मेहराबें निकलती हैं और उनके मुख में विभिन्न मुद्राओं में मनुष्याकृतियां बनाई गई हैं; यथा—किसी में अनिच्छा से उनमें प्रविष्ट होती हुई तो किसी में उस राक्षस के गले को कटार से चीर कर बाहर निकलती हुई। आयोजना, अनुपात और निर्माण की एकरूपता हमारे इस निर्णय को सम्पुष्ट करती है कि यह हिन्दू ढंग की इमारत है। पौराणिक आधार पर आयोजना और सामग्री-समायोजन पूर्णतया ऐसा ही होता है, क्योंकि सभी प्राचीन मन्दिरों के तोरणों में, वे जैन हों अथवा शैव, मेहराब को इसी प्रकार के जलराक्षस के जबडों से निकलते हुए दिखाया गया है। मैंने चम्बल पर बाड़ौली के शिव-मन्दिर और आबू पर जैन मन्दिरों में यही प्रकार देखा है। अधिक से अधिक मैं इतना मानने को तैयार हूँ कि यदि इसका नकशा किसी इसलामी शिल्पकार ने बनाया है तो निर्माण राजपूत राजा अर्थात् कुमारपाल और उसके शिल्पियों ने[1] किया है। खम्भे तो निस्सन्देह हिन्दू ढंग के हैं और ऊपर का ठाठ भी उनके अनुरूप ही है इसलिए हमें नुकीली मेह-राब के उद्गम का प्रमाण भी मिल ही जाता है। इस पोल की ऊंचाई तीस फीट है और चौड़ाई भी उसी अनुपात से है। इस प्रवेश-द्वार पर मुझे एक शिलालेख (परि० सं० ६) मिला, जिसमें एक यदुवंशी राजा की सुन्दर पुत्री भक्त यामुनी, के सत्कृत्यों का वर्णन उत्कीर्ण है।

[1] देखिये—शिलालेख।

मुख्य प्रवेशद्वार उत्तरी दीवार के बीच में है और एकदम सुदृढ एवं आधुनिक है, यदि हम 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में करें कि प्राचीन टूटे हुए मन्दिरों के मलबे से इसका पुनर्निर्माण कराया गया है। यह त्रिपोलिया एक प्रकार से दोहरा आंगन को घेर कर बनाया गया है। पहला दरवाजा उत्तर को देखता है; दूसरा इससे समकोण बनाता हुआ अर्थात् पूर्व की ओर है और इसी प्रकार तीसरा इस दूसरे से समकोण बनाता है, जिससे निकलने पर विशाल मन्दिर का पूरा दृश्य सामने आ जाता है। इस प्राकार-वेष्टित पोल की ऊंचाई पूरे साठ फीट की है। यह शस्त्र-प्रयोग के लिए उपयुक्त स्थान है, शत्रु-सेना को रोकने के लिए सोच-समझ कर बनाया गया है और इस बात का अन्त:साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि मज़हब के योद्धाओं का प्रमुख आक्रमण यहीं पर हुआ था। दूसरे दरवाजे पर एक ठोस, बन्द और सुडौल छतरी बनी हुई है, जहां से शत्रु-सेना पर निगह रखी जा सकती है; इस छतरी के कारण इसकी समानता नॉरमन[1] (Norman) किलेबंदी की शैली के अधिक निकट आ जाती है और संपूर्ण दृश्य को पेंसिल-कार्य (चित्र) के लिए एक आकर्षक विषय बना देती है। कुराई के काम की सजावट भी बहुत है जिसका अतीव आकर्षक भाग पहले द्वार पर है, जहां शैव-मन्दिरों का वही प्रिय विषय प्रदर्शित है, जिसमें एक मनुष्य सिंह से युद्ध करने में व्यस्त है; वह उसकी पीठ पर सवार है और दृढ़ता से उस पशु के शिर को पकड़ कर अपनी कटार उसके गले में भोंक रहा है; सम्भवत: इसके द्वारा पशु-बल और अन्ध-साहस पर बुद्धि तथा कौशल की विजय दिखाई गई है।

अब देखिए आप, मैं सोमनाथ की ड्योढ़ी में आ पहुँचा हूँ; यही मूर्ति-पूजकों का वह मन्दिर है, जिसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई है और जिससे आकृष्ट होकर 'सितारे इस्लाम' पैरोपैमिसां[2] और कॉकेशश (Caucasus) के

---

[1] नारमन लोग, वास्तव में, उत्तरी फ्रांस के रहने वाले थे। बाद में, ये लोग इटली और सिसली में भी जम गए थे। १०६६ ई० में नारमण्डी का ड्यूक विलियम सैक्सनों को हरा कर इंगलेण्ड का राजा बना और 'विलियम दी कान्करर' (विजयी) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नारमन वास्तु कला गाथिक कला से पुरानी है। गोल मेहराब इसकी विशेषता है। इंगलेण्ड की बहुत सी पुरानी इमारतें नारमन प्रणाली की हैं।—N.S.E. p. 938

[2] [पै]रोपैमीसान् (Paropamisan)— आजकल जो विशाल पर्वतश्रेणी 'हिन्दूकुश' नाम से [प्रसि]द्ध है, उसे मकदूनियाँ वाले 'इण्डीकस कॉकेसस' (Indicus Caucasus) कहते थे। 'कुश' नाम का उद्गम इसीसे हुआ माना जाता है। लार्सन ने काबुल नदी के उत्तर क[ी ओर फैली] हुई पर्वतश्रेणी का नाम निषध (Nishadha) लिखा है। पै रो पॅ नि स स नाम यहां [दि]या दिया हुआ है। जनरल कनिङ्घम के मतानुसार जेन्दअवेस्ता में उल्लिखित

मध्य अपने ग्रहपथ को छोड़ कर भारत महासागर के इस रेतीले किनारे पर उष्ण-कटिबन्ध में खिंचा चला आया था; यद्यपि यह जो कुछ पहले था उसका छिलका मात्र रह गया है, इसका शिखर उतर जाने से मन्दिर नंगा हो गया है और उस शिखर के टुकड़े-टुकड़े जमीन पर बिखरे पड़े हैं, ऊपर की रचना से यह हीन हो गया है और किसी समय की सम्पूर्ण इमारत का आधार मात्र बच कर रह गया है, परन्तु, फिर भी इसके खण्डहरों से हम इसकी पूर्व दशा का अनुमान तो लगा ही सकते हैं। जो कुछ बच रहा है वह उस अतिसाहस और उत्साह का परिणाम है, जिसने परिवर्तन के अभाव में मुसलमानों की इस विजय को अपूर्ण ही रख दिया था; जिसने मन्दिर को मसजिद में और सूर्य-देव की पीठिका को मुल्लां के धर्मासन में परिवर्तित कर दिया था, जहां से वह अब भी रक्तपात की दुर्गन्ध फैलाता हुआ अपने विजय-गीत 'ला इल्लाह मोहम्मद रसूल अल्लाह' (परमात्मा एक है और मोहम्मद उसका पैगम्बर है) की बांग लगाता है। परन्तु, बाहर की ओर परिवर्तन का दूसरा चिह्न भी मौजूद है, वह है मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर कलशदार मीनारें, जो मुसलिम शिल्पी की कारीगरी हैं और जहां से मुहम्मद का मुअज्ज़िम अपने सहधर्मी सिपाहियों को काफ़िरों पर विजय प्राप्त करके खुदा और उसके पैगम्बर की शान बढ़ाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर उत्साहित करता था। क्या हम विश्वास करें कि वास्तविक सुरुचि और उदार भावना के किंचित् भी अंश से प्रेरित होकर उसने प्राचीन समय के इस टूटे-फूटे अवशेष को बचा लिया था ? हम धर्म के नाम पर की हुई बर्बरताओं पर शौर्य का पर्दा डालने का प्रयत्न करते हैं और इस कारण हुई हानि के विविध रूपों को वीरता की संज्ञा देते हैं, इस अर्थ में महमूद का बारहवाँ आक्रमण सब से दुर्धर्ष और अपूर्व अभियान माना जा सकता है, जिसमें पवित्रता अथवा धार्मिकता के चोगे से ढकी हुई उसकी महत्वाकांक्षा अतीव प्रबल हो उठी थी।

'पॅरोश' (Parosh) अथवा 'अपरसिन' (Aparasin) पर्वत ही ग्रीकों का पॅरोपॅमीसॉस है। स्थानीय बोली में 'परु' अथवा 'परुत' शब्द पर्वत के लिए प्रयुक्त होता है। अवेस्ता में भी इसके लिए 'पुरौत' शब्द आया है। सेन्ट मार्टिन ने माना है कि यह 'परु' और 'निषध' का संयुक्त रूप है—परन्तु न जाने इन दोनों के बीच में एक 'प' का आगम कैसे हो गया ? अरस्तू ने इसका नाम 'परॅनॅस्सॉस' (Paranassos) लिखा है। वही पहला ग्रीक लेखक था जिसने इस पर्वत श्रेणी का उल्लेख किया। आजकल इस श्रेणी का पूर्वीय भाग 'हिन्दू-कुश' और पश्चिमी भाग 'पॅरॉपॅमीसस' नाम से जाने जाते हैं।

Ancient India as described by Arrian—Mc Crindle; p. 189.

इस मन्दिर की बनावट चित्तौड़ के लाखा राना के मन्दिर से (जिसका शिल्प वही है, परन्तु सजावट बहुत कम है) तथा भारत के अन्य दूरस्थ शिव-मन्दिरों से, जो इसलामी हमलों से बचे रहे, भिन्न नहीं है। इस मन्दिर की मूल आयोजना का ज्ञान (इस अध्याय के अन्त में दिए हुए) मन्दिर-निर्माण-कला सम्बन्धी ख़ाके से ठीक-ठीक हो सकेगा और इस प्रकार 'सोमनाथ' के धूमिल वैभव को लेखनी की अपेक्षा चित्र अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर सकेगा। यह चार भागों में विभक्त है; बाहरी पोल, जो निज-मन्दिर का प्रवेश-द्वार है, जो स्तम्भपंक्ति-युक्त विशिष्ट मार्गों [बरामदों] से घिरा हुआ है। बाहरी परिधि ३३६ फीट, लम्बाई ११७ फीट और पूरी चौड़ाई चौहत्तर फीट है। जिन लोगों ने यॉर्क के गिरजाघर या मिलान के ड्यूमो (Duoma of Milan)[१] सैण्ट पीटर अथवा सैंट पॉल के गिरजाघरों के आधार पर मन्दिरों की विशालता का ख़याल बना रखा हो, उन्हें ध्यान रखना चाहिए और वृहत्परि-माण की आधार-कल्पना को सही कर लेना चाहिए कि एशिया के मूर्तिपूजक समूहों में एकत्रित होकर पूजा नहीं करते हैं वरन् देवताविग्रह की विशुद्ध महिमा को भावभूमि में अवतारित कर लेते हैं, जिसका केवल बाह्य और स्थूल उपकरणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु, यहाँ पर हमें एक और मन्दिर का भी ध्यान आता है, जिसकी जानकारी हमें बहुत पहले से है और जो प्रायः उतना ही पुराना है तथा सम्भवतः उसी तरह के नक्शे पर बनाया गया है; वह है सिऑन (Sion)[२] का मन्दिर; इसकी लम्बाई तो ठीक सोमनाथ के मन्दिर जितनी ही है परन्तु यह 'बुद्धिमान् राजा'[३] का मन्दिर चौड़ाई और ऊँचाई में सोमनाथ से कम है। फिर भी, 'यहूदी इतिहासकार'[४] ने कहा है कि उन दिनों में और उन देशों में 'ऐसा दूसरा मन्दिर पहले नहीं बना था।' 'जब इज़राइल के निवासी सीरिया के देवता, बालिम (Baalim)[५] और अष्टरथ (Ashtaroth)[६] तथा

---

१ इटली का प्रसिद्ध नगर।

२ जेरूसलम के पास सिऑन पर्वत पर निर्मित गि :

३ हॉड्रिअन।

४ जॉसेफस (Josephus), समय ३७ ई० से ९५ ई० 'History of Jewish Wars' और 'Antiquities of the Jews' का कर्त्ता।

५ सीरिया में 'Baal' वाल शब्द ग्राम-देवता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'बालिम' 'बाल' का बहुवचन है। राष्ट्रिय बॉल का पूजन 'ऊँचे स्थानों' पर होता था। बाद में कुछ पैगम्बरों ने इस प्रकार के पूजन को अमान्य कर दिया था।

Dictionary of Phrase and Fable; Brewer—p. 60

६ Astaroth (Ashtaroth) अॅष्टारॉथ—एक नगर का नाम है, जो Ashtart देवता का निवास स्थान माना जाता है। ऐसे कितने ही स्थान और नगर पहले प्रसिद्ध थे। फोनी-

अमन (Ammon)[1] व बाल-देवताओं का पूजन करते थे' उस समय के गेराज़िम (Garazim) अथवा बाल्बैक (Balbec)[2] के शून्य जनस्थानों में बने हुए मन्दिरों की अपेक्षा इस भारत के सीरिया में बने हुए बालनाथ के मन्दिर का निर्माण-समय पूर्वतन मान कर इसकी प्राचीनता को अतिरञ्जित भी हमें नहीं करना चाहिए।

यूरोप में तो हमें बहुत थोड़े ऐसे गिरजाघरों की कल्पना करनी चाहिए, जो सोमनाथ के मन्दिर से बड़े न हों; परन्तु, इसकी दैत्याकार सुदृढ़ता से मन पर विशालता का वास्तविक प्रभाव पड़ता है और ऐसा लगता है मानो काल और मानवीय विद्वेष से टक्कर लेने के लिए ही इसकी ऐसी रचना की गई है। यह उस समय कैसा लगता होगा जब इसका शिखर नाविकों के लिए मार्ग-दर्शक संकेत बना हुआ था, जब स्तम्भपंक्तियों से युक्त इसके विशिष्ट पार्श्व-मार्ग अभग्न अवस्था में थे और, सब से बढ़ कर, जब प्रवेशद्वार की गुम्बजदार छत के भग्न होने से पूर्व, मन्दिर का मुख्य उपाङ्ग, नन्दि-मण्डप, जो अपने आप में एक मन्दिर के समान था, अपने स्तम्भों और गुम्बज तथा बालनाथ के लिंग के सामने घुटने टेक कर बैठे हुए पीतल के वृषभ (जो सूर्यदेव का अन्यतम रूप है) सहित सम्पूर्ण अवस्था में विद्यमान था!

अस्तु, अब पुन: विवरण की बात पर आते हैं; पहले बाहरी भाग को लीजिए; बीठ (Beeth) अथवा स्तम्भाधार भूमि चार भागों में विभक्त है और प्रत्येक का नामकरण उस भाग में हुए संगतराशी के काम पर हुआ है। पहले भाग में साधारण इजारों के मालाकार दानों पर ग्रहों के बहुत से मस्तक बने

शिया में प्राप्त कितने ही शिलालेखों से इस देवता के अस्तित्व और पूजित होने के प्रमाण भी मिले हैं। यह कैनॅनाइट्, फोनीशियन और हिब्रू देवता है। इसका उच्चारण 'अश्तर' और 'इश्तर' अथवा 'अश्-तर-तु' (Ash-tar-tu) भी किया जाता है। 'तु' प्रत्यय स्त्री-लिंग का वाचक है। यह सेमिटिक देवता मानी जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुरुष और स्त्री, दोनों ही रूपों में इसकी पूजा होती थी। बन्धनरहित यौन-प्रेम, मातृत्व और प्रजनन तथा युद्धदेवता के रूप में इसकी उपासना होती थी।

Encyclopedia of Religion and Ethics;
Hastings Vol. 2; p. 115-118

[1] मिस्र का वृहद् देवता। इसका पूजन यूनान तक फैल गया था, जहां यह ज्यूस (zeus) नाम से और रोम में ज्यूपिटर एम्मोन (Jupiter Ammon) नाम से प्रसिद्ध था। इसकी भविष्यवाणी अफ्रीका में सिकन्दर के आगमन के बाद प्रसिद्ध हुई थी।

[2] Baalbac (बॉलबेक) नामक नगर का निर्माण जेनी (Genie) ने जान-बेन-जान के आदेश से कराया था। पूर्वीय पुराण-कथाओं में कहा गया है कि जान बेन जान 'आदम' से भी बहुत पूर्व लोकों का स्वामी था।

Dictionary of Phrase and Fable; Brewer—p. 60

हुए हैं, जो हिन्दू पौराणिकों के ग्रिफ़िन (Griffin)[1] हैं। एक हल्की-सी मेखला इसको दूसरी शीर्ष-पंक्ति से विभक्त करती है जो गज-तूड़ (Guj-turh) अथवा गज-पंक्ति कहलाती है और इसमें इस श्रेष्ठ पशु की गले तक की अर्धाकृतियाँ बनी हुई हैं। इसके ऊपर अश्व-तूड़ (aswa-turh) है, जिसमें विविध भंगियों में अश्व बने हुए हैं और इससे भी ऊपर की पट्टी में, जो कुछ अधिक चौड़ी है, (ईश्वर के मन्दिर में विशिष्ट माने गए) मतवाले मद्यपी नर्त्तकों की टोलियाँ उत्कीर्ण हैं, जो विविध प्रकार के वाद्य लिए हुए हैं और नाना प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित कर रहे हैं।[2] पीठिका से ऊपर उत्कीर्ण आकृतियाँ कुछ बड़ी हैं और समूहों में बनी हुई हैं, परन्तु वे इतनी छिन्न-भिन्न हैं कि उनका विवरण देना असम्भव है। एक स्थान पर कुछ बचे हुए अंशों से पता चलता है कि उनमें रहस्यमय 'रासमण्डल' की उन 'स्वर्गीय अप्सराओं' का अंकन हुआ है जिनकी ताल और गति समस्त लोकों की ताल और गति का प्रतिरूप है। यद्यपि उनके शिर, बाहु और पैर मुसलिम-हथौड़े के शिकार हो चुके हैं परन्तु कुछ बचे हुए मुख्य भागों से ज्ञात होता है कि इनमें कोरणी का उत्कृष्ट काम हुआ है।

मण्डप का गुम्बज पूर्ण है परन्तु दुर्भाग्य से यह मूल आयोजना के अनुरूप नहीं है इसलिए यह विश्वास नहीं होता कि यह हिन्दू-निर्मिति है। मेहराब की चौड़ाई बत्तीस फीट है और सिरों पर चपटे अर्द्धाण्ड का भाग होने के कारण इसकी ऊँचाई व्यास से अधिक है अर्थात् धरातल से मेहराब को उठान तक लगभग तीस फीट है।[3] छतरी आठ खम्भों पर टिकी हुई है (जो अष्टकोण बनाते हैं) जिनके शीर्ष घने अतिभारी पट्टों द्वारा सम्बद्ध हैं; गुम्बज की आकृति एक जहाजी पिण्ड के समान है और इस पर कितनी ही परतें चढ़ी हुई हैं, जैसे छोटे डबोरे, सफेद मिट्टी और ऊपर चूने की लोई; इसका आपेक्षिक गुरुत्व महान है, रचना असामान्यतया सुदृढ़ है और टकोरने पर इसमें से धातु के

---

[1] ग्रीक देवशास्त्र के काल्पनिक जन्तु, जिनके पैर और पंजे शेर के समान तथा चोंच और मुख बाज के समान माने गये हैं।

[2] वास्तुशास्त्र में ये तीन प्रकार के थर (स्तर ?) कहलाते हैं—१. गजथर, २. अश्वथर और ३. नरथर।

[3] मेरी नोंध में यहाँ कुछ गड़बड़ी है। मैं ज्यों की त्यों शब्दावली उद्धृत करता हूं। 'मेहराब (arch) की चौड़ाई (Span) बत्तीस फीट है, उसकी ऊँचाई भी प्रायः, इतनी ही है और धरातल (ground) से उठान या कमान (Spring) तीस फीट है।' मैं समझता हूँ कि मैंने भूल से शीर्ष(Vertex) के स्थान पर Spring (कमान) लिख दिया है।

समान ध्वनि निकलती है। इन खम्भों और उनके शीर्षपट्टों की स्थिति से, जो एक अर्द्धाण्डाकार गुम्बज के लिए अष्टकोण आधार बनी हुई है, यह प्रमाण मिलता है कि 'आड़ी डाट' के सिद्धान्तानुसार इस छतरी की मूल आयोजना हिन्दू-प्रकार की ही रही है; परन्तु, वर्तमान मेहराब अधिक वैज्ञानिकता और सप्रकाश स्पष्टता के आधार पर बनी हुई है और इसमें ईंटों का प्रयोग भी हुआ है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश हो जाते हैं कि, हिन्दू कारीगरी हो अथवा तुर्क परन्तु इतना अवश्य है कि, यह मूल इमारत का भाग नहीं है। इसी का एक और भी सबल प्रमाण है, जो इस अनुमान की पुष्टि करता है कि यह मुसलिम कारीगरी है। मुखभाग के अतिरिक्त, जिससे दालान में होकर निज-मन्दिर में जाते हैं, इसकी अन्त:स्तम्भ-संघटना सुघड़ और मेहराबदार है और ये मेहरावें एक को छोड़ कर एक नुकीली अथवा दीर्घवृत्ताकार हैं। छतरी के मुख्य भाग, जिसका अभी वर्णन किया गया है, और निज-मन्दिर के बीच में एक विस्तीर्ण आच्छादित और स्तम्भपंक्तियुक्त अलिन्द है, जिसमें अब कूड़े और मलबे का ढेर लगा हुआ है, जिससे प्रवेशद्वार अवरुद्ध हो गया है। यह विध्वंस का ढेर अभी हाल ही का है और कहते हैं कि यह तोपों की गड़गड़ाहट के कारण हुआ है; ये तोपें, लड़ाई के समय, किनारे पर मंडराने वाले फ्रांसिसियों के सामान्य जहाजों को रोकने के लिये मन्दिर की छत पर लगाई गई थीं। जैसे-तैसे मैं गुहा-गृह में गया, जो तेवीस फीट लम्बा और बीस फीट चौड़ा सामान्य-सा अन्धेरा कमरा है, जिसमें एक भीतरी सुरंग है, जिसमें होकर सम्भवत: बालनाथ के महन्तजी मण्डप में बैठे हुए भक्तजनों तक अपने सहयोगियों द्वारा दैवी उपदेश पहुँचाया करते होंगे। जहाँ शिव का महालिङ्ग स्थापित था वह स्थान अब ध्वस्त पड़ा है और पश्चिमी दीवार में 'मक्का पाक' की ओर देखता हुआ 'मुल्लां का धर्मासन खुदा हुआ है। मुख्य कक्षों और बाहरी दीवार के बीच में भारी-भारी खम्भों की पंक्ति है, जिन पर बने हुए चपटे अथवा अर्द्धवृत्ताकार बाहर निकलते स्तम्भशीर्षों पर छत की पट्टियां टिकी हुई हैं। इनमें प्रयुक्त सामग्री जूनागढ़ की पहाड़ियों से निकले हुए ठोस बलुआ पत्थर की है, जिसको गढ़ कर चौकोर अथवा आयताकार शीर्ष बनाए गये हैं और वे चूना मिली हुई बजरी से, जो कंकर कहलाती है, पुख्ता कर दिये गये हैं। यह बजरी पाटण के आसपास के गड्ढों से खोद कर निकाली जाती है।

परन्तु, सौरों का यह बालनाथ का मन्दिर इसके चारों ओर बने हुए छोटे-छोटे देवालयों से स्पष्ट ही बड़ा और सुन्दर है, और इन्हीं से अपना गौरव ग्रहण करता है। इस बात में भी यह सुलेमान के मन्दिर से अनुरूपता लिए हुए है,

जिसके विषय में व्याख्याकारों ने कहा है कि 'यह एक छोटी-सी इमारत है, परन्तु, इसके आसपास बनी हुई बहुत सी कचहरियों और कार्यालयों के कारण सब मिला कर यह एक विशाल ढेर सा लगता है।' सोमनाथ का मन्दिर अपने ही ऊँचे परकोटे से घिरे हुए एक विशाल चौकोर चौक के बीच में खड़ा है। इसके आसपास में बने हुए छोटे-छोटे मन्दिर, जो उपग्रहों के समान सोमनाथ की शोभा बढ़ाते थे, अब भूमिसात् हो गये हैं और उनके मलबे से मसजिदें, दीवारें और मर्त्यों के आवास निर्मित हो गए हैं। चौक के विस्तार का सीधा और सरल अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि बालदेव और उनके पुजारियों के अभिषेक के लिए बना हुआ जल-कुण्ड मुख्य मन्दिर से पूरे एक सौ गज की दूरी पर है। बड़ी मसजिद के, जिसे जुमा मसजिद (Joomma Masjid) कहते हैं, बनाने में कम से कम पाँच छोटे मन्दिरों की सामग्री लगी होगी क्योंकि इसके पाँच छतरीदार गुम्बज अपने समस्त उपकरणों सहित विशुद्ध हिन्दू, शैली के हैं और खम्भों की तिहरी पंक्ति से घिरे हुए जिस विशाल आँगन के मध्य यह मसजिद स्थित है उसके निर्माण में बारह और मन्दिर समाप्त हो गए होंगे।

ऐसा था, और ऐसा है सोमनाथ का मन्दिर, जो अब भी आदरणीय है; हिन्दुओं के समृद्धिशील और विजयोल्लास के दिनों में तो यह अपने प्रबन्धोपकरणों सहित और भी अधिक गौरवपूर्ण रहा होगा! इस समय जो इसकी दुर्दशा हो रही है उसकी कल्पना स्वयं महमूद ने भी शायद ही की हो। हिन्दुओं में इसके प्रति समस्त पूज्यभाव लुप्त हो गया प्रतीत होता है। प्रवेश-द्वार पर बनी हुई मीनारों तथा मक्का की ओर देखते हुए मुल्लाँ के धर्मासन के प्रति मुसलमानों में किञ्चित् भी श्रद्धा नहीं रह गई है और भ्रष्ट सूर्य-मन्दिर को पुनः पवित्र करने के लिए गङ्गा का सम्पूर्ण जल भी अपर्याप्त होगा। हुल्कर महान् की पत्नी अहल्याबाई ने, जिसकी परोपकारिता भारत में कैलास से लेकर पृथ्वी के छोर तक सुप्रसिद्ध है, एक छोटे से मकान के स्थल पर मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया है, जहां अब भक्त लोग सोमनाथ का पूजन करते हैं। इसके समीप ही बड़ौदा के दीवान ने एक विशाल धर्मशाला बनवाई है, जिसके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

मन्दिर के लिए चुने हुए स्थल को सुन्दरता में और कोई स्थल नहीं पा सकता; यह एक आगे निकली हुई चट्टान पर खड़ा है, जिसके तल को समुद्र प्रक्षालित करता है। यहां प्रबल जलराशि के छोर पर टिकी हुई दृष्टि जब उसके अनन्त विस्तार में खो जाती है तब लहरों के एक मात्र गर्जन में भक्त को एक प्रकार की वरदानमयी शान्ति का अनुभव होता है। उसके सामने वेलावल तक

फैली हुई खाड़ी है, जिसके स्पष्ट और गौरवपूर्ण वक्रता लिए हुए तट की सुनहरी वालुका में लहरें निरन्तर हलचल पैदा करती रहती हैं। भारत में तो इसकी समानता करने वाला स्थल कोई है ही नहीं, अपितु संसार की सुन्दर से सुन्दर पैन्ज़ान्स (Penzance)[1] से सैलेरम (Salerum)[2] तक जिन वड़ी-बड़ी खाड़ियों को उनकी पृष्ठभूमिगत समस्त सज्जा-सहित सन्ध्या की मनोरम घड़ियों में मैंने देखा है, उनमें से किसी ने भी पट्टण की खाड़ी से बढ़ कर मेरी कल्पना को इतनी प्रवलता से प्रभावित नहीं किया। वेलावल का बन्दरगाह और उसके ऊपर का भू-भाग अपनी विशाल श्यामल भित्तियों सहित, जो यूरोपीय समुद्री लुटेरों से रक्षार्थ निर्मित की गई थीं, दृष्टि-विराम के लिए एक आकर्षक दृश्य उपस्थित करता है और यहीं से भूमि का रुख उत्तर में द्वारका की ओर घूम जाता है। गिरनार के शिखर, जो यहां से बीस कोस की दूरी पर हैं (उ० ७० पू०), विशिष्ट भावनाएं उत्पन्न करते हैं और यदि दर्शक अधिक शान्त दृश्यों में रमने वाला हो तो आसपास का प्रदेश उसकी रुचि के दृश्य उपस्थित करता है। ये मैदान वन-संकुल हैं और प्रकृति एवं उसकी कला दोनों ही ने इनमें विचित्रता उत्पन्न कर दी है।

ऐसा है मूर्तिपूजकों का यह मुख्य मन्दिर, जिसके ध्वंस को हिज़री सन् ४१६ (१००८ ई०) में गज़नी के सुलतान ने एक 'धार्मिक कर्तव्य' की संज्ञा दी थी। यह अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है कि इस युद्ध का विवरण, जो कि इसलामी इतिहासकारों के लिए गौरव का विषय था और जो वीरता इसमें प्रदर्शित हुई थी उसकी समानता करने वाला वर्णन 'क्रूसेडर्स' के धर्मयुद्ध के इतिहास में भी नहीं मिलता, अवश्य ही वज्र-लेखनी से इस मन्दिर के प्रत्येक पत्थर पर लिखा गया होगा; परन्तु, यह वात जितनी अविश्वसनीय लगती है उतनी ही सत्य भी है कि पूर्वकाल में क्रूरतम यातनाओं के कारण जाति-विशेष पर कितनी ही आपदाएँ आ पड़ी हों, फिर भी आज इस देवनगर में महमूद महान् का नाम तक किसी मुसलमान के लिए उसी प्रकार अपरिचित है जिस प्रकार किसी ब्राह्मण, वनिए अथवा विणजी के लिए। मेरे मित्र मिस्टर विलियम्स और उनके समस्त अधिकारों की सहायता से भी मुझे एक भी परम्परागत मौखिक

---

[1] इंगलैंड के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर कॉर्नवाल का एक सुन्दर वन्दरगाह। यह मछली पकड़ने का केन्द्र है और यहाँ से टिन, तांवा और चीनी मिट्टी का सामान बाहर भेजा जाता है।—N. S. E., p. 985

[2] इटली का वन्दरगाह। यहाँ ११वीं शताब्दी का बना हुआ एक गिरजाघर है, जिसमें सुन्दर लकड़ी में कुराई का काम हो रहा है। वही, पृ० १०६२।

अथवा उत्कीर्ण वृत्तान्त उस व्यक्ति के विषय में नहीं मिला, जिसने हिन्दुओं से एक शाश्वत अपकीर्ति प्राप्त करने में गर्व का अनुभव किया था; और, यद्यपि बालदेव के मन्दिर के किसी समय गर्व से उन्नत रहने वाले शिखर के बिखरे पड़े खण्ड फरिश्ता[1] को जानने वाले के लिए किसी पुस्तक से कम नहीं हैं, फिर भी उन लोगों के लिए, जिनसे उनका अत्यधिक सम्बन्ध है, वे रून (Runes)[2] अक्षरों के समान दुर्वाच्य और दुर्बोध वस्तुएं हैं। मानव जाति कितनी सुखी और प्रसन्न होती यदि महत्वाकांक्षा के सिर पर झूठे और बाहरी आकर्षण को लिए हुए ताज के बजाय, जो बुद्धिमान् से बुद्धिमान् को भी ललचा कर विनाश की ओर ले जाता है, अन्धकार और विस्मृति का आवरण पड़ा होता ! परन्तु, जोप्पा[3]

---

[1] फरिश्ता का पूरा नाम 'मोहम्मद कासिम हिन्दूशाह' था। वह पर्सियन वंश का था और कैस्पियन सागर के तट पर अस्तराबाद नामक नगर में १५७० ई० के लगभग पैदा हुआ था। प्राय: १२ वर्ष की अवस्था में ही वह अपने पिता के साथ भारत में आया था और आजीवन अहमदनगर के निजामशाही दरबार में रहा। बहुत छोटी अवस्था में ही उसने ऐतिहासिक वृत्तों का संकलन आरम्भ कर दिया था और १५९६ ई० के लगभग तो उसने बीजापुर के शासकों का वृत्तान्त पूरा कर लिया था। उसकी पुस्तक का मूल नाम 'गुलशने इब्राहिमी' है परन्तु वह 'तारीख-ए-फरिश्ता' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इस पुस्तक का फारसी मूल तो १९०५ ई० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था और उर्दू अनुवाद भी १९३३ ई० में इसी मुद्रणालय से निकला था। जॉन ब्रिग्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'History of the Rise of Mahomadan Power in India till the year 1612 A.D. के प्रथम भाग में 'तारीखे फरिश्ता' का अंग्रेजी अनुवाद है, जिसको इतिहास के विद्वान् प्राय: उद्धृत करते रहते हैं। यह पुस्तक कलकत्ता से १९१० ई० में प्रकाशित हुई है। फ़रिश्ता की मृत्यु १६११ ई० के लगभग हुई मानी जाती है।

[2] स्कैण्डिनेविया की एक दुर्वाच्य लिपिविशेष। पहले इस में २४ अक्षर थे फ़िर १६ रह गए। इन अक्षरों में मरोड़ नहीं होती। ग्रेट ब्रिटेन के प्राचीन शिलालेखों में यह लिपि मिलती है। हड्डी, धातु और मुद्राओं में भी ये अक्षर खुदे मिलते हैं।

—N.S.E.; p. 1078

[3] Joppa पेलेस्टाइन का एक प्राचीन बन्दरगाह। इसको हिब्रू में 'जफो' और अरबी में 'याफ़ा' या 'जफ़्फा' कहते हैं। स्ट्रैबो ने लिखा है कि यह समुद्री लुटेरों का अड्डा था, इस कारण यहूदियों के युद्ध में इसको बरबाद कर दिया गया। आधुनिक नगर के दक्षिण में एक छोटी सी खाड़ी है, जो 'बिर्केत-अल्-कम्र' (चंद्र-सरोवर) कहलाती है; सम्भवतः वहीं प्राचीन बन्दरगाह भी था। ११८७ ई० में सलादीन ने इस नगर पर अधिकार कर लिया था और ११९१ ई० में रिचार्ड प्रथम ने इसे मुक्त करा दिया, परन्तु ११९६ ई० में मलिक-अल-आदिल ने पुनः इस पर कब्ज़ा कर लिया। १७९९ ई० में नेपोलियन ने भी इस नगर पर धावा मारा था। उस समय यह परकोटे से घिरा हुआ था, जिसको बाद में

(Joppa) एक्रे (Acre)[१] और पवित्र पहाड़ी (Holy Hill) की भी यात्रा करने वाले को, यदि वह वहां रिचार्ड कोर डी लायन (Richard Coeur de Lion) अथवा उसके अधिक योग्य विपक्षी सैलॅडिन के विषय में जानकारी करना चाहे तो क्या इससे अधिक सफलता मिल सकेगी ?

अन्त में, हमारे मुक़ाम के अन्तिम दिन, पाण्डुलिपियों की अब तक की असफल खोज का सुफल मिल ही गया, और मेरे मित्र के एक कर्मचारी ने एक पुराने काज़ी के अज्ञ वंशज से, जिसको यह पता भी न था कि 'इसमें क्या लिखा है,' एक काव्य की खण्डित प्रति प्राप्त की, जिसमें भूतकाल का कुछ वृत्तान्त अंकित था। इसको देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह किसी मूल फारसी कविता का शुद्ध हिन्दी बोली में रूपान्तर है, जो किसी राजपूतों के कवि [भाट] ने किया है। मैंने उत्सुकतापूर्वक इसको हथिया लिया और अब, इसकी पद्यात्मकता को अलग रख कर, प्रसन्नता से 'पाटण के पतन' की कहानी सरल गद्य में पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

'हाजी महमूद मक्का से एक व्यापारिक जहाज में आया और पट्टण से उत्तर-पश्चिम में तीस मील की दूरी पर माँगरोल बन्दरगाह पर उतरा, इसी कारण वह 'माँगरोली शाह' कहलाने लगा। वहाँ से वह पट्टण आया और एक रैंवारी के घर शरण लेकर रहने लगा। यहाँ पर उसको ज्ञात हुआ कि सोमनाथ की प्रतिमा के आगे नित्य एक मुसलमान की बलि दी जाती हैं और उसके रक्त से ही मूर्ति पर टीका लगाया जाता है। अधिक जिज्ञासा होने के कारण वह नगर में गया और वहाँ एक विधवा तेलिन से छाती फाड़-फाड़ कर रोने का कारण पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसके इकलौते पुत्र को पुजारियों ने बालनाथ के अर्पण करने के लिए माँगा है। हाजी ने उसे प्रसन्न रहने को कहा और उसके पुत्र को बचाने के लिये स्वयं बलि चढ़ जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु, जब राजा को यह सूचना दी गई कि कोई विदेशी तेली के पुत्र को बचाने के लिए जान दे रहा है तो यह विचार रद कर दिया गया। उधर वह सन्त किसी

अंग्रेजों ने पुख्ता करा दिया था। यह जरूसलम के बन्दरगाह से एक सड़क द्वारा सम्बद्ध है। यहाँ की आबादी में मुसलमान अधिक हैं। यहाँ पर एक 'कायम मुकाम' या गवर्नर रहता है।—E.B. Vol. XIII; p. 746

[१] Acre—पैलेस्टाइन का बन्दरगाह जो जेरूसलम से ८० मील दूर है। सलादीन ने इस पर अधिकार किया, उसके बाद Crusaders ने इसे पुनः ले लिया था। रिचार्ड प्रथम ने इसे फिर जीत लिया।—N.S.E.; p. 10

भी तरह हठ नहीं छोड़ता था। मन्दिर पहुँच कर वह बाहरी सीढ़ियों पर बैठ गया, जहाँ से नन्दी की पीतल की प्रतिमा के पास जाते हैं और जहाँ बलि चढ़ाई जाती है। राजा और कार्यकर्त्ता पुजारी आदि को पहले ही वहाँ बुला लिया गया था और बलि-पात्र भी वहीं उपस्थित था। हाजी ने राजा से पूछा कि 'क्या चढ़ाई हुई भेट को नन्दी खा जायगा ?' राजा ने कहा, 'नहीं, परन्तु, यह परम्परा है कि लड्डुओं की भेंट सदा ही चढ़ाई जाती है।' तब हाजी ने पानी मँगवाया और जब एक भक्त कुण्ड में से पानी लाने चला गया तो उसने लड्डुओं की परात उठाई और नन्दी के मुंह के पास ले गया, जो लपालप लड्डू खाने लगा। यह देख कर सभी आश्चर्यचकित हो गए और जब हाजी ने 'अल्लाहो अकबर' की बांग लगाई तो सोमनाथ का लिङ्ग अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर एक हब्शी प्रकट हुआ, जिसको हाजी ने अपने प्याले में जल लाने का हुक्म दिया। जब वह जल ले आया तो, कहते हैं कि, तुरन्त ही खबर मिली कि कुण्ड का पानी सूख गया और पवित्र मछलियां नष्ट होने लगीं; तब पानी का प्याला वापस कर दिया गया और कुण्ड में पानी पुनः उफ़लने लगा। तेली के लड़के की जान तो बच गई परन्तु पट्टण के मूर्तिपूजकों को दण्ड देने के लिए हाजी ने, अपनी चमत्कारिक योग्यता को ही पर्याप्त न मानते हुए, तुरन्त ही एक सन्देशवाहक को गज़नी रवाना कर दिया। जब संत का आज्ञा-पत्र महमूद के पास पहुंचा तो वह क्रोध के मारे प्रायः अन्धा हो गया, परन्तु जब उसने उस पवित्र लेख को आदरपूर्वक अपने सिर के लगाया तो उसकी दृष्टि लौट आई।' इस चमत्कारिक उपचार के सम्पन्न होते ही कूच का हुक्म तो होना ही था।

हाजी की करामात में हमारा विश्वास हो या न हो, परन्तु इस कथा का तिथिक्रम तो किञ्चित् भी विश्वसनीय नहीं है और सम्भवतः हिन्दू भाट ही, जिसने ईरान की परिष्कृत भाषा में अपनी 'भाखा' मिला दी है, इस ऐतिहासिक तिथिव्युत्क्रम के लिए उत्तरदायी है। इसमें बताया है कि महमूद ने शाह के कोपभाजन स्थल मांगरोल में आने के लिए सतलज को उस स्थान पर पार किया, जहाँ वह सिन्धु से मिलती है और वह जैसलमेर के (जो दो शताब्दी के बाद बना था) रेगिस्तान में होकर आया। इस हस्तलेख में लिखा है कि पट्टण-विजय करने से पूर्व महमूद के चौबीस हजार आदमी मारे गए। उसके द्वारा नगर पर अधिकार करने के विवरण में तिथि-सम्बन्धी और भी गड़बड़ियां हैं। लिखा है कि उस समय कुमारपाल पट्टण का राजा था और उसका भाई जयपाल मांगरोल पर शासन करता था। अब, क्योंकि महमूद का आक्रमण १००८

(अथवा १०२५) ई० में हुआ और कुमारपाल की मृत्यु ११६६ ई० में हुई, इससे यह विचार होता है कि यह शायद कोई वह आक्रमण था जिसका (मुसलिम इतिहास में उल्लेख होने से रह गया है) चरित्र में वर्णन हुआ है और जिसके परिणाम में कुमारपाल की राज्यच्युति, धर्मपरिवर्तन [तबलीग़] और मृत्यु हुई तथा उसके पश्चात् 'पागल' अजयपाल गद्दी पर बैठा। इस सब में मुख्य रुकावट और गड़बड़ी महमूद के नाम की है; परन्तु, यही नाम अथवा गज़नी की गद्दी पर उसके क्रमानुवर्तियों में से मौदूद का नाम भी अप्रसिद्ध नहीं था। फिर, 'चरित्र' का यह उल्लेख भी इसके पक्ष में ही है कि कुमारपाल ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और इसके गुम्वज पर सोना चढ़वाया, इत्यादि। इससे मेरा यह कथन भी पुष्ट हो जाता है कि इसकी नींव में उलटी मूर्तियां लगी हुई हैं, परन्तु, इस हस्तलेख का आधार प्रत्यक्ष में अधिक प्रामाणिक है।

"बादशाह ने महासरोवर पर मोर्चा लगाया और पट्टण के राजा ने भलका-कुण्ड पर। पूरे एक मास तक बहुत-सी लड़ाइयां हुईं और दोनों ही ओर से खूब खून-खच्चर हुआ। सुलतान ने अपने पीछे की ओर मजबूत मोर्चा जमाया और इसी तरह पवित्र त्रिवेणी पर भी सुदृढ़ प्रबन्ध किया; परन्तु, हमीर[1] और बेगड़ा गोहिल बंधुओं ने, जो पट्टण के राजा की सहायता के लिए आए थे, उनकी सेनाओं को काट कर छिन्न-भिन्न कर दिया। इस तरह पांच मास व्यतीत हो गए तब दूसरा घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सुलतान की सेना के नौ हजार और हिन्दुओं के सोलह हजार आदमी मारे गए। परन्तु मजहबी सेनाएं दबाव डालती रहीं और सुलतान ने कंकाली के मन्दिर पर कब्ज़ा कर लिया। उसने वहीं पर अपना मुख्यस्थान कायम किया और उन इमारतों पर धावा बोलने का हुक्म दिया जिनसे सोमनाथ की रक्षा हो रही थी। उसको विजयश्री का लाभ होने ही वाला था कि उसी दिन हाजी मर गया। तीन दिन तक उसने खाना नहीं छुआ और कुछ समय तक सन्त के दर्शन न मिलने से उसका शोक

---

[1] यह हमीर लाटी और अरटीला के ठाकुर भीमजी गोहिल का छोटा पुत्र था। जब १४६० ई० में महमूद बेगड़ा ने सोमनाथ पट्टण पर चढ़ाई की तब वह अपने मित्र और श्वसुर बेगड़ा भील की सहायता से पांच-सौ साथियों के साथ सोमनाथ की रक्षा करता हुआ युद्ध में काम आया था। बेगड़ा भील की पुत्री से जो हमीर की सन्तान हुई उसके वंशज देव ज़िले में नाघेर नामक स्थान में अब भी पाए जाते हैं और वे गोहिलकुली कहलाते हैं। अतः उक्त घटना महमूद गज़नवी के आक्रमण के समय की नहीं है। ग्रन्थकर्ता ने भ्रमवश दोनों आक्रमणों की घटनाओं को घिलमिल कर दिया है।

—रासमाला (हिन्दी अनुवाद) द्वि. भा.; पृ. ११२-१३

रा.प्रा.वि.प्र. में भी 'अरजन हमीर की वार्ता' शीर्षक एक हस्तप्रति सं० २१५६ परहै। जिसमें इस घटना का रोचक वर्णन दिया गया है।

और भी बढ़ गया।' (इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह काफ़िरों के हाथों में पड़ गया था) 'इस अवसर पर यद्यपि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के अधिक आदमी मारे गए थे परन्तु वे (हिन्दू) सन्धि के लिए प्रयत्न कर रहे थे और सभी तरह के दूत, चारण, भाट अथवा अन्य सन्देशवाहक महमूद के पास यह संवाद लेकर भेजे गए कि वह किसी भी शर्त पर और कितना भी धन लेकर आक्रमण बन्द कर दे। परन्तु, सोमनाथ के मन्दिर में सिजदा पढ़ने से कम किसी भी शर्त पर उसको सन्तोष नहीं हुआ। छठे मास में फिर घमासान युद्ध हुआ, जिसमें दोनों राजपूत योद्धाओं के मारे जाने पर शेष योद्धा रानी की रक्षा का प्रबन्ध कर के शत्रु का सामना करने के लिए सन्नद्ध हो गए। इस विशाल प्रतिरोध को बलपूर्वक रोकने में असमर्थ सुलतान ने चाल से काम लिया और समस्त रक्षकों को नियत स्थानों से हटा लिया। उसने पीछे हटने का बहाना किया, सभी उपलब्धियों को छोड़ दिया और चौकियों को तोड़ कर पर-कोटे से पाँच कोस पीछे हट गया। घिरे हुए योद्धा उसके जाल में फँस गए और अपने को मुक्त समझ कर खुशी के नारे लगाने लगे तथा हर्षोन्माद में प्रबन्ध को ढीला कर बैठे।

'उस दिन जुमेरात अर्थात् इसलाम का रविवार[1] था। मध्यरात्रि में पैग़म्बर का हरा झण्डा खोला गया और ज़फर व मुज़फ्फर नामक दो भाइयों की अधीनता में एक चुनी हुई फौज की टुकड़ी के सुपुर्द किया गया। वे चुपचाप दरवाजे पर पहुँच गए। एक विशाल हाथी, जिसका सुदृढ़ मस्तक पुराने ज़माने में दरवाज़ा तोड़ने के हथियार की एवज काम में लिया जाता था, द्वार के निकले हुए लोह-शूलों से युक्त कपाटों से जा टकराया; उस समय एक ऊंट को हरौल बनाया गया जिसके भारी शरीर के बीच में आ जाने से आक्रमणकर्ता का मस्तक बच गया और दरवाजे के किवाड़ टूट कर दूर जा गिरे। अन्दर युद्ध का ज्वार उठा और ज़फर बन्धुओं की अग्रिम टुकड़ी की सहायता के लिए स्वयं महमूद की अध्यक्षता में मुख्य सेना भी तुरन्त आ पहुँची। उस दिन अन्धाधुन्ध मारकाट मची। खुदा की बरकत और इसलाम के ईमान के नाम पर पट्टण की गलियों में खून की नदियाँ बह चलीं और जिन्होंने पैग़म्बर के नाम पर रहम की प्रार्थना की उनके सिवाय कोई भी स्त्री, पुरुष किसी भी दशा में, शक्त, अशक्त, बच्चा या बुड्ढा तातार की पाशविक फौलादी तलवार से न बच सका। अप-

---

[1] जुमेरात शुक्रवार को कहते हैं; यहाँ रविवार से छुट्टी का दिन अथवा प्रार्थनादिवस से तात्पर्य है।

रिचित भाषा में किए हुए आत्मसमर्पण के निवेदन को सुनने-समझने वाला भी शायद कोई ही उस उत्तर से आए हुए बर्बर लोगों के काफिले में रहा हो, जो सभी प्रकार की दुर्भावनाओं से उत्तेजित हो रहे थे। लम्बे समय तक चले घेरे में नष्ट हुए मित्रों और सम्बन्धियों का बदला, धर्मोन्माद, जिसमें प्रत्येक काफिर का धड़ से जुदा किया हुआ सिर अहले-ईमान के लिए पैगम्बर द्वारा स्वीकार्य निजात [मुक्ति] का तोहफा बना हुआ था; ये भावनाएं और इन जिद्दी लोगों में इससे भी प्रबल लूट और वासना के प्रलोभन की दीवारें खड़ी हुई थीं जो दया के प्रवाह को आगे बढ़ने से रोक रही थीं। उधर, सोमनाथ के रक्षक राजपूत सर्वस्व होम देने की भावना से लड़ रहे थे; मानवीय शौर्य को उद्बुद्ध करने के अन्य सभी प्रलोभनों के अतिरिक्त वैकुण्ठ-प्राप्ति की सतत आशा उनकी दृष्टि के आगे खेल रही थी। वे यह भली भाँति जानते थे कि उनके प्राणों की रक्षा केवल एक शर्त पर अवलम्बित थी, और वह थी—उनके मन्दिरों का विनाश, धर्म का परित्याग और मोहम्मद की वेदी के सामने प्रणिपात। नगर में खून के पनाले वह गए, धर्म, अरमान और प्रतिष्ठा की खातिर दोनों ही पक्षों के अगणित योद्धा मौत के शिकार हो गए, चुनी हुई सेना की टुकड़ी के अगुआ ज़फर और मुज़फ्फर भी मारे गए और मन्दिर के पश्चिम में उनकी याद में बनी हुई मसजिद उस स्थान को बतला रही है, जहाँ वे शहीद हुए थे। सड़कें लाशों से रुंध गई थीं और हज़ारों मृत शरीर सोमनाथ के मन्दिर के आसपास बिखरे पड़े थे। फिर भी, महमूद और उसके साथ उत्तर से आए हुए अबर सिपाहियों के सभी प्रयत्न व्यर्थ गए, क्योंकि उस दिन इसलाम का झण्डा उस परकोटे पर न फहर सका, जो हिन्दुओं के पैलाडिअम (Palladium),[1] संरक्षक देवता के चारों ओर घिरा हुआ था।

'निर्णायक संघर्ष के घटने में अधिक समय नहीं लगा; अपने राजा की अध्यक्षता में सात-सौ वीरों ने मन्दिर के मुख्य द्वार पर अपने देवता की प्रतिमा को भ्रष्ट होने से बचाने के लिए प्राणान्त युद्ध किया। इससे पूर्व सुलह के लिए चालीस लाख (द्रम्म) देने का प्रस्ताव किया गया, जिसको लोभ अथवा उदारतावश महमूद ने स्वीकार भी कर लिया था, परन्तु सलाहकारों के तिरस्कार ने उसके सुप्त शौर्य को पुनः जागृत कर दिया और 'काफ़िरों से कोई सुलह नहीं' 'मन्दिर को नेस्तनाबूद कर दो' के नारों ने उनको उस भविष्य के लिए सज्ज कर दिया, जो उनकी प्रतीक्षा में था।

---

[1] पैलास Pallas की मूर्ति, जिसकी सुरक्षा पर ट्रॉय Troy नगर की सुरक्षा अवलम्बित थी।

मन्दिर पर धावा बोल दिया गया और एक भयानक रोमहर्षण संघर्ष के बाद वह ध्वस्त हो गया। रक्षकों में से इक्के-दुक्के ही बच पाये; लिङ्ग को भग्न कर दिया गया और 'पावनानां पावन सोमनाथ' की वेदी से 'सच्चे खुदा और उसके पैग़म्बर' का नाम गूंज उठा। नगर में खुली लूट मच गई और मन्दिर से प्राप्त विपुल धनराशि के अतिरिक्त विजेताओं को इस लूट से अपार धन प्राप्त हुआ। मीता खाँ को पट्टण और अधीनस्थ प्रदेश का हाकिम बनाया गया और चौरासी अथवा एक सौ गाँवों सहित माँगरोल हाजी के एक सम्बन्धी को इनायत कर दिया गया। सुलतान के लौट जाने के बाद हिन्दुओं ने मीताखाँ के विरुद्ध सर उठाया परन्तु उनका विद्रोह उन्हीं के लिए घातक सिद्ध हुआ।' इस प्रकार हस्तलेख समाप्त होता है।

इस खण्डित हस्तप्रति में मुकाबला करने वाले राजा का नाम नहीं दिया हुआ है जो, मै समझता हूँ, सौराष्ट्र के पुराने स्वामी चावड़ा राजपूतों में से था और इस प्रसंग में फ़रिश्ता का कथन हमें ठीक प्रतीत होता है कि वह राजा एक नाव में बैठ कर बच निकला था। इसी हस्तलेख में इतिहासकार ने एक और कथा को भी लिपिबद्ध किया है, जिसमें अन्तरिक्ष में अधर लटकती हुई प्रतिमा को महमूद द्वारा गदा-प्रहार से भूमिसात् किए जाने का वृत्तान्त है। यहाँ पर यह पुनः कह देना होगा कि यह हस्तलेख किसी मूल प्रामाणिक कृति का अंश है; सम्भवतः, वह 'तारीखे-महमूद गज़नी' हो जिसको प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान की राजधानी तक में मेरी खोज बेकार गई, यद्यपि यूरोप में इस कृति की कितनी ही प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसके सूक्ष्म निरीक्षण से ही यह निर्णय किया जा सकेगा कि यह ज़खीरा उक्त कृति का ही अंश है या क्या, तभी हम किसी तरह उस राजा का नाम ज्ञात कर सकेंगे जिसने इस प्रकार जान झोंक कर वीरता से गज़नी के सुलतान का सामना किया।[1]

एक बात और है, जिसका सन्तोषपूर्ण निश्चय होने पर और भी महत्व के परिणाम निकल सकते हैं; वह यह कि, क्या वर्त्तमान खण्डहर उसी मन्दिर के अभिन्न अंश हैं, जिसको महमूद ने ध्वस्त किया था और क्या उसका धर्मोन्माद 'बाल के मन्दिर' को अपवित्र करने तथा उसको इसलामी मसजिद में परिवर्तित

---

[1] इस विषय में हिन्दू-ग्रन्थों में तो कोई प्रामाणिक वृत्तांत नहीं मिलता है, परन्तु 'इब्ने असीर' नामक ११६० ई० में लिखित पुस्तक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय भीमदेव प्रथम ही राजा था।

—देखिए, रासमाला (हिन्दी अनु०) भा० १ पूर्वार्द्ध (टिप्पणी पृ० १६१-१६४)

करने से ही शान्त हो गया था ? यदि हमें इस बात का निश्चय हो जाय कि दरवाज़े की मीनारें और मम्बार या मुल्लां का धर्मासन उसी के समय में छोड़े हुए हैं तो हम उसके द्वारा किए हुए विध्वंस का परिणाम ज्ञात कर सकते हैं। प्रत्यक्ष में किसी दूसरे इसलामी हमले का उल्लेख नहीं मिलता[1] इसलिए इस परिणाम पर पहुँचने के लिए यह और भी दृढ़ कारण उपस्थित हो जाता है कि कुमारपाल के बाद (जिसके लेख से ज्ञात होता है कि हम उसके प्रति मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए आभारी हैं) कोई भी राजा इतना समृद्ध नहीं हुआ कि जो इतनी विशाल इमारत को उठा सकता, क्योंकि उसकी मृत्यु के उपरान्त नहरवाला का साम्राज्य द्रुतगति से विनाश की ओर अग्रसर हो चुका था।

परन्तु, यदि यह अनुमान ठीक भी निकले तो एक और प्रश्न खड़ा हो जाता है, जो बड़ी दुविधा में डालने वाला है; वह यह है कि महमूद से पूर्व विध्वंसक कौन हुआ ? और, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विध्वंस या परिवर्तन इसमें अवश्य हुआ है क्योंकि एक स्तम्भाधार को ध्यानपूर्वक देखने से एक स्थल पर, जहाँ सामने का कुछ अंश हटा दिया गया है, एक भारी पत्थर पर मेरी दृष्टि पड़ी जिस पर संगतराशी का काम हो रहा है और जो अब भी नींव का मुख्य भाग बना हुआ है; इस पर तराशी हुई मूर्तियाँ उलटी हैं (अर्थात् पत्थर उलट कर रख दिया गया है) जो जीर्णोद्धार के अतिरिक्त और किसी अवसर पर सम्भव नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार की हानि के लिए खुला होने के कारण यह भाग (यथावत् है और) यह बतलाता है कि वर्तमान नींव को भरने में अधिकतर प्राचीन इमारतों का मलबा ही काम में लिया गया है। परन्तु, महमूद से पहले के किसी ऐसे आक्रामक का हमको पता नहीं है जिसके धर्म में मूर्ति-भंजन कर्त्तव्य माना गया हो और न मध्य एशिया के इन्डो-गेटिक आक्रामकों में ही कोई ऐसा था, जो ऐसी बातों की परवाह करता हो। कम से कम हमको तो यह किसी ने नहीं कहा कि वे मूर्ति-भञ्जक थे; यद्यपि, यह अवश्य है कि उन्होंने रक्षकों को आत्मसमर्पण के लिए विवश करने को बलभी में सूर्य-कुण्ड को रक्त से भ्रष्ट कर दिया था।

यद्यपि मेरे द्वारा वेला[रा]वल में खोज निकाले गए और मूलतः सोमनाथ से प्राप्त शिलालेख (परि० ७) के विषय को मैं अन्यत्र स्पर्श कर चुका हूँ, फिर भी इस स्थल पर उसको छोड़ कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता क्यों कि वह

[1] वास्तव में, सोमनाथ पर अन्तिम आक्रमण करने वाला महमूद बेगड़ा (१४९० ई०) था न कि महमूद गजनवी। —रासमाला (हिन्दी अनु० भाग २) टि० पृ० ११५

हमारे इस प्रसंग से संबद्ध है। ऐतिहासिक लेख के रूप में मैं इसके महत्त्व पर सविस्तार विवेचन कर चुका हूँ। इससे हमको दो स्पष्ट नए संवतों का पता चलता है—एक वलभी संवत् का और दूसरा सिंह (Seehoh) संवत् का; प्रथम संवत् ३७५ विक्रमाब्द से चालू है और वलभी के सूर्यवंशी राजाओं से सम्बद्ध होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरे शिलालेख (परि० सं. ४) की खोज से इसकी सन्तोषप्रद सम्पुष्टि हो जाती है। इसमें कुमारपाल के राज्यकाल को सामान्यतया विक्रम-संवत् में न लिख कर वलभी-संवत् ८५० + ३७५ = १२२५ वि. संवत् लिखा है जब कि उसका चमत्कारपूर्ण राज्यारोहण हुआ था। यह संवत् पुण्यकाल मानने योग्य है क्योंकि तभी अणहिलवाड़ा का राजदण्ड ग्रहण करने से पूर्व आई हुई समस्त आपदाओं से वह निस्तार पा सका था।[1]

इण्डो-गेटिक आक्रमणकारियों द्वारा वलभी के विध्वंस का वृत्तान्त मेवाड़ के पुरालेखों में मिलता है, जिनमें यह घटना संवत् ३०० में हुई बताई गई है। निश्चय ही यह मूल (वलभी) संवत् ही होगा। इस प्रकार ३०० + ३७५ = ६७५-५६ (विक्रम-संवत् और ईसवीय सन् का अन्तर) ६१९ ई० का समय वलभी के नाश और लोहकोट में कनकसेन के वंश की समाप्ति के लिए निश्चित होता है। यह ठीक वही समय है जिसको Cosmas (कॉसमस)[2] ने एब्टीटीलॉस (Abtetelos) अथवा सफेद हूणों के जीतों अथवा जीटों के समूहों के साथ हुए आक्रमण का माना है, जो बाद में सिंध-घाटी में मीनागर (Minagara) स्थान पर बस गए थे। यहाँ हम फिर कहेंगे कि यह उस जाति का दूसरा आक्रमण था; पहला आक्रमण दूसरी शताब्दी में हुआ था जैसा कि 'पॅरिप्लुस' के कर्ता ने लिखा है और द' ऑनविले, गिबन और डी गुइग्नीस आदि ने भी उसी का अनुकरण किया है। ये जातियाँ अपने कुटुम्ब के कुटुम्ब सौराष्ट्र में छोड़ गई थीं, परन्तु हम उनसे यह आशा नहीं करते कि उन्होंने मन्दिरों को ध्वस्त किया होगा। इस प्रसंग का हिसाब बैठाने में एक अनुमान हम और भी लगा सकते

---

[1] यहां पर ग्रन्थकार संवत् के विषय में कुछ गड़बड़ी में उलझ गए जान पड़ते हैं जिसका निराकरण होना असंभव है। कुमारपाल के राज्यारोहण का समय ११८९ वि० सं० है। [वास्तव में कुमारपाल का राज्यारोहण सं. ११९९ में हुआ था। इस एवं वलभी और सिंह संवत्सर के लिये कृपया देखिए—रासमाला, प्र. भा. उत्तरार्ध, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी पृ. ११०-१११ व ११७]

[2] प्रेग (Prague) निवासी पादरी जिसने १२वीं शताब्दी में 'बोहेमियां का इतिहास' (Chronicon Bohemirum) लिखा था। यह पुस्तक १६०२ ई० में प्रकाशित हुई थी।

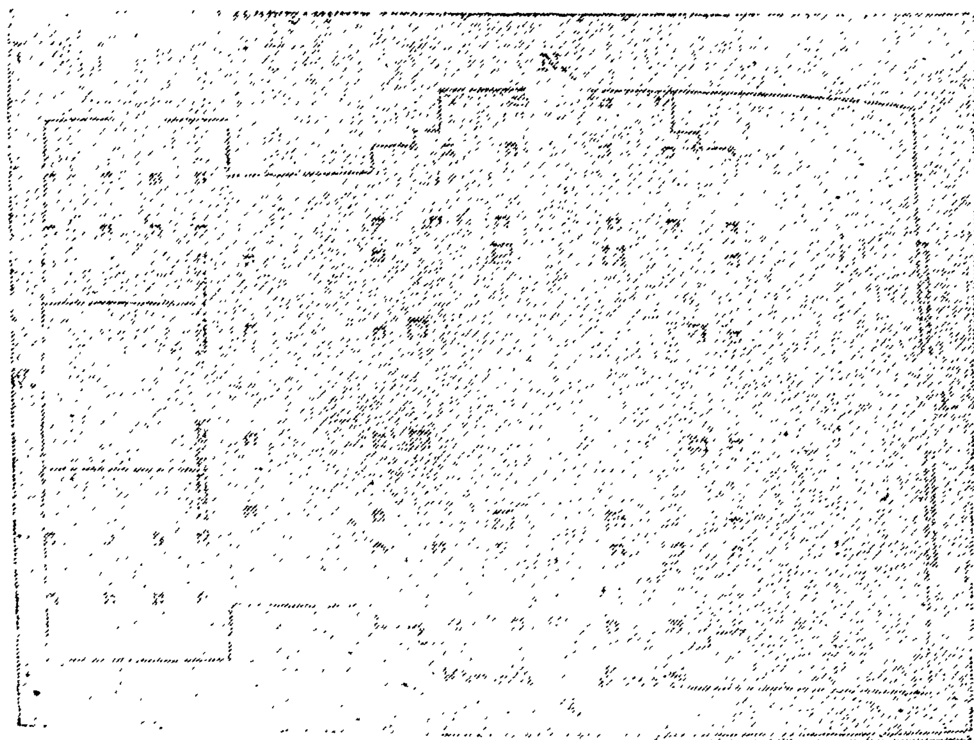
हैं, यद्यपि है वह सम्भावना मात्र ही—वह यह है कि जिस शक्ति ने ७४६ ई० में चावड़ा-वंश के राजाओं को समुद्री लूटपाट के कारण दिउ अथवा देव-पट्टण से निष्कासित किया था और अणहिलवाड़ा की स्थापना की थी, वह प्राचीन लेखों के अनुसार वरुण न होकर ख़लीफ़ा हारूं (की शक्ति) थो। बस, प्राचोन देव-पट्टण के विषय में इतना ही पर्याप्त है।

वर्तमान नगर में लगभग नौ सौ घर हैं, जिनमें से दो सौ ब्राह्मणों के, चार सौ मुसलमानों के, प्रायः इतने ही व्यापारी बनियों के तथा शेष सभी जाति के लोगों के हैं। यदि यह जनगणना ठीक है तो यहाँ की आबादी पाँच हजार के अन्दर-अन्दर होनी चाहिए। आसपास की दृश्यावली मनोरञ्जक है, जो प्राचीन वैभव से सम्बद्ध कितने ही उपकरणों से युक्त है—इनमें सुन्दर-सुन्दर जलाशयों की मुख्यता है जो यहाँ के निवासियों की सुविधा एवं विलास के लिए बनाए गए थे। इनमें से पहला जलाशय उत्तरी द्वार से लगभग एक सौ गज की दूरी पर है। इसकी सम्पूर्ण परिधि अट्ठारह सौ गज है; आकृति में यह बहुकोण होने से वृत्ताकार के समान है; इसके चारों ओर ठोस अनघड़ पत्थरों की दीवार है और चारों ही तरफ से सीढ़ियों की पंक्तियाँ उतरती हैं; केवल गिने-चुने स्थानों पर जानवरों के लिए उतर कर पानी पीने के खुर्रे बने हुए हैं। इससे उत्तर-पश्चिम में आधी मील की दूरी पर भलका और पद्म-कुण्ड हैं, जिनके विषय में पहले लिखा जा चुका है। हिन्दू-मान्यता के इन अत्यन्त प्राचीन चिह्नों की रोचकता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि इनसे उन स्थानों का पता चलता है जहाँ उत्तर से आने वाली सेनाओं ने अड्डे जमाए थे; जैसे कि उपरि-वर्णित हस्तलेख में बताया गया है कि महमूद ने भलका-कुण्ड के पास डेरा डाला था। पट्टण के चारों ओर बनी हुई अनगिनती मज़ारें इसलाम के नाम पर हजारों की संख्या में शहीद होने वालों की साक्षी दे रही हैं; हिन्दुस्तान के बड़े से बड़े शहरों में भी इनसे अधिक क़ब्रें देखने को नहीं मिलतीं। समुद्री तट पर एक विशाल ईदगाह है; ऐसा मालूम होता है कि एक नामहीन इमारत ने संस्थापक के कीर्ति-मन्दिर की नींव भी बालू पर रख दी है।

वेलावल अथवा अधिक शुद्ध रूप में 'वेलाकूल' पट्टण का बन्दरगाह है और अणहिलवाड़ा के अच्छे दिनों में जब 'हुरमुज़' का नूरुद्दीन यहाँ के जहाजी बेड़े का अध्यक्ष था, कितने ही परिणामों के लिए अभिमान का स्थान रहा है; यह बेड़ा अब छिन्न-भिन्न होकर केवल एक दर्जन पट्टामार नावों तक ही रह गया है, जो साधारण समुद्र-तटीय व्यापार में काम आती हैं अथवा यात्रियों को मक्का तक पहुंचा देती हैं। इसी किनारे के अन्य नगरों की भाँति इस नगर को भी 'यूरोप

के 'मूर्ति-पूजकों' ने वहुत हानि पहुँचाई, जिनके लालच और क्रूरता को दशवीं शताब्दी में तातार और तेरहवीं में अल्ला(उद्दीन) की अध्यक्षता में अफगान लोग भी मात न कर सके थे। एक प्राचीन समुद्री यात्रा-विवरण के संकलन में से कुछ उद्धरण पहले दे चुका हूँ, जो १५३२ ई० में नूना डा कुन्हा (Nuna da Cunha) और उसके योग्य सहायक एण्टोनियो डी सलाडान्हा (Antonio de Saladanha) के आचरण से सम्बद्ध है। वास्तव में वे लोग प्रमाण-पत्रप्राप्त समुद्री लुटेरे थे और तदनुकूल आचरण के योग्य प्रत्येक कार्य पूरा करते थे जैसा कि उन्हीं के बान्धव स्पेनवासियों ने रक्त के अक्षरों में उनको 'आधुनिक संसार के अभागे आदिवासी' लिखा है।

सोमनाथ के मन्दिर का मूर्ति-कक्ष



प्रकरण १७

दूरी के ज्ञान में प्राचीन सभ्यता के अवशेष; मिट्टी की किस्म; मन्दिर और शिलालेख, निवासी; चोरवाड़; अहीर; मालिया, उन्याला अथवा उणियारा; जूनागढ़; प्राचीन इतिहास एवं वर्त्तमान दशा; प्राचीन दुर्ग का विवरण; यादवों का सरोवर; 'बाहरबाट की गुफा'; अस्पष्ट अक्षर; गिरनार का प्राचीन शिलालेख; लिपि और अक्षर; देवालय; सांकेतिक लिपि के शिलालेख; भैरूं उछाळ; निर्जन चट्टान; खंगार के प्राचीन महल।

चूड़वाड़ चौरवाड़] दिसम्बर ४ थी—अनुमानित नाप के अनुसार आज की मंजिल आठ कोस की थी; यह फ़ासला सोलह मील से कम न था और सीधा-सीधा साढ़े चौदह मील तो था ही। जो बहुत सी बातें भारत में किसी यात्री के ध्यान में आती हैं उनमें से एक जो उसको आश्चर्य में डाल सकती है वह यह है कि यहाँ के प्राय: सभी लोगों को पास-पड़ौस के स्थानों की दूरी का सामान्य ज्ञान रहता है; यद्यपि अन्य देशों में माप की विभिन्नता हो सकती है परन्तु इनके ज्ञान में एक ही प्रकार की समानता और शुद्धता सर्वोपरि है। इसका कारण क्या है? निश्चय ही यह संयोग की बात नहीं है और न केवल सामान्य का़सिदों [दूतों] द्वारा दिया हुआ विवरण ही इसका आधार हो सकता है। वास्तव में, ये उस प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं, जिसकी हम स्वभावत: अवगणना करते रहते हैं यद्यपि उसमें समाज के कल्याण, सुख-सुविधा और बौद्धिक विकास के सभी आधार विद्यमान रहे हैं, चाहे वह युगों पुरानी नैतिक एवं राजनैतिक परवशता के खण्ड-हरों के नीचे दबी रही हो, परन्तु अभी तक भी परम्पराओं तथा लेखों में वह नि:शेष नहीं हुई है; और, इन दोनों ही आधारों से इस बात की सम्पुष्टि होती है कि बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष-भर में सड़कों की नाप के प्रकार प्रचलित थे। यही कारण है कि इस खुले देश में वाचिक अनुमान के आधार पर दूरियाँ कायम की हुई हैं, जो जरीब अथवा सतह नापने के यन्त्रों से मापने पर सही निकलती हैं। मेरे देशवासी यदि एक हज़ार अथवा पन्द्रह सौ मील की पद-यात्रा करें तो उन्हें 'कोस' की सभी विभिन्नताओं का परिचय प्राप्त हो सकता है क्योंकि वे अपने प्रातराश की भूख में यहाँ के निवासियों की मान्यताओं को सही-सही नापना अवश्य चाहेंगे और तब वे उनको 'सर्वशुद्ध' की ही संज्ञा देंगे, जब कि गांग-प्रदेश का साधारणतया दो मील का कोस आगे चल कर इतना लम्बा हो जाता है कि जिसको स्कॉटलैण्ड के पहाड़ी लोग (a we bittie) कहते हैं, जो प्राय: चार या पाँच मील का होता है। परन्तु इन विभिन्नताओं से देश में

अनेक राजाशाही अन्तर्विभागों का पता चलता है, जिनमें अपने-अपने ढंग के सिक्के, तौल और माप प्रचलित थे और जिनमें परिवर्त्तन करने का अधिकार राजत्व का एक लक्षण अथवा विशेषाधिकार माना जाता था।

इस प्रदेश की भूमि पिछले प्रदेश के समान ही है; भूमि का तल पानी के वहाव के कारण अनावृत हो गया है; हमने देखा कि इसमें वही भरभरी और बड़खनी (सहज ही में टूट जाने वाली) बजरी है जो बीच की उन पहाड़ियों की तलहटी में से बह कर समुद्र में आती है, जो प्रायद्वीप को बीचों-बीच से विभक्त करती है। खेतीबाड़ी केवल गाँवों के आस-पास ही होती है जहाँ गेहूँ और जौ की ताज़ा फसलों तथा कहीं-कहीं सघन गन्ने की बढ़िया पाटियों [क्षेत्रों] की कमी नहीं है। हमारी स्थिति में थोड़ा-सा बदल होते ही पवित्र गिरनार की नई चोटियाँ दिखाई देने लगीं और चोरवाड़ से सीधा फासला उ० २६° पू० में पचीस कोस अथवा पैंतालीस मील माप में पढ़ा गया।

पट्टण से लगभग चार मील की दूरी पर अहीरों के गांव ढाब (Dhab) में दो मन्दिरों के खण्डहर हैं, जिनमें से एक सूर्य का देवालय था। यहाँ एक सुन्दर जलाशय अथवा बावड़ी भी है जिसमें, मुझे बताया गया कि, एक शिलालेख भी है, परन्तु दुर्भाग्य से वह पानी की सतह से नीचे था। हमने कितनी ही नदियाँ पार कीं और सुना कि इनमें से एक के समुद्र-संगम-स्थल पर चोरवाड़-माता का मन्दिर है तथा वहीं हनुमान की विशाल मूर्ति भी है। 'चौरवाड़' का अर्थ है 'चौरों का नगर'—यह नाम सम्माननीय नहीं है, क्योंकि पुराने समय में तट का प्रत्येक वन्दरगाह समुद्री लुटेरों का अड्डा बना हुआ था। आजकल के निवासियों की जातियाँ दूसरे ही प्रकार का धन्धा करती हैं। वे लोग मुख्यतः रैबारी अथवा अहीर हैं, जो पशुपालक हैं। इसी प्रकार यहाँ कोरिया और रायज़ादा जाति के लोग भी थे; रायज़ादा प्राचीन चूड़ासमा शाखा के हैं, जो कभी इस भूमि के राय अथवा स्वामी थे। चोरवाड़ के ठाकुर जेठवा राजपूत हैं; यहाँ के सभी लोग भले और देखने में अच्छे हैं। नगर में तो कोई विशेष उल्लेखनीय बात देखने में नहीं आई, परन्तु मुझे एक रोचक शिलालेख (परि० ८) मिल गया जो कोरॉसी (Koraussi) के प्राचीन सूर्य-मन्दिर से लाया गया था। इसको मैंनें अपनी दाहिनी ओर थोड़ी दूर पर देखा। यह शिलालेख इसमें उत्कीर्ण प्रशस्ति की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् इसमें (मेवाड़ के राणाओं की) गेहलोत-शाखा का उल्लेख भी मिलता है कि उन्होंने 'सौराष्ट्र पर विजय प्राप्त की थी।' इससे अबुलफज़ल के उस कथन का प्रमाण मिल जात है, जो अन्यथा अप्रमाणित समझा जाता था कि अकबर के समय में 'सोर ाष्ट्र का संक्षिप्त

रूप) सरकार एक स्वतंत्र प्रदेश था;[1] यहाँ का स्वामी गहलोत-शाखा का था और उसके अधिकार में पचास हज़ार घुड़सवार तथा एक लाख पैदल थे।' यह स्मरणीय है कि मेवाड़ में संस्थापित हो जाने के बाद तक इस जाति का परम आराध्य देव सूर्य ही था और अब भी, उस समय जितना तो नहीं, परन्तु मुख्य देवता के रूप में उसकी मान्यता अवश्य है। मैं अपनी इस खोज के लिए लुंका-गच्छ के एक जैन यति के प्रति आभारी हूँ, जो विनम्र, अप्रभावित, विद्वान् और प्रायद्वीप में अपने धर्म से सम्बद्ध मन्दिरों के विषय में पर्य्याप्त और प्रत्येक जानकारी रखने वाला था। उसने केवल आनन्द और ज्ञानवृद्धि के लिए ही बहुत सी यात्राएं की थीं और यद्यपि पहले किसी-किसी फिरंगी से उसका वास्ता नहीं पड़ा था, फिर भी मैंने देखा कि उसमें किसी प्रकार की झिझक नहीं थी और वह अच्छा वक्ता भी था।

लुंका-लोग ईश्वरवादी हैं[2]; वे केवल 'एक' को मानते हैं और 'कलापूर्ण निर्मित मन्दिरों' में विश्वास नहीं करते, न कभी उनमें प्रवेश ही करते हैं। वे पर्वत-शिखरों और एकान्त जङ्गलों को ही उपासना के लिए अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं। वे चौबीस तीर्थङ्करों के उपदेशों की प्रशंसा करते हैं और उनको अति-मानव मानते हैं जिनकी शुद्धता और जीवन की पवित्रता के कारण दैवी कृपा के प्रसादरूप में उनको मोक्ष प्राप्त हुई। अतएव वे उन्हें पूज्य और मध्यस्थ (मोक्ष-प्राप्ति में सहायक) मानते हैं, आराध्य नहीं। मेरे नवीन मित्र ने 'पवित्र पर्वत' तक मेरे साथ यात्रा करना और मेरी शोध में सहायता करना स्वीकार कर लिया है। प्रसन्नता है कि मेरे गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' भी बड़े उत्साह से इस व्यक्ति से स्पर्द्धा करने को तत्पर हैं, जो उनके विशाल ज्ञानभण्डार में कुछ वृद्धि कर सकेगा।

---

[1] सूबा गुजरात की सरकारों में सोरठ (काठियावाड़) सरकार भी सम्मिलित है, जिसमें १२ महाल (१३ बन्दरगाहों सहित) हैं। सरकार की आय ६३,४३,७६६ दाम है।

—आईन-ए-अकबरी (अनु० एच० एस० जैरट) भाग २; पृ० २६३

[2] वास्तव में ये अनीश्वरवादी हैं। इस गच्छ का संस्थापक अहमदाबाद निवासी लौंका या लुंपाक नामक लेखक था। लेख में चूक रहने के कारण ज्ञानजी यति द्वारा तिरस्कृत हो कर उसने लींबड़ी निवासी राज्याधिकारी लखमसी बनिए के सहयोग से अपना मत वि० १५२४ में चलाया। ये लोग ४५ आगम छोड़ कर केवल ३२ सूत्र मानते हैं और प्रतिमापूजन आदि में विश्वास नहीं करते। १५३३ वि० में भाग ऋषि ने इसे अंगीकार किया और नागोरी, गुजरात व उत्तरी नाम से तीन गद्दियाँ कायम हुईं।

—रत्नसागर, (जैन इतिहास) भाग ५, पृ० १२३

चोरवाड़ काफी बड़ा है, जिसमें लगभग पन्द्रह सौ घर होंगे, यद्यपि इनको पूरी तरह आबाद नहीं कहा जा सकता। जातियाँ बनिये और मुसलमानों की हैं, परन्तु मुख्यतः यहाँ पर पशु-पालक अहीर और एक और जाति के लोग हैं, जिसके विषय में मैंने पहले कभी नहीं सुना। इस जाति का नाम हाथी (Hat'hi) है; ये लोग सूरत-शकल और व्यवसाय में अहीरों के समान हैं और प्रायः मध्य सौराष्ट्र के बहुत से भागों में बसे हुए हैं। इस एकाकी और अपराध-वृत्ति-रहित जाति के विषय में मैंने अन्यत्र विवरण लिखा हैं, जो प्राचीन समय में कभी विशिष्ट रही है और अब भी इन लोगों में 'पल्लि' जाति के अवशेष होने के सभी चिह्न पाये जाते हैं। मध्यभारत में एक विशाल भू-भाग इन्हीं के नाम पर अहीरवाड़ा कहलाता है, जो उस क्षेत्र के बीचों-बीच है, जहाँ प्रत्येक वस्तु, जैसे, नगर आदि के नाम के अन्त में 'पाल' जुड़ा रहता है और जहाँ राजाओं का एक लम्बा वंश चला था, जिनकी राजधानी भेलसा, भोपाल आदि नगर थे, जहाँ प्राचीन बौद्ध वास्तुकला के कुछ उत्तम अवशेष और शिलालेख उस भाषा में मिलते हैं, जो 'पाली' कहलाती है; इन सभी बातों से ज्ञात होता है कि इस पशुपालक जाति की परम्पराएं उस अभिप्राय को सिद्ध करती हैं, जो दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता जाता है और जिसका सूत्रपात मैंने ही किया था, कि इस जाति का मूल निवास भारत में नहीं था।[१]

अकबर के राज्य में अहीरों का सौराष्ट्र प्रायद्वीप में राजनैतिक महत्त्व था; अबुलफ़जल कहता है कि "डूंडी नदी के किनारे इन लोगों का एक उपजिला था, जो स्थानीय भाषा में 'पुरञ्ज' कहलाता था। यहाँ तीन हजार घुड़सवारों और इतने ही पैदलों की सेना थी, जो जाम (जाड़ेचा) की जाति से सदा विद्रोह करती रहती थी"। इस बुद्धिमान् विश्व-विवरण-लेखक ने काठियों को अहीरों की ही एक शाखा मान लिया है, परन्तु साथ ही यह भ्रान्तिपूर्ण अभिप्राय भी प्रकट किया है कि 'कुछ लोग इस शाखा को मूलतः अरबी मानते हैं'—यह भूल सम्भवतः इन लोगों की विशिष्ट अश्व-प्रियता के कारण उत्पन्न हुई मालूम होती है। निस्सन्देह, यह हो सकता है कि ब्राह्मणों, पण्डों और पुजारियों की कट्टरता से तंग आकर, लूट-पाट और पशु-पालन-व्यवसाय के कारण अहीरों के रंग-ढंग और रहन-सहन स्वतंत्रतापूर्वक काठियों से मिल गए हों।

मालिया (Mallia) दिसम्बर ५वीं—सात कोस। यह स्थान बहुत प्राचीन है, परन्तु इसके बहुत थोड़े ही अवशेष उपलब्ध हैं। यह एक सुन्दर झरने के

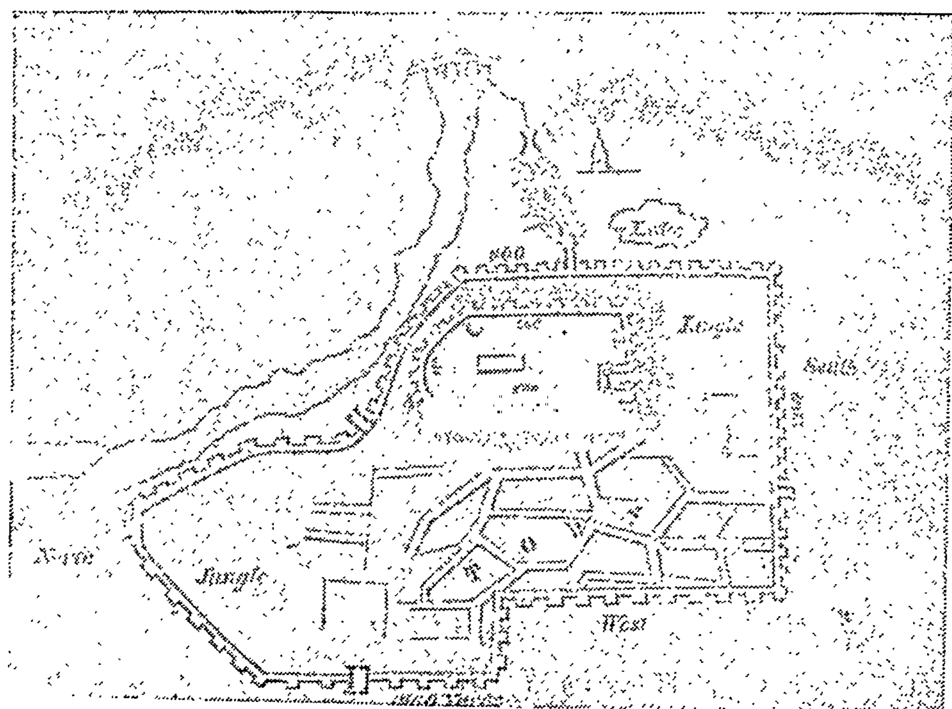
[१] बाद की शोध में ग्रन्थकर्त्ता के इनमें से अधिकांश अनुमान भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गए हैं।

कनारे पर बसा हुआ है, जो उधर ऊपर की पहाड़ियों से निकलता है। आज की सुबह की यात्रा में मनुष्यों की दशा प्राय: ठीक नहीं रही; रास्ते के गाँव छोटे-छोटे, दरिद्र और बे-चिराग़ से हैं; खेतीबाड़ी भी विरल और उपेक्षित सी ही दिखाई दी। मालिया में मुख्यत: बनियों और रैबारियों की बस्ती है। दूसरा गाँव, जिसमें होकर हम निकले, काठियों और हाथियों का है, परन्तु वहाँ बहुत से राजपूत भी थे, जिनकी जाति मेरे लिए सर्वथा नई थी; वे 'करिया' राजपूत थे और अपना निकास परमारों से बताते थे—कुछ कोली-परिवार भी इन लोगों में हिल-मिल गए थे।

उनियाला अथवा उनियारा—दिसम्बर ६ठी—नौ कोस। हमारा मार्ग लगातार चढ़ाई और एक फैले हुए मैदान में होकर था। मंज़िल की समाप्ति के निकट ही शेरगढ़ की प्राकारयुक्त चौकी थी, जहाँ से समुद्रतट-स्थित माँगरोल नगर साफ़ दिखाई देता था। ऊनियारा से 'ऊन' अर्थात् 'गर्मी' के घर का तात्पर्य है; यह नाम, मैं समझता हूँ, इसकी दक्षिणी और असुरक्षित स्थिति का परिचायक है। यहाँ के निवासी मुख्यत: मुसलिम और लोबाना (Lobana) जाति के बनिए हैं, जिनका उद्गम भाटी राजपूतों से है और जो सिन्ध की घाटी में बहुत मिलते हैं।

जूनागढ़—दिसम्बर ७वीं—नौ कोस। आज सुबह की मंज़िल में, जो लगभग अट्ठारह मील की थी, हमें बहुत थोड़े गाँव मिले। ये सभी दूर-दूर जंगलों और झाड़ियों के बीच में थे। सच बात तो यह है कि 'उणियारा से जूनागढ़ तक सब उजाड़ ही उजाड़ पड़ा है', फिर भी, इसमें कोई अरोचक बात नहीं थी क्योंकि प्रत्येक कदम पर हम उस पवित्र पर्वत के समीप पहुँच रहे थे जो हमारी यात्रा का महान् लक्ष्य था। गाँवों में मुख्यत: अहीर लोग बसे हुए थे जो बस्ती के आसपास छुट-पुट खेती भी कर लेते थे; परन्तु, यहाँ की हर चीज यह बता रही थी कि मानव का अत्याचार ही विकास में बाधक बन बैठा था और यहाँ तो लोगों को तो, दोनों ही, धार्मिक एवं राजनैतिक विपरीतताओं को सहन करना पड़ता था क्योंकि यहाँ का सूबेदार मुसलमान था।

जूनागढ़ का अतीत समय की धुन्ध में खो गया था; परम्परागत कथाएँ और वर्तमान इतिहासज्ञ यही कहते हैं कि यह 'बहुत जूना' है और वास्तव में इसकी स्थापना की कोई तिथि ज्ञात न होने के कारण बहुत पहले से ही इसको 'पुराना क़िला' अर्थात् जूनागढ़ कहते आये हैं। उपलब्ध पुराने लेखों से ज्ञात होता है कि यह यादव-शाखा के राजाओं की राजधानी रहा है। जब मेवाड़ के राणा के पूर्वज वलभी के सर्वसत्ता-सम्पन्न स्वामी थे तब भी ऐसा ही कहा जाता था और



'जूनागढ़' की निर्माण-आयोजना को किसी वर्ग-विशेष में नहीं रखा जा सकता। यह एक अनियमित विषम-कोण एवं विषम-बाहु आकृति वाला क्षेत्र है, जिसको ऊपर का रेखाचित्र देख कर ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। मैंने इसके कोणों को लेकर चाहरदीवारी के तीन तरफ कदमों से माप कर बनाया है। दक्षिणी दीवार, जो सबसे छोटी है और जिसमें मुख्य द्वार भी है, केवल ७०० गज लम्बी है; पूर्वीय मुख, जिसमें भी एक द्वार बना हुआ है, एक सीधी दीवार के रूप में है और ८०० गज का है; इनमें प्रत्येक ओर सत्रह-सत्रह छतरियां बनी हुई हैं और उनके बीच की पतली दीवारों से अधिक जगह रुकी हुई नहीं है। पश्चिमी दीवार सबसे बड़ी है और लगभग दो मील लम्बी है। उत्तरी दीवार अत्यन्त टेढ़ी-मेढ़ी है; यह लम्बाई में एक सौ गज अधिक है और इसके सिरे पर भी एक द्वार बना हुआ है। इस ओर की विशाल प्राकार-भित्ति सोनारिका के किनारे-किनारे चली गई है, जो गहरी-गहरी करारों की चट्टानें काट-काट कर बनायी गई है; अतएव यह दीवार सर्वाधिक सुदृढ़ है। चट्टान को ही काट कर एक खाई भी बनाई गई है जो कहीं बीस और कहीं तीस फीट गहरी है तथा इससे कुछ ही कम चौड़ी है; इससे निकली हुई सामग्री से ही किले की दीवारें बनी हैं, जो ठीक खुदी हुई दीवार के ऊपर ही उठाई गई हैं कि जिससे चारों तरफ साठ से अस्सी फीट तक ऊंचा प्राकार बन गया है और जहाँ-जहाँ नदी का किनारा आ गया है वहां-वहाँ तो सौ फीट की सीधी ऊँचाई हो गई है। परकोटे पर बाहर की ओर तोप रखने के स्थान से क्रमिक ढलाव भी है कि

जिससे यदि उन दिनों में तोपें भी दागी जातीं तो, दीवार के मलबे से खाई के भर जाने की कभी कोई आशंका नहीं थी। उत्तर की ओर से दृश्य और भी प्रभावकारी है। पहाड़ी श्रेणी के खुले भाग में से एक मात्र गौरवपूर्ण गिरनार दिखाई पड़ता है, जिसके प्राकृतिक प्रवेश-द्वारों में से एक का सार्थक नाम दुर्गा 'दुर्गस्था प्रकृतिमाता' (Cebeile) के नाम पर है और उधर 'स्वर्ण-प्रवाहिनी' सोनारिका सँकडे मार्ग में होकर किले की दीवारों की ओर वहती हुई दृष्टिगत होती है, जिससे वियुक्त होते ही दोनों ओर किनारों पर छाये हुए घने जंगलों की छाया से इसका मुख मलिन पड़ जाता है।

मिस्टर विलियम्स के प्रभाव से हमको किले में प्रवेश मिल गया। कहते हैं कि यह सुविधा पहले किसी यूरोपियन को प्रदान नहीं की गई थी। यद्यपि इसके भीतर की सभी प्राकृतिक समृद्धि समाप्त हो चुकी है, परन्तु अब भी बाहर से पूर्णतया प्राचीनता के अनुरूप उत्साह से ही इसकी रक्षा की जाती है। द्वार पर सैनिक रक्षा-दल ने हमारा स्वागत किया; सैनिकों की संख्या को देखते हुए सम्मान अथवा अविश्वास, दोनों ही अर्थों में अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु क्योंकि विशाल दरवाजे के चूल पर चरमराते हुए किवाड़ आधे ही खोले गए इसलिए दोनों ही तरह के मनोभावों के कारण ऐसा हुआ होगा, ऐसा सोच लेने में हमसे भूल नहीं हुई। यदि नगर की प्राचीनता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो तो किले को देखते ही वह दूर हो जाता है। यहाँ का प्रत्येक पत्थर हमें अतीत के उस समय की याद दिलाता है जब कि छप्पन-कुल यादव भारत में सार्वभौम सत्ता का उपभोग करते थे। शामनाथ (बाद में जिन्हें देवत्त्व प्राप्त हुआ) के सौराष्ट्र में राज्यकाल का कोई भी समय निर्धारित किया गया हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि जब राणा के पूर्वज कनकसेन ने पञ्जाव में लोहकोट से आकर दूसरी शताब्दी में 'वालकादेश' पर विजय प्राप्त की तब भी यहाँ पर कोई यदुवंशी राजा राज्य करता था।

हम गढ़ के दक्षिण-पश्चिमी कोने में दो विशाल अर्धचन्द्राकार मोरियों में से प्रविष्ट हुए, जो मुख्यद्वार की रक्षा के लिए बनी हुई थीं। पहले दरवाजे को पार करके हम एक चौक में आए, जिसके दूसरे सिरे पर एक वहुत प्राचीन ढंग का दूसरा दरवाज़ा बना हुआ है। प्रत्येक दरवाजे के बाहर की ओर तो नुकीली मेहराब बनी हुई है, परन्तु भीतर की ओर बड़े-बड़े ग्रयानिट पत्थरों के शीर्ष बने हुए हैं जिनके खुरदरे संगमरमर पर मोटी कुराई का काम हो रहा है; ये शीर्ष-पट्ट हर तरफ चार-चार खम्भों पर टिके हुए हैं, जो भी उसी पत्थर के बने हुए हैं। बीच में एक विशाल आंगन है जो ऐसे ही दरवाजों से घिरा हुआ है। इन दोनों

ही पर द्वार और चौक की सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े और सुदृढ़ रक्षा-कक्ष बने हुए हैं। दरवाजों पर नोकदार मेहराब बनाने के लिए उन्हें दलदार लकड़ी से ढँक दिया गया है और ऊपर लोहे के पत्तरों से मँढ दिया है, जो मौसम के प्रभाव से पूरी तरह काले पड़ गए हैं। परन्तु इस दुर्ग-द्वार में जो सब से अधिक आकर्षक बात मुझे लगी वह यह थी कि रक्षा-कक्ष के प्रवेशद्वार से बाहर की ओर देखती हुई चूने की तलवारें और ढालें काफी उभरी हुई आकृति में ऐसे मुख्य स्थान पर बनाई गई थीं जहाँ दर्शक की दृष्टि पड़े बिना न रहे। ऐसी स्थिति में किसी 'आदर्श-वाक्य' की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि ये उपकरण अपना विषय आप ही स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु, जिन लोगों ने रूस के वाराञ्जियन (Varangian) शासकों का प्राचीन इतिहास पढ़ा है उन्हें रूरिक (Rurik)[1] के पुत्र द्वारा बाइजेण्टिअम (Byzantium)[2] के दरवाजे पर लटकाई हुई ऐसी ढाल की खूंटियों का अवश्य ध्यान आ जाएगा जब कि वह अस्सी हजार सेना लेकर बोरिस्थिनीज[3] (Borysthenes) से गुजरा था और आठवीं शताब्दी में ही उस नगर पर, जो आज तक भी उनका नहीं है, ऐसे ही शब्द जड़ दिए थे। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वाराञ्जियन (Varangian) नारमन (Norman जाति के थे और उस समय तक भी अर्द्ध एशियाई थे; और हम इतना और जोड़ देते हैं कि जब वाराञ्जियन सैनिकों ने युद्ध-सन्धि को निवाहने के लिए 'अपने शस्त्रों की शपथ खाकर' सम्पुष्टि की थी तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि वे राजपूत थे।

इन रक्षा-प्राकारों को छोड़ कर हम ठोस चट्टान में काट कर बनाई हुई

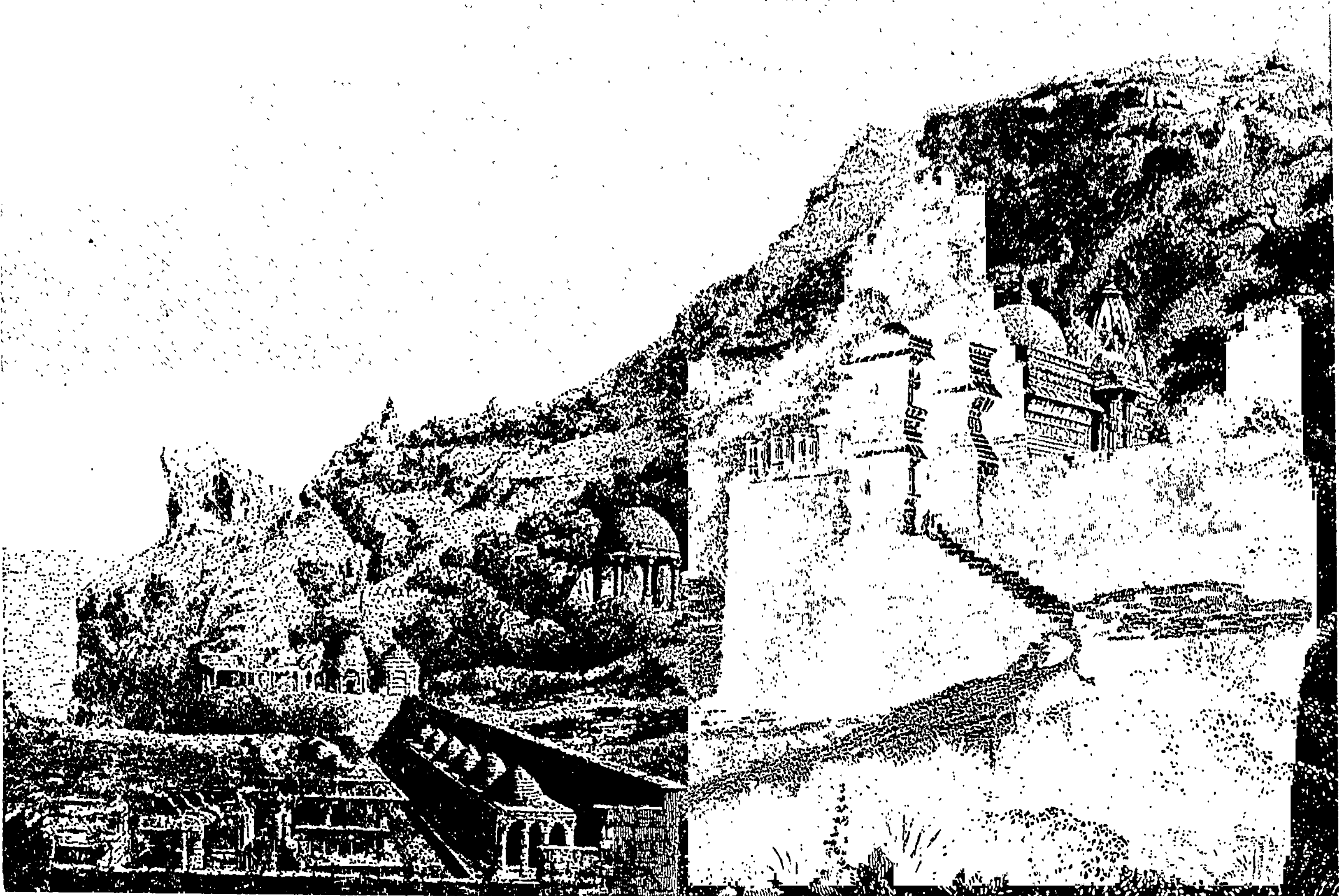
---

[1] रूरिक मूलतः स्केण्डेनेविया का रहने वाला था। उसने उत्तर पश्चिमी रूस में अपना साम्राज्य स्थापित किया था (८५० ई० ९वीं शती)। उसके उत्तराधिकारी और पुत्र आइगर Igor के संरक्षक ड्यूक ओलेग (Duke Oleg) ने आधुनिक रूस की नींव रखी थी। कुस्तुन्तुनिया के लोग इनके सिपाहियों के युद्धकौशल की बहुत प्रशंसा करते थे और इनको वाराञ्जियन कहते थे

—The Outline of History, H. G. Wells; p. 658

[2] बॉस्फोरस नदी के तट पर स्थित एक प्राचीन ग्रीक नगर जो वर्तमान कुस्तुन्तुनिया की पूर्वतम सात पहाड़ियों पर स्थित था। कहते हैं कि यह नगर ई० पू० ६६७ में निर्मित हुआ था।

[3] योरप की महानदी जिसका मूल नाम Dnieper (नीपियर) था। ग्रीकों ने इसको बोरिस्थिनीज् नाम दिया। यह वाल्डाई की पहाड़ियों से निकलती है जो सुप्रसिद्ध वॉल्गा के उद्गम से अधिक दूर नहीं है। यह नदी लगभग ११ हजार मील लम्बी है और श्याम-समुद्र (Black Sea) में मिल जाती है।—E. B. Vol. VII, p. 306



खङ्गार के महल और मन्दिर

सोपान-सरणि द्वारा किले की उस खुली रविश पर गए जहाँ तोपें रखी जाती थीं। इस दुर्ग के भीतरी भाग में कैसी भी शानदार इमारतें रही हों परन्तु हिन्दुओं द्वारा बनवाई हुई एक भी इमारत अब नहीं बची है। एक विशाल भवन ने किले की मुँडेर को हड़प लिया है—यह है एक विशाल मसजिद, जिसका निर्माण काफ़िर राजपूत पर इसलाम की विजय को चिर-स्मृत करने के लिए (भग्न) मन्दिरों और यादवों के महलों के मसाले से किया गया है। इसका श्रेय राजा माण्डलिक की पराजय पर सुलतान मोहम्मद बेगचा (महमूद बेगड़ा) को दिया जाता है। एक के बाद एक आने वाला प्रत्येक विजेता केवल एक ही समान लक्ष्य से प्रेरित हुआ जान पड़ता है और वह यह है कि जितने अधिक मन्दिरों को 'सच्चे ईमान' [इसलाम] के नाम पर कुर्बान किया जायगा उतना ही अधिक ऐहिक यश और पारमार्थिक श्रेय उसे प्राप्त होगा। परन्तु यहाँ भी, जहाँ तक ईमान का सम्बन्ध है, उनकी करारी हार हुई है, क्योंकि मक़बरा हो, मसजिद हो या ईदगाह हो—वे बेमेल विशाल ढेर, विधान में मुसलिम होते हुए भी उनके प्रत्येक अवयव और सामग्री के विचार से तो हिन्दू ही हैं। बेमेल कहने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि इस इमारत को या इसके निर्माता को इस कलाकृति का समुचित श्रेय देना मैं अस्वीकार करता हूँ, क्योंकि इसकी बनावट विलक्षण है और शिल्पी ने इसके निर्माण में एक ऐसी कृति उपस्थित कर दी है कि जिसकी एकरूपता, विस्तार, दृढ़ता और स्वाभाविकता को देखते हुए इसे गौरवपूर्ण का विशेषण देना समुचित ही होगा। जब मैं यह कहूँ कि इसकी लम्बाई एक सौ चालीस फ़ीट और चौड़ाई एक सौ फीट है, इसके ढँके हुए और खुले दालान ग्र्यानिट पत्थर के बने हुए गोल और चोकौर दो सौ स्तम्भों पर आधारित हैं तो पाठक स्वीकार करेंगे कि फैलाव के विचार से मेरे द्वारा दिया हुआ उक्त विशेषण अनुपयुक्त नहीं है। इसके तीन विभाग हैं, एक मध्य का और दो पार्श्वों में। मध्य भाग में तीन अष्टकोण हैं। इनमें से प्रत्येक की लम्बाई तीस फीट है और हर एक चारों ओर खम्भों से घिरा हुआ है। खम्भों का आपस में अन्तर आठ-आठ फीट का है। ऐसा ज्ञात होता है कि सामान्य हिन्दू-पद्धति के अनुसार इनको गुम्बजों से आच्छादित करने की योजना थी क्योंकि तीस-तीस फीट ऊँचे ग्र्यानिट के गोल अस्थायी खम्भे अब भी खड़े हैं; इनमें से प्रत्येक स्तम्भ नाप-जोख के हिसाब से तीन बराबर के भागों में विभक्त है और ये छतरी का काम पूरा होने तक उसको साधे रहने के लिए बीच-बीच में खड़े किए गए थे। पार्श्व-भाग के स्तम्भ चौकोर हैं। ये भी सब ग्रचानिट के ही बने हुए हैं, प्रत्येक की ऊँचाई लगभग सोलह फीट है और इनके शीर्ष तथा

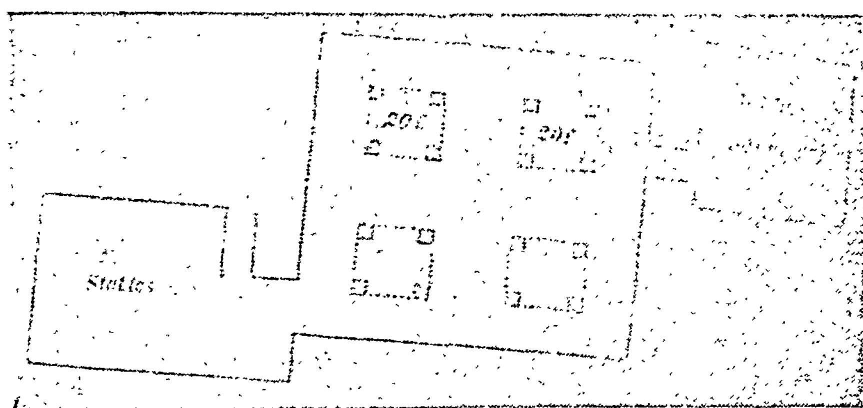
पिड़गियाँ (आधार) शुद्ध सादे हैं। स्तम्भों के प्रत्येक युग्म पर भारी-भारी मध्यपट्ट [मठोठ] रखे हुए हैं जिन पर सीधी छत टिकी हुई है। मध्य की छतरी के चारों ओर प्रत्येक दो खम्भों को एक नोकदार मेहराब से जोड़ा गया है जिससे निर्माण के भारी स्वरूप को बहुत कुछ सहारा मिल जाता है। उत्तर की ओर (और यदि मेरी टिप्पणी गलत नहीं है तो शायद पश्चिम की ओर भी) काम पूरा हो चुका है; दूसरे भाग खुले पड़े हैं और नुकीली मेहराबें दो दो खम्भों पर खड़ी हैं। एक तकिया अथवा आड़ा पर्दा, जो रंग-विरंगे एक ही संगमर्मर पत्थर का बना हुआ है और अट्ठारह फीट लम्बा तथा दस फीट चौड़ा होगा, बहुत बढ़िया कारीगरी का नमूना है।

बहुत से ऐसे कारण हैं जिनसे यह विश्वास हो जाता है कि यह इमारत अन्य मन्दिरों के मलबे से ही बनवाई गई है; मुख्यतः इन खम्भों और पवित्र पर्वत पर कुछ अर्द्धभग्न मन्दिरों के बचे-खुचे खम्भों की माप एवं आकृति समान है। कुमारपाल के मन्दिर का भव्य मण्डप पूर्णतया उतार लिया गया है और इसी प्रकार नेमिनाथ का भी—इनकी माप मसजिद की मनोनीत गुम्बजों के ठीक बराबर है। पर्वतस्थित सोमप्रीत राजा [सम्प्रतिराज] की छतरी, जिसका व्यास भी इतना ही है, निस्सन्देह, तीसरी गुम्बज् के लिए निर्धारित रही होगी। परन्तु, मृत्यु के कारण निर्माता के मनसूबे पूरे न हो सके, अथवा विद्रोह के कारण इसका पूरा पूरा पता नहीं चलता। अत एव ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए इस जैनमत के प्रधान अनुयायी का यह स्मारक ग्रेनाइट पत्थर की नींव पर उसी पत्थर का बना हुआ अब भी यथावत् खड़ा है।

हाँ, यादवों का एक अमर स्मारक यहाँ पर और है—वह है एक सरोवर, जो ठोस चट्टान में खोद कर बनाया गया है और गहराई में एक सौ बीस फीट से कम नहीं है। इसकी आकृति वृत्ताकार है (जो क्रमशः नीचे की ओर छोटी होती चली गयी है); इसका सब से बड़ा व्यास पचहत्तर फीट के लगभग है। चट्टान के पत्थर पर राजगीरी चूने] का काम है। इस दुर्ग के एक और प्रबल रक्षोपकरण को हम नहीं भुला सकते; वह है पीतल की एक विशाल तोप जो पश्चिम की ओर निकले हुए खुले चबूतरे पर रखी हुई है। इसकी लम्बाई बाईस फीट, जोड़ पर व्यास दो फीट दो इञ्च, मुखभाग पर उन्नीस इञ्च और मुख-छिद्र पर सवा दस इञ्च है। इस पर दो लेख उत्कीर्ण हैं जिनसे पता चलता है कि यह टर्की में ढाली गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि यह सुलेमान (Solomon) महान् के क़ाफिले के साथ यहाँ आई थी, जिसने पन्द्रहवीं शताब्दी में देव (Diu) द्वीप पर आक्रमण कर के गुजरात के राजा के मुकुट के रत्न प्राप्त कर लिए थे।

इस 'पुराने किले' (जूनागढ़) में ऐसे ही कुछ देखने योग्य पदार्थ हैं; वैसे, अब यह बिलकुल जंगल हो गया है, जिसमें शरीफे के पेड़ों की मुख्यता है।

उत्तर-पश्चिम वाले मार्ग से उतरते हुए बाहर की ओर मैंने एक गुफा देखी जो यात्रियों के लिए बहुत से अन्य दर्शनीय स्थलों में से एक है। एक उठे हुए और कुछ फैले हुए पठार को कुरेद कर कुछ बड़े बड़े भोंडे से कक्ष बना दिए गये हैं, जिनको कल्पना और परम्परागत बातों ने कितने ही निवासियों के नाम प्रदान कर दिए हैं। एक कक्षावली तो पाण्डवों के नाम से है, दूसरी खापरा चोर की है, जो प्राचीन काल में इस क्षेत्र का राबिन हुड[1] था परन्तु उसका पराक्रम हमारे नायक से बढ़ कर था क्योंकि यही वह व्यक्ति था जो कलश में रखे हुए स्वर्ण की चोरी करने के लिए बाड़ौली के मन्दिर के शिखर पर चढ़ गया था। खापरा की गुफा कितने ही भागों में विभक्त है; एक उसका [बैठने-उठने का] बड़ा कक्ष, दूसरी रसोई और तीसरी अश्वशाला इत्यादि। यह साठ फीट लम्बा और साठ फीट चौड़ा वर्गाकार है, जो भारी, वर्गाकार और लगभग नौ फीट ऊंचे सोलह खम्भों पर टिका हुआ है। उसको यों बताया जा सकता है—



[1] राबिन हुड का नाम अंग्रेजी उपाख्यानों में बहुत आता है। प्राचीन वीरकाव्यों में भी उसका चित्रण एक अलमस्त बाहरवाट के रूप में किया गया है जो धनिकों को लूट-लूट कर निर्धनों की सहायता किया करता था। ऐतिहासिक आधार पर तो उसके अस्तित्त्व के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं परन्तु, चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं तक में उसका उल्लेख अवश्य मिलता है, यथा Piers Plowman नामक १३७७ ई० की रचना में 'rhymes of Robin Hood' का उल्लेख है—N. S. E.; p. 1063

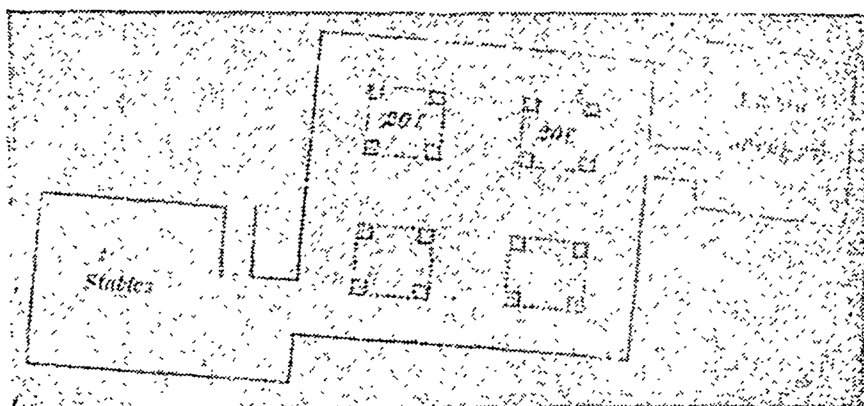
पिड़गियाँ (आधार) शुद्ध सादे हैं। स्तम्भों के प्रत्येक युग्म पर भारी-भारी मध्यपट्ट [मठोठ] रखे हुए हैं जिन पर सीधी छत टिकी हुई है। मध्य की छतरी के चारों ओर प्रत्येक दो खम्भों को एक नोकदार मेहराब से जोड़ा गया है जिससे निर्माण के भारी स्वरूप को बहुत कुछ सहारा मिल जाता है। उत्तर की ओर (और यदि मेरी टिप्पणी ग़लत नहीं है तो शायद पश्चिम की ओर भी) काम पूरा हो चुका है; दूसरे भाग खुले पड़े हैं और नुकीली मेहराबें दो दो खम्भों पर खड़ी हैं। एक तकिया अथवा आड़ा पर्दा, जो रंग-बिरंगे एक ही संगमर्मर पत्थर का बना हुआ है और अट्ठारह फीट लम्बा तथा दस फीट चौड़ा होगा, बहुत बढ़िया कारीगरी का नमूना है।

बहुत से ऐसे कारण हैं जिनसे यह विश्वास हो जाता है कि यह इमारत अन्य मन्दिरों के मलवे से ही बनवाई गई है; मुख्यत: इन खम्भों और पवित्र पर्वत पर कुछ अर्द्धभग्न मन्दिरों के बचे-खुचे खम्भों की माप एवं आकृति समान है। कुमारपाल के मन्दिर का भव्य मण्डप पूर्णतया उतार लिया गया है और इसी प्रकार नेमिनाथ का भी—इनकी माप मसजिद की मनोनीत गुम्बजों के ठीक बराबर है। पर्वतस्थित सोमप्रीत राजा [सम्प्रतिराज] की छतरी, जिसका व्यास भी इतना ही है, निस्सन्देह, तीसरी गुम्बज़ के लिए निर्धारित रही होगी। परन्तु, मृत्यु के कारण निर्माता के मनसूबे पूरे न हो सके, अथवा विद्रोह के कारण इसका पूरा पूरा पता नहीं चलता। अत एव ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए इस जैनमत के प्रधान अनुयायी का यह स्मारक ग्रेनाइट पत्थर की नींव पर उसी पत्थर का बना हुआ अब भी यथावत् खड़ा है।

हाँ, यादवों का एक अमर स्मारक यहाँ पर और है—वह है एक सरोवर, जो ठोस चट्टान में खोद कर बनाया गया है और गहराई में एक सौ बीस फीट से कम नहीं है। इसकी आकृति वृत्ताकार है (जो क्रमश: नीचे की ओर छोटी होती चली गयी है); इसका सब से बड़ा व्यास पचहत्तर फीट के लगभग है। चट्टान के पत्थर पर राजगीरी चूने] का काम है। इस दुर्ग के एक और प्रबल रक्षोपकरण को हम नहीं भुला सकते; वह है पीतल की एक विशाल तोप जो पश्चिम की ओर निकले हुए खुले चबूतरे पर रखी हुई है। इसकी लम्बाई बाईस फीट, जोड़ पर व्यास दो फीट दो इञ्च, मुखभाग पर उन्नीस इञ्च और मुख-छिद्र पर सवा दस इञ्च है। इस पर दो लेख उत्कीर्ण हैं जिनसे पता चलता है कि यह टर्की में ढाली गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि यह सुलेमान (Solomon) महान् के क़ाफिले के साथ यहाँ आई थी, जिसने पन्द्रहवीं शताब्दी में देव (Diu) द्वीप पर आक्रमण कर के गुजरात के राजा के मुकुट के रत्न प्राप्त कर लिए थे।

इस 'पुराने किले' (जूनागढ़) में ऐसे ही कुछ देखने योग्य पदार्थ हैं; वैसे, अब यह बिलकुल जंगल हो गया है, जिसमें शरीफे के पेड़ों की मुख्यता है।

उत्तर-पश्चिम वाले मार्ग से उतरते हुए बाहर की ओर मैंने एक गुफा देखी जो यात्रियों के लिए बहुत से अन्य दर्शनीय स्थलों में से एक है। एक उठे हुए और कुछ फैले हुए पठार को कुरेद कर कुछ बड़े बड़े भोंडे से कक्ष बना दिए गये हैं, जिनको कल्पना और परम्परागत बातों ने कितने ही निवासियों के नाम प्रदान कर दिए हैं। एक कक्षावली तो पाण्डवों के नाम से है, दूसरी खापरा चोर की है, जो प्राचीन काल में इस क्षेत्र का राबिन हुड[1] था परन्तु उसका पराक्रम हमारे नायक से बढ़ कर था क्योंकि यही वह व्यक्ति था जो कलश में रखे हुए स्वर्ण की चोरी करने के लिए बाड़ौली के मन्दिर के शिखर पर चढ़ गया था। खापरा की गुफा कितने ही भागों में विभक्त है; एक उसका [बैठने-उठने का] बड़ा कक्ष, दूसरी रसोई और तीसरी अश्वशाला इत्यादि। यह साठ फीट लम्बा और साठ फीट चौड़ा वर्गाकार है, जो भारी, वर्गाकार और लगभग नौ फीट उंचे सोलह खम्भों पर टिका हुआ है। उसको यों बताया जा सकता है—



[1] राबिन हुड का नाम अंग्रेजी उपाख्यानों में बहुत आता है। प्राचीन वीरकाव्यों में भी उसका चित्रण एक अलमस्त बाहरवाट के रूप में किया गया है जो धनिकों को लूट-लूट कर निर्धनों की सहायता किया करता था। ऐतिहासिक आधार पर तो उसके अस्तित्व के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं परन्तु, चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं तक में उसका उल्लेख अवश्य मिलता है, यथा Piers Plowman नामक १३७७ ई० की रचना में 'rhymes of Robin Hood' का उल्लेख है—N. S. E.; p. 1063

परिवर्तन के प्रकार से स्पष्ट दिखाई देता है कि मुसलमानों ने खापरा की अपवित्र गुफा को शेख अली दरवेश की दरगाह में वदल दिया है। वही दुर्बोध्य अक्षर, जिनके बारे में मैं कई बार कह आया हूँ, यहाँ भी दीवारों पर खुदे हुए हैं। उनके नमूने ये हैं—

परन्तु अब अपने को अवन्तिगिरि अथवा 'सुरक्षा के पहाड़' के मार्ग पर चलना है, जो गिरिराज अथवा 'पर्वतों के राजा' के पचीस शास्त्रीय नामों में से एक है। 'गिरिराज' को प्रायः गिरनार कहते हैं; 'गिरि' अर्थात् पर्वत और 'नारि' (nari) का भी वही अर्थ है, जो 'स्वामी' अथवा मालिक का है। दूसरे नाम ये हैं, उज्जयन्त गिरि (Ujanti Gir) अथवा 'पापों का नाश करने वाला पर्वत'; हर्षद शिखर (Harsid Sikra) 'हर्षद का शिखर' अथवा योगियों का स्वामी शिव; 'स्वर्णगिरि' अथवा सोने का पर्वत; 'श्रीढांक गिरि (Sri-dhank-Gir) अथवा समस्त अन्य पर्वतों को ढाँकने वाला पर्वत, 'श्रीसहस्रकोमल' अथवा सहस्र-दल के समान कोमल; 'मोरदेवीपर्वत' अथवा आदिनाथ की माता मोर [मरु] देवी का पर्वत; 'बाहुवलि तीर्थ' अथवा आदिनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का पवित्र स्थान; इत्यादि। परन्तु, सब से अधिक सार्थक नाम 'स्वर्ण' है, जो यहाँ की नदी या निर्झरिणी के लिए भी समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, जिसमें काली-काली चट्टानों और पर्वत की दरारों से बह कर आने वाले अनेक झरने मिलते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस आदिकालीन पर्वत में वह बहुमूल्य धातु अवश्य प्राप्य है; यह केवल इस लिए नहीं कि यह बात इसके नाम 'सोनारिका' अथवा 'स्वर्णप्रवाहिनी' के अर्थ के अनुरूप है, परन्तु राणावंश के इतिहास के आमुख में एक ऐसी कथा भी है जिसके अनुसार सौराष्ट्र के शक्तिशाली यदु (वंशी) राजा ने अपनी पुत्री एक अनजान अतिथि को इसलिए व्याह दी थी कि 'वह मूल्यवान् धातु का अन्वेषण करने की कला जानता था और उसने गिरनार की पहाड़ियों में ऐसे स्थल बताए भी थे, जहाँ सोना विद्यमान था।'

अच्छा, तो आइये, अव 'जूनागढ़' के क़िले के पूर्वीय मेहराबदार द्वार से सीढ़ियों द्वारा आगे चलें। घोड़ों के व्यापारी सुन्दरजी का विशाल वैभव यहाँ से आरम्भ हो कर ऐसे निर्माण-कार्य में आगे बढ़ा है, जिससे उसका नाम तो अमर हो ही जायगा, साथ ही इस यात्रा में अपने परमाराध्य तक पहुँचने के मार्ग को सुगम बनाने के लिए उसे यात्रियों का आशीर्वाद भी प्राप्त होता रहता है।

नगर के परकोटे से आरम्भ कर के उसने जंगल में हो कर एक वड़ा अच्छा रास्ता निकाला है, जिसके दोनों ओर आम तथा जामुन आदि के वृक्ष लगाए हैं, जो कालान्तर में थके हुए यात्री को छाया और भोजन दोनों ही प्रदान कर सकेंगे। यह मार्ग जहाँ सोनारिका से मिलता है वहाँ एक लम्बा पत्थरों से जड़ा रास्ता है, जो नदी के समानान्तर चलता है और उस स्थान पर समाप्त होता है जहाँ पर यह दर्रा के संकड़े रास्ते हो कर पार निकलती है और जहाँ तीन मेहराबों वाला सुदृढ़ एवं सुन्दर पुल है, जिस पर जालीदार खुली दीवारें बनी हुई हैं। इससे दृश्य का मनोरम प्रभाव तो बढ़ ही जाता है, साथ ही इसकी उपयोगिता से सुन्दरता में भी चार चाँद लग जाते हैं क्योंकि इससे गरीब आदमियों की बड़ी भारी जमात को रोटी ही नहीं मिलती वरन् जब यह पूरा हो जायगा तो अचानक बाढ़ के कारण नदी में भक्तों के बह जाने का समस्त भय भी पूरी तरह दूर हो जायगा। जो सब से कठिन भाग था वह तो पहले ही पूरा हो चुका है और यद्यपि सुन्दरजी मर चुके हैं, परन्तु उनके पुत्र और उत्तराधिकारी के कारण इसमें कोई शिथिलता नहीं आई है। वह अपने धार्मिक उत्साह से पिता की आज्ञा को पूरा कर रहा है और पुलिया को नदी के दूसरे उतार तक बढ़ा रहा है, जहाँ से आगे यह उपयोगी की अपेक्षा सुन्दर अधिक होगा। पुल पर से देखने पर बड़े प्रभावोत्पादक दृश्य दिखाई देते हैं। सामने ही पर्वत-श्रेणी के बीच दुर्गा-द्वार में होकर गिरनार का उच्चतम गम्भीर शिखर दिखाई पड़ता है और पीछे की ओर 'जूनागढ़' का किला अपने 'गौरवपूर्ण पराभव' के कारण नीचे बैठता-सा जा रहा है; वह ऐसा मालूम होता है मानों पवित्र पर्वत पर जाने के लिए घाटी के मार्ग की सुरक्षा हेतु ही कोई सहायक किला बनाया गया हो।

अब पुल को छोड़ कर मुझे उस चीज़ का वर्णन करना है जो पुरातत्त्वानुरागियों के लिए सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक है—ऐसा स्मारक जो विगत समय की अपरिचित भाषा में बोलता है और फिरंगी विद्वान् अथवा 'सावन्त' [सन्त ?] को उस अज्ञानान्धकार को हटाने के लिए आमन्त्रित कर रहा है, जिससे वह युगों से आवृत हो रहा था। एक बार सुन्दरजी को फिर धन्यवाद दें कि उनकी उदारता के बिना यह आगे भी दुर्गम्य बनों के बीच उलझे हुए घने बबूलों के दुर्भेद्य जाल से ढँका पड़ा रहता। मैं पहले दो लघु स्थानों के बारे में कहूँगा। पहला एक छोटा-सा सुन्दर कुण्ड है जो नगर के दरवाजे से निकलते ही मिलता है और 'सुनार का कुण्ड' (Goldsmith's pool) कहलाता है; दूसरा, दुर्गा की पहाड़ी के नीचे ही बाघेश्वरी माता का छोटा-सा

परिवर्तन के प्रकार से स्पष्ट दिखाई देता है कि मुसलमानों ने खापरा की अपवित्र गुफा को शेख अली दरवेश की दरगाह में बदल दिया है। वही दुर्बोध्य अक्षर, जिनके बारे में मैं कई बार कह आया हूँ, यहाँ भी दीवारों पर खुदे हुए हैं। उनके नमूने ये हैं—



परन्तु अब अपने को अवन्तिगिरि अथवा 'सुरक्षा के पहाड़' के मार्ग पर चलना है, जो गिरिराज अथवा 'पर्वतों के राजा' के पचीस शास्त्रीय नामों में से एक है। 'गिरिराज' को प्रायः गिरनार कहते हैं; 'गिरि' अर्थात् पर्वत और 'नारि' (nari) का भी वही अर्थ है, जो 'स्वामी' अथवा मालिक का है। दूसरे नाम ये हैं, उज्जयन्त गिरि (Ujanti Gir) अथवा 'पापों का नाश करने वाला पर्वत'; हर्षद शिखर (Harsid Sikra) 'हर्षद का शिखर' अथवा योगियों का स्वामी शिव; 'स्वर्णगिरि' अथवा सोने का पर्वत; 'श्रीढांक गिरि (Sri-dhank-Gir) अथवा समस्त अन्य पर्वतों को ढाँकने वाला पर्वत, 'श्रीसहस्रकोमल' अथवा सहस्र-दल के समान कोमल; 'मोरदेवीपर्वत' अथवा आदिनाथ की माता मोर [मरु] देवी का पर्वत; 'बाहुबलि तीर्थ' अथवा आदिनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का पवित्र स्थान; इत्यादि। परन्तु, सब से अधिक सार्थक नाम 'स्वर्ण' है, जो यहाँ की नदी या निर्झरिणी के लिए भी समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, जिसमें काली-काली चट्टानों और पर्वत की दरारों से बह कर आने वाले अनेक झरने मिलते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस आदिकालीन पर्वत में वह बहुमूल्य धातु अवश्य प्राप्य है; यह केवल इस लिए नहीं कि यह बात इसके नाम 'सोनारिका' अथवा 'स्वर्णप्रवाहिनी' के अर्थ के अनुरूप है, परन्तु राणावंश के इतिहास के आमुख में एक ऐसी कथा भी है जिसके अनुसार सौराष्ट्र के शक्तिशाली यदु (वंशी) राजा ने अपनी पुत्री एक अनजान अतिथि को इसलिए ब्याह दी थी कि 'वह मूल्यवान् धातु का अन्वेषण करने की कला जानता था और उसने गिरनार की पहाड़ियों में ऐसे स्थल बताए भी थे, जहाँ सोना विद्यमान था।'

अच्छा, तो आइये, अब 'जूनागढ़' के क़िले के पूर्वीय मेहराबदार द्वार से सीढ़ियों द्वारा आगे चलें। घोड़ों के व्यापारी सुन्दरजी का विशाल वैभव यहाँ से आरम्भ हो कर ऐसे निर्माण-कार्य में आगे बढ़ा है, जिससे उसका नाम तो अमर हो ही जायगा, साथ ही इस यात्रा में अपने परमाराध्य तक पहुँचने के मार्ग को सुगम बनाने के लिए उसे यात्रियों का आशीर्वाद भी प्राप्त होता रहता है।

नगर के परकोटे से आरम्भ कर के उसने जंगल में हो कर एक बड़ा अच्छा रास्ता निकाला है, जिसके दोनों ओर आम तथा जामुन आदि के वृक्ष लगाए हैं, जो कालान्तर में थके हुए यात्री को छाया और भोजन दोनों ही प्रदान कर सकेंगे। यह मार्ग जहाँ सोनारिका से मिलता है वहाँ एक लम्बा पत्थरों से जड़ा रास्ता है, जो नदी के समानान्तर चलता है और उस स्थान पर समाप्त होता है जहाँ पर यह दर्रा के संकड़े रास्ते हो कर पार निकलती है और जहाँ तीन मेहराबों वाला सुदृढ़ एवं सुन्दर पुल है, जिस पर जालीदार खुली दीवारें बनी हुई हैं। इससे दृश्य का मनोरम प्रभाव तो बढ़ ही जाता है, साथ ही इसकी उपयोगिता से सुन्दरता में भी चार चाँद लग जाते हैं क्योंकि इससे गरीब आदमियों की बड़ी भारी जमात को रोटी ही नहीं मिलती वरन् जब यह पूरा हो जायगा तो अचानक बाढ़ के कारण नदी में भक्तों के बह जाने का समस्त भय भी पूरी तरह दूर हो जायगा। जो सब से कठिन भाग था वह तो पहले ही पूरा हो चुका है और यद्यपि सुन्दरजी मर चुके हैं, परन्तु उनके पुत्र और उत्तराधिकारी के कारण इसमें कोई शिथिलता नहीं आई है। वह अपने धार्मिक उत्साह से पिता की आज्ञा को पूरा कर रहा है और पुलिया को नदी के दूसरे उतार तक बढ़ा रहा है, जहाँ से आगे यह उपयोगी की अपेक्षा सुन्दर अधिक होगा। पुल पर से देखने पर बड़े प्रभावोत्पादक दृश्य दिखाई देते हैं। सामने ही पर्वत-श्रेणी के बीच दुर्गा-द्वार में होकर गिरनार का उच्चतम गम्भीर शिखर दिखाई पड़ता है और पीछे की ओर 'जूनागढ़' का किला अपने 'गौरवपूर्ण पराभव' के कारण नीचे बैठता-सा जा रहा है; वह ऐसा मालूम होता है मानों पवित्र पर्वत पर जाने के लिए घाटी के मार्ग की सुरक्षा हेतु ही कोई सहायक किला बनाया गया हो।

अब पुल को छोड़ कर मुझे उस चीज़ का वर्णन करना है जो पुरातत्त्वानुरागियों के लिए सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक है—ऐसा स्मारक जो विगत समय की अपरिचित भाषा में बोलता है और फिरंगी विद्वान् अथवा 'सावन्त' [सन्त ?] को उस अज्ञानान्धकार को हटाने के लिए आमन्त्रित कर रहा है, जिससे वह युगों से आवृत हो रहा था। एक बार सुन्दरजी को फिर धन्यवाद दें कि उनकी उदारता के बिना यह आगे भी दुर्गम्य वनों के बीच उलझे हुए घने बबूलों के दुर्भेद्य जाल से ढँका पड़ा रहता। मैं पहले दो लघु स्थानों के बारे में कहूँगा। पहला एक छोटा-सा सुन्दर कुण्ड है जो नगर के दरवाजे से निकलते ही मिलता है और 'सुनार का कुण्ड' (Goldsmith's pool) कहलाता है; दूसरा, दुर्गा की पहाड़ी के नीचे ही बाघेश्वरी माता का छोटा-सा

मन्दिर है जो फ्रीजियन (Phrygian)[1] देवी से कुछ ही भिन्न लगती है अथवा उसी की बहिन है। वह काँटों का मुकुट पहने हुए है और बाघ उसका वाहन है। पहले सौराष्ट्र के जंगल इन दोनों से ही खूब भरे हुए थे।

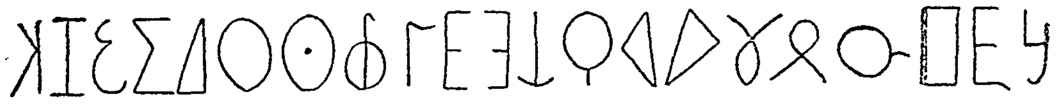
यह स्मारक स्पष्ट ही किसी महान् विजेता का है, जो काले पत्थर के एक अर्द्धचन्द्राकार ढेर के रूप में धरती माता की ऊपरी परत पर मस्से के समान है, जिसमें न कहीं छिद्र है न असमानता, और जो 'लोह-लेखनी' की करामात से एक पुस्तक में बदल गया है। इसके परिधि-खण्ड की माप लगभग नव्वे फीट है; इसकी सतह कुछ विभागों अथवा समानान्तर चतुर्भुजों में बँटी हुई है, जिनके अन्दर सामान्य प्राचीन अक्षरों में खुदे हुए शिलालेख हैं। इनमें से दो कारतूस रखने की पेटी-जैसे (पत्थरों पर खुदे) लेखों की नकल मैंने अपने गुरु की सहायता से और बहुत सावधानी से की; तीसरे की भी आंशिक रूप में नकल ली तो है, परन्तु इसके अक्षर भिन्न हैं। पहले दो लेखों की दिल्ली के विजय-स्तम्भों, मेवाड़ की झील के बीच में खड़े 'विजय-स्तम्भ'[2] और भारत के विभिन्न प्राचीन गुहा-मन्दिरों के लेखों से समानता स्पष्ट है। प्रत्येक अक्षर लम्बाई में लगभग दो इञ्च है और बहुत ही सुडौल रूप में बनाया गया है तथा उसकी आकृति पूर्णतया सुरक्षित है। इनसे कुछ आधुनिक प्रकार के अक्षरों के नमूने इस ढेर की चोटी पर तथा पश्चिमी ढाल पर मिले। ये उन अक्षरों के समान हैं जो मैंने 'ट्रांजेक्शन्स आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' के लिए इण्डो-गेटिक पदकों पर उत्कीर्ण कराए थे तथा जिनके नमूने मैंने कालीकोट के खण्डहरों और खाड़ी के उस ओर के दूसरे प्राचीन नगरों से प्राप्त किए थे। मैं उनको पाठकों के लिए यहाँ पर उद्धृत करता हूँ कि जिससे वे शिलालेखों से उनका मीलान कर सकें। मैं इसको सही रूप में एक पुस्तक कह सकता हूँ क्योंकि पूरी चट्टान उन अक्षरों से भरी हुई है, जो बनावट में इतने समान हैं कि इन सभी को आसानी से अत्यन्त प्राचीन कहा जा सकता है और मैं इसको एक ही व्यक्ति की कृति की 'पाण्डुलिपि' मानता हूँ। परन्तु, वह व्यक्ति कौन था? ये अक्षराकृतियाँ निश्चय ही सूरोइ (Suroi) के विजेता मीनान्डर (Menander) और अपोलोडोटस (Appolodotus) से बहुत पहले के समय की हैं और इनमें ग्रीक अक्षरों का विचित्र मिश्रण होते हुए भी हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि ये उनको राजपूतों से हुई भेंट अथवा Tessariostus या तेजराज पर प्राप्त विजय के सूचक

---

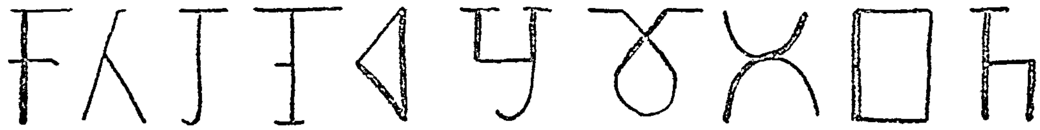
[1] Phrygia (फ्रीजिया) एशिया माइनर में है। वहाँ के लोग आगे निकली हुई नोंकदार टोपियाँ पहनते थे।

[2] मेवाड़ का विजयस्तम्भ तो चित्तौड़ दुर्ग में है, वहाँ झील कहाँ है?

चिह्न हैं, जो सम्भवतः उस समय जूनागढ़ का यदुवंशी राजा था। लिपिविशेषज्ञ अब मीलान करके देखेंगें कि कितने अक्षर प्राचीन ग्रीक और कैल्टो-एट्रुस्कन (Celto etruscan) अक्षरों से मिलते हैं, जैसे—



फिर, कुछ 'समारिती'[1] (Samaritan) अक्षर भी हैं, जैसे—



अलिफ़ वे पे हे ऐन नून तोय तोय [ज़ोय]

इनमें से प्रत्येक के साथ शिलालेख में बहुत से अन्य संयुक्ताक्षर भी हैं।

मैं यह जानता हूँ कि यदि किसी बात को सिद्ध करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया जाय तो कुछ भो सिद्ध नहीं हो पाता, परन्तु इस कथन में भी थोड़ा तथ्य नहीं है कि 'सत्यांश के आधार पर भी शेष सम्पूर्ण सत्य का आभास प्राप्त हो सकता है।' इसी लिए मैं अगुआ लिपिशास्त्री बनने का दुस्साहस कर रहा हूँ। विषय को सरल बनाने के प्रयत्न में मैंने ऐसे अक्षर चुने हैं जो असंयुक्त और स्वतंत्र मालूम दिये, फिर इनसे संयुक्ताक्षरों का पता लगाया। प्रथम (स्वरों) की संख्या सोलह ही है, परन्तु व्यञ्जन अनेक हैं। स्वरों में अल्पप्राण ग्रीक अक्षर O (omicron)[2] के ही मुझे सत्रह से कम व्यञ्जन नहीं मिले; इसी प्रकार अन्य स्वरों के भी अनेक व्यञ्जन हैं, यदि इस शोध का कोई फल नहीं निकलता है तो मेरा समय व्यर्थ गया समझिए; परन्तु, जब मैं यह कहना चाहता हूँ कि इनमें से दो अक्षर अर्थात् Ч Σ जो एक शिलालेख के अन्त में आते हैं वे नक्काशी के काम में नामाक्षर-भित्ति (Monogram) बनाते हैं और ग्रीक हरक्यूलीज़ की आकृति एवं समस्त गुणों को व्यक्त करते हैं तो मुझे यह आशा बँधे बिना नहीं रहती कि सीरिया की प्राचीन लिपि के सूक्ष्म विश्लेषण एवं मीलान के फल-स्वरूप कुछ और भी आश्चर्यजनक परिणाम निकलेंगे। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं ही पहला व्यक्ति हूँ जिसने इन अक्षरों, ग्रीक लिपि एवं प्राचीन चौकोर अक्षरों में समानता के दर्शन किए हैं, क्योंकि आधी शताब्दी पूर्व उत्तरी भारत से हमारे प्रथम सम्पर्क के अवसर पर जिस पहले अंग्रेज़ ने फीरोज़ के प्राचीन महल में स्तम्भ का

---

[1] पैलेस्टाइन के उत्तरपूर्वीय प्रदेश से सम्बद्ध।
[2] Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. III, p. 139.

निरीक्षण किया था उसने उसको 'पोरस पर सिकन्दर की विजय का लेख' घोषित किया था। मैं इस विषय को विद्वानों (Vedya) और बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा इन पत्थरों पर समय के आगामी आक्रमण से पूर्व ही पूरी छानबीन के लिए छोड़ता हूँ, क्योंकि ढेर की चोटी पर तो ऊपरी सतह बिलकुल छिल गई है, जैसा कि प्रायः ऐसे पत्थरों में होता है और इनको शिलालेख के लिए अनुपयुक्त प्रमाणित करता है—इसी बात को लेकर मुझे गिरनार के मन्दिरों में प्रायः पछताना और दुःखी होना पड़ा था। इसी लिए हिन्दू-लोगों ने अपने लेखों के लिए भूरा चट्टानी पत्थर, सुदृढ़ चूने का पत्थर, काला या भूरा अथवा स्लेट या पतली परत का पत्थर ही चुना है।

पिछले अक्षर बाद की तिथि के हैं और इनमें सुधार करने का जैनियों में साधारणतया प्रचलन था, और वह भी इतना पहले कि बारहवीं शताब्दी में। इनका मैंने एक बड़ा संकलन किया जिनमें सबसे पुराना पाँचवीं शताब्दी का था, जिसमें जीत (Jit) या जीट Gete के राजा के आक्रमणों का वर्णन है) जिनको मेरे गुरु ने बड़े परिश्रम से पढ़ा और फिर मैंने उन्हीं के द्वारा तथ्य की सम्पुष्टि उन के सम्प्रदाय के बड़े अधिकारी अथवा श्री पूज्यजी, उनके पुस्तकाधिकारियों और प्रिय शिष्यों द्वारा कराई, जिनको इस विषय का पूरा ज्ञान था और वे इस उलझे हुए लेखन-प्रकार की कुञ्जी भी जानते थे, यद्यपि चौकोर अक्षर के विषय में वे भी संदिग्ध थे, क्योंकि उसका औरों से साम्य नहीं बैठता था।

अब हम पुल को पार करके घाटी अथवा दोनों पहाड़ियों के बीच में हो कर अपनी यात्रा चालू करें। सदा कल्पनाशील हिन्दुओं ने इन दोनों छोरों (सिरों) को भी, जो इस सँकड़ी घाटी के प्रवेशद्वार हैं, सशरीरता प्रदान कर दी है। अश्वमुखीदेवो (Centaur Bhynasara) ने दाँई ओर और जोगिनी माता ने बाँई ओर रक्षा के लिए तथा श्रद्धाहीन व्यक्तियों को घुसने से रोकने के लिए आसन जमाया है। घाटी से सड़क, नदी के पेटे और चोटी तक वृक्षावली से ढँके पहाड़ के बीच से संकड़ा मार्ग छोड़ कर सोनारिका के बाएं किनारे-किनारे, वल खाती हुई चलती है। वृक्षों में सब से अधिक देखने योग्य सागवान है, जिसके केवल पत्ते ही बड़े-बड़े हैं और यह शायद ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये पत्ते ऐसे लघु और बल खाए हुए तने वाले वृक्ष के हो भी सकते हैं या क्या? परन्तु, इनसे किसानी काम और मकान बनाने के लिए सामग्री तो मिल ही जाती है।

पहाड़ी के सिरे पर ही जिस पहली पवित्र इमारत पर ध्यान जाता है वह दामोदर महादेव का मन्दिर है और काफी बड़ा है। यहाँ सोनारिका को रोक

कर एक कुंड बना दिया गया है, जिसमें मन्दिर में जाने के लिए सीढियाँ चढ़ने के पहले यात्री स्नान करके पवित्र हो लेते हैं। मन्दिर के चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें हैं और वहाँ धर्मशाला बनी हुई है, जिसमें थके-माँदे यात्री विश्राम लेते हैं। एक ऊपर चढ़ती हुई सोपानसरणि से दूसरे कुण्ड में जाने का रास्ता है, जो चट्टान को काट कर बनाया गया है और इसका अग्रभाग टाँकी से कटे हुए पत्थरों का बना हुआ है। इसके विभिन्न भागों में टूटी-फूटी मूर्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनको मुसलमानों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह रेवती-कुण्ड कहलाता है और कहते हैं कि जूनागढ़ के प्राचीन यदु-वंशी स्वामियों ने इसको अपने महान् पूर्वज कन्हैया को अर्पित कर दिया था। मेरा बड़ा सौभाग्य था कि मुझे एक शिलालेख [परि० ६] मिल गया, जो विध्वंसकों की दृष्टि से बच गया था। इस लेख से हमें इस मन्दिर को शिव-मन्दिर का नाम देने की असंगति का पता चलता है क्योंकि देवत्व-प्राप्त यदु-नेता कन्हैया का बचपन का एक नाम दामोदर भी है—ऐसा लगता है कि आठवीं शताब्दी में जब शैवों और वैष्णवों में घोर साम्प्रदायिक झगड़े हुए तो किसी शैव ने अपने उपास्य देवता की मूर्ति भी यहाँ स्थापित कर दी। कुण्ड के समीप ही एक छोटे से मन्दिर में कन्हैया के भैया बलदेव की मूर्ति भी विराजमान है, जिसके हाथों में गदा, चक्र और शंख हैं।[1] यहां के ब्राह्मणों का अज्ञान देख कर भी आश्चर्य होता है; ये लोग जिन देवताओं का पूजन करते हैं उनके साधारण चिह्नों एवं गुणों के विषय में भी कुछ नहीं जानते। नदी के उस पार कुछ ऐसे यात्रियों की समाधियां बनी हुई हैं जिनको इस पवित्र पर्वत के उपान्त में दिवंगत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसा लगता है कि सौराष्ट्र के यदुवंशी राजाओं का समाधिस्थल भी यही रहा है; शिलालेख को देखते हुए इस मत की और भी सम्पुष्टि हो जाती है। विष्णु (जिसके गुणों का कन्हैया में आधान किया गया है) के इस पावन सरोवर का अधिष्ठातृ-देवता होने के दो निमित्त हैं; पहला यह कि वह इस महान् जाति का आदि पुरुष है और दूसरे, मृतकों के आत्मा को उसके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के गुण उसमें विद्यमान हैं। यह शिलालेख कितने ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। इसमें बहुत से ऐसे राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं जिनका इस क्षेत्र में राज्य रहा है और जो परम्परागत वार्तों में प्रसिद्ध भी है, विशेषत: राव माण्डलिक और खँगार जिनसे कितनी ही कथाएं सम्बद्ध हैं। पहले नाम

[1] बलराम का आयुध तो हल प्रसिद्ध है, चतुर्भुज विष्णु के आयुध अवश्य ही शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। पता नहीं, टाड साहब कैसे इस मूर्ति को बलराम की मूर्ति मान बैठे हैं?

(माण्डलिक) का दो बार उल्लेख है और मूल में लिखा है कि प्रथम (माण्ड-लिक) 'बहुत प्राचीन काल' में हुआ था। ऐसे शिलालेखों में प्रायः देखा गया है कि किसी अत्यन्त प्राचीन सूत्र का उल्लेख किया जाता है, फिर बीस पीढ़ियाँ छोड़ कर जिसका संस्मरण लिखना होता है उसके अतिनिकट पूर्वजों का विवरण देने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिलालेख जयसिंह द्वारा अपने स्वजातीय प्रमुख योद्धा अभयसिंह के प्रति आभार-प्रदर्शन का प्रमाण उपस्थित करता है, जो झिंगरकोट की 'जवनों' से रक्षा करता हुआ बलिदान हो गया था—'जवन' शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रीस-निवासियों और 'बर्बर' मुसलमानों के लिए समान रूप से किया जाता है। झिंगरकोट या जूनागढ़ के लिए इस नाम के प्रयुक्त होने के बारे में मुझे कुछ भी मालूम नहीं है, यद्यपि तलहटी में स्थित होने के कारण इसका विवरण बहुत ठीक उतरता है। इस लेख से गूढ़ाक्षरों में समय-सूचन-प्रणाली का भी अच्छा उदाहरण प्राप्त होता है जिसमें, मिश्र देशवासी गूढ़ाक्षर-लेखक पुरोहितों के समान, ब्राह्मणों को जनसाधारण की समझ से प्रत्येक बात को गुप्त रखने में आनन्द आता था। परन्तु, मैंने इसकी कुंजी अन्यत्र दे दी है इसलिए यहाँ संक्षेप में इतना ही लिखूंगा कि इस (संवत्) का उद्धार किस प्रकार किया गया है। संवत् को इस प्रकार संकेताक्षरों में लिखा गया है—'राम, तुरङ्ग, सागर, मही'; इनको उलटा कर पढ़ना चाहिए अर्थात् दाएं से बाएं, तब हमको १४७३ का संवत् मिल जाता है। अर्थ इस प्रकार है—राम तीन हैं, तुरंग अर्थात् सप्ताश्व—सूर्य का सात शिरों वाला अश्व, सागर से तात्पर्य चारों समुद्रों से है, जो पृथ्वी को घेरे हुए हैं और मही अर्थात् पृथ्वी एक है।

आधा मील आगे चल कर जहाँ नदी को फिर पार करना पड़ता है, इमली और पीपल के वृक्षों से आच्छादित अत्यन्त रमणीय घाटी में भावनाथ महादेव का मन्दिर और सरोवर हैं। यहाँ पुनः स्नान किया जाता है और जब यात्री इस शीतल एवं आनन्दप्रद स्थान में विश्राम के अनन्तर शारीरिक और मानसिक पवित्रता लाभ कर के दर्शन करने जाता है तो पुजारी उसके 'भभूत' [विभूति] का टीका लगाता है। आधा मील और आगे चल कर हम दो मुसलमान सन्तों की मजार पर पहुँचे, जिन पर एक प्रकार की वेदी सी बनी हुई है जो कपड़े से ढकी हुई थी और लगभग एक दर्जन लाल कलंगी वाले मुर्गे उसके ऊपर और आस-पास पूर्ण स्वतंत्रता से गर्वभरी चाल से घूम रहे थे। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही ऐसे स्मारकों के आगे मस्तक झुकाते हैं—यह उन अनेक उदाहरणों में से एक है, जो किसी भी पवित्र वस्तु के प्रति हिन्दुओं की स्वाभाविक आदर-

भावना को व्यक्त करते हैं। यहाँ हमने 'स्वर्ण प्रवाहिनी' नदी का अन्तिम दृश्य देखा, जो बाद में हमारे पद-पद पर घनी होती चली गई घने जंगल की गहराइयों में खो गया और कि हम गिरिराज की तलहटी के समीप आते गये जहाँ से दक्षिण-पूर्व में ही उसका मुख्य उद्गम-स्थान है। अब मार्ग सँकड़ा हो गया था—इतना तंग कि उस पर अकेला एक ही यात्री चल सकता है और ऊपर झूलती हुई वृक्षों की घनी पत्रावली से मुंह को बचाने के लिए बार-बार उसे अलग हटाना पड़ता है। इस उलझे हुए मार्ग से थोड़ी दूर चलने पर ही यात्री एक अत्यन्त प्राचीन महा-मुनि की पादुका की ओर आकृष्ट होता है जिसे साष्टाङ्ग दण्डवत् करने की भावना उसमें सहज ही उत्पन्न हो जाती है, और पास ही में बहुत पुराने अपरिष्कृत रूप में निर्मित पांच मन्दिर हैं, जिनकी छतरियाँ ग्र्यानिट के खम्भों पर आधारित हैं। ये पाण्डव-बन्धुओं के मन्दिर बताए जाते हैं और इनके समीप ही और भी अधिक दुर्दशा-ग्रस्त अन्य दो मन्दिर हैं, जो उनके सम्बन्धी और सखा कन्हैया तथा पांचों हिन्दू-सीथिक राजाओं की एक पत्नी द्रौपदी के नाम पर हैं। इसी, घाटी के सँकड़े मार्ग के, स्थान से साढ़े तीन मील की क्रमिक चढ़ाई है; 'पादुका' से यह चढ़ाई निश्चित दिशा ले लेती है और इस मार्ग में यात्री को गोल तथा स्तम्भाकार बड़े-बड़े पत्थर के टोले मिलते हैं जो किसी हलचल (भूकम्प) के कारण पहाड़ की चोटी से विलग हुए प्रतीत होते हैं। ये इस तरह लटके हुए हैं कि पुन: लुढ़क जाने के लिए तैयार ही हैं। मार्ग का यह बड़ा और एकान्त भाग 'भैरों झाँप' कहलाता है, जो लगभग सौ फीट ऊँचा और इससे दुगुनी परिधि के फैलाव में है। इसकी चोटी पर से, इस क्षणभङ्गर संसार से तंग आए हुए लोग, पुनर्जन्म के लिए झाँप (छलांग) मारते हैं और इसी लिए इसका यह नाम—झाँप अर्थात् कूदना और भैरूं (भैरव) अर्थात् विनाश का देवता, पड़ा है। प्राय: महत्त्वाकांक्षा ही इस आत्मघात का प्रेरक उद्देश्य हो सकता है अर्थात् मरने वाले को इससे अपनी वर्तमान दशा में सुधार न होने की निराशा और 'नये जन्म में राजा बनने की' आशा रहती है। अतएव ऐसे लोगों में उच्च श्रेणी के व्यक्ति नहीं होते वरन् प्राय: ऐसे होते हैं जिनको अपने साधारण पुरुषार्थ से इस जीवन में ऊँचे बढ़ने की आशा नहीं रहती। मेरे मित्र मिस्टर विलियम्स् सन् १८१२ ई० में यहीं पर थे जब कोई बारह हज़ार यात्रियों के संघ में से केवल एक आदमी ने 'भैरों-झांप' ली थी—और वह बेचारा एक परम दरिद्री प्राणी था। इनमें से दूसरे घातक प्रस्तर-समूह का नाम 'हाथी' है; यह पहाड़ के आधे रास्ते चल कर एक चट्टान के ठीक मुखभाग पर पन्द्रह सौ फीट की सीधी ऊँचाई पर है। इसकी आकृति

साठ से अस्सी फीट तक के पिरामिड की सी है और इसके एवं पर्वत के बीच में यात्रियों के चलने के लिए रास्ता काफी है। इस स्थान तक तो यह पहाड़ जंगल से ढँका हुआ है, परन्तु यहाँ आकर वनस्पति का लोप होगया है और कोरी काली पथरीली चट्टानों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता, जिनमें हो कर खंगार के महलों तक पहुँचने के लिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। धनवानों के दयार्द्रभाव ने इन खड़ी चट्टानों में हो कर मार्ग को अपेक्षाकृत सुगम और सुरक्षित बना दिया है; चट्टानों को काट-काट कर नीची-नीची और सँकड़ी-सँकड़ी सीढ़ियाँ बना दी गई हैं और स्थान की दुरूह आकृति के अनुसार अनगिनती चक्करों और मोड़ों में हो कर यह रास्ता निर्मित हुआ है–कहीं-कहीं तो चट्टान के बिलकुल किनारे पर ही कोई सीढ़ी आ गई है। पिछली शाम, मैं अचानक ही लंगड़ेपन का शिकार हो गया इसलिए मुझे पहाड़ी-डोली में चढ़ने को विवश होना पड़ा, जिसका वर्णन मैं आबू के प्रकरण में कर चुका हूँ, और इन चट्टानों में काट कर बनाई हुई सीढ़ियों से गुज़रते समय बाईं ओर की चट्टान से टकराती हुई डोली और दायीं ओर देखने पर पन्द्रह सौ फीट गहरी खाई [खन्दक] के मेरे अनुभव विशेष अनुकूल और रुचिकर नहीं थे। ग्यारह बजे मैंने सौराष्ट्र के प्राचीन राजाओं के प्रासाद में पहुँचाने वाले दरवाजे में प्रवेश किया, जिसकी काली-काली दीवारें विश्व के सम्मिलित राजाओं का भी मुकाबला करने के लिए सक्षम हैं। 'रूढ़ मान्यता' को भी भ्रष्टता से बच कर अपना मन्दिर बनाने के लिए इससे अच्छा और सुरक्षित स्थान शायद ही मिल पाता और उन लोगों के लिए बैठ कर अपने आत्मा को परमात्म-साधन में लगाने के लिए इससे बढ़ कर कोई उपयुक्त स्थान भी नहीं था।

यहाँ चट्टान के किनारे खंगार के महलों में एक प्रहरी-कक्ष में बैठ कर, जिसकी छत दो नोंकदार मेहराबों पर टिकी हुई है, मैंने प्रातराश किया; इस समय 'जूनागढ़' से लगभग तीन हजार फीट की ऊँचाई पर खण्डहरों में बैठा हुआ मैं उस (जूनागढ़) के खण्डहरों की ओर नीचे देख रहा था। ऊपर की ओर पहाड़ की चोटी पर पूरे छः सौ फीट की ऊँचाई पर 'देवमाता' [अदिति ?] का मन्दिर दिखाई देता था जिससे भी ऊपर एक और पर्वत-शृंग मुकुटायमान दृष्टिगत हो रहा था। इन सभी स्थानों पर पहुँचना बड़े साहस का काम था।

प्रकरण १८

लेखक के विचार; गोरखनाथ की चोटी पर चढ़ाई; गिरनार के अन्य शिखर; मुसलिम सन्त; कालिका के मन्दिर की कथा; अघोरी; एक वनवासी योगी; मन्दिर; जैनों के गच्छ; देवालयों का वर्णन; शिलालेख; नेमि(नाथ) का मन्दिर; नेमि और मेम्नॉन की प्रतिमाओं में साम्य; खंगार-वंश; महल के खण्डहरों में एक रात; पर्वत की ढाल; नेमिनाथ-मंदिर के यात्रा; वृद्धा यात्रिणी; हाथी चट्टान; डेरे पर वापसी।

सभी युगों में भक्तों ने जगत्स्रष्टा परमात्मा का भजन और चिन्तन करने के लिए पर्वत-शिखरों पर ही आश्रय लिया है और जब इस संसार के झंझट-भरे पदार्थों से मन ऊपर उठ जाता है तो वह अवश्य ही ऐसे साँचे में ढल जाता है कि फिर उस(परमात्मा) की सर्वशक्तिमत्ता की प्रत्ययभावना का विस्तार उसके द्वारा निर्मित सांसारिक वस्तुओं के आधार तक ही सीमित नहीं रहता। यदि चिंतन कभी आयासित होता है तो वह ऐसे ही स्थानों में —जैसे कि मैं इन प्राचीनकाल के एकान्त खण्डहरों में बैठा हूँ जहाँ की गहरी चुपचापी को केवल चील की आवाज़ अथवा सूने मकानों में घुरघुराती हुई हवा ही भंग करती है; और यहाँ मुझे मनुष्य और उसकी प्रवृत्तियों पर दया आ रही थी। कहीं दूर, दूर पर अस्तोन्मुख सूर्य की किरणों से किञ्चित् आलोकित समुद्र का दृश्य भी ऐसी भाव-राशिको जगाने में पीछे नहीं रह रहा था जिसमें पीड़ा और प्रसन्नता दोनों ही आपस में गुंथी हुई थीं, यह वह समुद्र है जिसके माध्यम से बाईस वर्ष पहले मैं घर से यहाँ आया था और अब एक बार फिर उसी मार्ग से उधर लौटने वाला हूँ। ऐसे क्षणों में और ऐसे दृश्यों में मस्तिष्क जीवन के कार्यकलापों का क्रमशः सिंहावलोकन कर गया; और, यह तो आप जानते ही हैं कि जिसका कार्यकाल विचित्रताओं से भरा रहा हो तो क्या उसकी संवेदनाएं विविधरूपता से रीती रही होंगी? मेरे विदेश-वास की अवधि समाप्त हो चुकी थी; मैं जहाँ से रवाना हुआ था वहीं लौटने वाला था और मुझे उस क्षण की स्पष्ट याद हो आई जब कि मैंने अपने देश और मित्रों से खुशी-खुशी विदा ली थी—'जीवन के जादू भरे प्याले' के 'चमकते हुए लबालब भरे किनारे' का स्वाद लेने के लिए; और तब मैंने केवल उन दिनों का हिसाब लगाया जो मेरे स्वतंत्र रूप से कार्यक्षेत्र में उतरने के समय के बीच में थे और भाग्य से इस कार्यवृत्त का अर्ध-व्यास छोटा नहीं था। भारत के उत्तर में फैले हुए हिमाच्छादित पर्वतों से गंगा, ब्रह्मपुत्रा और सिन्धु के मुहानों तक मुझे बहुत से मनुष्यों, उनके व्यवसायों और विभिन्न बस्तियों

का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला था; मैंने बहुत से मित्र बनाए; उनमें से बहुत-से मौत के मुँह में समा गए; मेरे मार्ग में बहुत-सी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ भी आईं, बहुत-सी बातों का मुझे पछतावा है और उनसे भी अधिक संख्या में चिरस्मरणीय प्रसंग हैं; दुःख और निराशा के काले धब्बों के पलड़ों को आशा और आनन्द-भरे दृश्यों ने बराबर किया; सचमुच, मैं अब भी इस देश से चिपका हुआ ही था और शायद पूर्वस्मृतियों के कारण इस पवित्र भूमि को सदा के लिए छोड़ने का मन नहीं हो रहा था; स्वजनों और स्वदेश की आशाएं मेरे सामने अस्पष्ट थीं क्योंकि जिन लोगों के साथ जीवन के अत्यन्त आनन्दमय दिन बीते थे उनको छोड़ते हुए शोक का आवेग मुझ पर छाया हुआ था।

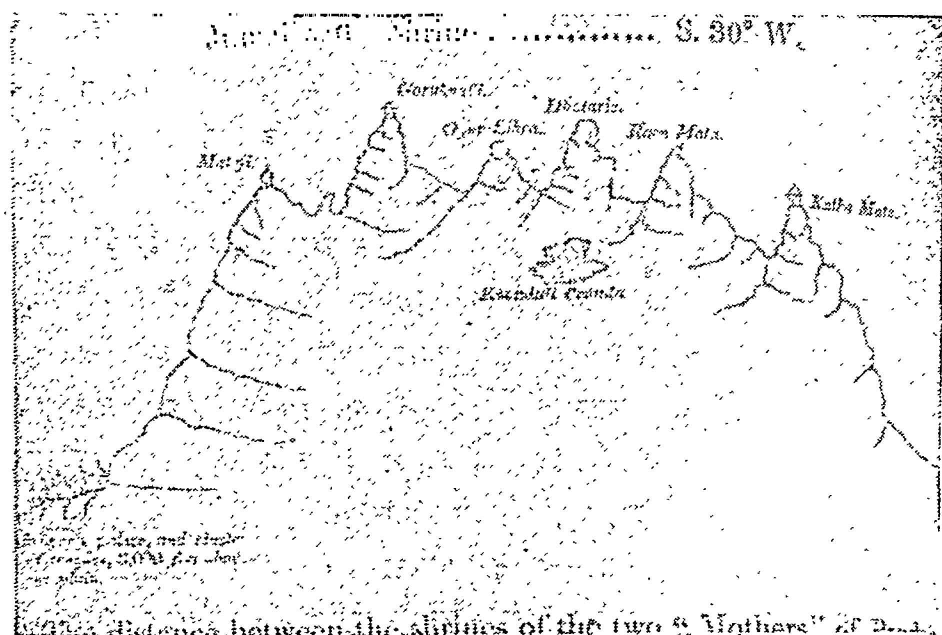
सूरज उगते ही मैंने इन्द्रवाहन अथवा स्वर्ग-शकटी में बैठ कर पुनः चढ़ाई शुरू कर दी और जब मैं जगन्माता अम्बा भवानी के मन्दिर में पहुँचा तो पर्वत की ऊपरी श्रेणी को सूर्य आलोकित कर चुका था। यहाँ मैं केवल इस चोटी की ऊँचाई देखने के लिए ही ठहरा और फिर गोरखनाथ के शिखर की ओर आगे बढ़ा। यद्यपि हम लोग इतनी ऊँचाई पर थे परन्तु हवा बन्द थी। सूरज बादलों में ही उगा था और जब वह दो घंटे ऊपर आ गया तो भी थर्मामीटर अपने आरम्भ के अंक ६६° से केवल एक ही डिगरी आगे बढ़ा था। गोरखनाथ के शिखर पर पहुँचने के लिए मुझे काफ़ी नीचे उतरना पड़ा तथा बीच की एक चढ़ाई भी तय करनी पड़ी; यहाँ पहुँचने पर रास्ता इतना ढालू था कि मैं इन्द्र-वाहन छोड़ने को विवश हुआ तथा यात्री के सहज उत्साह के साथ चारों ओर से खड़ी चढ़ाई पर जैसे-तैसे चढ़ गया। शिखर पर पहुँच कर मैं एक चबूतरे पर आया जिसका व्यास दस फीट से अधिक नहीं था और जिसके बीचों-बीच एक समूचे पत्थर का छोटा-सा गोरखनाथ का मन्दिर बना हुआ था। यह सुन्दर शिखर एक तराशे हुए शंकु के आकार का है जो अपने आधार से लगभग दो सौ फीट और 'अम्बा भवानी' के शिखर की तलहटी से डेढ़ सौ फीट अधिक ऊँचा है। गिरिराज के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर मुझे सन्तोष हुआ और छोटे-से मन्दिर में विराजमान सिद्ध-पादुकाओं के पास बैठ कर मैं उन शिखरों की झाँकी लेने लगा जिन पर अपने बे-मौक़े के लंगड़ेपन के कारण मैं नहीं पहुँच सकता था। यद्यपि मौसम अनुकूल न होने के कारण दूर की वस्तुएँ साफ दिखाई नहीं देती थीं, परन्तु दृश्य बहुत ही गौरवपूर्ण था। मुझे आशा तो थी, परन्तु मैं यहाँ से शत्रुञ्जय की छवि नहीं देख सका; फिर भी, समुद्र की सतह पर सूर्य का प्रकाश पड़ रहा था और यद्यपि तट पर बसे हुए नगर अच्छी तरह पहचान में

नहीं आ रहे थे तो भी चालीस मील की दूरी पर पट्टण से पोरबन्दर तक उसकी दिशा स्पष्ट थी तथा पचीस मील के भीतर दुरगी, जैतपुर और अन्य स्थान तो साफ़-साफ़ नज़र आ ही रहे थे।

गिरिनार के छः प्रसिद्ध शिखर हैं, जिनमें से चार तो समतल भू-भाग में से साफ़-साफ़ दिखाई देते हैं और ये ही दोनों ओर से इसके आयाम को बढ़ा हुआ बताते हैं क्योंकि पूर्व से देखो या पश्चिम से, यह एक सम्पूर्ण शंकु के आकार का दिखाई पड़ता है। गोरखनाथ-शिखर पर से देखने पर प्रत्येक शिखर ही गौरव-पूर्ण लगता है और कुछ तो पचीस मील की दूरी पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु, उससे आगे वे प्रत्येक मील पर धीरे-धीरे पार्थिव-समूह में विलीन होते जाते हैं। अमरेली से पूरा शंकु शिखरों की समान दिशा बताता हुआ दिखाई पड़ता है।

गोरखनाथ से देखने पर स्थिति इस प्रकार है—

माताजी का शिखर	पश्चिम में
अघोर [औघड़] शिखर	उ. ७०° पू.
गुरुधातृ शिखर	उ. ७०° पू.
कालिका माता शिखर	पूर्व में
राँई माता ,,	द. ७३° पू.
अन्य स्थान	
हिडिम्बा झूला	द. ७०° पू.
जमालशाह का मन्दिर	द. ३०° पू.



उत्पत्ति और संहार की दोनों 'माताओं', अम्बा भवानी और कालिका के मन्दिरों में सीधा फ़ासला दो मील का है। कालिका के मन्दिर का शिखर अम्बा के आधार स्थल से ऊँचा नहीं है, परन्तु बीच के शिखर दक्षिण की रेखा से काफ़ी बाहर निकले हुए हैं और स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। कालिका के मन्दिर से परली घाटी का उतार सीधा और जल्दी का है।

गोरखनाथ-शिखर पर से इस समस्त पर्वत-पुञ्ज की 'मेरुसमान' उपमा ठीक-ठीक समझ में आती है; आसपास की अवर पहाड़ियों के बीच यह मुकुट के समान खड़ा है और अपनी तलहटी में एक विशाल अखाड़ा-सा बनाए हुए है, जो दुर्गम्य जंगलों से ढँका हुआ है तथा जिसके श्यामल पादप-पुञ्जों में होकर चट्टानों की दरारों में से निकलने वाले अनेक झरने बहते हैं, जिनके सभी के भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसे—शश-वन, हनुमान-झर आदि। समीप के प्रत्येक वन, झरने अथवा पर्वत के शिखर तथा जंगल का नाम किसी न किसी आशा अथवा भय पैदा करने वाले पदार्थ के साथ जुड़ा हुआ है और उनसे सम्बद्ध वार्ताओं की प्रचलित परम्परा समृद्ध है। दक्षिण-पश्चिम की ओर सबसे ऊँची पहाड़ी पर जमालशाह नामक मुसलिम सन्त ने अपना आसन (तकिया) लगा रखा है और वह श्रद्धालुओं की निजात के लिए मध्यस्थ बना हुआ है। जब मैंने एक वृद्ध मुसलमान नौकर से पूछा कि उसे यहाँ क्या प्राप्त हुआ, तो उसका उत्तर था 'इमाम[की] खैर और उसके मालिक व खुद की तन्दुरुस्ती।'

इस जङ्गल का एक भाग 'हिडिम्ब की पुत्री का झूला' कहलाता है, जो पाण्डवों के समय में [इस] वन का राजा था और, कहते हैं कि, जिन लोगों में भय की अपेक्षा कुतूहल अधिक प्रबल है उनको अब भी यहाँ अंगूठियाँ देखने को मिल जाती हैं क्योंकि वहाँ तक पहुँचने का मार्ग एक पहाड़ की चोटी के नीचे होकर जाता है जो उस असुर की कन्या के नाम से प्रसिद्ध है। उपाख्यान में कहा गया है कि वनपति की कन्या का हाथ उस वीर के लिए सुरक्षित था, जो उसकी पृथु-काया को प्रकम्पित कर सके; और भीम वह सौभाग्यशाली मनुष्य था [जो ऐसा कर सका]। मुकुन्द्रा घाटी में भी ऐसी ही वार्ता आज तक प्रचलित है। एक दूसरे स्थल के लिए बताया गया कि वहाँ 'कमण्डली' अथवा 'कुण्डल-कुण्ड' नामक जलाशय है जहाँ मानवीय सामान्य आयु से अत्यधिक वय वाला एक साधु जीवन व्यतीत कर रहा था। कहते हैं कि वह एक सौ बीस वर्ष का था। वह अपने पवित्र जीवन एवं परोपकारपरायणता के कारण सभी के द्वारा पूजनीय था क्योंकि सती-सेवकों से प्राप्त होने वाली भेंट से उसने गिरनार के गरीब यात्रियों के

लिए सदाव्रत चालू कर रखा था। मैं उससे बातचीत करने की अपेक्षा करता परन्तु इच्छा और शारीरिक शक्ति का समन्वय नहीं हो पा रहा था।

कालिका के मन्दिर तक न पहुँचने पर मुझे बड़ी चिड़चिड़ाहट-सी हुई क्योंकि इसके बारे में परम्परागत और सार्वजनिक रूप से बहुत-सी रहस्यभरी बातें प्रचलित थीं। मैंने गायकवाड़ के प्रतिनिधि लल्ल जोशी को, उसके मना करने पर भी, पहले ही से कह दिया था कि चाहे कितनी भी मुसीबत हो उस भयानक स्थान पर पहुँचना ही है, परन्तु, उसने और अन्य साथ वालों ने मेरे आकस्मिक लंगड़ेपन को बड़ी गम्भीरता से इस भ्रष्ट संकल्प का परिणाम बताया। इस भयानक मार्ग में जाने की कोई यात्री हिम्मत ही नहीं करता, और, लोककथाएं कहती हैं कि, यदि कभी किसी ने ऐसी मूर्खता की भी तो उसे अपनी इस धृष्टता का बड़ा महँगा मूल्य चुकाना पड़ा है। कहते हैं कि एक अन-जान व्यक्ति देवापराधी यात्रियों के साथ हो लेता था और आगे चल कर अपना बनावटी वेष छोड़ने पर वह स्वयं 'माता' सिद्ध हुई। इस माता की पूजाविधि भयंकर अघोरी द्वारा सम्पन्न होती है, जिसकी अधिष्ठात्री होने के कारण वह 'अघोरेश्वरी माता' कहलाती है; और इन्हीं नरमांस-भक्षी अघोरियों का कुछ भेद जानने की प्रबल इच्छा के कारण मैं कालिका-माता के शिखर तक अपनी थकान-भरी यात्रा को बढ़ाने के लिए लालायित हो रहा था अन्यथा और किसी भी दृष्टि से उधर कोई आकर्षण नहीं था। पहले कभी ये लोग किसी संख्या में इस क्षेत्र में रहते थे; परन्तु बहुत बड़े हिंसक पशुओं के समान वे घोर भयानक स्थानों में ही पाये जाते थे, जैसे—पर्वत, गुफाओं अथवा घने जंगलों की अँधेरी झुरमुटों आदि में। मैं इस विषय का अन्यत्र स्पर्श कर चुका हूँ अतः यहाँ कुछ अतिरिक्त उपाख्यानों से ही तथ्यों की पुष्टि करूंगा।

मर्दखोरों अथवा नरभक्षियों में से किसी अघोरी के नाम पर ही यह 'अघोर शिखर' कहलाता है, जो वहाँ पर स्थायी रूपसे बस गया था। इन पशुओं में से एक का नाम गाज़ी था, जो कभी-कभी अपनी पर्वतीय मांद को छोड़ कर भूख मिटाने के लिए नीचे के मैदानों में उतर आता था। अन्तिम बार जब उसको देखा गया तो एक जीवित बकरा और शराब से भरा मिट्टी का पात्र उसके सामने रखा हुआ था। उसने उस जानवर को दाँतों और नाखूनों से फाड़ डाला, खोला और खून और शराब पीकर उसी के अवशेषों में सो गया; फिर जगा, फिर उसको खोला और खून और शराब पीकर जंगल को लौट गया। १८१९ ई० में मैंने अपने मित्र मिस्टर विलियम्स (जो अब मेरे साथ हैं) को इन राक्षसों के बारे में अपील की थी। उनका उत्तर इस प्रकार था—'जब मैं काठियावाड़ में था तो

वहाँ तीन या चार आदमी ऐसे थे जो अक्षरश: जंगली पशुओं का सा जीवन बिताते थे और वे नेबूचॅड्नेज़र (Nebuchadnezzar)[१] की कहानी का विश्वास दिलाते थे; अन्तर केवल इतना ही था कि वे कच्चा और मनुष्य का मांस भी खाजाते थे। मेरा खयाल है, सन् १८०८ में, इन राक्षसों में से एक बड़ौदा में आया था जो प्रत्यक्ष ही एक मरे हुए बच्चे का हाथ खा गया। एक दूसरा राक्षस १८११ ई० में काठियावाड़ के सिरसोहो (Sirsohoh) में आया था, परन्तु उसके रहने से नुकसान नहीं हुआ, यद्यपि लोगों ने उसे दुशालों आदि से ढँक दिया था। एक वार एक अघोरी गिरनार की यात्रा के अवसर पर पहाड़ पर आया और यात्रियों में शामिल हो गया; उन लोगों ने उसकी पूजा की, दुशाले, पगड़ियाँ और अंगूठियाँ आदि भेंट कीं। वह कुछ देर बैठा रहा, फिर एक मूर्खतापूर्ण हँसी के साथ उछल पड़ा और जंगल में भाग गया।' मुझे बताया गया कि कुछ ही मास पूर्व, एक कमबख्त अपनी गुफा से निकल आया और उसने एक ब्राह्मण के लड़के को, जो मन्दिर से थोड़ी दूर निकल गया था, पत्थर मार कर गिरा लिया; परन्तु, उसकी टाँग ही टूट कर रह गई और बच्चे की चिल्लाहट सुन कर किसी ने आकर उसे बचा लिया। अघोरी अपने शिकार के लिए लड़ा परन्तु उसे पीट-पीट कर बेदम कर दिया गया और मरा हुआ समझ कर वहीं छोड़ दिया गया। तब से वे लोग पास-पास और सचेत रहने लगे और कहते हैं कि वह अपराधी गिरनार का जंगल छोड़ कर कहीं चला गया।

पाठकों को याद होगा कि, मैं जब इन विवरणों में भटक गया तो उन्होंने मुझे गिरनार शिखर पर अकेला छोड़ दिया था, जहाँ से मैं इन अभिशप्त मानव-मूर्तियों को 'महामाता' के मन्दिर की ओर चुपचाप देख रहा था और उन विचारों के तानेबाने में उलझा हुआ था, जिनको मेरी इस एकान्त स्थिति ने जन्म दे दिया था। मेरा एकान्त एक प्राणी के कारण भंग हुआ जिसके आने की मुझे खबर भी नहीं हुई कि कब वह चुपचाप आकर गोरखनाथ के मन्दिर के सामने बैठ गया। एक फटे कपड़े का चिथड़ा ही उसके शरीर को ढँके हुए था, बालों के बने हुए रस्से से उसकी कमर कसी हुई थी और उसका समस्त शरीर एवं उलझे हुए बाल राख से सने हुए थे। उसके अंग सुगठित थे, आकृति सुन्दर और पौरुषयुक्त थी, परन्तु बाईस वर्ष से अधिक अवस्था न होते हुए भी

---

[१] बेबीलोनिया में तीन बादशाह इस नाम के हुए हैं। Nebuchadnezzar II ने ६०४-५६१ ई.पू. तक राज्य किया। उसने जरुसलम पर भी ५८६ ई.पू. में अधिकार कर लिया था। (N. S. E., p. 922)

वह मानवता के पतन में निम्न कोटि को प्राप्त हो चुका था। उसकी आँखें जल रही थीं और वह नशे में लगभग मूर्छित-सा हुआ जा रहा था, फिर भी ऐसा लगता था कि जो क्रियायें उसने आरम्भ की थीं उनका उसे पूरा-पूरा ध्यान था। सिद्ध गोरखनाथ के छोटे-से मन्दिर के सामने बैठते ही उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं और थोड़ी देर निश्चल समाधि अवस्था में रहा। थोड़े ही क्षणों बाद उसमें किसी आत्मा के आवेश के लक्षण दिखाई देने लगे, जो उसके मुख की मांस-पेशियों में स्फुरण, शरीर की ऐंठन और गर्दन एवं हृदय की हलचल से प्रकट हो रहे थे मानो जिस आसुरी माया का वह उपासक था वही उसमें आविष्ट हो चुकी थी। जब यह दौरा समाप्त हुआ तो वह खड़ा हुआ और 'अलख, अलख' चिल्लाता हुआ विविध प्रकार की मुद्राओं में अपने आपको ढालने लगा। उसे छेड़ने से पहले मैंने इस चिल्लाहट को शान्त हो जाने दिया क्योंकि मुझे देखने और समझने के लिए उसके मस्तिष्क की आँख अत्यन्त धूमिल पड़ चुकी थी; परन्तु, उससे एक भी शब्द निकलवाने के मेरे प्रयत्न व्यर्थ ही गये। मैंने जो कुछ कहा वह उसने सुना और मुस्कराया भी, परन्तु मेरी उपस्थिति के विषय में चेतना का जो चिह्न उसमें दिखाई दिया वह केवल यह मुस्कुराहट मात्र थी। वह एक झोला लिए था; स्पष्ट है कि उसमें खाने पीने का सामान होगा; उसके पास एक नारियल का हुक्का भी था—नशीली चीजों का दम लगाने के लिए, और एक लोहे का चिमटा जिससे वह आग का उपयोग करता होगा। परन्तु, जिस वस्तु से मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ वह थी एक बाँस की बाँसुरी, जो वह हाथ में लिए था। 'मधुर स्वर-संगम' का ऐसे प्राणी पर क्या प्रभाव पड़ता होगा जिसने प्रत्यक्ष रूप से मानवता के प्रत्येक चिह्न का परित्याग कर दिया था? उसकी अभेद्य चुप्पी के कारण मैं इस विषय में उससे कोई निश्चित उत्तर प्राप्त न कर सका। गोरखनाथ को अन्तिम प्रणाम करके 'अलख' शब्द का उच्चारण करता हुआ वह विदा हुआ और शिखर से उतर कर निषिद्ध कालिका-मन्दिर की ओर चल दिया तथा मार्गावरोधक पदार्थों में मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। मेरा यह पूछना व्यर्थ ही हुआ कि वह कौन था; केवल इतना ही पर्याप्त था कि वह किसी से बातचीत नहीं करता था और उसे देखने वाले लोगों का मत था कि वह साधारण मनुष्यों से बढ़कर था। मैं नहीं कह सकता कि वह मुर्दखोर था या नहीं, परन्तु वह सीधा अघोरी-शिखर की ओर गया था, जहाँ बहुत करके उसी के पन्थ के लोग रहते हैं, इसलिए सम्भव है वह भी उसी बिरादरी का हो।

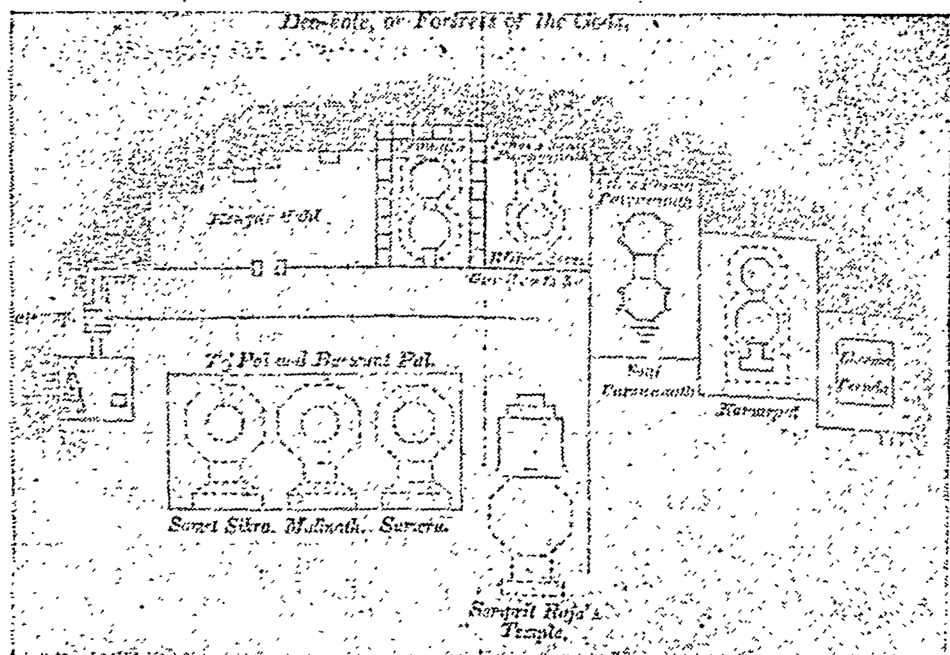
मैं थोड़ी देर तक सिद्ध के चबूतरे पर इस समागम की अपूर्वता पर विचार

करता हुआ बैठा रहा। सदा ही बुद्धिरूपी दैवी गुण के अभाव में कुछ ऐसा भयानक-सा भाव, जो हमारी प्रकृति में अन्तर्निहित रहता है, प्रबल हो उठता है और हम तत्काल किसी ऐसे पदार्थ के चिन्तन में लग जाते हैं कि जिससे सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने हमारे बौद्धिक भाव का मुख आवृत कर दिया है। परन्तु, यहाँ प्रत्यक्ष रूप से एक पागल और राक्षसतुल्य मनुष्य के विचार से बच निकलने का कोई उपाय नहीं था क्योंकि मैं मैदान से तीन या चार हजार फीट की ऊँचाई पर पर्वत-शिखर पर बैठा हुआ था। मेरे मन में पहले ऐसा विचार कभी नहीं आया था और उस समय मूल रूप से मुझे प्रकृति के उस पतित मानव के प्रति दुख:पूर्ण उत्तेजना एवं गहरी करुणा के भावों की अनुभूति हो रही थी।

धूप तेज़ होने लगी थी और साथ ही मुझे ध्यान दिला रही थी कि अभी और भी बहुत सी चीजें देखनी थीं; परन्तु, ऐसा दृश्य देखने के बाद मन पर जो कँपा देने वाला प्रभाव पड़ा, उसका प्रतिरोध करना भी सरल नहीं था। मुझे उन मनुष्यों पर दया आती है जिन्हें कभी ऐसी अछेड़ विचारमग्नता की विलासमयी तन्द्रा का अनुभव नहीं हुआ जैसी अभी थोड़ी देर के लिए मेरी समस्त चेतनाओं पर छा गई थी। खाँसी, खरखरी और जाते हुए थके यात्री के सोच ने मेरे स्नायुजाल पर चोट की थी। मुझे अपने एकान्त से ईर्ष्या हुई और ऐसा लगा मानो दूसरे लोगों की उपस्थिति एक प्रकार की बाधा थी। परन्तु, सभी स्थितियों का अन्त अवश्य होता है इसलिए अपने कदम वापस बढ़ाता हुआ अन्त में मैं पुनः अपेक्षाकृत अधिक सौन्दर्य और रामणीयकता की मूर्ति 'अम्बा-भवानी' के मन्दिर में जा पहुँचा।

मण्डप के नीचे वेदी पर विराजमान माता के दर्शन कर के मैं पश्चिमी झरोखे में आ गया और वहाँ एक बड़े-से काले पत्थर पर बैठ कर नीचे की ओर खँगार के महलों के आसपास बने हुए मन्दिरों के समूह को निहारने लगा। जैनों के इन स्मारकों का विहंगम-दृश्य बहुत गौरवपूर्ण एवं इनकी आयोजना और विभाजन का सही-सही परिचय देने वाला है। ये सब मन्दिर पर्वत के पश्चिमी मुकुटाकार शिखर के छोर पर अर्ध-चन्द्राकार बनाते हुए खड़े हैं जिसके अन्तिम किनारे पर ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी के पास एक हज़ार फीट ऊँची दीवार बनी हुई है, जो अपनी आधारभूत काले पत्थर की चट्टान के ही अनुरूप है। दक्षिणी किनारा खँगार के महलों से, जिसके परकोटे की दृढ़ दीवारें तथा उनकी सुरक्षार्थ काले पत्थर की पूठियों से विशाल चौकोर बनी हुई बुर्जें हैं, सुरक्षित है, और, वास्तव में ये महल ही इस पवित्र दुर्ग का प्रवेश-द्वार हैं, जो स्वयं दुर्गा का समुचित आवास है। किलेबन्दी को देखते हुए गिरिराज

बेजोड़ है, क्योंकि यदि खाने-पीने की सामग्री का पूरा प्रबन्ध हो और पानी की वहुतायत हो तो माता और गोरखनाथ के शिखरों से सुरक्षित इस दुर्ग पर कोई भी शत्रु अधिकार नहीं कर सकता। परन्तु, मैं अपने पाठकों को इन मन्दिरों में एक-एक में होकर ले चलूंगा जिनकी अद्भुत स्थिति का सही अनुमान नीचे दिए हुए ख़ाके से लगाया जा सकता है।



'महामाया' के शिखर से उतरते हुए, जिसके प्रति अद्वैतवादी जैनों की भक्ति विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई है, पाठकों को मार्ग में ऊँची-ऊँची जगहों पर स्तम्भ-समह पर आधारित छतरियाँ देखने को मिलेंगी, जिनसे सामान्य दृश्य के सौन्दर्य में जो अभिवृद्धि होती है उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। बेला अथवा अन्य प्रीतिकर पुष्पों का चयन करती हुई स्त्रियाँ भी पाठकों के दृष्टिपथ की अतिथि होंगी जो पुष्पमालाएं गूंथ कर गिरनार के देवताओं पर चढ़ाने के लिए उन्हें यात्रियों को वेचा करती हैं।

प्रवेश-द्वार के पास ही दिगम्बरों का वनवाया हुआ नेमिनाथ का पहला मन्दिर है, जो चौवीस जिनेश्वरों में से एक मात्र उनके लिये आराध्य हैं। जो लोग इस धर्म के विषय में अनभिज्ञ हैं उनकी जानकारी के लिए मैं वतादूं कि जैन लोग दो वड़े विभागों में बँटे हुए हैं अर्थात् दिगम्बर और श्वेताम्वर; प्रथम मत के वे लोग हैं जो समस्त आवरण को उतार कर दिक् अथवा आकाश को ही अपना अम्वर या वस्त्र मानते हैं; इसके विपरीत, श्वेताम्वर वे हैं जो 'पवित्र' (श्वेत) वस्त्र के साथ एकाकार हैं। पूर्वमत के प्रवर्तक सिद्धसेन

देवकाचार्य[1] (दिवाकर) संवत् ४०० (३४४ ई०) में हुए थे। तदनुसार इस मत के श्रीपूज्य या गुरु बिना वस्त्र के रहते हैं और अपनी कमर भी नहीं ढँकते; केवल जाड़ों में मौसम के प्रभाव से बचने के लिए एक लिहाफ़ (रजाई) ऊपर डाल लेते हैं; परन्तु, अब बहुत थोड़े (आजकल एक गिरनार में हैं) ऐसे रह गये हैं, जिनको तपस्या और सांसारिक भावनाओं के त्याग-स्वरूप ऐसी महती प्रतिष्ठा प्राप्त है।[2] ग्वालियर की गुफाओं में जो विशाल मूर्तियाँ हैं और जिनमें से कुछ तो पचास-पचास फीट ऊँचो हैं वे और भारतवर्ष भर में इसी प्रकार की बनी हुई अन्य प्रतिमाएँ, सब इसी मत से सम्बद्ध हैं। वर्त्तमान गुरु का मुख्य स्थान सूरत में है; उनका नाम विद्याभूषण है और इन विद्या [विज्ञान] के भूषण [अलङ्कार] के ज्ञान की बहुत प्रसिद्धि है। उनके स्वयं के पास तो बहुत थोड़े से शिष्य रहते हैं, परन्तु बहुत से भारत भर में इधर-उधर फैले हुए हैं। इस मत के मानने वाले या अनुयायी मुख्यतः बनिये अथवा व्यापारी वर्ग के लोग हैं और उनमें भी ख़ास कर हुम्बड़ हैं (Hoombibanas), जो चौरासी कुलों में से हैं। इन लोगों का अनुभव है कि ऐसे अनुयायियों की संख्या चालीस हज़ार है और उनमें से अधिकांश जयपुर में रहते हैं जहाँ बहुत से दिगम्बरों के मन्दिर हैं। परन्तु यह पन्थ भी 'काष्ठासंघी' और 'मुर-मयूर-सिंघी' नामक दो शाखाओं में विभक्त है[3], प्रथम तो आद्य संघ का नाम मात्र है[4] और दूसरे का यह नाम मोरपंख लिये चलने के कारण पड़ा है।

---

[1] वास्तव में, सिद्धसेन दिवाकर जैन-दर्शन के आद्य आचार्य थे और दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से पूज्य माने जाते हैं। परम्परागत-मान्यतानुसार ये विक्रम के समकालीन थे।

[2] मैंने ऐसे एक प्राणी को देखा है जिसके पास एक अंजीर का पत्ता भी नहीं था और उसको डालपुर (Dhalpoor) के न्यायालय में सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था।

[3] जैनों के ये संघ मुनियों के आचरण एवं उनकी मान्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं आधारों पर समय-समय पर माथुर-संघ, द्राविड-संघ, मूल-संघ, यापिनी-संघ आदि अनेक संघों की रचना हुई। ये संघ केवल शास्त्रों तक ही सीमित रहे। अब तो इनमें से बहुत से लुप्त हो चुके हैं।

[4] वास्तव में काष्ठ-प्रतिमा का पूजन करने के कारण इस संघ का यह नाम रखा गया था। कहते हैं कि नन्दीग्रामवासी विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आजीवन सन्यासव्रत लिया था। परन्तु, कुछ दिनों बाद क्षुधादिक से पीड़ित होकर उसने आहार कर लिया एवं व्रत-भंग किया। कुछ महान् आचार्यों ने उसे पुनः दीक्षा लेने की व्यवस्था बतायी थी परन्तु विद्यामद में चूर होकर उसने इस विधान को नहीं माना, नए शास्त्रों की रचना कर डाली और काष्ठ-प्रतिमा का निर्माण करा कर पूजन करने लगा। और भी बहुत से लोग उसके अनुयायी हो गए। यह संघ काष्ठासंघ कहलाया। इसकी स्थापना वि० सं० ७९३ में हुई थी।—बुद्धिविलास (बखतरामकृत) रा० प्रा० वि० प्र० १९६४ पृ. ६९–७०

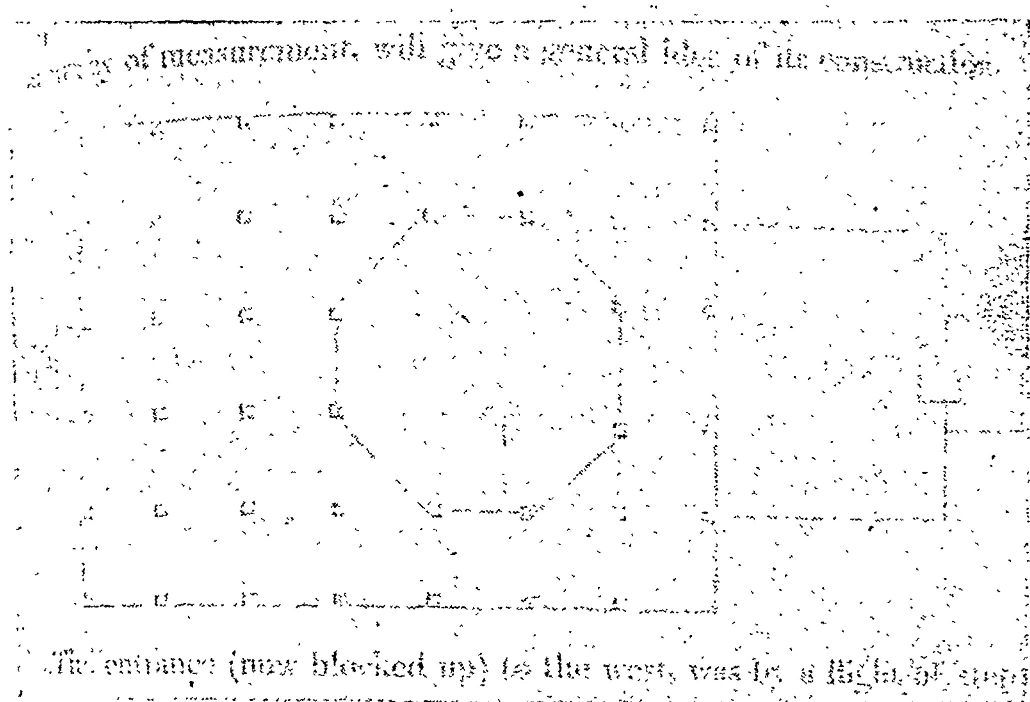
इस मत के अनुयायी अपरमतावलम्बियों की तरह नेमिनाथ की मूर्तियों के विल्लोर या हीरे इत्यादि के नेत्र नहीं लगाते और ये लोग स्त्रियों के मोक्ष में भी विश्वास नहीं करते यद्यपि वे महान् नग्न श्रीपूज्यजी का भक्ति-भाव से पूजन करते हैं और वे भी उसे परम अक्षुब्ध भाव से ग्रहण करते हैं। श्रीपूज्य-जी के व्यक्तित्व की एक और विशेषता है—वह यह कि वे अपने हाथ से भोजन नहीं करते; यह कार्य उनका कोई साधारण सेवक सम्पन्न करता है। इस मन्दिर में और कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है।

इसके आगे तीन मन्दिरों की त्रिकुटी है जिसका निर्माण अथवा जीर्णोद्धार तेजपाल और बसन्तपाल [वस्तुपाल] नामक रईस बन्धुओं ने कराया था जिन्होंने अपने विपुल धन का व्यय आबू के मन्दिरों पर किया था। संवत् १२०४ [११४८ ई०] के एक शिलालेख से, जो यहाँ मिला है, ज्ञात होता है कि ये मन्दिर आबू के मन्दिरों से लगभग आधी शताब्दी पुराने हैं परन्तु विस्तार और मूल्यवत्ता की दृष्टि से उनका उनसे कोई मुकाबला नहीं है। ये तीनों एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित हैं जो पत्थरों से जड़ा हुआ है। बीच के मन्दिर में उन्नीसवें जैन-तीर्थङ्कर मल्लिनाथ की मूर्ति है; इनके दाहिनी ओर का मन्दिर सुमेरु और बायीं ओर का समेत-शिखर कहलाता है जो इन अद्वैतवादियों के 'पञ्च तीर्थों' अथवा पवित्र शिखरों में से दो सुप्रसिद्ध हैं।[1] मल्लिनाथ का मन्दिर, जिनकी घन-श्यामल मूर्ति में नेमिनाथ का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, चार मंजिलों का है जो एक के बाद एक छोटी होती चली गई हैं और सब से ऊपर आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की छोटी-सी मूर्ति विराजमान है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दिशा के कोने पर भी एक-एक मूर्ति स्थित है। एक कोने पर पीले रत्न की बनी हुई मेरु-शिखर की लघु आकृति है जो छत के पार चली गई है।

आगे वाला मन्दिर जो पार्श्वनाथ को अर्पित है, सोमप्रीति राजा का बनवाया हुआ है, जिसके विषय में मैंने प्रायः उल्लेख किया है कि वह विक्रम-पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था। यह इस राजा द्वारा निर्मापित तीसरा मंदिर है जिसे खोज निकालने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है; शेष दो मन्दिरों के

[1] पार्श्वनाथ के नाम पर पवित्र समेत-शिखर बिहार में है जो प्राचीन मगधराज्य का ही भाग था। वहीं पर पार्श्वनाथ के मतावलंबी पूर्व समय में, अत्यधिक संख्या में बसते थे। मेरु-शिखर, जिसको स्थानीय नाम प्राप्त है, सिन्ध नदी के बहुत पश्चिम में है; और जैसा कि मैंने अनुमान किया है (Balk Bamian) (वल्ख बामियां) की ओर है जहां अबुल फजल द्वारा वर्णित विशाल जैन-मूर्तियां अब तक मौजूद हैं।

लिए पाठकों को मेरी पूर्व कृति[1] देखनी पड़ेगी; ये जैन-वास्तुकला के, जिसे मैं हिन्दू-वास्तुकला ही कहूँ, वे सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं जो आज तक पश्चिमी जगत् को प्राप्त नहीं हुए हैं। इस स्मारक में जिसकी आयोजना यद्यपि सामान्य नहीं है, गिरनार-पर्वत पर ही नहीं, वास्तव में समस्त सौराष्ट्र में सर्वोत्कृष्ट स्थापत्यकला के उदाहरण का प्रदर्शन हुआ है। चट्टान के सिरे पर होने के कारण इसकी स्थिति बहुत सुन्दर बन पड़ी है; भूतल से ऊपर तीन मंजिलों और भूरे ग्रेनाइट पत्थर का स्तम्भ-समूह इसको और भी गौरवपूर्ण छवि प्रदान करता है। नीचे दिये हुए भू-चित्र से इसकी बनावट का सामान्य ज्ञान हो सकेगा। यद्यपि इसे बिलकुल सही नहीं कहा जा सकता।



पश्चिमी प्रवेश-द्वार से (जो अब बन्द कर दिया गया है) एक सोपान-सरणि खम्भों पर टिकी (ड्योढ़ी) तक जाती है जिसमें होकर मन्दिर के मुख्य भाग में प्रवेश करते हैं। तिहरी स्तम्भ-पंक्ति पर छत से आच्छादित विशाल कक्ष में होकर मण्डप अथवा केन्द्रीय गुम्बज में पहुँचते हैं जो प्रायः तीस फीट लम्बा और इतना ही चौड़ा है और स्तम्भों पर खड़ा है। स्तम्भ-पंक्ति-युक्त दीर्घाएं, जिनमें चौकोर खम्भे दीवार के सहारे खड़े हैं, इसे एक दालान से और अन्तरंग मण्डप से जोड़ देती हैं, जो भी गुम्बजदार छत से आच्छादित है और इसके

---

[1] अखिलभारतीय जैन पञ्चतीर्थों में शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, समेत-शिखर और ऋषभदेव माने जाते हैं।

आगे ही 'सोमपट्ट' (Sompat) अथवा निज मन्दिर है जिसमें एक प्रशस्त वेदी पर पार्श्व (नाथ) की मूर्ति विराजमान है। खम्भे चौदह फीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं, परन्तु गुम्वज की छत को देखते हुए, जिसमें चार-चार खम्भों के बीच में विभिन्न प्रकार की निर्माणकला का प्रदर्शन हुआ है, प्रभावकारी और ठोस आयोजना की तुलना में यह ऊँचाई कुछ भी नहीं है। भीतर और बाहर दोनों ओर से देखने पर यहाँ पैंसिल के लिए कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। पश्चिमी द्वार के पास ही जमीन के नीचे तहखाने में होकर निकलने का एक गुप्त मार्ग है, जिसमें होकर महमूद वेगड़ा द्वारा उसके देश और राजधानी पर अधिकार कर लेने के उपरान्त, राजा (राव) माण्डलिक निकल भागा था।

इस मन्दिर से मैं भीमकुण्ड गया, जिसको स्थानीय यदुवंशी राजा भीमक ने देवकूट के उत्तरी सिरे पर खुदवाया था। कुण्ड और सीढ़ियाँ चट्टान में काटी गई हैं, जिनके द्वारा सत्तर फीट लम्बी और पचास फीट चौड़ी परिमिति में भरे पानी तक पहुँचते हैं।

इसके पास ही दूसरा मन्दिर है जिसके लिए कहा जाता है कि अणहिलवाड़ा के कुमारपाल ने बनवाया था। इसकी टूटी-फूटी अवस्था को देखते हुए ऐसा सम्भव भी लगता है क्योंकि, कहते हैं कि, उसके उत्तराधिकारी ने तारिंगा के अजितनाथ-मन्दिर के अतिरिक्त उसके द्वारा निर्मापित सभी मन्दिरों को तुड़वा दिया था। खम्भों पर टिके मध्यपट्टों के ऊपर-ऊपर की सभी बनावट नष्ट कर दी गई है और कोई-कोई तो स्तम्भ अथवा मध्यपट्ट गायब भी है। मैं पहले संकेत कर चुका हूँ कि महमूद बेगड़ा अथवा अन्य जिस किसी मुसलिम विजेता ने जूनागढ़ पर मसजिद वनवाई है, उसने वहाँ के अन्य मन्दिरों के साथ-साथ इस मन्दिर की भी सामग्री का उपयोग किया है। इस मन्दिर का नक्शा पार्श्वनाथ के मन्दिर की पूर्ण प्रतिकृति है और विस्तार भी प्रायः उतना ही है। जैन-श्रावकों की पञ्चायत ने, जो मन्दिरों का प्रवन्ध करती है, इसके जीर्णोद्धार का कार्य चालू कर दिया था और निज-मन्दिर के कुछ भाग का काम पूरा भी हो गया था परन्तु, तभी इस प्रदेश के महा सेठ की धार्मिक कट्टरता ने इसमें बाधा उपस्थित कर दी, क्योंकि उसने इसमें अपने इष्टदेव शिव के लिंग की स्थापना करने का निश्चय कर लिया था। प्रबन्धक जैनों ने विरोध का वही मार्ग अपनाया, जो उनकी शक्ति में था अर्थात् उन्होंने मन्दिर की देहरी पर प्राण दे देने की धमकी दी। विषय यहीं समाप्त होता है और गिरनार-पर्वत पर कुमारपाल का नाम चलने की सम्भावनाएं भी प्रायः समाप्त हो जाती हैं। शैवों और जैनों में एक देवता के मण्डप को दूसरे के में, अर्थात् आदिनाथ और आदीश्वर के में,

परिवर्तित कर देने की सुगम परम्परा से दोनों धर्मों का एक ही समान स्रोत होने पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा हुआ दूसरा मन्दिर सहस्र-फण पार्श्वनाथ का है जिन पर उनके वाहन अथवा चिह्न [शेष] नाग ने हजार फणों से छाया कर रखी है। यह मन्दिर सोनी-पार्श्वनाथ के नाम से अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि दिल्ली के संग्राम नामक सोनी [स्वर्णकार] ने अकबर के राज्य में, जिसका वह परम प्रीतिपात्र था, अपने खर्चे से इसका जीर्णोद्धार कराया था। इस जैन-श्रावक के अतुल धन, जादुई-चमत्कार और धातु-परिवर्तन की चतुराई के सम्बन्ध में बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि सोमप्रीति राजा के मन्दिर की अपेक्षा इस मन्दिर की वाह्य आकृति में पुरातनता की कमी दृष्टिगत होती है, परन्तु भीतर से हल्के हरे और चमकीले चट्टानी पत्थरों के खम्भों को लिए हुए यह काफ़ी अच्छा दिखाई पड़ता है। साधारणतया इसकी बनावट पूर्ववर्णित प्रकार की ही है और आँगन के बगल की दीवारों के सहारे-सहारे कोठरियाँ बनी हुई हैं जिनमें विभिन्न श्रद्धालु भक्तों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार महन्तों अथवा गुरुओं की छोटी-छोटी मूर्तियाँ स्थापित कर दी हैं।

इस से आगे का भाग 'गढ़ की टूक' कहलाता है। ऋषभदेव अथवा आदिनाथ का मन्दिर बहुत सुन्दर है, जिसमें बहुत से अच्छे-अच्छे स्तम्भ और कक्ष हैं, परन्तु यदि उनका सूक्ष्म विवरण देने लगें तो वह अनावश्यक रूप से लम्बा और अरुचिकर हो जायगा। यहाँ सफ़ेद संगमर्मर और पीले सूर्यकान्त के बने हुए मेरु और समेत आदि पवित्र जैन-शिखरों की लघु प्रतिकृतियाँ भी विद्यमान हैं तथा चौक की चारदीवारी के सहारे-सहारे छोटी कोठरियों की पंक्ति चली गई है जिनमें 'चौबीस' [तीर्थङ्कर] विराजमान हैं।

समूह का अन्तिम मन्दिर, जो खँगार के महलों से सटा हुआ है, गिरनार के संरक्षक देवता नेमिनाथ का है; यद्यपि यह मन्दिर मूलतः बहुत पुराना है परन्तु असंस्कृत-रुचिपूर्ण आधुनिक परिवर्तनों के कारण इसकी आकृति इतनी विकृत हो गई है कि दृश्य की शालीनता को लेकर सोमप्रीति के मन्दिर के सामने यह कहीं भी नहीं ठहरता। शत्रुञ्जय पर आदिनाथ के मन्दिर के समान इसका अन्तरंग भाग भी भित्तिचित्रों और चमकीले जड़ावों से सजा हुआ है, जिनसे आधुनिक भक्तों की सुरुचि की अपेक्षा समृद्धि का ही अधिक आभास मिलता है। देवखण्ड (Devachunda) अथवा गुम्बर (Gumbarra-गुम्बज) में, जिस शब्द से निज-मन्दिर को अभिहित किया जाता है, सोने की जंजीरों और कंगनों से शृंगारित रजतमुकुट धारण किये और हीरकनेत्रों से सुशोभित नेमिनाथ की श्यामल मूर्ति

वेदी पर विराजमान है। पीतल के बड़े-बड़े दीपाधारों और धूपदानियों में दीपक और धूप अखण्डरूप से जलते रहते हैं और यात्री लोग यहीं आकर अपनी-अपनी भेंट चढ़ाते हैं। अन्यान्य मन्दिरों की अपेक्षा इसकी चट्टानें छोटी और नीची हैं और यात्रियों के यहाँ तक पहुँचने के लिए चट्टानें काट-काट कर रास्ता बनाया गया है। इस मार्ग में बहुत से शिलालेख थे, परन्तु पत्थर इतना चटखना था कि मुझे एक भी लेख पूरा और ठीक हालत में नहीं मिला; जो दो टुकड़े मैंने प्राप्त किए वे पाँच शताब्दियों से कुछ पुराने हैं और वे भी मन्दिर के धर्म-प्राण जीर्णोद्धारक भक्तों के स्मारक मात्र हैं। इनमें से एक (परि० ९) में एक विचित्र ही तथ्य का उल्लेख है कि अपनी उदारता का लेख लिखाने वाले इस व्यक्ति ने दो सौ मोहरें तो दान में दीं और इसी अभिप्राय के लिए दो हज़ार मोहरें 'ब्याज पर' उधार भी दीं।

दूसरा शिलालेख (परि० १२) खँगार के महलों के दरवाजे पर लगा हुआ है; उसमें भी यहाँ के स्वामी राजा माण्डलिक द्वारा जीर्णोद्धार का ही उल्लेख है; परन्तु, यह राजा माण्डलिक प्रथम था अथवा तृतीय, इस विषय में तो केवल अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ेगा क्योंकि बहुत लम्बे समय तक चली आई जूनागढ़, गिरनार की राजधानी, में इसी नाम के चार राजा हो चुके हैं। अतः इस 'अत्यन्त प्राचीन' 'बहुत जूना', दुर्ग पर लगे हुए अस्पष्ट उल्लेख को हमें यहीं छोड़ देना पड़ेगा। परन्तु, हर हालत में वह खँगार का पूर्ववर्ती चौथा राजा था; फिर, इस खँगार नाम के भी तो अनेक राजा हो चुके हैं।[1]

नेमिनाथ के मन्दिर का मैं विस्तार से विवरण नहीं दूंगा। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह एक बहुत विशाल इमारत है और इसका शिखर बहुत ऊंचा है। इन मंदिरों के विषय में जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रत्येक के ख़ाके की आवश्यकता होगी। इसमें सब से अधिक आकर्षण की वस्तु तो स्वयं नेमिनाथ की श्यामलमूर्ति है जो चट्टानी अथवा काले संगमर्मर की बनी हुई है। परिमाण में यह मूर्ति बहुत बड़ी है और बैठक के आसन की मुद्रा में बनी हुई है, नीग्रो [हब्शी] के समान घुंघराले बाल हैं तथा मुखमण्डल पर दया एवं शांति के भाव

---

[1] राजपूत-परिवारों में प्रसिद्ध नामों की पुनरावृत्ति करने का बहुत प्रचलन है। उदयपुर के राजघराने में तीन अमर हुए हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश ये लोग हमारी भांति नामों के साथ अंकों का प्रयोग नहीं करते और किसी बौद्धिक अथवा शारीरिक विशेषता के कारण उसके जीवनकाल में जिन उपाधियों का उपयोग उनकी भिन्नता बताने के लिए किया जाता है वे आगे चल कर लुप्त हो जाती हैं।

विराजमान हैं। भारतीय बौद्धों [जैनों ?] के नेमि और वृटिश-संग्रहालय [म्यूज़ियम] स्थित मिस्री मेमनॉन[1] की मूर्तियों में अत्यधिक साम्य की बात प्रायः मेरे मस्तिष्क में आती रही है और बर्कहार्ड [Burckhardt] के निम्न अनुच्छेद से तो यह विचार और भी सशक्त होकर मेरे मन में ज़ोर पकड़ गया 'नूबिया (Nubia)[2] में एब्सम्बोल (Ebasamboul) के कोलोसी (Colossi)[3] के शिरों का इससे बहुत साम्य है; केवल अन्तर इतना ही है कि वे बलुआ पत्थर के बने हुए हैं। मुख पर भाव भी प्रायः समान ही हैं; कदाचित् नूबिया वालों में गम्भीरता अधिक है, परन्तु असाधारण शान्ति और देव-सुलभ गाम्भीर्य एवं सुकुमारता दोनों ही में दर्शनीय है।' नेमिनाथ का वर्णन करने के लिए इससे और अच्छी भाषा का प्रयोग नहीं किया जा सकता कि उनके घुंघराले ईथोपिक [मिस्री] बाल, पद्मचिह्न और श्याम वर्ण इन्हीं भावों को उत्पन्न करते हैं कि प्राचीन काल में भारतीय सीरिया और लाल समुद्र के तटीय प्रदेश में अवश्य ही धार्मिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान थे।

महलों के खण्डहरों का विस्तृत वर्णन करना अनावश्यक होगा—इसको लेखनी की अपेक्षा पेंसिल अधिक अच्छी तरह बता सकेगी। जूनागढ़-राजवंश के संस्थापक के वंशवृक्ष को लेकर उसके मूल का आदर करते हुए यदि मैं परम्परा का बखान करने लगूं तो पाठक मुझे और भी कम धन्यवाद देंगे। अस्तु, महाभारत के अनन्तर कई पीढ़ियों बाद ये रुद्रपाल से आरम्भ करते हैं। वंश का उद्गम कृष्ण और उनकी पत्नी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न से हुआ है। ऐसे पारम्परिक विवरणों का अन्त उस समय तक नहीं आता जब तक कि हम माण्डलिक और उसके पुत्र खँगार तक नहीं पहुँच जाते, जो देवड़ी रानी से विवाह करने के लिए अणहिलवाड़ा के राजा सिद्धराज का प्रतिस्पर्द्धी था; और क्योंकि यह राजा [सिद्धराज] इस प्रायद्वीप को भी अपने विजय किए हुए अट्ठारह राज्यों में ही गिनती

---

[1] मेमनॉन (Memnon) ग्रीक पुराण-शास्त्र में टीथॉनस (Tithonus) और इओस (Eos) के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध है। वह बहुत सुन्दर था और ट्रॉजन युद्ध में ग्रीकों की सहायता करता हुआ एचीलीज़ (Achillies) द्वारा मारा गया था।

—N. E. S. ;p. 875

[2] अफ्रीका में लाल समुद्र से नील नदी तक और मिस्र से अबीसीनियाँ तक फैला हुआ भू-भाग, जो बाद में इथोपिया कहलाने लगा।

[3] मेमनॉन की दो विशाल मूर्तियाँ जो ऊँचाई में ७० फीट बताई जाती हैं। ये भी संसार के सात आश्चर्यों में परिगणित हैं।—N. S. E. p. 306

करता था इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः खँगार की स्वतंत्रता उसकी शौर्याग्नि में बलिदान हो गई थी। एक पद्य में, जो प्रायः सभी चारणों को और मुख्यतः यादवों के चारणों को याद है, जूनागढ़-गिरनार की राज-वंशावली में चार माँडलिक, नौ नवघन, सात खँगार, पाँच सूरजमल और आठ रूपपाल हुए हैं।

दिन भर अत्यधिक परिश्रम करने के बाद मैं बहुत ही आभार मानता हुआ इन पुरावृत्तों को छोड़ कर महल के दरवाजे पर सुरक्षा-कक्ष में विश्राम के लिए लौटा—यदि इसे विश्राम कह लें—क्योंकि मुझे इतने सारे पदार्थों की, जो देखने में आए थे, टिप्पणी लेनी थी और यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि प्रकाश बिलकुल विलुप्त न हो गया।

जब मैं अपनी कुर्सी चट्टान के सिरे पर आधारित किले की दीवार पर देव-कूट से द्रुततया अदृश्य होते हुए दृश्य की अन्तिम झलक देखने के लिए ले गया तो दिन जल्दी जल्दी अस्त हो रहा था। घाटी के बीच में होकर जूनागढ़ की धुंधली छतरियां अस्पष्ट दिखाई दे रही थीं और हमारे तम्बू दूर से सफेद निशान (चखत्ते) ऐसे जान पड़ते थे। बीच की भूमि में स्पष्ट ऊँचे स्थान लक्षित होते थे; कहीं-कहीं जंगल में धूमिल गुम्बज उठे हुए थे जिनसे मिल कर संध्या की छाया एक अस्पष्ट-से क्षीण रंग का दृश्य उपस्थित कर रही थी।

जो बादल दिन भर से बिखरे-बिखरे डोल रहे थे अब एक घने समूह में एकत्रित हो कर क्षितिज में एक पतली-सी पट्टी को छोड़ कर सम्पूर्ण गहरे आकाश में अन्धेरा भर रहे थे। इस अन्धकार के पीछे सूर्य चुपचाप नीचे उतर गया था—मैं तो समझा, डूब चुका था; तभी अचानक बिजली की चमक के समान उसका रक्ताभ-मण्डल विशाल समुद्र के वक्षस्थल पर उसके विस्तार को मानों जादू से आलोकित करता हुआ दिखाई पड़ा। पट्टण से मांगरोल तक का समुद्र-तट यद्यपि स्पष्ट हो गया था परन्तु बीच-बीच में नगों के समान जड़े हुए नगर अस्पष्टता में ही लिपटे रहे। एक क्षण भर के लिए थोड़ा-सा प्रकाश कुछ सफेद-से पदार्थों पर कौंध गया जिनको कतिपय नगरों के नाम से बताया गया; परन्तु, यह दृश्य जितना सुन्दर था उतना ही क्षणिक भी था; उधर सूर्य की अन्तिम और तिरछी प्रकाशयुक्त किरणें सोनारिका (नदी) की भुजंगम-गति को समुद्र से गिरनार की तलहटी तक स्थान-स्थान पर आलोकित कर रही थी, कुछ ही क्षणों में इस 'प्रकाश-पुञ्ज' का स्थान दश गुने अंधकार ने ले लिया। मैं इस अचिरस्थायी दृश्य की खुमार का आनन्द लेता हुआ थोड़ी देर

बैठा रहा परन्तु संध्या ठंडक लिए हुए थी इसलिए अन्त में मैं उसी निर्जन रक्षा-कक्ष में लौट आया जिसे छोड़ कर उधर चला गया था।

मौसम में अब प्रचण्डता आ गई थी; हवा की तेज़ी आधी रात तक बढ़ती रही और मुझे मेरा बिस्तर, जो मैदानों के लिए काफी से अधिक था, यहाँ बहुत कम जान पड़ा। झञ्झा की आत्मा खिड़कियों और जालियों में होकर खंगार के द्वारहीन कक्षों में चीत्कार कर रही थी और यदि इसके साथ ठंड न होती तो इसका शब्द उस अवसर के लिए उपयुक्त लोरी [शयन-गीत] का काम करता। इसको कुछ कम करने के लिए मैंने यह तरकीब की कि जिस ओर से हवा आ रही थी उधर के खुले स्थानों को झाड़ियों और घास आदि से बन्द करवा दिए और फिर दिन भर की थकान के बाद जल्दी ही गहरी नींद में सो गया। मैं इस प्रकार कितनी देर सोया हूंगा, यह तो पता नहीं परन्तु अचानक ही मेरे ऊपर लुढ़कती हुई किसी भारी-सी वस्तु ने मेरी निद्रा को भंग कर दिया और दीपक को बुझा दिया। मैं चौंक पड़ा और मुझे सन्देह होने लगा कि किसी जंगली भालू अथवा अघोरी ने तो आक्रमण नहीं कर दिया, अथवा 'काली-माता' ने ही मुझे अपने कर्कश पाश में आबद्ध तो नहीं कर लिया? तभी उस खुले स्थान से, जिसको मैंने बन्द कर दिया था, एक हवा का झोंका आया और मेरी निद्रा-भंग करने वाली वस्तु की क़िस्म मुझे ज्ञात हो गई। मैंने तुरन्त ही नवाब के पहरेदारों की सहायता से उस अवरोधक को पुनः यथास्थान रखवा दिया। वे पहरेदार नीचे चौक में अलाव के चारों ओर बैठे समय काटने के लिए गप्पें लड़ा रहे थे। उसी विश्रामस्थल से मैंने उनको उक्त कार्य के लिए बुलाया था। इसके बाद ही पिछले चौबीस घण्टों के नाटक का यवनिकापतन हुआ और मैं एक बार फिर कोमल 'पुनः पोषिका' निद्रादेवी की गोद में सो गया। और, मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने उतराई शुरू की और जैसे ही महल की ड्योढ़ियों से बाहर निकला तो वे सभी दृश्य, जो कल शाम को धुंधले-से दिखाई पड़ रहे थे, अब अपनी गम्भीरता-सहित स्पष्ट हो गए थे। सूर्यदेव निरभ्र आकाश में उदित हुए थ और पर्वतों एवं जंगलों की विपुल तमोराशि पर सुनहरी किरणें बिखेरते हुए नेमिनाथ के मन्दिर तथा अन्य पवित्र स्थानों के यात्रियों में प्रसन्नता का संचार कर रहे थे। अनेक टोलियों के यात्रियों में से मेरा ध्यान एक वृद्धा की ओर आकृष्ट हुआ जो एक पत्थर के सहारे लेटी हुई थी और उसका पुत्र चढ़ाई के कारण थके हुए उसके दुर्बल अंगों की चंपी करने के पवित्र कार्य में व्यस्त था। मैंने उससे वार्तालाप किया तो ज्ञात हुआ कि वह गोकुल से आई थी और उसके

अपने एवं गोपाल देवता के जन्म-स्थान से पैदल चल कर द्वारका और पीची (Pichee) तक गई थी, जहाँ श्रीकृष्ण की निर्वाण-स्थली थी; अब वह वापस गोकुल जा रही थी। सन्तोष की प्रतिमा गढ़ने निमित्त वह वृद्धा यात्रिणी किसी शिल्पकार की टांकी के लिए एक बढ़िया नमूना या आदर्श हो सकती थी; उसे देख कर श्रद्धा और वात्सल्य के मिश्रित भावों के चित्र मेरी चेतना का स्पर्श करने लगे; उसके गांव गोकुल का नाम सुन कर भावों में और भी अधिक गम्भीरता आ गई थी और निश्चिन्तता एवं प्रसन्नता भरे कितने ही दिवसों तथा बहुत से पुराने मित्रों की स्मृतियाँ ताज़ा हो उठी थीं, जिनमें से अब केवल एक ही जीवित बचा है। दूसरे यात्रियों ने भी अपनी अपनी जन्म-भूमि के विषय में मेरे प्रश्नों के उत्तर दिए; कोई गंगातीर्थ से आया था तो कोई जमना, कावेरी से और कोई 'काशीजी' या बनारस से। ज्योंही हम आगे बढ़े तो बहुत से यात्रियों ने 'गङ्गा की जय'—इस घोष को दोहरा कर उत्तर दिया।

मैं 'हाथी' नामक टूक पर ठहरा; धूप में यद्यपि बहुत तेज़ी थी और आठ बज चुके थे, परन्तु गिरनार के गुहानिवासी पक्षी गरुड़ और गिद्ध अपनी अपनी गुफाओं से अभी बाहर नहीं निकले थे, जिनके झुण्ड के झुण्ड पर्वत के इस मुख पर मधुमक्खियों के छत्तों के समान लटके रहते हैं। सभी खोखले एक ही प्रकार के थे और मैं इसके विषय में यही कह सकता हूँ कि इनको किसी भी रूप में अद्वैत-वादी जीव-रक्षकों ने काट-काट कर पक्षियों के रहने के लिए बनाए हैं, क्योंकि इनमें से बहुत से ऐसे स्थानों पर बने हैं जहाँ मौसम का प्रभाव यकायक नहीं पड़ता। कहीं-कहीं बड़े बड़े खोखलों के अन्दर कबूतर आदि लघु पक्षियों के रहने के लिए छोटे-छोटे मोखले भी बने हुए हैं। फिर, कई जगह धरती बड़े-बड़े काले सर्पों से इस तरह पटी हुई है कि चट्टान का एक कण भी दिखाई नहीं देता। मैं नहीं जानता कि गरुड़ अथवा उससे भी अवर पक्षी गिद्ध इस शिकार पर टूट पड़ते हैं या नहीं ? परन्तु, यदि वे अघोरी के साथ दावत नहीं मनाते हैं तो उन्हें अपने भोजन की तलाश में बाहर ही जाना पड़ता होगा। कौआ गिरनार पर निवास नहीं करता; इससे उसकी चतुराई ही प्रकट होती है कि वह बुद्धिमानी से मांसाहारी शैव के साथ रहना पसन्द करता है और शाकाहारी भोजन जैन के लिए छोड़ देता है।

इस असम्बद्ध ऊँची पहाड़ी पर विद्यमान एक चट्टान में मोटे-मोटे और स्पष्ट अक्षरों में 'राव राणिगदेव' का नाम दिखाई पड़ता है, जिसने संवत् १२१५ में यहाँ की यात्रा की थी।' इसमें जाति और देश का नाम तो नहीं लिखा है, परन्तु मैं निःसन्देह कह सकता हूं कि यह सौराष्ट्र के उपजिले

झालावाड़ का झाला सरदार और अणहिलवाड़ा के राजा भोला भीम प्रथम का सामन्त था। दिल्ली के सम्राट् पृथ्वीराज के इतिहास [रासो] में इसका नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ लिखा गया है। इसी राजा भोला भीम द्वारा मारे गए अपने पिता साँभर-नरेश-सोमेश की मृत्यु का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने उसी वर्ष पहली बार तलवार उठाई थी; पृथ्वीराज का सामना करने के लिए जो वीर सामन्त एकत्रित हुए थे उनमें राणिगदेव का नाम मुख्य है और यह अनुमान इस सत्य का प्रमाण है कि झाला सरदार ने अपने महाराजा के दरबार में पहुँचने के लिए झालावाड़ से प्रस्थान करके मार्ग में इस पवित्र पर्वत की यात्रा के अवसर का भी लाभ उठाया था।[1]

खँगार के महलों से 'हाथी टूक' तक तो उजाड़ ही उजाड़ है, परन्तु यहाँ से वृक्षावली पुनः आरम्भ हो जाती है और जूनागढ़ शहर के नीचे के दरवाजे तक मैं इस दृश्य का आनन्द लेता ही गया; वहीं जंगल में एक किनारे पर हमारा डेरा लगा हुआ था; जब मैं वहाँ पहुँचा तो थका हुआ अवश्य था, परन्तु यात्रा के कारण चित्त प्रसन्न था क्योंकि गिरनार अर्बुद से समानता भले ही न कर सकता हो फिर भी इसके चरागाह, झीलें और झरने, विविध वनस्पति और मन्दिरों का बहुमूल्य गौरव आदि इसकी अपनी विशेषताएं हैं। यद्यपि मेरी तरह बहुत से लोगों को लगेगा कि यहाँ के धूंधले और भूरे पत्थर और भारी ग्रेनिट के स्तम्भ प्राचीनता का गौरव लिए हुए वहाँ के अधिक सजीले संगमर्मर और बारीक कारीगरी की तुलना में नहीं ठहर सकते, परन्तु आँखों के सामने क्रमशः बढ़ता हुआ सागर का विस्तार जिस भाव-सामग्री को यहाँ जन्म देता है, मरुस्थली के रेतीले मैदानों में उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मैं अब तक विविध देशों की यात्राएँ कर चुका हूँ; (स्विजरलैण्ड में) रिगी (Righi)[2] पर्वत की चोटी पर से हेल्वेटियन (Helvetian)[3] आल्प्स् के बर्फीले शिखरों पर सूर्योदय का दृश्य देखा है और ध्वस्त तोरतोना (Tortona)[4] के पीछे से शरदाकाश में अस्तंगत सूर्य की गुलाबी किरणों से हिमाच्छादित एपीनाइन्स (Appnines) को आलोकित होते हुए भी निहारा है; मॉण्ट ब्लॅङ्क

---

[1] देखिए पीछे पृ. २१०।

[2] यह लुसिरिन (Lucerene) और जूग (Zug) नामक झीलों के मध्य में स्थित है।

[3] फ्रांस में १७९८ ई० में जो गणराज्य स्थापित हुआ था वह 'हैल्वेटिक रिपब्लिक' (Helvetic Republic) कहलाता था।

[4] स्पेन में एक रमणीय पर्वतीय स्थान।

(Mont Blanc)[1] के सन्निकट पुंजीभूत 'सहस्राब्दीय शरत्' में होकर निकला हूँ; अर्द्ध रात्रि के समय निष्कलङ्क चाँदनी में कॉलीजिअन[2] की भग्न मेहराबों को एकटक देखता रहा हूँ एवं सिरॉको[3] और शोक के बीच ज्वरसंतप्त होकर, मानों अन्धकारपूर्ण नाव में झकझोले खाते हुए, वेनिस (Venies) की दयनीय स्थिति पर भी मैंने विचार किया है और कामना की है कि इन्द्र (Jove) का गर्जन यहाँ के महलों पर अड्डा जमाए हुए नीच-जन्मा गिद्धों को नष्ट कर दे; मैं पीस्टम (Paestum)[4] के खण्डहरों में जंगली, निःशंक कैलेब्रियनों[5] के बीच में भी बैठा हूँ; इनके अतिरिक्त, जिनको दिल दहलाने वाले दृश्य कह सकते हैं उनको भी अच्छी तरह देख चुका हूँ; परन्तु, कहीं भी मेरे मन में ऐसे भाव उत्पन्न नहीं हुए जिनकी अनुभूति मुझे सप्तशिखर गिरनार पर गोरख-मन्दिर के आगे एकाकी फिरंगी की उपस्थिति में अत्यधिक मदपान से मदहोश और लम्बे-लम्बे श्वास लेने वाले अर्द्धविक्षिप्त अघोरी को देख कर हुई; जब देवकूट के ऊबड़खाबड़ शिखर पर रात्रि की छाया मेरे चारों ओर चुपचाप सिमटी आ रही थी, सूर्य की अन्तिम किरणें सागर को आलोकित कर रही थीं और अस्तप्राय प्रकाश के गौरव पर चुप-चापी का साम्राज्य छा रहा था, तब भी ऐसी ही हलचल मेरे मन पर छा गई थी। इन दृश्यों से तुलना करने योग्य एक मात्र दृश्य वही हो सकता है जो मैंने मॉण्ट सेनिस (Mont Cenis) से उतरते हुए जाड़ों के मध्य अर्द्ध-रात्रि के समय देखा था—उस समय चोटी से लेकर कई फीट गहरी घाटी तक वह पहाड़ बर्फ से ढका हुआ था और उसकी रूपहरी सतह शुभ्र चाँदनी में नहा कर चमक उठी थी—उस चाँदनी में धुंधले देवदारु-वृक्ष-समूहों की लम्बो-लम्बी छाया

---

[1] आल्प्स पर्वत का सर्वोच्च शिखर जो फ्रांस और इटली के मध्य में है और १५७८१ फीट ऊँचा है।

[2] रोम का सबसे बड़ा रङ्गाङ्गण। यह ८० ई० में बन कर तैयार हुआ था। इसमें ५०,००० मनुष्य बैठ कर खेल देख सकते थे। इसमें हुए अनेक खड्ग-युद्धों में बहुत से क्रिश्चियन बलिदान हो गए थे।

[3] मध्यसागर के उत्तरी मैदानों में चलने वाली गर्म और सूखी हवाएं।

[4] Paestum (पीस्टम) नामक प्राचीन ग्रीक नगर का पहले पोसीडोनिआ (Poseidonia) नाम था। यह नगर ई० पू० ६०० में बसा था। स्ट्राबो और हॅरॉडोटस के लेखों में भी इसका विवरण मिलता है। रोमन कविताओं में यहाँ के प्रसिद्ध गुलाब का उल्लेख खूब हुआ है। अब भी इसके अवशेष मिलते हैं, जिनमें नेप्च्यून का मन्दिर सुप्रसिद्ध है।

[5] इटली का सुदूर दक्षिणी प्रान्त कैलॅब्रिया (Calabria) कहलाता है। वहाँ के निवासियों से तात्पर्य है।

प्रकरण १९

दांदूसर (Dandoosir); जिञ्जिरी (Jinjirrie); काठीवाना (Kattywauna); भादर नदी का परिवर्तित मार्ग; तुरसी (Tursye); कण्डोरना (Kundornah); का प्राचीन नगर; भांवल (Bhanwal); प्रान्त का दयनीय दृश्य; गूमली (Goomli); के खण्डहर; जेठवों के मन्दिर; शिलालेख; जेठवों का ऐतिहासिक वृत्तान्त; नगड़ी (Nagdeah); देवला (Deolah); अहीरों की उत्पत्ति; मुक्तासर (Mooktasir); द्वारका; निर्जन प्रदेश; द्वारका का मन्दिर; देवालय; महात्मा; मन्दिर-विषयक लोककथा।

दांदूसर—दिसम्बर १७ वीं—चार कोस। बबूल के पेड़ों से भरे घने जंगल को पार किया, जिसमें कहीं-कहीं जमीन के टुकड़ों में खेती, मुख्यत: चने की, दिखाई देती थी। गांव दरिद्र थे और उनमें इस क्षेत्र के पशुपालक अहीर तथा कुल्मी (Koolmbies) बसते थे, परन्तु कुछ गांवों में सिन्धी ही सिन्धी थे।

जिञ्जिरी—दिसम्बर १८ वीं—छ: कोस। खेतीबाड़ी कल जैसी ही थी, परन्तु बस्ती में सामान्य जातियों के अतिरिक्त हमें दूसरी पश्चिमी बलूता (Bulotah) जाति के लोग भी मिले।

काठीवाना—दिसम्बर १९ वीं; आठ कोस। इस जगह को क़स्बा कहा जा सकता है, जहाँ तीन हज़ार घर हैं और पक्का परकोटा भी है; यह भादर के किनारे पर स्थित है, जिसमें मेरे द्वारा देखी हुई इस प्रायद्वीप की सभी नदियों से अधिक पानी है। अबुल फज़ल ने यहाँ की बढ़िया मछलियों की बहुत तारीफ़ की है, परन्तु हमने जो एकमात्र मछली कांटे से पकड़ी उसने भारतीय हेरोडोटस[1] द्वारा की हुई प्रशंसा को अन्यथा ही सिद्ध किया, क्योंकि वह स्वाद में बुरी तरह खारी थी और नदी के रंग को भी गदला कर रही थी। हमारी मंज़िल के अन्तिम दो मील नदी के किनारे-किनारे ही चले और उसीके तट पर हमने डेरा जमाया। यह क़स्बा कुछ प्राचीन है और पुराने जमाने में कुन्तलपुर कहलाता था; अब भी यहाँ पर एक आन्तरिक दुर्ग मौजूद है, जिसका नाम 'काली कोट' है। कहते हैं कि काठीवाना में अट्ठारह 'बरण' अर्थात् जातियों के प्रतिनिधि बसते हैं, परन्तु यहाँ की आबादी मुख्यत: सिन्धु घाटी के बनिया-भाटियों' और मोमन अथवा मुसलमान जुलाहों की है। भादर ने अपना मार्ग

---

[1] प्रथम इतिहासकार।

एक रहस्यमय आकर्षण का विषय बनती जा रही थी, जिसके कारण साधारण से साधारण वस्तु में भी विशालता का आभास होकर भय की आशङ्का बढ़ जाती थी—एक अविच्छिन्न चुपचापी छाई हुई थी, जिसमें बर्फ से ढकी हुई पहाड़ी पर केवल घोड़ों की टापें सुनाई दे रहीं थी।

मौसम साफ़ हो जाने के कारण, हम चढ़ कर गये थे तब से, बैरोमीटर १० अंक ऊपर दिखा रहा था। जूनागढ़ के स्वामी नवाब से मिलने और जवाब में उनका स्वागत करने के लिए हम वहाँ एक दिन और ठहर गये थे।

प्रकरण १६

दांदूसर (Dandoosir); जिञ्जिरी (Jinjirrie); काठीवाना (Kattywauna); भादर नदी का परिवर्तित मार्ग; तुरसी (Tursye); कण्डोरना (Kundornah); का प्राचीन नगर; भांवल (Bhanwal); प्रान्त का दयनीय दृश्य; गूमली (Goomli); के खण्डहर; जेठवों के मन्दिर; शिलालेख; जेठवों का ऐतिहासिक वृत्तान्त; नगड़ी (Nagdeah); देवला (Deolah); अहीरों की उत्पत्ति; मुक्तासर (Mooktasir); द्वारका; निर्जन प्रदेश; द्वारका का मन्दिर; देवालय; महात्मा; मन्दिर-विषयक लोककथा।

दांदूसर—दिसम्बर १७ वीं—चार कोस। बबूल के पेड़ों से भरे घने जंगल को पार किया, जिसमें कहीं-कहीं जमीन के टुकड़ों में खेती, मुख्यत: चने की, दिखाई देती थी। गांव दरिद्र थे और उनमें इस क्षेत्र के पशुपालक अहीर तथा कुलमी (Koolmbies) बसते थे, परन्तु कुछ गांवों में सिन्धी ही सिन्धी थे।

जिञ्जिरी—दिसम्बर १८ वीं—छ: कोस। खेतीबाड़ी कल जैसी ही थी, परन्तु बस्ती में सामान्य जातियों के अतिरिक्त हमें दूसरी पश्चिमी बलूता (Bulotah) जाति के लोग भी मिले।

काठीवाना—दिसम्बर १६ वीं; आठ कोस। इस जगह को क़स्बा कहा जा सकता है, जहाँ तीन हज़ार घर हैं और पक्का परकोटा भी है; यह भादर के किनारे पर स्थित है, जिसमें मेरे द्वारा देखी हुई इस प्रायद्वीप की सभी नदियों से अधिक पानी है। अबुल फज़ल ने यहाँ की बढ़िया मछलियों की बहुत तारीफ़ की है, परन्तु हमने जो एकमात्र मछली कांटे से पकड़ी उसने भारतीय हेरोडोटस[1] द्वारा की हुई प्रशंसा को अन्यथा ही सिद्ध किया, क्योंकि वह स्वाद में बुरी तरह खारी थी और नदी के रंग को भी गदला कर रही थी। हमारी मंज़िल के अन्तिम दो मील नदी के किनारे-किनारे ही चले और उसीके तट पर हमने डेरा जमाया। यह क़स्बा कुछ प्राचीन है और पुराने जमाने में कुन्तलपुर कहलाता था; अब भी यहाँ पर एक आन्तरिक दुर्ग मौजूद है, जिसका नाम 'काली कोट' है। कहते हैं कि काठीवाना में अट्ठारह 'वरण' अर्थात् जातियों के प्रतिनिधि बसते हैं, परन्तु यहाँ की आबादी मुख्यत: सिन्धु घाटी के बनिया-भाटियों' और मोमन अथवा मुसलमान जुलाहों की है। भादर ने अपना मार्ग

---

[1] प्रथम इतिहासकार।

बदल लिया है, इस तथ्य का प्रमाण एक पुल से मिलता है, जो अब बहुत ऊंचा हो गया है और सूखा पड़ा है। पिछले अकाल द्वारा हुए विनाश का असर कस्बे और देहात दोनों ही पर पड़ा है, जिससे आबादी बहुत कम हो गई है। गांव बहुत दरिद्र थे, जिनमें प्रत्येक में बीस से लगा कर सत्तर तक झोंपड़ियां थीं, और उनमें बसने वाली अत्यन्त उपयोगी जातियों के नाम अहीर या कुनबी थे जिनकी दशा बहुत ही दयनीय थी ।

तुरसी—दिसम्बर १९ वीं; अट्ठारह कोस। यात्रा आरम्भ करने के बाद कोई पाँच मील चल कर हम एक मुख्य स्थान पर पहुँचे जो इसरियो (Esarioh) कहलाता है; यहाँ अहीरों और कुनबियों की बस्ती है, जिनमें परिष्कृत खेती के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। हमारे बाईं ओर कण्डोरना (Kundornah)[1] का प्राचीन नगर था, जो जेठवा राजपूतों के आधिपत्य में था। देवला (Deolah) में एक गढ़ी उस नदी के किनारे खड़ी है, जो जूनागढ़ को जाम के राज्य से पृथक् करती है और तीसरी सीमा बाईं ओर कोई डेढ़ मील पर है, जहाँ खुलसना (Khulsuna) में जेठवा राना की हद है। अब तक चली आई कमज़ोर फसलें यहाँ आकर और भी क्षीण हो गई हैं और किसान प्राय: उन्हीं जातियों के हैं, जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं। तुरसी (Tursye) बरड़ा की पहाड़ियों की पूर्वीय श्रेणी के पास है।

भांवल (Bhanwul)—दिसम्बर २० वीं से २३ वीं तक। सात कोस। ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों जमीन की हालत अधिक खराब नज़र

---

[1] एक अत्यन्त बुद्धिमान् भाट के पास मैंने इतिहास और वंशपरम्परावृत्त का स्फुट संग्रह देखा था, जिसमें से सौराष्ट्र के प्राचीन नगरों के विषय में कुछ उद्धरण भी लिए थे। कुछेक इस प्रकार हैं—'कण्डोरना या कण्डोला ही बहुत पहले वीसलनगरी था, बाद में शिलानगरी में बदल गया, फिर तिलापुर और थन-कण्डोल हुआ और अब कण्डोला हो गया।' भाट की पुस्तक मे से जो नकल मैंने ली है उसमें यही क्रम है, परन्तु मैं समझता हूँ कि यदि जेठवा जाति के 'शील कुँवर' के कारण इसका नाम 'शिला नगरी' पड़ा हो तो 'तिलापुर' इससे पहले का नाम रहा होगा। बहुत से वर्षों तक मैं (मेवाड़ के) राणाओं के पूर्वजों की राजधानियों में से सौराष्ट्र में तिलापुर पट्टन की खोज करता रहा परन्तु सफल न हुआ; परन्तु, अब मैं अनुमान किए बिना नहीं रह सकता कि यह वही स्थान है; यह भी असम्भव नहीं है कि इसका नाम 'शिला नगरी' शिलादित्य के कारण पड़ा हो, जिस नाम के दो (राजा) वलभी के विध्वंस से पूर्व हो चुके हैं; प्रथम संवत् ४७७ में और अन्तिम सं० ५६ [?] में। शिलालेखों से यह प्रश्न हल हो सकता है।

[वलभी का अन्तिम राजा शिलादित्य सप्तम ७६६ ई० में हुआ था]

आती है। जंगली घास और कांटेदार थूवर से भरे विस्तृत मैदानों में खेती-बाड़ी तो जमीन के किसी-किसी टुकड़े ही में दिखाई देती है। हम मीइपुर (Meapoor) गांव में होकर निकले, जिसमें एक किले के अवशेष हैं; वह कुछ ही वर्षों पहले डाकुओं की जगह होने के कारण नष्ट कर दिया गया है; अब, इस गाँव में दीन दुखिया अहीरों के पच्चीस घरों की बस्ती है। भांवल नवा-नगर के जाम के अधिकार में है और यहाँ पर मोमन कारीगरों [जुलाहों] के लगभग पंद्रह सौ घर हैं। यह कस्बा बनवारी नदी के किनारे पर स्थित है, जिसका वहुत सा पानी नालियों द्वारा खेती-बाड़ी में प्रयुक्त होता है और बचा हुआ वितोद्रा (Vitodra) नामक विशाल नदी में जा मिलता है, जिसके तट पर इन्द्र देवता का एक मन्दिरं खड़ा है।

गूमली के अवशेष—इस प्रायद्वीप में एकदा विशिष्ट रही जेठवा जाति की प्राचीन राजधानी गूमली के खण्डहरों की खोज के लिए हम कुछ दिन भाँवल ठहरे। वहीं इस प्रान्त के पोलिटिकल एजेण्ट मेजर बार्नवेल (Major Barnewell) भी हमसे आ मिले।

गूमली वरड़ा (Burrira) की पहाड़ियों के उत्तरी मुखभाग पर स्थित है, जिसका नाम प्राचीन भारतीय भूगोल में पारियात्र (?) (Puryata) है, और जो महर्षि भृगु के आश्रम के रूप में प्रसिद्ध है। यह प्राचीन नगरी भांवल से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित है और अपनी एकान्त स्थिति के कारण यात्री को आश्चर्य में डाल देती है, क्योंकि यहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर का शिखर भी बहुत नज़दीक पहुंचे विना दूर से दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा कह सकते हैं कि यह एक गर्त अथवा घाटी में दवा हुआ है, और दक्षिण तथा पूर्व में अपने आधार से लगभग छः सौ फीट ऊँची वरड़ा की पहाड़ियों से घिरा हुआ है और शेष दिशाओं में अन्य छोटी पहाड़ियों में छुपा हुआ है। दर्शक के आश्चर्य में यह जान कर भी कोई कमी नहीं आती कि गूमली में पिछली कई शताब्दियों से कोई नहीं रहता है। तीन ओर से चूने और कंकरीट (जिसको काँकरा भी कहते हैं) से बना हुआ, वड़ी-वड़ी वर्गाकार छतरियों से युक्त सुदृढ़ परकोटा इसको उत्तर, पूर्व और पश्चिम में घेरे हुए है, जो दक्षिण में स्वाभाविक रूप से सुरक्षा करने वाली पहाड़ियों से जा मिलता है। परकोटे की ये दीवारें पहाड़ के ऊपर तक चली गई हैं, जहाँ पर [प्राचीन] किले के अवशेष अब जंगली जानवरों की गुफाएं बन गए हैं। प्रत्येक दीवार के वीच में सम्वद्ध दिशा के सामने एक द्वार बना हुआ है; पूर्वीय और उत्तरी दीवारें क्रमशः पांच सौ और आठ सौ गज लम्बी और सावुत हैं—पूर्वीय परकोटे की भींत और मुंडेरें तो बिलकुल पूरी हैं।

पश्चिमी दीवार बहुत टूटी-फूटी है—एक चौड़ी खाई के अवशेष भी यहाँ दृष्टि-गत होते हैं।

इस कस्बे में घुसते ही सब से पहले जिस चीज की ओर ध्यान जाता है वह है जेठवों का मन्दिर, जो महलों के पास ही उस कोण पर बना हुआ है जहाँ से पहाड़ियों में पुन: प्रवेश किया जाता है। यह इमारत क्रॉस (काँटे) की आकृति की है, जो हिन्दुओं की पवित्र स्थापत्यकला में अनजानी नहीं है। इसका प्रवेश-द्वार उगते हुए सूर्य के अभिमुख है। यह (मन्दिर) एक ऊँचे चबूतरे की पीठिका पर खड़ा है, जिसकी लम्बाई एक सौ तरेपन फीट, चौड़ाई एक सौ बीस फीट और ऊँचाई बारह फीट है। यह तराशे हुए पत्थरों से बना हुआ है और इसकी भित्ति-सज्जा बहुत ही सुन्दर है। मन्दिर में तेवीस फीट व्यास वाला एक अष्टकोण मण्डप है जिसकी ऊँचाई दो खण्ड है और उसके ऊपर एक गुम्बज है जो धरातल से लगभग पैंतीस फीट ऊँचा है। इस मन्दिर का स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प दोनों ही असाधारण हैं और जो जो चीजें मैंने अब तक देखी हैं उन सबसे भिन्न हैं। इसके आधार में लगभग बारह फीट ऊँचाई के स्तम्भों की एक सरणी है जो अष्टकोणाकृति में आयोजित की गई है और ये स्तम्भ कोरणी का काम किये हुए भारपट्टों से सम्बद्ध कर दिए गए हैं। इसीके ऊपर दूसरी स्तम्भपंक्ति है (जिसमें सामने ही पत्थर की रविश और कटहरा है), जिस पर कोरणी द्वारा उत्कीर्ण रास-मण्डल अथवा स्वर्गीय नृत्य-सम्बन्धी मूर्तियों से सुसज्जित गुम्बज टिकी हुई है, परन्तु इसका कुछ भाग टूट कर गिर गया है। पूर्व और पश्चिम की ओर आगे निकली हुई दो ड्यौढ़ियाँ हैं जो हमारे गिरजाघरों के मध्य-भाग के समान हैं। इनकी ऊँचाई व चौड़ाई चौदह फीट तथा आठ फीट है; इनमें अनेक खम्भे व बीच की छत है, जिसके मध्य में बहुत बारीकी और सजावट से कोर कर एक कमल बनाया गया है। बड़ी गुम्बज के चारों ओर कुछ छोटी गुम्बजें भी हैं, जो भी इसी की तरह खम्भों पर टिकी हुई हैं। पश्चिम में 'देव खण' [देवखण्ड] अथवा निजमन्दिर है जो दस फीट वर्गाकार का एक छोटा सा कक्ष है; यह अब खाली पड़ा है और इसके ऊपर खड़े शिखर का बहुत-सा भाग तोड़ कर गिरा दिया गया है। यद्यपि भीतर से इसकी अधिकतम लम्बाई-चौड़ाई तरेसठ फीट और चौपन फीट ही है परन्तु मैंने बहुत थोड़ी ऐसी इमारतें देखी हैं, जो इसकी तरह प्रशंसा के दायरे में आती हों। जेठवों के इस मन्दिर की पौराणिक मूर्तियाँ बहुत ही आकर्षक हैं; विशेषत: खम्भों के शीर्ष भागों में, जिन पर मन्दिर का मुख्य भाग टिका हुआ है, असाधारण समायोजना को इतनी उत्कृष्ट

विभिन्नताएं प्रदर्शित हुई हैं कि मैंने इससे पूर्व कहीं नहीं देखीं; जैसे सिंह, नरसिंह, ग्रास (Gras) [ग्राह ?] या ग्रिफिन (Griffin)[1] तथा वानरों की आकृतियाँ एवं ग्रीक प्रणाली की स्तम्भाधार पुतलियों (Caryatidae)[2] की अचूक प्रतिकृतियाँ और भग्न घटचक्रादि (Gatachue)। इन मूर्तियों में प्रत्येक तरह की भाव-भङ्गिमा दृष्टिगत होती है और कुराई का काम इतना सुन्दर है कि उनको हमारे किसी भी अत्यन्त प्राचीन सैक्सन गिर्जे में स्थापित करना अनुचित न होगा। मन्दिर में कोई भी ऐसा चिह्न प्राप्त नहीं है कि जिससे यहाँ की आराध्य प्रतिमा का अनुमान लगाया जा सके, परन्तु देव-कक्ष के बाहरी शिल्प में सर्व-संहारक महाकाल के लिंग बने हुए हैं, जो इस निर्णय पर पहुँचने में पर्याप्त सहायक हैं कि यह मन्दिर या तो शिव का रहा होगा अथवा जेठवों की कुलदेवी हर्षद-माता का।

थोड़ी दूर पर दक्षिण-पश्चिम में गणपति का मन्दिर खड़ा है, जो हिन्दू विश्व-देवतागण में प्रमुख है और जिसका शुण्डवाला मस्तक बुद्धि का प्रतीक है। इस मन्दिर की बनावट अपने ढंग की एक ही है; कोठरियों के चारों ओर खम्भों के स्थान पर दीवारें और चौखटदार खिड़कियां हैं तथा छत अण्डाकार है। पास ही के एक कक्ष में मध्य-पट्ट पर नव-ग्रहों की मूर्तियां बनी हुई हैं, जो मनुष्य के भाग्य पर शासन करते हैं।

इस 'बुद्धि' के मन्दिर के पास ही उत्तर में 'ज्ञान' का मन्दिर लगा हुआ है, जो नास्तिक बुद्ध के अनुयायिओं से सम्बद्ध है। इसकी बनावट भी इस धर्म के उन सभी मन्दिरों से भिन्न है, जो अब तक मेरे देखने में आए हैं। इसमें एक दूसरे से सटे हुए चार मण्डप हैं जो खम्भों पर टिके हुए हैं जिनके शीर्ष यद्यपि उपरिवर्णित स्तम्भ-शीर्षों जैसे नहीं हैं और इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से भी मेल नहीं खाते परन्तु यह स्पष्ट है कि इनका प्रकार उसी भावना पर आधारित

---

[1] ऐसा कल्पित जन्तु जिसका शरीर और पंजा शेर के जैसा और चोंच व डेना बाज़ के समान हो। इसका आविर्भाव एशिया में हुआ और बाद में प्राचीन भवनकला में सजावट का अंग बन गया। सन् १८८० में फ्लीट स्ट्रीट और स्ट्रॅण्ड (Strand) के बीच में जो स्मारक (The Griftin, Temple Bar) के स्थान पर बनाया गया है वह नगर के 'परिचय-चिह्न' (Coat of Arms) के आधार पर है।

[2] भवन-कला में मेहराबों का आधार बनी हुई स्त्री-आकृति। कहते हैं, कि (Caryatidae) नाम ग्रीकों द्वारा Caryae लोगों की पराजय का स्मरण कराता है, जो स्त्रियों को चुरा ले जाते थे। एथेन्स (ग्रीक की राजधानी) में Erachthaum पर बहुत आकर्षक पुतलियाँ बनी हुई हैं।—N. S. E; p. 244

है। ये उसी समय के और उन्हीं कारीगरों के द्वारा बने हैं, जिन्होंने आस्तिकों के प्राचीन 'हर्षद-माता' के मन्दिर का निर्माण किया था। इसी के भीतर एक पार्श्वनाथ की मूर्ति भी थी और एक पत्थर पर चौवीस तीर्थङ्करों अथवा देवत्व-प्राप्त जैन-प्रमुखों की मूर्तियां भी उभरी हुई थीं। महाकाल का पवित्र वृक्ष अप्रत्यक्ष रूप से परन्तु अवश्यम्भावेन इन इमारतों पर फैलता जा रहा है और ऐसा लगता है कि कुछ ही वर्षों में वह इन दोनों पर विजय प्राप्त कर लेगा।

इन खण्डहरों से मैं बावड़ी पर गया जिसे देख कर प्राचीन जेठवों के कोष की पुष्कलता और हृदय की उदार भावना का पता चलता है; यहाँ मेरी शिलालेखों की शोध कुछ फलवती हुई क्यों कि यहाँ एक शिलालेख संवत् १३⋯(सौ) का मिला जो केवल इसके जीर्णोद्धार (मात्र) का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा था।

गूमली में सब से अधिक आकर्षक और पूर्ण अवस्था में कोई पुरावशेष का चिह्न है तो वह रामपोल अथवा 'राम का द्वार' है। हम आगे चल कर देखेंगे कि राम के सेनापति हनुमान् से ही जेठवा लोग अपनी उत्पत्ति मानते हैं। रामपोल पश्चिमी दरवाजा है, परन्तु इसके निर्माण एवं शिल्प का ठीक-ठीक चित्रण करने में केवल पेंसिल ही सक्षम हो सकती है। प्रत्येक ओर तीन चौकोर खम्भों पर पत्थरों से चुने हुए शीर्षपट्ट टिके हुए हैं और दोनों तरफ अत्यन्त प्राचीन प्रकार की मेहरावें हैं; इनसे बिलकुल विपरीत दो नोकदार मेहरावें भी हैं, जो प्रत्यक्ष ही इनसे कम पुरानी हैं; परन्तु, जब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण मौजूद हैं कि गूमली क़स्बा लगभग आठ सौ वर्षों से उजाड़ पड़ा है तो हम यह निष्कर्ष निकाले बिना कैसे रह सकते हैं कि वे मेहरावें हिन्दू प्रणाली की ही हैं? यहां सर्वत्र ही अत्यन्त असाधारण कोरणी का काम दिखाई देता है; कुछ भागों में, बाडौली और अन्य स्थानों के समान, प्राणियों में श्रेष्ठ, मनुष्य को पशुओं में श्रेष्ठ [सिंह ?] से युद्ध करता हुआ दिखाया गया है; अन्यत्र वह घोड़े पर सवार है; घोड़ा तो पिछले पैरों पर खड़ा है और सवार अपने धनुष से तीर छोड़ रहा है। फिर, कुछ पुरुषों और स्त्रियों की मण्डलियाँ हैं, जो किसी पौराणिक गाथा को प्रस्तुत कर रही हैं; परन्तु, इनसे भी विचित्र पॉन [Pan][1] जैसे वन देवताओं

[1] ग्रीस की पौराणिक कथाओं में Pan को गडरियों, शिकारियों और देहातियों का देवता माना गया है। वह पशुओं, भेडों, जंगली जानवरों और मधु-मक्खियों का रक्षक है और वन-देवताओं में प्रमुख है। बाँसुरी का आविष्कर्ता भी उसे ही माना जाता है, जिससे Pans'pipes (पॉन की बांसुरी) प्रसिद्ध है। कहते हैं कि वह अचानक भय उत्पन्न कर देता है, इसीसे अंग्रेजी में भय का वाचक Panic शब्द बना है। उसके शिर पर दो छोटे सींग होते हैं और उसका अधोभाग बकरे-जैसा होता है।—N.S.E; p.971

की आकृतियाँ हैं, जिनका कमर तक का भाग मनुष्य जैसा है और नीचे का बकरे-जैसा।

'रामपोल' से मैं जेठवों के स्मारक-'पालियों' पर गया जिन पर घास और कँटीली थूवरें खूब उगी हुई हैं। बहुत से पालिये तो टूट-फूट गये हैं और उन पर जो लेख थे वे प्रायः सभी लुप्त हो चुके हैं। ध्यानपूर्वक परिश्रम से खोजने पर मुझे पाँच स्मारक मिल गये, जो यद्यपि संक्षिप्त थे परन्तु उनके लिए 'विनाशक' को धन्यवाद देता हूँ कि (उसने उन्हें छोड़ दिया कि जिससे) गूमली के विनाश-सम्बन्धी पारिवारिक कथाओं की सम्पुष्टि हो जाती है। इनसे यह सिद्ध होता है कि राजपूत अहंभावी नहीं होते और उनके स्वभाव में यह बात नहीं है कि देश के लिए मरने वाले में ही विश्व के समस्त सद्गुणों का आधान करें—उन्होंने मृतक की प्रशंसा में केवल साधारण नाम और आत्म-बलिदान की तिथि लिख कर ही सन्तोष कर लिया है; यथा—

संवत् १११२, पोस मास को ७……धालोत
संवत् १११२, कार्तिक मास की १३……भरुग
संवत् ……… विकट, ऊमरा और वेणजी जेठी,

हरिया बनिया चोहान, और सूंसिरवा जेठवा। संवत् १११८, फागुन (बसंत) सोमवार पूर्णिमा—महाराजा हरीसिंह जेठवा।

संवत १११६, कार्त्तिक (दिसम्बर) की ६, वीर जेठवा।

इस प्रकार जिन थोड़े से अवशेषों में तिथि के रूप में जो कुछ प्राप्त हो सका उससे ज्ञात होता है कि यह सब सामग्री १०५६ ई० से १०६३ ई० तक की अथवा महमूद गज़नवी के आक्रमण के बाद तीस से चालीस वर्षों के बीच की है। अचिरात् हम देखेंगे कि गूमली के नाश एवं पतन के समय से इन तिथियों का कहाँ तक मेल बैठता है?

जब हम भाँवल में अपने डेरे पर लौटे तो इस प्रान्त के राजनैतिक प्रतिनिधि (Political Agent) मेजर बार्नवैल (Major Barnewell) को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई; वे (डाक्टर मैकाडम Dr. Macadam के साथ) जाम की राजधानी से चल कर हम से मिलने आए थे। मैं उनके सौजन्य के प्रति आभारी हूँ कि उनकी सहायता से मैं गूमली के जेठवा राजाओं का वृत्तान्त लिख सका। वैसे, इस प्रान्त के एक सजीव इतिवृत्त-रूपी बुद्धिमान् चारण के मुख से, जो सौराष्ट्र के इतिहास का भी समान रूप से जानकार था, परम्परागत वृत्तान्त सुन कर मैंने जेठवों के इतिहास की रूपरेखा तैयार करली थी, परन्तु मेजर बार्नवैल ने अपना एक

दूत समुद्री तट पर पोरबन्दर भेजा था, जहाँ वर्तमान जेठवा नरेश रहते हैं, और वह उनके घरू भाट और राजाओं के इतिहास तथा बहियों के साथ लौट आया था।

जेठवा-वंश इस प्रायद्वीप के अत्यन्त प्राचीन राजपूत-वंशों में है। ऐसा ज्ञात होता है कि जब गज़नी से आक्रमण हुये थे तब इनकी शक्ति समस्त पश्चिमी भाग पर छाई हुई थी, जो भादर और कच्छ की खाड़ी से घिरा हुआ था और हालार (Hallour), बड़ीरा (जिसको मानचित्र में बरड़ा नाम से दिखाया गया है) तथा झालावाड़ का पश्चिमी भाग भी इसी में सम्मिलित थे। यद्यपि ये लोग उस समय पूर्ण स्वतंत्र होने का गर्व करते हैं, परन्तु अणहिलवाड़ा के इतिवृत्तों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वे बल्हरों के अधीनस्थ सामन्तों में से थे। गूमली का नाश होने के बाद जेठवों की शक्ति क्षीण होती चली गई और उनके पड़ौसी जाम द्वारा सीमातिक्रमण के फलस्वरूप उनका अधिकार बरड़ा की पहाड़ियों के दक्षिण में एक छोटे से भू-भाग तक ही सीमित रह गया है, जिसकी वार्षिक राजस्व आय एक लाख से अधिक नहीं है। राज्य की क्षीणता के उपरान्त भी पोरबन्दर के 'पूंछेड़िया राणा' अथवा लम्बी पूंछ वाले राणा छोटे-छोटे भोमियों में अपना सर ऊँचा उठाये रहते हैं और अपनी शिराओं में प्रवाहित होने वाले प्राचीन रक्त पर गर्व करते हुए अपने जमींदार स्वामी गायकवाड़ को एक प्रकार से घृणा की दृष्टि से ही देखते हैं।

जब मैं 'बही-वंश' [वंश बही] में उलझ रहा था तो मुझे सेन्ट पॉल[1] (St.Paul) द्वारा तिमॉथी (Timothy)[2] को दिये हुए इस उपदेश में पूरा बल जान पड़ा कि 'दन्त कथाओं और अन्तहीन वंशानुक्रमणिकाओं पर ध्यान नहीं देना चाहिए।' मेरे दो दिनों के परिश्रम का फल मुझे इस आत्म-विश्वास के रूप में मिला कि कम से कम मैं भी उन लोगों की उत्पत्ति के विषय में उतना ही जानता था जितना कि वे स्वयं अपने बारे में जानकार थे। थोड़े से तथ्यों और, उनसे

---

[1] सेन्ट पॉल—सन्त और धर्मोपदेशक। यह पहले क्राइस्ट के विरुद्ध थे और उनके अनुयायियों पर अपराध लगाने में सक्रिय भाग लेते थे परन्तु एक बार जब ये दमिश्क जा रहे थे तो मार्ग में क्राइस्ट को एक ही बार देख कर उनके शिष्य बन गये। ईसाई मत के इतिहास में सेन्ट पॉल का बहुत ऊंचा स्थान है। रोमन-साम्राज्य में ईसाई मत उन्हीं के प्रयत्नों से फैला तथा उनके आध्यात्मिक एवं नैतिक सिद्धान्तों का भी सभ्य संसार में खूब प्रचार हुआ था।

[2] तिमॉथी (Timothy) सेन्ट पॉल के साथी और संत थे। वे उनके साथ यूरोप गए और मैसीडॉन (Macedon) में गिरजे स्थापित करने में उनकी सहायता की।

भी कम, तिथियों के साथ जुड़े हुए कुछ नामों से ही उनकी परम्परा बनी हुई थी। फिर भी, मैं एक-सौ-पैंतालीस राजाओं का गुणगान, गूमली की स्थापना से विनाश तक का वर्णन, उन लोगों के अन्तर्जातीय विवाहों, उनकी स्त्रियों और जातियों के (विविध) नामों का विवरण अनुकरणीय धैर्य के साथ इस आशा से सुनता रहा कि वंशावली की इस लम्बी शृंखला से समसामयिकता के आधार पर सम्भवत: कोई तथ्य निकल सके जिसका कि 'वेल्स की ऐसी जातियों में भी आदर हो सके जिन के मूल का अनुसन्धान अभी नहीं हो पाया है।'[1] यह पुस्तक मेरे द्वारा देखी हुई वस्तुओं में बहुत विचित्र और कलात्मक सिद्ध हुई।

मस्तिष्क की ऐसी विकृति का, जो इस प्रकार की असम्बद्ध बातों को लेख-बद्ध करने में कारण बनती है, मैं एक ही उदारण यहाँ प्रस्तुत करूंगा। इस उदाहरण की पश्चिम के किसी भी कवि अथवा भाट द्वारा गढ़ी हुई बात से समानता की जा सकती है। जातियों की उत्पत्ति के प्रसंग में मुझे पहले भी ऐसी मनघड़ंत कहानियों का उल्लेख करना पड़ा है, जो उनके बर्बर-उद्गम को छुपाने के लिए आविष्कृत की गई हैं। इन लोगों का कहना है कि 'पूंछेडिया' सरदारों का पूर्व-पुरुष लाल-समुद्र के प्रवेश-द्वार सकोत्रा (Socotra) स आया था (जो प्राचीन काल में व्यावसायिक वस्तुओं के लिए एकत्रित हुए ग्रीक, अरब, मिस्री और हिन्दू व्यापारियों से बसा हुआ माना गया है)[2] जिसको उन्होंने 'शङ्खोद्धार' अथवा शंख का दरवाजा, ऐसा शास्त्रीय नाम दे रखा है। यह व्यक्ति राम का सेनापति वानर देवता हनुमान् था, जो उसकी पत्नी सीता की पुन: प्राप्ति के लिए अपनी सेना लङ्का पर चढ़ा ले गया था। जेठवों का मातामह मकर (Macur), (मनु के अनुसार एक समुद्री जन्तु) के अतिरिक्त और कोई नहीं था जो या तो बड़ी मछली थी या घड़ियाल था। जब राम वीरता-पूर्वक लंका-विजय करके लौटे तो मकरध्वज (मकरों के ध्वज) को उसकी माता ने सौराष्ट्र के पश्चिमी तट पर मानवीय राजाओं का वंश चलाने के लिए अव-तरित किया। परन्तु, जैसा कि प्रत्युत्पन्नमति गिबन (Gibbon) ने कहा है, [बालक को] भिन्नतासूचक चिह्न माता-पिता में से किसी एक ही का प्राप्त होता है, यहाँ माता का कोई निशान न रहा और पिता पर पड़े हुए जेठवा ने उसका एक शारीरिक लक्षण बढ़ी हुई रीढ़ की हड्डी के रूप में प्राप्त किया,

---

[1] ये जातियाँ Cimbri कहलाती हैं। ये लोग रोमन-शक्ति के लिए भी दुर्दम्य प्रमाणित हुए थे और इतिहासज्ञों के लिए इनका उद्गम अब तक भी अन्वेषण का विषय है।

[2] Edin. Review No. cxxiv.

जो लॉर्ड मोनबोडो (Lord Monboddo)[1] और डॉक्टर प्लॉट (Dr. Plot) द्वारा वर्णित जातियों के चिह्नों के समान, बहुत सी पीढियाँ गुजर जाने एवं वंशपरम्परा के भ्रष्ट हो जाने के कारण धीरे-धीरे नष्ट हो गया है; अतः वंश-भाट को यह प्रश्न हल करने में कुछ कठिनाई का अनुभव हुआ कि क्या वर्तमान सरदार 'पूंछेड़िया' उपाधि की परिधि से बाहर निकल गया था ? फिर भी उसने दृढ़ता के साथ सम्पुष्ट किया कि केवल चार पीढ़ी पूर्व राव सोनतान (Sontan सुरतान ?) तक तो वह हड्डी नीचे की ओर अधिक बढ़ी हुई चली आई थी।

असम्भव और असंगत कालक्रम एवं घटनाओं को छोड़ कर और अपेक्षाकृत बुद्धिवादी मेरे सहायक चारण का सहारा लेकर हमें इन असंस्कृत तिथि-क्रमों को ठीक करने के लिए बुद्धि और साधारण समझ से काम लेने का प्रयत्न करना चाहिए। सकोत्रा से आई हुई मकरों की इस विचित्र जाति की पहली राजधानी उस जगह स्थापित हुई जहां मकरध्वज भूमि पर उतरा था और उसका नाम 'श्रीनगर' रखा गया तथा वहाँ के राजा इन्द्रजीत के समय तक 'ध्वज' (अर्थात् पताका) नामान्त हुए। उसके पुत्र शील ने अपनी जाति और राजधानी दोनों ही के नाम बदल दिए। उसने गूमली बसाया और प्रत्यक्ष ही उच्चारण-साम्य के आधार पर 'मकर' के स्थान पर 'कमर' [कुमार] नाम ग्रहण कर लिया। शीलकुँवर गंगाजी की यात्रा करने गया और उसे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री का पाणिग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यदि हम जेठवों के पुरालेखों में विश्वास करें (क्योंकि वे वंश-परम्परागत वृत्तों से सम्पुष्ट हैं) तो हमें गूमली की स्थापना का समय अनायास ही मिल जाता है, क्योंकि अनंगपाल दिल्ली को चमकाने वाला राजा हुआ है और उसका समय वि० सं० ७४९ अथवा ६९३ ई० माना गया है। इतनी पुरातनता से किसी भी जेठवा का संतोष हो जाना चाहिए और गूमली पर एक बार दृष्टिपात करने से भी इस तथ्य की सम्पुष्टि हो जायगी। समय-समय पर मध्य एशिया से आकर इन प्रदेशों में बस जाने वाली जातियों के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है इसलिए सकोत्रा से उत्पत्ति होने के विवाद में न पड़ कर हम इतना ही कहेंगे कि कुँवर (Canvar) की जाति उच्चतर एशिया में उल्लेखनीय रही है; और यह भी असम्भव नहीं है कि वानर देवता की कहानी उनके 'बर्बर' मूल को छुपाने के लिए ही गढ़ी गई है। जेठवों के वैवाहिक सम्बन्ध बहुत पीढ़ियों से जूनागढ़ के

---

[1] देखिए पृ० ३८

यादवों, ढाँक अथवा प्रपट्टण के वल्हों, मूंगीपट्टण के गोहिलों, उमरकोट के सोढ़ों और अन्त में चावड़ों से भी होते रहे हैं, जो इस प्रायद्वीप में यादवों से भी पहले निवास के विषय में झगड़ते रहे हैं। यही नहीं, इस (चावड़ा) जाति के बचे-खुचे लोगों से मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि उनका और जेठवों का निकास एक ही स्थान से है; 'वे समुद्र पार सकोत्रा बेट अथवा लालसमुद्र में सकोत्रा द्वीप से आए और पहले ओखामण्डल में बस गए, फिर वहाँ से प्राचीपट्टण इत्यादि स्थानों पर चले गए।'

शील के बाद चौथे राजा फूलकुँवर ने सूर्य का मन्दिर बनवाया, जो अब तक श्रीनगर में विद्यमान है; उसके उत्तराधिकारी भीम ने गूमली पर छिटकी हुई बरड़ा पहाड़ियों की चोटी पर किला बनवाया जो उसी के नाम पर भीमकोट कहलाता है। मेरे यात्रा-सहचर मिस्टर विलियम्स ने, जो ऊपर चढ़ गए थे, बताया कि यह बहुत लम्बा-चौड़ा किला था और गढ़े हुए पत्थरों से बना था, जो बिना सीमेण्ट के ही एक दूसरे से सटे हुए थे, यद्यपि ऐसे चिह्न मिलते हैं कि वे लोहे या इस्पात की सहायता से एक दूसरे से जोड़ दिए गए थे। वहीं पानी का एक टाँका भी था। परन्तु, जेठवों का यह दृढ़ किला अब केवल जंगली जानवरों की आरामगाह बना हुआ है और मेरे मित्र के अनुसन्धान-मूलक उत्साह ने एक वन्य वराह को उसकी माँद में से जगा भी दिया था।

वंशवृत्त में लिखा है कि आठवें राजा ने कर्ण बाघेला को परास्त कर दिया था, परन्तु अणहिलवाड़ा के इतिहास का ज्ञान होने पर इस विपरीत कथानक का असत्य सामने आ जाता है, क्योंकि सोलंकी वंश के इस सुप्रसिद्ध राजा पर विजय पाना तो दूर रहा प्रत्युत उसके शासनकाल में ही गूमली का वास्तविक विनाश सम्पन्न हुआ था।

दसवें राजा भाणजी द्वारा कच्छ पर आक्रमण कराया गया है और कहा गया है कि उन्होंने वहाँ की तत्कालीन राजधानी कन्थकोट (Canthi-Kote) और सिन्ध के सुप्रसिद्ध नगर बमनवाड़ा (Bumanwara)[1] पर अधिकार कर लिया था।

चौदहवें राजा राम के विषय में कहा गया है कि वह जूनागढ़ के राव चूड़-चन्द यदु का समकालीन था, जिसका नाम गिरनार के लेख में पाया जाता है।

---

[1] शिवदाद[स]पुर (Sheodadpoor) आज तक कोट ब्रह्मन (Kote-Burman) कहलाता है और सम्भवतः यही मेरे शिलालेख और चन्द के काव्य का बमनवासो (Bumunwasso) है।

राम के उत्तराधिकारी महीप (Mehap–महपा ?) ने तुलाई (Tullaye) के काठी राजा की कन्या से विवाह किया; इस वृत्तान्त से यह सिद्ध होता है कि जेठवों का उद्गम 'बर्बर' जाति से था।

गूमली के बाईसवें राजा खेमा(Khemoo) तक बीच में कोई उल्लेखनीय बात इस वृत्तान्त में नहीं है; खेमा का नाम भी केवल इसलिए संस्मरणीय है कि वह उसके मंत्री जैतो (Jaitoh) से सम्बद्ध है जो जाति से छींपा था और गूमली का तालाब जिसका उल्लेख पहले किया गया है। उसी की उदारता का परिणाम है।

पचीसवें राजा अदीत (Adit आदित्य ?) का पुत्र हरपाल हुआ जिसने एक पशु-पालक अहीर की कन्या से विवाह किया; उनकी सन्तान ही देदान (Dedan) के बाबरिया हैं, जिनके अधिकार में ऊना (Oona) और देलवाड़ा (Dailwarra) तक के बारह गाँव हैं।

इसके बाद कतिपय और भी उत्तराधिकारियों ने आदिवासी मेर (Mher) लोगों में अन्तर्जातीय विवाह किए; और, इस मिश्रित जाति के लोग जो मातृ-पक्ष का नाम धारण करते हैं, संख्या में दो हजार से कम नहीं हैं और शस्त्र-धारण करते हुए जेठवा राजा के संरक्षण में निवास करते हैं।

अन्त में, पचीसवें राजा ज्येष्ठा(जैत) नक्षत्र में पैदा होने के कारण जिसका नाम जेठ पड़ा) के साथ कमर (Camari) का परम्परागत नाम 'जेतवा' (Jeytwa) अथवा जैसा कि प्रचलन के अनुसार मैं लिखता हूँ, 'जेठवा' (Jaitwa) में बदल गया और इस नये नाम के साथ उन्होंने महाराजा की पदवी भी ग्रहण की अथवा प्राप्त की।

नब्बेवें राजा चम्पसेन (Champsen) ने सिन्ध से निष्कासित सुमरा-वंश के सुप्रसिद्ध हमीर को शरण दी। यही वह राजा है, जिसके राज्यकाल में कग्गर (Caggar) नदी [जो कभी विशाल उत्तरीय पर्वत श्रेणी से निकल कर भारतीय जंगल को जलाप्लावित करती थी] सूख गई और प्रचलित पद्य के अनुसार अब तक सूखी पड़ी है। परन्तु, इस कथा का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक कि हमीर अणहिलवाड़ा के इतिहास में समकालीन सिद्ध नहीं हो जाता। इसी के राज्य का वर्णन करते हुए जेठवा-वंशावली में कनकसेन चौहान के दरबार में विवाह-सम्बन्धी एक विस्तृत विवरण दिया गया है। कन्या का पाणिग्रहण करने के इच्छुक राजाओं में मेवाड़ के हमीर और अणहिलवाड़ा के चावड़ा राजा का भी उल्लेख है परन्तु, लिखा है कि, लम्बी पूंछ वाला (पूंछे-

डिया) जेठवा ही पुरस्कृत हुआ। इस वंशवृत्त का यह दुर्भाग्य है कि मेवाड़ का हमीर गूमली के विनाश से चार शताब्दी बाद हुआ था।

गूमली के सौवें राजा भाणजी ने अणहिलवाड़ा के युवराज कर्ण को युद्ध में बन्दी बना लिया और इसके बदले में उसने बालराय से 'राणा' की वर्तमान उपाधि प्राप्त की। भाणजी के नाम के साथ ही हम जेठवों की सुदीर्घ वंशावली में किसी टिकाव पर पहुँचते हैं। उसके राज्य-काल में 'गोरी सुलतान का फौजी थाना मांगरोल[1] में था; वह गूमली और श्रीनगर देखने आया तथा जेठवा रानी का धर्म-भाई बन गया।' भाणजी का उत्तराधिकारी श्योजी हुआ जिसके पुत्र और जेठवा शासन के अधिकारी का नाम सालामन (Salamun)[2] हुआ।

एक पड़ौसी राज्य के चौहान राजा की पुत्री काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न थी और उसकी रचनाओं की सर्वत्र प्रशंसा होती थी। वह अपनी प्रतिभा के आलोक को किसी परिसीमा में बद्ध न रख कर [मुसलमानों के आगमन से पूर्व] उस वीर-काल में राजपूत रमणियों को प्राप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करती हुई अपने अपूर्ण पद्यों को राजकुमारों के पास पूर्ति के लिए भेजती थी। ऐसा ही एक काव्यात्मक प्रपत्र गूमली में भी पहुँचा और चौहानों के घुमक्कड़ भाट ने भरे दरबार में उसे राजकुमार सालामन के हाथ में प्रस्तुत किया। उसने तत्काल ही उस पद्य की पूर्ति कर दी और समय पर निश्चित पुरस्कार अर्थात् चौहानों की सैप्फो (Sappho)[3] का हाथ भी प्राप्त कर लिया। परन्तु जेठवा राजा ने अपने पुत्र की सफल प्रतिभा पर गर्व न कर के उसके इस कार्य को ईर्ष्यायुक्त क्रोध की दृष्टि से देखा तथा उसको देशवाटी (देश निकाले) का दण्ड दिया। सालामन अपनी वधू को लेकर सिन्ध चला गया और वहाँ के राजा ने उसको दोबा (Doba) और धरज (Dharaj) की भूमि गुजारे के लिए प्रदान की। इस प्रकार वह वहाँ पर रहता रहा और उसके बहुत सी सन्तानें भी हुईं जिनके

---

[1] कहते हैं कि, बहुत शताब्दियों बाद, मांगरोल पर मकवाणों ने अधिकार कर लिया था और अब भी मेरा विश्वास है कि यह उन्हीं के अधिकार में है। मकवाणे हूणों की एक शाखा माने जाते हैं और सम्भवतः इस जाति के कुछ लोग मीनागढ़ (Minagara) में राज्य करते थे।

[2] पश्चिमी भारतीय बोलियों में 'स' का उच्चारण ह' हो जाता है। अतः यह सालामन प्रसिद्ध 'हालामण राजकुमार' की कथा का नायक है।

[3] ग्रीक कवयित्री। वह मिटिलिनी (Mitylene) में छठी शताब्दी ईसा पूर्व हुई थी। उसके विषय में कितनी ही किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। प्राचीन काल की वह बहुत बड़ी कवयित्री मानी जाती है। उसके दो काव्य और कतिपय स्फुट पद्य उपलब्ध होते हैं। उसकी कविता यद्यपि वासनात्मक होती थी परन्तु उसमें भाषा की स्फीतता स्पष्ट परिलक्षित थी।—N. S. E; pp. 1100-01.

सहित वह आगे चल कर इसलाम-धर्म में परिवर्तित हो गया। परम्परागत कथाओं में कहा गया है कि उसी का पुत्र सिन्ध से सेना लेकर आया और उसी ने गूमली का विनाश कर दिया।

प्रायः देखा गया है कि हिन्दू भाटों की नीरस वंशावलियों में प्रसंगतः आई हुई कथाओं में कोई न कोई उपदेशात्मक अथवा प्रबोधात्मक तत्व अवश्य होता है और ऐसा बहुत कम अवसरों पर ही पाया गया है कि राज्यों के विनाश के मूल में कोई न कोई-पाप कर्म निहित न होता हो। एक ठठेरे की पुत्री का अपहरण करने के कारण गूमली के राजाओं को गद्दी से हाथ धोना पड़ा और जहाँ वे सम्पूर्ण पश्चिमी प्रायद्वीप के स्वामी थे वहाँ उसका दसवाँ भाग भी उनके अधिकार में न बच पाया। ठठेरे की लड़की धर्मात्मा थी, और हम यह भी मान लें कि वह सुन्दरी भी थी; उसने राजा के कुत्सित प्रस्तावों को निरादरपूर्वक ठुकरा दिया और अपने को उसकी शक्ति के सामने असुरक्षित समझ कर उसने चिता की शरण ग्रहण की। परन्तु, कामान्ध राजा ने किसी भी परिणाम की परवाह न करते हुए उसे हस्तगत करने की ज़िद की। जब उसकी माँग स्वीकार नहीं की गई तो उसने मन्दिर को भ्रष्ट कर दिया और अपने शिकार को घसीट कर बाहर ले आया। मन्दिर के पुजारी शाप देते रहे, चिल्लाते रहे, उसको और उसके वंश को कोसते रहे और अंत में बदला लेने में असमर्थ होकर देवता की वेदी के सामने उन्होंने अपने आपको बलिदान कर दिया। इसके बाद ही सिन्ध से आक्रमणकारी आ गए तब गूमली को घेर लिया गया और छः मास तक घेरे का सामना होता रहा। लोगों का माल-मता, परिवार और बाल-बच्चे सब भीमकोट में रख दिए गए और उनकी रक्षा का भार मेरों को सौंपा गया; राजा, उसके सामन्त और सहायक राजपूत तलहटी अथवा नीचे के शहर की रक्षा में संलग्न हुए। रात को जब घेरा ढीला पड़ता तो रक्षक लोग अपने परिवार वालों से मिलने के लिए भीमकोट में चले जाते। घेरे वालों ने इसका लाभ उठाया, गूमली में घुस गए और तावड़तोड़ नसेनी लगा कर भीमकोट में उतर गए। अन्धाधुन्ध कत्ले-आम हुआ जिसमें गूमली का तारक्विन (Tarquin)[1] श्योजो, उसके सगे-सम्बन्धी और मित्र आदि टुकड़े-टुकड़े करके मार दिए गए। वंशावली में उनके नाम गिनाए गए हैं जिनमें से बहुत से तो

[1] रोम का सातवां अन्तिम राजा जिसका कथानकों में उल्लेख है। उसने ई.पू. ५३४ में राज्य करना आरम्भ किया था। वह बड़ा पराक्रमी था और उसने रोम के राज्य का बहुत विस्तार किया था।—N S. E; p. 1199

प्राचीन डाबी जाति के पाए गए। वंशावली और भाट की मौखिक कथा के अनुसार इस अशुभ घटना की तिथि संवत् ११०६ (१०५३ ई०) है, जो स्मारक के पालियों [चबूतरों] में से किसी पर भी अंकित संवत् से तीन वर्ष पहले की है। असुरों (राजपूतों के भाटों ने सामान्यतया यह शब्द मुसलमानों के लिए प्रयुक्त किया है) के लिए स्पष्ट लिखा है कि उनके लम्बी-लम्बी दाढ़ियां थीं और वे लोग 'मन्दिर में कुरान पढ़ कर' वापस सिन्ध लौट गए।

मैंने पाठकों का ध्यान कई वार चित्तौड़, गूमली आदि जैसे नगरों की ओर आकर्षित किया है और वहाँ सती के 'तिलक' अथवा स्मारक के विषय में भी घोषणायें की हैं, जिन से 'यहूदी पैगम्बर' द्वारा मिस्र, ईडम (Edom)[1] और टायर (Tyre) को दिए हुए शापों में से किसी एक की याद आ जाती है, और उस अनिष्ट-सूचक आदेश का भी स्मरण हो आता है जो इतना प्रभावशाली और बीभत्स होते हुए भी 'पवित्र लेख' (Holi Writ बाइबिल ?) में इतनी सरलता से उल्लिखित है 'जो देश ऊजड़ हैं—उन्हीं के बीच में इन्हें भी ऊजड़ होना ही चाहिए'; यह कथन (आदेश) गूमली के एकान्त ध्वंसावशेषों पर ऐसा लागू होता है मानो विनाश के फ़रिश्ते के पर ही [वास्तव में इनके वैभव को] समेट ले गए हों। इसमें वे सभी चिह्न पाए जाते हैं जो किसी भी अकस्मात् ऊजड़ हुए नगर में होते हैं। शपथ [शाप] की गम्भीरता एक-एक पत्थर तक व्याप्त दिखाई पड़ती है। सभी पुरावशेष यथावत् मौजूद हैं, जो धीरे-धीरे ध्वस्त और ऊजड़ हुए किसी निर्जन नगर में शायद ही पाए जाते हैं। सती के शाप को क्रियान्वित करने और गूमली के अवशेषों की रक्षा करने के लिए केवल दो चेतावनियाँ ही पर्य्याप्त सिद्ध हुई। पहला तो मोरवाड़ा (Morewarra) का उदाहरण है, जो पूर्णतया जेठवों की राजधानी के अवशेषों से निर्मित हुआ था और भूकम्प की एक ऐसी दुर्घटना में धराशायी हो गया जैसी प्रायः इन क्षेत्रों में ईश्वरीय आदेश की अवहेलना के फलस्वरूप हुआ ही करती हैं। ऐसा ही भाँवल में हुआ, जहाँ आसानी से प्राप्त हुई यहां की सामग्री से निर्मित कुछ घर एक साथ गिर गए और उनमें रहने वाले भी उन्हीं के नीचे दब गए। अतः इन अवशेषों को मनुष्य द्वारा नष्ट होने की कोई आशंका नहीं है और ये विचित्र पदार्थों के रूप में उस समय तक यथावत् विद्यमान रहेंगे जब तक कि भविष्य में कोई प्रकृति का झोंका 'कुँवरों' के इस प्राचीन नगर को भूमिसात् न कर दे।

---

[1] पैलेस्टाइन के दक्षिणी जिले का नगर, जो मृतसमुद्र (Dead Sea) और अकाबा की खाड़ी के बीच की पर्वत श्रेणी के पास है। यहां के निवासी ईसाउ (पृ० ४३ टि०) के सम्बन्धी बताए जाते हैं। यह नगर यहूदी पादरियों द्वारा अभिशप्त था।

इस प्रकार हमें जेठवों के इतिहास की दो ऐसी घटनाओं का पता चलता है, जो सुदृढ़ आधारों से सम्पुष्ट हैं—पहली, संवत् ७४९ में गूमली की स्थापना और दूसरी, संवत् ११०९ में इसका विनाश; प्रथम घटना शीलकुँवर से सम्बद्ध है, जो दिल्ली के अनंगपाल का समकालीन था (जिसका समय हमने अन्यत्र तिथिक्रम-सारणी एवं अन्य राज्यों के इतिहास की समसामयिक घटनाओं के आधार पर निश्चित किया है) और गूमली के विनाश की सम्पुष्टि पालियों अथवा स्मारक पत्थरों से हो जाती है। वंशावली को प्रश्रय देते हुए (इस घटना के लिए] कुछ वर्ष आगे संवत् १११९ का समय भी मान्य किया जा सकता है। इन दोनों तिथियों के बीच में अर्थात् तीन सौ साठ वर्षों के समय में हम वीस राजाओं का गद्दी पर बैठना स्वीकार कर सकते हैं; इस बात की सुखद सम्पुष्टि करते हुए मेरे चारण मित्र ने बताया कि उसकी सूची में भी इतनी ही संख्या लिखी है और गूमली के विनाश की दुर्घटना 'अब से सात सौ सत्तर वर्ष पूर्व' हुई थी। यह हिसाब पालियों की तिथि से भी बिलकुल सही बैठता है। इस बीच में एक ऐसा समय आता है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है; वह है गूमली के विनाश से दस पीढ़ी पहले सिंहजी का समय। वंशावली से पता चलता है कि सिंहजी ने चित्तौड़ की राजकुमारी से विवाह किया था। यदि अनुपाततः एक राजा का राज्यकाल तेवीस वर्ष माना जाय तो इस हिसाब से सिंहजी का समय ८२३ ई० आता है, जो उस महान् घटना के बहुत ही निकट का सिद्ध होता है, जिसका उल्लेख मेवाड़ के इतिवृत्तों में हुआ है अर्थात् पहला इसलामी हमला जब कि समस्त राजपूती शौर्य चित्तौड़ की रक्षा के लिए एकत्रित हुआ था; और उन 'चौरासी राजाओं में, जिनके लिए किले की चारदीवारी में गद्दियाँ लगाई गई थीं, जेठवा राजा का विवरण मेवाड़ के भाट ने स्पष्ट रूप से दिया है। जेठवों के इतिवृत्तों में उन परिस्थितियों का भी वर्णन है जिनके कारण यह विवाह-सम्बन्ध सम्पन्न हुआ और हिन्दू मतानुसार इस 'पृथ्वी के छोर' का राजा चित्तौड़ के महाराणा के हितों की रक्षा के लिए स्वयं वहां पर गया। यह विवरण यद्यपि बहुत गम्भीर नहीं है, परन्तु इसका महत्त्व इस लिए बढ़ जाता है कि इससे यह पता चलता है कि जेठवों की उत्पत्ति की विचित्र कथा का आविष्कार आधुनिक या पिछले जमाने में नहीं हुआ है। चित्तौड़ का एक घुमक्कड़ गायक अपनी निरुद्देश्य यात्रा के प्रसंग में जेठवा राजा के दरबार में पहुंचा। राजा ने उसको खूब इनाम-इकराम से लाद दिया और विवाह-प्रस्ताव का माध्यम बनाया। इस प्रस्ताव के उत्तर में चित्तौड़ के रावल ने तिरस्कारपूर्वक कहलाया 'मैं वानर पिता और मछली माता की सन्तान को अपनी पुत्री नहीं दूंगा।' तिरस्कार की

भावना से युक्त इस अस्वीकृति से जेठवा राजा को बड़ा खेद हुआ; तब, उसके वंश-भाट ने बरड़ा पहाड़ी पर स्थित हर्षद-माता के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और वहां इतनी कठिन तपस्या एवं बलिदान सम्पन्न किए कि उसकी कुलदेवी ने प्रत्यक्ष सामने आकर उसे **'जेठवों की प्राचीन वंशावली,** का ज्ञान कराया। इस सूचना के साथ वह चित्तौड़ गया और वहां के राजा का मन मनाने में सफल हुआ। इस विचित्र कथा के आधार पर हम पूंछेडिया रावों के 'एक सौ पैंतालीस मुकुटधारी राजाओं' का हिसाब नहीं बैठा सकते और समसामयिक तिथिक्रमानुसार घटनाओं की कसौटी के आगे तो वे सब हवा में उड़ते नज़र आते हैं। फिर, [हर्षद] माता कोई जादूगरनी तो थी नहीं, न छल-वश होकर के अपनी पुत्री का पाणि-समर्पण किसी अर्द्ध-देवता को कर देने से 'हिन्दूपति सूर्य' का ही सम्मान बढ़ जाता था। परन्तु, इन छिछले उपाख्यानों से भी हम कुछ सच्चे ऐतिहासिक तथ्यों का पता चला सकते हैं, जो सब भारत में इसलाम के आगमन से कुछ ही शताब्दी पूर्व के उस अन्धकारपूर्ण, परन्तु रोचक, समय से सम्बद्ध हैं जब कि नई-नई जातियां यहां निरन्तर आने लगी थीं और वे प्राचीन राजपूतों में सम्मिलित हो रही थीं।

जिन लोगों ने हिन्दू संवत्-क्रम (Chronology) पर विचार किया है उन्हें याद होगा कि बहुसन्दर्भित वलभी के शिलालेखों में कम-से-कम चार विभिन्न संवतों का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक, जो सब से बाद का है, 'सी हो ह' (Seehoh) [सिंह ?] नाम से अभिहित है। इस प्रकार वलभो संवत् ९४५= विक्रम संवत् १३२०=सीहोह संवत् १५१ हुआ, जिसको यदि १३२० में से घटा दें तो संवत् ११६९ अथवा १११३ ई० बच जाते हैं। उस समय यह चालू हुआ होगा। तब सिद्धराज अणहिलवाड़ा का सर्वसत्तासम्पन्न राजा था और इन क्षेत्रों पर उसका सार्वभौम अधिकार था। क्या संभव हो सकता है कि बल्हरों में सब से बड़े इस राजा ने अपने अट्ठारह परगनों के साम्राज्य के निकटतम सौराष्ट्र के कोने में इस नये संवत् को चालू करने की आज्ञा दी हो? किसी भी दशा में, यह गूमली के सीहोह [सिंह ?] से ही सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु, गूमली तो नष्ट हो चुका था और वहाँ का पापी राजा अपने कर्मों का फल भोगने चला गया था। चारण ने सालामन के देश-निकाले की दुःखपूर्ण गाथा का समर्थन किया है—'सिन्धु सुम्मा वंश के जाम ऊनड़ ने उसका संरक्षण किया जिसके पुत्र बमनिआ (Bumnea) ने सेना लेकर उसको पुनः गद्दी पर बैठाने के लिए आक्रमण किया, परन्तु सालामन ने अपनी जन्मभूमि को, जहां उसके पिता और ब्राह्मणों का रक्त बहा था तथा जो सती के शाप से अपावन हो गई

इनका जवाब नहीं है; फिर भी, ये गांव बहुत मामूली हैं; लगभग तीस-तीस झोंपड़ियां एक-एक में हैं और इनमें पारिवारिक सुख की अपेक्षा व्यक्तिगत सुख की भावना अधिक है। मीआनी (Meannee) हमारे बाईं ओर चार कोस पर थी, जहां से हमने कुछ बढ़िया मछलियां प्राप्त की थीं।

मुक्तासर (Mooktasirr) – दिसम्बर २६ वीं—आठ कोस, पूरे अट्ठारह मील। परन्तु, दो ही ढानियाँ मिलीं जो एक दूसरे से दस मील की दूरी पर थीं अर्थात् देवला से दो मोल पर सतोपुर, जिसमें अहीरों के पचीस घर थे और बोगांत (Bogant) में लगभग पचास घरों की बस्ती थी। इस पहाड़ी इलाके में बेजोड़ चरागाह हैं, जिनमें होकर हम दिन भर चलते रहे और बढ़िया-बढ़िया जानवरों के झुण्ड पुष्कल 'दूर्वा' चरते हुए हमारे सामने आये। मुक्तासर को 'सौन्दर्य की झोल' कहते हैं; यहां पर जंगली जलमुर्ग़ाबियों की भरमार है और इसके पेटे में सूर्यकान्त मणि की किस्म का वह पीला रत्न पाया जाता है जो इधर के मन्दिरों में सजावट के लिए प्रयुक्त होता है।

द्वारका – दिसम्बर २७ वीं—दस कोस। 'आनन्द की झील' से 'द्वार के देवता'[1] तक बीस मील का मार्ग बिलकुल ऊजड़ और ऊसर है। यहाँ समुद्र के किनारे पर मादड़ी [?] (Maddi)[2] नामक एक गाँव है अथवा कभी था! परन्तु, कुछ वर्षों पूर्व समुद्री डाकुओं के आक्रमण के बाद वह ऊजड़ पड़ा है। इस ऊजड़ गांव के पश्चिम में कोई चार सौ गज की दूरी पर खारी नदी है, जिसका मुहाना बालू की दीवार से अवरुद्ध हो रहा है; यदि इसको हटा दिया जाय तो यह 'जगत की कूंट' फिर उसी प्रकार द्वीपाकार हो जाय जैसे कि कृष्ण के समय में थी। हम समुद्र के किनारे-किनारे चले, जिसकी लहरें रह-रह कर बालू अथवा कठिन कंकरीट की चट्टानों से टकराती थीं—यही इस द्वीप की क़िस्म-जमीन है जिसमें बालू और कोरी चट्टानों पर समान रूप से फैलने वाली थूवर के अतिरिक्त कोई चीज़ पैदा नहीं होती। कोई छः मील इधर से ही द्वारका के मन्दिर का शिखर दिखाई देने लगा और कोई एक मील की दूरी पर तो हमें दूसरी खाड़ी (Khary) में उतरना पड़ा जिसका पानी [घोड़े की] ज़ीन तक आ गया था। परकोटे से घिरे हुए नगर में से गुज़रते समय और हिन्दुओं के 'जगत्कूंट' पर स्थापित हमारे डेरे पर जाते हुए हमने पवित्र मन्दिर पर दृष्टिपात किया।

---

[1] द्वारकानाथ।

[2] दक्षिण पूर्व में मादड़ी की दूरी १½ मील है। मैंने गूमली पहाड़ी के पूर्व की माप ली। द० ७२° पू० और इस प्रकार यह माप (समुद्री) तट से तट को मिलाती है।

बैरोमीटर ३०°४,—थर्मामीटर प्रातः ६ बजे ६२°; दोपहर में ८५°—सूर्यास्त के समय ७९° ।

कृष्ण के मन्दिरों में सब से अधिक प्रसिद्ध द्वारका का मन्दिर समुद्र-तट से कुछ ऊंचाई पर बना हुआ है और एक परकोटे से घिरा है, जो शहर के भी चारों ओर घूम गया है, परन्तु ये दोनों एक ऊँची दीवार से पृथक् कर दिए गए हैं। मन्दिर को अच्छी तरह देख सकने के लिए इसके अन्दर होकर निकलना पड़ता है। इसकी शिल्पकला वही है जिसे हम [शिखरबन्ध] देवालय की संज्ञा दिया करते हैं। इसे तीन भागों में बना कहा जा सकता है—मण्डप या सभा भवन, देवखण अथवा निज-मन्दिर, जिसको गर्भगृह(?) (Gabarra) भी कहते हैं और शिखर।

पहले, मण्डप की बात कहें; यह प्रायः चौकोर है और भीतर से इक्कीस फीट है तथा इसकी ऊँचाई पाँच स्पष्ट श्रेणियों (मंज़िलों) में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड में स्तम्भ-समूह है; सब से नीचे के खण्ड की ऊँचाई बीस फीट है और अन्त तक वही सम-चौकोण आकृति रहती चली गई है, जिसमें आड़े शीर्षपट्ट लगाए गए हैं, जो उत्तरोत्तर गुम्बज के लिए आधार बन जाते हैं; सब से ऊपर की चोटी धरातल से पचहत्तर फीट ऊँची है। प्रत्येक वर्ग-चतुष्कोण के मुख-भाग पर चार-चार भारी खम्भे खड़े किए गए हैं जो इस महान् भार की नींव का काम करते हैं। परन्तु, इन्हें भार-वहन के लिए अपर्याप्त समझ कर प्रत्येक स्तम्भयुग्म के बीच-बीच में कुछ अतिरिक्त खम्भे लगा दिए गए हैं जिससे समरूपता का बलिदान हो गया है। लगभग १० फीट चौड़ाई की एक खम्भेदार 'भमती' या फिरनी सब से नीचे की मंज़िल में घूम गई है, जिससे उत्तर, दक्षिण और पश्चिम की ओर के भाग खम्भों के सहारे और भी आगे बढ़ गए हैं। प्रत्येक खण्ड में एक भीतरी रविश भी है, जिसके सिरे पर तीन-तीन फीट ऊँची दीवार बनी हुई है कि जिससे कोई असावधान मनुष्य नीचे न गिर जाय। इन छोटी-छोटी दीवारों पर पृथक्-पृथक् विभक्त भागों में कुराई का बढ़िया काम हो रहा था, परन्तु इसलाम की टांकी ने भी अपना काम किया और प्रत्येक उत्कीर्ण मूर्ति को भ्रष्ट कर दिया गया, यहाँ तक कि अब मूल आयोजना का पता लगाने योग्य भी पर्याप्त चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं; परन्तु, भ्रष्ट करने की यह क्रिया भी बहुत सोच-समझ कर की गई है कि जिससे मूल इमारत को कोई क्षति नहीं पहुँची है।

मन्दिर का अधस्तम अथवा वर्गाकार भाग पूर्वकाल में गर्भगृह या निज-मन्दिर है, जिसमें कृष्ण-भक्तिकाल से पहले 'बुद्धत्रिविक्रम' की पूजा होती थी और स्वयं कृष्ण भी बुद्ध-पूजन करते थे, जिसका एक लघु मन्दिर अब भी अन्तस्तम

देवालय में विद्यमान है और कृष्ण की मूर्ति इससे बाहर के कक्ष में स्थापित है। अत्यन्त प्राचीन शैली में निर्मित इस शिखर में एक के बाद एक पिरामिड बने हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक ही एक लघु मन्दिर का प्रतीक है और सबसे ऊपर के शिखर की ओर सिकुड़ता चला गया है, जो जमीन से एक सौ चालीस फीट की ऊँचाई पर जाकर समाप्त होता है। जहाँ इस पिरामिड की आकृति वाले शिखर का व्यास बहुत छोटा हो जाता है उससे पहले इसकी सात मंज़िलें स्पष्ट हैं; प्रत्येक मंज़िल का मुख-भाग एक खुले ओसारे से सजा हुआ है जिस पर छोटे-छोटे खम्भों पर टिके हुए छज्जे भी बने हुए हैं। प्रत्येक मंजिल में भीतर की ओर खम्भों पर खम्भे टिके हुए हैं और इन पर टिके हुए मध्य-पट्ट उन पर धरे हुए भार की घटती हुई मात्रा की अपेक्षा अनुपाततः अधिक भारी होते चले गए हैं; यद्यपि सब से ऊपर की मंज़िल में बहुत से मध्यपट्ट अपने ही भार से तड़क गए हैं, परन्तु वे समष्टिगत एकता के कारण अपने स्थान पर कायम हैं। इन खम्भों के शीर्ष-दल बिलकुल सादा हैं और चारों तरफ कुछ-कुछ आगे निकले हुए हैं कि उन पर मध्य-पट्ट आसानी से टिक सकें; शिल्पी की नासमझी या मन्दता के कारण, जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, कुछ मध्य-पट्ट तो खम्भे के सिर पर न रखे जा कर वास्तव में शीर्ष-दल के इस आगे निकले हुए भाग पर ही टिके हुए हैं। यह जान कर आश्चर्य होगा कि सदियाँ बीत जाने पर भी उनकी क्षमता के प्रमाण में कोई अन्तर नहीं आया है। अवश्य ही, विट्रूविअस (Vitruvius)[1] इस आविष्कार से चकित हुए बिना न रहता। इस इमारत की पूरी बनावट, जिसकी भीतर से लम्बाई-चौड़ाई अठहत्तर फीट और छियासठ फीट है, चट्टानी पत्थर या बलुआ पत्थर की है, जिसमें इस द्वीप की किस्म-जमीन की मिट्टी विभिन्न मात्राओं में मिली हुई है, जिसका रंग हरा-सा है— स्थानीय मिट्टी के पेटे (बन्ध) के कारण हो अथवा क्षारीय वायु-मंडल के कारण, परन्तु जब इस पर तेज़ रोशनी पड़ती है तो वह समस्त भवन-समूह को एक प्रकार की दर्पण के समान आभा से प्रत्युद्भासित करती है। भीतर से इसकी विचित्र आकृति नाक जैसी है। शीर्ष-पट्ट यद्यपि अपवाद हैं, परन्तु समुद्री क्षारीय पिण्ड से निर्मित होने के कारण वे उन चूने के पिण्डों से भिन्न नहीं लगते जिनका वर्णन सोमनाथ के मन्दिर के प्रसङ्ग में किया गया है।

---

[1] [illegible]रकानरोमन शिल्पशास्त्री और De Architectura नामक वृहत् शिल्पशास्त्रग्रन्थ का [illegible]ण पूके व्यक्तिगत जीवन के विषय में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है; केवल इतना [illegible] जाता है कि उसका लेखन-काल रोम-निर्माण (ई. पू. २७) से पूर्व का है।

इस मन्दिर की नींव श्रयनान्तकाल में रखी गई होगी क्यों कि इसकी अगवार ख-मध्य रेखा से दश अंश भिन्न है और क्योंकि ऐसे विषयों में शिल्पी को पण्डितों के मतानुसार कार्य करना पड़ता है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि गुरुगूचा[1] (Goor-goocha) ब्राह्मणों को, जो उस समय के मुख्य प्रबन्धक थे, और जो उस समय के सूर्योदय-विन्दु को ही सही पूर्व-बिन्दु मानते थे, 'सूर्य-सिद्धान्त' का ज्ञान नहीं था। अत: इसकी चौड़ाई उत्तर-पश्चिम (N.N.W.) से दक्षिण-पूर्व (S.S.W.) में है और नियमों के प्रतिकूल इसका पिछवाड़ा उदय होते हुए सूर्य की ओर तथा अगवार पश्चिम में है।

यहाँ कृष्ण का पूजन 'रणछोड़' के रूप में होता है। यह वह रूप है जब मगध के बौद्ध राजा ने उनको पितृदेश शौरसेन से भगा दिया था। एक स्तम्भाधारित ढकी हुई सुरंग कृष्ण के मन्दिर को उनकी माता देवकी के छोटे-से मन्दिर से जोड़ती है; और विशाल चौक में कुछ और भी छोटे-छोटे मन्दिर हैं, जिनमें से एक, दक्षिण-पूर्व के कोने वाले में बुद्ध-त्रिविक्रम की मूर्ति स्थापित है अथवा जिनको प्राय: त्रीकमराय (TricamRae) या त्रिमनाथ (Trimnath) के नाम से भी अभिहित करते हैं। यह मन्दिर सदैव यात्रियों से भरा रहता है। इसके सामने ही अथवा मुख्य-मन्दिर के दक्षिण-पश्चिमी कोने में कृष्ण के दूसरे रूप मधुराय[2] का छोटा मन्दिर है और इन दोनों के बीच में एक मार्ग है, जो सोपान-सरणि द्वारा गोमती तक जाता है। यह एक छोटी सी नदी है, जिसका मुहाना समुद्र के समान ही विशेष पवित्र माना जाता है यद्यपि इसको पार करते समय पैर का ऊपरी भाग भी गीला नहीं होता। बड़े मन्दिर से 'संगम' पर बने हुए संगमनारायण के मन्दिर तक गोमती के किनारे-किनारे उन यात्रियों की समाधियाँ बनी हुई हैं जिन्हें इस 'देव-द्वार' में जीवन-विसर्जन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनमें पाँच पाण्डवों में से चार भाइयों की समाधियाँ भी हैं, जो इस क्रमागत कथा का समर्थन करती हैं कि पाचवाँ भाई हिमालय में जाकर अदृश्य हो गया था; कहते हैं कि वह वहाँ पर बरफ़ में गल गया और उसके साथ भारतीय हरक्यूलीज़ बलदेव भी थे, जिनकी प्रतिमा कुछ सीढियां नीचे उतर कर भोंयरे

---

[1] ये 'गुलेचा' अथवा 'गुरेचा' ब्राह्मण कहलाते हैं।

[2] **'मधु' अर्थात् 'मादक' कृष्ण का साहित्यिक नाम है, जो सम्भवतः 'माधव' से और 'मधु' (मक्खी) से सम्बद्ध है—शायद यह शब्द हमारे 'Mead' से बना हो।**

वास्तव में, श्रीकृष्ण का 'मधुराय' नाम मथुरा के स्वामी होने के कारण पड़ा है। मथुरा को प्राय: 'मधुरा' अथवा मधुपुरी कहते हैं। Mead शब्द का प्राचीन अंग्रेजी में Meodu रूप है, जिसका अर्थ शहद और पानी मिला हुआ सुगंधित पेय होता है।

देवालय में विद्यमान है और कृष्ण की मूर्ति इससे बाहर के कक्ष में स्थापित है। अत्यन्त प्राचीन शैली में निर्मित इस शिखर में एक के बाद एक पिरामिड बने हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक ही एक लघु मन्दिर का प्रतीक है और सबसे ऊपर के शिखर की ओर सिकुड़ता चला गया है, जो जमीन से एक सौ चालीस फीट की ऊँचाई पर जाकर समाप्त होता है। जहाँ इस पिरामिड की आकृति वाले शिखर का व्यास बहुत छोटा हो जाता है उससे पहले इसकी सात मंज़िलें स्पष्ट हैं; प्रत्येक मंज़िल का मुख-भाग एक खुले ओसारे से सजा हुआ है जिस पर छोटे-छोटे खम्भों पर टिके हुए छज्जे भी बने हुए हैं। प्रत्येक मंजिल में भीतर की ओर खम्भों पर खम्भे टिके हुए हैं और इन पर टिके हुए मध्य-पट्ट उन पर धरे हुए भार की घटती हुई मात्रा की अपेक्षा अनुपातत: अधिक भारी होते चले गए हैं; यद्यपि सब से ऊपर की मंज़िल में बहुत से मध्यपट्ट अपने ही भार से तड़क गए हैं, परन्तु वे समष्टिगत एकता के कारण अपने स्थान पर कायम हैं। इन खम्भों के शीर्ष-दल बिलकुल सादा हैं और चारों तरफ कुछ-कुछ आगे निकले हुए हैं कि उन पर मध्य-पट्ट आसानी से टिक सकें; शिल्पी की नासमझी या मन्दता के कारण, जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, कुछ मध्य-पट्ट तो खम्भे के सिर पर न रखे जा कर वास्तव में शीर्ष-दल के इस आगे निकले हुए भाग पर ही टिके हुए हैं। यह जान कर आश्चर्य होगा कि सदियाँ बीत जाने पर भी उनकी क्षमता के प्रमाण में कोई अन्तर नहीं आया है। अवश्य ही, विट्रुविअस (Vitruvius)[1] इस आविष्कार से चकित हुए बिना न रहता। इस इमारत की पूरी बनावट, जिसकी भीतर से लम्बाई-चौड़ाई अठहत्तर फीट और छियासठ फीट है, चट्टानी पत्थर या बलुआ पत्थर की है, जिसमें इस द्वीप की किस्म-जमीन की मिट्टी विभिन्न मात्राओं में मिली हुई है, जिसका रंग हरा-सा है—स्थानीय मिट्टी के पेटे (बन्ध) के कारण हो अथवा क्षारीय वायु-मंडल के कारण, परन्तु जब इस पर तेज़ रोशनी पड़ती है तो वह समस्त भवन-समूह को एक प्रकार की दर्पण के समान आभा से प्रत्युद्भासित करती है। भीतर से इसकी विचित्र आकृति नाक जैसी है। शीर्ष-पट्ट यद्यपि अपवाद हैं, परन्तु समुद्री क्षारीय पिण्ड से निर्मित होने के कारण वे उन चूने के पिण्डों से भिन्न नहीं लगते जिनका वर्णन सोमनाथ के मन्दिर के प्रसङ्ग में किया गया है।

[1] [illegible]रकानरोमन शिल्पशास्त्री और De Architectura नामक वृहत् शिल्पशास्त्रग्रन्थ का [illegible]ण पूके व्यक्तिगत जीवन के विषय में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है; केवल इतना [illegible] जाता है कि उसका लेखन-काल रोम-निर्माण (ई. पू. २७) से पूर्व का है।

स्वयं वज्रनाभ भी अन्त समय में उत्तर के पर्वतों में भद्री (Bhadri) (बदरिकाश्रम ?) चला गया था और उसके वंशज उस प्रदेश के निवासियों में (जो दानू [दानव] कहलाते हैं) अन्तर्जातीय विवाह करके यहाँ जगत्कूट पर लौट आए तथा उन्होंने शंखोद्वार पर अधिकार कर लिया। वहाँ उन्होंने कलोर-कोट (Kulore Kote) खड़ा कर लिया, जहाँ वे एक हजार वर्षों तक राज्य करते रहे। इसी अवसर पर रईब और सईब (Raib and Saib) नाम के दो यवन प्रकट हुए, जिन्होंने इन सब को मार डाला और एक हज़ार पाँच सौ वर्षों तक यहाँ अपना अधिकार उस समय तक बनाए रखा जब मोहम्मद धूंकरा Mohomed Dhoonkra) जिसके पास विक्रमादित्य की चमत्कारिक अंगूठी थी, दिल्ली से आया; गोर और गजनी पर तो उसने पहले ही अधिकार कर लिया था। मोहम्मद ने कलोर-कोट और ओखा पर अधिकार कर लिया तथा बेलम (Belem)[1] जाति के रईव-सईब के वंशजों को मार कर समाप्त कर दिया। फिर पूर्व की ओर से कनकसेन चावड़ा आया और उसके वंशज बहुत सी पीढियों तक राज्य करते रहे। इसके अनन्तर मारवाड़ से उम्मेदसिंह राठौड़ आया जिसने चावड़ों का वध करके 'कूंट' पर कब्जा कर लिया तभी से यह वाडेल (Wadail) या बाधेल (Badhail) कहलाने लगा क्योंकि यहाँ पर 'वध' किया गया था[2]। बेट अथवा द्वीप में राजधानी बनी रही और इन राठौड़ों के वंशज यहाँ के पूर्व निवासियों में अन्तर्जातीय विवाहादि करके बाधेर (Wagairs) कहलाने लगे तथा साहसिक समुद्री लूटपाट के लिए प्रसिद्ध हुए। सामलामानिक वागेर के समय में औरंगजेब मन्दिरों को तोड़ता-फोड़ता इधर आया और इसी अवसर पर द्वारका का शिखर भी उतार कर फेंक दिया गया;

---

[1] परम्परागत कथाओं में कहा जाता है कि बेलम जाति और इसके मुखिया गोरी बेलम ने ही पालीताना का विनाश किया।

[2] ओखामण्डल के इतिहास में वर्णित उत्तरवृत्त की राठोड़ों के इतिहास से सम्पुष्टि होती है। राठोड़ों के इतिहास में लिखा है कि सीहाजी ने मारवाड़ में अपना राज्य स्थापित किया। उनके तीन पुत्र थे, आस्तानजी, सोनिगजी और उज्जी (उदजी)। आस्तानजी तो मारवाड़ के राजा हुए और सोनिगजी व उदजी गुजरात की तरफ चले गए। वहाँ का राजा भीमदेव (द्वितीय) उनका मामा था। उसने कड़ी परगने में सामेतरा ग्राम अपने भानजों को जागीर में दिया। उदजी का विवाह द्वारका के पास चावडों के एक ठिकाने में हुआ था। कुछ समय बाद इस उदजी ने वहाँ के भोजराज चावड़ा को मारकर द्वारका पर अधिकार कर लिया। इसी उदजी को लेखक ने उम्मेदसिंह लिखा है। इस प्रसंग में देखें—
बॉम्बे गज़ेटियर, ८; पृ० ५९१।

में मण्डप के दक्षिण-पश्चिमी कोने में विराजमान है। बलदेव को दानवों से युद्ध करके पाताल से ऊपर आता हुआ बताया गया है। संगमनारायग के मन्दिर में एक वृद्ध पुजारी बैरागी (Byragi) कहलाता था; कहते हैं, वह उस समय अपनी आयु के सौवें वर्ष में चल रहा था। उसने जीवन में खूब यात्राएं की थीं, विशेषतः वैष्णव-तीर्थों की—भारत में और बाहर भी; परन्तु, उससे कुछ भी जानकारी प्राप्त करना मेरे लिए कठिन था। समुद्री डाकुओं के दो जहाजों के तल भी कम आश्चर्य-कारक और मनोरञ्जक नहीं थे, जो खींच कर तट से ऊपर सूखे में संगमराय के मन्दिर के पास ही डाले हुए थे। इसी देवता के झण्डे के नीचे और संरक्षण में वे डाकू इन समुद्रों में खोज किया करते थे।

मेरी शिलालेखों की खोज यहाँ निष्फल गई क्योंकि जो दो लेख मुझे मिले वे जानबूझ कर इस प्रकार विकृत किये गए थे कि कुछ भी पढ़ने में नहीं आ सकता था; और यद्यपि सभी प्रान्तों से समय-समय पर आए हुए भक्तों और यात्रियों ने अपने नाम लिख-लिख कर दीवारों को रंग दिया था, परन्तु इन साधारण से साधारण अभिलेखों (Records) में भी मुझे कोई ऐसी बात नहीं मिली कि जिसका मैं अपने संस्मरणों में उल्लेख कर सकूं।

'चोरों और एकता' के देवता के मन्दिर के पुजारी अपनी वंश-परम्परा के विषय में भी अत्यन्त अनभिज्ञ हैं और 'द्वारका-माहात्म्य' एक नीरस शास्त्रीय गद्यग्रन्थ[1] है जिसमें असत्य एवं अशुद्ध घटनाओं के अनावश्यक समावेश का भी कोई विचार नहीं किया गया है जैसा कि प्रायः ऐसे ग्रन्थों में होता ही है। ये पण्डे यात्रियों की भुजाओं पर देवता की छाप लगाने में बड़े पक्के हैं और इनका प्रकार प्रायः वही है जो हमारे नाविक प्रयोग में लाते हैं। यह क्रिया 'संगम' पर सम्पन्न होती है; पहले सिर के बाल मुंडवा कर जल के देवता [वरुण] को समर्पण कर दिए जाते हैं और नकद भेंट चढ़ा दी जाती है, तब वे इस धार्मिक चिह्न को ग्रहण करके स्वदेश लौट सकते हैं।

इन लोगों का कहना है कि यह मन्दिर, त्रिविक्रम-बुद्ध के प्राचीन मन्दिर पर, ओखामण्डल के राजा वज्रनाभ ने बनवाया था जो कृष्ण का पोता था, और जिसका वंश, महान् अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध (महाभारत) के बाद यादवों के सिन्धु के पश्चिम में यत्र-तत्र बिखर जाने तक एक शताब्दी-पर्यन्त चलता रहा था।

---

[1] 'द्वारका-माहात्म्य' स्कन्दपुराणान्तर्गत प्रह्लादसंहिता कहलाता है—अतः प्रवाहयुक्त संस्कृतपद्य में इसकी सरस रचना हुई है। जान पड़ता है लेखक को इसी का कोई गद्यानुवाद मिला होगा।

स्वयं वज्रनाभ भी अन्त समय में उत्तर के पर्वतों में भद्री (Bhadri) (बदरिकाश्रम ?) चला गया था और उसके वंशज उस प्रदेश के निवासियों में (जो दानू [दानव] कहलाते हैं) अन्तर्जातीय विवाह करके यहाँ जगत्कूट पर लौट आए तथा उन्होंने शंखोद्वार पर अधिकार कर लिया। वहाँ उन्होंने कलोर-कोट (Kulore Kote) खड़ा कर लिया, जहाँ वे एक हजार वर्षों तक राज्य करते रहे। इसी अवसर पर रईब और सईब (Raib and Saib) नाम के दो यवन प्रकट हुए, जिन्होंने इन सब को मार डाला और एक हज़ार पाँच सौ वर्षों तक यहाँ अपना अधिकार उस समय तक बनाए रखा जब मोहम्मद धूंकरा Mohomed Dhoonkra) जिसके पास विक्रमादित्य की चमत्कारिक अंगूठी थी, दिल्ली से आया; गोर और गजनी पर तो उसने पहले ही अधिकार कर लिया था। मोहम्मद ने कलोर-कोट और ओखा पर अधिकार कर लिया तथा बेलम (Belem)[1] जाति के रईब-सईब के वंशजों को मार कर समाप्त कर दिया। फिर पूर्व की ओर से कनकसेन चावड़ा आया और उसके वंशज बहुत सी पीढियों तक राज्य करते रहे। इसके अनन्तर मारवाड़ से उम्मेदसिंह राठौड़ आया जिसने चावड़ों का वध करके 'कूंट' पर कब्जा कर लिया तभी से यह वाडेल (Wadail) या वाधेल (Badhail) कहलाने लगा क्योंकि यहाँ पर 'वध' किया गया था[2]। वेट अथवा द्वीप में राजधानी बनी रही और इन राठौड़ों के वंशज यहाँ के पूर्व निवासियों में अन्तर्जातीय विवाहादि करके बाघेर (Wagairs) कहलाने लगे तथा साहसिक समुद्री लूटपाट के लिए प्रसिद्ध हुए। सामला-मानिक वागेर के समय में औरंगजेब मन्दिरों को तोड़ता-फोड़ता इधर आया और इसी अवसर पर द्वारका का शिखर भी उतार कर फेंक दिया गया;

---

[1] परम्परागत कथाओं में कहा जाता है कि बेलम जाति और इसके मुखिया गोरी बेलम ने ही पालीताना का विनाश किया।

[2] ओखामण्डल के इतिहास में वर्णित उत्तरवृत्त की राठोड़ों के इतिहास से सम्पुष्टि होती है। राठोड़ों के इतिहास में लिखा है कि सीहाजी ने मारवाड़ में अपना राज्य स्थापित किया। उनके तीन पुत्र थे, आस्तानजी, सोनिगजी और उज्जी (उदजी)। आस्तानजी तो मारवाड़ के राजा हुए और सोनिगजी व उदजी गुजरात की तरफ चले गए। वहाँ का राजा भीमदेव (द्वितीय) उनका मामा था। उसने कड़ी परगने में सामेतरा ग्राम अपने भानजों को जागीर में दिया। उदजी का विवाह द्वारका के पास चावडों के एक ठिकाने में हुआ था। कुछ समय बाद इस उदजी ने वहाँ के भोजराज चावड़ा को मारकर द्वारका पर अधिकार कर लिया। इसी उदजी को लेखक ने उम्मेदसिंह लिखा है। इस प्रसंग में देखें—बॉम्बे गज़ेटियर, ८; पृ० ५९१।

परन्तु, सामला रणछोड़ की प्रतिमा को पहले ही बेट में ले गया जहाँ वह अब तक मौजूद है। सामला मानिक के वंशजों का संवत् १८७६ (१८२० ई०) तक ओखा की भूमि पर अधिकार बना रहा और वे अपनी समुद्री प्रवृत्तियों को चलाते रहे, परन्तु उसी समय मल्लू मानिक (Mulloo Manik) के अत्याचारों ने अंग्रेजों को बदला लेने के लिए सन्नद्ध कर दिया।

तो यह है उस कथा का सारांश जिससे हिन्दुओं के 'जगत्कूट' में कृष्ण की स्थापना, उसके वंशजों का यवनों अथवा ग्रीकों द्वारा निष्कासन, मोहम्मद (बिन कासिम ?) का आक्रमण और अन्त में मेरे मित्र और स्कूल के साथी ऑनरेबुल कर्नल लिंकन स्टैनहोप (Hon. Colonel Lincoln Stanhope) की अध्यक्षता में सेना द्वारा संगमराय के समुद्री लुटेरों के सरदार मल्लू मानिक के निधन के साथ-साथ उनके समूलोन्मूलन तक का सम्बन्ध है।

असुरों और यवनों बेलम राजाओं, जिनका, मोहम्मद या महमूद ने सफाया कर दिया और अंत में चावड़ों और राठौड़ों की मन्द प्राचीन कथाओं पर आधार खड़ा करना समय को बिगाड़ना मात्र है; परन्तु, अन्तिम तीन घटनाएं ऐतिहासिक तथ्यों से सम्पुष्ट हैं और एक के बाद एक तिथिक्रम से सम्बद्ध हैं। बेलम (जाति) के विषय में हमें पालीताना के विध्वंस से सम्बद्ध गाथाओं पर आधारित सूचना मिल चुकी है और हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय यवनों अथवा ग्रीकों ने अपोलोडोटस और मिनान्डर की अध्यक्षता में इन 'सुरोई' क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की थी, वह समय भी इन गाथाओं के अनुसार कोई बहुत लम्बा-चौड़ा नहीं है। उनके पूर्वज दनुज (danoos) अथवा असुर असीरियन होंगे—इस बात से इन सूर्य-पूजकों के प्रायद्वीप के नाम के अतिरिक्त यहां के असाधारण शिलालेखों का भी विवरण विदित हो जायगा।

प्रकरण २०

बीरावाला (Beerwalla–बेरावल ?)—आरमरा (Aramara), जूनी द्वारका; गोरेजा (गुरेजा ?); यवनों की मजारें; समुद्री डाकुओं के पालिए (स्मारक); बेट अथवा शंखो-द्वार; कृष्ण-कथा; बेट के शङ्ख; राजपूतों के रणवाद्य शंख; समुद्री लुटेरों का दुर्ग; हिन्दू अपोलो [विष्णु] के मन्दिर; राजपूत कवयित्री मीरां बाई; समुद्री राजाओं के ऐतिहासिक लेख; समुद्री दस्युओं की सचाई; नाविक धावों की सीमा।

दिसम्बर ३०वीं व ३१वीं—आरमरा और बेट; अट्ठारह मील तक हमने खाड़ी के किनारे-किनारे एक सुन्दर सड़क पर यात्रा की जो परकोटा वाले शहर बेरावल और कच्छगढ़ के छोटे से किले में होकर निकलती है। आरमरा का प्राचीन और आकर्षक कस्बा समुद्र द्वारा बेट से पृथक् हो गया है परन्तु, यह भूमि बिलकुल बेकार पड़ी थी जिसमें आज प्रातःकाल प्राकृतिक वनस्पति के रूप में केवल थूवर के ही दर्शन हो सके। कुछ भैंसों के झुण्ड, जिनको रैवारी चरा रहे थे, झाड़ियों में मुंह मार रहे थे, जो उनका मोटापा बनाए रखने के लिए पर्याप्त थीं—बस, यही जीवित प्राणियों के चिह्न हम वहाँ पर देख पाए। सदियों पुरानी समुद्री लूटपाट की आदत ने उनकी भूमि में बंजड़ होने का अवगुण ला दिया था; फिर भी, हमें परिश्रमी लोहरा भाटी मिले, जिनसे किसी भी ऐसे स्थान पर भेंट होना स्वाभाविक है, जहाँ धन पैदा करने की सम्भावना हो। ये लोग खारवा नाविकों और बहु-संख्यक जाति के समुद्री लुटेरों वाघेरों अथवा मकवाणों में खूब घुल-मिल गए हैं। आरमरा का पटेल (Patel) अब भी अपने शुद्ध राठोड़ रक्त का अभिमान करता है और, यदि यह सच है तो, उसे अपने वंश का गर्व होना भी चाहिए। आसपास के कतिपय स्थलों के आधार पर यह ठीक जान पड़ता है कि आरमरा ही मूल अथवा प्राचीन द्वारका है। इसकी अपनी आकृति और आसपास के भग्न देवालय इस अनुमान की प्रबल साक्षी दे रहे हैं। बड़े मन्दिर की भाँति यहाँ भी यात्रियों के शरीर पर कृष्ण की छाप लगाई जाती है, परन्तु यहाँ ब्राह्मण के स्थान पर चारण यह छाप भक्तों के देह पर अंकित करता है; भेंट के ग्यारह रुपये देने पड़ते हैं; त्यागी और वैरागी भी इससे मुक्त नहीं हैं।

आरमरा के आसपास और भी बहुत सी आकर्षण की वस्तुएं हैं, जिनमें कुछ मन्दिर भी हैं, परन्तु उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिस पर मुसलमानों के

दुर्व्यवहार की छाप मौजूद न हो। कृष्ण के सहस्रनामों में से एक 'धन के पर्वत के स्वामी' गोरधननाथ[1] के मन्दिर में तो उल्लुओं ने एक उपनिवेश ही कायम कर लिया है। गोरेजा या गोरीचा (गुरेचा ?) में होकर हम सवेरे ही निकले थे। ये लोग इसको कच्छ गज़नी (Cacha Gazini) कहते हैं। यहाँ हमने दो प्रसिद्ध यवनों की मज़ारें देखीं, जिनके नाम अस्सा और पुर्रा (Assah and Purra) अब भी विचित्र कथाओं में प्रचलित हैं। ये मज़ारें लम्बाई में बीस फीट से अधिक हैं और इनकी चौड़ाई भी इसी अनुपात से है; परन्तु, आरमरा में ही पाँच और मज़ारें बताई जाती हैं जो छत्तीस-छत्तीस हाथ लम्बी और छः छः हाथ चौड़ी हैं और इस बात का सूचन करती हैं कि पहले इस 'जगत्कूट' में जो असुर या यवन रहते थे वे वास्तव में दैत्याकार होते थे। बर्कहार्ड (Burkhardt) ने फिलस्तीन में नेबी (नबी ?) ओशा (Neby Osha) या पैग़म्बर होसी आ (?) की मज़ार का वर्णन करते हुए कहा है, 'यह एक तावूत की शकल में है, छत्तीस फीट लम्बी, तीन फीट चौड़ी और साढ़े तीन फीट ऊँची; यह तुर्कों के मतानुसार बनाई गई है, जो यह मानते थे कि उनके सभी पूर्वज, मुख्यतः मोहम्मद से पहले के पैग़म्बर दैत्याकार थे।' आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है कि सीओलो-सीरिया (Coelo Syria) में नोहा (नूह) की मज़ार तो इनसे भी बड़ी है। यदि ये आरमरा के असुर आरमीयन (Areamean) जाति के थे, जो प्राचीन असीरिया से आए थे, तो वे इन सब बातों में अपने पूर्वजों के रिवाज़ों का ही अनुसरण करते रहे होंगे।

अब हम आरमरा के दैत्यों की कब्रों को छोड़ कर अधिक आकर्षक स्मारकों अर्थात् जल-दस्युओं के पालियों की ओर चलें, जो किसी भ्रामक भाषा में नहीं बोलते यद्यपि उन पर गूढाक्षरों के नमूने अंकित हैं; परन्तु कोई भी उनसे दोहरा अर्थ नहीं निकाल सकेगा क्योंकि टूटे-फूटे चबूतरों और भग्न छतरियों के पत्थरों में से जो दो बचे हुए हैं उन पर स्पष्ट उभरे हुए अक्षरों में 'युद्ध-रत श्रीकमराय के जहाज' ये शब्द कोरणी से अंकित हैं। इनमें से एक पालिया तीन मस्तूल की जहाज-जैसा है जिसमें तोपों के लिए छिद्र बने हुए हैं; दूसरा अधिक पुराना और प्राचीन ढंग का जहाज है और उसमें एक ही मस्तूल है तथा युद्ध-

---

[1] यह गोवर्धन का संक्षिप्त रूप है। इस नाम का एक पर्वत शौरसेन प्रान्त में जहाँ कृष्ण का जन्मस्थान है। यही पर्वत उनके प्रथम चमत्कार का साक्षी है। अब भी वहां लाखों यात्री जाते हैं और प्रतिवर्ष दूध से प्रतिमा का अभिषेक करते हैं।

यहाँ 'गोवर्धन' का अर्थ लेखक ने 'धन के पर्वत का स्वामी' किया है जो स्पष्ट ही असंगत है।

सम्बन्धी आधुनिक आविष्कारों में से कोई भी चीज नहीं दिखाई गई है। ये दोनों ही जहाज पीछा करने की तैयारी में दिखाए गए हैं। एक जल-दस्यु नाविक ढाल और तलवार लिए चद्दर में से झपट कर निकलता हुआ बताया गया है और दूसरा अपनी नाव के अग्र भाग से उठता हुआ; इन्हें देख कर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये उन वीरों की प्रतिकृतियाँ हैं, जो यहाँ समाधिस्थ हैं। दूसरा पालिया 'राना रायमल' का अभिलिखित स्मारक है "जिसने संवत् १६२८ (१५७२ ई०) में राजा का आक्रमण होने पर 'साका' किया था; उसके इक्कीस सगे-सम्बन्धी भी साथ में मारे गये और जेठवानो सती हुई।" इक्कीसों ही शहीदों के पालिये यहाँ पर बने हुए हैं। एक और पालिया था जो तिथिक्रम में सब से बाद का और इन्हीं आरमरा के जल-दस्युओं की स्मृति में बनाया गया था तथा पर्य्याप्त सूचना लिए हुए था "संवत् १८१६ (१७६३ ई०) में जदरू (Jadroo) खारवा समुद्र में मारा गया।' खारवा हिन्दू नाविकों का सुपरिचित नाम है।

पहली जनवरी, १८२३—जल-दस्युओं के द्वीप अथवा, जैसा कि अधिक बल देकर कहते हैं, बेट या 'द्वीप' को पार किया—परन्तु हिन्दुओं के शास्त्र में तो इसे शंखोद्वार अथवा 'शंखों का दरवाज़ा' कहते हैं और यह अत्यन्त पवित्र तीर्थों में गिना जाता है। यहीं पर कृष्ण या कन्हैया ने पीथियन 'अपोलो' की भूमिका सम्पन्न की थी और अपने शत्रु जल-नाग तक्षक का वध कर के पवित्र ग्रंथों का उद्धार किया था जिनको चुरा कर उसने उस महाशंख में छुपा दिया था। इसी कारण इस द्वीप का यह नाम पड़ा है। कन्हैया की पूरी कथा आलंकारिक भाषा में लिखी गई है, परन्तु वह न तो अरुचिकर है और न ऐसी ही है कि उसकी ग्रन्थियाँ न सुलझाई जा सकें। इन लोगों के पुराणों में इससे सरल उदाहरणात्मक अंश दूसरा नहीं है, जो उस समय के वैष्णवों के नये मत और उससे भी प्राचीन बुद्धमत को मानने वाले लोगों के साम्प्रदायिक विवादों से सन्दर्भित है। कृष्ण के धर्मानुयायियों का प्रतीक उनका वाहन गरुड़ बताया गया है और उनके धूर्त प्रतिपक्षी बौद्धों को तक्षक नाग अथवा सर्प से चिह्नित किया गया है। यह नाम उन्होंने उत्तर से निकली हुई जातियों को दिया है, जो समय-समय पर भारत पर आक्रमण करती रही हैं; इन्हीं में से तकसिली लोग (Taksiles) भी थे। अलैक्जैण्डर का मित्र (जिसकी राजधानी का स्थान अब भी बाबर के संस्मरणों में सुरक्षित है) विक्रम के शत्रु तक्षक शालिवाहन के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यादव-राजकुमार कृष्ण की कथा में (जिन्होंने स्वयं बुद्ध त्रिविक्रम के मत को छोड़ कर विष्णु का मत ग्रहण किया था, भले ही वे उसके

प्रवर्त्तक न हों) हिन्दुओं के इस दूरस्थ स्थल पर उनके द्वारा नाग-शत्रु से ग्रंथ-प्राप्ति और यमुना में उसके साथ प्रथम युद्ध से हमको उसी साम्प्रदायिक संघर्ष की सूचना मिलती है, जिसमें यहाँ आकर उन्हें उन लोगों को भारत के उत्तर में से तथा इस ओर से निकाल देने में सफलता प्राप्त हुई थी; इसी के अनुसार उन्हें मगध के नास्तिक राजा जरासंध से पराजित होने के कारण 'रणछोड़' नाम प्राप्त हुआ तथा अन्त में इन धार्मिक एवं गृह-युद्धों के परिणामस्वरूप ही उनकी मृत्यु हुई और सारा यदुवंश तितर-बितर हो गया जिसके वे मुख्य आधार थे।[1]

शङ्खोद्वार अब भी शंखों के लिए प्रसिद्ध है। एक किनारा, जो छिछले पानी के कारण अनावृत सा हो गया है, जहाज ठहरने के स्थान के समीप ही है और यहीं पर ये शंख पाये जाते हैं। परन्तु, इस कलिकाल में 'रणशङ्ख' जिसके निनाद से रण का आरम्भ घोषित किया जाता था, अब किसी राजपूत के हाथों की शोभा नहीं बढ़ाता; अब तो इसका प्रयोग ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गया है, जो इसके द्वारा 'प्रात:काल देवताओं को जगाते हैं' अथवा लोगों को उनके भोग लगाने का समय सूचित करते हैं; अथवा इसका और भी महत्वपूर्ण उपयोग हिन्दू-सुन्दरियों की कलाइयों के लिए चूड़ियाँ बनाने में किया जाता है। शंखोद्वार के

---

१ इन यादवों के विषय में मेरा विचार है कि ये सब वास्तव में बौद्ध थे और इण्डो-गेटिक निकास के थे जैसा कि इनकी बहुपतित्व की एक ही रीति से ज्ञात हो जाता है; और जब हमें सर्वोच्च जैन विद्वान् से यह सूचना मिलती है कि बाईसवां बुद्ध नेमिनाथ केवल यदु ही नहीं था वरन् कृष्ण का निकट-सम्बन्धी भी था तो कोई संशय नहीं रह जाता। और, जैसा कि मैंने पहले कहा है अब तो यह घोषणा करने का मेरा पक्का विचार है कि ये यदु ही 'यति' अथवा जक्सार्तीस (Jaxartes) के जेत (Gates) हैं जिनमें, चीनी अधिकारी विद्वान् प्रोफेसर नुइमैन (Nueman) के अनुसार क्राइस्ट से आठ सौ वर्ष पूर्व एक शामनीयन (Shamnean) सन्त उत्पन्न हुआ था। दोनों ही नेमिनाथ और शामनाथ का व्यक्तिगत नाम श्याम वर्ण के कारण पड़ा है—प्रथम को प्रायः अरिष्टनेमि अर्थात् श्यामनेमि और दूसरे को श्याम अथवा कृष्ण कहते हैं, जिसका अर्थ श्याम या काले रंग का होता है, और जब यह केवल परम्परागत कथा ही नहीं है अपितु द्वारका में कृष्ण के मन्दिर के भीतर बुद्ध का मन्दिर भी सुरक्षित है तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि देवत्व-प्राप्ति से पूर्व कृष्ण का धर्म बौद्ध धर्म था।

महाभारत का युद्ध बुद्ध से बहुत पूर्व हुआ था, यह सर्वमान्य है। फिर श्रीकृष्ण का बौद्ध-मतानुयायी होना कैसे संभव है? लेखक 'बुद्धत्रिविक्रम' नाम से भ्रम में पड़ गये जान पड़ते हैं। त्रिविक्रम विष्णु का नाम है और बुध ग्रह का। इन दोनों ही देवताओं के मन्दिर द्वारका में हैं।

शंखों का सब से बड़ा ग्राहक बंगाल है। मुझे याद है कि प्राचीन नगर ढाका में एक पूरा बाजार शंख काटने वालों का है और ये सभी शंख बेट से आते हैं। गायकवाड़ सरकार के (समुद्री) किनारे खेतों की तरह शंखों से भरे रहते हैं, जिनको बम्बई का एक पारसी व्यापारी खारवा नाविकों से बीस 'कौड़ी' (पांच से छः रुपये) प्रति सैंकड़ा के भाव से ठेके पर ले लेता है और वहां से जहाज में भर कर बंगाल भेज देता है। अन्तिम लदान दो ही दिन पहले हुआ था और आधी दर्जन में से मुझे केवल एक ही शंख ऐसा मिला, जो प्राचीन काल के वीरों द्वारा काम में लेने योग्य हो सकता था। राजपूतों के वीर-काव्यों में 'शंखनाद' का निरन्तर उल्लेख आता है और यह इन लोगों में उसी प्रकार प्रचलित है जैसे हमारे यहाँ पश्चिमी योद्धाओं में पीतल का बाजा बजाना। दो मुख्य शंखों का उल्लेख 'महाभारत' (Great-war) में आता है अर्थात् स्वयं कृष्ण का शंख 'पाञ्चजन्य' (Panchaen) जो इतना भारी था कि उसको वे ही उठा सकते थे और दूसरा उनके मित्र तथा बहनोई (Brother-in-arms) अर्जुन का, जो उलट छिद्र के कारण दक्षिणावर्त (शंख) कहलाता था[1] और जो उसके प्रतिस्पर्द्धी कौरवों के सेनापति भीष्म को विजय-चिह्न के रूप में प्राप्त हुआ था। इनमें से एक प्रकार का शंख 'अमोलक' (Amuluc) भी कहलाता है, जिसका 'कोई मूल्य नहीं होता'—ऐसे एकमात्र शंख का अणहिलवाड़ा के बल्हरा राजा सिद्धराज के पास होने का उल्लेख मिलता है और, कहते हैं कि वह अब रूपनगर के सोलंकी सरदार के पास है, जो मेवाड़ के दूसरी श्रेणी के सामन्तों में है। यद्यपि मैंने उनसे उनकी गौरवपूर्ण वंश-परम्परा के विषय में कई बार बातें की हैं, परन्तु उनकी इस पैतृक चल-सम्पत्ति के बारे में मुझे कभी ख्याल ही नहीं आया।

पहले कह चुका हूँ कि जल-दस्युओं का यह दुर्ग पहले 'कलोर-कोट' कहलाता था। द्वीप के पश्चिम की ओर स्थित यह किला पूर्ण और प्रभावशाली है; इसकी ऊँची-ऊँची सुदृढ़ छतरियों में लोहे की मजबूत तोपें बड़ी चतुराई से रखी हुई हैं जिनका सबसे छोटा और सुदृढ़ मुख समुद्र की ओर है। सौन्दर्य-प्रेमियों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि अन्तिम जल-दस्यु राजा का इस किले के ध्वंसावशेषों में दब कर नष्ट हो जाने का विचार पूरा न हो सका; और अब यह चिरकाल तक उस उत्पात के स्मारक-स्वरूप खड़ा रहेगा, जो अत्यन्त प्राचीनकाल से [अब तक] लाल समुद्र के प्रवेश-द्वार (शंखोद्वार) से कच्छ की खाड़ी तक फैला

---

[1] अर्जुन के शंख का नाम 'देवदत्त' था।

प्रवर्त्तक न हों) हिन्दुओं के इस दूरस्थ स्थल पर उनके द्वारा नाग-शत्रु से ग्रंथ-प्राप्ति और यमुना में उसके साथ प्रथम युद्ध से हमको उसी साम्प्रदायिक संघर्ष की सूचना मिलती है, जिसमें यहाँ आकर उन्हें उन लोगों को भारत के उत्तर में से तथा इस ओर से निकाल देने में सफलता प्राप्त हुई थी; इसी के अनुसार उन्हें मगध के नास्तिक राजा जरासंध से पराजित होने के कारण 'रणछोड़' नाम प्राप्त हुआ तथा अन्त में इन धार्मिक एवं गृह-युद्धों के परिणामस्वरूप ही उनकी मृत्यु हुई और सारा यदुवंश तितर-बितर हो गया जिसके वे मुख्य आधार थे।[1]

शङ्खोद्वार अब भी शंखों के लिए प्रसिद्ध है। एक किनारा, जो छिछले पानी के कारण अनावृत सा हो गया है, जहाज ठहरने के स्थान के समीप ही है और यहीं पर ये शंख पाये जाते हैं। परन्तु, इस कलिकाल में 'रणशङ्ख' जिसके निनाद से रण का आरम्भ घोषित किया जाता था, अब किसी राजपूत के हाथों की शोभा नहीं बढ़ाता; अब तो इसका प्रयोग ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गया है, जो इसके द्वारा 'प्रातःकाल देवताओं को जगाते हैं' अथवा लोगों को उनके भोग लगाने का समय सूचित करते हैं; अथवा इसका और भी महत्वपूर्ण उपयोग हिन्दू-सुन्दरियों की कलाइयों के लिए चूड़ियाँ बनाने में किया जाता है। शंखोद्वार के

---

१ इन यादवों के विषय में मेरा विचार है कि ये सब वास्तव में बौद्ध थे और इण्डो-गेटिक निकास के थे जैसा कि इनकी बहुपतित्व की एक ही रीति से ज्ञात हो जाता है; और जब हमें सर्वोच्च जैन विद्वान् से यह सूचना मिलती है कि बाईसवां बुद्ध नेमिनाथ केवल यदु ही नहीं था वरन् कृष्ण का निकट-सम्बन्धी भी था तो कोई संशय नहीं रह जाता। और, जैसा कि मैंने पहले कहा है अब तो यह घोषणा करने का मेरा पक्का विचार है कि ये यदु ही 'यति' अथवा जक्सार्तीस (Jaxartes) के जेत (Gates) हैं जिनमें, चीनी अधिकारी विद्वान् प्रोफेसर नुइमैन (Nueman) के अनुसार क्राइस्ट से आठ सौ वर्ष पूर्व एक शामनीयन (Shamnean) सन्त उत्पन्न हुआ था। दोनों ही नेमिनाथ और शामनाथ का व्यक्तिगत नाम श्याम वर्ण के कारण पड़ा है—प्रथम को प्रायः अरिष्टनेमि अर्थात् श्यामनेमि और दूसरे को श्याम अथवा कृष्ण कहते हैं, जिसका अर्थ श्याम या काले रंग का होता है, और जब यह केवल परम्परागत कथा ही नहीं है अपितु द्वारका में कृष्ण के मन्दिर के भीतर बुद्ध का मन्दिर भी सुरक्षित है तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि देवत्व-प्राप्ति से पूर्व कृष्ण का धर्म बौद्ध धर्म था।

महाभारत का युद्ध बुद्ध से बहुत पूर्व हुआ था, यह सर्वमान्य है। फिर श्रीकृष्ण का बौद्ध-मतानुयायी होना कैसे संभव है? लेखक 'बुद्धत्रिविक्रम' नाम से भ्रम में पड़ गये जान पड़ते हैं। त्रिविक्रम विष्णु का नाम है और बुध ग्रह का इन दोनों ही देवताओं के मन्दिर द्वारका में हैं।

शंखों का सब से बड़ा ग्राहक बंगाल है। मुझे याद है कि प्राचीन नगर ढाका में एक पूरा बाजार शंख काटने वालों का है और ये सभी शंख बेट से आते हैं। गायकवाड़ सरकार के (समुद्री) किनारे खेतों की तरह शंखों से भरे रहते हैं, जिनको बम्बई का एक पारसी व्यापारी खारवा नाविकों से बीस 'कौड़ी' (पांच से छः रुपये) प्रति सैंकड़ा के भाव से ठेके पर ले लेता है और वहां से जहाज में भर कर बंगाल भेज देता है। अन्तिम लदान दो ही दिन पहले हुआ था और आधी दर्जन में से मुझे केवल एक ही शंख ऐसा मिला, जो प्राचीन काल के वीरों द्वारा काम में लेने योग्य हो सकता था। राजपूतों के वीर-काव्यों में 'शंखनाद' का निरन्तर उल्लेख आता है और यह इन लोगों में उसी प्रकार प्रचलित है जैसे हमारे यहाँ पश्चिमी योद्धाओं में पीतल का बाजा बजाना। दो मुख्य शंखों का उल्लेख 'महाभारत' (Great-war) में आता है अर्थात् स्वयं कृष्ण का शंख 'पाञ्चजन्य' (Panchaen) जो इतना भारी था कि उसको वे ही उठा सकते थे और दूसरा उनके मित्र तथा बहनोई (Brother-in-arms) अर्जुन का, जो उलट छिद्र के कारण दक्षिणावर्त (शंख) कहलाता था[1] और जो उसके प्रतिस्पर्द्धी कौरवों के सेनापति भीष्म को विजय-चिह्न के रूप में प्राप्त हुआ था। इनमें से एक प्रकार का शंख 'अमोलक' (Amuluc) भी कहलाता है, जिसका 'कोई मूल्य नहीं होता'—ऐसे एकमात्र शंख का अणहिलवाड़ा के बल्हरा राजा सिद्धराज के पास होने का उल्लेख मिलता है और, कहते हैं कि वह अब रूपनगर के सोलंकी सरदार के पास है, जो मेवाड़ के दूसरी श्रेणी के सामन्तों में है। यद्यपि मैंने उनसे उनकी गौरवपूर्ण वंश-परम्परा के विषय में कई बार बातें की हैं, परन्तु उनकी इस पैतृक चल-सम्पत्ति के बारे में मुझे कभी ख्याल ही नहीं आया।

पहले कह चुका हूँ कि जल-दस्युओं का यह दुर्ग पहले 'कलोर-कोट' कहलाता था। द्वीप के पश्चिम की ओर स्थित यह किला पूर्ण और प्रभावशाली है; इसकी ऊँची-ऊँची सुदृढ़ छतरियों में लोहे की मजबूत तोपें बड़ी चतुराई से रखी हुई हैं जिनका सबसे छोटा और सुदृढ़ मुख समुद्र की ओर है। सौन्दर्य-प्रेमियों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि अन्तिम जल-दस्यु राजा का इस किले के ध्वंसावशेषों में दब कर नष्ट हो जाने का विचार पूरा न हो सका; और अब यह चिरकाल तक उस उत्पात के स्मारक-स्वरूप खड़ा रहेगा, जो अत्यन्त प्राचीनकाल से [अब तक] लाल समुद्र के प्रवेश-द्वार (शंखोद्धार) से कच्छ की खाड़ी तक फैला

---

[1] अर्जुन के शंख का नाम 'देवदत्त' था।

हुआ था और जिसका सफ़ाया हो जाना पूर्वीय देशों में बृटिश सत्ता से प्राप्त लाभों में नगण्य नहीं है।

जिस प्रकार साइरो-फोनीशियन (Syro Phoenician) और कैल्टिक लोगों में सूर्य-देवता बेलिनस (Belenus) अथवा अपोलो (Apollo) नाविकों के संरक्षक थे, उसी प्रकार लारिस और सौराष्ट्र के समुद्री-राजाओं ने इस भूमि में बुद्ध-त्रिविक्रम से परिवर्तित कर के इनके देवत्व और पूजा पर एकाधिकार जमा लिया था; यह भी कम विचित्र बात नहीं है कि हिन्दुओं और पौराणिक ग्रीकों में अपोलो (विष्णु) और मरकरी (बुध) में समान रूप से गुण-विनिमय सम्पन्न हुआ। अपोलो के तीरों को, जिनके प्रभाव से वह समुद्र की तूफानी लहरों पर शासन किया करता था, यहाँ उसकी पुजारिन (Prietess) से कैल्टिक नाविकों ने खरीद लिए थे, जो अपने सम्भावित लाभ का एक अंश घूंस के रूप में देवता को चढ़ाते थे; इस बात का विचार नहीं था कि उनके मनोभाव नियमानुकूल थे अथवा नियम-विरुद्ध। इसके परिणाम-स्वरूप हिन्दुओं के इस देवता के जितने मन्दिर जगतकूंट में हैं उतने अन्य किसी क्षेत्र में नहीं हैं (ये मन्दिर उतनी ही संख्या में हैं जितने उसके रूप हैं)। इनमें सब से प्राचीन शंखनारायण का मन्दिर है और देखा जाय तो यही सब से सही और उपयुक्त पूजा का पात्र है, परन्तु [विष्णु के] अन्तिम रूप 'रणछोड़' ने इसको दबा लिया है। रणछोड़ का वर्तमान मन्दिर डेरा (?) (Decah) अथवा तम्बू के आकार का है और अत्यन्त आधुनिक है क्योंकि इसको लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले जाम ने औरंगजेब के आक्रमण के समय बनवाया था; परन्तु, इस बीच में यह प्रतिमा कोई एक दर्जन बार चोरी चली गई या हटा दी गई और पुनः प्राप्त कर ली गई। भक्तों द्वारा उसके पार्थिव शरीर के प्रति ही अधिक श्रद्धा व्यक्त करने वाली यह बात भी कम विचित्र नहीं है कि जहाँ-जहाँ उस [कृष्ण] का मन्दिर बनाया गया है वहाँ-वहाँ उसकी माता मथुरा के यादव-राजा वसुदेव की पत्नी देवकी का भी एक मन्दिर निर्मित हुआ है। जब मैं मन्दिर में दर्शन करने गया तो 'देवता शयन कर रहे थे' और क्योंकि सामने के तट पर पहुँचने के लिए मेरा जहाज तैयार खड़ा था इसलिए 'अवकाश' होने तक ठहरने का निमन्त्रण मैं स्वीकार नहीं कर सका।

परन्तु, जो देवालय मेरे लिए सब से अधिक आकर्षण की वस्तु सिद्ध हुआ वह था मेरी भूमि मेवाड़ की रानी लाखा राना की स्त्री[1] सुप्रसिद्ध मीरां-

---

[1] मीरांबाई के पति का नाम भोजराज था, जो महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) का द्वितीय पुत्र था और पिता के जीवन-काल में ही कालवश हो गया था। महाराणा संग्रामसिंह का

बाई का बनवाया हुआ सौरसेन के गोपाल देवता का मन्दिर, जिसमें वह नौ[1] का प्रेमी अपने मूल स्वरूप में विराजमान था; और निःसन्देह यह राजपूत रानी उसकी सब से बड़ी भक्त थी। कहते हैं कि उसके कवित्वमय उद्‌गारों से किसी भी समकालीन भाट (कवि) की कविता बराबरी नहीं कर सकती थी। यह भी कल्पना की जाती है कि यदि गीत-गोविन्द या कन्हैया के विषय में लिखे गये गीतों को टीका की जाय तो ये भजन जयदेव की मूल कृति की टक्कर के सिद्ध होंगे। उसके और अन्य लोगों के बनाए भजन, जो उसके उत्कट भगवत्-प्रेम के विषय में अब तक प्रचलित हैं, इतने भावपूर्ण एवं वासनात्मक (Sapphi)[2] हैं कि सम्भवतः अपर गीत उसकी प्रसिद्धि के प्रतिस्पर्द्धी वंशानुगत गीत-पुत्रों के ईर्ष्यापूर्ण आविष्कार हों, जो किसी महान् कलंक का विषय बनने के लिए रचे गये हों। परन्तु, यह तथ्य प्रमाणित है कि उसने सब पद-प्रतिष्ठा छोड़ कर उन सभी तीर्थ-स्थानों की यात्रा में जीवन बिताया जहाँ मन्दिरों में विष्णु (Apollo) के विग्रह विराजमान थे और वह अपने देवता की मूर्ति के सामने रहस्यमय 'रासमण्डल' की एक स्वर्गीय अप्सरा के रूप में नृत्य किया करती थी इसलिए लोगों को बदनामी करने का कुछ कारण मिल जाता था। उसके पति और राजा ने भी उसके प्रति कभी कोई ईर्ष्या अथवा सन्देह व्यक्त नहीं किया यद्यपि एक बार ऐसे ही भक्ति के भावावेश में मुरलीधर ने सिंहासन से उतर कर अपनी भक्त का आलिंगन भी किया था—इन सब बातों से यह अनुमान किया जा सकता है कि (मीरां के प्रति सन्देह करने का) कोई उचित कारण नहीं था। यही नहीं, उसके पुत्र 'विक्रमाजीत[3]' ने भी, जिसने बादशाह हुमायूं का सामना किया था, अपनी माता के पवित्र भक्ति-भाव को ग्रहण किया और "नित्य-प्रति गो-हत्या से अपावन हुए व्रजमण्डल से देव-प्रतिमा को लाने के लिए अपना और अपने साथी एक सौ राजपूतों का सिर देने की प्रतिज्ञा की थी"

देहावसान वि० सं० १५८४ में हुआ था। महाराणा लाखा का समय वि० सं० १४३९ से १४५४ वि० सं० तक का है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मीरांबाई राना लाखा की स्त्री हो? क० टॉड ने इस विषय में प्रायः सभी जगह भूल की है। अन्यत्र उन्होंने मीरांबाई को महाराणा कुम्भा की रानी लिख दिया है जो सरासर अशुद्ध है। पता नहीं, उनके इस भ्रम का क्या कारण है और ऐसे परम खोजी होकर भी उन्होंने तथ्य को न ढूंढकर परस्पर विरोधी बातें कैसे लिख मारी हैं?

[1] आठ पटरानियाँ और नवीं मीरांबाई (?)

[2] सैप्फो (Sappho) एक ग्रीक कवयित्री थी जो बहुत ही वासनात्मक कविता लिखती थी—उसी के नाम पर ऐसी कविताओं के लिए यह विशेषण बना है।

[3] विक्रमादित्य मीरां बाई का देवर था जो महाराणा रत्नसिंह के बाद गद्दी पर बैठा था। उसका राज्यकाल १५३१ ई०, १५३५ ई० था।

इस प्रतिज्ञा को उसके वीर वंशज राणा राजसिंह ने धर्मान्ध ग्रौरंगजेब के समय में पूरी की।[1]

मुझे एक झाला-वंशीय बुद्धिमान् सरदार से मिल कर बड़ा सन्तोष हुआ जिसकी बहन बेट के अन्तिम जल-दस्यु-राजा को ब्याही थी। उसने अपनी वंशोत्पत्ति-सम्बन्धी विचित्र कथाएं ही नहीं कहीं वरन् 'वाधेलों' की उत्पत्ति के विषय में भी बहुत सी बातें बताईं, जिन्होंने पिछली सात शताब्दियों से 'मण्डल' अथवा ओखामण्डल पर अधिकार जमा रखा था। मुझे पवित्र 'कूंट' या जगत्-कूंट के एक वंश-भाट से भी मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसकी वंश-वही एवं राज-वंशावली में से मैंने कुछ पत्रों की नकलें कर ली थीं।

ओखामण्डल में बसने वाली इस जाति के प्रथम राजा का पिता उमेदसिंह राठौड़ था, जिसके पुत्र ने यहाँ के तत्कालीन अधिकारी चावड़ों का छल से 'वध' करके 'वाधेल' नाम प्राप्त किया था। आरमरा में चावड़ों की राजधानी थी और अब भी वही वाधेलों की 'तिलात' (Teelat) अथवा राजतिलक होने की भूमि है। झाला सरदार और वंश-भाट दोनों ही मुझे इस घटना की सही तिथि नहीं बता सके न उस समय से अब तक की पीढियां ही गिना सके; परन्तु, मारवाड़ के इतिहास से यह कठिनाई हल हो जाती है जिसमें लिखा है कि मरुस्थली अथवा महान् भारतीय रेगिस्तान में राज्य स्थापित करने वाले की एक शाखा ओखा में भी जा कर आबाद हो गई थी। अविवेकी राठौड़ ने चावड़ों का नाश करने में राजपूत की प्रथम भावना, 'भूमि प्राप्त करो' का ही पालन किया, परन्तु शीघ्र ही उसने और उसके परिश्रमी साथियों ने अपने पूर्ववर्ती चावड़ों की चाल अपना कर जीवन की नई धारा ग्रहण कर ली, जिनकी समुद्री लूट-पाट की आदतों के कारण, अणहिलवाड़ा के इतिहास के अनुसार, विक्रम की आठवीं शताब्दी में 'दीव' का नाश हुआ था।

प्रथम वाधेल से कुछ पीढ़ियों बाद एक राजा के समय में बेट के समुद्री राजाओं का उपनाम 'संगमधर' पड़ गया था। वह बहुत बड़ा कुख्यात जल-दस्यु था जो वर्षों तक समुद्र पर सपाटे मारता रहा; परन्तु, अंत में उसकी धृष्टता ने उसे कठिनाई में डाल दिया और वह बन्दी बना कर बादशाह के सामने पेश किया गया। उसकी आत्मा तैमूर [के वंशज] के सामने भी उसी प्रकार अदम्य

---

[1] इस प्रतिज्ञा के विषय में अधिक जानकारी के लिए 'ट्रांजेक्शन्स् ऑफ् दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, भा० २ में मेरा लेख देखिए।

इसी पुस्तक में पीछे पृ० १० की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

रही जिस प्रकार जहाज के तख्ते पर रहती थी; वे सब मिल कर भी उसे तख्त के सामने झुका न सके। अस्तु, इन उदारचेता बादशाहों की दयालुता का अनुभव करने वाला वह पहला ही व्यक्ति नहीं था। निदान, वह जल-दस्यु अपना सिर गँवाने के बजाय विशेष उपाधि प्राप्त करके बेट लौटा। बाद में उसने कच्छ के जाड़ेचा राव की पुत्री से विवाह किया और जेठवों के नगर वारासरा (Warrasura) के आक्रमण में मारा गया। संगमधर से तीन पीढ़ी बाद नई उपाधिधारी 'रिना' (राणा) सोवा (Rinna Sowah) हुआ, जो साहस और निर्भीकता में अपने पूर्वज से किसी भाँति कम नहीं था। उसकी वीरता का बखान करने के लिए हम वंशावली की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली भाषा की कल्पना नहीं कर सकते—"उसने गुजरात के बादशाह मुज़फ्फर को 'सरना' अथवा संरक्षण दिया" और उसे शत्रु को सौंपने से इनकार ही नहीं किया वरन् अपने एक जहाज में बैठा कर खाड़ी के उस पार सुरक्षित भेज दिया और स्वयं ने आरमरा के घेरे में डटे रह कर रक्षा करते हुए गौरव के साथ प्राण-त्याग किया। इस जल-दस्यु का यह आचरण (बारह पीढ़ी पूर्व कच्छ के संस्थापक खंगार के पुत्र) कच्छ के राव भार से कितना भिन्न था, जिसने प्राय-द्वीप में मोरवी के परगने के लिए अपने शरणागत सुलतान के शरीर का सौदा तय किया था! बादशाह ने अपना वचन पूरा किया; उसने मोरबी का परगना दुष्ट जाड़ेचा के सुपुर्द कर दिया, परन्तु उसका सिर ही इस पापपूर्ण सन्धि की इनायत या 'नज़राना' था—और फिर जाड़ेचा की दुष्ट-भावना के प्रति घृणा एवं जल-दस्यु बाघेल के प्रति आदर-भावना प्रकट करने के लिए उसने दिल्ली के दरवाज़े पर दो पालिये बनवाये जिन पर यह आदेश लिखवा दिया कि जो कोई बाघेल के पालिये के पास से निकले वह उस पर फूलों की माला चढावे तथा जो जाड़ेचा के चबूतरे के पास होकर निकले वह उस पर जूता मारे। जाम जेसा के समय तक जाम भार के पालिये को इस बेइज्ज़ती से मुक्ति नहीं मिली; जेसा की किसी सेवा के बदले में उसे शाही महरबानी प्राप्त हुई और मनचाही मुराद माँगने की आज्ञा मिली; इस पर उसने प्रार्थना की कि वह पालिया तुड़वा दिया जाय अथवा कम से कम उस बेइज्ज़ती से मुक्त कर दिया जाय जिससे प्रत्येक जाड़ेचा के आत्म-गौरव को आघात पहुँचता था।

'राना सोवा' अथवा 'सवाई' तो इस उदार जल-दस्यु की उपाधि मात्र थी—नाम उसका रायमल था, जिसका पालिया ढूंढ निकालने का मुझे सन्तोष है। जैसा कि ऊपर लिख आया हूँ, इस पालिया पर आरमरा के साके में संवत् १६२८ (१५७२ ई०) में उसके निधन का उल्लेख है। इस तिथि से हमको बेट के

समुद्री राजाओं के इतिहास में घटना-प्रधान युग का ही नहीं गुजरात के सुल-तानों के इतिहास का भी सूत्र मिल जाता है।

नीचे दी हुई समानान्तर सूची से तत्कालीन योग्य और अयोग्य व्यक्तियों के वंशजों का पता चलता है; रायमल से पैंतालीस वर्षीय संग्राम तक नौ राजा हुए और कुख्यात भार से उसके वर्तमान वंशज तक, जिसका भी वही अशुभ नाम है, कुल ग्यारह क्रमानुयायी हुए हैं।

राना रायमल	राय भार
अखैराज	मेघ
भीम	तमाचो
संग्राम	रायधन
भजराज (भोजराज ?)	प्राग
दादोह (दूदा ?)	गोर
बाहप	देसिल,
	लाखो
मखबाई [भाई ?] Makha bae	गोर
संग्राम	रायधन भार, और देसल [भाई]

राना भीम ने मसकट (Muscat)[१] के इमाम को, सम्पूर्ण शक्ति लगा कर जल और थल मार्ग से, अपने पर आक्रमण करने का अवसर दिया क्योंकि उसके नाविकों ने इमाम के प्रजाजनों पर कुछ ज्यादती की थी। कच्छ का राव देसल भी इस अवसर पर मसकॅट के जहाजी सेनापति के साथ था और उसने कच्छगढ़ किनारे पर कलोरकोट को गोलाबारी से उड़ाने के लिए बन-वाया था। जल-दस्युओं के द्वीप पर कई बार फौजें उतारी गईं परन्तु दुर्ग की सुदृढ़ता ने उनकी सम्मिलित शक्ति एवं प्रयास का उपहास मात्र किया; और समुद्री मार्ग की भूल-भुलैया में बहुत से पोतों के तितर-बितर हो जाने एवं अपने सहायक भुज-पति द्वारा कच्छगढ़ के आसपास की भूमि का ग्रास उत्कोच के रूप में प्राप्त कर लेने के कारण नौ-सेनापति को अपना बेड़ा लौटाना पड़ा तथा शंखनारायण के मन्दिर के काष्ठ-कपाटों को ही विजय-चिह्न के रूप में प्राप्त कर के सन्तोष कर लेना पड़ा। इन किवाड़ों का उसने एक पलंग बनवा लिया, परन्तु रात को उसकी खाट उलट गई और जब उसे चेत हुआ तो वह काफ़िर-पलंग का तोफ़ा उसके ऊपर सवार था। परम्परागत कथाओं में कहा

[१] अरब का मुख्य बन्दरगाह। यह १५०८ से १६५० ई० तक पुर्तगालियों के अधिकार में रहा था।

गया है कि इसके बाद उसने वह काष्ठ वापस बेट भेज दिया।

संगम के अन्तिम 'धाड़ैती' संग्राम के समय तक इन जल-दस्युओं के इतिहास में और कोई उल्लेख योग्य बात नहीं है। उसके दादा का मुकाबला एक अंग्रेजी युद्धपोत से हुआ था जिससे उनको बड़ा आश्चर्य हुआ (क्योंकि वैसा जहाज उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था) और उस [जहाज] ने शीघ्र ही उनके जहाजों को नष्ट कर दिया तथा उनको अपने आधीन कर लिया। तदनन्तर, उदारचेता कर्नल वॉकर ने अपने शान्तिपूर्ण तरीकों से उनको, प्रायद्वीप में शान्ति-स्थापना की सामान्य व्यवस्था में सम्मिलित कर के, जल-दस्युता की आदतों से विमुख कर दिया। परन्तु, कहते हैं कि, उसकी सन्धि का पालन नहीं हुआ और गायकवाड़ के कतिपय अफसरों के दुर्व्यवहार के कारण जल-दस्युओं को उसके सेना-सन्निवेश के विरुद्ध पुन: उठ खड़ा होना पड़ा। उसी समय त्रीकमराय के पुजारी को, जो संग्राम का प्रधान था, अपनी व्यवस्था को छोड़ने के फलस्वरूप समुद्री लूट के लिए तैयार होना पड़ा। इस घटना ने शङ्खोद्वार के स्वामी के भाग्य का निर्णय कर दिया और जिस चोट ने द्वारका के वागेरों को नष्ट किया था उसी ने बेट के वाघेलों का अस्तित्व भी मिटा दिया। सम्मान्य कर्नल लिंकन स्टॅनहोप की अध्यक्षता में वदले के लिए किले पर आक्रमण में जो शीघ्रता और तीव्रता आई उसने संग्राम को सन्धि के लिए विवश कर दिया और उसने बेट को समर्पण कर के अपने स्वामी गायकवाड़ द्वारा नियत खानगी लेकर आरामरा में रहना स्वीकार कर लिया। यह मान लेना चाहिए कि उसका यह आत्म-समर्पण किसी अंश तक हमारे सुरक्षावचन से सम्बद्ध था; परन्तु, स्वाभाविक ही है, आरामरा अब संग्राम के लिए 'आराम' की जगह नहीं है; अन्तिम बाधेल को [वहाँ से भी] हटा दिया गया है और वह कच्छ में शरणार्थी बन कर रह रहा है।

जो द्वारका के वागेर बहुत लम्बे समय तक आरामरा के बाधेलों के साथ-साथ इस समुद्र में आतंक जमाए रहे थे उनके विषय में भी यहाँ कुछ कहना आवश्यक है। वे भुज के जाड़ेचा-वंश की एक मिश्रित शाखा में हैं। उनमें से एक आवरा नामक व्यक्ति, जो चेहरे पर वीभत्स मूछों का जोड़ा रखने के कारण 'मूंछवाल' कहलाता था, राणा सोवा के समय में यहाँ आया था और उसीके वंश में उसने अन्तर्जातीय विवाह कर के गोमती अथवा द्वारका के थाने पर अधिकार प्राप्त किया था। उसके पुत्र से एक नीच जाति की स्त्री से सन्तान हुई और उन्होंने 'माणिक' अथवा 'रत्न' विशेषण के साथ वागेर नाम ग्रहण किया। इस वंश के अन्तिम चार राजा महप (Mahap) माणिक, सादूल माणिक, सामीह (Sameah) माणिक और मलू माणिक हुए। मलू अपने सब सगे-सम्बन्धी,

कुछ वाघेर लोगों, वाघेलों और अरबों इत्यादि के संघ के साथ कई मुकाबले के बाद इस तूफान (युद्ध) में मारा गया अथवा कहीं चला गया। इस वीर-अभियान में आक्रामकों को भी हानि उठानी पड़ी; जो लोग काम आए उनमें से एक अदम्य उत्साही आत्मा का उल्लेख किया जा सकता है, जिसने उस दिन द्वारिका के जल-दस्युओं पर प्रथम और अन्तिम सशस्त्र वीर-आक्रमण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि कप्तान मेरोट (Captain Mairott) युद्ध-व्यवसाय के लिए ही जन्मा था और उसमें वे सभी उच्च और वीरतापूर्ण भावनाएं मौजूद थीं, जो इस व्यवसाय से सम्बद्ध होती हैं। नसेनी की चोटी से फिसल कर जहाँ वह गिरा था वही स्थान उसकी छतरी बनाने के लिए चुना गया; परन्तु, इसी स्मारक से सन्तुष्ट न होकर उसके मित्रों ने इस वीर युवक की याद में भूमि के सबसे ऊँचे निकले हुए भाग पर एक खम्भा खड़ा किया है और जैसा कि एक अन्य साहसी उदार सैनिक मारसियू (Marceau) के विषय में कहा गया है, मेरोट (Mairott) के लिए भी कह सकते हैं कि—

'उसका जीवनवृत्त संक्षिप्त, वीरतापूर्ण और गौरवयुक्त था'

उसे वही मौत मिली जिसके लिए उसकी सतत कामना थी। यद्यपि वह अपने सह-अधिकारियों की स्मृति में अब भी जीवित है, परन्तु उसके दूर-देशवासी मित्रों को यह जान कर संतोष होगा कि हिन्दुओं ने एक योगी का निवास वहाँ स्थित करके उस स्थान को पवित्र बना दिया है और जब कभी कोई नाविक जगत-अन्त रीप को पार करता हुआ उस स्थान पर—उसी भूमि की मिट्टी में मिल जाने के लिए नहीं—वहाँ जाता है और पूछता है कि यह खम्भा क्यों खड़ा किया गया है तो उसको पूरी कथा [उसके] नैतिक आचरण के साथ सुना दी जाती है।

तो यह है 'जगत्कूंट' के जल-दस्युओं [के इतिहास] की अद्यतन रूपरेखा। यदि हम इसको विवरणों से भर सकें अथवा और पीछे के समय तक पहुँच कर (Larice) या सौराष्ट्र के समुद्री राजाओं का वृत्तान्त प्राप्त कर सकें तो इसमें और भी रस पैदा हो सकता है; परन्तु, हमें मिले हैं कुछ कोरे तथ्य, जिनमें शताब्दियों का अन्तर है; सिकन्दर से दूसरी शताब्दी में पेरीप्लुस (Periplus) के कर्ता तक, आठवीं शताब्दी में चावड़ों की राजधानी देवबन्दर के विनाश से उन्नीसवीं शताब्दी में द्वारिका और बेट तक वही लुटेरे मौजूद थे और काफिर-स के—क्योंकि सिकन्दर के सङ्गादियन (Sangadians) ही वे ं' [संगमधर ? Sangum-dharians] हैं जिनके बारे में हम कहते हैं दी और समुद्र के पवित्र 'संगम' के लुटेरे हैं, जहाँ से वे समुद्र में लूट-ते हैं और फिर वहीं इस पूरी खाड़ी, बन्दरगाह और संगम को

[1] अरब का
रहा था।

पावन करने वाले, चोरों के संरक्षक देवता की शरण में सुरक्षा के लिए लौट आते हैं। बहुत से ग्रन्थकारों ने 'संगादियनों' (Sangadians) और 'संगारियनों' (Sangarians) का किसी जाति के मुखिया के रूप में वर्णन किया है परन्तु (D' Anville) द' आनविले उनमें सर्वोपरि है। वह कहता है—

"थीवनॉट और ओविङ्गटन ने इन 'सांगानियों' का समुद्र के पूर्वी किनारे के निवासियों एवं जलदस्युओं के रूप में कई बार उल्लेख किया है। पूर्वीय देशों में इस जाति का नाम बहुत प्राचीन काल से चला आता है यद्यपि ये अब 'संगद' नाम से नहीं पहचाने जाते, जिनका निवास सिन्ध के बहुत पास ही था और जिन्होंने उस स्थान को बहुत पूर्वकाल में ही छोड़ दिया था, जहाँ से सिकन्दर की नौसेना निकली थी।"[1]

इस पर हमारा कहना यह है कि जहाँ-जहाँ मुहाना होता है वहीं संगम भी होता है; और जहाँ-जहाँ संगम है अथवा था, वहाँ-वहाँ संगद (Sangada) अथवा संगमधार अर्थात् जलदस्युओं का निवास भी था; और यह संगम अथवा मुहाना चाहे द्वारका की गोमती पर हो अथवा सिंधु नदी के डेल्टा की एक भुजा बनाती हुई खारी (खाडी ?) पर, दोनों ही जगह दस्युओं के देवता और रक्षक संगम-नारायण के मन्दिर मौजूद हैं; और खारी पर 'नारायण-सर' नामक स्थल से ही, जहाँ मैं अभी-अभी जा रहा हूँ, मेरी 'वापसी यात्रा' शुरू हो जायेगी। एरिअन और द'आनविले द्वारा अमरीकृत नाम की यही व्युत्पत्ति है; यह किसी जाति का नाम नहीं है प्रत्युत उन 'जल-दस्युओं' के लिए सीधा-सादा पर्यायवाची शब्द है जो

---

[1] सिन्ध से गुजरात तक समुद्री तट पर धावा मारने वाले जलदस्युओं को 'सांगानियन' कहा गया है, सम्भवतः इसलिये कि ये सिन्धु के समुद्र-सङ्गम के पास रहने वाले थे; सांगानियन लोग प्रायः हिन्दू होते थे और यात्रियों के साथ उतनी क्रूरता का व्यवहार नहीं करते थे जितना कि बलोची लुटेरे किया करते थे। थीवनॉट को सांगानियनों का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था, परन्तु उसने उनके विषय में अमानुषिक व्यवहारों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है कि 'उनके पास तीर और तलवार के अतिरिक्त कोई शस्त्र नहीं होता और सामने आने वाले किसी भी प्राणी को वे जीवित नहीं छोड़ते; जिनको वे बन्दी बना लेते हैं उनकी टांगें और टखनें तोड़ देते हैं।'

दूसरे यात्री कैरेरी (Careri) ने इसके विपरीत लिखा है कि 'ये लोग जिनकी सम्पत्ति लूट लेते हैं उनको दास नहीं बनाते। ये लोग 'सांगानों' और 'राणा' कहलाते हैं। ये सम्पत्ति तो पूरी लूट लेते हैं, परन्तु शरीर को क्षति नहीं पहुँचाते हैं। ये सिन्ध और गुजरात के बीच में रहते हैं और कुछ लोग पास ही समुद्री द्वीपों में बसे हुए हैं।'

—Indian Travels of Thevenot and Careri, Intro., xxii; xxxvi.

अपने आपको 'त्रीकमराय' के बाल-बच्चे मानते हैं। द्वारका अथवा आरामरा के [दस्युओं] का डेल्टा-निवासी समान-व्यावसायिक बन्धुओं से कभी मेल-जोल था या नहीं, इस विषय में कुछ कल्पना नहीं की जा सकती परन्तु, यह स्पष्ट है कि इन दोनों में धर्म और लूट के विषय में एक ही समान सिद्धान्त सक्रिय थे। ये लुटेरे अपने शिकार की तलाश में निकलते समय इष्टदेवता को प्रसन्न किए बिना या उत्कोच चढ़ाए बिना जहाज नहीं खोलते थे और न अपनी लूट में से बुध देवता को भेट चढ़ाए बिना वापस लौटते थे। दिन में सात बार शिकार करने वाले पिण्डारियों की तरह ये भारत के लुटेरे अथवा 'अंगूठियों के डाकू' भी अपने इस संकटपूर्ण व्यवसाय को पवित्र और सम्माननीय समझते थे; मानव-मस्तिष्क का भी अपनी ही विकृतियों के प्रति कैसा लगाव है ! यह कहना कठिन है कि सिन्धु के सांगारियनों (Sangarians) अथवा सौराष्ट्र के सौरों ने कभी गहरे समुद्र को पार कर के दूर देशों में जाने का साहस किया या नहीं, परन्तु सिन्धु से अरब तक का समुद्री किनारा इतने हिन्दू देवी-देवताओं और वीरों के नामों से चिह्नित है कि इसका उनसे सर्वथा अपरिचित होने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। समुद्री लुटेरों का अन्तिम जहाज, जिसको [भूमि के] ऊपर लाकर सूखे में रख दिया गया था, एक बड़ा अच्छा और प्रभावोत्पादक जलपोत था, जिसका पिछला भाग बहुत ऊँचा और अगला भाग 'व्याख्याता के मञ्च' जैसा आगे निकला हुआ था।

परन्तु, यहाँ मेरे अच्छे जहाज का टंडेल (tandeal) घाट पर आ लगा है, जिसके पूरे मस्तूल व्यवस्थित हैं और वह मुझे 'कांठी कालपस' अथवा कच्छ की खाड़ी के उस पार ले जाने को तैयार खड़ा है, जो संयोग से सिकन्दर के सांगदा[ड़ा] Sangada का प्राचीन अड्डा रहा है।

प्रकरण २१

ग्रन्थकर्त्ता का नौकारोहण; साथियों से विदाई; ग्रन्थकर्त्ता के 'गुरु'; कच्छ की कांठी या खाड़ी; टॉलमी और एरियन द्वारा कच्छ की खाड़ी का वर्णन; रण; माण्डवी की भूमि पर उतरना; वहाँ का वर्णन; यात्री; अरबों के जल-पोतों में अफ्रीकी कार्यकर्त्ता; दास-प्रथा के अन्त का प्रभाव; माण्डवी के ऐतिहासिक प्रसंग; समाधियाँ; स्मारक; सिक्के।

पहली जनवरी, १८३३—जब हम रवाना हुए तो हवा साफ थी और दोनों ओर के समुद्री किनारे इतने नीचे थे कि जल्दी ही वे आँखों से ओझल हो गए और उन पर चमकीले नीले आसमान की छत उस नीची श्यामल रेखा तक छा गई, जिसको हिन्दू लोग इन्द्र और वरुण के लोकों की विभाजन-रेखा मानते हैं। मेरा कवित्त्व अब दुर्बल पड़ गया था क्योंकि मैं उन मित्रों से बिछुड़ रहा था जिनके साथ पिछले छः मास तक रह कर मैंने उस आतिथ्य का आनन्द लिया जिसको केवल पूर्व के लोग ही जानते हैं (या जानते थे)। फिर भी इन झलकियों में जो कुछ आकर्षण है, वह मेरे मित्र विलियम्स[1] के कारण आ गया है, जिनके प्रभाव से मेरी सभी जिज्ञासाओं का सुविधापूर्वक समाधान हो सका और जिनके एतत्स्थानीय स्थलों एवं मनुष्यों के निजी ज्ञान से मुझे पदार्थों का चयन करने, उनके विषय में निर्णय लेने तथा सभी बातों की जानकारी प्राप्त करने में वास्तविक मार्ग-दर्शन मिला। अपने संस्मरणों की टिप्पणियों के आधार पर उनके उत्साहवर्धक अनुग्रहों को कृतज्ञतापूर्वक याद करते हुए मैं यहाँ यह श्रद्धा के भाव अर्पित करता हूँ, जो उस समय भी मेरे हृदय में ताजा थे और अब इतने वर्ष बीत जाने पर भी उनमें कोई अन्तर नहीं आया है। यहीं पर मैंने अपने मित्र और गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' यति ज्ञानचन्द्र से विदा ली, जो मेरे साथ उस समय से थे जब मैं अधीनस्थ अधिकारी के रूप में कार्य करता था और जिनका मेरे भारत-प्रवास-काल में आधे से भी अधिक समय तक साहचर्य रहा था; मेरे इस परदेश-वास में उनसे मुझे बहुत सुख और सन्तोष मिला। इस पुस्तक के पृष्ठों में तथा अन्यत्र भी मैंने प्रायः उनका उल्लेख किया है; वास्तविक बात तो यह है कि मेरे पुरा-शोध-सम्बन्धी प्रयासों के वे साकार स्वरूप थे,

---

[1] ये सज्जन बड़ौदा के रेज़ीडेण्ट और गुजरात के राजनैतिक आयुक्त (Political Commissioner) रहे थे; इनकी मृत्यु का समाचार अभी मिला है जब कि ये पृष्ठ प्रेस में चल रहे हैं।

अतः यहाँ पर उनके विषय में कुछ कहना [पाठकों को] अस्वीकार्य न होगा। वे लम्बे और दुबले पतले थे और यद्यपि जब मैं उनसे विदा हुआ तब उनकी अवस्था तीन-बीसी [साठ, three scores] से अधिक नहीं थी तो भी उनके रजत केशों के कारण वे सद्यः नमस्करणीय लगतेथे। जब वे अपने हवा में लहराते हुए लम्बे दुपट्टे सहित हाथ में दण्ड लिए और नंगे सिर कमरे में आए तो एक सच्चे 'विद्वान्' जान पड़ते थे। वे बुद्ध के उपासक थे। इन प्राचीन काल के अवशेषों को ढूंढते-फिरने में उनको भी मेरे ही जितना रस आता था और मेरे मुख्य अनुसन्धानों में उनके विशाल ऐतिहासिक ज्ञान एवं शिलालेखों के पढ़ने में असाधारण धैर्य के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। उसी समय मैं अपने प्रिय और बहादुर घोड़े 'जावदिया' से भी विदा हुआ। यह अश्व उदयपुर के राणा ने मुझे बख्शीश (भेंट) में दिया था और अब मैंने यात्रा के अनन्तर इस विशेष प्रार्थनासहित उसे लौटा दिया कि स्वयं राणा अथवा मेरे वृद्ध अश्वपाल के अतिरिक्त और कोई उसकी पीठ पर न चढ़े तथा महान् सैनिक उत्सव 'दशहरा' के अवसर पर सब से पहले पूजित होने का सम्मान भी उसको प्राप्त हो।

वियोग के अवसाद भरे भावों से छुट्टी पाने के लिए मैंने मानचित्र फैला लिया और अपने सामने 'Eclaircissemens de la carte D l' Inde'[१] [भारत के मानचित्र का स्पष्टीकरण] सहित बैठ गया; बराई (Baraee) के द्वीप अब भी आँखों के सामने थे और मैं इन विचारों में डूब गया कि टॉल्मी और पॅरीप्लुस के कर्त्ता के समय से अब तक कच्छ के काँठी (काँठा) में क्या-क्या परिवर्तन आ चुके थे। अपर ग्रन्थकार ने, बहुत सम्भव है, अपने व्यापारिक प्रसंग में भडौंच से आकर इसे देखा होगा; उसने लिखा है 'बराई (Baraee) के पूर्वमें एक गहरी खाड़ी है जो सप्त-संख्यक अन्य द्वीपों से उसे पृथक् करती है।' और मिस्री भूगोलवेत्ता के आधार पर द' आनविले लिखता है 'बलसेटी (Balseti) अथवा बरसेटी (Barseti) नामक एक बन्दरगाह है जो पूर्व में टॉलमी द्वारा कथित बराई (Baraee) और कुछ अन्य द्वीपों को सूचित करता है और 'काँठी कालपस' के प्रवेश-द्वार के दक्षिण में है। अब यह प्रमाणित करने के लिए किसी दलील की आवश्यकता नहीं रह गई है कि बेट अथवा 'जल-दस्युओं का द्वीप' ही वह स्थान है जिसको स्थिति के आधार पर द' आनविले ने 'बलसेटी' (Balseti) की संज्ञा दी है और जो दूसरी शताब्दी में 'बराई' (Baraee) कहलाता था; इन चिह्नों में से अन्तिम कुछ के साथ अब नाम मात्र की ही समानता बाकी रह गई है—पहली इसकी

[१] द' ऑनविले की कृति।

स्थिति, जो कांठी की खाड़ी के प्रवेश-द्वार से दाहिनी ओर है, और दूसरी, लघु द्वीपों की संख्या जो खाड़ी के आसपास और कुछ आगे दूरी पर स्थित हैं। 'वेट' शब्द का प्रयोग स्थानीय बोली में 'द्वीप' के लिए किया जाता है और कोई भी मनुष्य यह मान लेगा कि यह बोलने में 'वलसेट' का ही संक्षिप्त रूप है; परन्तु यह निकला कहाँ से ? यह समस्त भूमि कन्हैया, कृष्ण अथवा नारायण के नाम से पवित्र है जिनका बचपन का नाम बाल, बालनाथ या बालमुकुन्द है और किशोरावस्था में गोपाल-देवता के उपकरण (चिह्न) मुरली या मुरनी [वेत] और पशु (गाय) चराने की लकुटी प्रसिद्ध है। ऐसी समानताओं का अन्त नहीं है और पूर्वीय देशों में इनका अतिक्रमण बहुत गम्भीर, असम्बद्ध एवं भयानक होता है जब कि पश्चिम में उनको ऐसे चमत्कारपूर्ण और सरल ढंग से परिष्कृत कर लिया जाता है कि जिससे उनके मूल-स्वरूप से सभी सम्बन्ध सरल लगते हैं।

इन दो बड़े नामों के विषय में और भी स्पष्टीकरण और विवादास्पद बातों का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं—'जिस खाड़ी को टॉलमी ने कांठी काल्पस के पूर्व में होना बताया है उसको पैरीप्ली (Pariple) ने इरिनस (Irinus) नाम से अभिहित किया है। 'कांठी' कोई तट या किनारे का सामान्य नाम नहीं है वरन् आज तक भी कच्छ के उस भाग के लिए प्रयुक्त होता है जो पहाड़ियों और समुद्र के बीच में है, और एरिअन ने इरिनस (Irinus) शब्द का प्रयोग केवल काल्पस (खाड़ी) के ऊपरी भाग के लिए किया होगा जो सामान्यतया 'रण' कहलाता है—यह संस्कृत के 'अरण्य' का अपभ्रंश है। इसी प्रकार पहले एरियन द्वारा प्रयुक्त एरिनोस (Erinos) वाक्यांश से 'बड़े रण' का अर्थ लेना चाहिए जो 'छोटे रण' से मिल कर सम्पूर्ण जलावेष्टित कच्छ बन जाता है। फिर, आगे का झूठा विवाद शान्त करने के लिए यह समझ लेना चाहिए कि लूनी नदी (जिसके विकास से पूरे मार्ग तक का मैंने अनुसंधान किया है और जो बड़े रण में होकर बहती है तथा इसको बनाने में सहायक है) वही है, जो 'खारी' के नाम से सिन्धु नदी के मुहाने पर उसकी पूर्वीय भुजा से मिलती है; लूनी और खारी का अर्थ एक ही है 'नमकीन नदी'। यदि लूनी का कभी स्पष्ट पृथक् मार्ग और कच्छ की खाड़ी के मुख भाग का छोटे रण में प्रवेश रहा हो तो हमें टॉलमी के 'ऑरबदरी' (Orbadri)[1] का तात्पर्य ज्ञात हो जाता है, जिसका

---

[1] प्लिनी की सूची में अन्तिम नाम Varctatac आता है जिसको कहीं-कहीं वर्ण-विपर्यय से Vateratac भी लिखा है। कतिपय संस्करणों में इसी शब्द को Svarataratae भी लिखा है। यह 'सौराष्ट्र' का अपभ्रष्ट रूप हो सकता है। दक्षिण-पश्चिम भारत के निवासियों के लिए वराहमिहिर-कृत बृहत्संहिता में 'सौराष्ट्र' और 'बादर' दोनों शब्द

उसने उक्त स्थान पर खाड़ी में गिरना लिखा है और हम इसी नाम के संस्कृत समस्त पद की व्याख्या करते हुए इस निर्विवाद सत्य को प्रमाणित कर सकते हैं कि प्राचीन काल में हिन्दू लोगों का भूगोल पर पूरा अधिकार था। 'भद्रा' नदी का सामान्य नाम है और उपसर्ग 'ऑर' (or) का अर्थ है 'नमक का दलदल' अथवा 'नमक की झील' या वह स्थान जहाँ नमक जमा हो जाता है—यही लूनी का लक्षण है कि वह अपने मार्ग में सर्वत्र नमक की परतें छोड़ जाती है। खाड़ी के मुहाने पर स्थित नगर का नाम 'अर-सर' (Arisirr)[1] है; इससे उक्त शब्द-व्युत्पत्ति की और भी पुष्टि हो जाती है क्योंकि 'सर' झील का दूसरा पर्य्याय है और विशेषतः 'नमक की झील' का; और यदि यह नदी (भादरा) इस नगर में होकर बहती थी तो हमें इसके नाम की उत्पत्ति के विषय में पर्य्याप्त लक्षणों की उपलब्धि हो जाती है। अस्तु, मैंने लूनी के निकास को देखा है और मरुस्थली में इसको कई स्थलों पर पार भी किया है तथा अब मैं नारायण-सर में इसके मुहाने पर भी जा रहा हूँ जहाँ सिन्धु-क्षेत्र में हिन्दुओं का अन्तिम मन्दिर विद्यमान है। अब मैं वह बात कहता हूँ जो और कोई व्यक्ति नहीं कह सकता कि मैं हरिद्वार से, जहाँ से उत्तरी श्रेणी में गङ्गा अपना मार्ग काटती है, ब्रह्मपुत्रा के संगम तक (जिसको टॉलमी ने 'ऑरिया रेगिया' (Aurea Regia) लिखा है और जो जल-दस्युओं के लिए भी प्रसिद्ध है), सिन्धु नदी के ओनाम (Onam) समुद्र में संगम-स्थान तक मैं यात्रा कर चुकूंगा। परन्तु, पहले की हुई इन यात्राओं के विषय में कभी पुस्तक के रूप में टिप्पणियाँ नहीं लिखी गईं और

लिखे हैं। अतः 'वदरी' अथवा 'वदरी' के रहने वाले बादर कहलाए। दक्षिणी राजस्थान में वदरीफल अथवा बेर के वृक्ष बहुत पाए जाते हैं। इसी से लगा हुआ प्रदेश 'सौवीर' कहलाता था जिसको विदेशी लेखकों ने Sophir या Ophir लिखा है। यदि यह अनुमान सत्य है और सुन्दर वदरीफल के कारण ही इस क्षेत्र का नाम सौवीर पड़ा हो तो यह खम्भात की खाड़ी के ऊपर ही कहीं होना चाहिए। रुद्रदामन के प्राचीन लेख में सौराष्ट्र और भारुकच्छ के तुरन्त बाद ही सिन्धु-सौवीर का उल्लेख है। अतः यह-सौवीर सौराष्ट्र और भड़ौंच के उत्तर में और निषध के दक्षिण में होना चाहिए। विष्णुपुराण में सौवीर की स्थिति अर्बुद के सन्निकट बताई गई है।

—Cunningham; Ancient Geography of India, p. 496-47

यूल (Yule) ने भी Orbadarou अथवा Oradabari की स्थिति सन्देहास्पद दिशा में ही अर्बुद के समीप मानते हुए इसको अरावली की मुख्य श्रेणी बताया है। प्लिनी ने इसको गुजरात में 'होराती' (Horatae) अथवा सौराष्ट्र की सीमा पर माना है।

[1] वास्तव में, 'अर' का अर्थ है आरा या नरसल, उससे युक्त 'सर' को 'अर-सर' कहा गया है।

कभी कुछ लिखा भी था तो वह बहुत असम्बद्ध रूप में—यह कमी भी मेरे पछतावों का एक विषय वनी हुई है।

जनवरी २ री—भुज पर्वत श्रेणी की निनोवी (Ninovee) (द' ग्रानविले की Ninove) चोटी अब उ.उ.पू. में दृष्टिगोचर हो रही थी; हवा बन्द हो जाने के कारण हम समुद्र की दो लहरों के बीच रात भर झकझोले खाते रहे और मेरे संघ में गंगाह्रद (Gangaridae) की सी तीव्र खलबली मची रही; और जब हम मांडवी की खारी के लंगर पर पहुँचे तो दिन के दो बज रहे थे। परन्तु, इससे भी बुरी वात यह हुई कि अव हवा ने रुख बदल लिया और वह कोटेश्वर तथा नारायणसर की दिशा में, जहाँ मेरी यात्रा समाप्त होने वाली थी, सामने पड़ रही थी, नाखुदा [मांझी] अव अट्ठारह घंटों के बजाय वहाँ पहुँचने में एक सप्ताह लगने की वात कह रहा था। 'सराह' [जहाज] इसी मास की १५ वीं तारीख को बम्वई से इंगलैण्ड के लिए रवाना होने वाला था और मैं अपने मार्ग-व्यय के चार सौ पाउण्ड जमा करा चुका था अतः अव मैं आशाओं और आशंकाओं की छोटी-मोटी दुविधा के बीच में न रह गया था। मेरी इच्छाओं के विषय में एक सविवरण आवश्यक पत्र कच्छ के रेज़ीडेण्ट मिस्टर गार्डीनर (Gardiner) के नाम रवाना कर के मैं उनके उत्तर और हवाओं के रुख की प्रतीक्षा करता हुआ वहीं ठहरा रहा।

दिन में जल्दी ही माण्डवी के सम्मान्य एवं आदरणीय राज्यपाल जेठाजी के पुत्र मुझ से मिलने आए। वे मेरे साथ समुद्र-तट तक गए और तोपों की सलामी के साथ एक उद्यानगृह में ले गए, जो उन्होंने मेरे उपयोग के लिए नियत कर दिया था, परन्तु मैंने अपनी लम्बी नौका में ही रहना अधिक पसन्द किया। इस तट पर मांडवी या मण्डी बहुत प्रसिद्ध है; प्रायः इसको मस्का-मण्डी (Musca-Mandi) कहते हैं क्योंकि मस्का (Musca) नामक बड़ा कस्बा केवल रुक्मिणी नदी द्वारा ही इससे पृथक् हो रहा है। नगर के चारों तरफ़ एक 'शहरपनाह' या परकोटा है जिसकी बहुत सी बुर्जों पर तोपें चढ़ा कर रखी हुई हैं। यद्यपि यह एक ज़िले का मुख्य-स्थान है परन्तु स्थिति और समृद्धि के कारण ही इसका महत्त्व अधिक बढ़ा है, क्योंकि किसी-किसी समय तो इसके लंगर पर दो-दो सौ नौकाएं ठहरी रहती हैं। इनमें से बहुत सी तो यहाँ के निवासियों की निजी सम्पत्ति हैं, जिनमें सव से समृद्ध तो गोसांई लोग हैं जो, जैसा कि पहले कहा गया है, धर्म और व्यापार को मिलाए हुए हैं और पल्ली, बनारस आदि स्थानों में उनके व्यापार की वड़ी-वड़ी शाखाएं मौजूद हैं। यहाँ पचास से ऊपर सर्राफ़ या कोठीवाल हैं, जिनमें से प्रत्येक सौ रुपया के हिसाव से सरकार

उसने उक्त स्थान पर खाड़ी में गिरना लिखा है और हम इसी नाम के संस्कृत समस्त पद की व्याख्या करते हुए इस निर्विवाद सत्य को प्रमाणित कर सकते हैं कि प्राचीन काल में हिन्दू लोगों का भूगोल पर पूरा अधिकार था। 'भद्रा' नदी का सामान्य नाम है और उपसर्ग 'ऑर' (or) का अर्थ है 'नमक का दलदल' अथवा 'नमक की झील' या वह स्थान जहाँ नमक जमा हो जाता है—यही लूनी का लक्षण है कि वह अपने मार्ग में सर्वत्र नमक की परतें छोड़ जाती है। खाड़ी के मुहाने पर स्थित नगर का नाम 'अर-सर' (Arisirr)[1] है; इससे उक्त शब्द-व्युत्पत्ति की और भी पुष्टि हो जाती है क्योंकि 'सर' झील का दूसरा पर्य्याय है और विशेषतः 'नमक की झील' का; और यदि यह नदी (भादरा) इस नगर में होकर बहती थी तो हमें इसके नाम की उत्पत्ति के विषय में पर्य्याप्त लक्षणों की उपलब्धि हो जाती है। अस्तु, मैंने लूनी के निकास को देखा है और मरुस्थली में इसको कई स्थलों पर पार भी किया है तथा अब मैं नारायण-सर में इसके मुहाने पर भी जा रहा हूँ जहाँ सिन्धु-क्षेत्र में हिन्दुओं का अन्तिम मन्दिर विद्यमान है। अब मैं वह बात कहता हूँ जो और कोई व्यक्ति नहीं कह सकता कि मैं हरिद्वार से, जहाँ से उत्तरी श्रेणी में गङ्गा अपना मार्ग काटती है, ब्रह्मपुत्रा के संगम तक (जिसको टॉलमी ने 'ऑरिया रेगिया' (Aurea Regia) लिखा है और जो जल-दस्युओं के लिए भी प्रसिद्ध है), सिन्धु नदी के ओनाम (Onam) समुद्र में संगम-स्थान तक मैं यात्रा कर चुकूंगा। परन्तु, पहले की हुई इन यात्राओं के विषय में कभी पुस्तक के रूप में टिप्पणियाँ नहीं लिखी गईं और

लिखे हैं। अतः 'बदरी' अथवा 'वदरी' के रहने वाले बादर कहलाए। दक्षिणी राजस्थान में वदरीफल अथवा बेर के वृक्ष बहुत पाए जाते हैं। इसी से लगा हुआ प्रदेश 'सौवीर' कहलाता था जिसको विदेशी लेखकों ने Sophir या Ophir लिखा है। यदि यह अनुमान सत्य है और सुन्दर बदरीफल के कारण ही इस क्षेत्र का नाम सौवीर पड़ा हो तो यह खम्भात की खाड़ी के ऊपर ही कहीं होना चाहिए। रुद्रदामन के प्राचीन लेख में सौराष्ट्र और भारुकच्छ के तुरन्त बाद ही सिन्धु-सौवीर का उल्लेख है। अतः यह-सौवीर सौराष्ट्र और भड़ौंच के उत्तर में और निषध के दक्षिण में होना चाहिए। विष्णुपुराण में सौवीर की स्थिति अर्बुद के सन्निकट बताई गई है।

—Cunningham; Ancient Geography of India, p. 496-47

यूल (Yule) ने भी Orbadarou अथवा Oradabari की स्थिति सन्देहास्पद दिशा में ही अर्बुद के समीप मानते हुए इसको अरावली की मुख्य श्रेणी बताया है। प्लिनी ने इसको गुजरात में 'होराती' (Horatae) अथवा सौराष्ट्र की सीमा पर माना है।

[1] वास्तव में, 'अर' का अर्थ है आरा या नरसल, उससे युक्त 'सर' को 'अर-सर' कहा गया है।

ध्यान नहीं दिया क्योंकि इन स्वेच्छाचारी प्रदेशों में देश-प्रेम और जिसको हम स्वदेशाभिमान कहा करते हैं, वह एक ही बात नहीं है।

इन विभिन्न मण्डलियों से मैं और भी विचित्र दृश्यावली में पहुँचा—यह थी बन्दरगाह पर एकत्रित जहाजों की छटा—ये जहाज या तो 'सोफाला[1] के स्वर्ण तट' को जाते हैं या 'सौभाग्यशाली अरबी मसाले वाले'[2] तट को; इनमें से लगभग बीस नौकाएं अफ्रीका के काले सपूतों से भरी हुई थीं। इन नौकाओं का भार औसतन छ: सौ कण्डी अथवा एक सौ पचीस टन था और प्रत्येक में तोपें भी रखी हुई थीं, जो अब बम्बई जलसेना द्वारा जोआमीज़ (Joamees) को समाप्त कर देने के सराहनीय प्रयत्नों के फलस्वरूप केवल सलामी के काम आती हैं। अरबी समुद्र-तट के ये जल-दस्यु बहुत समय से इस समुद्र के अभिशाप बने हुए थे और लूट के साथ हत्या के दोहरे अभिप्राय को मिलाते हुए बन्दियों को कभी जीवित नहीं छोड़ते थे। उनका कहना था 'बिना खून के तुम्हारा माल लेने के माने यह होंगे कि हमने चोरी की, लूट नहीं; और कब्जे में आए हुए काफ़िरों को [ज़िन्दा] छोड़ कर उनकी रोटी खाना मज़हब के खिलाफ़ है।' आशा की जाती है कि बम्बई सरकार के उत्साहपूर्ण प्रयत्नों ने व्यापार-जगत् के इस महान् रोग को सदा के लिए नष्ट कर दिया है।

अरबी जहाजों की बनावट, मैं समझता हूँ, वैसी ही है जैसी हिरम (Hiram) के समय में थी। इनमें से अधिकांश पर किरमिची तिरपाल डण्डों पर फैला रहता है जो नौका को प्रथम गति से खेने के लिए पर्याप्त होता है। मनुष्यों की तरह उनकी हर एक चीज़ भी काले रंग की थी और जहाज के अगले हिस्से में सैंकड़ों मिट्टी के घड़े लटक रहे थे, जो नाविकों के पराक्रम के चिह्न थे। जब से नर-मांस व्यापारिक वस्तु के रूप में बन्द हुआ है तब से 'स्वाल' और जंजीबार भी [जो नक्शे में सोफाला और ज़िंग्यूबार Sofala and Zinguebar नाम से दिखाए गए हैं] अधिक आवागमन के स्थान नहीं रहे हैं। यह ग़ैर-कानूनी व्यापार अभी तक बिलकुल बन्द नहीं हुआ है और थोड़ा बहुत

---

[1] सफोला अफ्रीका के पूर्वीय समुद्री तट पर स्थित बन्दरगाह इसी है। नाम की नदी के मुहाने पर स्थित होने के कारण इसका नाम 'सफोला' पड़ा है। १५०५ ई० में पुर्तगालियों के अधिकार में आने से पूर्व यह एक सुप्रसिद्ध मुसलमानी नगर और व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ प्राय: एक हजार व्यापारिक नावों के ठहरने योग्य व्यवस्था थी। मिल्टन ने अपने 'पैरैडाइज लॉस्ट' (११; ३९९-४०१) में इसको सालोमन द्वारा वर्णित 'सोफ़िर' (Sophir) बताया है, परन्तु यह अनुमान सत्य नहीं है।—E.B. XXII; p. 246

[2] मस्कॅट बन्दरगाह।

को कर देता है; यह एक प्रकार का गृह-कर है जिससे कोई भी मुक्त नहीं है, और कहते हैं कि इससे पचीस हज़ार रुपया वार्षिक की आय हो जाती है। यद्यपि माण्डवी से अरब और अफ्रीका के सभी बन्दरगाहों तक व्यापार होता है परन्तु, विशेष व्यापारिक आयात-निर्यात फारस की खाड़ी में कालीकोट (कालीकट?) और मस्कॅट (Muscat) से ही चलता है। पूर्व स्थान से यहाँ शीशा, कने (Kanch) या हरा काच, इलायची, कालीमिर्च, सोंठ (अदरख), वांस, जहाज बनाने को सागवान की लकड़ी, कस्तूरी (एक प्रकार की औषधि), पीली मिट्टी (Ochre), रंग और दवाएं आदि तथा मस्कॅट से सुपारी, चावल, नारियल, छुहारे खारिक ताजा पिण्डखजूर, रेशम और मसाले आदि का आयात होता है। तटीय चुंगी से एक लाख रुपये की वार्षिक आय होती बताई जाती है।

मैं दिन भर नगर में और घाट पर घूमता रहा और वहाँ नए-नए मनोरञ्जक दृश्यों एवं विभिन्न देश-वासियों की टोलियों को देखता रहा—काले-कलूटे ईथोप, काकेशस के हिन्दकी, लम्बे-चौड़े अरब, विनम्र हिन्दू बनिए या उनका अनुकरण करने वाले आधे-पण्डे और आधे-व्यापारी गोसांई, जो नारंगी रंग की पोशाक पहने घूम रहे थे। मैं सभी मण्डलियों में गया, वे नौका-स्वामी हों या यात्री, और उन सब से प्रश्न भी पूछे। यात्रियों की ओर मैं बहुत आकर्षित हुआ। वे दिल्ली, पेशावर, मुलतान और सिन्ध के विभिन्न भागों से आए थे और समुद्रतट पर झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे हो रहे थे या कतारें बना कर नमाज़ पढ़ रहे थे; उनकी स्त्रियां खाना पका रही थीं और बहुतों के बच्चे इर्द-गिर्द घूम रहे थे। सभी ने मक्का की यात्रा या हज के लिए नीली पोशाक पहन रखी थी; यह यात्रा ये लोग मुफ़्त में कर सकते हैं क्योंकि जहाँ भी ठहरते हैं मांग कर भोजन कर लेते हैं और इस प्रकार का भोजन-दान करना सवाव का काम माना जाता है। इससे इस गर्वोक्ति का रहस्य सिद्ध हो जाता है कि किसी भी मुसलिम शक्ति ने न कभी कच्छ पर आक्रमण किया और न किसी प्रकार का कर ही लगाया—उनकी यह उदारता कम से कम उतनी ही राजनैतिक भी थी जितनी कि धार्मिक। एक प्रकार की प्रच्छन्न सहानुभूति अपरिचितों को भी, चाहे वे किसी वर्ग, धर्म या देश के हों, विदेशी भूमि अथवा स्थल पर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट कर देती है—और शीघ्र ही मेरे चारों ओर एक भीड़ जमा हो गई। मैंने पेशावर की एक टोली को खुश कर दिया जब मिस्टर एल्फिन्स्टन के विवरण का स्मरण करते हुए मैंने उनको 'हिन्द की' कहा—वे अपने को 'लोग' या समूह (Multitude) कहते हैं। दूसरे लोगों से मैंने शाहसुजा, उनकी भूमि पर रणजीत के धार्मिक अभियान आदि की बातें कहीं, परन्तु उन्होंने इस पर कोई

की डाक गजनी (Gujni) भेज दी है और दूसरी मैंने यहाँ से भेजी है। वृद्ध राज्यपाल आदरणीय जेठाजी ने एक जीनसवारी का घोड़ा और कुछ घुड़सवार पहली मंज़िल के लिए मेरे हवाले कर दिए हैं। मैं आज ही साँझ पड़े रवाना हूंगा और, क्योंकि फासला पचास मील से कम है, कल प्रातःकाल 'छोटी हाज़री'[1] के समय वहाँ पहुँच जाऊँगा।

मैंने नगर की गलियों में घूमने और आस-पास के कुछ प्राचीन दृश्यों को देखने में समय पूरा किया। यह पाँचहज़ार पक्के घरों का बड़ा कस्बा है जिसमें बीस हज़ार मनुष्यों की आबादी है। जब यह उन्नति के शिखर पर था तो इस बन्दरगाह पर आवागमन करने वाले जहाजों की संख्या चार सौ से कम नहीं थी और वे प्रायः यहाँ के धनी व्यापारियों के निजी जहाज थे। परन्तु, सभी जगह का व्यापारी धन्धा ठंडा पड़ जाने के कारण मांडवी पर भी असर पड़ा है और अरब व अफ्रीका जाने वाले कुछ थोड़े से जहाजों को छोड़ कर किनारे-किनारे पर मलाबार तक का व्यापार ही सीमित रह गया है। राव गोर के समय में मांडवी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था क्योंकि वह स्वयं समुद्री अभियानों में रुचि लेता था और उनसे अधिकाधिक लाभ प्राप्तकरने के अभिप्राय से उसने डच कारखाने के नमूने का एक महल इस बन्दरगाह पर खड़ा कर लिया था; परन्तु, पिछले भूचाल के प्रभाव से पश्चिमी भारत का कोई भी हिस्सा अछूता नहीं रहा और राव गोर का यह महल भी हिल कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। राव ने एक डाक-यार्ड [जहाज बनाने का कारखाना] भी बनवाया था जिसमें अपने जहाजों के निर्माण की वह स्वयं देख-रेख करता था। पीटर महान् के से पूर्ण उत्साह के साथ उसने निश्चय किया था कि उसके कारखाने में बना हुआ जहाज उसी की अध्यक्षता में उसके ही प्रजाजनों से भर कर इङ्गलैण्ड तक समुद्र को चीरता हुआ चला जायगा। यात्रा हुई, वह सुन्दर जहाज वर्षाऋतु में मलाबार के तट तक पहुँच कर सुरक्षित लौट आया; परन्तु, नाखुदा सच्चे नाविक ने जहाज और उसका भार काली देवी (Venus) के भेट चढ़ा दिया, और सबसे बढ़ कर आश्चर्य की बात तो यह है कि उसकी कारीगरी और योजना की सम्पूर्ति के बदले में राव ने उदारता-पूर्वक उसको क्षमा प्रदान कर दी। अब भी खारी और लंगर पर दो और तीन सौ के बीच जहाज हैं, जिनमें से एक तीन मस्तूल वाला जहाज कच्छ के राव का है। राव गोर और भावनगर के गोहिल राजा दोनों में ही हमको मानवीय मस्तिष्क के लचीलेपन और परिस्थितियों के अनु-

---

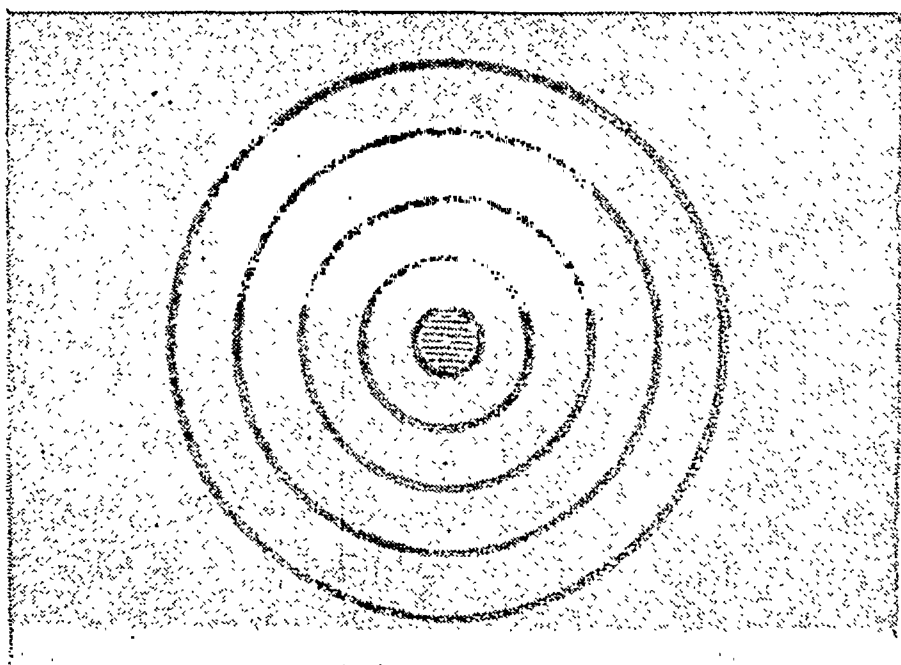
[1] प्रातराश (कलेवा)।

इधर-उधर होता रहता है। विश्व-प्रेमियों के विचारों ने अफ्रीकी दासों के मन पर बहुत असर कर लिया है जिन्होंने, मेरे संवाददाता के शब्दों में, 'श्रम और श्रद्धा [स्वामिभक्ति] को बिलकुल तिलाञ्जलि दे दी है।' बेचारे सिद्दी (Sidi) की भाषा में सम्भवतः इन श्रम और श्रद्धा] का अर्थ कोड़े और मेहनत के आगे आत्मसमर्पण करना है; उसने फिर कहा—'ये लोग अब हमारे काम के नहीं रहे क्योंकि जब उन्हें काम करने के लिए कहा जाता है तो वे जवाब देते हैं कि जब मर्जी होगी तब करेंगे और जब उनको सज़ा दी जाती है तो वे भाग जाते हैं। पहले, जब राव की सरकार सर्वेसर्वा थी तो उन्हें वापस माँग लिया जाता था परन्तु, अब वहाँ तुम्हारा [बृटिश] का भी दखल है। यदि मजबूर होकर अपना घाटा पूरा करने के लिए पगार या भोजन कम देते हैं तो वे चोरी कर के पूरा कर लेते हैं और यदि पीटने की धमकी देते हैं तो उनमें से कोई-कोई वापस तमाचा मारने को कहता है; जब कि पहले के ज़माने में यह धमकी थी कि वे बदले में यह कहते हुए मर जायें कि—हमारी क्या जिन्दगी है ? मरने पर कौन रोने वाला बैठा है ? हमारे पीछे न बे-सहारा माताएं है न अनाथ बच्चे।' यह मुझ से शब्दशः उस आदमी का कहना है, जो इस अपवित्र व्यापार से खूब फायदा उठा चुका था। मैंने सिद्दी नाविकों से बढ़ कर प्रसन्न, चुस्त और गठीले आदमी और नहीं देखे चाहे वे सड़कों पर जहाजी बेड़े के सिपाहियों के रूप में घूमते हों या बन्दरगाह के बेड़े से सम्बद्ध हों। दासत्व के बुरे दिनों में इनमें से चुने हुए लोगों को ही दो या तीन सौ कौड़ी अर्थात् अस्सी रुपये या दस पाउण्ड मिलते थे। ऊपर लिखे आख्यान से विलबरफोर्स (Wilberforce)[1] को कैसा आनन्द प्राप्त होता !

जनवरी ३ री—निर्दयी हवा अब भी प्रतिकूल रही अतः मैंने अपने कार्यक्रम में कुछ परिवर्तन कर लिया है और भुज के समुद्र-तट पर दौड़ जाने का निश्चय किया है। यदि वहाँ पर मुझे 'सराह' के विदा होने में देरी के समाचार मिले या लौटने पर भी हवा इसी तरह चलती रही तो फिर मैं किसी भी प्रकार की जोखिम उठाने को तैयार रहूँगा। मैंने कल रात को ही एक घुड़सवार मिस्टर गार्डीनर के पास भुज दरबार का निमन्त्रण स्वीकार करने का समाचार लेकर भेज दिया है। मेरी यात्रा का कार्यक्रम जल्दी सम्पन्न कराने हेतु उन्होंने एक घोड़ों

[1] एक अंग्रेज विश्व-प्रेमी। इनका जन्म हल (Hull) में १७५९ में हुआ था। १७८० ई० में बृटिश पार्लियामैण्ट के मैम्बर होकर इन्होंने दासप्रथा का अन्त करने के लिए बड़ा संघर्ष किया। अन्त में मार्च, १८०७ ई० में दास-प्रथा निरोधक बिल पास हुआ। विलबरफोर्स की मृत्यु २९ जुलाई, १८३३ ई० को हुई।—N.S.E. p. 1297

पत्ते चढाए और धूप-दानी घुमाई तब तक मैं प्रतीक्षा करता रहा। मैंने भारत में अब तक जितने समाधि-स्मारक देखे हैं उनमें ये सब से विचित्र हैं और सन्दर्भों से प्रतीत होता है कि स्पष्ट रूप से ये 'बाल' के पुजारियों से सम्बद्ध हैं। ये बहुत ही छोटे-छोटे हैं और इनकी सीढ़ियाँ एक-केन्द्रीय वृत्तों के आकार में बनी हुई हैं; बीच में (केन्द्र-बिन्दु पर) एक स्तम्भ खड़ा है—वह इस प्रकार है—



इसी श्मशान भूमिके खण्डहरों में रहने वाले इस एकाकी प्राणी से मैंने बात-चीत शुरू की, परन्तु या तो वह अपने सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था या उसने कुछ बताना ही उचित नहीं समझा। मुझे बताया गया कि वहाँ प्रायः चांदी के सिक्के मिल जाते हैं इसलिए मैं उन खण्डहरों में घूमता रहा और मेरे इस अनुसन्धान के परिणाम-स्वरूप मुझे दो अच्छी दशा में सुरक्षित सिक्के प्राप्त हुए, जिनके एक ओर मुकुटधारी राजा की आकृति अंकित थी और दूसरी ओर पिरामिड की शकल का चिह्न, जिस पर उन्हीं दुष्पाठ्य अक्षरों में लेख था, जो गिरनार के शिलालेख में मिले थे। राई के खण्डहरों से लेकर प्राचीन उज्जैन (Oojein) तक समुद्र-तट पर अथवा बीच में आन वाले नगरों में समय-समय पर ऐसे ही सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि इस भाग पर किसी शक्तिशाली राजवंश का विशाल आधिपत्य रहा था—परन्तु, वे अणहिलवाड़ा के बल्हरा थे अथवा किसी और भी प्राचीन वंश के राजा थे, इस विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। हमें आशा करनी चाहिए कि अनुसंधान की इस शाखा से जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है उसके कारण यह तथ्य सदा के लिए एक रहस्य नहीं बना रहेगा।

सार मोड़ ग्रहण करने के विशिष्ट उदाहरण मिलते हैं क्योंकि जहाजों और व्यापार से संसर्ग रखने से बढ़कर राजपूत की प्रकृति में कोई विरोधाभास दृष्टिगत नहीं होता। मोम की मोटी-मोटी रोटी-जैसे अर्द्ध-पारदर्शक गैंडे के चमड़े जगह-जगह बाजार में लटक रहे थे; ये ढालें बनाने के लिए तैयार किए गये थे; स्त्रियों के लिए चूड़े और दूसरे गहने बनाने के लिए हाथी-दांत, सूखे और ताज़ा खजूर, किशमिश, बादाम, पिश्ते आदि से उन सभी स्थानों का सूचन होता था जिनसे मांडवी के व्यापारिक सम्बन्ध कायम थे। ऐसा लगता है कि कपास यहाँ के व्यापार की मुख्य वस्तु है; इसकी चपटी और गोल गांठें दबा-दबा कर बाँधी जाती हैं; मोटा सूती कपड़ा, शक्कर, तेल और घी भी बिकते नज़र आ रहे थे।

स्थानीय कागज़-पत्रों में माण्डवी को अब भी अधिकतर इसके प्राचीन नाम 'रायपुर-बन्दर' अथवा 'रायपुर के बन्दरगाह' से अभिहित किया जाता है, जो 'खाड़ी' अथवा 'खारी' से तीन मील ऊपर की ओर इसके पुरातन अवस्थान राईं (Raen) के कारण पड़ा था। मैंने इस स्थान को जाकर देखा। दो छोटी-छोटी झोपड़ियाँ इसके अवशेषों पर खड़ी हैं जिन से किसी प्रकार के प्राचीन स्मारक का पता नहीं चलता—हाँ, एक छोटा सा मन्दिर पवित्र तरुण-नाथ (Toorun-nath) का है। कहते हैं कि वे प्रसिद्ध योगी थे और अज्ञात शक्तियों से उनका सम्बन्ध था। यह भी कहा जाता है कि राईं और इससे सम्बद्ध अन्य ग्रामों के निवासियों द्वारा अपने जीवन में सुधार करने सम्बन्धी आदेशों का पालन न करने के कारण उन्होंने उक्त स्थानों को नष्ट होने का शाप दे दिया था। हिन्दू आख्यानों में आई हुई अन्य कथाओं के समान इसके साथ भी कोई गहरा ऐतिहासिक तथ्य जुड़ा हुआ है। निस्सन्देह, राईं के प्राचीन राजा उनके वंशजों, (वर्तमान भुज के राजाओं) से गए बीते नहीं थे जिनको आज भी प्रायः भूकम्प के धक्के सहने पड़ते हैं; वास्तव में, वे कभी भी इस आशंका के बिना तकिए पर सर नहीं रखते कि न जाने किस समय भूचाल के कारण उनको जग जाना पड़े।

पहले, ज्वार के समय जहाज राईं तक आ सकते थे परन्तु इसके शाप-ग्रसित होने के दिन से एक मिट्टी की आड़ी दीवार ने प्रवेश को रोक दिया है और इसके नीचे बहने वाली नदी अब 'खारी' नहीं है अपितु ताज़ा पानी का प्रवाह है। मैं तरुण-नाथ के प्राचीन मन्दिर के अवशेषों में गया और सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद एक वृद्ध 'कनफटा' योगी को (ये लोग कान चिराने के कारण कनफटा कहलाते हैं) तरुण के 'चरणपद' अथवा चरण-चिह्नों पर रहस्यमयी क्रियाएं करते हुए देखा। वह उन्हीं [तरुणनाथ ही] के सम्प्रदाय का था। जब तक उसने अपने सभी पूर्ववर्ती गुरुओं की कृत्रिम समाधि पर 'जल चढाया', हरे

प्रश्नवाचक मुद्रा में सिर हिला-हिला कर देखते थे; यह दृश्य उस समय देखने में आता था जब मशाल की रोशनी उनके दाढ़ी वाले उन चेहरों पर पड़ती थी, जिन पर फिरंगी की हरकतों से उत्पन्न हुआ आश्चर्य भी स्पष्ट रूप में अंकित था। यह गेराई डो (Gerard Dow)[1] अथवा स्कलकेन (Scalken) के देखने योग्य दृश्य था और कच्छ में घोड़े की पीठ पर बिताई हुई रात्रि के अनुरूप था। बर्कहार्ड (Burckhardt) ने कहा है कि जब वह वादी मूसा (Wady Mosa) और हारू Haron) की मजारें देखने गया और वहाँ के खण्डहरों में शिलालेखों की खोज करने लगा तो लोगों ने उस पर पूर्ण अविश्वास करते हुए उसे कोई दफ़ीना खोजने वाला जादूगर समझा; और पूरे भारत में यही धारणा फैल गई; यहाँ तक कि मुझे तो लोग अच्छी तरह जानते थे परन्तु फिर भी ऐसे कम ही थे जो मेरे शोध-कार्य को लक्ष्मी की अपेक्षा सरस्वती से अधिक सम्बद्ध मानते हों। फिर भी ऐसी धारणा का बिलकुल ही आदर न करना भी संगत नहीं होगा क्योंकि पूर्वीय अत्याचारों के शिकार बने हुए इन देशों के निवासी अपने धन-माल को सुरक्षित न मानते हुए उसे जमीन के अन्दर गाड़ने के अतिरिक्त स्वभावतः यह भी समझते हैं कि इस तरह के लेखबद्ध पत्थर उन स्थानों के सूचक हैं जहाँ ऐसे खजाने गड़े होते हैं।

दिन निकलते ही भुज की पहाड़ियाँ दिखाई देने लगीं और उनकी नंगी चोटियों पर आसमान में खड़ी परकोटे की दीवारें और बुर्जे यद्यपि उस सुनसान घाटी को एक प्रकार की सुन्दरता प्रदान कर रही थीं परन्तु उन्हें देख कर जाड़ेचा वास्तुविद् की चतुराई का कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं हो रहा था। पिछले भूचाल का ही एकमात्र आक्रमण इन पर हुआ था, जिससे बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गई हैं परन्तु वर्तमान शासन में उनकी मरम्मत कराने की सूझ-बूझ भी नहीं रही। सूरज उगते-उगते मैं पोलिटिकल एजेण्ट मिस्टर गार्डिनर के निवास-स्थान पर पहुँचा तो वे पहले से ही 'तन्दुरुस्ती के लिए हवाखोरी' करने निकल गए थे; बीच का समय पूरा करने के लिए मैंने कच्छ के रावों के समाधि-स्थलों की ओर सीधा रास्ता पकड़ा। ये स्मारक झील के पश्चिमी किनारे पर बने हुए हैं, जिसके बीच में एक टापू भी है; इन स्मारकों में पुरातत्व और चित्रकला दोनों ही विषयों के आकर्षक पदार्थ मौजूद हैं। सन् १८१९ ई० के भूकम्प ने जाड़ेचों के इन गौरवपूर्ण स्मारकों में तहलका मचा दिया था, परन्तु सामान्य पालिए अक्षुण्ण खड़े रहे। कुछ स्मारक तो गिर कर ढेर हो गए और कुछ वैसे ही रहे,

---

[1] व्यंग्यचित्रकार

प्रकरण २२

काठियों की प्राचीन राजधानी कंथकोट (Cath-kote); कच्छ के रावों के श्मशान; भुज नगर; ग्रन्थकर्त्ता की जाड़ेचा सरदारों से भेंट; उनकी पोशाक; राव देसल से मुलाकात; काचमहल; दीवानखाना; जाड़ेचों के विषय में ऐतिहासिक टिप्पणियाँ; यदुवंश; राजपूतों का वंशानुक्रम; हिन्दुओं के बेटी-व्यवहार का विस्तार; यदुवंश और बौद्ध धर्म की एकता; जाड़ेचों के पूर्वज यदु [यादव]; यादवों की शक्ति; पश्चिमी एशिया से आई हुई इण्डो-सीथिक यादव-जाति; सिन्ध-सुम्मा जाड़ेचा; वंश-वृक्ष; जाड़ेचों की वंशावली में से उद्धरण; सिन्ध-सुम्मा जाड़ेचों का इस्लाम धर्म में परिवर्तन; लाखा गर्बीले के क्रमानुयायी; बहु-विवाह की बुराइयाँ; कच्छ में सुम्मा जाति की पहली बस्ती; जाड़ेचों में बाल-वध की कुप्रथा का मूल; मोहलत कोट (Mohlut kote) की दुर्घटना; बालवध की कुप्रथा अब भी चालू है; प्रथम जाड़ेचालाखा; जाड़ेचा रियासत के संस्थापक रायधन द्वारा महान् रण में उपनिवेश का नेतृत्व; भुज का संस्थापक राव खेंगार; जाड़ेचों की ऐतिहासिक वंशावली के निष्कर्ष।

जनवरी ४ थी—यदि किसी कट्टर पाश्चात्य देशीय घुमक्कड़ व्यक्ति को अच्छी तरह व्यालू [रात्रि-भोजन] करा कर आप 'कॉफी' के बजाय 'घुड़सवारी' के लिए आमन्त्रित करें और जीन पर ही रात बिताने को कहें तो उसे बड़ी कठिनाई होगी; परन्तु, अभ्यास उसे जल्दी ही ऐसे अनुशासन का आदी बना देगा और यदि इस श्रम के पुरस्कार रूप में ऐसे पदार्थ देखने को मिलें जो मेरी दृष्टि में थे तो उसे एक प्रकार का अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होगा। यदि उसके स्वभाव में थोड़ी-सी भी कल्पना-शीलता अथवा साहसिक कार्यों के प्रति अभिरुचि होगी तो उसके अपने ही विचार उसकी पलकों को निद्रा से बचा ही न लेंगे अपितु ऐसी कल्पना को जगा भी देंगे कि अनजाने ही उसे सवेरा आ पकड़ेगा और उसकी इच्छा होगी कि काश ! वह रात और उसकी कल्पनाएं और भी लम्बी होतीं ! कुछ संस्मरण और विचार तो उस समय जाग पड़ेंगे जब उसे अंधेरे जंगल और उजाड़ मैदान को पार करना होगा, जहाँ उसके आस-पास की मण्डली के अतिरिक्त आदमी का चिह्न भी दिखाई न पड़े अथवा जब काठियों की प्राचीन राजधानी कठ-कोट जैसे टूटे-फूटे खण्डहरों में मशालें चमक उठें, जहाँ मैं मन्दिर के टूटे हुए बड़े-बड़े पत्थरों में शिलालेखों की खोज में भटकता फिरा था। चारों ओर चुपचापी थी और मेरे व मेरे मार्ग-दर्शक के ही पदचाप उन पत्थरो को खड़खड़ा रहे थे; यही नहीं, उस समय हमारे वीर घोड़े भी नासमझ नहीं जान पड़ते थे क्यों कि वे भी अपने सवारों की तरह, एक दूसरे की ओर

लखपत स्थान पर डाक का दस्ता भेजने का प्रस्ताव कर दिया; इस प्रकार पूर्वीय कहावत के अनुसार उन्होंने मुझे 'कुआँ और खाई के बीच' रख दिया क्योंकि यदि मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता हूँ तो मुझे एक क्षण भी न ठहर कर इसी समय रवाना हो जाना चाहिये और अपने पूर्वाभिमत जाड़ेचों के इतिहास और परम्पराओं की खोज का विचार छोड़ देना चाहिए। अतः मैंने भुज में छत्तीस घण्टों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने तथा अपने कार्य को पूरा करके माण्डवी पहुँचने तक हवा की अनिश्चित स्थिति मान लेने का निश्चय किया। मैंने शीघ्र ही अपना विचार प्रकट कर दिया और मेरे मेजमान की उत्साहपूर्ण कृपा के फलस्वरूप उनकी निजी जानकारी के साथ-साथ जल्द ही मुझे भाट और उनकी बहियाँ भी उपलब्ध हो गईं। रीजेन्सी के प्रमुख और समझदार सदस्य आदरणीय रतनजी ने अपने लम्वे और रोचक वार्तालाप के अन्तर्गत जाड़ेचा शासन का पूरा-पूरा ज्ञान कराया और यह भी बताया कि इसमें और राजपूत शासन-पद्धति में कहाँ-कहाँ अन्तर पड़ता है। वस्तुतः उन्होंने पूरा समय मेरे साथ विताया और बड़े ही कृपापूर्ण एवं सभ्य तरीके से मेरे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर धैर्य के साथ लिखाते रहे—इसी [बातचीत] के आधार पर मैं भुज के वर्णन का उपसंहार करता हूँ।

प्रातराश के बाद भुज के मुसाहब, रीजेन्सी के सदस्य और उस समय राजधानी में उपस्थित सभी जाड़ेचा सरदार स्वागत के रूप में मुझ से मिलने आए। इस असाधारण रईस-समाज के लोगों की साहसिक आकृति और रीति-रिवाजों को देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई; ये लोग, वास्तव में, बड़ी अच्छी जाति के मनुष्य हैं, परन्तु उतने लम्वे नहीं हैं जितने कि मैंने समझ रखे थे और इनके वर्ण में भी पूर्वीय राजपूतों से कोई विशेष भिन्नता नहीं है—केवल ठोड़ी पर बीच में से हजामत के कारण दोनों ओर निकली हुई लम्बी-लम्बी उलटी दाढियों से ही इनकी शकल में कुछ अन्तर जान पड़ता है। दूसरा अन्तर जाड़ेचों की भारी-भरकम पोशाक का है, जिसमें उनका बड़ा पायजामा और ढीली परन्तु गौरवपूर्ण पगड़ी शामिल है। दूसरे दिन दोपहर को मैं वहाँ के बालक राजा के दरबार में गया। उसकी अवस्था सात वर्ष की है और वह अपनी वंश-परम्परा में अन्तिम देसल नामधारी राजा से पाँचवीं पीढ़ी में इसी (देसल) नाम को धारण करता है। राजपूतों के समान अपने वंश के प्रसिद्ध नामों की परम्परा का पालन करते हुए ये लोग उनमें अन्तर बताने के लिए साथ में पिता का नाम भी जोड़ देते हैं—इस प्रकार वर्तमान राजा देसल भारानी अर्थात् भार का पुत्र देसल कहलाता है, जो देसल गोरानी अर्थात् गोर के पुत्र देसल से भिन्न है, इत्यादि। इस वंश में

यहाँ तक कि राव लाखा की छतरी में, जो बहुत नई और ठोस बनी हुई है, जरा सा भी नुकसान नहीं हुआ। इनकी बनावट राजपूताना के स्मारकों से भिन्न है क्योंकि वहाँ तो चबूतरे पर खुले खम्भों पर गुम्बज टिका रहता है जब कि यहाँ पर ये पत्थर की पर्दी (पतली दीवार) या जाली से घिरे रहते हैं—मानों उनके कारण अपवित्रता अन्दर नहीं आ सकती। इनमें होकर मैंने राव लाखा[1] का पालिया देखा जिसमें घोड़े पर सवार, हाथ में बल्लम लिए हुए उसकी उभरी हुई आकृति बनी हुई है; इसके दोनों ओर बराबर-बराबर संख्या में छोटे-छोटे पालिये बने हुए हैं, जो उसकी रानियों और दासियों के हैं जिनको उस अवसर पर 'सत' चढ़ा था। पालियों के पास ही, अथवा हमको छतरियाँ कहना चाहिए, एक गदा के आकार का खम्भा बना हुआ है, जिसके सिर पर दीपक रखने का स्थान खोखला करके बनाया गया है, जिससे राजपूत-दाह क्रिया के साथ मुसलिम तरीके का भी सूचन होता है। वास्तव में, जाड़ेचों ने इतनी बार मत-परिवर्त्तन किया है कि अब उनके लिए यह कहना कठिन है कि वे किस धर्म के अनुयायी हैं। इन सभी समाधि-स्थलों पर छेनी से बनाई हुई आकृतियों से ज्ञात होता है कि ये योद्धाओं के अवशेषों पर खड़े किए गए हैं—केवल एक समाधि ऐसे आदमी की है, जो अपने हाथ से मरा था। इस पर एक ऐसे आदमी की आकृति बनी है जिसने घुटने टेक रखे हैं और वह शाप देने की मुद्रा में कटार को अपने सीने की ओर ताने हुए है; सम्भवतः यह किसी चारण या भाट के संस्मरणीय 'त्रागा' का सूचक है, जो अत्याचारी से बदला लेने का एकमात्र प्रकार उसके वश में [होता] था।

भुजनगर केवल तीन शताब्दी पुराना होने का दावा कर सकता है अतः जाड़ेचों के विषय में मेरे द्वारा शिलालेखों की खोज करना बेकार था; परन्तु, कुछ पालिए ऐसे थे जिन की साधारण वेदियों पर पुराने लेख मौजूद थे, जो समय के प्रभाव से मिट कर दुष्पाठ्य हो गये थे।

वापस लौटने पर मुझे रेज़ीडेण्ट साहब और उनके सहायक लेफ्टिनेंट वाल्टर मिले; उन्होंने ऐसा स्वागत किया कि ऐसी यात्राओं में प्रायः होने वाली जो कुछ छुटपुट असुविधाएं हुई थीं उन सब की भरपाई हो गई। सिन्धु [नदी] की पूर्वीय भुजा पर पहुँचने की मेरी उत्सुकता को जान कर मिस्टर गार्डिनर ने तुरन्त ही

[1] इस स्मारक के प्रशंसनीय और सही खाके के लिए मैं पाठकों को कैप्टन ग्राइण्डले (Capt. Grindley) लिखित 'सिनेरी आफ वेस्टर्न इण्डिया' (Scenery of Western India) नामक पुस्तक पढ़ने का अनुरोध करूंगा।

सजा हुआ है ; मेवाड़ का राणा जगतसिंह रूस की सम्राज्ञी कैथराइन के साथ मौजूद है; मारवाड़ का राजा बखतसिंह और होगार्थ (Hogarth) का 'चुनाव',[1] दूसरे फ्लेमिश (Flemish)[2], अंग्रेज तथा भारतीय प्रजाजनों के साथ कच्छ के प्रथम राव से लेकर अब तक के राजा सम्मिलित हो रहे हैं। ये सब असंबद्धताएं होते हुए भी जाड़ेचों की इस चित्र-दीर्घा से कितने ही अनुमानों के सूत्र मिलते हैं ; पुराने और नये रावों के पर्दों तथा सजावट के अन्तर से उनकी पोशाक और रहन-सहन में आदिमकालीन सादगी से स्पष्ट अतिक्रम ज्ञात हो जाता है।

वहाँ से हम लोग नए बने हुए 'दरबार' या सभामण्डप में गए जो अभी पूरा तो नहीं बना था, परन्तु उसके निर्माण और सजावट की सादगी उस पूर्व-वर्णित 'खिलौनों के घर' से उपयोगी रूप में भिन्न थी, जिसमें से हम अभी निकल कर आए थे। यहाँ की दृढ़ता, सुविधा और उपयोगिता में अध्ययनीय समझदारी नज़र आती है। यह समस्त जाड़ेचा 'भायाद' के एकत्रित होने के लिए उपयुक्त है और इसको चारों ओर काले पत्थर की बनी हुई जल-कुल्या से सजा कर एक टापू-जैसा बना दिया गया है, जिससे वे लोग ठंडे रहें अथवा गर्मी के मौसम में शीतलता का अनुभव कर सकें। यह महल झील के सम्मुख खड़ा है और इसमें सजावट के अन्य उपकरण भी होंगे परन्तु समय-संकोच के कारण मैं उन्हें देख नहीं सका।

अब हम जाड़ेचों के विगत इतिहास पर दृष्टिपात करें। मैं इस देश में यह पूरी आशा लेकर आया था कि इस क्षेत्र के राजवंश की प्राचीन स्थिति के अनुकूल कोई चिह्न अवश्य मिलेंगे और यह विश्वास भी था कि उन लोगों में टेस्सारियस्टस (Tessarioustus) [तेजराज ?] के वंशजों की पहचान हो सकेगी, जिसके राज्य पर ईसा से दो शताब्दी पूर्व मीनान्डर और अपोलोडोटस ने अभियान किया था, परन्तु, मुझे यह जान कर बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि कच्छ में जाड़ेचों की स्थिति मुस्लिम-विजय काल की परिसीमा में ही थी और स्वतन्त्र राज्य के रूप में उनकी शक्ति तीन सौ वर्ष से पूर्व की नहीं थी। जाड़ेचों की वंशावली पूरे तीन सौ वर्षों में सीमित है, जिसमें केवल तीन-चार ही ऐसे तथ्य मिलते हैं कि जो सच्चे इतिहास में लागू हो सकते हैं ; अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होने पर भी ये महत्व-

---

[1] होगार्थ (Hogarth) सुप्रसिद्ध अंग्रेजी चितेरा और कोरणीकार था। उसका समय १६९७ से १७६४ ई० तक का था। वह उस समय के प्रत्येक अविवेकपूर्ण कार्य पर व्यङ्ग्य-चित्र बनाता था। ऐसे चित्रों की एक प्रदर्शनी अब तक भी उसके मकान में लगी हुई है, जो होगार्थ-गली (Hogarth-Lane), लन्दन में है। उसकी अन्य कृतियाँ भी उस संग्रहालय में प्राप्त है। यहां ऐसे ही एक 'चुनाव' (व्यङ्ग्यचित्र) से तात्पर्य है।

[2] वेल्जिअम-निवासी

इस नाम के दो ही राजा हुए हैं, परन्तु लम्बी वंशावली में लाखा और रायधन जैसे अधिक प्रसिद्ध नामों की आवश्यक परिवर्तन के साथ आवृत्ति का अधिक वार होना स्पष्ट है। शहर का जो कुछ भाग मैं देख पाया वह तो महलों में जाते समय मार्ग में ही देख सका और यदि वही सम्पूर्ण नगर का प्रतिनिधि भाग था तो और भागों को न देखने से कोई दुःख नहीं हुआ।

बालक राजा को एक सिंहासन पर बैठाया गया, जो रजवाड़ा के राजाओं के सामान्य सिंहासनों से भी ऊँचा था, शायद इसलिए कि वह 'साहब लोगों की कुरसियों' से ऊपर दिखाई पड़े, जो राजपूत-दरबारों में कभी नहीं लगाई जातीं। लम्बा दीवानखाना जाड़ेचा जागीरदारों से खचाखच भरा था और ज्यों ही हम प्रविष्ट हुए, दूसरे सिरे से भाटों ने भूतपूर्व जाड़ेचा वीरों के नाम और पराक्रम का वखान शुरू कर दिया। औपचारिक रूप में आवश्यक समय तक बैठने के बाद स्वयं बालक राव ने हमको विदाई दी और हम रतन जी के साथ 'भुज के शेर' और शीशमहल देखने गए; ऐसा एक-एक शीशमहल रजवाड़ा के प्रत्येक रईस के राजमहल में होता है। इस विशाल प्रदर्शनीय मकान पर अस्सी लाख कौड़ी का धन (कच्छ राज्य का तीन वर्ष का राजस्व) खर्च किया गया था—परन्तु, इसको देखने पर इसे बनवाने वाले राव लाखा में किसी सुरुचि अथवा विवेक का होना नहीं पाया जाता; उसने अपने पूर्वज द्वारा कंजूसी से जमा किए हुए ख़जाने का इस प्रकार अपव्यय मात्र किया था। इसका अंतरंग भाग सफेद संगमरमर का है, जिसमें सर्वत्र काच जड़े हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक को चारों ओर सोने के अलंकरण द्वारा पृथक् बताया गया है। छत से रोशनी के झाड़ लटक रहे हैं और उस पर भित्ति-चित्र बने हुए हैं; फर्श पर चीनी टाइलें जड़ी हुई हैं और वह डच तथा अंग्रेजी सुरीली घड़ियों से भरा पड़ा है, जिन सबको एक साथ चालू कर दिया गया तो एक पूरा डच-सहगान आरम्भ हो गया; दीवार के मध्य भाग में बने हुए ताक किसी मणिहार या बिसायती की दूकान की तरह काच के सामान से भरे हुए थे और दीवारों पर लगी हुई तरह-तरह की काच की मूर्तियों से भी इस उपमा में कोई अन्तर नहीं आ रहा था। इस बहुमूल्य साजसज्जा के बीच में राव लाखा का वह पलंग रखा है जिस पर उसकी मृत्यु हुई थी; इसके पाये सोने के हैं और सामने ही अखण्ड-ज्योति जलती रहती है। इस प्रकार यह पलंग जाड़ेचों के कुल-देवताओं में सम्मिलित कर लिया गया है और यदि इसकी नश्वर सामग्री बहुत लम्बे समय तक बनी रही तो यह राव लाखा के उत्तराधिकारियों द्वारा निरन्तर पूजित होता रहेगा। इस बड़े कक्ष के चारों ओर एक बरामदा है जिसकी फर्श पर भी टाइलें जड़ी हुई हैं और दीवारों पर एक विचित्र बेमेल आकृति-चित्रों का संग्रह

पति-शासन के उस ज़माने के बाद हिन्दू धर्म [शासन प्रणाली?] में अब तक बहुत सुधार हो चुका है।

आजकल के राजपूतों में अपने ही कुल में सगोत्र विवाह के विचार को सबसे बुरा समझा जाता है; वे इसे अत्यन्त वर्जनीय मानते हैं। परन्तु, स्वयं कृष्ण की माता देवकी ही उनके पिता की फूफेरी (या मामेरी) बहिन थी; यही नहीं, हमें इस जाति में बहुपतित्व के भी उदाहरण मिलते हैं, जो ट्रान्सोक्षियाना (Transoxiana) के गेटों या जीतों (जिनको चीनी इतिहासकारों ने यूते या यूची (Yuechi) लिखा है) पाए जाते हैं। इन्हीं में से, एक अधिकारी विद्वान् न्यूमॅन (Nuemann) के अनुसार बुध का जन्म ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। यदि पाठक मेरे 'जैसलमेर के यादव राजा (जो जाड़ेचों के समान अपनी वंशोत्पत्ति कृष्ण से मानते हैं) और जीत या 'गेटिक' वंश पर लिखे हुए निबन्ध को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि ये अपर जाति[1] के लोग अपने को यादवों के वंशज बताते हैं, जिनका निकास हम गज़नी से मानते हैं और कहते हैं कि पञ्जाब में सालपुरा होते हुए इस्लाम की बढ़ती के साथ-साथ वे सतलज पार करके भारतीय रेगिस्तान[2] में उनके वर्तमान संस्थान तक जा पहुँचे थे। यदु-भाटी गज़नी को अपनी प्राचीन राजधानी मानने और चग़तई वंश को अपनी स्वधर्म-त्यागी शाखा बताने के अतिरिक्त यह भी कहते हैं कि वे पश्चिमी एशिया में महान् गृहयुद्ध और अपने नेता कृष्ण तथा पाण्डवों की मृत्यु के कारण आये थे। परन्तु तथ्य यह है, जैसा कि मैंने कई बार कहा है और फिर एक बार दोहरा देता हूँ, कि उस समय आक्सस (Oxus) से गंगा तक एक ही धर्म में विश्वास करने वाली एक जाति थी और इन प्रदेशों में उनका खूब आवागमन था। अब, हर रोज़ उन 'साहिबान' (Savans) की आँखें खुलती जा रही हैं, जो कभी सिन्धु (नदी) के उस पार देखते ही न थे क्योंकि वही 'हिन्दू' थी और बाकी सब को 'बर्बर' कह कर सुदृढ़ मोहर लगा दी गई थी। इन संकुचित विचारों को अब छोड़ना पड़ रहा है; हिन्दू नगर और हिन्दू-गेटिक चन्द्रक काकेशश[3] तक में पाए गए हैं और मुझे इस बात के प्रमाणित होने में भी आश्चर्य नहीं है कि महाभारत के यदु, पाण्डु और कुरु ही यूची (Yuechi), यती (Yuti)

---

[1] एनल्स ऑफ राजस्थान, भा० १, पृ० १०६ ; भा० २, पृ० १७६।

[2] एनल्स ऑफ राजस्थान, भा० २, पृ० २३१।

[3] इन चन्द्रकों और शिलालेखों को सही पढ़ कर समझने की बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

पूर्ण अवश्य हैं और इन्हें प्राप्त करने वाले हिन्दूपुरातत्त्व के शोधकर्त्ता को अपने थकान-भरे एवं स्वल्प-लाभप्रद कार्य के लिए भी सन्तोष हो सकता है।

जाड़ेचा, जो कभी भारत की शक्तिशाली जाति थी, महान् यदुवंश की शाखा में है। ये लोग अपना उद्भव शौरसेन के राजा कृष्ण से मानते हैं। मनु ने शौरसेन के निवासियों को रणकौशल में विशिष्ट बताया है; सिकन्दर के इतिहास लेखक एरिअन ने भी ऐसा ही लिखा है। मैं समझता हूँ कि ईसा से आठ सौ वर्ष पहले जमना-किनारे के यदुवंशी राजा शूरसेन के पुत्र वसुदेव के आत्मज कृष्णं की स्थिति उतनी ही प्रामाणिक है जितनी कि अन्य किसी देश में उसी काल का कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रमाण-सम्मत हो सकता है। असाधारण सौभाग्य अथवा अशिथिल शोध के परिणाम-स्वरूप मैंने कृष्ण के पितामह द्वारा संस्थापित शौरसेन की राजधानी शूरपुर का पता लगा लिया, और मानो हिन्दू-इतिहास को ग्रीक इतिहास से सम्बद्ध करने के लिए ही मुझे इन्हीं खण्डहरों में मेरा मूल्यवान अपोलोडोटसवाला चन्द्रक[1] भी मिल गया। जमना नदी की धारा जहाँ से यह अपनी चट्टानी रोक को तोड़ कर योगिनीपुर (आधुनिक दिल्ली), मथुरा, आगरा, शूरपुर होती हुई गंगा से संगम[2] करने के लिये प्रयाग (वर्तमान इलाहाबाद) तक, जिसको मेगस्थनीज़ ने प्रासी (Prasii) की राजधानी लिखा है, आ पहुँचती है वही प्राचीन यादवशक्ति की विस्तार-श्रृङ्खला रही है; और इस जाति की उत्तरोत्तर संस्थापित राजधानियों का वर्णन पौराणिक वंशावलियों एवं अन्यत्र उद्धृत पद्यों[3] में ही नहीं हुआ है अपितु इस तथ्य की संपुष्टि में हमें उन अज्ञात अक्षरों की भी साक्षी मिल जाती है, जो दिल्ली, इलाहाबाद और जूनागढ़ में प्राप्त हुए हैं। अस्तु, यादव-जाति का उद्भव कहीं से भी हुआ हो, भले ही वे, अपनी 'वंशावली' के अनुसार, पश्चिमी एशिया के शक-जातीय राजकुमार की ही सन्तानें हों, हमें अधिक छानबीन नहीं करना है और केवल उन्हीं तथ्यों को आधार मानना है जो उन्हीं के लेखों से प्राप्त हुए हैं अथवा अन्य स्रोतों से जिनकी सम्पुष्टि होती है और जिनसे यह सिद्ध होता है कि कुल-

---

[1] इस विवरण के लिए कृपया 'ट्रॉन्जेक्शन्स् ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, भा० १, पृ० ३१४' देखिए।

[2] जहाँ दो नदियाँ मिलती हैं वह स्थान 'संगम' कहलाता है और जहाँ तीसरी नदी आ मिलती है वह 'त्रिवेणी' कहलाती है जैसे प्रॉग (प्रयाग) में। यहाँ मिलने वाली तीसरी नदी का नाम 'सरस्वती' है।

[3] एनल्स ऑफ राजस्थान, भा० १।

पर मूर्तिपूजकों में कृष्ण और उनके मित्र अर्जुन के संवाद रूप में जो कुछ लिखा गया है वह सर्वोपरि है।[1]

परन्तु, ये सब बातें अरुचिकर ही नहीं, बहुतों को बुरी भी लग सकती हैं इसलिए हम यदु-परम्परा में एक कदम आगे बढ़ कर सिकन्दर के समय में आ जाते हैं और इस बात का प्रयत्न करते हैं कि कहीं सिन्धु के तट पर उसका सामना करने वालों में जाड़ेचों के पूर्वजों की पहचान तो नहीं हो जाती है ? मैं यहाँ पर एक बार फिर दोहरा देता हूँ कि हम कृष्ण को केवल उनके पर्थिव रूप में मानते हैं; वे यदुवंशी राजकुमार थे, शौरसेन देश से उनको खदेड़ दिया गया था, सौराष्ट्र के जंगलियों ने उनका वध कर दिया और अपनी आठ रानियों से बहुत-सी सन्तानें वे पीछे छोड़ गए थे। इन रानियों में से एक जाम्बवती और साम्ब[2] नामक उसके पुत्र से ही जाड़ेचा अपनी उत्पत्ति मानते हैं। कृष्ण के निधन और यादव जाति के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद कुछ लोग, जैसे कि जैसलमेर राज-वंश के पूर्वज, पञ्जाब होते हुए सिन्धु को पार करके आगे बढ़े और अन्त में उन्होंने गज़नी का राज्य स्थापित किया। दूसरी शाखा सौराष्ट्र में बनी रही; और तीसरी साम्ब और उसके साथियों की शाखा ने सिन्धु की घाटी में पैर जमाये तथा अपने नेता के नाम पर आधुनिक ठट्ठा के पास, जहाँ सिन्धु का डेल्टा दो भागों में बँट जाता है, एक नगर 'साम्ब' अथवा 'साम्बनगर' बसाया। इस नगर की स्थापना के साथ ही साम्ब का नाम इस जाति एवं राजाओं के लिए उपाधि सूचक बन गया जो आज तक चलता है और उनके स्थानीय इतिहास में तथा मुसलमान इतिहासकारों द्वारा 'सिन्ध-सुम्मा' वंश के रूप में स्वीकार किया गया है। 'साम्ब के नगर' अथवा सामनगर का उल्लेख जाड़ेचों की वंशावली में ही बार-बार नहीं हुआ है अपितु जैसलमेर की समानान्तर शुद्ध शाखा के प्राचीन इतिहास में भी सुम्म-कोट[3] (Summa-kote) के नाम से मिलता है। इसीलिए जो बात मैंने कई वर्षों पहले अन्यत्र कही थी वह फिर कहता हूँ कि निस्सन्देह यादवों का यह 'सामि नगर' वही 'मि-नगर' (Mingara) है, जिसका उल्लेख पॅरिप्लुस के कर्त्ता ने यह कहते हुए किया है कि जब वह भडौंच में था, अर्थात् दूसरी शताब्दी में, तब वह (मि-नगर) एक इण्डो-सोथिक राजा की राजधानी

---

[1] देखिए 'भगवद् गीता' सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा अनूदित।

[2] 'बा' 'रा' 'स' ये सम्बन्धकारक के चिन्ह हैं। साम्ब का अर्थ हुआ शाम या श्याम का— जो कृष्ण का उनके श्यामवर्ण के कारण सर्वविदित नाम है।

[3] 'कोट' या 'नगर' किले अथवा परकोटे वाले शहर को कहते हैं।

अथवा जीत थे; बुध उनका वृद्धगुरु अथवा नेता और पैगम्बर था और दिल्ली, प्राग और गिरनार-स्थित विजय-स्तम्भों पर खुदे हुए रहस्यपूर्ण अक्षर उसी जाति से सम्बद्ध हैं।

बुद्ध के धर्म के साथ यदु, यति या जीत वंश का दृढ़ सम्बन्ध जोड़ते समय प्रमाण के लिए यह बात याद रखनी चाहिए कि बाईसवें बुध या तीर्थंकर नेमि भी यदु थे और कृष्ण के ही वंश के थे अर्थात् वे दो भाइयों की सन्तान थे; और यह भी निश्चित है कि देवत्व प्राप्त करने से पूर्व स्वयं कृष्ण भी द्वारका में बुद्ध-त्रिविक्रम को पूजते थे, अतः स्पष्ट है कि यह पूजन-क्रम वंश-परम्परागत ही था। बुद्ध की गद्दी उन दिनों में अवश्य ही राजवंश में से निर्वाचन द्वारा भरी जाती थी और अब भी 'श्री पूज्य' अथवा प्रधान का चुनाव ओसवाल जाति में से ही होता है, जो अणहिलवाड़ा के राजाओं के वंशज हैं। यह अवश्य है कि इन लोगों ने व्यापार को अपना कर असि-कर्म का त्याग कर दिया था। मैं यह उल्लेख 'गिरनार के गौरव' नेमि के निर्वाचन के सम्बन्ध में कर रहा हूँ; आगे भी मैं एक ऐसी परम्परा बताऊँगा, जो अब भी जैनों में प्रचलित है और जो इस बात का प्रमाण उपस्थित करती है कि इन दोनों मतों का पृथक्करण कैसे हुआ और बन्द मन्दिर बनाने में 'बौद्धिक' [बौद्ध] उत्सव-प्रणाली का विसर्जन किस प्रकार किया गया? एडोनिस[1] की भाँति कृष्ण-पूजा भी मुख्यतः सर्व-प्रथम भारतीय मेले में ही ग्रहण की गई थी और उसी अवसर पर सब लोग बुद्ध की उपेक्षा करते हुए गोपाल-देवता के मन्दिर की ओर दौड़ गए थे। उसी समय बुद्ध के आचार्य ने 'दीवारों से घिरे' देवता का पूजन न करने के महान् सिद्धान्त का अतिक्रमण किया और लोगों के मेले को अपने देवता और धर्म की ओर पुनः आकृष्ट करने के लिए नेमिनाथ की मूर्ति मंदिर में प्रतिष्ठित की गई। यद्यपि पूर्व-काल की परम्पराओं और वर्तमान के प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें यह सन्तोष हो जाता है कि सब देवों की एकता ही उनके धर्म का मुख्य सिद्धान्त है, परन्तु हम यह भी देखते हैं कि अन्य प्राचीन जातियों के समान उनकी पूजा-पद्धति में आकाशीय ग्रह-गण भी सम्मिलित हो गए थे—यथा सूर्य और उसका प्रतीक अश्व, जिसकी वे प्राचीन यूची अथवा जीत लोगों के समान वार्षिक बलि चढ़ाया करते थे। हैरोडोटस का कहना है कि ये जीत लोग आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। इस विषय

---

[1] एडोनिस (Adonis), ग्रीक देवता, इतना सुन्दर था कि स्वयं सौन्दर्य की देवी एफ्रोडाइट (Aphrodite) भी उस पर मुग्ध हो गई। बाद में, उसी देवी के कहने से एक वराह ने उसका वध कर दिया था। N. S. E., p. 14.

बात का प्रमाण दूसरी शताब्दी में 'बाहार' के राजा सोमप्रीति के प्रायः प्राप्त परम्परागत विवरणों में मिलता है; वह बौद्ध धर्मानुयायी यदुवंशी राजा था, जिसकी सत्ता के प्रतीक अजमेर, कोमलमेर और गिरनार में वर्तमान हैं। परन्तु, सौराष्ट्र के प्रायद्वीप में, जिसका माहात्म्य उनके नेता की मृत्यु, वहाँ होने से बढ़ गया था, छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरान्त भी यादव-जाति शक्तिशाली बनी रही, इसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं और इनके लिए हमें शिलालेख तथा पवित्र पर्वतों के माहात्म्य देखने चाहिएं, जिनमें जूनागढ़ के यादव राजाओं द्वारा पवित्र बौद्ध धर्म के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने में उदारतापूर्वक धन-व्यय करने के कितने ही प्रसंग मिलते हैं। अन्य राज्यों के इतिहासों में भी जूनागढ़ के यादव राजाओं का उल्लेख उस प्राचीन समय से मिलता है जब उन राज्यों की स्थापना हुई थी; जैसे, मेवाड़ के इतिहास में जूनागढ़ के स्वामियों के रूप में यादवों[1] का वर्णन विक्रम की दूसरी शताब्दी से मिलता है, जब वे पहले-पहल यहाँ आकर बसे थे। इसी प्रकार जेठवों और चावड़ों के इतिहास हैं, जिनमें विक्रम की सातवीं और दसवीं शताब्दी में उनके साथ वैवाहिक-सम्बन्धों का वर्णन है और यह समय जाड़ेचों के सिन्ध से कच्छ के प्रति निष्क्रमण से बहुत पहले का है। इस प्रायद्वीप में यादवों की स्थिति-विषयक प्राचीन कथाओं की बहुलता मेरे लिए बहुत समय से अस्पष्ट धारणा का कारण बनी हुई थी और मैं उनको तथा जाड़ेचा राजाओं को उस समय तक एक ही समझता रहा जब तक कि उनके इतिहास से मुझे यह विदित नहीं हो गया कि अपर वंश की सत्ता तो सिन्धु पर 'सामीनगर' में बारहवीं शताब्दी तक कायम थी। संक्षेप में, मेरा अभिमत इस प्रकार है—

कि यादव पश्चिमी एशिया से आए हुए इण्डो-सीथिक कुल के हैं और यहाँ के बहुत पुराने मूल निवासी हैं;

कि अपने पूर्वपुरुष नेता बुध (जिसको एरिअन ने Budaeus लिखा है) के अधिनायकत्व में उन्होंने समस्त गाङ्ग-भारत को अपने अधीन कर लिया था और उसको छोटी-छोटी रियासतों में अपनी शाखाओं के अनुसार बाँट लिया था, जो इतिहास और परम्परा में 'छप्पन कुल यादव' जैसे कुरु, पाण्डु, अश्व, तक्षक, शक, जीत आदि नामों से प्रसिद्ध हैं;

कि आन्तरिक अन्तर्जातीय-युद्धों के कारण वे बिखर गए और उनमें

---

[1] यह याद रखना चाहिए कि सरवेग (Sarwegas) और चूड़ासमा की प्रसिद्ध जातियां, जो अब सौराष्ट्र में नहीं हैं, यदुवंश की ही शाखाएं हैं।

था।[1] यदि एरिअन का अभिप्राय यह है कि उच्चतर एशिया से बाद में और भी लोग आकर सुम्माओं में मिल गए थे और उनको वह सीथिक जाति की संज्ञा देता है तो अधिक छानबीन की आवश्यकता नहीं रह जाती; परन्तु, जब यह कहा जाता है कि उस क्षेत्र के सर्वाधिक-संख्यक निवासी बलूच जाति के लोग धर्म-परिवर्तित जीत ही थे, जो अपने को यदुवंश का मानते थे, तो इस प्रस्ताव पर उन लोगों को अवश्य ध्यान देना चाहिए जो हिन्दू जाति की नृ-वंश-शास्त्रीय शोध में लगे हुए हैं।

जब सिकन्दर भारत में था तो उस समय की प्रभुसत्ता-सम्पन्न जाति की वंशावली का विवरण देते हुए एरिअन कहता है कि उनके पूर्व-पुरुष का नाम 'बुडिअस' (Budaeus) अथवा बुध था; इस प्रकार वह यदु वंशावली के साथ बौद्ध [बुध] का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है, जो यादवों के इतिहास से पूरा-पूरा मेल खाता है। हिन्दू-इतिहास के विषय में एरियन और जिन अन्य लेखकों ने लिखा है वे अपनी समस्त सूचना के लिए मेगस्थनीज़ के अखबारात के प्रति आभारी हैं, जो अब दुष्प्राप्य हैं; मेगस्थिनीज़ को सिल्यूकस ने प्राग [प्रयाग] के पास प्रासी (Prasii) के राजा के दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था, जहाँ यादव-शक्ति की मुख्य और अत्यन्त प्राचीन राजधानी स्थित थी। यहाँ का राजा सान्द्रकोटस (Sandracottus), जिसके नाम में कितने ही परिवर्तन बताए गए हैं, कहते हैं, पौराणिक चन्द्रगुप्त था, जिसका नाम बहुत पुराने समय से यदु, चौहान और परमार जातियों की वंशावली में मिलता है। परन्तु, नाम के इस साम्य को लेते हुए और साथ ही ग्रीक लेखक द्वारा सूचित तत्कालीन प्रमुख राजवंश के पूर्व-पुरुष के 'बुडियस' नाम पर विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में झिझक नहीं होती कि वह प्राग का राजा यदुवंशी ही था। भारत में सार्वभौम-राज्य खो देने के बाद भी यादवों की सत्ता किसी तरह-बराबर बनी रही, इस

---

[1] इण्डो-सीथिक जातियों ने अनेक भारतीय नगरों को अस्थायी रूप से 'मि-नगर' अथवा 'नगर' नाम से अभिहित किया है। बाद में जब इन जातियों का प्रभाव कम हो गया तो उन नगरों के मूल नाम पुनः प्रचलित हो गए। यथा, डॉ. बुलर ने इन्दौर का तत्कालीन नाम मि-नगर बताया है। इसी प्रकार विन्सेण्ट स्मिथ ने चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में स्थित माध्यमिका नगरी को 'मि-नगर' माना है। डॉ. डी. आर. भाण्डारकर का कहना है कि मन्दसौर का नाम 'मि-नगर' था। इसमें प्राचीन 'मिन' या 'मन' सुरक्षित रह कर 'दसोर' या दशपुर (दश उपनगरों वाला नगर) से मिल गया है। यहां जिस 'मि-नगर' का उल्लेख है वह 'बहमनाबाद' उ०२५°५०', ६८°५०' पू० हो सकता है।
Ancient India by Ptolemy—S. N. Majumdar; pp.370-372

संवत् ११०६ में हुआ; और यदि हम 'पालियों' के शिलालेखों को मानें तो यह संवत् १११६ आता हैं। इस प्रकार हमें दो महत्त्वपूर्ण तिथियों का पता चल जाता है—पहली, जाम ऊनड़ की १०५३ ई०, जब इसलाम में परिवर्तन और पैतृक नाम में वदल की घटनानए साथ-साथ हुईं; दूसरी, चूड़चन्द की जो ९०४ ई० में गूमली के राम चामर का समकालीन था। जेठवों के इतिहास में यह भी कहा गया है कि इस राजकुमार का विवाह कंथकोट (Ca'th Kote) के तुलाजी काठी की पुत्री से हुआ था जिससे एक और समकालीन तिथि का पता चलता है अर्थात् इण्डोगेटिक जाति इस प्रायद्वीप में कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व आ जमी थी। और, यहीं पर समाप्ति नहीं हो जाती ; अभी हम एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह यह कि युदु-सुम्मा, काठी, चामर या जेठवा, झाला, बाल और हूण इत्यादि, ये सब 'रक्त' और 'वंश' के लिहाज़ से समान कोटि के थे—आपस में बेटी-व्यवहार आदि में आजकल के राजपूतों की तरह कोई भेद-भाव नहीं वरतते थे ; इसलिए हम यह मान लेते हैं कि वे लोग, जैसा कि एरियन और कॉसमस आदि ने स्थान-स्थान पर लिखा है, उच्चतर एशिया से समय-समय पर आई हुई जातियों के टोलों में से थे।

यह संतोष लेकर कि अब की तरह सन् ९०४ ई० में भी ये लोग सिन्ध में राज्य करते थे, अब इस जाति के इतिहास में खोज के लिए और पीछे जाने से कोई नतीजा नहीं निकलता। 'साम्ब' नामकी उपाधि चूड़चन्द के पुत्र के राज्य-समय में बदल गई थी जब कि उनका धर्म भी (चाहे वह बौद्ध हो अथवा उनके देवत्व-प्राप्त पूर्व पुरुष कृष्ण का हो) इसलाम में परिवर्तित हो गया था। इस सम्बन्ध में हमें वंशावली-लेखन की एक विचित्र कला का पता चलता है, जो इस जाति के इतिहास में समाविष्ट हुई है। मैं सामनगर के राजा चूड़चन्द के समय अर्थात् संवत् ९६० या ९०४ ई० की याद दिलाता हूँ। उसके पुत्र साम यदु के पाँच लड़के थे जिनके नाम असपति, नरपति, गजपति, भोमपति और समपति थे। इस समय से लगभग दो शताब्दी पूर्व खलीफों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली थी[1] और अरोर के राजा दाहिर तथा मुसलिम सेनापति मुहम्मद-बिन-कासिम की प्रसिद्ध कहानी से भारतीय इतिहास का प्रत्येक पाठक अच्छी तरह परिचित है। धर्म-परिवर्तन और विजय दोनों मिली हुई एक ही चीज़ थी और जब सामनगर के राजा साम्ब के वंशजों के सामने इसलाम और हिन्दुत्व की

---

[1] हिजरी सन् ९५ अर्थात् ७१३ ई०; देखिए 'एनल्स ऑफ राजस्थान' भा० १, पृ० २३१, परन्तु, सिन्ध की अन्तिम विजय कोई आधी शताब्दी बाद हुई थी। वही० पृ० २४४।

से कुछ अपने मूल देशों की ओर चले गए, जो अनुमानतः आक्सस और जक्षार्तीस (Oxus and Jaxartes)[1] पर थे;

कि उन्होंने कॉकेशस क्षेत्र में गज़नी, पञ्जाब में सालपुर या स्यालकोट और सिन्धु तट पर सामनगर, सहेवान एवं अन्य नगर बसाए;

कि धर्म-परिवर्त्तन अथवा कतिपय अन्य कारणों से कुछ लोग पुनः भारत में आए; और

यह कि जैसलमेर के भाटी और कच्छ के सिन्ध-सुम्मा या जाड़ेचा उस कुल की प्रतिनिधि शाखाएं हैं, जिसके पूर्व-पुरुष कृष्ण थे।

अब मैं सिन्धु-सुम्मा जाड़ेचों की बात पर फिर आता हूँ। उनके पड़ौसियों के इतिहास के आधार पर मैं उनके इतिहास की प्रामाणिकता की जाँच करने का प्रयत्न करूंगा और यह सिद्ध करूंगा कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियों में भी सिन्धु [तट] पर उनकी शक्ति बनी हुई थी। हम जाड़ेचा वंशावली में वर्तमान राजा से ऊपर को ओर अनुसंधान करेंगे जब तक कि समानान्तर वंश में किसी निश्चित नाम का पता न चल जाए। अच्छा तो, वर्त्तमान राजा से चालीस पीढ़ी पहले चूड़चन्द हुआ, जो जेठवा-इतिहास के अनुसार गूमली के संस्थापक शील की चौदहवीं पीढ़ी में राम चामर (या कंवर) का समकालीन था। अब, ४० राज्यकाल × २३ (प्रत्येक राज्यकाल के लिए अनुमानित वर्ष[2]) = ९२० वर्ष हुए, तो १८८०-९२० = ९६० संवत् या ९०४ ई० सामनगर के राजा चूड़चन्द का समय हुआ। अब हम इस फैलावट की जाँच गूमली के पालियों पर लगे शिलालेखों से करते हैं, जहाँ का राजकुमार सालामन निष्कासित हो कर जाम ऊनड़ के पास चला गया था और उसने अपनी सेना साथ देकर शरणार्थी को पुनः गद्दी पर बिठाने के लिए सहायता की थी। जाड़ेचों के इतिहास में जाम ऊनड़ का नाम प्रसिद्ध है क्योंकि वही पहला राजा था जिसने पैतृक उपाधि सुम्मा को 'जाम' में परिवर्तित किया था; वह चूडचन्द की आठवीं पीढ़ी में था इसलिए ८ × २३ = १८४ + ९६० = संवत् ११४४ उसका समय हुआ जिसमें और जेठवा-इतिहास के समय में वर्षों की केवल एक नगण्य-सी संख्या का अन्तर है अर्थात् जेठवा-इतिहास के अनुसार 'सिन्ध के बामनी सुम्मा (Bamunea Summa) जाति के 'लम्बी दाढ़ीवाले और सच्चे मुसलमान असुरों द्वारा' गूमली का विनाश

---

[1] मध्य एशिया की नदियाँ।

[2] जिस सामग्री के आधार पर यह अनुपात निकाला गया है उसके लिए देखिए 'एनल्स ऑफ राजस्थान' भा० १ पृ० ५२।

सम्बन्ध-विच्छेद होता है, छुप जाय ; और, अब क्योंकि वे अपने पुराने और नए धर्म के बीच में भूल रहे हैं इसलिए उन्होंने अपने हिन्दू मूलपुरुष 'साम्ब' के नाम को भी पारसी 'जमशेद' के नाम पर बलिदान कर दिया है—इस प्रकार 'साम' 'जाम' बन गया है, जो इस समय नवानगर में निवास करने वाली शाखा की उपाधि बना हुआ है।

हम (स्वधर्म-त्यागी साम यदु के पितामह) चूड़चन्द और लाखा के बीच की सात पीढ़ियों को छोड़ देते हैं। लाखा का उपनाम 'गोरारो' (Ghoraro) या गर्वीला था और वह सामनगर में राज्य करता था। उसके बहुत सन्तानें हुईं और उन्हीं में से एक की शाखा में से जाड़ेचों का निकास हुआ। एक चावड़ा-वंश की राजकुमारी से उसके चार पुत्र हुए जिनके नाम मोर, वीर, सन्द और हमीर थे ; दूसरी रानी से, जिसकी जन्मभूमि कन्नौज थी, चार और पुत्र हुए—ऊनड़, मुनई, जय और फूल।

लाखा गोरारो (मग़रूर ?) के बाद जाम उनड़ गद्दी पर बैठा और, कहते हैं कि वही प्रथम सुम्मा था जिसने 'जाम' नाम को ग्रहण कर लिया था। ऐसा लिखा है कि लाखा-पुत्र ऊनड़ कन्नौज की राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था, अतः बड़े भाइयों के होते हुए भी उसके गद्दी पर बैठने से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह राजकुमारी प्रतिष्ठा में बड़ी थी। कुछ भी हो, उसका सुम्माओं की गद्दी पर बैठना घातक ही सिद्ध हुआ और इससे हमें बहु-विवाह के दुष्परिणामों का एक और उदाहरण मिल जाता है। ऊनड़ अपने चारों बड़े भाइयों के साथ वेघम प्रदेश में शेरगढ़ (वर्तमान लखपत)[1] गया था जहाँ सामनगर की बड़ी रानी का भाई चावड़ा राज्य करता था। वहीं पर उसे गुप्त रूप से राव लाखा की मृत्यु के समाचार मिले और वह उन सबको चकमा देकर राजधानी लौट आया तथा राजगद्दी पर बैठ गया। इसके कितने समय बाद, यह तो पता नहीं, वरिष्ठता के अधिकार से वञ्चित उसके सौतेले भाइयों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा (जिसमें उसका सगा भाई मुनई भी सम्मिलित था) और उसे 'दड़ी-दण्ड'[2] के त्यौहार में मार डाला। यह कायरतापूर्ण

---

[1] निस्सन्देह यह नाम लाखा के ही कारण पड़ा है। लखपत के अतिरिक्त सिन्ध में और भी बहुत से नगरों के ऐसे नाम हैं जिनसे सुम्मा वंश का प्रभुत्व सिद्ध होता है, जैसे हाला, इत्यादि।

[2] यह गेंद बल्ल का खेल होता है जो प्रायः गांवों में मकर-संक्रान्ति के दिन खेला जाता है। यह गेंद पुराने कपड़ों की परत पर परत लपेट कर सूतली या डोरी से बाँध कर बनाई जाती

समस्या आई तो अपने बलाक्रान्त परिवर्तन को छुपाने के लिए उन्होंने यह कहानी ईजाद की। जाड़ेचों के इतिहास में से 'पुरवोई' (Purvoe)' या अंग्रेजी लिपिक ने जो अंश अनुवाद करके दिया उसे मैं यहाँ पर अक्षरशः उद्धृत करता हूँ 'रोम (Rome) के देश में जो भी कोई शाम (Sham) से आता है वह सुम्मा कहलाता है। श्रीकृष्ण और जाम्बवती का पौत्र साद (Saad) शाम में रहता था, जहाँ से उसके वंशज नबी (पैगम्बर) के डर से भाग गए और ऊसम (Oossum) की पहाड़ी पर पहुँचे; परन्तु, वहाँ भी जब उन्होंने नबी को दावत करते हुए देखा तो बड़े हैरान हुए। बचाव न देखते हुए वे नबी के सामने लेट गए और असपती ने उसके साथ भोजन करने तथा उसके करवे या मिट्टी के पात्र से पानी पीने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वह चग़ताइयों का राजा बना और उसके भाई अधीनस्थ सामन्त। नरपति को सिन्ध मिला और वह समाई (Samai) में बस गया। गजपति के वंशज भाटी-सुम्मा[1] कहलाए और उन्होंने जैसलमेर प्राप्त किया।' इत्यादि।

इस प्रकार इसलाम का जामा पहन कर वे सौर क्षेत्र (जिसमें ऊसम की पहाड़ी है) के बजाय सीरिया में जन्म-स्थान प्राप्त कर लेते हैं और अपने आपको महान् शैमेटिक (Shemetic) वंश का बताते हैं; फिर भी, यदि नबी के सामने भाग खड़े होने से उनका तात्पर्य मोहम्मद से है तो वे अपने पूर्व आभिजात्य को एकदम भुला कैसे बैठते हैं? यह भी आश्चर्य की बात है कि जैसलमेर के यदु-भाटियों के समान वे तक्षक, तुरुष्क या टर्किश जाति के चग़ताई[2] (ज़ैफेटिक) [Japhetic] वंश तथा गोर वंश को भी अपने से सम्बद्ध होना बताते हैं; और इस अन्तिम वंश को 'शाम' का उपनाम देकर कुछ रंग भी दिया गया है, जिसका प्रयोग भारत के प्रथम विजेता मोइज़ुद्दीन (Moezodin) द्वारा किया गया था। यह सब इसी इच्छा से किया गया था कि उनकी वंशावली पर लगने वाला धब्बा, इसलाम-धर्म में परिवर्तन, जिसके कारण उनका मूल राजपूत वंश से

अबुल फ़ज़ल ने असम भाटी लिखा है।

८ ग़नी के राजा शालिवाहन का पुत्र बालन्द हुआ। उसका द्वितीय पुत्र भूपति था। भूपति इति९ पिता के जीवनकाल में ही राजगद्दी पर बैठ गया था। उसका बड़ा पुत्र 'चिकेता' जेठवा-भूपति की मृत्यु के अनन्तर जब चिकेता राजा हुआ तो उसने बाल्हीक (बलख़) के जाति के ना उजबक की रूपवती कन्या से विवाह किया और उसके राज्य को भी हस्तगत ———। इसी चिकेता ने अपने आठ पुत्रों सहित यवन-मत ग्रहण कर लिया था।

(जैसलमेर का इतिहास; श्री हरिदत्त गोविन्द व्यास पृ० १२)

[1] मध्य एशिय आगे चल कर चकत्ता या चग़तई मुगल कहलाए।

[2] जिस सामग्री
ऑफ राजस्थान

कारण बन जाती हैं। इस राजा के सात पुत्र हुए जिनमें से छः एक-एक करके किसी महामारी के प्रकोप से मर गए और सातवाँ किसी सन्त के प्रभाव से बच गया। इन देशों में सर्वत्र ही गम्भीर बीमारी में 'झाड़ना' दिलाने की प्रथा है; इसमें एक सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति (जो प्रायः 'जोगी' होता है) अपना मोर-पंखों से बना हुआ 'झाड़ा' बीमार पर हिलाता है और उसकी रोग-मुक्ति के लिए मंत्र बोलता रहता है। इसी प्रक्रिया से सुम्मा सरदार का रोग-मुक्त पुत्र बाद में सदा के लिए 'झाड़े जा' कहलाने लगा और उसके वंशज भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए जिनकी अब बहुत सी शाखाएं फैल गई हैं। हाल[1] की पुत्री का विवाह सूमरा जाति के ऊमर नामक पड़ौसी राजा के साथ हुआ था, जिसका निवासस्थान मोहब्बत-कोट था, जो बाद में उसी के नाम पर ऊमर-कोट कहलाने लगा। इस विवाह के अवसर पर ही कोई झगड़ा खड़ा हो गया और सूमरा ने सिन्ध के राजा को अपने किले में कैद कर लिया। ज्यों ही इस अपमानजनक कृत्य की सूचना सामनगर पहुँची त्यों ही सुम्माओं ने अपने भाई-बन्धुओं को एकत्रित करके उसकी मुक्ति कराने के लिए प्रस्थान किया। सूमरा भी ग़ाफिल नहीं थे और दोनों जातियों के पचास हजार मनुष्य मोहब्बत-कोट की दीवारों के नीचे मरने-मारने के लिए सन्नद्ध होकर जूझ पड़े। विजय सुम्मों की हुई यद्यपि उनके दस हज़ार आदमी, जिनमें उनका राजा भी शामिल था, मारे गए; सूमरों को अपनी जाति के सात हज़ार मनुष्यों के जीवन और राजधानी से हाथ धोना पड़ा। इस दुर्घटना में, जिसने रंग में भंग कर दिया था, नव-वधू भी अन्य सूमरा स्त्रियों के साथ सती हुई और चिता पर चढ़ते समय उन सब ने यह शाप दिया 'जो भी कोई जाड़ेचों की लड़की से विवाह करेगा वह फूले-फलेगा नहीं' और तभी से इस वंश की लड़कियों का नारियल ग्रहण करने को किसी की इच्छा नहीं होती। इस प्रकार, उन्हीं के इतिहास के अनुसार, जाडेचों में बाल-वध की अप्राकृतिक प्रथा का आरम्भ हुआ जो आज तक उनमें चालू है; फिर भी, वॉकर [Walker] जैसे विश्व-प्रेमी ने भी, जिसने इस प्रथा को समाप्त कर देने के लिए जी जान से प्रयत्न किए थे (और जिसको यह भ्रम हो गया था कि वह कच्छ के महिला-समाज का उद्धारक था) इस [मूल की] ओर कोई संकेत नहीं किया है यद्यपि सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्य्याप्त है कि यह प्रथा छः शताब्दियों से निरन्तर

---

[1] हैदराबाद [सिन्ध] के उत्तर में एक हाल नामक नगर है, जो निस्सन्देह इसी राजा के नाम पर बसा है। ऊमर-कोट और सूमरा वंश की उत्पत्ति के लिए मैं पाठकों को 'राजस्थान का इतिहास' पढ़ने का अनुरोध करूंगा।

वध-कार्य सम्पन्न करने के कारण तभी से मुनई को 'कायर मुनई' कहने लगे। ऊनड़ की पत्नी, जो 'राजकुमारी' कहलाती थी, उस समय गर्भवती थी इसलिए वह भाग कर अपने पिता की शरण में चली गई। उसने एक सेना भेजी जिसने मुनई और उसके भ्रातृ-घाती भाइयों को सिन्ध से बाहर निकाल दिया, जहाँ भ्रातृ-वध के उपरान्त भी उनको रहते बारह वर्ष बीत चुके थे। कायर-मुनई, उसके भाई और साथी कच्छ में भाग गए और वहाँ काठियों पर आक्रमण करके उनको कंथकोट से निकाल दिया; कंथकोट के पास ही मुनई ने एक नगर बसाया और उसका नाम 'कायरा' रखा। उसके बड़े भाई मोर को कण्टरकोट (Kunter-Kote) प्राप्त हुआ और दूसरों ने बाबरियों, जेठवों तथा अन्य जाति के लोगों से भूमि छीन ली।

तो, इस प्रकार सिन्ध की सुम्मा जाति कच्छ प्रान्त में पहले-पहल बसी और फिर उसकी बहुतसी शाखाएं फैल गईं, जिनमें सिन्धु के डेल्टा से खम्भात की खाड़ी तक चावड़ा सब में प्रमुख थे ; और इसी कारण, हम फिर कहते हैं कि, इस सीमा में जो देश थे उनको चावराष्ट्र (चावड़ा राष्ट्र ?) अथवा सौराष्ट्र नाम प्राप्त हुआ, जिसको यद्यपि हिन्दू भूगोल-शास्त्रियों ने तो केवल प्रायद्वीप तक ही सीमित रखा है, परन्तु ग्रीक और रोमन भूगोलवेत्ताओं ने अधिक सूझ-बूझ के साथ 'सायराष्ट्रीन' नाम से उस समस्त भू-भाग का बोध कराया है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। सात पीढ़ियाँ बीतने तक 'सुम्मा' का नाम 'जाडेचा' में परिवर्तित नहीं हुआ था और फिर सामनगर से दूसरी बस्ती ने आकर सन् १०७५ ई० में इस प्रथम विजय के सभी चिह्नों को नष्ट कर दिया।

लाखा गोरार का वंश, जाम ऊनड़ की मृत्यु के उपरान्त जन्मे उसके पुत्र तमाच (Tamach) द्वारा सामनगर में ऊनड़ की सातवीं पीढ़ी में हाला सुम्मा तक तो बढ़ता रहा, परन्तु उसी समय एक ऐसी घटना हो गई कि गोत्र-संज्ञा बदलने के साथ-साथ जाड़ेचों में बाल-वध की कुप्रथा भी चालू हो गई। हाल के समय में ही (कुछ लोग कहते हैं उसके भाई वीर के समय में) जाड़ेचा नाम का आविष्कार हुआ था, जिसके मूल में एक अत्यन्त साधारण-सी घटना थी—ऐसी छुट-पुट घटनाएं भी राजपूतों में किसी वंश का नामकरण करने के लिए पर्य्याप्त

है—कभी कभी परतों के भीतर पत्थर भी रख देते हैं। इस प्रकार यह ठोस गेंद और मजबूत लकड़ी के वल्लों का खेल आज कल की 'हॉकी' का पुराना रूप हो सकता है। जो अब तक गांवों में प्रचलित है। वल्ले को 'गेडिया' और गेंद को दड़ी कहते हैं। गेडिया प्रायः 'हॉकी स्टिक' की तरह ही एक सिरे पर मुड़ा हुआ होता है।

प्रकट की। इतिहास अर्थात् वंशावली के शब्दों में—'जब सारसोत बापू ने अपना काम छोड़ दिया तो एक औदीच्य ब्राह्मण उसके स्थान पर नियुक्त हुआ और उसने आज्ञा का पालन किया; उसने इन सातों लड़कियों को जला दिया और उसके वंशज तभी से जाड़ेचों के राजगुरु बने हुए हैं।' अच्छा होता, यदि यह सम्पूर्ण जाति मुसलमान बनी रहती और हिन्दुओं की सीमा में पुन: स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न करती; अब ये न हिन्दू रहे न मुसलमान। ऐसी दशा में, यदि भारत में किसी अन्य वर्ग अथवा जाति की अपेक्षा (मलाबार के हेलोतों (Helots) के अतिरिक्त) इन लोगों को ईसाई मत में परिवर्तित करने के प्रयोग किए जावें तो संभवत: वे अधिक सफल सिद्ध होंगे और उनके रहन-सहन में घुसे हुए इस तरह के जंगलीपन के अवशेषों से उद्धार करने के ऐसे किसी भी प्रयत्न से मानवता को प्रसन्नता ही प्राप्त होगी।

लाखा का उत्तराधिकारी रायधन हुआ और उसको ही कच्छ में जाड़ेचा रियासत का संस्थापक माना जा सकता है क्योंकि यद्यपि राजघातकों ने कुछ नये संस्थान कायम कर लिए थे, परन्तु जाम ऊनड़ के पुत्रों ने उनको दबा कर क्षीण कर दिया था तथा अपने पिता के घात का बदला लेते हुए उन हत्यारों को 'कायरा' से भी खदेड़ कर बाहर निकाल दिया था। इसीलिए यह माना जाता है कि कायर-मुनई की सन्तानें मेर और मीणों की नीची जातियों में मिल गईं तथा कालान्तर में उन्हीं लोगों में खो गईं। कन्थर-कोट (Kunter kote) के विजेता मोर के वंशजों ने अलवत्त: इस पर पाँच पीढ़ी तक अधिकार बनाए रखा—परन्तु, बाद में सुप्रसिद्ध लाखा फूलानी के साथ, जिसका उल्लेख तत्कालीन प्रत्येक जाति के इतिहास में मिलता है, यह शाखा भी नष्ट हो गई। मोर के सरज, उसके फूल और फूल के फूलानी उपनामधारी लाखा हुआ, जो सतलज से लेकर समुद्र-तट तक अपने लूट-अभियानों के लिए उस समय प्रसिद्ध था जब राठौड़ों ने मरुस्थली अथवा भारतीय रेगिस्तान में सर्वप्रथम राज्य स्थापित किया था। मारवाड़ के इतिहास में लिखा है कि वह सीहाजी द्वारा उसके भाई सीताराम के वध के बदले में मारा गया था। राठौड़ इतिहास के अनुसार यह घटना भारत पर शाहबुद्दीन द्वारा ११९३ ई० में मुसलिम-विजय के तुरन्त बाद की है; और क्योंकि रायधन जाम ऊनड़ की आठवीं पीढी में हुआ था, जिसका समय जेठवा-इतिहास के समसामयिक आधार पर १०५३ ई० आता है, इसलिए कच्छ में जाड़ेचों द्वारा अन्तिम विजय और राज्य-संस्थापन के समय को हम सरलता से उत्तरी भारत में मुसलिम-विजय का समकालीन अर्थात् ११९३ ई० मान सकते हैं।

चली आ रही थी। इस प्रथा के चालू होने की यही व्याख्या सच है या नहीं, अब इसकी जांच करना बेकार है; परन्तु, ऐसे प्रमाणों के विरुद्ध भी मेरा मत तो यही है, जैसा कि मैंने अन्यत्र व्यक्त किया है, कि यहाँ बताए हुए मूल कारणों से कई पीढ़ियों पहले सुम्माओं के इसलाम में परिवर्तन से ही, जिसके फलस्वरूप राजपूतों में उनका वैवाहिक सम्बन्ध बन्द हो गया था, इस प्रथा का जन्म हुआ था; और क्योंकि यह कारण सती के शाप वाली बात से सम्बद्ध हो रहा है इससे इतना ही माना जा सकता है कि यह बर्बरता को हल्का करने का प्रयत्न मात्र है। मुझे विश्वस्त सूत्रों ने बताया कि इसमें कमी या शिथिलता लाने के कोई प्रयत्न नहीं किए गये प्रत्युत इसको चालू रखने के प्रयत्नों को प्रच्छन्न रखने के लिए और भी अधिक श्रम किया गया। परन्तु, यह भी विश्वास दिलाया गया, और बात भी ठीक है, कि लड़कियों की तरह ऐसे लड़कों की संख्या भी कम नहीं है जिन को पैदा होते ही 'थोड़ा सा दूध' (अफ़ीम मिला हुआ) दिए जाने के दुर्भाग्य का परिणाम न भुगतना पड़ा हो। अभी तुरन्त ही हमें इस बात की सचाई का पता चल जायगा जब हम कच्छ और मारवाड़ में एक ही समय में बस जाने वाले जाड़ेचों और राठौड़ों की जन-संख्या की तुलना करेंगे; जनगणना करने पर जाड़ेचों में सब मिला कर बारह हज़ार आदमी ऐसे पाए गए जो शस्त्र-धारण करने योग्य हैं जब कि राठौड़, एक शताब्दी पहले भी अत्याचारी औरंगजेब से अपने राजा की रक्षा करने के लिए पचास हज़ार आदमी ले आए थे और आज भी ला सकते हैं—और वे 'सब एक बाप के बेटे' हैं, यदि उन्हीं के शब्दों में कहें। फिर, एकान्त और असम्बद्ध रहने के कारण जाड़ेचा युद्ध की हानियों से भी बचे रहे जिनकी वजह से राठौड़ों की जनसंख्या बराबर क्षीण होती रही थी। जाड़ेचों का कहना है, और शायद ठीक भी हो, कि भूचाल और अकाल ने उनकी आबादी को नहीं बढ़ने दिया।

हाल के बाद प्रथम जाड़ेचा लाखा गद्दी पर बैठा जिसके कोई सन्तान नहीं हुई। लाखा और लखयार हाल के छोटे भाई वीर के पुत्र थे और इनमें से ही किसी एक की महामारी से रक्षा होने के कारण इस जाति का यह नाम पड़ा था। इसी प्रकार यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वह लड़की भी, हाल को नहीं वेर की ही थी, जिसने शाप दिया था और जिसका पहला प्रभाव लाखा के ही वंश पर पड़ा था। इतिहास में लिखा है कि लाखा के वंश में सात लड़कियाँ हुईं जो सर्वप्रथम इस अभिशाप का शिकार बनीं; परन्तु, उसके कुलगुरु एक सारस्वत ब्राह्मण ने इस कुकृत्य को इतना गर्हित समझा कि उसने इसे सम्पन्न कराने से इनकार ही नहीं किया वरन् उस वंश की गुरु-पदवी धारण करने की भी अनिच्छा

प्रकट की। इतिहास अर्थात् वंशावली के शब्दों में—'जब सारसोत बापू ने अपना काम छोड़ दिया तो एक औदीच्य ब्राह्मण उसके स्थान पर नियुक्त हुआ और उसने आज्ञा का पालन किया; उसने इन सातों लड़कियों को जला दिया और उसके वंशज तभी से जाड़ेचों के राजगुरु बने हुए हैं।' अच्छा होता, यदि यह सम्पूर्ण जाति मुसलमान बनी रहती और हिन्दुओं की सीमा में पुनः स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न करती; अब ये न हिन्दू रहे न मुसलमान। ऐसी दशा में, यदि भारत में किसी अन्य वर्ग अथवा जाति की अपेक्षा (मलाबार के हेलोतों (Helow) के अतिरिक्त) इन लोगों को ईसाई मत में परिवर्तित करने के प्रयोग किए जावें तो संभवतः वे अधिक सफल सिद्ध होंगे और उनके रहन-सहन में घुसे हुए इस तरह के जंगलीपन के अवशेषों से उद्धार करने के ऐसे किसी भी प्रयत्न से मानवता को प्रसन्नता ही प्राप्त होगी।

लाखा का उत्तराधिकारी रायधन हुआ और उसको ही कच्छ में जाड़ेचा रियासत का संस्थापक माना जा सकता है क्योंकि यद्यपि राजघातकों ने कुछ नये संस्थान कायम कर लिए थे, परन्तु जाम उन्नड़ के पुत्रों ने उनको दबा कर क्षीण कर दिया था तथा अपने पिता के घात का बदला लेते हुए उन हत्यारों को 'कायरा' से भी खदेड़ कर बाहर निकाल दिया था। इसीलिए यह माना जाता है कि कायर-कुनई की सन्तानें मेर और मीणों की नीची जातियों में मिल गईं तथा कालान्तर में उन्हीं लोगों में खो गईं। कन्थर-कोट (Kunter kote) के विजेता मोर के वंशजों ने अलबत्ता इस पर पाँच पीढ़ी तक अधिकार बनाए रखा—परन्तु, बाद में सुप्रसिद्ध लाखा फूलाणी के साथ, जिसका उल्लेख तत्कालीन प्रत्येक जाति के इतिहास में मिलता है, यह शाखा भी नष्ट हो गई। मोर के सरज, उसके फूल और फूल के फूलाणी उपनामधारी लाखा हुआ, जो सतलज से लेकर समुद्रतट तक अपने लूट-अभियानों के लिए उस समय प्रसिद्ध था जब राठौड़ों ने मरुस्थली अथवा भारतीय रेगिस्तान में सर्वप्रथम राज्य स्थापित किया था। मारवाड़ के इतिहास में लिखा है कि वह सीहाजी द्वारा उसके भाई सीताराम के वध के बदले में मारा गया था। राठौड़ इतिहास के अनुसार यह घटना भारत पर शाहबुद्दीन द्वारा ११९३ ई० में मुस्लिम-विजय के तुरन्त बाद थी, और क्योंकि रायधन जाम उन्नड़ की आठवीं पीढ़ी में हुआ था, जिसका [illegible] आसानी से इतिहास के समसामयिक आधार पर १०५३ ई० आता है, [illegible] गल में जाते हैं जाड़ेचों द्वारा अन्तिम विजय और राज्य-संस्थापन के समय [illegible] र होता है। इसी उत्तरी भारत में मुस्लिम-विजय का समकालीन [illegible] सकते हैं।

रायधन ने सिन्ध के किनारे से महान् रण के तट तक एक नये उपनिवेश की स्थापना की और वहीं पहले 'चूड़ी' में स्थान कायम किया फिर जल्दी ही बुचाऊ (Butchao) के पास वेन्द (Vend) अथवा ऊंद (Oond) में स्थानान्तरित हो गया। रायधन के चार पुत्र उसके साथ सामनगर से आए थे परन्तु वंशावली में लिखा है कि उसके पोयला नामक एक 'पंचम पुत्र'[1] भी था, जो किसी दासी से उत्पन्न हुआ था और उसके दो पुत्र जुदुब (Zudub) और कुतुब (Cootub) सिन्ध में ही रह गए थे। रायधन द्वारा स्वदेशत्याग का कोई कारण नहीं बताया गया है और न इस बात का ही उल्लेख है कि उसके मुसलिम नामधारी पुत्रों की उस समय सिन्ध में क्या स्थिति थी जब उनके पिता ने उस स्थान को छोड़ा था? सम्भावना यह है कि उसको वहाँ से निकाल दिया गया होगा। उसके चार पुत्र थे—

१. देदा (Dedoh)—कंथर-कोट की गद्दी प्राप्त की।

२. गजन (Gujun) — जेठवों को पराजित किया और उसके पुत्र हाल ने अपने जीते हुए देश का नाम हालार रखा तथा नवानगर बसाया और जाम की उपाधि को कायम रखा।

३. ओ'ठो (Ot'oh) इससे भुज के राजवंश का उद्भव हुआ।

४. हो'ठी (Hot'hi) बरधा (Burdha) में बारह ग्राम प्राप्त किये; इसके वंशज होठी कहलाते हैं।

तीसरा पुत्र ओ'ठो पिता की गद्दी पर बैठा; इससे विदित होता है कि इस वंश में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था; छीना-झपटी में जितना भाग जो जीत लेता और अपने अधिकार में रख पाता वही उसका था। जाड़ेचों के वर्तमान राजनैतिक शासन पर विचार करते समय भी हमको यही बात ध्यान में रखनी चाहिये और अधिक प्राचीन लाखा गोरार जैसे राज्य-संस्थापकों को भी नहीं भुला देना चाहिए क्योंकि यदि ये नये संस्थान कायम न हो पाते तो यह पूरी संभावना थी कि वे पूर्ण नगण्यता में विलीन हो जाते। चूड़चन्द और सुम्माओं के इसलाम में परिवर्तन से पहले भी कच्छ में उत्पात होते रहे हैं और इस भू-भाग का नाम इतिहास में उब्रासी (Ubrassie) मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्रथम खँगार के पुत्र उब्रा (Ubra) के नाम पर ही इसे यह संज्ञा प्राप्त हुई थी।

---

[1] राजपूतों में अपरिणीता में उत्पन्न पुत्र को 'पञ्चम पुत्र' कहते हैं।

इस इतिहास में (ओ'ठो की पीढियों में सातवें) हमीर तक कोई उल्लेखनीय बात नहीं है, जिसको इस वंश की बड़ी शाखा वाले हालार के जाम ने तेहरा (Tehra) ग्राम के पास मार दिया था; परन्तु, इस वध का उद्देश्य सफल नहीं हुआ क्योंकि स्वयं हालार की पत्नी ने, जो चावड़ा कुल की थी और हमीर के शिशुओं की माता की बहिन [मौसी] थी, उनके रक्षण का दृढ़ निश्चय किया और उनको अपने भाई ककुल (Kukul) चावड़ा के पास भेज दिया, जिसने इस कर्तव्य और विश्वास का निर्वाह इतनी सचाई से किया कि अपने स्वयं के पुत्र के वध को भी सहन कर लिया परन्तु उन लोगों के छुपने का स्थान जाम को नहीं बताया। इतिहास में आगे लिखा है कि उसी दिन से ककुल के सामन्तों को 'किसी तलवार के वार से न मारे जाने का' वरदान प्राप्त हो गया— सेवा के बदले में ऐसा वरदान प्राप्त होना सन्देहास्पद-सा ही लगता है। तरुण राजकुमार उस गुप्तवास से पूर्व की ओर गए और मानिक मेर से मिले जो भविष्य देखने में सिद्धहस्त था। सभी राज्य-संस्थापकों के समान सब से बड़े भाई खँगार के पैर में राज्य-चिह्न था, जिसको उस ज्योतिषी ने, जब वे एक मन्दिर में सो रहे थे तब, देख लिया और उसके भाग्योदय की भविष्यवाणी करते हुए उन लोगों को बेधड़क अहमदाबाद जाने के लिए कहा। नई आशाओं के साथ जब वे निकल पड़े तो उनको मार्ग में एक काला घोड़ा मिला जो एक बड़ा अच्छा शकुन था इसलिए वे आगे बढ़ते चले गए। राजा आखेट को निकला था और खँगार ने 'हाके'[1] में शामिल होकर एक बड़े सिंह का शिकार किया। इस अवसर पर अपने परिचय एवं कहानी के परिणाम में वह राजा का प्रीतिपात्र बन गया और उसने कच्छ तथा मोरबी की जागीर 'राव' पदवी सहित प्राप्त की। राजकीय सेनाओं की सहायता से जाम रावल को अनधिकृत क्षेत्र से निकाल दिया गया और उसे हालार में जाकर शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार राव खँगार हमीरानी (हमीर के पुत्र) ने संवत् १५९३ (१५३७ ई०) में अपना अधिकार प्राप्त किया और संवत् १६०५ (१५४९ ई०) में मगसिर महीने की पञ्चमी तिथि को भुजनगर की स्थापना की। मानिक-मेर को भी भुलाया नहीं गया; उसको और उसके वंशजों को वीर (आधुनिक अंजार) नामक नगर और परगना दिया गया; परन्तु, आजकल अंजार के मालिक अंग्रेज़ हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हमीर ने अपने वध

---

[1] शिकार को हल्ला मचा कर ऐसे स्थान तक ले आना जहाँ आखेटक राजा आसानी से निशाना लगा सके। ऐसे अवसरों पर राजाओं के साथ बहुत-से आदमी जंगल में जाते हैं और हल्ला मचाते हैं। राजस्थानी में 'हाका' का अर्थ हल्ला या शोर होता है। इसी आधार पर पूरे अभियान को 'हाका' कहा जाने लगा।

से पहले कुछ जागीरें अपने वंश के लोगों और अवयस्कों को दे दी थीं, जो अब तक भी कच्छ के 'पटायत' या सामन्त हैं; जैसे, रोहा, वीजम, मावतेड़ा, नलिया, अरिसर, आदि ।

भुज के संस्थापक राव खँगार से वर्तमान अवयस्क राव तक चौदह पीढियाँ हुई हैं और उनके नाम, गद्दी पर बैठने की तिथि तथा निधन आदि सभी बातें सावधानी के साथ इतिहास में लिखी गई हैं; परन्तु, इन सब बातों से पाठकों को कोई रस नहीं मिलेगा । क्रमागत नामों के साथ भेद-सूचक विशेषण लगाए गए हैं जिनसे जाड़ेचों की 'भायाद' की प्रत्येक शाखा के उद्‌गम का पता चल जाता है । इन जातियों के पारस्परिक, राजनीतिक और वंशानुगत सम्बन्धों एवं भेदों के विषय में पूरी जानकारी रखना जिन लोगों का कर्त्तव्य है उन लोगों के लिए ये सब बातें बहुत काम की हो सकती हैं परन्तु किसी पाश्चात्य पाठक को हमीरानी, खँगारानी, भारानी, तमाचीयानी, नौघानी, हालानी, रायधनानी, कारानी और गोरानी आदि की लम्बी वंशावलियों से कोई मतलब नहीं है, जिनमें एक ही नाम के राजाओं से चलने वाली शाखाओं का भेद बताने के लिए उनके विशेषणों को दो-दो तीन-तीन बार दोहराया गया है; यथा खँगार-हमीरानी, खँगार तमाचीयानी, खँगार नौघानी; कहीं-कहीं तो खँगार या अन्य समान-नामधारी राजाओं की शाखा का भेद बताने के लिए आधी दर्जन पैतृक नामों की भी आवृत्ति की गई है । यह सब खज़ाना जाड़ेचों के भाट ने इकट्ठा कर रखा है, जो देखने में तो बेकार-सा लगता है परन्तु जब उत्तराधिकार-सम्बधी विवाद खड़े होते हैं तो ये वंशावलियाँ ही निर्विवाद रूप में मान्य होती हैं ।

मूल वंशावली की सीमाओं से बाहर न जाते हुए इसी विषय पर विस्तार से लिखना अपेक्षाकृत सरल काम था, परन्तु यहाँ पर मेरा मुख्य उद्देश्य वर्तमान राजवंश की यथावत् वंशावली को समझना, चालू शासन-पद्धति की विशेषताओं का विवरण देना और जाड़ेचों के रहन-सहन, स्थिति एवं धर्म में आए हुए विचित्र परिवर्तनों का वर्णन करना है । इस प्रयास में आगे बढ़ने से पहले मैं इस जाति के विशिष्ट युगों का सिंहावलोकन करूंगा और इस विषय पर बहुत कुछ विचार-मन्थन के उपरान्त जो दो मत कायम हुए हैं उनका भी उल्लेख करूंगा ।

भारत में यदुवंश की सर्वोच्च सत्ता ईसा से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व छिन्न-भिन्न हो गई थी, तदुपरान्त उनकी विशृङ्खलता के और अधिकार के (जो यद्यपि इतिहास विरुद्ध हैं) प्रचुर प्रमाण हमें उनकी शुद्ध और अशुद्ध वंशावलियों, तीर्थ-स्थानों के माहात्म्यों, परम्पराओं और शिलालेखों आदि में प्राप्त होते हैं । इन्हीं सब स्रोतों से हमें ज्ञात होता है कि इन यादवों की एक शाखा पश्चिमी एशिया

की तरफ़ चली गई और जाबुलिस्तान में बस गई; दूसरी सिन्ध में गई और वहाँ साम्ब की राजधानी सामनगर की स्थापना हुई, जो सिकन्दर द्वारा सिन्धु नदी पार करने के समय तक भी मौजूद थी; यह पैतृक नाम साम्ब अथवा साम बाद में भी उस समय तक चलता रहा जब तक कि उन्होंने अपना धर्म-परिवर्तन करके मुसलमानों की राजनीतिक एवं नैतिक आधीनता स्वीकार न करली और जिनके इतिहास में वे 'सिन्ध-सुम्मा' वंश के कहलाए; उनका यह नाम भी तब तक प्रचलित रहा जब तक कि उन्हें सिन्ध से न निकाल दिया गया और नए अवटंक 'जाड़ेचा' ने अतीत पर पर्दा न डाल दिया। इस प्रकार हमें सिन्ध-सुम्मा-इतिहास के निम्न प्रधान-युगों का पता चलता है। पहला, साम्ब का सिन्ध में जमाव, ११०० से १२०० ई० पू०; दूसरा, इस जाति की सिकन्दर के समय अर्थात् ३२० ई० पू० तक यथावत् स्थिति। इस समय से चूड़चन्द तक अर्थात् ९०४ ई० तक के नाम तो मिलते हैं, परन्तु तिथियों का पता नहीं चलता। उसके पुत्र साम-यदु के साथ ही प्राचीन नाम के पुन: दर्शन होते हैं और, कहते हैं कि, उसके वंशजों ने भी 'साम नगर के सुम्मा राजा' की विशिष्ट पदवी की रक्षा की। इन्हीं में से, सब नहीं तो, कुछ ने अपना धर्म बदल लिया था। यहाँ हम रुक जाते हैं। पॅरी-प्लुस का कर्त्ता कहता है कि दूसरी शताब्दी में एक पार्थियन अथवा इण्डोसीथिक संघ ने निचले सिन्ध पर अधिकार कर लिया था, जिसके राजा ने 'मि नगर' (जो सामि नगर Sami nagar ही है, जिसका आद्य अक्षर 'सा' लुप्त हो गया है) को अपनी राजधानी बनाया था। अब, सवाल अपने आप खड़ा होता है—क्या उस नई जाति ने साम्ब के वंशजों को नष्ट कर दिया अथवा बाहर निकाल दिया अथवा यह एरिअन द्वारा उल्लिखित चूड़चन्द और वर्तमान जाड़ेचों की वह इण्डो-सीथिक जाति है जो उच्चतर एशिया में अपने द्वारा पालित धर्म और रहन-सहन की अपेक्षा अधिक निषेधात्मक धार्मिक रीति-रिवाजों के सम्पर्क में आकर इन लोगों में मिल गई थी और साथ ही इनके इतिहास को भी अपनी वंशावलियों के आमुख में सम्मिलित कर लिया था? परम्परा से प्राप्त कथाओं में इस तथ्य की स्पष्ट गन्ध आती है। इनमें से नगर के जाम राजाओं के विषय में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि 'इनका पूर्वज जसोदर मोरानी (Jusodur Morani) मुलतान और पञ्जाब छोड़ कर सिन्ध आया था।' यदि सुम्मा लोग दूसरी शताब्दी में सिन्ध-विजय करने वाली यूची जाति के नहीं हैं तो उन्होंने उनको निकाल दिया होगा; और हम देखते हैं कि हिजरी सन् की पहली और विक्रम की आठवीं शताब्दी में ऊपरी सिन्ध की गद्दी पर दाहिर[1] का

[1] यह विचित्र तथ्य है कि दाहिर 'देशपति' अथवा सिन्ध के राजा दाहिर ने इसलाम के

वंश राज्य करता था और कर्नल पॉटिञ्जर (Colonel Pottinger)[1] के अनुसार इस जाति ने टाक अथवा तक्षक (गेटिक वंश की एक प्रसिद्ध) जाति से अधिकार प्राप्त किया था, तो ऐसी दशा में हम यह निष्कर्ष निकालने में सक्षम हैं कि सुम्मा-यादव पश्चिमी एशिया से आने वाली इन जातियों और वंशों के संघों में या तो खो गए, मिल गए अथवा उनके आधीन हो गए थे। सन् ६०४ ई० में चूड़चन्द से पूर्व छत्तीस राजाओं के नाम मिलते हैं, जो दूसरी शताब्दी में इण्डो-सीथिक जाति द्वारा सिन्ध-विजय के समय से उसकी शृंखला मिलाने के लिए पर्य्याप्त हैं और, क्योंकि वस्तुतः वंश के संस्थापक साम्ब से उसका सम्बन्ध मिलाने के लिए अधिक कड़ियाँ नहीं मिलती हैं, इससे यही मान लेना चाहिए कि ऐसे नाम हैं ही नहीं। इनमें से बहुत से नाम तो राजपूतों में अप्रचलित नहीं हैं, परन्तु कुछ ऐसे हैं जो सिन्धु के हिन्दुओं से नहीं मिलते हैं और उनमें उन सीथिक तथा हूणी जातियों की तीव्र गन्ध आती है, जिनके दल के दल इस देश में दूसरी तथा छठी शताब्दी में चले आए थे, जैसे ओसनिक [Osnica-उष्णिक् ?], विसूबरा [Wisoobare विश्वम्भर ?], ऊंगड़ (Ungud), दुर्गक (Doorguc), कायीआ (Kayea) और इनका अति प्रसिद्ध वंश-नाम खँगार। उद्गम या निकास कहीं से भी हो, परन्तु यह निश्चित है कि यह वंश 'साम नगर' में चूड़चन्द से कई पीढ़ियाँ पहले जम चुका था, जिसका नाम उसके पड़ोसी राज्यों में भी प्रसिद्ध था और जिसके समय अर्थात् ६०४ ई० से अब तक हमें निश्चयात्मक सूत्र मिल रहे हैं। इसलिए अब कल्पना और अनुमान की भूल-भुलैयाँ में और अधिक चक्कर काटने से कोई फल निकलने वाला नहीं है। चूड़चन्द के पुत्र साम-यदु के समय में ही सुम्माओं का वंश और नाम सिन्ध में अच्छी तरह कायम हो चुका था; जाम ऊनड़ के नाम के साथ, जो उस समय भी उस क्षेत्र का स्वामी था, १०५३ ई० में इन लोगों का सौराष्ट्र से सर्वप्रथम सम्पर्क होना विदित होता है; और ११९३ ई० में रायधन के समय में स्थान-त्याग, उपनिवेश-संस्थापन और क्रमशः कच्छ पर विजय-प्राप्ति होती है, जो १५३७ ई० में प्रथम राव खँगार के

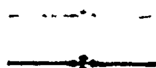
प्रथम आक्रमण के समय चित्तौड़ की रक्षा करने में सहायता की थी। देखिए—राजस्थान का इतिहास भाग १, पृ० २३१।

[1] कर्नल सर हेनरी पॉटिञ्जर का जनम १७८९ ई० में आयरलैण्ड में हुआ था। यह १८३६-४० ई० तक सिन्ध में गवर्नर रहे और बाद में 'अफीम-युद्ध' (Opium War) में प्रसिद्ध प्राप्त करके हांगकांग में पहले ब्रिटिश गवर्नर पद पर नियुक्त हुए। तदनन्तर मद्रास में भी १८४७-५४ ई० तक गवर्नर रहे। इन्होंने अपने संस्मरण भी लिखे हैं।

—Webster's Biographical Dictionary; p. 1296; 1959

काल में स्थायी सरकार का रूप ग्रहण कर लेती है। गह खँगार वंशावलियों में इस नाम का पाँचवाँ राजा हुआ था। लगभग एक हजार वर्षों के इस ताने-बाने की गुत्थियों के जाले से बाहर निकल कर मुझे सन्तोष है कि 'काल' के जाल में से कुछ ऐतिहासिक तथ्य निकाल पाया हूँ, यद्यपि विरोधी लोग इनको पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं मानेंगे।

जब तक खँगार को अहमदाबाद के सुलतानों की सहायता से स्वतंत्र राजा की पदवी प्राप्त न हो गई अथवा उसने स्वयं ग्रहण न करली तब तक प्रत्येक जाड़ेचा बराबरी का दावा करता रहा और 'भायाद' में से किसी को भी उसने स्थायी रूप से स्वामी स्वीकार नहीं किया। ऐसी एक सर्वाधिकार-पूर्ण सत्ता इन लोगों की बिखरी हुई जायदादों में सुदृढ़ता लाने एवं एक रियासत का निर्माण करने के लिए आवश्यक थी। तब से अब तक कुल बारह राजा हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक की सन्तानों को जागीरें दी गई हैं और ये तथा खँगार से पहले की प्राचीन शाखाएं मिल कर एक 'भायाद' बनाती हैं, जिसका एक संक्षिप्त-सा विवरण दे कर, जो सुदूर पूर्व की राजपूत रियासतों के प्रकार से भिन्न है, मैं कच्छ और जाड़ेचों की रूपरेखा को पूर्ण कर दूंगा।



प्रकरण २३

कच्छ के आँकड़े और भूगोल; इसका राजनीतिक गठन; 'भायाद'; राव के अधिकार; जागीरों के पट्टे; उत्तराधिकार के झगड़े; 'भतना' या अन्तर्जागीरों की समाप्ति; पश्चिमी राजपूत रियासतों और कच्छ के राजनीतिक रिवाजों में अन्तर; ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धों का परिणाम; राव और 'भायाद' के विवाद में ब्रिटिश मध्यस्थता; ब्रिटिश सहायक सेना की स्थापना; ब्रिटिश का पूर्ण अधिकार; माण्डवी; पट्टामार के बोर्ड पर; खाड़ी के पार; व्हेल मछली के दर्शन; पट्टामार के नाखुदा और नाविकों का चरित्र; बम्बई पहुँचना; वहाँ पर रुक जाना; इसके शुभ परिणाम ; उपसंहार।

कच्छ के राजनीतिक और भौगोलिक आँकड़ों एवं विवरण के बारे में लोगों को पहले से ही बहुत कुछ मालूम है; इसलिए मैं यहाँ पर पहली बात के विषय में ही कुछ कहूँगा क्योंकि मुझे जाड़ेचों की आन्तरिक नीति और अन्य राजपूत रियासतों की नीति के अन्तर पर अभिमत प्रकट करना है। इस सूचना के बारे में भी मुझे बुद्धिमान् रतनजी के प्रति एक बार पुनः आभार प्रकट करना चाहिए, जो रीजेन्सी के सब से अधिक जानकार सदस्य हैं। उन्होंने मेरे सभी प्रश्नों के वाचिक उत्तर दिए जो मैंने उन्हीं के सामने लेखबद्ध कर लिए थे और उन्हीं के आधार पर मैं निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच सका हूँ।

जाड़ेचा रियासत का विस्तार लगभग एक सौ अस्सी मील लम्बे और साठ मील चौड़े भूभाग पर है; जमीन की किस्म मामूली, उपेक्षापूर्ण कृषि और हल्की आबादी; यह देख लीजिए कि दस हजार वर्गमील से भी ऊपर क्षेत्रफल है फिर भी यहाँ के निवासियों की संख्या केवल आधा लाख होगी जिसका एक-बीसवाँ भाग राजधानी भुज में सीमित है और इतना ही माण्डवी के बन्दरगाह में। इन दो के अतिरिक्त और कोई ऐसी जगह नहीं है जिसको नगर कहलाने का सम्मान प्राप्त हो सके। यद्यपि कुछ कस्बे हैं जैसे, अंजार, लखपत, मूंडिया इत्यादि जो केवल समुद्री-तट पर स्थित होने के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सके हैं। इस जन-संख्या में से शासक-जाति के शस्त्र-धारण करने योग्य जाड़ेचों की संख्या केवल बारह हज़ार आँकी जाती है; बाकी लोग हिन्दू, मुसलमान आदि सब जातियों के हैं। राज्य की सम्पूर्ण आय, जिसमें सामन्तों से वसूल होने वाला कर और राजस्व भी शामिल है, पचास लाख कौड़ी या सोलह लाख रुपया है। इस राज्य के पाँच में से तीन भाग राज्य (खालसा) के और दो भाग जागीरी के हैं। उल्लेख योग्य बड़े जागीरदारों की संख्या पचास के

लगभग है, यद्यपि कुट-भाई और एक-एक गांव के जागीरदार मिला कर कोई दो सौ होंगे। परन्तु, यहाँ कच्छ में भी अन्य व्यवस्थित राजपूत रियासतों की तरह, कुछ ऊँची पदवी के जागीरदार बने हुए हैं, जिनको औरों की अपेक्षा अधिक सम्मान और भूमि प्राप्त है; जैसे, मेवाड़ में 'सोलह',[1] आमेर में 'बारह'[2] और जोधपुर में 'आठ'[3] बड़े जागीरदार हैं उसी प्रकार कच्छ में 'तेरह' मुख्य सरदार हैं, इनमें भी प्रमुख वे हैं जो खँगार से 'पहले कायम हुए' ठिकानेदारों के वंशज हैं, जिनकी वंशावली में ये अशुद्ध तत्व, जैसा कि पहले कह चुका हूँ, सर्व-प्रथम सरकार के रूप में विलीन हुए थे। पहले, हर एक सरदार अपने स्वयं के द्वारा अथवा किसी पूर्वज द्वारा संयोग से जीती हुई भूमि में असीमित अधिकारों का उपभोग करता था; और, जब १५३७ ई० में खँगार राजा घोषित हो गया तो भी वे लोग स्वनिर्मित अधिकारों पर डटे रहे तथा राज्य के नेता को उतनी ही सेवा अथवा सत्कार देते रहे जितनी कि समाज की एकता को स्थिर रखने के लिए आवश्यक थी। ये कच्छ राज्य के पूरे आज़ाद सामन्त हैं, और क्योंकि वे यहाँ की शासन प्रणाली के मूलभूत आधार हैं तथा राजवंश की उन समस्त शाखाओं के प्रतीक हैं जिन्होंने खँगार से पूर्व और अनन्तर भूमि प्राप्त की थी— इसलिए यहाँ के राजा को किसी भी अन्य रियासत के स्वामी की अपेक्षा कम-से-कम अधिकार प्राप्त हैं, और यह शक्ति-विभाजन राजा और सामन्तों में इतना सन्तुलित है कि यदि किसी भी पक्ष में आचरण सम्बन्धी गड़बड़ी पैदा हो तो गंभीर परिवर्तनों का अवसर उपस्थित हो सकता है। मुझे इस बात का पता नहीं लगा कि जब असंगठित जाड़ेचा सामन्तों ने खँगार को अपना राजा

---

[1] मेवाड़ के सोलह प्रमुख ठिकानों के लिए देखिए इसी पुस्तक के पृ० १२-१३ की टिप्पणी।

[2] आमेर की बारह कोटड़ी महाराज पृथ्वीराज के १९ पुत्रों में से ५ के निस्सन्तान मर जाने और दो के राजा एवं जोगी बन जाने के कारण शेष १२ के नामों पर स्थापित हुई थीं। सामान्यतः इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) नाथावत (ठि० चौमूं व सामोद), (२) रामसिहोत (खोह, गुंणसी), (३) पच्याणोत (नायला, सामरचा), (४) सुलतानोत (सूरोठ), (५) खंगारोत (साईवाड़, नरैणा, डिग्गी), (६) बलभद्रोत (अचरोल), (७) प्रतापपोता (सांड-कोटड़ा), (८) चतुर्भुजोत (बगरू), (९) कल्याणोत (कालवाड़), (१०) सांईदासोत (वडोद), (११) सांगोत (सांगानेर) और (१२) रूपसिहोत कुम्भाणी (वांसखोह)।

विशेष विवरण के लिए देखें—हनुमान शर्मा कृत 'नाथावतों का इतिहास' पृ. ६२-६५

[3] मारवाड़ के प्रमुख ठिकानों के नाम यों प्रसिद्ध हैं—

रियां[1], रायपुर[2], खेरवो[3], आऊओं[4] ने आसोप[5]।

बगड़ी[6], कणाणा[7], खींवसर[8], आठों मिसल अनोप।

स्वीकार किया था तब उसके अधिकारों की सीमा और अपनी भावी मान्यताओं एवं सुविधाओं की भी कोई परिभाषा निश्चित की गई थी या नहीं; परन्तु, एक प्रतिज्ञा अवश्य हुई थी और वह उनके विशेषाधिकारों के संरक्षण के लिए थी कि सामन्त जाति को प्रभावित करने वाले किसी आन्दोलन या परिवर्तन से सम्बद्ध कोई भी निर्णय एकत्रित भायाद की सलाह के विना नहीं लिया जायगा। 'भायाद' या 'भाइयों की पंक्ति अथवा श्रेणी' यह कच्छ के जागीरदारों का प्रभावशाली विशेषण है। यह 'राज्य-सभा' अब भी चलती है और इसमें प्रत्येक प्रमुख जागीरदार भाग लेता है।

सब जाड़ेचा सामन्तों को एक साथ बुलाने का, जिसको 'खेर' कहते हैं, अधिकार राव को प्राप्त है; परन्तु, सर्वोच्च सत्ता के आज्ञापालन की इस धारा में भी उनकी स्वतंत्रता का एक चिह्न मौजूद है—वह यह कि इस उपस्थिति के वदले में राजा से कुछ आर्थिक भेंट ली जाती है, जो यद्यपि इतनी साधारण होती है कि उन लोगों को बुलाने का अधिकार प्रबल है अथवा आज्ञा की अवमानना करने की शक्ति—इसका निर्णय करने में सन्देह ही बना रहता है।

इस भत्ते (भेंट) की लघु राशि से, अर्थात् एक कौड़ी प्रति घुड़सवार और एक कौड़ी प्रति दो-पैदल से, यह ज्ञात होता है कि इस विषय में कोई आपसी समझौता है क्योंकि इसे स्वीकार करने में सरदार को तो यह अनुभव होता है कि यह सेवा अनिवार्य नहीं है (यद्यपि इस तुच्छ रकम से राशन (बूतायत) भी नहीं खरीदा जा सकता) साथ ही, यह कर इतना हल्का है कि राजा व प्रजा दोनों ही पर इससे कोई अधिक बोझा नहीं पड़ता।

किसी जाड़ेचा सरदार की मृत्यु पर राव के द्वारा मृतक के उत्तराधिकारी के लिए एक तलवार और पगड़ी भेजी जाती है, परन्तु इसके द्वारा वह उत्तराधिकार पर न कोई अधिकार प्रयुक्त कर सकता है और न अधिकार-प्रदान की रीति के इस अनुकरण के द्वारा कोई 'नजराने' का हो ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है कि जिसे अन्तिम रूप से जागीर की स्वीकृति मानी जाय; मेवाड़ में ऐसा नज़राना उस जागीर की एक वर्ष की आय जितना क़ायम किया जाता है। कच्छ में इसको केवल उत्तराधिकार की साधारण मान्यता के रूप में समझा जाता है और इसके वदले में कोई भेंट या मुलाकात आदि की रस्म भी पूरी नहीं की जाती। ऐसा प्रसंग रावों की गद्दीनशीनी, विवाह अथवा राजकुमार के जन्म के अवसरों के लिए ही सुरक्षित है जब प्रत्येक जाड़ेचा सरदारको दरबार में उपस्थित होकर सम्मानप्रदर्शन और 'नज़राना' पेश करना पड़ता है।

जाड़ेचा रावों द्वारा जागीरों के पट्टे स्वीकार करने में पुनर्ग्रहण सम्बन्धी विषय का कोई विचार या भेद नहीं किया जाता; इनमें मेवाड़ की तरह 'काला पट्टा'[1] या 'चूड़ा-उतार'[2] अर्थात् ग्रहीता के जीवनकाल पर्यन्त अथवा किसी भी समय पुनर्ग्राह्य जागीर जैसा भेद नहीं होता; वहाँ इस प्रकार की अनेक जागीरें हैं। यहाँ रतनजी के शब्दों में 'वह जागीर सदा-सर्वदा के लिए होती है चाहे भंगी को ही क्यों न दी गई हो; इस पर उसका सर्वाधिकार होता है।' संक्षेप में, इन जागीरों पर उनका उतना ही स्वतन्त्र अधिकार होता है जितना कि इंगलैण्ड में किसी लॉर्ड का अपनी जायदाद पर।

जागीरदारों की भूमि एवं अधिकारों के विषय में राजा द्वारा हस्तक्षेप करने का एकमात्र उदाहरण उसका वह अधिकार है जिसके द्वारा वह अधीनस्थ जागीरों के आपसी झगड़ों का निर्णय करता है; उसका यह अधिकार जागीरदारों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार किया गया है परन्तु यह उन्हीं तक सीमित है जिनको खँगार के राजा स्वीकृत होने के अनन्तर राज्य की ओर से जागीरी भूमि दी गई हो। फिर भी, राव का कोई भी कार्य सरदारों की बड़ी समिति के परामर्श से मुक्त नहीं है इसलिए ऐसी अपीलों को, वास्तव में, उन लोगों की अपने आप से ही अपील समझनी चाहिए।

उत्तराधिकार का एक विवादास्पद विषय इस समय विचाराधीन है जिसमें राव अथवा उसकी अवयस्कता में राज्य-सञ्चालिका समिति का सरदारों की बड़ी सभा से मतभेद है। पुराने और स्वतंत्र जाड़ेचों की खाँप में से एक छोटे जागीरदार की मृत्यु हो गई। उसके कोई असली सन्तान या नज़दीकी रिश्तेदार नहीं है—केवल एक भाटिया जाति की रखेल स्त्री से उत्पन्न अवैध पुत्र अवश्य है। ऐसी विकट परिस्थिति में दोनों ही पक्ष सिद्धान्तों की उपेक्षा कर रहे हैं—राज्य की ओर से तो सब का सामान्य वारिस होने की दलील देकर उस जायदाद को खालसा (राज्य द्वारा पुनर्गृहीत) करने का नया हक़ जाहिर किया जा रहा है, जो उनकी दी हुई नहीं है; उधर, सरदार लोग ऐसी गैर कानूनी परम्परा को

---

[1] रियासत के स्वामी द्वारा राजवंश से इतर राजपूतों को दिया हुआ पट्टा 'काला पट्टा' कहलाता था। ऐसी जागीर कभी भी पुनर्गृहीत की जा सकती थी।

[2] प्रत्येक उपभोक्ता की मृत्यु पर जागीर का कोई अंश कम कर दिया जाता था। इस प्रकार वह जागीर उत्तरोत्तर कम हो जाती थी। इसको 'चूड़ा-उतार पट्टा' कहते हैं क्योंकि जैसे हाथ की मोटाई के अनुसार एक के बाद एक चूड़ी छोटी होती चली जाती है वैसे ही ऐसी जागीर भी कम होती जाती थी

चालू होने से रोकने के लिए उस कानीन पुत्र को 'भायाद' के समस्त हक-हकूक दिलाने की इच्छा बता रहे हैं। इसमें सब से अच्छा और ठीक तरीका समझौते का होगा अर्थात् सरदारों की साधारण सभा उस मृतक के समीपतम वंशज को (चाहे वह कितनी ही पीढ़ियों परे हो) उसका दत्तक पुत्र स्वीकार करे और राज्य इस गोद-नशीनी की स्वीकृति प्रदान कर दे। परन्तु, यह स्पष्ट है कि एक पक्ष ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर रहा है; और, यद्यपि मूल सिद्धान्त को देखते हुए यह पक्ष सही हो सकता है और दूसरी राजपूत रियासतों की परम्परा का हवाला देते हुए वे लोग अपने वाद का समर्थन भी कर सकते हैं, फिर भी, जाड़ेचों में और उन अन्य राजपूतों में कोई समानता नहीं है, इसलिए चालू अमल-दर-आमद [परम्परा] को तोड़ने के लिए यह दलील पर्य्याप्त नहीं है; किसी भी दशा में, इस प्रश्न का हल जाड़ेचों के सिद्धान्तानुसार ही निकलना चाहिए और वह भी निर्णायक के अथवा मध्यस्थ के रूप में ब्रिटिश अधिकारियों से मुक्त होना चाहिए।

कच्छ में 'बाँटा' या विभाजन की प्रथा उस हद तक चली गई है कि उसने विनाश का मूलभूत रूप ही ले लिया है; क्योंकि मनु के अनुसार जब सभी लड़के पिता की जायदाद के समानरूप से उत्तराधिकारी होते हैं (यद्यपि सब से बड़े के लिए एक प्रकार की मजोरत (majorat) सुरक्षित रहती है) और प्रत्येक को उसका 'बाँटा' मिलना ही चाहिए तो फिर अङ्कगणित के नियमों से ही यह तय हो सकेगा कि समस्त जाड़ेचों के अन्तर्विभाग कहाँ जाकर रुकेंगे और उनमें से प्रत्येक के हिस्से में, यदि उनकी ही भाषा का प्रयोग करें तो, 'भाले की नोंक टिके इतनी-सी जमीन रह जायेगी।' इस राजनीतिक भूल का मूल एक ही महान् नैतिक अपराध में है और 'बाँटा' के सर्वोच्च नियम का पालन करते हुए खानदानों को नष्ट होने से बचाने के लिए ही प्रकृति अथवा परमात्मा के पहले नियम की अवहेलना की जाती है, जिसका परिणाम यह है कि बालवध की कुप्रथा केवल बच्चियों तक ही सीमित नहीं रही है।[1] यदि ब्रिटिश सरकार, यह समझाते हुए कि इस प्रकार के अन्तहीन विभाजन से सामान्य हितों को कितना खतरा है, इस प्रकार की लावारिस (स्वत्वहीन) सम्पत्तियों का कुछ राज्य द्वारा और कुछ भायाद द्वारा ग्रहण करने का समझौता-पूर्ण कानून

[1] मिस्टर एल्फिस्टन ने, जिनकी टिप्पणियों के मैंने अनेक उद्धरण दिए हैं, अपनी 'कच्छ की रिपोर्ट' में इस बात का समर्थन किया है और कहा है कि इसी कारण कितने ही घरों में एक मात्र पुरुष उत्तराधिकारी पाया जाता है।

बना सके तो इस समाज में आपसी सम्बन्धों की शृंखला दृढ़ हो सकेगी और जो भय छाए हुए हैं वे भी दूर हो जावेंगे।

इस प्रकार हमने संक्षिप्त रूप में एक ऐसे राजा की असाधारण तसवीर प्रस्तुत की है जिसको अपनी सीमा से बाहर कोई राजनीतिक अथवा शासन के अधिकार प्राप्त नहीं हैं और जो समाज के ढांचे को कायम रखने के लिए कम-से-कम राज्य-शक्ति का प्रयोग कर सकता है; न किसी को इनाम दे सकता है, न सज़ा दे सकता है; संक्षेप में, यह आयुधजीवी 'भायादों' का एक संघ है, जो एक बड़े वंश के सदस्य हैं और आपसी भय अथवा लाभ की भावना से प्रेरित होकर एक जगह मिल कर रहते हैं। खँगार से पहले भी ऐसा ही विधान था और इस प्रशस्त पुरुष के सम्मिलित हो जाने के बाद भी बहुत दिनों तक ऐसा ही चलता रहा।

पश्चिमी अन्य राजपूत रियासतों और कच्छ की बसावट में अन्तर है और इसी कारण उनकी सरकारों और नीति में भी भिन्नता है, जो अब तक इस असाधारण सामन्ती संघ को इसकी प्राचीन स्वतन्त्रताओं के साथ जीवित रख सकी है, ऐसा हमको मानना चाहिए। जब तक मैंने कच्छ की यात्रा करके यहां के इतिहास को न टटोल लिया और यहां के जानकारों से बातचीत न करली तब तक यह बात मेरी समझ में ही नहीं आ रही थी कि कोई ऐसा समाज भी हो सकता है क्या ? क्योंकि दूर बैठे-बैठे जब मुझे इनके कुछ कानूनों,[१] विशेषत: स्वत्वहीन भूमि के पुनर्ग्रहण, अतिक्रमण आदि से परिचित कराया जाता तो मेरी यही धारणा दृढ़ होती रहती कि कोई भी ऐसी सरकार, जिसमें सामन्तवर्ग राजा से स्वतन्त्र हो, अधिक दिन नहीं टिक सकती। विभिन्नता और समानता दोनों ही दृष्टियों से मेरी दलील सही है; क्योंकि यदि ऐसी सरकार कहीं राजपूताना की समीपता में आ पड़ती तो एक शताब्दी भी बर-करार न रह पाती। परन्तु, जाड़ेचों की भूमि एक ओर समुद्र से और दूसरी ओर महान् रण से घिरी होने के कारण अपने हिन्दू पड़ौसियों से भय-मुक्त रही; साथ ही, सभी मुसलमान यात्रियों को मुफ़्त में मक्का पहुँचाने की प्रशंसनीय नीति अपनाने के फलस्वरूप उन्होंने मुसलिम-शक्ति से भी मेल कर लिया, इसीलिए किसी भी सुलतान ने क्रोधावेश में आ कर इस प्रदेश की यात्रा नहीं की।

और, इस बात की पूरी सम्भावना थी कि जाड़ेचों की सामन्ती प्रथा में उनकी 'भायाद' और भी कुछ शताब्दियों तक यथावत् चलती रहती यदि सौभाग्य से उनको एक महान् सभ्य, महत्वाकांक्षी और सतत प्रगतिशील शक्तिशाली राज्य का पड़ौस प्राप्त न हो जाता; मेरा आशय स्पष्टत: ब्रिटिश सरकार से है।

मराठा-युद्धों के कारण बड़ौदा का गायकवाड़ दरबार हमारे प्रभाव में आ चुका है जिससे सौराष्ट्र के प्रायद्वीप में उसके अधीनस्थ राज्यों में भी हमारा दखल हो गया; और वहाँ से यद्यपि हमारे और कच्छ के बीच में एक खाड़ी ही है, परन्तु कदम-कदम बढ़ते हुए हम बहुत दूर सिन्ध के लोगों के सम्पर्क में आ गए हैं।

यूरोपीय सामन्ती प्रणाली की तरह एकता के बन्धन और वरिष्ठता के प्रतीक चिह्नों का अभाव होते हुए भी रावों और सामन्तों के बीच में भूमि का ऐसा विभाजन हो रहा था कि यदि ठीक-ठीक प्रबन्ध किया जाता तो सामन्ती शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती और समस्त अधिकार राजाओं के हाथ में आ जाते। समस्त सामन्ती संघ की अपेक्षा राजा का खालसाई क्षेत्र अधिक बड़ा है और इसकी आय में कुछ नगरों और कस्बों के व्यापारिक कर से और भी अभिवृद्धि हो जाती है। इन साधनों से प्राप्त सुविधाओं का उपयोग करते हुए वह राजा सामन्तों में से कुछ की सेवाएं सरलता से प्राप्त कर सकता है क्योंकि हर एक दरबार में परस्पर विरोधी दलों और सिद्धान्तों के लोग रहते आए हैं, और हैं भी; मुझे कुछ ऐसे उदाहरण बताए गए हैं कि कितने ही अवसरों पर राजा की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने वाली कार्यवाही करने के कारण अपने ही एक सदस्य को दण्ड देने के लिए समस्त भायाद उसके विरुद्ध संगठित हो गई थी। ऐसे प्रभाव का उपयोग करते हुए 'खेर' को या सामन्त-संघ को एकत्र कर लेना कोई कठिन काम नहीं था और जब देश पर विदेशियों का आक्रमण होता तो सब जाड़ेचा सामना करने के लिए डट जाते। परन्तु, पिछले वर्षों में राजाओं द्वारा अरबों, सिन्धियों और रोहेलों को अपने रक्षक वर्ग में प्रवेश देने की जो चाल पड़ गई है उससे उनके सरदारों में ईर्ष्या और जलन पैदा हो गयी, और फिर ये 'भाड़ के टट्टू' भी अपने मालिकों के लिए कम दुखदायी नहीं हैं। सामंत अपने स्वामी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं, परन्तु यह पारस्परिक सहिष्णुता और व्यावहारिक सन्तुलन उस समय खो जाता है जब उसमें किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप होता है। अन्तिम राव भारमल का दुर्भाग्य प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का ही दुष्परिणाम-जन्य उदाहरण है। मद्यपान की तीव्रता ने उसके सहज दुस्स्वभाव को और भी उग्र बना दिया था; और इन भाड़ैती विदेशियों के बल-बूते पर उसने अपने अधिकारों की परम्परागत परिसीमाओं को ठुकरा कर अपनी मन-मानी को ही कानून बना लिया था। परन्तु, उसका वास्ता उन लोगों से पड़ा था जो अपने अधिकारों को अच्छी तरह जानते-पहचानते थे और उन्होंने आत्म-समर्पण करने के बजाय बृटिश सत्ता को मध्यस्थ के रूप में आमन्त्रित किया था।

इस हस्तक्षेप के परिणाम में सच्ची मित्रता कायम हुई और लगे हाथों अनिवार्य **बृटिश सहायक सेना** आ गई। राव भारमल की चिड़चिड़ाहट ने बढ़ कर पागलपन का रूप ले लिया, फलतः उसको गद्दी से उतारा गया, बन्दी बनाया गया और उसके पुत्र राव देसल को 'गद्दी' पर बिठा दिया गया। वह बालक है इसलिए एक राज-प्रतिनिधि-सभा गठित की गई, जिसमें प्रमुख जाड़ेचा सरदार और पुराने राज्य कर्मचारी सम्मिलित किए गए हैं। उन्हीं में से एक, मुझे सूचना देने वाले, रतनजी भी हैं, जो अंग्रेजों के परम भक्त हैं। बृटिश रेजीडेण्ट को ही प्रतिनिधि सभा का प्रधान माना जाता है। जैसा मैंने देखा व सुना है, सभी काम ठीक-ठीक चल रहा है, सर्वत्र शान्ति है, सभी लोग अपने परिश्रम के फल अथवा पैतृक अधिकार का उपभोग कर रहे हैं और जब तक राव देसल नाबालिग़ है तब तक इस व्यवस्था में कोई बदल होने की सम्भावना नहीं है। भविष्य की बात उसके स्वभाव और इस अन्तरिम काल की दशा से लाभ उठाने की योग्यता पर निर्भर है। जिन जागीरदारों ने अपने राजा से दब कर रहने की अपेक्षा विदेशी शक्ति को आजादी समर्पण कर देना श्रेयस्कर समझा था उन्होंने उसी शक्ति से अपनी-अपनी जागीर की अक्षुण्णता का आश्वासन प्राप्त किया है और जो कुछ थोड़ी बहुत आधीनता पहले थी वह भी अब 'कुछ नहीं' के बराबर रह गई है; हाँ, मध्यस्थ के पास उभय पक्ष की अपीलें निरन्तर आती रहेंगी और सम्भवतः वह दोनों की ही घृणा का पात्र बना रहेगा।

तो, ये हैं सायरास्ट्रीन की विलक्षण और संस्मरणीय बातें; मैं फिर कहता हूं कि यहां बसने वाली जातियों की विभिन्नता और प्राचीन काल के अब तक बचे हुए इमारती अवशेषों के कारण यह प्रदेश भारत में सब से बढ़कर है। अब सब कुछ बृटिश सत्ता की शक्तिशाली पकड़ में है; सर्वोच्च सत्ताधारी गायकवाड़, अणहिलवाड़ा का स्वामी, उसके सामन्त, गोहिल, चावड़ा, घुमक्कड़ काठी, जगत्कूंट के जल-दस्यु और साम तथा यदु के वंशज जाड़ेचा—सबने अपने सामन्ती संघ के उस आकर्षण को समाप्त कर दिया है, जिसके द्वारा उनका और उनके राजाओं का आपसी संबंध बना हुआ था—इन्होंने अब स्वेच्छा से विदेशी के जूए के आगे सिर झुका दिया है। यहूदियों के प्रतिभा-शाली 'उपदेशक' और राजपूतों के अन्तिम महान् भाट ने प्रायः समान शब्दों में ही नाबालिगी के ख़तरों की घोषणा की है—'हे देश ! यह महान् दुःखपूर्ण बात है कि तेरा राजा बालक है' इसके आगे चन्द पूर्ति करता है 'और जब स्त्रियां राज्य करती हैं' और ऐसी परिस्थिति के परिणाम राजपूतों के लिए उपदेशक के इस पद्यांश 'और जब तेरे राजकुमार प्रातःकाल में भोजन करते हैं' से भी

बहुत अधिक भयोत्पादक होते हैं। यदि अमल और तीव्र मद्यपान का प्रेमी राजपूत जीवन के मध्याह्न में पहुंचने तक 'कलेवा'[1] करने की इच्छा छोड़ दे तो अवश्य ही वह उसके पुनर्जीवन की प्रबल आकांक्षा समझी जायगी। परन्तु, इस 'सहायक सन्धि' रूपी राजनीतिक पिशाची के विशिष्ट भय का न यहूदी उपदेशक को भान था न राजपूत चारण को ज्ञान। यह अनुमान करना भूल होगी कि जाड़ेचा इस प्रकार की अपरिवर्तनीय और अटल सन्धि के लिए अपवाद रहेंगे, जिसने ध्रुव सत्य के समान संस्थापित होकर एक उच्चतर सभ्यता के मेल से प्रत्येक अर्धबर्बर स्थिति का अन्त कर दिया है, और यहाँ मैं इस स्पष्टोक्ति के लिए अनुमति चाहूंगा कि हमारे इरादे कितने ही नेक क्यों न हों फिर भी प्रतिनिधि सभा के बृटिश रेजीडेन्ट, हमारी ही सृष्टि के प्राणी और हमारे प्रभाव के सक्रिय दूत [पिट्ठू] रतनजी कितने ही भले क्यों न हों और उन जागीरदारों के कारण जिन्होंने जाडेचा राजदण्ड को हमारे चरणों में ला पटकने का अक्षम्य अपराध किया है, ये सब अपनी रक्षा के लिए हमारे मुखापेक्षी हो गए हैं। यह एक बहुत बड़ी बात होगी यदि इस रियासत को, जो भूतकाल की निशानी है और भविष्यत् में भी उदाहरण बनी रहेगी, इस नियम का अपवाद बना दिया जावे, उस समय तक जब तक कि राजपूताना के अन्तिम 'नॅस्टर'[2] जालमसिंह की भविष्यवाणी—'समस्त भारत में एक ही सिक्का चलेगा'—पूरी न हो जाय और यह भविष्याकलन बड़ी तेजी से पूर्ति की ओर आगे बढ़ता नज़र आ रहा है। वह ज़ालिमसिंह अपने देशवासियों की अदूरदर्शिता को अच्छी तरह जानता था और समझता था कि वे अपने गले के हार से, जब वह चुभने लगेगा तो तुरन्त ही, गर्दन निकाल कर उस जूए के नीचे दे देंगे जिससे उनका कभी निस्तार होने वाला नहीं है।

'अमलपाणी' की सत्यानाशी कुटेव ने भाटों, चारणों और वरदाइयों की उस उपदेशात्मक प्रतिभा को कुण्ठित कर दिया है जिसके द्वारा वे अपने 'बँडे', [बांके] सरदार को आपत्तियों के प्रति सजग किया करते थे, और अब यदि उसी चारण की शब्दावली का प्रयोग करें तो जब वह अपने स्वामी के साथ

---

[1] प्रातःकाल में ही अफीम आदि के सेवन से तात्पर्य है।

[2] नॅस्टर (Nestor) पाइलॉस (Pylos) का शासक था। उसने प्रसिद्ध ट्रॉजन युद्ध में अपने सैनिकों का नेतृत्व किया था और बाद में वृद्धावस्था में अपनी बुद्धिमत्ता, न्याय और वक्तृत्व शक्ति के लिए प्रसिद्ध हुआ।

—The Oxford Companion to English Literature; p. 552.

'इमरत [अमृत] की घूंट' लेता है तो भविष्य की चिन्ता अपने आप दूर भाग जाती है। इस प्रकार पथ-प्रदर्शक के अभाव में जाड़ेचों ने एक ऐसी जाति से भाई-चारा बांध लिया है जिसके आलिङ्गनपाश से उन्हें अभी तक मुक्ति नहीं मिल पाई है। वह समय अब दूर नहीं है जब कि ब्रिटिश-नौकरशाही की सामान्य सूची के जज, कलक्टर और अदालतें (adawlets) आदि सम्पूर्ण सायराष्ट्रीन (Sayrastrene) में फैल जायेंगे; जब कि कोई भाई डी' एनविले अथवा रेनेल (Rennell) अब तक के इस अनिर्णीत मुद्दे को तय करेंगे कि डेल्टा की किस भुजा को पार करते हुए मैसीडोनिया का बेड़ा बेबीलोन पहुँचा था; अथवा जब कोई आधुनिक लाइकर्गस (Lycurgus)[1] उस प्रश्न को हल करेगा, जो एक प्रकार से बड़ी टेढ़ी खीर बना हुआ है कि जाड़ेचों को कैसे सभ्य बनाना, गोरखर अथवा रण के जंगली गधों पर नियंत्रण का जुआ रखना, पूर्व जाति (जाड़ेचों) को शिक्षित करके बाल-वध, बहु-विवाह और बाँटा-दर-बाँटा की विनाशकारी नीति की बुराइयाँ बताना इत्यादि ? सौराष्ट्र प्रायद्वीप की विभिन्न जातियों द्वारा गायकवाड़ की आधीनता से निकल कर सामन्ती एवं राजस्व के अधिकार हमारी शक्ति को हस्तान्तरित करना स्वागत का विषय होगा क्योंकि वे अभी तक हम को केवल अपनी भलाई के लिए मध्यस्थ ही मानते आ रहे हैं; और यद्यपि राजपूताना में अपनी जैसी एक ही सभ्यता के इन अवशेषों पर विस्तृत प्रभाव और अधिकार का मैं कट्टर विरोधी रहा हूँ, फिर भी कच्छ की वर्तमान नैतिक और राजनीतिक अवस्था में कोई भी प्रकार उस चालू दशा से तो श्रेयस्कर ही होगा जिससे हमारी प्रकृति के पहले सिद्धान्त की अवहेलना होती है और जो मानवता को पशु-सृष्टि से भी निम्नतर श्रेणी में ले जा कर रख देता है।

माण्डवी—७वीं जनवरी—मेरे पट्टामार (जहाज) के तख्ते पर। मैंने जाड़ेचों की राजधानी से पूरी तत्परता के साथ कदम वापस बढ़ाए और आज प्रातः पुनः 'मण्डी' में आ पहुँचा। हवा बिलकुल अनुकूल चल रही थी इसलिए मुझे अपने

---

[1] लाइकर्गस स्पार्टा के बादशाह इआनॉमस (Eanomus) का पुत्र था। कहते हैं कि पूर्वीय देशों की यात्रा करके जब वह स्वदेश लौटा तो वहाँ अराजकता फैल रही थी। उसने विधान बनाया और प्रजा से यह शपथ ले ली कि जब तक वह पुनः नहीं लौटेगा तब तक वे सब उसके बनाए हुए नियमों और विधान के पाबन्द रहेंगे। प्लूटार्क का कहना है कि अपनी प्रजा में सदाचार और नियम पालन को कायम रखने के उद्देश्य से फिर वह कभी वापस नहीं आया और अन्यत्र ही कहीं अपने जीवन का अन्त कर दिया। pp. (477-78)

—The Oxford Companion to English Literature; Paul Harvey

दूरस्थ दर्शनीय स्थान अर्थात् सिन्ध के मुहाने पर जाने का विचार छोड़ना पड़ा और तुरन्त जहाज पर चढ़ जाना पड़ा, जिसमें मुझे बंबई पहुँचने के लिए समुद्र में पाँच सौ मील का रास्ता पार करना था। पाल खोल दिए गए और माण्डवी के मित्रों से विदा लेकर हम बढ़िया हवा में खाड़ी के पार खड़े थे—इस प्रकार हिन्दुओं के फिनिस्ट्रे (Finisterre) [जगतकूट] से चल कर हम अपने मार्ग में चावड़ों की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर की ओर अग्रसर हुए जहाँ उतर कर मैंने अणहिलवाड़ा के संस्थापकों के इस जाति से सम्बद्ध शिलालेखों की खोज करने का इरादा कर रखा था। परन्तु, यह उपलब्धि मेरे भाग्य में नहीं थी क्योंकि मेरे 'नाखुदा' ने यह कह कर इरादा बदलवा दिया कि यदि मैं इस तरह रास्ते में घूमता रहा और हवा के अनुकूल रुख का कोई भी अवसर हाथ से निकल जाने दिया तो किसी भी दशा में मेरे लिए १४ तारीख तक बम्बई पहुँचना सम्भव नहीं हो सकेगा। मुझे चुपचाप मान लेना पड़ा और मेरे पट्टामार का मुंह स्थल की ओर से पलट दिया गया अथवा जैसा कि इब्राहीम ने कहा 'अब हम को 'लीले' [नीले] के बजाय लाल में खेना पड़ेगा।' मैं ऐसी मल्लाही भाषा से परिचित नहीं था इसलिए इब्राहीम के कुतुबनुमा की सन्दूक के सामने बैठ कर प्रत्यक्ष में समझने-समझाने के लिए जहाज के पिछले भाग से नीचे उतर आया। जल्दी ही भेद खुल गया; मैंने देखा कि उसके कम्पास-यन्त्र के उप-विभागीय सिरों पर अक्षरों के बजाय नीले, लाल, हरे और पीले आदि विविध रंग चिह्नित थे और वे उस स्थान पर सरलता से सुरक्षित थे जहाँ सामान्य बुद्धि की पहुँच नहीं होती। इब्राहीम यद्यपि साक्षर नहीं था तो भी बेजानकार नहीं था; उसकी बुद्धि का विकास अनुभव की सर्वश्रेष्ठ पाठशाला में हुआ था और वह अक्षरों की सहायता के बिना जहाज ही नहीं चला लेता था अपितु सितारों को भी अपने मार्ग-दर्शन के लिए आमन्त्रित कर लिया करता था।

सुहावनी हवा और निरभ्र आकाश के आलम में हम चलते रहे और जब तक चारों ओर अन्धेरा न फैल गया आगे बढ़ते ही रहे। उस समय हवा बन्द हो गई थी, रात गम्भीर और सुन्दर थी; 'मृगशिर नक्षत्र अपने दल के साथ' विजयोल्लास में हमारे सिर पर आ चुका था और उस गहरी निस्तब्ध शान्ति को मेरी नाव के मृदु सन्तरण से उत्पन्न लहरियों के स्वर के अतिरिक्त कोई छेड़ने वाला नहीं था। वह चिन्तन की रात्रि थी और मैं 'अतीत की मृदु स्मृतियों एवं भविष्य की मीठी कल्पनाओं' में खो गया।

चिन्ता के आस्तीन का मुंह बन्द करने वाली
और दिन भर के जीवन की मृत्यु, नींद

ने हमारे आस पास सभी की आंखों पर मोहर लगा दी थी, केवल इब्राहीम नाखुदा और ऐसा ही पौराणिक नामधारी दूसरा मल्लाह अय्यूब या जोब (Job) जग रहे थे। जब हम हमारे आकाशीय मेजमानों को निहार रहे थे तो मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इब्राहीम मुख्य-मुख्य तारक-गुच्छकों के नामों से भी परिचित था। उसने 'हायदीस' (Hyades)[१] का नाम 'अरणी' बताया जिसका अर्थ हिन्दवी में 'भैंस' होता है; परन्तु 'अरेबिया' में यह जानवर अपरिचित है इसलिए यही बात ध्यान में आती है कि प्रकाशमान अल्दीबारां (Aldebaran), 'भैंस की आँख' के नामकरण के लिए भी अरेबियन लोग बीजगणित की तरह हिन्दू ज्योतिषी के ही आभारी हैं।

दूसरा दिन भी अच्छा रहा; हवा वैसी ही मौतदिल बनी रही। दोपहर के करीब जब हम ऐसे मौसम का आनन्द ले रहे थे और दूर-दूर तक कहीं भी जमीन दिखाई नहीं दे रही थी तो हमारे पट्टामार से अनुमानतः बन्दूक की मार के फासले पर एक विशाल व्हेल मछली अपने शिशुमार मछलियों के समुदाय सहित निकली, जो कई सौ गज तक फैला हुआ था। लगभग एक घण्टे तक हमारी नाव के समानान्तर तैरते हुए उसने अपनी स्थिति बराबर बनाए रखी और हम से एक गज भी आगे न निकली; कभी डुबकी लगा जाती, कभी बाहर निकल आती और उसके साथ की छोटी मछलियाँ उछलती-कूदती हुई चारों ओर सभी तरह के खेल खेलती रहीं, मानों छुट्टी मना रही हों। मेरे साथ के गंगावासी नौकर, क्या सिपाही, क्या खिदमतगार, सभी उसको देख कर आश्चर्य-चकित रह गए; छोटी मछलियाँ तो उन्होंने गंगाजी में बहुत देखी थीं, परन्तु इस समुद्री दानव का उन्होंने नाम तक नहीं सुना था। मैं व्हेल अथवा किसी छोटी मछली पर गोली दागने के विचार को न रोक सका और मैंने अपनी बन्दूक मँगाई, परन्तु अन्त में मुझे इब्राहीम के 'इस प्रकार बचपना न करने के' आग्रह के आगे झुकना पड़ा; मुझे रोकने के लिए उसने ठीक उसी भाषा का प्रयोग किया जो स्वर्गीय बर्कहार्ड के वफादार बेडूइन (Bedouin) पथ-प्रदर्शक आइद (Ayd) ने उस समय किया था जब उसने अकाबा (Akaba) की खाड़ी पार करते समय किसी शिशुमार पर गोली चलाने का इरादा किया था 'इन्हें मारना अज़ाब का काम (नियम-विरुद्ध) है क्यों कि ये आदमी की दोस्त हैं और कभी किसी को नुकसान नहीं पहुँचातीं।'

मैं अपने माँझियों में से दो के पौराणिक नाम बता चुका हूँ, एक इब्राहीम

---

[१] सात तारों का गुच्छक।

सो भी जाता था, खास तौर से गर्मी के दिनों में, जब बाहर निकल कर व्यायाम करना असम्भव होता था। उस देश के गहरे नीले आकाश की आभा में यह तारा अपने सुनहरी प्रभा-मण्डल के साथ ऐसा चमकता था कि मैं क्या कहूँ? और, जब इस तरह का चन्दोवा मेरे सिर पर होता था तो मैं अपने आपको एक पूरा 'साबा-निवासी' अरबी सरदार मान लेता था। यदि मेरे निवास-स्थान की जहाजी तख्ते-जैसी उस छत के आर-पार एक देशान्तरीय रेखा खींची जाय और अवकाश में सीधी बढ़ाई जाय तो वह ध्रुव तारे पर जाकर खतम होगी, जो नगर के दिल्ली-दरवाजे पर लम्बमान रहता है; इसलिए यह नक्षत्र वर्षों तक रात्रीय चहल-कदमी में मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है अथवा जब कभी मैं चन्द्र-ग्रहण का या किसी बृहस्पतिगत चन्द्रमा का अवलोकन करता तो वह मेरा सलाम ग्रहण करता था। उस आनन्दमयी घाटी और आस-पास की छोटी-सी दुनिया के दृश्यों की याद दिलाने वाला, जिनसे मुझे कभी तृप्ति नहीं हुई, अब एक ही चित्ताकर्षक पदार्थ रह गया था—और इस 'उत्तरी ध्रुव नक्षत्र' के अतिरिक्त और कौन सी ऐसी वस्तु हो सकती थी जो हठात् मेरे सामने अतीत के चित्र उपस्थित करती? इस नक्षत्र की क्रमिक अस्तंगति को, जैसे-जैसे हम अक्षांश से नीचे उतरते गए, मैं टकटकी लगाकर देखता रहा। जब वह लहरों में डूब कर मेरी दृष्टि से ओझल हो गया तो मुझे ऐसा लगा मानो किसी मित्र का वियोग हो गया—और जब हम उत्तरी अतलान्तिक समुद्र में यात्रा कर रहे थे तो मैंने उसके पुनरुदय का प्रसन्नता से स्वागत किया। पाठकों का इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि मैं सैण्ट हैलॅना[1] (St. Helena) में ठहरा और वहीं मैंने अपनी यात्रा का उपसंहार उस

'मनुष्यों में सब से महान्, किन्तु निकृष्ट नहीं'

की मजार पर किया, जिसके विशाल मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार मैंने कितने ही देशों में किया है—

> 'नासमझी के ताने-बाने में बुनी महत्वाकांक्षा, तुम कितनी सिकुड़ गई हो?
> जब इस शरीर में जीवन था, तो
> एक पूरा साम्राज्य भी उसके लिए बहुत छोटा और सीमित था;
> परन्तु, अब बुरी से बुरी दो कदम जमीन ही इसके लिए पर्याप्त है।'

अक्टूबर २८, १८३५ ई० ॥

---

[1] सेण्ट हॅलॅना में नेपोलियन की १८२१ ई० में मृत्यु हुई थी।

जो 'नाव का मालिक' (नाखुदा) था और दूसरा अय्यूब; इनके साथ ही एक इसमाइल और था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सभी माँझी मुसलमान थे। अय्यूब बातूनी और मसखरा आदमी था और यद्यपि समझदारी के चिह्न उसकी दाढ़ी को इज्ज़त बख़्शने लग गए थे फिर भी जो अच्छाइयाँ उसमें नहीं थीं उनका दिखावा करने की अपेक्षा अपनी ज़िन्दादिली को बनाए रखना ही वह बेहतर समझता था; वह हर चीज़ और हर आदमी की मज़ाक उड़ाता था और कोई भी काम करने के लिए उसके नाखुदा को उसे दो बार कहना पड़ता था। फिर, पैग़म्बर की हिदायतों के बावजूद ताज़ा पानी से कुछ ही बेहतर 'आबे हयात' का स्वाद भी उस मल्लाह ने चख लिया था जिसका पहला परिचय उसने मुझे बड़ी सादगी और चतुराई के साथ दिया। नाखुदा से बातचीत करते समय अय्यूब भी बीच-बीच में एकाध शब्द बोलने की कोशिश करता था और मौका पाकर उसने बड़ी गंभीरता से कहा 'मैंने 'वलायती दूध' अथवा 'यूरोप के दूध' के बारे में बड़ी अजीब कहानियाँ सुनी हैं कि वह एक ऐसी (पीने की) दवा है जो दिल ओ' दिमाग़ की सभी खराबियों को दूर कर के राहत पहुँचाती है। क्या आप जानते हैं, वह क्या चीज़ है ?' और ज्यों ही एक तीखी मुस्कान मेरे चेहरे पर गुज़री उसने तुरन्त पूछ लिया, 'आप के पास है ?' मैंने कहा 'मैं जानता हूँ, मेरे पास है भी, और तुम्हारी जिज्ञासा शान्त करने के लिए कुछ दे भी दूंगा लेकिन पहले यह बताओ कि तुम्हें उस चीज़ के गुण कैसे मालूम हुए जिसे छूना भी 'शरीयत' में मना है ?' उसने जवाब दिया, 'एक अफसर का सामान बम्बई से पोरबन्दर ले जाकर भारी बरसात में उतारा था तब उसने मुझे और साथियों को एक-एक गिलास 'अरक़' या रुह का दिया था और मेरे सवाल करने पर यही नाम बताया था।' मैं अय्यूब और इसकी बातचीत को भूल चुका था और अपनी कोठरी में मोमबत्ती के पास बैठा कुछ पढ़ रहा था कि किसी ने अन्दर आने की इजाज़त चाही; यह अय्यूब था और हाथ में खोपरा या नारियल का कटोरा लिए मुझ से वादा पूरा कराने का ख्वास्तगार था। मैंने एक खि़दमतगार को बोतल लाने के लिए कहा और उसे खोपरे में उँडेलने ही वाला था कि मुझे खयाल आया कि मैं बेवक़ूफी कर रहा था और शायद इस तरह हमारे नायब नाखुदा को यात्रा के पूर्वार्द्ध में ही बेकाबू बना रहा था। यदि किसी सिपाही को मौत की सज़ा सुना दी गई हो और 'बन्दूक दागो' के बजाय 'हथियार वापस लो' का शासन दिया जाय तो शायद वह इतना स्तम्भित और आश्चर्यचकित न दिखाई देगा, जितना कि उस समय जोब (Job) (अयूब) दिखाई दिया। जब मैंने आसव की बोतल को वापस सीधी कर ली तो वह बिलकुल बेजुबान था, एक शब्द भी न

बोला लेकिन हाथ में प्याला लिए उसे आगे बढ़ाए मुझ पर आँखें गडाए रहा मानो मेरे इस कार्य के लिए जवाब चाह रहा हो। 'खयाल करो अयूब', मैंने कहा, 'यह तुम्हें पागल बना दे और तूफान आ जाय।' 'साहेब' बस उसने यही जवाब दिया और उसकी मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं आया। 'सोचो अयूब, अगर बम्बई के बन्दरगाह पहुंचने पर मैं तुम्हें पूरी बोतल देने का वादा करूँ तो क्या तुम आज की रात एक प्याले की माँग को न छोड़ सकोगे ?' हाथ और प्याला पीछे हट गए और यद्यपि उसके चेहरे पर उसी पुरानी कहावत 'नौ नकद तेरह उधार' के भाव अंकित थे फिर भी उसकी आकृति मुस्कराहट में बदल गई और किसी तरह उसने कह ही दिया 'मैं समझता हूँ, आप ठीक कहते हैं।'

पाँच दिन तक हम शान्तिपूर्वक सुहावने मौसम में समुद्र में यात्रा करते रहे और कोई विशेष बात नहीं हुई; तब हम गौरवपूर्ण दृश्यों से युक्त बम्बई के प्रवेश-द्वार पर पहुंचे जहाँ अत्यन्त विभिन्न और गम्भीरतम वातावरण था, सभी तरह के सामान, पर्वत, जंगल, द्वीप और पानी आदि मौजूद थे। परन्तु, उस दिन चौदहवीं तारीख थी—'सराह' के इंगलैण्ड के लिए रवाना होने के लिए निश्चित तिथि से पहला दिन—दो बड़े जहाजों के खुले हुए आगे के पालों ने मेरा ध्यान अन्य सभी बातों से हटा लिया। मैंने पेंसिल से एक नोट (टिप्पण) लिखा और तरकीब से एक जहाज के तख्ते पर भेज कर यह मालूम किया कि इनमें से कोई मेरा जहाज भी था क्या ? इधर, मैंने अपने सिपाहियों और खिदमतगारों को जल्दी से नाव में से उतारा कि जिससे जो कुछ भी परिणाम हो उसके लिए तैयार रहूँ। कुछ ही क्षणों में मेरा डर दूर हो गया; वे दोनों ही 'सराह' से पहले इंगलैण्ड के लिए रवाना होने वाले थे। माँझियों को इनाम-इकराम देकर और जोब (अयूब) को 'विलायती दूध' अर्थात् ब्राण्डी की बोतल देना न भूल कर मैंने अपना साज़-ओ-सामान किनारे पर उतरवाया जिसमें अंगभंग देवता [प्रतिमाएं], शिलालेख, शस्त्रास्त्र, हस्तलिखित ग्रन्थ आदि चालीस-संख्यक बकसों में थे, और फिर उनको डेरे तम्बुओं के नीचे रखवा दिया जिनका प्रबन्ध मेरे मित्रों ने कृपा-पूर्वक करवा रखा था। जहाज रवाना होने तक मुझे तीन सप्ताह रुकना पड़ा और इस अवधि का प्रत्येक दिन मेरी चिर-चिन्तित योजना के पूरी न होने के दुःख को बढ़ाता ही रहा—इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए इससे आधा ही समय पर्य्याप्त था। परन्तु, बहुत थोड़ी ही बुराइयाँ ऐसी होती हैं जिनकी क्षतिपूर्ति में अच्छी बातें न होती हों—अतः इस अवसर पर मेरे रुक जाने के परिणाम सिन्धु की यात्रा से अपेक्षित परिणामों से कहीं बढ़ कर महत्वपूर्ण और आकर्षक ही निकले। जहाज में रवाना होने से कुछ दिन पहले तत्कालीन

प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) जनरल सर चार्ल्स कॉलबिल (General Sir Charles Colville) से यात्रा के विषय में मेरी बातचीत हुई; आबू की रमणीयता, पालीताना के खण्डहर, सोमनाथ, अणहिलवाड़ा और चन्द्रावती आदि, सभी पर वार्तालाप हुआ; उनकी सूचनानुसार जब कोचीन में जहाज को देर हुई तो मैंने अपनी यात्रा के मार्ग की एक विस्तृत टिप्पणी तैयार करके सम्बद्ध विषयों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए उनके पास भेज दी। इसको मार्गदर्शिका मानते हुए 'हिज एक्सलैंसी' ने शीघ्र ही उन मुख्य-मुख्य स्थानों की यात्रा की जिनमें से बहुतों का केवल मुझे ही पता था। मेरे लिए, वास्तु-विज्ञान के लिए और पुरावस्तु प्रेमियों के लिए प्रसन्नता का विषय यह है कि प्रधान सेनापति के सहायक वर्ग में कर्नल हण्टर ब्लेयर नियुक्त थे और श्रीमती हण्टर ब्लेयर की उत्साहपूर्ण कला-प्रियता एवं उनके उत्कृष्ट पेंसिल-चमत्कार के प्रति समस्त संसार 'हिन्दू-शिल्पी' की सर्वोत्तम कला-कृतियों की उन अनुकृतियों के लिए आभारी है, जिनसे उन सब का उद्धार उस अंधकार से हो गया है जिसमें वे युगों से पड़े हुए थे और तुरन्त बाद में होने वाले विनाश से भी उनका बचाव हो ही गया है। परन्तु, अब हमें पुनः 'युद्ध के घोड़े' पर (Cheval da Gataille) सवार नहीं होना है; 'आथेलो' की प्रवृत्तियाँ समाप्त हुईं, और अब से मुझे अतीत की बातों को सपनों की तरह देखना चाहिये जो एकाकी वर्तमान जीवन का यथार्थ से योग कर देती हैं।

यहाँ मेरी कहानी समाप्त होती है अथवा हिन्दी पत्र-लेखक के शब्दों में उपसंहार करूं तो 'किं विशेषण ?' सिवाय इसके कि जैसे-जैसे हम समुद्र में यात्रा करते रहे, मेरी दृष्टि स्थल की ओर ही लगी रही, मैं भविष्य की कल्पना—'मेरे राजपूतों' में वापस लौटने और उनके कल्याण-विषयक अनेक योजनाएं बनाने, में डूबा रहा; अन्त में, जब हम भारत के अन्तिम छोर (भू-नासिका) पर पहुँच कर मनार की खाड़ी पार कर रहे थे तो ध्रुव-तारा लहरों में निमग्न हो गया—उस समय मैं उससे इस तरह विदा हुआ मानों वह मुझे उस भूमि से सम्बद्ध करने वाली अन्तिम ग्रन्थि हो, जहाँ पर मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय बिताया था और जहां मैं हजारों लोगों की भलाई का निमित्त बना था। परन्तु, मेरे सभी पाठक ज्योतिषी नहीं हैं इसलिए मैं इस विशिष्ट नक्षत्र के साथ अपने लगाव के विषय में यहाँ कुछ विवरण दूंगा क्योंकि पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही जगह के कवियों के लिए यह तारा स्थिरता अथवा ध्रुवता का प्रतीक रहा है। उदयपुर में मेरे घूमने की मुख्य जगह मेरी पोळ या दरवाजे की छत थी जहाँ बैठ कर मैं प्रायः भोजन करता था और वहीं

सो भी जाता था, खास तौर से गर्मी के दिनों में, जब बाहर निकल कर व्यायाम करना असम्भव होता था। उस देश के गहरे नीले आकाश की आभा में यह तारा अपने सुनहरी प्रभा-मण्डल के साथ ऐसा चमकता था कि मैं क्या कहूँ? और, जब इस तरह का चन्दोवा मेरे सिर पर होता था तो मैं अपने आपको एक पूरा 'साबा-निवासी' अरबी सरदार मान लेता था। यदि मेरे निवास-स्थान की जहाजी तख़्ते-जैसी उस छत के आर-पार एक देशान्तरीय रेखा खींची जाय और अवकाश में सीधी बढ़ाई जाय तो वह ध्रुव तारे पर जाकर खतम होगी, जो नगर के दिल्ली-दरवाजे पर लम्बमान रहता है; इसलिए यह नक्षत्र वर्षों तक रात्रीय चहल-कदमी में मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है अथवा जब कभी मैं चन्द्र-ग्रहण का या किसी बृहस्पतिगत चन्द्रमा का अवलोकन करता तो वह मेरा सलाम ग्रहण करता था। उस आनन्दमयी घाटी और आस-पास की छोटी-सी दुनिया के दृश्यों की याद दिलाने वाला, जिनसे मुझे कभी तृप्ति नहीं हुई, अब एक ही चित्ताकर्षक पदार्थ रह गया था—और इस 'उत्तरी ध्रुव नक्षत्र' के अतिरिक्त और कौन सी ऐसी वस्तु हो सकती थी जो हठात् मेरे सामने अतीत के चित्र उपस्थित करती? इस नक्षत्र की क्रमिक अस्तंगति को, जैसे-जैसे हम अक्षांश से नीचे उतरते गए, मैं टकटकी लगाकर देखता रहा। जब वह लहरों में डूब कर मेरी दृष्टि से ओझल हो गया तो मुझे ऐसा लगा मानो किसी मित्र का वियोग हो गया—और जब हम उत्तरी अतलान्तिक समुद्र में यात्रा कर रहे थे तो मैंने उसके पुनरुदय का प्रसन्नता से स्वागत किया। पाठकों का इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि मैं सैण्ट हैलॅना[1] (St. Helena) में ठहरा और वहीं मैंने अपनी यात्रा का उपसंहार उस

'मनुष्यों में सब से महान्, किन्तु निकृष्ट नहीं'

की मज़ार पर किया, जिसके विशाल मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार मैंने कितने ही देशों में किया है—

> 'नासमझी के ताने-बाने में बुनी महत्वाकांक्षा, तुम कितनी सिकुड़ गई हो?
> जब इस शरीर में जीवन था, तो
> एक पूरा साम्राज्य भी उसके लिए बहुत छोटा और सीमित था;
> परन्तु, अब बुरी से बुरी दो कदम जमीन ही इसके लिए पर्याप्त है।'

अक्टूबर २८, १८३५ ई० ॥

---

[1] सेण्ट हॅलॅना में नेपोलियन की १८२१ ई० में मृत्यु हुई थी।

परिशिष्ट[1]

—•—

सं० १ (पृ. ९२)

ओडिसा (वर्तमान ओरिया-स्थित) कनखलेश्वर[2] मन्दिर का शिलालेख

संवत् १२६५, वैसाख सुद पूनम, मंगलवार। चालुक्यवंशीय परमभट्टारक महाराजाधिराज श्रीमद् भीमदेव के विजय राज्य और जीवनकाल में, जब श्री-करणमंत्री, समस्त राजमण्डल में वलिष्ठ केवल धारावर्षदेव का छत्र चन्द्रा-वती नगरी सर्वस्वभूमण्डलके ऊपर छाया हुआ था और जब उस समय राजा प्रह्लादन देव राजकार्य का सञ्चालन करता था, उस समय वीर केदारेश्वर ने कङ्कलेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। शिलालेख[3] का लेखक पण्डित लखमींधर।

---

[1] इस परिशिष्ट में ग्रंथकर्ता ने उनके द्वारा सन्दर्भित शिलालेखों के आवश्यक अंशों का अंग्रेजी अनुवाद दिया है। उसी अनुवाद का यथावत् हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जाता है। परन्तु, कितने ही लेखों का अंग्रेजी अनुवाद ठीक ठीक नहीं हुआ जिससे भ्रान्ति हो सकती है। अतः ऐसे लेखों को शुद्ध पाठ सहित पूरे रूप में उद्धृत कर दिया गया है। इनके विषय में आव-श्यक सूचनायें भी, जैसी उपलब्ध हो सकीं, उल्लिखित कर दी गई हैं। इस सामग्री का उपयोग "The Historical Inscriptions of Gujrat" आदि पुस्तकों में से किया गया है।—अनुवादक

[2] कनखलेश्वर महादेव का मन्दिर और सरोवर 'वदरीनाथ' में है, जो इस सरोवर में स्नान करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। कन्कल, 'खल' का अर्थ है अपराधों और मूर्खताओं से युक्त, और 'कन्' का अर्थ है उनका विनाश करना।

[3] यह लेख उर्ज्जन के शिवमठ के महन्त चपल अथवा चपलीय जाति के केदारराशि ने उत्कीर्ण कराया था। इसका हेतु उसके द्वारा अचलगढ़ में कनखल तीर्थ पर उसके पुण्य-कार्यों को चिरस्मृत करने का है। लेख आबू पर्वत पर स्थित ईश्वर अथवा शिव की स्तुति से आरम्भ होता है और फिर राजाओं के समान केदारराशि के आध्यात्मिक गुरुओं की नामावली दी गई है। चण्डिकाश्रम का प्रथम महन्त वाकलराशि था, इसका शिष्य ज्येष्ठजराशि, तदनु योगेश्वर राशि, फिर मौनिराशि और योगेश्वरी साध्वी, फिर दुर्वास-राशि हुआ, तच्छिष्य केदारराशि था।

इस लेख के अन्त में बीसवीं पंक्ति से चौबीसवीं पंक्ति तक अणहिलवाड़ा के भीमदेव (द्वितीय) का उल्लेख है। यथा—

अनेक भवसञ्चितं क्षयमियर्त्ति पापं द्रुतं,
स पातु पदपङ्कजानतहरिः समिद्धेश्वरः ।।

यत्रोल्लसत्यद्भुतकारि वाचः स्फुरन्ति चित्ते विदुषां सदा तत् ।
सारस्वतं ज्योतिरनन्तमन्तर्विस्फूर्ज्जतां मे क्षतजाड्यवृत्ति ।।

जयन्त्यजस्रपीयूषबिन्दुनिष्यन्दिनोऽमलाः ।
कवीनां समकीर्तीनां वाग्विलासा महोदयाः ।।
न वैरस्य स्थितिः श्रीमान्न जला[डा]नां समाश्रयः ।
रत्नराशिरपूर्व्वोऽस्ति चौलुक्यानामिहान्वयः ।।
तत्रोदपद्यत श्रीमान् सद्वृत्ततेजसां निधिः ।
मूलराजमहीनाथो मुक्तामणिरिवोज्ज्वलः ।।
वितन्वति भृशं यत्र क्षेमं सर्वत्र सर्वथा ।
प्रजा राजन्वती नूनं जज्ञेऽसौ चिरकालतः ।।

तस्यान्वये महति भूपतिषु क्रमेण,
यातेषु भूरिषु सुपर्व्वपतेर्निवासम् ।
प्रोर्ण्णुत्य वीद्ध्रयशसा ककुभां मुखानि,
श्रीसिद्धराजनृपतिः प्रथितो बभूव ।।

जयश्रिया समाश्लिष्टं यं विलोक्य समन्ततः ।
भ्रान्त्वा जगन्ति यत्कीर्त्तिर्ज्जगाहेऽमरमन्दिरम् ।।
तस्मिन्नमरसाम्राज्यं सम्प्राप्ते नियतेर्व्वशात् ।
कुमारपालदेवोऽभूत् प्रतापाक्रान्तशात्रवः ।।
स्वतेजसा प्रसह्येन न परं येन शात्रवः ।
पदं भूभृच्छिरस्सूच्चैः कारितो वंधुरप्यलम् ।।

आज्ञा यस्य महीनाथैश्चतुरम्बुधिमध्यगैः ।
ध्रियते मूर्धभिर्न्नम्रैर्देवशेषेव सन्ततम् ।।

महीभृन्निकुञ्जेषु शाकम्भरीशः प्रियापुत्रलोकेन शाकम्भरीशः ।
अपि प्रास्तशत्रुर्भयात्कंप्रभूतः स्थितो यस्य मत्तेभवाजिप्रभूतः ।।

सपादलक्षमामर्द्य नम्रीकृतभयानकः ।
स्वयमयान्महीनाथो ग्रामे शालिपुराभिधे ।।

सन्निवेश्य शिविरं पृथु तत्र त्रासिता सहनभूपतिचक्रम् ।
चित्रकूटगिरिपुष्कलशोभां द्रष्टुं (कु) मारनृपतिः कुतुकेन ।।

(अनुष्टुप्छन्दः) यदुच्चसुरसद्माग्रोपरिष्टात् प्रपतन् सदा ।
रथं नयत्यलं मन्दं मन्दं भङ्गभयाद्रविः ।।
यत्सौधशिखरारूढकामिनीमुखसन्निधौ ।
वर्त्तमानो निशानाथो लक्ष्यते लक्ष्मलेखया ।।

प्रफुल्लराजीवमनोहराननाः विवृत्तपाठीनविलोललोच [नाः] ।
[प्रम] त्त [भृं]गावलिरोमराजयो रथाङ्गवक्षोरुहमण्डलश्रियः ॥

परिभ्रमत्सारसहंसनिःस्वनाः सविभ्रमाहारिमृणालबाहुकाः ।
वहन्निलम्बामलवारि [राशयो] मुदे सतां यत्र सदा सरोङ्गनाः ॥

सुरभिकुसुमगन्धाकृष्टमत्तालिमाला–
विहितमधुररावो यत्र चाधित्यकायाम् ।

स्खलिततरणिभानुः सल्ल [ ],
[रिर]मयिषति शश्वत्कामिनः कामिनीभिः ॥

शुभे यद्वने शाखिशाखान्तराले
प्रियाः क्रीडया सन्निलीना निकामम् ।

घने [प] णाम्
तनूगन्धसक्तालयः सूचयन्ति ॥

प्राप कदापि न या हृदये शं
सानुनयं स मया हृदयेशम् ।
यद्वनमेत्य सु [ ],
[र] तरागम् ॥

एवमादिगुणे दुर्गे स्वर्गे वा भुवि संस्थिते ।
राजा जिष्णुः परं प्रीत्या सञ्चरन् निजलीलया ॥

ति [··· ··· ···(ता) श्चर्यसंकुलम् ।
ददर्शागाधगम्भीरं स्वच्छं स्वमिव मानसम् ॥

निर्म्मलं सलिलं यत्र पिहितं प [द्मि] ।]
··· ··· ··· जे नीलाब्जरागभूश्रियम् ॥

विमुच्य व्योमपातालरसा यत्र त्रिमार्गगा ।
लोकान् पुनाति··· ··· ··· ··· ···] ॥

तस्योत्तरतटेऽद्राक्षीन्नम्रामरसमर्चितम् ।
श्रीसमिद्धेश्वरं देवं प्रसिद्धं जगती[तले]॥

[··· ··· ··· ··· ··· ··· ···] ते ।
त्रैसन्ध्यतूर्यनादेन कलिं निर्भर्त्सयन्निव ॥

यत्स्तवस्याधिपत्येऽस्यात् पुरा भट्टारिकोत्तमा ।
··· ··· [वि] नृपाभ्यर्च्या ··· ··· ··· ॥

तस्याः शिष्याऽभवत् साध्वी सुव्रतव्रातभूषिता ।
गौरदेवीति विख्याता ··· ··· ··· कृतोद्यमा ॥

सं० २ (पृ० ६०)

बहुत ढूंढने पर भी ग्रंथकर्ता के कागज-पत्रों में इस लेख की नकल नहीं मिली।

००

सं० ३ (पृ० १६७)

कुमारपाल सोलंकी का शिलालेख; चित्तौड़ में ब्रह्मा के मन्दिर में स्थित, जो लाखण का मन्दिर कहलाता है ।

जो जल में निवास करने में आनन्दित होते हैं, जिनके जटाजूट से निरन्तर अमृतबिन्दु झरते हैं,वे महादेव तुम्हारी रक्षा करें ।

समुद्र में से उत्पन्न समुज्ज्वल रत्नराशि के समान चालुक्य वंश में कितने ही राज-रत्न पैदा हुए, उन्हीं की परम्परा में पृथ्वीपति मूलराज हुआ। उसकी समानता कौन कर सकता था, जिसकी निर्मल कीर्ति प्रकाशमान रत्न के समान अपनी किरणों से पृथ्वी-पुत्रों में आनन्द और क्षेमकुशल का प्रसार करती थीं ? उस वंश में बहुत से बलशाली राजा हुए परन्तु उससे पूर्व किसी ने भी ऐसा महान् यज्ञ नहीं किया था।

२०–संवत् १२६५ वर्षे वैशाख शु० १५ भौमे चौलुक्योद्धरणपरमभट्टारकमहाराजाधिराज श्रीमद्भीमदेव प्रवर्द्ध––

२१–मानविजयराज्ये श्रींकरणे महामुद्र-मत्य महं० ठा(आ)भूप्रभृति समस्तपंचकुले परिपंथयति चन्द्रावतीनाथमांड––

२२–लिकासुरशम्भुश्रीधारावर्षदेवे एकातपत्रवाहकत्वेन भुवं पालयति। षट्दर्शनअवलम्बन स्तंभसकलकलाकोविद—

२३–कुमारगुरुश्रीप्रह्लादनदेवे यौवराज्ये सति इत्येवं काले केदारराशिना निष्पादितमिदं कीर्त्तनं। सूत्र पाल्हणह—

२४–केन [उत्कीर्णं]

अनुवाद में कितने ही शब्द और उनके अर्थ स्पष्ट नहीं हुए हैं। यथा— 'श्रीकरण' 'चन्द्रावतीनाथमाण्डलिकासुरशम्भु' आदि पदों के अर्थ; 'केदारराशि' को केदारेश्वर लिखा है और शिलालेख के लेखक का नाम लखमीधर लिखा है जब कि मूल लेख में पाल्हणह लिखा है।

यह लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी वॉल्यूम ११' सन् १८८२ में प्रो० एच० एच० विल्सन के अनुवाद सहित छपा है।

कालान्तर में कई पीढ़ियों बाद सिद्धराज हुआ, जिसका नाम संसार में विदित है, जिसका शरीर विजयश्री द्वारा समाश्लिष्ट था और जिसके सत्कर्म इस पृथ्वीपटल पर व्याप्त हैं तथा जिसके कान्तियुक्त व्यक्तित्व और सौभाग्य के कारण अपरिमेय वैभव एकत्रित हो गया था।

उसके बाद कुमारपालदेव हुआ। वह कैसा था ? ऐसा कि जिसने अपने दुर्जेय मस्तिष्क से समस्त शत्रुओं को परास्त कर दिया था, जिसके आदेशों को पृथ्वी-मण्डल के सभी राजा शिरोधार्य करते थे; जिसने शाकम्भरी के स्वामी को अपने चरणों में प्रणत किया ; जिसने शैवलक[1] के विरुद्ध स्वयं शस्त्र-ग्रहण किया और शालिपुर नगर में भूभृतों के शिर झुका दिए।

चित्रकूट पर्वत पर..........अर, उस नरेश्वर ने कौतुक से ही इस (लेख) को देवालय में स्थापित किया और इस पर ऊँचा कलश भी चढ़ाया। क्यों ? कि यह मूर्खों के हाथों की पहुँच से बाहर रहे।

जैसे रात्रि का स्वामी (निशानाथ) नीचे सुन्दर कामिनियों के मुख देखकर अपने कलङ्क के कारण ईर्ष्या करता है उसी प्रकार यह चित्रकूट अपने शिखर पर इस प्रशस्ति को देखकर लज्जित होता है।

संवत् १२०७ (११४१ ई०) [मास और दिन का लेख टूट गया है][2]

---

[1] मूल लेख में उल्लेख नहीं है।

[2] यह लेख 'राजस्थान का इतिहास' भाग १ के परिशिष्ट में उद्धृत है।

इस लेख में कुल २८ पक्तियां हैं।

लेख का आशय चालुक्यनृपाल कुमारपाल द्वारा चित्रकूटगिरि अर्थात् आधुनिक चित्तौड़गढ़ की यात्रा के समय समिद्धेश्वरदेव के मन्दिर के निर्माण और उसी अवसर पर दिये हुए दान को चिरस्मृत करने का है।

यह लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' के वोल्यूम २, में पृष्ठ ५२१ पर प्रोफेसर कील्होर्न द्वारा प्रकाशित किया गया है। लेख का शुद्ध पाठ नीचे दिया जाता है—

ॐ नमः सर्वज्ञाय।

नमो सप्तार्चिदग्धसंकल्पजन्मने।
सर्वाय परमज्योतिर्ध्वस्तसंकल्पजन्मने ॥

जयतात् स मृडः श्रीमान् मृडा[नी व]दनाम्बुजे।
यस्य कण्ठच्छवी रेजे शैवालस्येव वल्लरी ॥

यदीयशिखरस्थितोल्लसदनल्पदिव्यध्वजं,
समण्डपमहो नृणामतिविदूरतः पश्यताम्।

अनेक भवसञ्चितं क्षयमियर्त्ति पापं द्रुतं,
स पातु पदपङ्कजानतहरिः समिद्धेश्वरः ॥

यत्रोल्लसत्यद्भुतकारि वाचः स्फुरन्ति चित्ते विदुषां सदा तत् ।
सारस्वतं ज्योतिरनन्तमन्तर्विस्फूर्ज्जतां मे क्षतजाड्यवृत्ति ॥

जयन्त्यजस्रपीयूषबिन्दुनिष्यन्दिनोऽमलाः ।
कवीनां समकीर्तीनां वाग्विलासा महोदयाः ॥
न वैरस्य स्थितिः श्रीमान्न जला[डा]नां समाश्रयः ।
रत्नराशिरपूर्व्वोऽस्ति चौलुक्यानामिहान्वयः ॥
तत्रोदपद्यत श्रीमान् सद्वृत्ततेजसां निधिः ।
मूलराजमहीनाथो मुक्तामणिरिवोज्ज्वलः ॥
वितन्वति भृशं यत्र क्षेमं सर्वत्र सर्वथा ।
प्रजा राजन्वती नूनं जज्ञेऽसौ चिरकालतः ॥

तस्यान्वये महति भूपतिषु क्रमेण,
यातेषु भूरिषु सुपर्व्वपतेर्निवासम् ।
प्रोर्ण्णुत्य वीद्ध्रयशसा ककुभां मुखानि,
श्रीसिद्धराजनृपतिः प्रथितो बभूव ॥

जयश्रिया समाश्लिष्टं यं विलोक्य समन्ततः ।
भ्रान्त्वा जगन्ति यत्कीर्त्तिर्ज्जगाहेऽमरमन्दिरम् ॥
तस्मिन्नमरसाम्राज्यं सम्प्राप्ते नियतेर्व्वशात् ।
कुमारपालदेवोऽभूत् प्रतापाक्रान्तशात्रवः ॥
स्वतेजसा प्रसह्येन न परं येन शात्रवः ।
पदं भूभृच्छिरस्सूच्चैः कारितो बंधुरप्यलम् ॥

आज्ञा यस्य महीनाथैश्चतुरम्बुधिमध्यगैः ।
ध्रियते मूर्धभिर्न्नम्रैर्देवशेषेव सन्ततम् ॥

महीभृन्निकुञ्जेषु शाकम्भरीशः प्रियापुत्रलोकेन शाकम्भरीशः ।
अपि प्रास्तशत्रुर्भयात्कंप्रभूतः स्थितो यस्य मत्तेभवाजिप्रभूतः ॥

सपादलक्षमामर्द्य नम्रीकृतभयानकः ।
स्वयमयान्महीनाथो ग्रामे शालिपुराभिधे ॥

सन्निवेश्य शिविरं पृथु तत्र त्रासिता सहनभूपतिचक्रम् ।
चित्रकूटगिरिपुष्कलशोभां द्रष्टुं(कु)मारनृपतिः कुतुकेन ॥

(अनुष्टुप्छन्दः) यदुच्चसुरसद्माग्रोपरिष्टात् प्रपतन् सदा ।
रथं नयत्यलं मन्दं मन्दं भङ्गभयाद्रविः ॥
यत्सौधशिखरारूढकामिनीमुखसन्निधौ ।
वर्त्तमानो निशानाथो लक्ष्यते लक्ष्मलेखया ॥

प्रफुल्लराजीवमनोहराननाः विवृत्तपाठीनविलोललोच [नाः] ।
[प्रम] त्त [भृं]गावलिरोमराजयो रथाङ्गवक्षोरुहमण्डलश्रियः ॥

परिभ्रमत्सारसहंसनिःस्वनाः सविभ्रमाहारिमृणालबाहुकाः ।
वृहन्नितम्बामलवारि [राशयो] मुदे सतां यत्र सदा सरोङ्गनाः ॥

सुरभिकुसुमगन्धाकृष्टमत्तालिमाला–
विहितमधुररावो यत्र चाधित्यकायाम् ।

स्खलिततरणिभानुः सल्ल [ ],
[रिर]मयिषति शश्वत्कामिनः कामिनीभिः ॥

शुभे यद्वने शाखिशाखान्तराले
प्रियाः क्रीडया सन्निलीना निकामम् ।

घने [प] णाम्
तनूगन्धसक्तालयः सूचयन्ति ॥

प्राप कदापि न या हृदये शं
सानुनयं स मया हृदयेशम् ।
यद्वनमेत्य सु [ ],
[र] तरागम् ॥

एवमादिगुणे दुर्गे स्वर्गे वा भुवि संस्थिते ।
राजा जिष्णुः परं प्रीत्या सञ्चरन् निजलीलया ॥

ति [··· ··· ··· (ता) श्चर्यसंकुलम् ।
ददर्शागाधगम्भीरं स्वच्छं स्वमिव मानसम् ॥

निर्म्मलं सलिलं यत्र पिहितं प [च्चि] ।]
··· ··· ··· जे नीलाब्जरागभूश्रियम् ॥

विमुच्य व्योमपातालरसा यत्र त्रिमार्गगा ।
लोकान् पुनाति··· ··· ··· ··· ···] ॥

तस्योत्तरतटेऽद्राक्षीन्नम्रामरसमर्चितम् ।
श्रीसमिद्धेश्वरं देवं प्रसिद्धं जगती[तले]॥

[··· ··· ··· ··· ··· ··· ···] ते ।
त्रैसन्ध्यतूर्यनादेन कलिं निर्भर्त्सयन्निव ॥

यत्स्तवस्याधिपत्येऽस्थात् पुरा भट्टारिकोत्तमा ।
··· ··· [वि] नृपाभ्यर्च्या ··· ··· ··· ॥

तस्याः शिष्याऽभवत् साध्वी सुव्रतव्रातभूषिता ।
गौरदेवीति विख्याता ··· ··· ··· कृतोद्यमा ॥

सं० ५ पृष्ठ ३४७ और ३६४

देवपत्तनस्थित भद्रकाली-मन्दिर के द्वार पर प्राप्त शिलालेख का अनुवाद। यह लेख मूलतः सोमनाथ-मन्दिर का है।

जिनके जटाजूट से गङ्गा बहती है उन [शिव] को नमस्कार, जिनके जघनस्थल पर पार्वती विश्राम लेती है उन [शिव को नमस्कार]; पार्वती के पुत्र वीजीमराज (Vizeem Raj) [विघ्नराज] को नमस्कार ! सरस्वती को नमस्कार, वह मेरी जिह्वा पर निवास करे। सूर्य और चन्द्रमा जिसके आभूषण हैं वह और सब [देवता] मेरी रक्षा करें।

(शेष श्लोक छोड़ दिए गए हैं)

किनोज [कनौज] का ब्राह्मण भाव बृहस्पति (वृहस्पति) बनारस की यात्रा को गया। वह अवन्ती और धारा नगर पहुँचा जहाँ उस समय जयसिंह-देव राज्य करता था। परमार राजा और उसके समस्त परिवार ने उसको अपना गुरु बनाया और वह राजा उसको अपना भाई कहने लगा।

जब सिद्धराज जयसिंह स्वर्ग सिधारा तब वह चक्रवर्ती था; कुँअर (कुमार) पाल उसकी गद्दी पर बैठा; भाव बृहस्पति उसके मन्त्रियों में प्रधान हुआ। कुँअर (कुमार)पाल तीनों लोकों में कल्पवृच्छ (वृक्ष) के समान था। उसने अपनी मुद्रा, कोष और सर्वस्व बृहस्पति के अधिकार में दे दिए और

सुमनो ··· ··· संसेव्या [मा] ··· यविनाशिनी।
दुर्गा हि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ता॥
यत्तपःपावनं वीक्ष्य पवित्रीकृतसज्जनम्।
सस्मरुः पूर्वयमि ··· ··· ··· ··· ··· ॥
शिवं प्रपूज्य त[त्पदशरणम गमत् प्रभुः।
प्रणम्य तावुभौ भक्त्या शिरसा ··· ···]।
[तस्वां] तः पूजार्थं हरपादयोः।
कुमारपालदेवोऽदाद् ग्रामं श्री······।
······स्या दिश्याराम······टा दक्षिण पूर्वोत्तरं पश्चिमतः सरः पाली-भूणादित्य ······ राज ······ दीपार्थं घाणकमेकं सज्जनोप्यदात्
दण्डनाथ ······ मेतद्दानम ······
श्रीजयकीर्त्तिशिष्येण दिगम्बरगणेशिना।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे ······ श्रीरामकीर्त्तिना॥
संवत् १२०७ सूत्रधा ············

कहा "जाओ और देवपत्तन के तीरन (Teerun) (तोरण या जीर्ण ?) मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराओ।" [1]भाव बृहस्पति ने उन्हें कैलास के समान बनवा दिया। उसने विश्वाधिपति (राजा) को अपना काम देखने के लिए आमन्त्रित किया। जब उसने देखा तो अपने गुरु की प्रशंसा में कहा "मेरा हृदय आनन्दित है; मैं तुमको और तुम्हारे पुत्रों (वंशजों) को मेरे राज्य में प्रधानता प्रदान करता हूँ।"

प्रथम, चन्द्रमा ने स्वर्णमन्दिर खड़ा किया; फिर, रावण ने चांदी का मन्दिर बनवाया। बाद में, कृष्ण भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया और इसमें जवाहरात जड़वाये; और फिर कुँअर(कुमार)पाल ने एक बार पुनः इसको मेरु के सदृश बना दिया। गूर्जनमण्डली (गुर्जर-मण्डल) के स्वामी ने ब्रह्मपुर (ब्राह्मणों की बस्ती) (ब्रह्मपुरी) के लिये भूमि और धन प्रदान किया। उसने दक्षिण में सोमनाथ के मन्दिर से लेकर उत्तर में ब्रह्मपुरी तक परकोटा खिचवाया। सिद्धेश्वर और भीमेश्वर आदि सभी (देवताओं) के मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और सभी पर स्वर्णकलश चढ़ाए गए। कुओं, सरोवरों, यात्रियों के लिए भवनों, जल के टाँकों से देव-मन्दिर तक रजत-जल-कुल्याओं और देव(प्रतिमा) के लिए सिंहासन (आदि का निर्माण हुआ)। रुक्मण (रुक्मिणी) द्वारा बनवाये हुए पाप-मोचनेश्वर के मन्दिर का भी, जो तोड दिया गया था, पुनर्निर्माण हुआ। बलभी सं० ८५०[2]

---

[1] 'चरित्र' में लिखा है कि मन्दिर का स्वर्णकलश बृहस्पति ने बनवाया था।

[2] **बलभी संवत् ८५०+३७५=वि० सं० १२२५, ई० सन ११६९। यह समय कुमारपाल के बाद एक को छोड़कर दूसरे उत्तराधिकारी भीमदेव के पाटण की गद्दी पर बैठने का है।**

* प्रभास पाटण में सुप्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर है। यह नगर जूनागढ़ के अधिकार में था। यहां भद्रकाली का भी एक मन्दिर है जिसके प्रवेश-द्वार के दाहिनी तरफ एक शिला पर यह लेख है। यह 'भावनगर प्राचीन संस्कृत इंस्क्रिप्सन्स' के पृ० १८५ पर प्रकाशित हुआ। इसमें लिखा है कि कुमारपाल ने अपने गुरु भाव बृहस्पति के आदेशानुसार बहुत से शिव और अम्बिका के मन्दिरों का निर्माण कराया तथा बहुतों का जीर्णोद्धार भी कराया। इसी प्रकार एक वापिका बनवाई और अनेक ब्राह्मणों को दान में भूमि प्रदान की। लेख का समय बलभी संवत् ८५० (ई० सन् ११६९; वि० सं० १२२५) है। लेख इस प्रकार है।

१. **ओं नमःशिवाय**

येनाहं भवतः सहे सुरधुनीमंतर्ज्जटानामतः,

कर्णे लालयसि क्रमेण कितवोत्संगेऽपि तां धास्यसि

सं० ५ पृष्ठ ३४७ और ३६४

देवपत्तनस्थित भद्रकाली-मन्दिर के द्वार पर प्राप्त शिलालेख का अनुवाद। यह लेख मूलतः सोमनाथ-मन्दिर का है।

जिनके जटाजूट से गङ्गा बहती है उन [शिव] को नमस्कार, जिनके जघनस्थल पर पार्वती विश्राम लेती है उन [शिव को नमस्कार]; पार्वती के पुत्र वीजीमराज (Vizeem Raj) [विघ्नराज] को नमस्कार! सरस्वती को नमस्कार, वह मेरी जिह्वा पर निवास करे। सूर्य और चन्द्रमा जिसके आभूषण हैं वह और सब [देवता] मेरी रक्षा करें।

(शेष श्लोक छोड़ दिए गए हैं)

किनोज [कनौज] का ब्राह्मण भाव बृहस्पति (वृहस्पति) बनारस की यात्रा को गया। वह अवन्ती और धारा नगर पहुँचा जहाँ उस समय जयसिंह-देव राज्य करता था। परमार राजा और उसके समस्त परिवार ने उसको अपना गुरु बनाया और वह राजा उसको अपना भाई कहने लगा।

जब सिद्धराज जयसिंह स्वर्ग सिधारा तब वह चक्रवर्ती था; कुँअर (कुमार) पाल उसकी गद्दी पर बैठा; भाव बृहस्पति उसके मन्त्रियों में प्रधान हुआ। कुँअर (कुमार)पाल तीनों लोकों में कल्पवृच्छ (वृक्ष) के समान था। उसने अपनी मुद्रा, कोष और सर्वस्व बृहस्पति के अधिकार में दे दिए और

सुमनो ··· ··· संसेव्या [मा] ··· यविनाशिनी।
दुर्गा हि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ता॥
यत्तपःपावनं वीक्ष्य पवित्रीकृतसज्जनम्।
सस्मरुः पूर्वयमि ··· ··· ··· ··· ··· ॥
शिवं प्रपूज्य त[त्पदशरणम गमत् प्रभुः।
प्रणम्य तावुभौ भक्त्या शिरसा ··· ···]।
[तस्वां] तः पूजार्थं हरपादयोः।
कुमारपालदेवोऽदाद् ग्रामं श्री······।
······स्या दिश्याराम······टा दक्षिण पूर्वोत्तरं पश्चिमतः सरः पाली-
भूणादित्य ······ राज ······ दीपार्थं घाणकमेकं सज्जनोप्यदात्
दण्डनाथ ······ मेतद्दानम ······
श्रीजयकीर्त्तिशिष्येण दिगम्बरगणेशिना।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे ······ श्रीरामकीर्त्तिना॥
संवत् १२०७ सूत्रधा ············

कहा "जाओ और देवपत्तन के तीरन (Teerun) (तोरण या जीर्ण ?) मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराओ।" [1]भाव बृहस्पति ने उन्हें कैलास के समान बनवा दिया। उसने विश्वाधिपति (राजा) को अपना काम देखने के लिए आमन्त्रित किया। जब उसने देखा तो अपने गुरु की प्रशंसा में कहा "मेरा हृदय आनन्दित है; मैं तुमको और तुम्हारे पुत्रों (वंशजों) को मेरे राज्य में प्रधानता प्रदान करता हूँ।"

प्रथम, चन्द्रमा ने स्वर्णमन्दिर खड़ा किया; फिर, रावण ने चांदी का मन्दिर वनवाया। बाद में, कृष्ण भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया और इसमें जवाहरात जड़वाये; और फिर कुँअर(कुमार)पाल ने एक बार पुनः इसको मेरु के सदृश वना दिया। गूर्जनमण्डली (गुर्जर-मण्डल) के स्वामी ने ब्रह्मपुर (ब्राह्मणों की बस्ती) (ब्रह्मपुरी) के लिये भूमि और धन प्रदान किया। उसने दक्षिण में सोमनाथ के मन्दिर से लेकर उत्तर में ब्रह्मपुरी तक परकोटा खिचवाया। सिद्धेश्वर और भीमेश्वर आदि सभी (देवताओं) के मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और सभी पर स्वर्णकलश चढ़ाए गए। कुओं, सरोवरों, यात्रियों के लिए भवनों, जल के टाँकों से देव-मन्दिर तक रजत-जल-कुल्याओं और देव(प्रतिमा) के लिए सिंहासन (आदि का निर्माण हुआ)। रुक्मण (रुक्मिणी) द्वारा बनवाये हुए पाप-मोचनेश्वर के मन्दिर का भी, जो तोड दिया गया था, पुनर्निर्माण हुआ। बलभी सं० ८५०[2]

---

[1] 'चरित्र' में लिखा है कि मन्दिर का स्वर्णकलश बृहस्पति ने बनवाया था।

[2] **बलभी संवत् ८५०+३७५=वि० सं० १२२५, ई० सन ११६९। यह समय कुमारपाल के बाद एक को छोड़कर दूसरे उत्तराधिकारी भीमदेव के पाटण की गद्दी पर बैठने का है।**

* प्रभास पाटण में सुप्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर है। यह नगर जूनागढ़ के अधिकार में था। यहां भद्रकाली का भी एक मन्दिर है जिसके प्रवेश-द्वार के दाहिनी तरफ एक शिला पर यह लेख है। यह 'भावनगर प्राचीन संस्कृत इंस्क्रिप्सन्स' के पृ० १८५ पर प्रकाशित हुआ। इसमें लिखा है कि कुमारपाल ने अपने गुरु भाव बृहस्पति के आदेशानुसार बहुत से शिव और अम्बिका के मन्दिरों का निर्माण कराया तथा बहुतों का जीर्णोद्धार भी कराया। इसी प्रकार एक वापिका बनवाई और अनेक ब्राह्मणों को दान में भूमि प्रदान की। लेख का समय वलभी संवत् ८५० (ई० सन् ११६९; वि० सं० १२२५) है। लेख इस प्रकार है।

१. ओं नमःशिवाय

येनाहं भवतः सहे सुरधुनीमंतर्ज्जटानामतः,

कर्णे लालयसि क्रमेण कितवोत्संगेऽपि तां धास्यसि

सं० ५ पृष्ठ ३४७ और ३६४

देवपत्तनस्थित भद्रकाली-मन्दिर के द्वार पर प्राप्त शिलालेख का अनुवाद। यह लेख मूलतः सोमनाथ-मन्दिर का है।

जिनके जटाजूट से गङ्गा बहती है उन [शिव] को नमस्कार, जिनके जघनस्थल पर पार्वती विश्राम लेती है उन [शिव को नमस्कार]; पार्वती के पुत्र वीजीमराज (Vizeem Raj) [विघ्नराज] को नमस्कार ! सरस्वती को नमस्कार, वह मेरी जिह्वा पर निवास करे। सूर्य और चन्द्रमा जिसके आभूषण हैं वह और सब [देवता] मेरी रक्षा करें।

(शेष श्लोक छोड़ दिए गए हैं)

किनोज [कनौज] का ब्राह्मण भाव बृहस्पति (वृहस्पति) बनारस की यात्रा को गया। वह अवन्ती और धारा नगर पहुँचा जहाँ उस समय जयसिंह-देव राज्य करता था। परमार राजा और उसके समस्त परिवार ने उसको अपना गुरु बनाया और वह राजा उसको अपना भाई कहने लगा।

जब सिद्धराज जयसिंह स्वर्ग सिधारा तब वह चक्रवर्ती था; कुँअर (कुमार) पाल उसकी गद्दी पर बैठा; भाव बृहस्पति उसके मन्त्रियों में प्रधान हुआ। कुँअर (कुमार)पाल तीनों लोकों में कल्पवृच्छ (वृक्ष) के समान था। उसने अपनी मुद्रा, कोष और सर्वस्व बृहस्पति के अधिकार में दे दिए और

सुमनो ··· ··· संसेव्या [मा] ··· यविनाशिनी।
दुर्गा हि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ता॥
यत्तपःपावनं वीक्ष्य पवित्रीकृतसज्जनम्।
सस्मरुः पूर्वयमि ··· ··· ··· ··· ···॥
शिवं प्रपूज्य त[त्पदशरणम गमत् प्रभुः।
प्रणम्य तावुभौ भक्त्या शिरसा ··· ···]।
[तस्वां] तः पूजार्थं हरपादयोः।
कुमारपालदेवोऽदाद् ग्रामं श्री······।
······स्या दिश्याराम······टा दक्षिण पूर्वोत्तरं पश्चिमतः सरः पाली-
भूणादित्य ······ राज ······ दीपार्थं घाणकमेकं सज्जनोप्यदात्
दण्डनाथ ······ मेतद्दानम ······
श्रीजयकीर्त्तिशिष्येण दिगम्बरगणेशिना।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे ······ श्रीरामकीर्त्तिना॥
संवत् १२०७ सूत्रधा ············

कहा "जाओ और देवपत्तन के तीरन (Teerun) (तोरण या जीर्ण ?) मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराओ।" [1]भाव बृहस्पति ने उन्हें कैलास के समान बनवा दिया। उसने विश्वाधिपति (राजा) को अपना काम देखने के लिए आमन्त्रित किया। जब उसने देखा तो अपने गुरु की प्रशंसा में कहा "मेरा हृदय आनन्दित है; मैं तुमको और तुम्हारे पुत्रों (वंशजों) को मेरे राज्य में प्रधानता प्रदान करता हूँ।"

प्रथम, चन्द्रमा ने स्वर्णमन्दिर खड़ा किया; फिर, रावण ने चांदी का मन्दिर बनवाया। बाद में, कृष्ण भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया और इसमें जवाहरात जड़वाये; और फिर कुँअर(कुमार)पाल ने एक बार पुनः इसको मेरु के सदृश बना दिया। गूर्जनमण्डली (गुर्जर-मण्डल) के स्वामी ने ब्रह्मपुर (ब्राह्मणों की बस्ती) (ब्रह्मपुरी) के लिये भूमि और धन प्रदान किया। उसने दक्षिण में सोमनाथ के मन्दिर से लेकर उत्तर में ब्रह्मपुरी तक परकोटा खिचवाया। सिद्धेश्वर और भीमेश्वर आदि सभी (देवताओं) के मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और सभी पर स्वर्णकलश चढ़ाए गए। कुओं, सरोवरों, यात्रियों के लिए भवनों, जल के टाँकों से देव-मन्दिर तक रजत-जल-कुल्याओं और देव(प्रतिमा) के लिए सिंहासन (आदि का निर्माण हुआ)। रुक्मण (रुक्मिणी) द्वारा बनवाये हुए पाप-मोचनेश्वर के मन्दिर का भी, जो तोड दिया गया था, पुनर्निर्माण हुआ। बलभी सं० ८५०[2]

---

[1] 'चरित्र' में लिखा है कि मन्दिर का स्वर्णकलश बृहस्पति ने बनवाया था।

[2] **बलभी संवत् ८५०+३७५=वि० सं० १२२५, ई० सन ११६९। यह समय कुमारपाल के बाद एक को छोड़कर दूसरे उत्तराधिकारी भीमदेव के पाटण की गद्दी पर बैठने का है।**

* प्रभास पाटण में सुप्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर है। यह नगर जूनागढ़ के अधिकार में था। यहां भद्रकाली का भी एक मन्दिर है जिसके प्रवेश-द्वार के दाहिनी तरफ एक शिला पर यह लेख है। यह 'भावनगर प्राचीन संस्कृत इंस्क्रिप्सन्स' के पृ० १८५ पर प्रकाशित हुआ। इसमें लिखा है कि कुमारपाल ने अपने गुरु भाव बृहस्पति के आदेशानुसार बहुत से शिव और अम्बिका के मन्दिरों का निर्माण कराया तथा बहुतों का जीर्णोद्धार भी कराया। इसी प्रकार एक वापिका बनवाई और अनेक ब्राह्मणों को दान में भूमि प्रदान की। लेख का समय वलभी संवत् ८५० (ई० सन् ११६९; वि० सं० १२२५) है। लेख इस प्रकार है।

१. **ओं नमःशिवाय**

येनाहं भवतः सहे सुरधुनीमंतर्ज्जटानामतः,

कर्णे लालयसि क्रमेण कितवोत्संगेऽपि तां धास्यसि

इत्यद्रेः सुतया सकोप–

२. (मुखयो) वतोऽवोचदार्ये भुवो-

भूं षेयं गुरुगंडकीर्तिरिति वः सोऽव्याद्भवानीप्रियः ॥१॥

श्रीविघ्नराज विजयस्व नमोऽस्तु तुभ्यं

वाग्देवते त्यज नवोक्तिवि–

३. धि यतोऽहं

जिह्वे समुल्लस सखि प्रकरोमि यावत्।

सर्वेश्वरप्रवरगंडगुणप्रशस्ति ॥ २ ॥

सोमः सोऽस्तु जयी सम[स्म]रांगदहनो यं निर्म्मलं निर्ममे

गौर्याः शाप--

४. (बलेन) वै कृतयुगेऽदृश्यत्व मु(मो ?)पेयुषां

प्रादात् पाशु (शु)पतार्थसाधुसुधियां यः स्थानमेतत् स्वयं

कृत्वा स्वामथ पद्धति शशिभृतो देवस्य तस्याज्ञया ॥३॥

५. कलौ किञ्चिद् व्यतिक्रान्ते स्थानकं वीक्ष्य विप्लुतं

तदुद्धारकृते शम्भुर्नंदीश्वरमथादिशत् ॥४॥

अस्ति श्रीमति कान्यकुब्जविषये वाराणसी विश्रु–

६. (ता)

पुर्यस्यामधिदेवताकुलगृहं धर्मस्य मोक्षस्य च

तस्यामीश्वरशासनाद् द्विजपतेर्गेहे स्वजन्मगृ(ग्र)हं

चक्रे पाशुपतवृतं (व्रतं) च विदधे नंदीश्वरः

७. (सर्ववित्) । ५॥

तीर्थ (स्थान)विधानाय भूभुजां दक्षिणाय च

स्थानानां रक्षणार्थाय निययौ स तपोनिधिः ॥६॥

श्रीमद्भावबृहस्पतिः समभव(त्)

८. (सद्वि)द्यविश्वार्चितो

नानातीर्थकरोपमानपदवीमासाद्य धारां पुरीं

सम्प्राप्तो नकुलीशसन्निभतनुः संपूजितस्तापसैः

कंदर्पप्रतिमश्च

९. (शास्त्र) मखिलस्वीयागमोद्घाटनम् ॥७॥

यद्यन्मालवकान्यकुब्जविषयेऽवंत्यां सुतप्तं तपो

नीताः शिष्यपदं प्रमारपतयः सम्यङ्मठाः पालिताः ।

१०. प्रीतः श्रीजयसिंहदेवनृपतिर्भ्रातृत्वमात्यंतिकं
तेनैषास्य जगत्त्रयोपरिलसत्यद्यापि विजृंभितम् ॥८॥
संसारावतरस्य कारण–

११. मसौ संस्मारितः शंभुना
स्थानोद्धारनिबंधनं प्रति मतिं चक्रे पवित्राशयः ।
तस्मिन्नेव दिने कृतांजलिपुटः श्रीसिद्धराजः स्वयं
चक्रेऽ–

१२. मुष्य महत्तरत्वमसमं चार्यत्वमत्यादरात् ॥९॥
तस्मिन्नाकमुपेयुषि क्षितिपतौ तेजोविशेषोदयी
श्रीमद्वीरकुमारपालनृ–

१३. पतिस्तद्राज्यसिंहासनम् ।
आचक्राम झटित्व(त्य)चिन्त्यमहिमा वल्लाद(ट) धाराधिपः
श्रीमज्जाङ्गलभूपकुञ्जरशिरःसञ्चारपञ्चाननः ॥१०॥
एवं

१४. राज्यमनारतं विदधति श्रीवीरसिंहासने
श्रीमद्वीरकुमारपालनृपतौ त्रैलोक्यकल्पद्रुमे ।
गण्डो भावबृहस्पतिः स्मररिपोरुद्वीक्ष्य–

१५. देवालयं
जीर्णं भूपतिमाह देवसदनं प्रोद्धर्तुमेतद्वचः ॥ ११ ॥
आदेशात् स्मरशासनस्य सुबृहत्प्रासादनिष्पादकं
चातुर्जातकसंमतं स्थिर–

१६. धियं गार्गेयवंशोद्भवम् ।
श्रीमद्भावबृहस्पतिं नरपतिः सर्वेशगण्डेश्वरं
चक्रे तं च सुगोत्रमण्डलतया ख्यातं धरित्रीतले ॥ १२ ॥
दत्वालङ्करणं क–

१७. रेण तु गले व्यालम्ब्य मुक्त्या···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···प्रणम्याग्रतः ।
उत्सार्यात्ममहत्तमं निजतमामुच्छिद्य मुद्रामदात् ।
स्थानं भव्य–

१८. पुराणपद्धतियुतं निस्तन्त्रभक्त्यव्ययम् ॥ १३ ॥
प्रासादं यदकारयत् स्मररिपोः कैलासशैलोपमं
भूपालस्तदतीवहर्षमगमत् प्रोवाच चेदं वचः ।
श्री–

१९. मद्गण्डमहामतिं प्रति मया गण्डत्वमेतत्तव
प्रत्तं सम्प्रति पुत्रपौत्रसहितायाचन्द्रताराद्गणम् ॥ १४ ॥

सौवर्णं सोमराजो रजतमयमथो रावणोदार-

२०. वीर्यः

कृष्णश्रीभीमदेवो रुचिरतरमहाग्रावभी रत्नकूटम् ।

तं कालाज्जीर्णमेष क्षितिपतितिलको मेरुसंज्ञं चकार

प्रासादं सप्रभावः सकल-

२१. गुणनिधेर्गण्डसर्वेश्वरस्य ॥ १५ ॥

पश्चाद्गुर्ज्जरमण्डलक्षितिभुजा संतोषहृष्टात्मना

दत्तो ब्रह्मपुरीति नामविदितो ग्रामः सवृक्षोदकः ।

कृत्वा-

२२. त्रैपुटता(त्र)शासनविधिं श्रीमण्डलीसन्निधौ

त्वत्पुत्रैस्तदनुव्रतैः स्वकुलजैः संभुज्यतां स्वेच्छया ॥ १६ ॥

उद्धृत्य स्थानकं यस्मात् कृतं सोमव्यवस्थया ।

ब्र(बृ)हस्प-

२३. तिसमो गण्डो नाभून्न भविता परः ॥ १७ ॥

बहुकुमतिजगण्डैर्द्रव्यलोभाभिभूतै-

र्नृपकुसचिववृन्दैर्नाशितं स्थानमेतत् ।

सपदि तु गुरुगण्डेनोद्धृतं दन्त-

२४. कोटी-

स्थितधरणिवराहस्पर्द्धया लीलयैव ॥ १८ ॥

के के नैव विडम्बिता नरपतेरग्रे विपक्षव्रजाः

केषां नैव मुखं कृतं सुमलिनं केषां न दर्पो हृतः ।

२५. केषां नापहृतं पदं हठ(ठ)तया दत्त्वा पदं मस्तके

के वानेन विरोधिनो न बलिना भिक्षाव्रतं ग्राहिताः ॥ १९ ॥

सुस्थामभिर्बहिरिदं बहुभिर्यदीयै-

र्गाढं गुणै-

२६. र्नियमितं यदि नाभविष्यत् ।

नूनं तदन्तरखिलं सुभृतं यशोभि-

र्ब्रह्माण्डभाण्डकमणु(:) स्फुटमस्फुटिष्यत् ॥ २० ॥

यद्रूपेक्षणवाञ्छया शतमखो धत्ते सहस्रं

२७. दृशां

यन्निःसीमगुणस्तुतौ कृतधियो धातुश्चतुर्वक्त्रता ।

यन्माहात्म्यभराच्चलेति वसुधा गोपाचलैः कीलिता

यत्कीर्तिर्न भुवि प्रयास्यति ततो नूनं त्रिलोकीकृता ॥

२८. ॥ २१ ॥ उद्धृत्यवृत्तयो येन सबाह्याभ्यन्तरस्थिता: ।
चातुर्जातकलोकेभ्य: संप्रदत्ता यशोऽर्थिना ॥ २२ ॥
स्वमर्यादां विनिस्मर्याय स्थानकोद्धा–

२९. रहेतवे ।
पञ्चोत्तरां पञ्चशतीमार्याणां योऽभ्यपूजयत् ॥ २३ ॥
देवस्य दक्षिणे भागे उत्तरस्यां तथा दिशि ।
विधाय विषमं दुर्गं प्रावर्द्धयत य: पुरम् ॥ २४ ॥
गौ–

३०. र्या भीमेश्वरस्याथ तथा देवकपर्द्दिन: ।
सिद्धेश्वरादिदेवानां यो हेमकलशान् दधौ ॥ २५ ॥
नृपशालां च यश्चक्रे सरस्वत्याश्च कूपिकाम् ।
महानसस्य–

३१. शुद्धयर्थं सुस्नापनजलाय च ॥ २६ ॥
कर्पर्दिन: पुरोभागे सुस्तम्भां पट्टशालिकाम् ।
रौप्यप्रणालं देवस्य मण्डुकासनमेव च ॥ २७ ॥
पापमोचनदेवस्य प्रासादं जी–

३२. र्णमृ(मु)द्धृतम् ।
तत्र त्रीन् पुरुषांश्चक्रे नद्यां सोपानमेव च ॥ २८ ॥ युग्मम्
येनाक्रियन्त बहुशो ब्राह्मणानां महागृहा: ।
विष्णुपूजनवृत्तीनां य: प्रोद्धारमचीकरत् ॥ २९ ॥

३३. नवीननगरस्यान्त: सोमनाथस्य चाध्वनि ।
निर्मिते वापिके द्वे च तत्रैवापरचण्डिका ॥ ३० ॥
गण्डेनाकृत वापिकेयममला स्फारप्रमाणामृत–
प्रख्या स्वादुजला–

३४. सहेलविलसद्धुत्कारकोलाहलै: ।
भ्राम्यद्भूरितरारघट्टघटिका मुक्ताम्बुधाराशतै–
र्या पीतं घटयोनिनापि हसतीवाम्भोनिधिं लक्ष्यते ॥ ३१ ॥
शशि–

३५. भूषणदेवस्य चण्डिकां सन्निविस्थिताम् ।
यो नवीनां पुनश्चक्रे स्वश्रेयोराशिलिप्सया ॥ ३२ ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहे प्रतिपदं येनाश्रिता: साधव: ।
सर्वज्ञा(:)प–

३६. रिपूजिता द्विजवरा दानै: समस्तैरपि ।

तद्वत्पञ्चसु पर्वसु क्षितितलख्यातैश्च दानकर्म-
यैर्न क्ष्मा परितोषिता गुणनिधिः क(स्तत्समोऽन्यः पुमान्) ॥ ३३ ॥

३७. भक्तिः स्मरद्विषि रतिः परमात्मदृष्टौ
श्रद्धा श्रुतौ व्यसनिता च परोपकारे ।
क्षांतौ मतिः सुचरितेषु कृतिश्च यस्य
विश्वम्भरेऽपि च नुतिः सुतरां सुखाय ॥ ३४ ॥

३८. एतस्याभवदिन्दुसुन्दरमुखी पत्नी प्रसिद्धान्वया
गौरीव त्रिपुरद्विषो विजयिनी लक्ष्मीर्मुरारेरिव ।
श्रीगङ्गेव सरस्वतीव यमुनेवेदाग्रकोर्त्या गिरा
कान्त्या-

३९. सोढलसम्भवा भुवि महादेवीति या विश्रुता ॥ ३५ ॥
लावण्यं नवचम्पकोद्गतिरथो बाहुः शिरीषावली
दृष्टिः क्रौंच······

४०. ··· ··· ··· ··· ··· ···न

हासः कुन्दममन्दरोध्रकुसुमान्युच्चा कपोलस्थली
यस्या मन्मथशिल्पिना विरचितं सर्वर्तुलक्ष्म्या वपुः ॥ ३६ ॥

४१. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···सिद्धा-
श्चत्वारस्ते दशरथसमेनास्य पुत्रोपमानाः ।
आद्यस्तेषामभवदपरादित्यनामा ततोऽभूद्-
रत्नादित्य··· ··· ··· ··· ··· ··· (श्रे)

४२. (न्यः)··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· सोमेश्वर इति कृती भास्करश्चापरोऽभू-
देते रामादिव ··· ··· पमिता सत्यसौभ्रात्रयुक्ताः ।
नि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

४३. ··· ··· द्रवविनिहिताबाहवः श्रीमुरारेः ॥ ३८ ॥
धन्या सा जननी नूनं स पिता विश्वशेखरम् ।
यावज्जी··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

४४. ··· ··· ··· ··· ···दलोपरि लुठत्पानीयबिन्दूपमा-
लक्ष्मीः संभृतवाजिचामरगजाद्विद्युद्विलासस्य च ।
धा··· ··· ··· ··· ···

४५. ··· ··· ··· ··· ···येन गुणिना कीर्तिः परं संचिता ॥ ४० ॥
सत्वेनाद्य शिबिर्दधीचिरथवा तीव्राज्ञया रा (वण)

४६. ··· ··· ··· ···युधिष्ठिरः क्षितिपतिः किं वा बहु ब्रूमहे ।

सं० ६. (पृ० ३४७)

देवपत्तन के द्वार का शिलालेख

संवत् १४४२, आषाढ़ बुद ८, शनिवार। सरस्वती को नमस्कार करके। चीतोड़ (Cheetore) का राजा भीम यदुवंश का था, उसकी पत्नी मानिक देवी और पुत्री यामुनी बाई; वह राष्ट्रोड (?) (Rushtore) सरदार बनी ब्रिह्मोजी (Bunee Brimohjee) को व्याही गई थी। वे प्रलियास(?) (Prulias) आए और उन्होंने दान-दक्षिणा दी, जिसके पुण्य से लोग अब भी लाभान्वित होते हैं (यथा, तालाब आदि)

(उसी शिला पर)

संवत् १२७३ संवत् विक्रम वैशाख बुद चौथ। देवपत्तन में राजा मूलदेव (हुआ) उसके बाद हमीर हुआ जिसने सोमनाथ के मन्दिर और मण्डप का जीर्णोद्धार कराया।

इत्येतेऽभिधया बृहस्पतितया सर्वेऽपि ... ...
... ...
... ... ।

४७. ... ... कुमारपालस्य भागिनेयो महाबलः ॥ ४२ ॥
प्रेमल्लदेव्यास्तनयो भोज ... ...
... ... (४३)
श्रीसोम-

४८. नाथपूजा यच्छशांकग्रहणक्षणे।
कारितो गण्डराजेन तेन प्रीति मगा... ...

५०. ... ... यथाक्रमं ॥ ४५ ॥
... ...
... ...
हिरण्यतटिनीतीरे पापमोचनसन्निधौ।
गण्डत्रि... ... ...

५०. ... ...(ददौ) तस्मै माहेश्वरनृपाग्रणीः ॥ ४७ ॥
शासनीकृत्य ददता ग्राम... ... ...

५१. (वंशप्र) भवैः पुत्रपौत्रकैः भोक्तव्यं प्रमदाभिश्च।
यावच्चन्द्रा... ... ...

५२. (गण्डगु)णप्रशस्ति चकार यः शीघ्रकविः सुकाव्यैः ॥ ५० ॥

५३. (५१) लक्ष्मीधरसुतेनेयं लिखिता रुद्रसु(सू)रिणा ... ...

५४. बलभी संवत ८५० आषा ... ...

तद्वत्पञ्चसु पर्वसु क्षितितलख्यातैश्च दानकर्म-
येन क्ष्मा परितोषिता गुणनिधिः क(स्तत्समोऽन्यः पुमान्) ॥ ३३ ॥

३७. भक्तिः स्मरद्विषि रतिः परमात्मदृष्टौ
श्रद्धा श्रुतौ व्यसनिता च परोपकारे ।
क्षांतौ मतिः सुचरितेषु कृतिश्च यस्य
विश्वम्भरेऽपि च नुतिः सुतरां सुखाय ॥ ३४ ॥

३८. एतस्याभवदिन्दुसुन्दरमुखी पत्नी प्रसिद्धान्वया
गौरीव त्रिपुरद्विषो विजयिनी लक्ष्मीर्मुरारेरिव ।
श्रीगङ्गेव सरस्वतीव यमुनेवेदाग्रकीर्त्या गिरा
कान्त्या-

३९. सोढलसम्भवा भुवि महादेवीति या विश्रुता ॥ ३५ ॥
लावण्यं नवचम्पकोद्गतिरथो बाहुः शिरीषावली
दृष्टिः क्रौंच······

४०. ··· ··· ··· ··· ··· ···न

हासः कुन्दममन्दरोध्रकुसुमाम्रुच्चा कपोलस्थली
यस्या मन्मथशिल्पिना विरचितं सर्वर्तु लक्ष्म्या वपुः ॥ ३६ ॥

४१. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···सिद्धा-
श्चत्वारस्ते दशरथसमेनास्य पुत्रोपमानाः ।
आद्यस्तेषामभवदपरादित्यनामा ततोऽभूद्-
रत्नादित्य··· ··· ··· ··· ··· ···(श्रे)

४२. (य्यः)··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· सोमेश्वर इति कृती भास्करश्चापरोऽभू-
देते रामादिरू··· ··· पमिता सत्यसौभ्रात्रयुक्ताः ।
नि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

४३. ··· ··· द्रवविनिहितावाहवः श्रीमुरारेः ॥ ३८ ॥
धन्या सा जननी नूनं स पिता विश्वशेखरम् ।
यावज्जी··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ।

४४. ··· ··· ··· ··· ···दलोपरि लुठत्पानीयविन्दूपमा-
लक्ष्मीः संभृतवाजिचामरगजाद्विद्युद्विलासस्य च ।
श्रा··· ··· ··· ··· ···

४५. ··· ··· ··· ··· ···येन गुणिना कीर्तिः परं संचिता ॥ ४० ॥
सत्वेनाद्य शिबिर्दधीचिरथवा तीव्राज्ञया रा (वण)

४६. ··· ··· ··· ···युधिष्ठिरः क्षितिपतिः किं वा बहु ब्रूमहे ।

सं० ६. (पृ० ३४७)

देवपत्तन के द्वार का शिलालेख

संवत् १४४२, आषाढ़ वुद ८, शनिवार। सरस्वती को नमस्कार करके। चीतोड़ (Cheetore) का राजा भीम यदुवंश का था, उसकी पत्नी मानिक देवी और पुत्री यामुनी बाई; वह राष्ट्रोड (?) (Rushtore) सरदार बनी ब्रिह्मोजी (Bunee Brimohjee) को ब्याही गई थी। वे प्रलियास(?) (Prulias) आए और उन्होंने दान-दक्षिणा दी, जिसके पुण्य से लोग अब भी लाभान्वित होते हैं (यथा, तालाब आदि)

(उसी शिला पर)

संवत् १२७३ संवत् विक्रम वैशाख वुद चौथ। देवपत्तन में राजा मूलदेव (हुआ) उसके बाद हमीर हुआ जिसने सोमनाथ के मन्दिर और मण्डप का जीर्णोद्धार कराया।

इत्येतेऽभिधया बृहस्पतितया सर्वेऽपि ... ...
... ...
... ... ।
४७. ... ... कुमारपालस्य भागिनेयो महाबलः ॥ ४२ ॥
प्रेमल्लदेव्यास्तनयो भोज ... ...
... ... (४३)
श्रीसोम-
४८. नाथपूजा यच्छशांकग्रहणक्षणे।
कारितो गण्डराजेन तेन प्रीति मगा... ...
५०. ... ... यथाक्रमं ॥ ४५ ॥
... ...
... ...
हिरण्यतटिनीतीरे पापमोचनसन्निधौ।
गण्डत्रि... ... ...
५०. ... ... (ददौ) तस्मै माहेश्वरनृपाग्रणीः ॥ ४७ ॥
शासनीकृत्य ददता ग्राम... ... ...
५१. (वंशप्र) भवैः पुत्रपौत्रकैः भोक्तव्यं प्रमदाभिश्च।
यावच्चन्द्रा... ... ...
५२. (गण्डगु)णप्रशस्ति चकार यः शीघ्रकविः सुकाव्यैः ॥ ५० ॥
५३. (५१) लक्ष्मीधरसुतेनेयं लिखिता रुद्रसु(सू)रिणा ... ...
५४. बलभी संवत ८५० आषा ... ...

सं० ७० (पृ० ३६३)

१. बेलावल में प्राप्त शिलालेख जो मूलतः सोमनाथ मन्दिर का है।[१]

सर्वेश्वर को नमस्कार, विश्वज्योति* को (नमस्कार) वर्णनातीत मूर्ति को नमस्कार, उसको नमस्कार जिसके चरणों पर सभी नमस्कार करते हैं।

मोहम्मद के वर्ष ६६२ में और बिक्रम (विक्रम) १३२० में तथा श्रीमद्बलभी (संवत्) ९४५ में और सीहोह (शिव-सिंह) संवत् १५१ (१२६४

---

* इससे सहज ही में ज्ञात होता है कि सोमनाथ सूर्य का नाम है, सोम अथवा चन्द्रमा का स्वामी। संक्षेप में, सूर्यदेव बालनाथ जिसका प्रतीक 'लिङ्गम्' या फलोत्पादक देवता है।

[१] इस लेख का सर्व प्रथम उल्लेख कर्नल टॉड ने ही किया है परन्तु उनका यह तथाकथित अनुवाद केवल अनुमान और कल्पना पर ही आधारित है क्यों कि अनुवाद और मूल लेख की बातें मेल नहीं खातीं।

बाद में यह लेख श्री ई० हुल्ज (E. Hultzsch, Ph. D., Vienna) द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी के वॉल्यूम ११ के पृष्ठ २४१–२४५ पर सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर कुछ मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं।

१ इस लेख में एक साथ चार संवतों का उल्लेख है अर्थात् हिजरी सन् ६६२, विक्रम संवत् १३२०, वलभी संवत् ९४५ और सिंह संवत् १५१ आषाढ़ वदि १३। विक्रम संवत् १३२० का आरम्भ कार्तिक मास से होता है, जो सन् १२६३ ई० के मध्य में पड़ता है और आषाढ़ मास १२६४ ई० के मध्य में पड़ता है। वूस्टन फील्ड (Watstenfeld) सारिणी के अनुसार १२६४ ई० का मध्य हिजरी सन् ६६२ के आरम्भकाल में पड़ता है, जो ४ नवम्बर १२६३ ई० को शुरु होता है। इस प्रकार विक्रम संवत् और हिजरी सन् का मेल बैठ जाता है। वलभी संवत् के विषय में स्थानीय जानकारों का कहना है कि वलभी-विध्वंस वि० सं० ३७५ अथवा ३१८–३१९ ई० में हुआ था। अलबेरुनी (Alberuni) ने वलभी संवत् का आरम्भ शक संवत् २४१ से लिखा है, जिसके अनुसार विक्रम संवत् ३७६ अथवा ३१९–३२० ई० आता है। प्रस्तुत लेख में दिया हुआ वलभी संवत् विक्रम संवत् ३७५ वाले मत से मेल खाता है।

सिंह संवत् विक्रम संवत् ११६९ अथवा १११३ ई० में आरम्भ होता है। कर्नल टॉड (Col. Tod.) ने इसको शिव संवत् या सीह संवत् लिखा है और देवद्वीप के गोहिलों द्वारा प्रचलित संवत् बताया है।

२. इस शिलालेख में अर्जुनदेव के बारे में बहुत कम सूचना दी गई है; यद्यपि यह उसी के समय में उत्कीर्ण कराया गया है। कर्नल टॉड (Col. Tod.) ने जो कुछ अपनी कल्पना के आधार पर लिखा है उसी का आश्रय लेकर किनलॉक फारबस (Kinloch Forbes) ने रासमाला में अर्जुनदेव का हाल लिखा है। इस विषय में यहाँ विशेष टिप्पणी उपयुक्त नहीं है।

ई०) में, आषाढ बुद १३ रविवार (Rubewar)। श्रीमद् अण्हल (पुर) पाट (लाल (scarlet) अथवा पाटण का अपभ्रंश) में अनन्त-सामन्त-विराजमान, परमेश्वर-भट्टारक-ऊमियेश्वर (Lord of Oomia) (उमापति ?) वरप्राप्त, परमभाग्यशाली, निर्भय, शत्रुसमूह-कण्टक श्री चालुक्य चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीमद् अर्जुनदेव (?) (Urgoon Deva) सर्वविजयी। उसका मन्त्री श्रीमालदेव, राज्य के विभिन्न कार्याधिकारी, पंचकुल, बेलाकूल (बेलाउल) के हुरमुज सहित, पुण्यमार्गगामी अमीर रुक्नुद्दीन के राज्य में और साथ ही नाखुदा नूरुद्दीन फ़ीरोज़ का पुत्र हुरमुजनिवासी खोजा इब्राहीम तथा चावड़ा[1] पलूकदेव (पीलुगि) (Palook Deva), राणिक श्री सोमेश्वरदेव, चावड़ा रामदेव, चावड़ा भीमसिंह एवं अन्य सभी चावड़ा तथा इतर जातीय सरदार एकत्रित हुए; नैणसी राजा चावड़ा ने देवपत्तन निवासी महाजनों को एकत्रित करके मन्दिरों की भेट निश्चित की व जीर्णोद्धार का प्रबन्ध किया; कि रत्नेश्वर[2], चौलेश्वरी[3], पुलिन्ददेवो[4] के मंदिरों तथा अन्य कतिपय मन्दिरों में पुष्प, तेल और जल निरन्तर चढ़ाया जाय। **सोमनाथ के मन्दिर के चारों ओर परकोटा बनवाया गया जिसका मुख्य द्वार उत्तर की ओर रखा गया।** मोदुल (Modul)

---

३. मूल लेख के अनुसार इस शिलालेख का उद्देश्य किसी हुर्मज निवासी मुसलमान नाखुदा द्वारा बनवाई हुई मस्जिद के लिए एक भू-खण्ड, जिसमें कुछ आच्छादित मकान थे, एक तेल-घाणी और दो दुकानों की आय समर्पित करना है। इसी में सोमनाथ पट्टण के अन्य नाविकों द्वारा विशेष उत्सवों पर इसी आय में से व्यय करने का उल्लेख है। शेष द्रव्य मक्का-मदीना भेज देने का विधान है। सोमनाथ पट्टन के मुसलमानों की जमाथ (समूह या समिति) को इस आय की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया है।

४. लेख की भाषा संस्कृत है परन्तु शुद्ध नहीं हैं। फिर भी इसमें मुसलमानी भाषा के शब्दों और धार्मिक रीति-रिवाजों का उल्लेख किया गया है। अतः यह पठनीय और अध्ययनीय है। इसमें आए हुए घाणी, चूना, छोह, छाद्यक आदि देशी शब्द और नाखू या नाखुदा, खोजा, अमीर, रसूल, महम्मद, सहड, मुशलमान. मिजिति (मस्जिद), खतीव, मालिम, जमाथ, चुणकर, आदि अरबी फारसी शब्दों के यथावत् अथवा विकृत रूप दर्शनीय हैं।

५. मूललेख और कर्नल टॉड (Col. Tod.) कृत अनुवाद का अन्तर देखने पर ऐतिहासिक तथ्यों, नामों, भाषा और लेख की मूलभावना सम्बन्धी भेद सहज ही स्पष्ट हो जाते हैं।

[1] मूल लेख में 'छाड़ा' लिखा है।

[2] सोमनाथ (पट्टण) में शिव का विशाल मन्दिर।

[3] चालुक्यवंश की कुलदेवी।

[4] भीलों की देवी।

सं० ७० (पृ० ३६३)

१. बेलावल में प्राप्त शिलालेख जो मूलतः सोमनाथ मन्दिर का है।[१]

सर्वेश्वर को नमस्कार, विश्वज्योति* को (नमस्कार) वर्णनातीत मूर्ति को नमस्कार, उसको नमस्कार जिसके चरणों पर सभी नमस्कार करते हैं।

मोहम्मद के वर्ष ६६२ में और बिक्रम (विक्रम) १३२० में तथा श्रीमद्बलभी (संवत्) ९४५ में और सीहोह (शिव-सिंह) संवत् १५१ (१२६४

---

* इससे सहज ही में ज्ञात होता है कि सोमनाथ सूर्य का नाम है, सोम अथवा चन्द्रमा का स्वामी। संक्षेप में, सूर्यदेव बालनाथ जिसका प्रतीक 'लिङ्गम्' या फलोत्पादक देवता है।

[१] इस लेख का सर्व प्रथम उल्लेख कर्नल टॉड ने ही किया है परन्तु उनका यह तथा-कथित अनुवाद केवल अनुमान और कल्पना पर ही आधारित है क्यों कि अनुवाद और मूल लेख की बातें मेल नहीं खातीं।

बाद में यह लेख श्री ई० हुल्ज (E. Hultzscb, Ph. D., Vienna) द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी के वॉल्यूम ११ के पृष्ठ २४१–२४५ पर सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर कुछ मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं।

१ इस लेख में एक साथ चार संवतों का उल्लेख है अर्थात् हिजरी सन् ६६२, विक्रम संवत् १३२०, वलभी संवत् ९४५ और सिंह संवत् १५१ आषाढ़ वदि १३। विक्रम संवत् १३२० का आरम्भ कार्तिक मास से होता है, जो सन् १२६३ ई० के मध्य में पड़ता है और आषाढ़ मास १२६४ ई० के मध्य में पड़ता है। वूस्टन फील्ड (Watsten-feld) सारिणी के अनुसार १२६४ ई० का मध्य हिजरी सन् ६६२ के आरम्भकाल में पड़ता है, जो ४ नवम्बर १२६३ ई० को शुरु होता है। इस प्रकार विक्रम संवत् और हिजरी सन् का मेल बैठ जाता है। वलभी संवत् के विषय में स्थानीय जानकारों का कहना है कि वलभी-विध्वंस वि० सं० ३७५ अथवा ३१८–३१९ ई० में हुआ था। अलबेरुनी (Alberuni) ने वलभी संवत् का आरम्भ शक संवत् २४१ से लिखा है, जिसके अनुसार विक्रम संवत् ३७६ अथवा ३१९–३२० ई० आता है। प्रस्तुत लेख में दिया हुआ वलभी संवत् विक्रम संवत् ३७५ वाले मत से मेल खाता है।

सिंह संवत् विक्रम संवत् ११६९ अथवा १११३ ई० में आरम्भ होता है। कर्नल टॉड (Col. Tod.) ने इसको शिव संवत् या सीह संवत् लिखा है और देवद्वीप के गोहिलों द्वारा प्रचलित संवत् बताया है।

२. इस शिलालेख में अर्जुनदेव के बारे में बहुत कम सूचना दी गई है; यद्यपि यह उसी के समय में उत्कीर्ण कराया गया है। कर्नल टॉड (Col. Tod.) ने जो कुछ अपनी कल्पना के आधार पर लिखा है उसी का आश्रय लेकर किनलॉक फारबस (Kinloch Forbes) ने रासमाला में अर्जुनदेव का हाल लिखा है। इस विषय में यहाँ विशेष टिप्पणी उपयुक्त नहीं है।

ई०) में, आषाढ बुद १३ रविवार (Rubewar)। श्रीमद् अण्हल (पुर) पाट (लाल (scarlet) अथवा पाटण का अपभ्रंश) में अनन्त-सामन्त-विराजमान, परमेश्वर-भट्टारक-ऊमियेश्वर (Lord of Oomia) (उमापति ?) वरप्राप्त, परमभाग्यशाली, निर्भय, शत्रुसमूह-कण्टक श्री चालुक्य चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीमद् अर्जुनदेव (?) (Urgoon Deva) सर्वविजयी। उसका मन्त्री श्रीमालदेव, राज्य के विभिन्न कार्याधिकारी, पंचकुल, बेलाकूल (बेलाउल) के हुरमुज सहित, पुण्यमार्गगामी अमीर रुक्नुद्दीन के राज्य में और साथ ही नाखुदा नूरुद्दीन फ़ीरोज़ का पुत्र हुरमुजनिवासी खोजा इब्राहीम तथा चावड़ा[1] पलूकदेव (पीलुगि) (Palook Deva), राणिक श्री सोमेश्वरदेव, चावड़ा रामदेव, चावड़ा भीमसिंह एवं अन्य सभी चावड़ा तथा इतर जातीय सरदार एकत्रित हुए। नैणसी राजा चावड़ा ने देवपत्तन निवासी महाजनों को एकत्रित करके मन्दिरों की भेट निश्चित की व जीर्णोद्धार का प्रबन्ध किया; कि रत्नेश्वर[2], चौलेश्वरी[3], पुलिन्ददेवी[4] के मंदिरों तथा अन्य कतिपय मन्दिरों में पुष्प, तेल और जल निरन्तर चढ़ाया जाय। **सोमनाथ के मन्दिर के चारों ओर परकोटा बनवाया गया जिसका मुख्य द्वार उत्तर को ओर रखा गया।** मोदुल (Modul)

---

३. मूल लेख के अनुसार इस शिलालेख का उद्देश्य किसी हुर्मज निवासी मुसलमान नाखुदा द्वारा बनवाई हुई मस्जिद के लिए एक भू-खण्ड, जिसमें कुछ आच्छादित मकान थे, एक तेल-घाणी और दो दुकानों की आय समर्पित करना है। इसी में सोमनाथ पट्टण के अन्य नाविकों द्वारा विशेष उत्सवों पर इसी आय में से व्यय करने का उल्लेख है। शेष द्रव्य मक्का-मदीना भेज देने का विधान है। सोमनाथ पट्टन के मुसलमानों की जमाथ (समूह या समिति) को इस आय की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया है।

४. लेख की भाषा संस्कृत है परन्तु शुद्ध नहीं हैं। फिर भी इसमें मुसलमानी भाषा के शब्दों और धार्मिक रीति-रिवाजों का उल्लेख किया गया है। अतः यह पठनीय और अध्ययनीय है। इसमें आए हुए घाणी, चूना, छोह, छाद्यक आदि देशी शब्द और नाखू या नाखुदा, खोजा, अमीर, रसूल, महम्मद, सहड, मुशलमान. मिजिति (मस्जिद), खतीब, मालिम, जमाथ, चुणकर, आदि अरबी फारसी शब्दों के यथावत् अथवा विकृत रूप दर्शनीय हैं।

५. मूललेख और कर्नल टॉड (Col. Tod.) कृत अनुवाद का अन्तर देखने पर ऐतिहासिक तथ्यों, नामों, भाषा और लेख की मूलभावना सम्बन्धी भेद सहज ही स्पष्ट हो जाते हैं।

[1] मूल लेख में 'छाड़ा' लिखा है।

[2] सोमनाथ (पट्टण) में शिव का विशाल मन्दिर।

[3] चालुक्यवंश की कुलदेवी।

[4] भीलों की देवी।

चावड़ा के पुत्र कील्हणदेव ने सोहन के पुत्र लूणसी और दो महाजन बालजी तथा करण के साथ साप्ताहिक व्यापार का लाभ मन्दिरों को भेंट किया। यावच्चन्द्र दिवाकर इसे नहीं ग्रहण करेंगे। फ़ीरोज़ को इसकी व्यवस्थापालन की आज्ञा दी गई। समय उत्सव की भेंट खर्च होती रहे और अतिरिक्त भेंट धर्म-स्थान के जीर्णोद्धार हेतु कोश में जमा रहे। चावड़ों और नाखुदा नूरुद्दीन को महाजनों और मुसलमानों की बस्ती में इस आदेश का पालन कराने की आज्ञा हुई। इस आदेश को मानने वाले के भाग्य में स्वर्ग और इसको तोड़ने वाले के भाग्य में नरक प्राप्त होगा।[1]

२. पाटण से प्राप्त बेलावल का दूसरा शिलालेख

श्रीमद् बलभी, ९२७, फाल्गुन सुद बीज, बुदवार, आदि श्री, देवपत्तन, मूल जोग गोहिल एवं अन्यों ने गोरधननाथ के मन्दिर का निर्माण कराया।

---

[1] इस शिलालेख की एक नकल (किंचित् परिवर्तन के साथ) ग्रन्थकर्त्ता की विवरणात्मक टिप्पणियों सहित 'राजस्थान का इतिहास' के भाग १ के परिशिष्ट में छपी है।

१. ॐ ॥ ॐ नमः श्रीविश्वनाथाय ॥
नमस्ते विश्वनाथाय विश्वरूप नमोस्तुते।
नमस्ते सू(शू)न्यरूपाय–

२. लक्षालक्ष नमोस्तु ते ॥ १ ॥
श्रीविश्वे नाथ प्रतिबद्धतो जनानां बोधकरसूलमहंमद संवत् ६६२ त-

३. था श्रीन्नृप (वि)क्रम सं० १३२० तथा श्रीमद्वलभी सं० ९४५ तथा श्रीसिंह सं० १५१ वर्षे आषाढ वदि १३ र–

४. वावद्ये ह श्रीमदणहिल्लपाटकाधिष्ठितसमस्तराजावलीसमलंकृत परमेश्वरपरम–

५. भट्टारक श्रीउमापतिवरलब्धप्रौढप्रतापनिःशङ्कमल्ल अरिरायहृदयशल्य श्रीचौलुक्यचक्रवर्त्तिम–

६. हाराजाधिराज श्रीमत् अर्ज्जुनदेव-प्रवर्द्धमान-कल्याणविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनि–

७. महामात्यराणकश्रीमालदेवे श्रीश्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापारान् परिपंथयतीत्येवं का–

८. ले प्रवर्त्तमाने इह श्री सोमनाथदेवपत्तने परमपाशुपताचार्य महापंडित महत्तरधर्म्ममूर्त्ति–

९. गण्डश्रीपरवीरभद्रपारि 'महं' श्रीअभयसीहप्रभृतिपञ्चकुलप्रतिपत्तौ तथा हुर्मुजवेला–

१०. कूले अमीर-श्रीरुकनदीनराज्ये परिपंथयति सति कार्यवशात् श्री सोमनाथदेवनगरं स–

११. नाथजहूर्ं हदेखीयखोजानी 'ऊल्प्र बाहिमसुतनाखु' नोरदीनपीरोजेन श्री-
१२. सोमनाथदेवद्रोणीप्रतिबद्धमहायणान्तःपाति प्रत्यच्वृहत्पुरुष ठ० श्रीपीलुगिदेव-
१३. वृहत्पुरुषराणकश्रीसोमेश्वरदेववृ[हत्पु]रुष ठ० श्रीरामदेववृहत्पुरुष ठ० श्रीभीम-
१४. सीहवृहत्पुरुषराज ठ० श्रीछाडाप्रभृतिसमस्तमहणलोकप्रत्यक्षं तथा समस्त जमा-
१५. थप्रत्यक्षं च राजश्रीनानसीहसुतवृह० राजश्रीछा[डा]प्रभृतीनां पाश्र्वात् श्रीसोमनाथ-
१६. देवनगरबाह्ये सीकोत्तर्या महायणपाल्यां संतिष्ठमानभूषंण्डं नवनिधानसहि-
१७. तं यथेष्टकामकरणीयत्वेन स्पर्शनन्यायेन समुपात्तं ।। ततः नाखु० पीरोजे-
१८. न स्वधर्म्मशास्त्राभिप्रायेण परमधार्म्मिकेण भूत्वा आचन्द्रावर्क स्थायिनीकीर्तिप्र-
१९. सिद्धयर्थं आत्मनः श्रेयोऽर्थं उपर्यालापितभूषंडस्य स्थाने पूर्वाभिम(मु)खमिजिगिति-
२०. धर्म्मस्थानं वृह० 'राज'० श्रीछाडासखायत्वेन धर्म्मबांधवेन कारितं नाखु० पीरोजेन
२१. अस्य मिजिगितिधर्म्मस्थानस्य वर्त्तापनार्थं प्रतिदिनं पूजादीपतैलपानीयं तथा मा-
२२. लिममोदिनमासपाठक तथा नोवित्तकानां समाचारेण वरातिराविख्यतमराति-
२३. विशेषपूजनमहोत्सवकारापनार्थं तथा प्रतिवर्ष छोहचूनागभग्नविशीर्ण्णसमारच-
२४. नार्थं च श्रीनवघणेश्वरदेवीयस्थानपतिश्रीपरत्रिपुरान्तक तथा विनायकभट्टारक-
२५. पररतनेश्वरप्रभृतीनां पाश्र्वात् उपात्तश्री[सो]मनाथदेवनगरमध्ये श्री वउलश्व-
२६. रदेवीयसमग्रपल्लडिका नानामुखतृणछाद्यकचेलुकाच्छादितगृहैरुपेता तथा उत्त-
२७. राभिमुखद्विभौममठसमेतापरं अस्या मध्ये सूत्र सूत्र० कान्है आसपतपूर्वाभिमुखगृही-
२८. कबाह्य चतुराघाटेषु अव्यग्रप्राकारोपेता उत्तराभिमुखप्रतोली प्रवेशनिर्गमोपे-
२९. ता यथावस्थितचतुराघाटनविशुद्धा यथाप्रसिद्धपरिभोगा तथा घाणी १ सततदानपत्तं
३०. तथा अस्या मिजिगिति अग्रतः प्रत्यय० निर्माल्यछ[ा]डासोढलसुतकील्हणदेव तथा ठ०
३१. सोहणसुतलूणसीहधरणिमसूमा तथा वाल्यर्थकरणेणाधिष्ठितराण० आशाधरप्रभृ-
३२. तीनां पाश्र्वात् स्पर्शनेनोपात्तं हट्टद्वयं एवमेतत् उदकेन प्रदत्तं ।। अनेन आयपदेन
३३. आचन्द्रग्रहतारकं यावत् नो० पीरोजसक्तमिजिगितिधर्म्मस्थानमिदं नो० पीरो-
३४. जश्रेयोऽर्थं प्रतिपालनीयं वर्त्तापनीयं भग्नविशीर्ण्णं समारचनीयं च ।। अनेन आय-
३५. पदेन धर्म्मस्थानमिदं वर्त्तापयतां प्रतिपालयतां तथा विशेषमहोत्सवपर्व्वद्वयं
३६. कुर्वतां च यत्किंचित् शेषद्रव्यमुद्गरति तत्सर्वं द्रव्यं मषामदीनाधर्म्मस्थाने प्रस्थाप-
३७. नीयं ।। अस्य धर्म्मस्थानस्य आयपदं सदैव जमाथमध्ये नाखुयानोरिकजमाथ त-
३८. था खतीबसहितसमस्तशहडसक्तचट्टिकानां जमाथ तथा चुणकरजमाथ तथा प-
३९. थपतीनां मध्ये मुशलमानजमाथप्रभृतिभिः समस्तैरपि मिलित्वा आयपदमि-
४०. दं पालनीयं धर्मस्थानमिदं वर्त्तापनीयं च ।।

४१. दाता च प्रेरकश्चैव— ये धर्म्मप्रतिपालकाः ।
ते सर्वे पुण्यकर्म्माणो नियतं स्वर्गगामिनः ।।

४२. यः कोऽपि धर्मस्थानमि— दं तथा आयपदं च लोपयति लोपापयति [illegible]

४३. पातकदोषेण लि— प्य[ति] नरकगामी भवति ।।

सं० ८ (पृष्ठ ३६८)

सूरज मडू (Mudu) द्वारा, कोरॉसी, चूडवाड़ का शिलालेख

(संसार से समस्त मनोध्वान्त का नाश करने हेतु सूर्य को नमस्कार करके)

सहस्रकिरणों वाले, अन्धकार का नाश करने वाले, पृथ्वी और पहाड़ों पर प्रकाश फैलाने वाले, कमलों को विकसाने वाले सूर्यदेव ! मैं तुमको नमस्कार करता हूँ। ऐसे सूर्य से उत्पन्न वे राजपुत्र हुए जिन के अश्व-खुरों के नीचे (शत्रुओं) का गर्व अन्धकार में दब गया। इन में से एक ब्राह्मण-जाति (Bramin race) का चक्रवर्ती राजा हुआ। वह विद्वान् और वीर था, छत्तीस-कुली राजपुत्र उसकी आज्ञा मानते थे। उसका निवास स्थान..............अचल (आबू) (Rabarri Achil) की तलहटी में मरुस्थली के मण्डल में था। उसी के वंश में बहुत सी पीढ़ियों बाद लूणङ्ग (Lonung लूणिग ?) पृथ्वीपति हुआ; अपनी विशाल सेना, शस्त्रास्त्रों और नौ-सेना के बल से उसने सौराष्ट्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसका पुत्र भीमसिंह परमवीर और योद्धा हुआ। उसके पुत्र लवणपाल ने अपने पड़ौसियों का धन लूट लिया। उसका पुत्र भी महान् योद्धा, अभिमानी था और अपने भुजबल के कारण सूर्य के समान प्रचण्ड था [ऐसा] भूमिपाल परम प्रसिद्ध हुआ, जिसका पुत्र लक्ष्मणसिंह था। वह (Panihul ?) से जूनागढ़ चला आया; वह इस इन्द्रपुर का साक्षात् इन्द्र था। उसका भतीजा राजसिंह था जिसने नव-मण्डलों को एक ही राज्य में सुदृढ़ किया। उसका पुत्र खेमराज राजाधिराज था। उसका पुत्र सोमब्रह्म और उसका बेनगज परमपराक्रमी हुआ।

सौराष्ट्र में बहुत से पाप-मोचन स्थल हैं....श्रीमत् खँगार था। श्रीमोहम्मद बृहन्मद पादशाह (Sri Mohummed Brehummud Padshah) ने गिरनार में भी अपनी आन फिरवा दी और खंगार और उसके भाई भीमदेव के अतिरिक्त सभी से अपने 'दीन' (धर्म) का मान करवाया। उस (खँगार) की बहन रतन-देवी थी जो राजसिंह को ब्याही गई। उसी का पुत्र मूलदेव था जिसने कोरासी (Koraussi) बसाया। उसका पुत्र मूलराज [?] (Mooraj) था जो मत्तगज के समान था। उसका पुत्र शिवराज और उसका मालदेव हुआ। सूर्यदेव को पहले ही विदित था कि उसका पुत्र यहाँ पर सूर्यमन्दिर का निर्माण करावेगा। मालदेव ने इसे बनवाया। उसकी पत्नी परमार-कुल की बनलादेवी सीता के समान पतिव्रता थी। हवन-यज्ञादि के अनन्तर सूर्य-प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई।

(इसके बाद भतीजे भतीजियों के कुछ नाम दिये हैं जिनमें मूलराज बाघेला का भी नाम है)

संवत् १४४५, फाल्गुन बुद ५, सोमवार।

सं० ९ (पृ० ३८५)

[इस लेख का भी पता नहीं चलता]

सं० १० (पृ० ३८५-८६)

(दामोदर कुण्ड में रेवती-कुण्ड पर (लघु पत्थर पर उत्कीर्ण) लेख का अनुवाद)

श्री गणेशाय नमः; जिसकी कृपादृष्टि के लिए योगीश्वर और मुनीश्वर निरन्तर आकांक्षा करते हैं उसको नमस्कार। जिसने गोपियों[1] का दधि लूटा, जिसके हाथ यशोदा[2] ने दाम[3] (रस्सी) से बाँध दिये थे वही सृष्टिकर्त्ता विष्णु दामोदर (के रूप में) यहाँ विराजमान हैं।

पुरातन काल में यदुवंशी माण्डलिक नरेश था। वह शत्रुओं के लिए खिलाड़ी (Athlete) के मुद्गल[4] [मुग्दर] के समान था। वह लक्ष्मी का कृपापात्र था और भूपतियों को उसका आदेश मान्य था। उसके वंश में महीपाल हुवा जिससे पृथ्वीश्वर खँगार[5] की उत्पत्ति हुई। वह कैसा'क था ? शत्रुओं का मर्दन करने वाले [मत्त] गज के समान। उसने सोमेश्वर[6] के स्थान का निर्माण कराया और ब्राह्मणों को नित्य रजतमुद्राओं का दान किया। उसके जयसिंहदेव नामक पुत्र हुआ जो प्राचीन नन्द के समान था। वह कैसा'क था ? ऐसा जिसने चारों वर्णों और आश्रमों (Aterums) का रक्षण किया। उसके विक्रमसिंह हुआ जो शत्रु-रूपी गज पर सदा विजयी होता था। उसकी समानता कौन कर सकता था ? बड़े-बड़े वलिष्ठ मुकुटधारी हो चुके हैं, स्त्रियों ने कितने ही पुत्रों को जन्म दिया है परन्तु उस सामन्ताग्रणी के समान कोई नहीं हुआ। उसके माण्डलिक[7] हुआ जिसका पुत्र भाग्यशाली और शरणागतवत्सल मेलग था। उसका पुत्र जयसिंह था जिसके राज्य में वीराग्रणी अभयसिंह यादव हुआ,

---

[1] गोचर-भूमि व्रज की ग्वालिनें, जहाँ कृष्ण अथवा कन्हैया का जन्म हुआ था।

[2] कन्हैया की माता।

[3] दही विलौने की रस्सी (नेता)।

[4] लकड़ी के बड़े-बड़े हत्थेदार लट्ठ। इन्हें व्यायाम के अध्यापक प्रयोग में लाते थे।

[5] जिस प्रासाद का चित्र दिया गया है उसका निर्माण इसी खँगार ने कराया था।

[6] सोमेश्वर अथवा सोमनाथ—'चन्द्रमा का स्वामी' यह शिव की उपाधि है और सूर्यदेवता पर भी लागू होती है।

[7] 'माण्डलिक' यद्यपि व्यक्तिवाचक संज्ञा है, परन्तु यह एक उपाधि भी है 'मण्डल का अधिपति'। इस नाम का और 'खँगार' का परम्पराओं में खूब निर्वाह हुआ है। जूनागढ़-गिरनार की प्रत्येक वस्तु इनमें से किसी न किसी एक से अवश्य सम्बद्ध है।

जो जिञ्जरकोट की तलहटी[1] में अपने शत्रु जवन[2] का विनाश करके पुण्यपथ-गामी[3] हुआ।

संवत्[4] राम, तुरङ्ग, सागर, मही, वैशाख मासे (सुदी) पञ्चमी भ्रिगुबसरी (भृगुवासरे) अथवा शनिवार के दिन यह पवित्र स्थल समर्पित हुआ और यह लेख स्थापित किया गया।

सं० ११ (पृ० ३६६)

सं. १—तेजपाल और बसन्तपाल-बन्धुओं द्वारा निर्मापित चन्द्रप्रभ-मन्दिर का शिलालेख।

पवित्रता के सागर-समान यदुवंश में इन्दु नेमीश्वर[5] हुए जिनके चरण-कमलों का अनुसरण करते हुए परमोच्च उज्जयन्ति[6] तक चढ़ कर यदुवंशियों के झुण्ड के झुण्ड युग-युग से नेमिनाथ[7] के चरणों में मस्तक नवाते आए हैं।

विक्रम संवत् १२०४[8], बुधवार[9] फाल्गुन[10] मास की ६ तिथि को श्री

---

[1] किसी भी किले या गढ़ी की पहाड़ी के नीचे बसे हुए नगर या कसबे को तलहटी कहते हैं। परन्तु, मुझे इस नाम के किसी किले का ज्ञान नहीं है, यद्यपि अबुलफज़ल ने सौराष्ट्र के आठवें उपविभाग (जिले) में 'झञ्जिर' नामक बन्दरगाह का जिक्र किया है।

[2] हिन्दू लोग 'जवन अथवा यवन' शब्द का प्रयोग यूनानी और मुसलमान, दोनों के लिए करते हैं।

[3] राजपूत का 'पुण्यमार्ग' वही है जो रोमन का है अर्थात् पुरुषार्थ; यह अभयसिंह अर्थात् निर्भीक सिंह के लिए यहाँ आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि वह युद्ध में मारा गया।

[4] गूढ तिथि

[5] इन्दु अथवा चन्द्र से उत्पन्न वंशों में यदु (यादव) मुख्य है। सम्भवतः नेमीश्वर इस वंश के संस्थापक थे। 'नेम' अर्थात् 'नींव' और 'ईश्वर' अर्थात् स्वामी।

[6] उज्जयन्ति अथवा उजैन्ति गिरनार का ही एक नाम है। देखिए पृ० (३६८)

[7] इससे ज्ञात होता है कि निस्सन्देह यदुवंशी बुध अथवा जैन-मत के अनुयायी थे। वास्तव में, नेमनाथ अथवा प्रसिद्ध रूप में नेमि (जो कृष्ण वर्ण के कारण अरिष्टनेमि कहलाते थे) यदुवंशी ही थे और श्रीकृष्ण के समकालीन ही नहीं वरन् समाद्रु (Samadru) [समुद्रविजय] के पुत्र होने के कारण बहुत निकट-सम्बन्धी भी थे। दस भाइयों में बसुदेव सब से बड़े और समाद्रु सब से छोटे थे।

[आ. हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के अनुसार समुद्रविजय सब से बड़े थे और वसुदेव सब से छोटे। अनु०]

[8] मुझे विश्वास है कि इस संवत् में शून्य के स्थान पर ३ का अंक होना चाहिए और यह संवत् १२३४ होगा जैसा कि आगे वाले शिलालेख में है।

[9] बुधवार का नाम बुध के कारण पड़ा है; नया काम आरम्भ करने के लिए यह दिन शुभ माना जाता है।

[10] फाल्गुन वसन्त ऋतु का मुख्य महीना है।

चन्द्रप्रभ की प्रतिष्ठा हुई। श्री राज ठाकुर सामन्त भोज के राज्य में, उसका पुत्र असेरराज [आसराज] और उसकी पत्नी श्रीकुंमरदेवी [कुमारदेवी] जिससे श्रीलूनीराम [लूणसिंह] उत्पन्न हुआ।

तेजपाल और वसन्तपाल दोनों भाई ललिता देवी[1] और पुत्र श्रीमाल [पोरवाल] जातीय थे,

सं. २— ऊपर वाली चन्द्रप्रभ-मन्दिर की ही शिला पर

रेवाचल[2] पर स्थित यह नेमीश्वर-तीर्थ विविध प्रकार के रत्नों[3] से सुसज्जित है जिनको धनिक व्यापारी दूर-दूर के समुद्र-तटों से लाए हैं, सं० १२२७, श्रीशत्रुञ्ज और उज्जयन्ती [दोनों ही] महान् पूजा-स्थल हैं और यात्रियों के समूह निरन्तर यहाँ आते रहते हैं। इस देवस्थान का जीर्णोद्धार और इसकी सज्जा चालुक्य वीर[4] महाराज राज श्री·························ने कराई।

(त्रुटित)

सं. ३ — मल्लिनाथ के मन्दिर का शिलालेख

संवत् १२३४[5] पौष मासे ६ तिथौ श्रीगुरु गिरनार-तीर्थ पर वणिक् तेजपाल और वसन्तपाल ने अपने पिता राजपाल [आसराज] सहित श्रीपाटन के श्रीकुमारपाल के राज्य में तीर्थरत्न उज्जयन्ति-गिरि पर मेरु-मण्डलसदृश श्रीमल्लिनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ और आदीश्वर के मन्दिरों का साथ-साथ निर्माण कराया।

सं. १२ (पृ० ४०३)

गिरनार के शिलालेख

सं. १ — महान् नेमनाथ के मण्डप के स्तम्भ पर

सं० १३३३, वैशाष सुद १४, सोमवार। श्रीजिन सिरोवोद सूरी (S'ri jin

---

[1] ललितादेवी इन दानवीर बन्धुओं में से किसी की पत्नी अथवा उनकी बहन या माता थी। [ललितादेवी वस्तुपाल की धर्मपत्नी थी।]

[2] सौराष्ट्र के भूगोल में इस पर्वत-श्रेणी का प्राचीन नाम रेवाचल मिलता है।

[3] इस मन्दिर की सजावट में मुख्यतः जिस पाषाण-रत्न का प्रयोग हुआ है वह jaune antique नामक संगमर्मर से बहुत मिलता-जुलता है। सम्भवतः इन 'लक्ष्मीपुत्र वणिकों' ने इसको म्यॉस हुरमुज (Myas Hormus) अथवा लाल समुद्र के किसी अन्य बन्दरगाह से प्राप्त किया होगा जहाँ की खानों पर बाद में रोमन लोगों का दखल हो गया था।

[4] इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने वाला चालुक्य राजा कोई तत्कालीन अणहिलवाड़ा के राजवंश का ही छुट-भाई होगा। उस समय के राजपूत राजा साधारणतः जैन अथवा बुध के धर्म को मानते थे, इस बात का एक प्रमाण इससे प्राप्त होता है।

[5] संवत् १२३४ या ११७८ ई०। इससे ऊपर वाले शिलालेख की सही तिथि ज्ञात हो जाती है. जो १२०४ के स्थान पर १२३४ होनी चाहिए।

ooda Sooree) की आज्ञा से ऊजा सूर (Ooja Sroor) श्रावकगुरु और उसके पुत्र वीरपाल व हीरा लखू ने महान् तीर्थ उज्जयन्ति पर नेमेश्वर-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया; इस कार्य के निमित्त उसने २०० मोहरें अपनी ओर से दीं और २००० मोहरें व्याज पर उधार दीं[1]।

सं. २ — राजा सम्प्रति के मन्दिर का शिलालेख

संवत् १२१५[2] चैत मास ८, रविवार, उज्जयन्त-गिर-तीर्थ पर यह देव चूली (मन्दिर के चारों ओर कोठरियाँ) शक्ति राजा चोमालि सिन्धेरन (Sacti Raja Comali Sindherana)[3] ने शाके शालिवाहन .... में कराई। सूर्यवंशी जसोहर और ठाकुर सोदेव (Sodeva) ने प्रवेश-द्वार का निर्माण कराया। ठाकुर भरत और अन्यों ने एक टाँका खुदवाया।

---

[1] संवत् १३३३ वर्षे ज्येष्ठ वदि १४ भोम श्री-
जिनप्रवोधसूरिसुगुरूपदेशात् उच्चा-
पुरी-वास्तव्येन श्रे० आसपालसुत श्रे० हरिपा-
लेन आत्मनः स्वमातृहरिलायाश्च श्रेयोऽर्थं-
श्रीउज्जयन्तमहातीर्थे श्रीनेमिनाथदेवस्य नित्यपू-
जार्थं द्र० २०० शतद्वयं प्रदत्तं। अमीषां व्याजेन पुष्प-
सहस्र २००० द्वयेन प्रतिदिनं पूजा कर्त्तव्या श्रीदे-
वकीय-आरामवाटिकासत्कपुष्पानि श्रीदेवक-
पंचकुलेन श्रीदेवाय ऊटापनीयानि ॥

ग्रन्थकर्ता ने संभवतः ऊपर के लेख का अनुवाद किया है। इन पंक्तियों का ठीक-ठीक अर्थ यह है कि "संवत् १३३३ के वर्ष में ज्येष्ठ वदि १४ मंगलवार को श्रीजिनप्रवोधसूरि सद्गुरु के उपदेश से उच्चापुरी-निवासी सेठ आसपाल के पुत्र सेठ हरिपाल ने अपने और अपनी माता हरिला के पुण्यार्थ श्रीउज्जयन्त महातीर्थ में श्रीनेमिनाथदेव के नित्यपूजा-निमित्त २०० द्रम्म प्रदान किए। इन द्रम्मों के व्याज से २००० पुष्पों से नित्य पूजा होनी चाहिए; श्रीदेवकी आरामवाटिका में से श्रीदेव के पञ्चकुल द्वारा श्री देव के निमित्त [ये पुष्प] प्राप्त किए जावें।" परन्तु, दोनों लेखों में मास और वार का अन्तर विचारणीय है।

[2] ११५९ ई० में कुमारपाल पश्चिमी भारत का सम्राट् था।

[3] इस विरुद से यह सिद्ध होता है कि यह राज-यात्री, जिसने इस देवचूली (धर्मशाला) का निर्माण कराया था, सिन्ध का राजपूत राजा था। उस समय तक सोढा राजाओं ने बहुत प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली थी। वे 'राणा' पदवी भी धारण करते थे।

सं. ३ – खंगार के महलों के दरवाजे पर

(गिरनार की वन्दना के बाद) यदुवंशी श्रीमाण्डलिक[1] नरेश्वर ने नेमनाथ के मन्दिर का विस्तार कराया। उसके नवघन (Nogan) हुआ, नव खण्डों[2] पर उसका अधिकार था; वह दयालु उदार और दानी था; उससे महीन्द्र[3] महीपाल उत्पन्न हुआ। प्रहुसपत्तन (प्रभासपत्तन) में उसने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। उसका पुत्र खंगार[4] हुआ जिसने अपने शत्रुओं के फलवृक्षों पर अधिकार कर लिया। उसका पुत्र जयसिंहदेव था। उसका लड़का मोकल हुआ। उसका सुत मोलग (मूलग) था जिससे महीपाल उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र माण्डलिक[5] हुआ जो सौराष्ट्रमण्डल का अधिपति और भोज के समान महिमावान् था।

(इसके बाद शिलालेख माण्डलिक की प्रशस्ति के साथ समाप्त होता है जिसमें यात्रियों और साधुओं को स्पष्ट एवं आलंकारिक भाषा में सम्बोधित किया गया है —

"क्यों याचना करते हो जब कि माण्डलिक कल्पवृक्ष विद्यमान हैं, उसी के पास जाओ, वह सदा प्रसन्न रहे !)

सं० ४ – तेजपाल और वसन्तपाल द्वारा निर्मापित पार्श्व (नाथ) के मन्दिर के शिलालेख से —

सं० १२८७, फाल्गुन वुदि तीज, रविवार (१२३१ ई०) अणहिलपुरपाटन में चालुक्य-वंशी कमलराजहंस-श्रीमन्त राजावली महाराजाधिराज श्री.......... (यहां लेख का महत्वपूर्ण भाग अर्थात् सार्वभौम राजा (राजावली) का नाम

---

[1] इस राजवंश में 'माण्डलिक' पदवी थी जिसको धारण करने वाले चार हुए हैं; और क्योंकि प्रथम (माण्डलिक) पाटन के सिद्धराज (सं० ११५० – १२००) के समकालीन खँगार से चार पीढ़ी पूर्व हुआ था इसलिए इसके समय का हिसाब आसानी से लगाया जा सकता है। अन्तिम (माण्डलिक) वह हुआ जिसको महमूद बेगड़ा ने पराजित किया था।

[2] यह प्रायद्वीप नौ विभागों में बँटा हुआ था।

[3] सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने वाले महीन्द्र ने सम्भवतः सार्वभौम राजा सिद्धराज के समय में यह पुण्यकार्य कराया था।

[4] सौराष्ट्र में यदुवंशी परमप्रसिद्ध खंगार से सुप्रसिद्ध सिद्धराज (जयसिंह) की देवड़ा राजकुमारी का पाणिग्रहण करने के कारण व्यक्तिगत वैर एवं स्पर्धा थी।

[5] यहाँ माण्डलिक को स्पष्टतः सौराष्ट्र का स्वामी कहा गया है क्योंकि इस समय तक अणहिलवाड़ा की दशा इतनी दुर्बल हो गई थी कि इन लोगों पर सिद्धराज द्वारा स्थापित आधिपत्य को इन्होंने उतार फेंका था।

मिट गया है; लेख इस प्रकार पुनः चालू होता है) वीरधवल[1] के मंत्री, सामन्तसिंह, जो गुजरात का स्वामी था और उसका पुत्र[2] प्रह्लादन............

सं० १३

तारंगा का शिलालेख

यह लेख मुझे आदिनाथ और अजितनाथ [के मन्दिरों] से पवित्र पर्वत के एक यति ने दिया था। इससे एक बड़े ही आश्चर्यकारक विषय का ज्ञान होता है जो तेजपाल और वसन्तपाल-बन्धुओं की अपार सम्पत्ति से सम्बद्ध है जिनके आबू और गिरनार पर्वतों पर कराए हुए (निर्माण) कार्यों का विवरण दिया गया है]

स्वस्ति श्रीसर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् को [नमस्कार] संवत् १२८४ (१२२८ ई०) फाल्गुण सुदी २, रविवार। अणहिलपुर-निवासी पोरवाल-(Poorwur) जातीय चन्द का पुत्र आसो हुआ, उसके अखैराज और पत्नी नौकुँअर से लूणसर उत्पन्न हुआ; उसकी पत्नी मालदेवी और पुत्र बस [न्त] पाल ने तारंगी पर्वत पर प्रथम और द्वितीय तीर्थङ्कर आदिनाथ और अजितनाथ के मन्दिरों का निर्माण कराया।

सं० १४

पट्टण-सोमनाथ के स्तम्भ का शिलालेख

[इस लेख की प्रतिलिपि, ग्रन्थकार की प्रार्थना पर, पुराणी (पौराणिक ?) रामदत्त कृष्णदत्त पत्तननिवासी ने की और उसका (अंग्रेजी) में अनुवाद बम्बई निवासी मिस्टर वाथेन (Mr. Wathen) ने एक विद्वान् जैन साधु की सहायता से किया।]

शाश्वत परमात्मा को नमस्कार जो पचीस सिद्धान्तों (तत्त्वों) का आदिस्रोत है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-रूपी पञ्चतत्त्वों के आधार सूर्य और चन्द्रमा हैं; जो कोई इनका ध्यान करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है और

---

[1] पुरुषार्थ का प्रतीक।

[2] कनखलेश्वर के लेख (सं० १) से इसमें सहायता मिलती है और ज्ञात होता है कि प्रल्हादन, जिसको उस समय 'देव' उपाधि प्राप्त थी, धारावर्षदेव का पुत्र और प्रतिनिधि था, जिसका एक छत्र चन्द्रावती नगरी पर छाया हुआ था और वह पार्श्ववर्ती मण्डलों का ईश्वर (मण्डलकेश्वर) था।" मैं फिर कहता हूँ कि यह भारत-विजयी शाहबुद्दीन के प्रतिनिधि और उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन का यशस्वी विरोधी था।

इस प्रकार पूर्णता (perfection) का भी त्याग कर देता है और सर्वव्यापक परमात्मा में लीन हो जाता है।

शिव को नमस्कार ! दैत्यों का नाश करने वाले लक्ष्मीनारायण समस्त विश्व में विदित हैं; वे नमस्करणीय हैं।

यह श्रीसोमनाथ का मन्दिर रत्नकान्ति के समान सुन्दर है और सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्योति के समान विशाल और प्रकाशमान है। समस्त सद्गुणगणों के निधान और वर्णनीय कोशों के आगार यह देव सोमनाथ समस्त दुःखों और दुरितों का नाश करने वाले हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभो ! आपकी जय हो ! आप समुद्रतटों पर शासन करते हैं।

ब्राह्मण सोमपार (Sompara) पूर्ण ज्ञाता है, वह यज्ञों के विधिविधान, नियम, ध्यान, पूजा, उत्सव और वलि आदि की विधियों से सुपरिचित है।

राजा वेर (Vera) के वंश में एक शाण्डिल्य-गोत्रीय नृपति हुआ जिसने एक महान् यज्ञ किया। अणहिलपुर-पत्तन का सम्राट् राजा मूलराज संसार का रक्षक हुआ। उसने नदी पर गङ्गाघाट वनवाया ; उसके पुण्यकार्य वहुत हैं। मूलराज ने पानी के टाँके, कुए, तालाव, मन्दिर, धर्मस्थान, पाठशालाएं और धर्मशालाएं (कारवाँ-सरायें) वनवाईं; अतः ये सव उसकी शुभकीर्ति के प्रतीक वन गए; उसने नगर, ग्राम और ग्रामटिकाएं वसाईं तथा प्रसन्नता से उन पर शासन किया। वह इस विश्व में चूडामणि रत्न के समान हुआ; मैं उसके पराक्रमों का वर्णन कैसे करूँ ? उसने अकेले अपनी शक्ति से ही संसार पर विजय प्राप्त की और फिर उसका रक्षण किया। मूलराज के पुत्र श्रीमधु ने इस विश्व-विजय को पूर्ण किया। उसने अपने राज्य में प्रजाओं की अभिवृद्धि की और उन्हें सुसभ्य वनाया। उसने (शत्रुओं) से निर्भय होकर राज्य किया। इस राजा का पुत्र दुर्लभराज हुआ जिसने अपने विरोधी नृपों का उसी प्रकार नाश किया जैसे शिवजी ने कामदेव को जला कर क्षार कर दिया था। उसका छोटा भाई विक्रमराज था जो पराक्रम में सिंह के समान था। उसने विशाल सेना एकत्रित करके राजसिंहासन प्राप्त किया तथा स्वर्ग की देवाङ्गनाओं को भी वश में कर लिया; उसकी कीर्ति तीनों लोक में फैल गई। समस्त राजोचितगुणों से विभूषित इस उच्चवंशीय राजा ने अपनी प्रजा को परम सुखी किया। विजय-लक्ष्मी उसकी विजय-पताका धारण करती थी। इस परमार वंश में श्री विक्रम के कुल में श्रीकुमारपाल राजा महाशूरवीर हुआ। वह परमप्रसिद्ध योद्धा था और समुद्र की लहरों के समान भयानक और विशाल राजा था। अव श्री-कुमारपाल का वंश-वर्णन करते हैं—चालुक्य-वंश अतिप्रसिद्ध है; इसमें पीढ़ी

दर पीढ़ी ऐसे राजा हुए हैं जिन्होंने धर्मतरु को बढ़ाया है; ऐसे राजा, जिन्होंने धर्म और न्याय का पालन किया है; उन्होंने इन्द्र के समान प्रजाओं पर कृपा-वृष्टि की जैसे बादल पानी बरसा कर पृथ्वी को उर्वरा बनाते हैं। इस वंश में परमप्रसिद्ध और महावीर गुल्लराज-नामक राजा हुआ जिसने सोमेश्वर के मन्दिर का विशाल मण्डप बनवाया और प्रसिद्ध 'मेघध्वनि' नामक महायज्ञ का अनुष्ठान भी उसीकी आज्ञा से हुआ। उसका पुत्र लालक्खिया (Lalackhia) और तत्पुत्र भाभक्खिया (Bhabhackhia) हुआ जो परमवीर था। भीमराज उसका मित्र था; यह राजा लाल जब सिंहासन पर बैठता था तो पूर्णकलाओं सहित चन्द्रमा के समान सुशोभित होता था। उसका पुत्र जयसिंह, इस पृथ्वी पर सुयश-सहित राज्य करके स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ। उसके पुत्र राजसिंह ने सामन्त कुमारपाल को गद्दी पर बिठाया और स्वयं राज-काज चलाने लगा। कुमारपाल का पुत्र श्रीरोहिणी महान् राजा हुआ; वह सूर्य के समान सभी सद्गुणों से मण्डित था। वह चन्द्रमा के समान परमप्रकाशमान श्रीधर-नाम से राजा हुआ। संसार का रक्षक, महाबली, सुप्रसिद्ध राजा श्रीभीम-भूपति व्यापारियों का विशेष ध्यान रखता था और उनका मान करता था।

श्रीधर राजा का वर्णन

चालुक्य-वंश में यह राजा रत्न के समान उत्पन्न हुआ, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, समस्त सद्गुणों का निधान, श्रीराम के समान कीर्तिमान्, कामदेव के समान रूपवान्, ऐसा था श्रीधर राजा। उसमें सभी सद्गुण केन्द्रित थे। वह देवताओं का पूजन और ब्राह्मणों का सम्मान करता था; वह वास्तव में सच्चा राजा था। जिस प्रकार ईश्वर वैकुण्ठ के सभी देवताओं में श्रेष्ठ है उसी प्रकार वह इस पृथ्वी के समस्त राजाओं में श्रेष्ठ और इन्द्र के समान सर्वोपरि था। वह ऐसा उदार था कि कामधेनु के समान सब की वाञ्छाएं पूरी करता था, अत्यधिक दयावान् और विनयसम्पन्न था। पुनः, जैसे राजहंस सब पक्षिओं में श्रेष्ठ है वैसे ही वह अन्य राजाओं में सिरमौर था और उसकी कीर्ति इस पृथ्वी-मण्डल पर चन्द्रमा की चांदनी की तरह फैली हुई थी।

श्रीसोमनाथ की स्तुति

जैसे जल का प्रवाह मैल को धो डालता है वैसे पापों को कौन धो सकता है? अपने भक्तों को सम्पन्न और सफल कौन बना सकता है? ऐसे देव श्री सोमनाथ ही हैं!

यह मन्दिर तीनों लोकों में असाधारण है; भक्ति (ध्यान) के लिए अत्यन्त उपयुक्त; जिसका जन्म शुभ (घड़ी में हुआ) है वह इस देवता का ध्यान करता

है; इस देव की महिमा सर्वविदित है, वह परमपवित्र और कल्मषरहित है। ऐसे देव शिव हैं, जिनकी स्तुति सुनने से मन पवित्र हो जाता है। वह अपने भक्तों को सभी शुभ वस्तुएं और स्वर्ग में प्रवेश प्रदान करते हैं। रत्न के समान उनका स्थान केन्द्र में है; वह अपनी सहज कृपा से कलियुग में जन्मे हुए प्राणियों के अपराध क्षमा कर देते हैं। उनकी महिमा और शक्ति समस्त संसार में व्याप्त है। उनकी सदा जय हो! सर्प जिनके आभूषण हैं, वह विश्व के स्वामी हैं, तीनों लोकों में वह ही दया के निधान हैं।

पत्तन का वर्णन

यह नगर देव का पत्तन कहलाता है, जहां शिवजी की कृपा से ऊँचे-ऊँचे प्रासाद, विशाल मन्दिर, अनेक उद्यान और आनन्दमयी कुञ्जें हैं।

श्रीधर का वर्णन

जिस प्रकार समुद्र अपनी लहरों से पाप के पहाड़ों को भी धो डालता है उसी प्रकार श्रीधर अपनी सेना के बल पर सोमनाथपुरी में राज्य करता है। इस नगरी में श्रीकृष्ण का एक सुन्दर मन्दिर हैं; वहाँ उसका एक परम बुद्धिमान् मंत्री भी रहता है, जो दुष्कर्मियों और पापियों को बाहर निकाल देता है। इस श्रीधर ने [वेदों के] कितने ही पारायण कराए हैं, यज्ञ सम्पन्न किए हैं, धर्मार्थ कितने ही मन्दिरों का निर्माण कराया है और उन मन्दिरों को उद्यानों, कुञ्जों और क्यारियों से सुशोभित किया हैं, शोभा और प्रकाश में ये मन्दिर सुर्वण-सुमेरु की श्रेणियों की समता करते हैं; इनमें सोमनाथ का मन्दिर बहुत विचित्र है; यहां विविध भांति के कलश हैं, जो बहुत प्रकार की पताकाओं से युक्त हैं, अत: यह स्थान पवित्र पर्वत [देवगिरि] के समान लगता है।

मन्दिर के महन्त का वर्णन

यहां का महन्त मानवों में श्रेष्ठ, सद्गुणों का आगार, और परम दयावान् महेश्वर है। वह निरन्तर शिवपूजन में व्यस्त, महन्तोचित सभी मूल्यवान् सद्गुण-गणों से युक्त, पवित्र पूजा के विधि-विधान और सतत यज्ञों का अनुष्ठाता है। उसका मन अत्यन्त निर्मल और निरन्तर हरिभक्ति में लीन रहने वाला है; वह विष्णु की भी पूजा करता है, जिसकी भक्ति से मनवाञ्छित फल, अमरत्व का शाश्वत आनन्द, ऐहिक ऐषणाओं और मानवीय सुखों की प्राप्ति होती है। भक्ति से उसे उन सभी पदार्थों की प्राप्ति हो जायगी जिनकी वह इच्छा करेगा; यह भक्ति शुभ है और इससे सभी प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इन श्रीसोमनाथ की कृपा से मनुष्यों को सौभाग्य की प्राप्ति होती है। वह सोम (चन्द्रमा) के नाथ

(स्वामी) हैं। श्रीधर महाराज उनके कुल में विराजमान हैं, यह राजा इन देव के पुजारियों का बहुत मान करता है। राजा श्रीसोमनाथ के इस मन्दिर का भक्ति-पूर्वक सम्मान करता है; वह शिव की महिमा को नमस्कार करता है। इस मन्दिर में सन्तों का निवास है; यहां लक्ष्मी विलास करती है और शिव के चरणों का पूजन करने से समस्त दुरितों का क्षय होता है। इस मन्दिर का दर्शन करने से दुष्कर्मों का लेश भी लुप्त हो जाता है, दुःख और रोग का भी नाश होता है।

श्री विक्रमादित्य राजा के संवत् १२७२ (१२१५ ई०) में वैशाख वदु ४ थी (शुक्रवासरे) को इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई।[1]

---

[1] कर्नल टॉड के बाद इस लेख को मिस्टर पोस्टन्स् ने 'बॉम्बे ब्रांच आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल वॉल्यूम २ के पृष्ठ १६ पर प्रकाशित कराया था। इन दोनों ही लेखकों का कहना है कि यह लेख वेरावल के पास देवपट्टण अथवा सोमनाथ-पाटण में किसी काजी के घर के समीप खम्भे में जड़ा हुआ था। अब वह शिला, जिस पर यह उत्कीर्ण है, शहर के बड़े दरवाजे की दाहिनी बाजू किले की दीवार में जड़ी हुई है। कर्नल टॉड और मिस्टर पोस्टन्स् ने वह नकल प्राप्त की थी जो मिस्टर वाघ ने एक जैन आचार्य की सहायता से रामदत्त कृष्णदत्त पुराणी के समक्ष तैयार की थी और उसका अनुवाद भी किया था। मिस्टर वाघ का अनुवाद अणहिलवाड़ा के चौलुक्य-राजाओं के विषय में बहुत ही सूचनागर्भित टिप्पणियों से युक्त है परन्तु उसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

नीचे दी गई नकल 'हिस्टोरीकल इन्सक्रिप्शन्स् ऑफ गुजरात' भा० २ में से उतारी गई है– परन्तु, इसमें क्रम पंक्तियों के आधार पर न रख कर श्लोकों के आधार पर रखा गया है कि जिससे पढने में सरलता रहे। बड़े कोष्ठकों में अक्षर-पूर्ति भी कहीं उक्त पुस्तक की टिप्पणियों के अनुसार और कहीं-कहीं अपनी सूझ के अनुसार प्रयास करके करदी गई है कि जिससे लेख का तात्पर्यसरलता से समझ में आ सके और ग्रन्थकर्त्ता के अनुवाद तथा मूल लेख के भाव का अन्तर ज्ञात हो सके। (अनु०)

श्रीधर की देवपाटण की प्रशस्ति

१. [ॐ नमः] शिवाय ॥

मनोमन्यादिभूम्यन्ततत्त्वमालावलम्बनम्।
उपास्महे परं तत्त्वं पञ्चकृत्यैककारणम् ॥१॥
वियद्वायुर्वह्निर्जलमवनिरिन्दुर्दिनकर–
श्चिदाधारश्चेति त्रिभुवनमिदं यन्मयमभूत्।
स वः श्रेयो देया–

२. [त्परमसु]रनाथः सुरनदीं
सरूपां बिभ्राणः शिरसि गिरिजाक्षेपविषयः ॥२॥

पुष्णातु स्फुरदभ्रविभ्रमभृतः कृष्णस्यवक्षस्थल-
प्रेङ्खत्कौस्तुभकान्तिभिः कवचिता लक्ष्मीकटाक्षावलिः ।
या संभोगभरालसा तनुत

३. [दे सो]जन्य विन्यासभू-
र्दारिद्र्यद्रुमदावपावकशिखाकारानिशं वः श्रियम् ॥३॥
श्रीसोमनाथायतनस्य रेखा भूमेरिवोर्द्ध्वाङ्गुलिरत्र भाति ।
अनन्यसाधारणशोभमेतत् पुरं पुरारेरिति सूचयन्ती ॥४॥
महीवदनपङ्कजं भुवन-

४. [वास]भूषाविधि-
निधिः सकलसम्पदां त्रिपुरवैरिणः सम्मतम् ।
तदेतदतिदुःसहक्षयविनाशसिद्धौ पुरा-
शशाङ्करचितं पुरं जयति वारिधेः सन्निधौ ॥५॥

अस्ति स्वस्तिमदम्बुजासननिभैरध्यासितं यज्वभि-
र्धूमध्या(श्या)मलिता-

५. [मला]म्बरतलं स्थानं त्रयीकेलिभूः ।
अभ्यर्थ्य द्विजपुङ्गवान्नगरमित्यर्द्धेन्दुचूडामणिः
प्रादादष्टकुलान्वयापरचतुःषष्टच[ः] स्वतुष्टचै च यत् ॥६॥
शाण्डिल्याख्योदग्रवंशाग्रकेतुर्गोत्रं ख्यातं नाम वस्त्राकुलं यत् ।
ऊधा-

६. (भ)ट्टो देवयुस्तत्र जज्ञे देवज्ञत्वं यस्य सान्वर्थमासीत् ॥७॥
यदीयाशीर्वादैरमरपतिकार्पण्यजनकं
  भुनक्ति स्मायत्तं निहतरिपुराज्यं चिरतरम् ।
निहत्य क्ष्मापालानणहिलपुरे मूलनृपतिः
  प्रभुत्वं तत्पुत्रेष्वकृत सुकृतार्थेष्यवसितम् ॥८॥

गङ्गाप्रवाह-

७. प्रतिमा बभूवुस्तस्यात्मजा माधवलल(वल्ल)भाभाः ।
ते मूलराजेन पुरस्कृताश्च भगीरथेनेव यशोऽवतंसा[ः] ॥९॥
वापीकूपतडागकुट्टिममठप्रासादसत्रालयान्
सौवर्णध्वजतोरणापणपुरग्रामप्रपामण्डपान् ।
कीर्तिश्रीसुकृतप्रदाननव-

८. तः(तिः)श्रामूलराजस्त्रिभि-
स्तैरग्रासनिभैर्व्यधापयदयं चौलुक्यचूडामणिः ॥ १० ॥

यद्यात्रासु तुरङ्गमोद्धुरखुरक्षुन्नक्षमामण्डल-
क्षोदच्छन्नदिगन्तमम्बरमभूदेकातपत्राकृति ।
आशाकुञ्जरकर्णकोटरतटीरप्यु-
९. च्च गण्डोपलान्-
भिन्दानः पटहध्वनिः क्षितिधरश्रेणीषु बभ्राम च ।। ११ ।।
तस्मिन् भूभुजि नाकनायकसभामध्यासिते भूपतिः
प्रत्यर्थिक्षितिपालशैलकुलिशश्चामुण्डराजोऽभवत् ।
प्रीत्या ग्रामवरं ददौ निजपितुर्मित्रा-
१०. य कन्हेश्वरं
यः श्रीमाधवनामधेयकृतिने तस्मै महामंत्रिणे ।। १२ ।।
यस्योत्तुङ्गतुरङ्गताण्डवभवः पांशूत्करः सौनिकः
स्वःसीमासु मरुद्गणाभयमहावप्रप्रकारोऽभवत् ।
शक्रेणासुर[गो][ष्ठ]कप्रशमनं दृष्ट्वातितुष्टा-
११. त्मना
निःशङ्कं निदधे शचीकुचतटे चेतश्चिरेण ध्रुवम् ।। १३ ।।
तस्यात्मजस्तदनु दुर्लभराजनामा
यस्यारिराजमकरध्वजशङ्कराख्या[ख्यः] ।
पृथ्वीं बभार परिपंथि[शिरःकिरीट-
रत्नद्युतिच्छुरितशो]णितभद्रपीठः ।। १४ ।।
तदनु तदनु-
१२. जोऽभूद्वल्लभो भूर्भुवःस्व-
स्त्रितयपठितकीर्त्तिर्मूर्तिमद्विक्रमश्रीः ।
यदरिनृपपुरेषु स्थूल[मु]क्ताफलाङ्का
मृगपतिपदपंक्तिर्लक्ष्यते चत्वरेषु ।। १५ ।।
क्षोणीचक्रैकशक्रे ··· · ··· ··· ···।
··· ···प्रेङ्खत्प्रतापप्रतिहतनि-
१३. खिलारातिराजन्यसैन्य ।
तस्मिन् देवाङ्गनानां निविडतरपरीरम्भभाजि क्षितीशे
कर्णः कीर्णाभियातिर्भुवमभृत भुजे भोगिभृन्म[त्]सरेण ।। १६ ।।
तस्मिन्न [सह्यभुवनासि जय]
··· ··· ··· ···रभूज्जयसिंहदेव ?
यस्य क्षपाक-
१४. रकवत्प्रतिमल्लमूर्तिः
कीर्त्तिर्जगत्सु नरिनर्ति नटाङ्गनेव ।। १७ ।।
पाणौ कृत्य जयश्रियं क्षितिभुजामग्रे समग्रा मही-
मेकच्छत्रपरिच्छदां विदधता वीरेण नि(स्ता)रितः ।
येनारातिनृपा··· ··· ··· ···वृढाभिभूर्शं

संधुक्ष्य क्षुभि–

१५. तौर्वसन्निभसमुत्क्षेपः प्रतापानलः ॥ १८ ॥

तस्मिन्नुपेन्द्रत्वमनुप्रवृत्ते त्रैलोक्यरक्षाक्षमविक्रमाङ्कः ।

लोकम्पृणैरात्मगुणैरलङ्घ्याः[घ्य] कुमारपालः प्रबभूव भूपः ॥ १९ ॥

यदरि[पुरेषु व्याघ्रवित्र]स[व]त–

–प्रसृमपटुको–

१६. लालोढदिक्कः प्रतापः ।

क्वथयति घनफेनस्फारकल्लोललोलं

जलनिधिजलमद्याप्युत्पतिष्णु प्रकामम् ॥ २० ॥

आखण्डलप्राङ्गणिके च तस्मिन् भुवं बभाराजयदेव[भूपः]

[उच्छारयन् भूप]तरुप्रकाण्डानुवाप यो

१७. नैगमधर्मवृक्षान् ॥ २१ ॥

यत्खड्गधाराजलमग्ननानानृपेन्द्रविक्रान्तियशःप्रशस्तिः ।

बभ्राज तत्पुष्करमालिकेव श्रीमूलराजस्तदनूदियाय ॥ २२ ॥

[तस्यानुजन्मा जयति क्षितीशः]श्रीभीमदेवः प्रथितप्रतापः ।

अ–

१८. कारि सोमेश्वरमण्डपोऽयं येनाऽत्र मेघध्वनिनामधेयः ॥ २३ ॥

लू(मू)लात्मजः समजनिष्ट विशिष्टमान्यो

भाभाख्यया सुभटभीमनृपस्य मित्रम् ।

लूला[ख्यया तु भ]वजीवन[पूर्णकुम्भः]

[श्रीभीमभू]पतिसभार्णवपूर्णचन्द्रः

१९. ॥ २४ ॥

तस्याभवद्भुवनमण्डलमण्डनाय

शोभाभिधः प्रियसुहृज्जयसिंहनाम्नः ।

यस्यात्मजः सचिवतामधिगम्य वल्लः

स[म्मान]यां सुचिरमास कुमारपालम् ॥ २५ ॥

अथोप[येमे दयितां च रो]हिणी

मुमाभिवेशः कम–

२०. लामिवाच्युतः ।

अजायतास्यां कुलकैरवाकर–

प्रबोधकः श्रीधरनामचन्द्रमाः ॥ २६ ॥

क्षीरोदपूरपरिपाण्डुरपुण्यकीर्ति–

र्नीरोगमेष [पुरुषायु]षमातनोति ।

[भूपालराजपरिनर्त]नमन्त्रशक्तिः

श्रीभीम–

२१. भूपतिनियोगिजनैकमान्यः ॥ २७ ॥

आशी:परम्परा सेयमूयाभट्टस्य तायते ।
चौलुक्यवस्त्राकुलयोराकल्पं प्रीतिरक्षता ।। २८ ।।
कान्त्या चन्द्रति तेजसा······
[सुक्त्यो]त्तानपदात्मजत्यखि-
२२. लसम्पत्या धनाध्यक्षति ।
[वृत्त्या]सागरति प्रभावविधिना नित्यं विरञ्चत्यसौ ।
कीर्त्या रामति रूपसुन्दरतया कन्दर्पति श्रीधरः ।। २९ ।।
नि:सीमसं[पदुदयैकनिधानहेतु-
राकल्पमानजनता]गुरुभिर्निबद्धः ।
सौजन्यनी-
२३. रनिधिरुन्नतसत्त्वसीमा
जागर्त्ति चास्य हृदये पुरुषः पुराणः ।। ३० ।।
श्रीधरोऽपि न वैकुण्ठः सर्वज्ञोऽपि न नस्तिवित् ।
ईश्वरोऽपि न कामारिरि[न्द्रोऽपि नचवृत्रहा] ।। ३१ ।।
त[त्रानिशं विबुध]पादपकामधेनु-
मुख्याः स-
२४. मस्तजनवाञ्छितदा भवन्तु ।
किन्त्वस्य सन्त्यभयदानवशंवदत्व-
विस्मेरवक्त्रविनयप्रमुखा विशेषाः ।। ३२ ।।
जम्बालस्तुहिनायते[पिकततिः श्रीराजहंसायते
कालिन्दी जल]दायते हरगलः क्षीरोद-
२५. वेलायते ।
शौरिः सीरधरायतेऽञ्जनगिरिः प्रालेयशैलायते
यत्कीर्त्या सुपयस्यते क्षितिगवी राहुःशशाङ्कायते ।। ३३ ।।
निर्माल्यं [चन्द्रदेवो रघुपतिचरितः सेतुबन्धः प्रणाली]
क्षीरोदः पादशौचामृ-
२६. तमचलपतिर्देहसंवाहपङ्कः ।
उच्छिष्टं पाञ्चजन्यं सुरसरिदमलस्वेदतोयोदयश्री-
रित्येवं यस्य कीर्त्ते[:] स्वयमकृत नुतिं सोम[नाथोऽतिश्रद्धः] ।। ३४ ।।
··· ··· ··· ··· ···सीं त्रिलोकी-
मालोक्य
२७. संकीर्णनिवासमस्याः ।
वेधा विलक्षः स्तुतिमाततान
तवास्ति नान्या सदृशीति नूनम् ।। ३५ ।।
असौ वीरो दान्तः सुचरितपरिस्पन्दसुभगः
··· ··· ···परिणवगिरां काऽपि सुकृती ।

अमुं पूर्वे ज-
२८, न्मन्यखिलगुणविस्तारमधुरं
नुनाव स्वच्छन्दं विमलमिव वाल्मीकिरसकृत् ॥ ३६ ॥
यदीयगुणवर्णनश्रवणकौतुकोच्छेदया
... ...गमा।
मनः किमिव रज्यते-
२९. ऽनुचितवन्दिभिर्वेधस-
स्तदस्य कविमानिभिर्न च चरित्रमुद्योतते ॥ ३७ ॥
दिदन्तावलकर्णतालविलसत्कुम्भ (कुम्भैश्च) रङ्गाङ्गणे
यत्कीर्त्तिर्मदमत्त[वारवनितातुल्यं पदा] नृत्यति।
रोदःकन्दरपूरण-
३०. प्रणयिनी निःशङ्कमात्मंभरि-
भिन्दन्ती तमसां कुलं कलिमलप्रध्वंसबद्धोत्सवा ॥ ३८ ॥
लोकालोकालवाला जलनिधिसलिलासिक्त[मुक्ता वहन्ती]
[शम्भोर्मूर्द्धा]वलम्बिन्यखिलगुणमयै-
३१. रंकुरैः कीर्त्तिवल्ली।
यस्य प्रालेयभानुप्रविकचकुसुमोदारतारापरागै-
दिक्चक्रं व्यापयन्ती जयति फणिपतिप्रांशुमूला जगत्याम् ॥ ३९ ॥
[तस्य पत्न्यस्तु] सावित्रीलक्ष्मीसौभाग्यदेव्याख्याः।
३२. इच्छाज्ञानक्रियाख्येया यद्वदीशस्य शक्तयः ॥ ४० ॥
ताभिर्भुवनवन्द्याभिः सन्ध्याभिरिव वासरः।
[श्रीधरः]शोभते शश्वल्लोकव्याप्येकदीपकः ॥ ४१ ॥
उत्ताल[मालवतमाल]वनायमान-
सेनागज-
३३. प्रकरभंगुरितां भुवं यः।
[भू]यः स्थिरां सपदि मन्त्रबलेन कृत्वा
श्रीदेवपत्तनमपालयदात्मशक्त्या ॥ ४२ ॥
प्रलयजलधिवेलोल्लोलकल्लोललोलं
[चरणधरणमात्रापान]संपिष्टशैलम्।
दलितधरणि-
३४. चक्रं वीरहंमीरचक्रं
बहुतृणमकरोद्यः श्रीधरो दुर्गदर्प्पः ॥ ४३ ॥
मातुः कैवल्यहेतोर्म्मुररिपुभवनं रोहिणीस्वामिनाम्ना
....केशवाद्यः।
नाम्ना ता-
३५. तस्य तद्वच्छिवभवनमपि... ... ...जयाख्यं
[धाम]श्रीमच्छिवस्य प्रतिहतदुरितं कारितं भूरिशोभम् ॥ ४४ ॥

वल्लो दौवारिकोऽभूद[रिगिरिशिखरावाकृष्ट गूर्जरात्रा
··· ··· ··· ··· निज निपुण-
३६. गुणैः सूनुना[तमालिगम्यं]
[येने(ह)श्रीधरीयो ह]रनगरपदे योजितस्तस्य नाम्ना
प्रासादः श्रीधरेणाप्ययमवनिजयः कारितः [शङ्करस्य] ॥ ४५ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···धनस्तोमाच्चमत्कारिणः
३७. किञ्चिच्छ्रीनृपनायिकाभिरभितः··· ··· ··· ···।
गीर्वाणाधिपचा[पसा]दरमहारत्नस्फुरज्ज्योतिषां
नैते मेरुमहीधर··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४६ ॥
[द्विजोत्त]मा द्विजवृद्धिभाजः
३८. ··· ··· ···समानदीर्घाः सगुणाः।
··· ··· ··· ···· ··· ··· ··· ···
माहेश्वरव्याकरणोपमानाः ॥ ४७ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···वैशेषिका इव ।
३९. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४८ ॥
चित्तवृत्ति··· ··· ···· ··· ··· ··· ··· ··· ···· ···।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···मुनयो यथा ॥ ४९ ॥
वि··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···र्गाः
सततविहित··· ··· ··· ···
४०. ···· ··· ···· ··· ···धूपोद्ग तथा··· ··· ···
···· ··· ··· ··· ··· ··· ···· ···· ···देते ॥ ५० ॥
··· ··· ··· ···कथाश्रयाय मठं वि[धाय]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···चेतः ॥ ५१ ॥
श्रयक-
४१. यमिव दैवादागतः[श्रीनिवासी]
[प्रतिनृपतिमतं यः पण्डितंमन्य ··· ···· ···]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···श्रीधरेण,
जलधि[मिव]··· ··· ···· ···· ··· ···॥ ५२ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···भूपालकुलसद्गु-
४२. रुः।
··· ··· ···जीमूतवाहन··· ··· ··· ॥ ५३ ॥
··· ··· ···पावनो यतिपति-
४३. यस्याङ्घ्रिपूजावि[धिः]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ···· ··· ···· ··· ॥ ५४ ॥

संख्या १५

जूनागढ़ के शिलालेख, जो पवित्र पर्वत गिरिनाल (गिरनार) के भवनों में से प्राप्त किए गए हैं।

(बम्बई के मिस्टर वॉथेन द्वारा अनूदित)

सं० १– (गणेश को नमस्कार करके) पवित्र गिरनाल का वर्णन करना मेरे लिए उचित है। पर्वतों के स्वामी इस रैवताचल पर भक्त और साधु-सन्त निरन्तर भक्ति, यश और तपस्या में निरत रहते हैं। उस पवित्र गिरनार पर एक प्रसिद्ध स्थान है जो घने जंगलों से घिरा हुआ है, उसके बीच-बीच में विशाल और सुन्दर मन्दिर हैं, जलाशय तथा अनेक धार्मिक स्थान हैं जिनसे यह पर्वत सुसज्जित और सुशोभित है। इन एकान्त स्थानों में साधु-महात्मा मद और लोभ का त्याग करके वासना पर विजय प्राप्त करते हुए विचरते हैं और सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ध्यान करते हैं। विविध प्रकार के दृश्यों से समन्वित इस स्थान पर पुण्यात्माओं को (उनके तप के फलस्वरूप) सुख, सौभाग्य

श्री··· ···दूरे प्रसरणपरिते··· ···
··· ··· ···क्षणिकमत महाव्याल–
४४. संरम्भसिन्धुः।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···· ···
··· ···[तदादिर्विमलशिवमुनि]र्म्माननीयो[नवेन्दुः] ॥ ५५ ॥
··· ··· ··· ··· ···[वीक्ष्य] च
४५. पादपद्मौ।
अङ्गीकृता··· ··· ··· ···· ··· ··· ॥ ५६ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

[निःशेषपाषण्डिमृणालखण्ड
भक्त्याऽस्य तुष्टः प्रतिपन्नदर्पः
प्रशस्तिमेतामयमुद्दधार] ॥ ५७ ॥

याव–
४६. द्विष्णोरुरसि··· ··· ··· ···।
[यावद्वाणी विहरति वि(धुर्वक्तृपिण्डान्तराले–
र्वा(यो)र्वलयमखिलं गण्डयंती यमस्य] ॥ ५७ ॥
[एते]··· ··· ··· ···वेन प्रासादाः
४७. ···· ···सूत्रिताः शुभाः। लिखि··· ··· ···[॥ ६० ॥]
श्रीमद्विक्रमनृप संवत् १२७३ वर्षे वैशाख शुदि ४ शुक्रे
[निष्पा] दितमिति शिवमस्तु ॥ छ ॥ मंगल महाश्रीः ॥

और समृद्धि की प्राप्ति होती है, उनका मन सदैव परमात्मतत्त्व के चिन्तन में लीन रहता है।

बहुत प्राचीन समय में गिरनाल पर कीर्त्तिमान् हरिवंश ने महान् यज्ञों और उत्सवों का आयोजन किया। कालान्तर में भी बहुत से यदु [वंशी] राजाओं ने इस पर्वत पर उदार धर्म-कार्य सम्पन्न करके स्वर्ग में अपने लिए आनन्ददायक भवनों की प्राप्ति की। बहुत-सी पीढियों बाद इस यदुवंश में माण्डलिक-नामक राजा उत्पन्न हुआ जिसके गुरु हेमाचार्य ने इस ऊंचे (पर्वत) पर श्रीनेमनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की। अब उस राजा के पुण्य कार्यों का वर्णन करते हैं—वह महान् वीर और प्रजापालक प्रसिद्ध राजा था। उसका पुत्र महीपाल कहलाता था। अपने सद्गुणों के कारण वह इस पृथ्वी पर देवता के समान और उदारता के कारण कल्पवृक्ष के समान माना जाता था। फिर, खंगार राजा ने राज्य किया, उसके राज्य में बहुत समृद्धि हुई। उसका उत्तराधिकारी जयसिंह राजा हुआ, वह समस्त राजाओं का अग्रणी अलङ्कारभूत और राजहंस के समान सुन्दर था। फिर, इस पृथ्वी का पालक और अन्याय का नाश करने वाला राजा महीपाल हुआ। उस के पुत्र माण्डलिक ने सिन्धु के तट-पर्यन्त वसुन्धरा पर राज्य किया, उसकी कीर्ति सर्वत्र फ़ैली हुई थी, उसने धर्म-पूर्वक राज्य किया, वह दयावान्, न्यायी और दीन-दुर्बलों का रक्षक था। इस प्रकार उसने सोरठ देश पर आनन्द-पूर्वक राज्य किया। बड़े-बड़े और सुप्रसिद्ध राजा इस माण्डलिक के दरबार में उपस्थित होते थे और दुष्ट राजाओं के गर्व एवं अभिमान को उसने मिटा दिया था; इस बुद्धिमान् और धर्मात्मा राजा ने बहुत वर्षों तक राज्य किया।

यहां एक नगर भी है, जिसमें समस्त ऋद्धियां निवास करती हैं और यह मूर्तिमान् उत्कर्ष के समान है। यहां के उत्तम शासन-प्रबन्ध से आकृष्ट होकर देश के सभी भागों से आ-आ कर लोग बस गए हैं। यहां पर बहुत से मुकुटधारी राजा सपरिवार निवास करते हैं। अनेक कुए, जलाशय, विविध भवन और देवालय भी यहां पर विद्यमान हैं। इस रैवताचल की निरन्तर झांकी के कारण यहां के निवासियों की समृद्धि अत्यधिक बढ़ रही है।

अनन्तर-काल में भी यदुवंशी राजा हुए जिन्होंने पवित्र जिन [देव] के आगे मस्तक झुकाया और इसके फलस्वरूप समृद्धि का उपभोग किया तथा न्याय-पूर्वक प्रजा पर शासन किया।

विक्रमादित्य के वर्ष १२०४ (११४८ ई०) में कार्तिक शुद ६ ठ (कार्तिक के शुक्लपक्ष) को चन्द्रप्रसाद [चण्डप्रसाद] राजा हुआ; फिर सामन्त भोज; आशराज नन्द और कुमारदेवी; उनका पुत्र श्री लूनीराम; श्रीमालकुल; श्रीतेजपाल, जिसका

उत्तराधिकारी उसके बड़े भाई का पुत्र वस्तुपाल हुआ; फिर श्री ललितराज ने राज्य किया, जो संवत् १२७७ (१२२१ ई०) में महान् व्यापारी हुआ। इस राजा ने शत्रुञ्जय, गिरिनार और अन्य पवित्र स्थानों की यात्रा की और उत्सव सम्पन्न किए; उसने महान् देवताओं के मन्दिरों का भी निर्माण कराया। महाराजा ललित चालुक्य-वंश का था।

माता अम्बा की स्तुति

सं० २–भय और संशय का नाश करने वाली, भक्तों के सभी मनोरथ पूर्ण करने वाली श्रीमाता अम्बिका ही वह शक्ति है, जो मनुष्यों की प्रार्थना सुनकर इच्छाएं पूरी करती है ! हम उसकी स्तुति करते हैं, उसकी जय हो !

सं० ३–संवत् १३३९ (१२८३ ई०) ज्येष्ठ शुद १०मी वृहस्पतिवार को रैवताचल पर पुराने और ध्वस्त मन्दिरों को उनके स्थान से हटा कर नया निर्माण कराया गया।

सं० ४–संवत् १३३३ (१२७७ ई०) में वैशाख ४थ, सोमवार को श्री जनप्रबोध [जिन प्रबोध] आचार्य, उज्जैन के श्रीपूज्य (High Priest) के आदेश से श्रावक गणेश, उसके पुत्र वीरपाल श्रीमालज्ञातीय साह हीरा लक्खा ने रैवताचल पर श्रीनेमनाथ को मन्दिर में प्रतिष्ठित करने के लिए २०० मोहरों का विसर्जन किया और देव-पूजा के निमित्त २००० मोहरें प्रतिदिन वितीर्ण कीं।

सं० ५–श्री पण्डित देवसेन सुंग की आज्ञा से संवत् १२१५ (११५९ ई०) चैत्र शुद ८मी रविवार को देवताओं के प्राचीन मन्दिरों को हटा कर नया निर्माण कराया गया।

सं० ६–संवत्...सरसिन्धु रण(?) (Sindhiran) में शालिवाहन-नामक राजा राज्यकरता था; उसका पुत्र सुवर ठाकुर था; तथा पति शालिवाहन उसका पुत्र रुच्यपर्व। इन राजकुमारों ने बड़े-बड़े यज्ञ किए और भीमकुण्ड-नामक सरोवर का निर्माण कराया। वस्तुपाल और तेजपाल ने श्रीअम्बिका की मूर्ति गिरिनार पर प्रतिष्ठित कराई और 'रस-कुम्पिका' नामक कुए का निर्माण कराया।

सं० ७–संवत् १२३४ (११७८ ई०) में पोष वद ६ठ वृहस्पतिवार को शाह वस्तुपाल तेजपाल ने गिरिनार पर एक विशाल मन्दिर बनवाया जिसमें श्रीमलीनाथ को पधराया। उस समय कुमारपाल[1] राजा पाटन में राज्य करता था जो अन्य राजाओं का शिरोमणि था।

समाप्त

जे. एल. कॉक्स एण्ड सन्स; ७५ ग्रेट क्वीन स्ट्रीट लिंकन इन फील्ड द्वारा मुद्रित

[1] इससे ज्ञात होगा कि यहाँ कुमारपाल के राज्यकाल से पूर्व तिथि अङ्कित की गई है क्योंकि उसका राज्यारोहण संवत् ११८९ निर्णीत हो चुका है।

और समृद्धि की प्राप्ति होती है, उनका मन सदैव परमात्मतत्त्व के चिन्तन में लीन रहता है।

बहुत प्राचीन समय में गिरनाल पर कीर्त्तिमान् हरिवंश ने महान् यज्ञों और उत्सवों का आयोजन किया। कालान्तर में भी बहुत से यदु [वंशी] राजाओं ने इस पर्वत पर उदार धर्म-कार्य सम्पन्न करके स्वर्ग में अपने लिए आनन्ददायक भवनों की प्राप्ति की। बहुत-सी पीढियों बाद इस यदुवंश में माण्डलिक-नामक राजा उत्पन्न हुआ जिसके गुरु हेमाचार्य ने इस ऊंचे (पर्वत) पर श्रीनेमनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की। अब उस राजा के पुण्य कार्यों का वर्णन करते हैं—वह महान् वीर और प्रजापालक प्रसिद्ध राजा था। उसका पुत्र महीपाल कहलाता था। अपने सद्‌गुणों के कारण वह इस पृथ्वी पर देवता के समान और उदारता के कारण कल्पवृक्ष के समान माना जाता था। फिर, खंगार राजा ने राज्य किया, उसके राज्य में बहुत समृद्धि हुई। उसका उत्तराधिकारी जयसिंह राजा हुआ, वह समस्त राजाओं का अग्रणी अलङ्कारभूत और राजहंस के समान सुन्दर था। फिर, इस पृथ्वी का पालक और अन्याय का नाश करने वाला राजा महीपाल हुआ। उस के पुत्र माण्डलिक ने सिन्धु के तट-पर्यन्त वसुन्धरा पर राज्य किया, उसकी कीर्ति सर्वत्र फ़ैली हुई थी, उसने धर्म-पूर्वक राज्य किया, वह दयावान्, न्यायी और दीन-दुर्बलों का रक्षक था। इस प्रकार उसने सोरठ देश पर आनन्द-पूर्वक राज्य किया। बड़े-बड़े और सुप्रसिद्ध राजा इस माण्डलिक के दरबार में उपस्थित होते थे और दुष्ट राजाओं के गर्व एवं अभिमान को उसने मिटा दिया था; इस बुद्धिमान् और धर्मात्मा राजा ने बहुत वर्षों तक राज्य किया।

यहां एक नगर भी है, जिसमें समस्त ऋद्धियां निवास करती हैं और यह मूर्तिमान् उत्कर्ष के समान है। यहां के उत्तम शासन-प्रबन्ध से आकृष्ट होकर देश के सभी भागों से आ-आ कर लोग बस गए हैं। यहां पर बहुत से मुकुटधारी राजा सपरिवार निवास करते हैं। अनेक कुए, जलाशय, विविध भवन और देवालय भी यहां पर विद्यमान हैं। इस रैवताचल की निरन्तर झांकी के कारण यहां के निवासियों की समृद्धि अत्यधिक बढ़ रही है।

अनन्तर-काल में भी यदुवंशी राजा हुए जिन्होंने पवित्र जिन [देव] के आगे मस्तक झुकाया और इसके फलस्वरूप समृद्धि का उपभोग किया तथा न्याय-पूर्वक प्रजा पर शासन किया।

विक्रमादित्य के वर्ष १२०४ (११४८ ई०) में कार्तिक शुद ६ ठ (कार्तिक के शुक्लपक्ष) को चन्द्रप्रसाद [चण्डप्रसाद] राजा हुआ; फिर सामन्त भोज; आशराज नन्द और कुमारदेवी; उनका पुत्र श्री लूनीराम; श्रीमालकुल; श्रीतेजपाल, जिसका

अनुक्रमणिका

१. स्थानों के नाम

पश्चात् टिप्पणी

पृ० ३. सहेलियों की बाड़ी का निर्माण महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय (१७११-१७३४ई.) ने कराया था। टॉड साहब ने इसको 'हाडी रानी की सहेलियों की बाड़ी' लिखा है। परन्तु, महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के कोई हाडी रानी नहीं थी। यहाँ लेखक को भ्रम हो गया है; वास्तव में, महाराणा संग्रामसिंह प्रथम (महाराणा सांगा) की स्त्री हाडी रानी थी, जो बूँदी के राव नर्वद हाडा की पुत्री और सूरजमल की बहन थी। उसका नाम करमेती या कर्मवती था। इस रानी के पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को महाराणा साँगा ने रणथम्भौर की जागीर दी थी और हाड़ा सूरजमल को उनका अभिभावक नियुक्त किया था, परन्तु बाद में साँगा के पुत्र रतनसिंह ने महाराणा बनने पर इसका विरोध किया था और अन्त में एक शिकार के प्रसंग में रत्नसिंह और सूरजमल दोनों कट मरे थे।

(उ. रा. इ. , मुंहता नैणसी री ख्यात; वीरविनोद)

पृ० २३. म्यूसीडोरा (Musidora)—जेम्स थॉमसन (James Thomson) कृत 'Seasons' नामक काव्य में म्यूसीडोरा और उसके प्रेमी डॅमन (Damon) का वर्णन आता है। डॅमन ने म्यूसीडोरा को स्नान करते हुए देखा था और वह उसी अवस्था में उस पर मुग्ध हो गया था।

The Oxford Companion to English
Literature by Paul Harvey

पृ० ६१. पर अन्तिम पैरे से पहले पढ़िए—" सिरोही के राजा और उनके अधीनस्थ सामन्त देवड़ा जाति के हैं। यह राजपूतों की श्रेष्ठ शाखा चौहानों के अन्तर्गत मानी जाती है। आबू के शिखर इनकी क्रीडास्थली रहे हैं और वहाँ से वे अरावली और आबू से लगते हुए प्रान्त में फैल गए थे। जोधपुर के राठोड़ों द्वारा मरु में पदार्पण करने से बहुत पूर्व ही, जब वे कन्नौज नगर में राज्य-वैभव का उपभोग कर रहे थे, देवड़ों ने नाँदोल, जालोर और अन्य स्थानों में छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे। सिरोही, आबू और चन्द्रावती उस समय परमारों के अधिकार में था और जब तक जालोर के राजा कान्हदेव के काका ने तेरहवीं शताब्दी में कपटपूर्वक परमारों का वध करके पूर्व राज्य और उसके अधीनस्थ भागों पर अधिकार न कर लिया तब तक यह प्रान्त उन्हीं के पास रहा था। देवड़ा राजा आजकल जिस नगर में रहते हैं वह अपेक्षाकृत आधुनिक है और पुरानी सिरोही तो पहाड़ की दूसरी श्रेणी के पीछे बताई जाती है, परन्तु वहाँ जाने के लिए मेरे पास समय नहीं था।"

पृ० ४८१. Helots के विषय में पाद टिप्पणी पढ़िए—

१. प्लूटार्क ने एक संदर्भ में मदमस्त हैलॉटों (Drunken Helots) का उल्लेख किया है। हैलॉट प्राचीन स्पेन निवासी थे और कतिपय विशिष्ट अवसरों पर सुरामत्त होने का रिवाज़ इनमें प्रचलित था।

अनुक्रमणिका

१. स्थानों के नाम

२. व्यक्तियों के नाम

२. व्यक्तियों के नाम

२. व्यक्तियों के नाम

२. व्यक्तियों के नाम

३. कुछ जातियों के नाम

४. विशिष्ट शब्द

४. विशिष्ट शब्द



६. अनुवाद में सहायक एवं संकेतित ग्रंथ

१. हिन्दी

कृष्णाजी — रत्नमाला

कविराजा श्यामलदास — वीर-विनोद

कविराव मोहनसिंह (संपा०) — पृथ्वीराज रासो

गंगाधर — प्रवासकृत्य

गोपालनारायण बहुरा (संपा०) — राजविनोद महाकाव्य (उदयराज कृत)

दशरथ शर्मा (संपा०) — पँवार-वंश-दर्पण

दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री — गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास

नरोत्तमदास स्वामी (संपा०) — बाँकीदास री ख्यात

पीटर पीटर्सन — खम्भात ग्रंथ भंडार की सूची

पद्मधर पाठक (संपा०) — बुद्धि-विलास (बखतराम कृत)

बहादुरसिंह — क्षत्रिय जाति की सूची

बदरीप्रसाद साकरिया (संपा०) — मुंहता नैणसी री ख्यात

भूरसिंह मलसीसर — महाराणा यश प्रकाश

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा — उदयपुर का इतिहास; सिरोही राज्य का इतिहास

मानशंकर पीताम्बरदास मेहता — मेवाड़ के गोहिल

यति रामलाल — दादा साहेब की पूजा

रणछोड़भाई उदयराम — रासमाला (गुजराती अनुवाद)

रत्नमणि राव भीमराव — खम्भात नो इतिहास

रामचन्द्र वर्मा — अरब और भारत के सम्बन्ध

सय्यद गुलाब मियां मीर मुन्शी — पालनपुर की तवारीख

हनुमान शर्मा — नाथावतों का इतिहास

हरिदत्त गोविन्द व्यास — जैसलमेर का इतिहास

हरिभद्र सूरि — उपदेश पद

---

२. अंग्रेजी

Bayle, Sir Edward Clive, Local Muhammadan Dynasties of Gujrat, London 1886,

Beale, Thomas William, An Oriental Biographical Dictionary, London, 1894.

Beveridge (H) & Rogers, Tuzuk-i-Jahangiri,

Brewer, Ebenezer Cobham, Dictionary of Phrases & Fable, London, 1963.

Brown, C.J., Coins of India, Calcutta, 1922

५. कर्नल टॉड द्वारा मूल पुस्तक में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अल्माजेस्टम (Almagestum), टॉलेमी कृत
आबू माहात्म्य
एशियाटिक रिसर्चेज, (Asiatic Researches)
एरियन (Arrian), पॅरीप्लुस-का कर्त्ता.
कुमारपाल चरित्र
गीतगोविंद, जयदेव कृत
चूडासमा ख़्वारज़्म (Chorasmia Khwrazem), बेयर (Bayer) कृत
जस्टिन (Justin), इतिहासकार
तारीख़े महमूद गज़नी
द्वारका माहत्म्य
पॅरिप्लुस (Periplus of the Erythraean Sea)
प्रकीर्ण संग्रह
बाबर के संस्मरण, (Memoirs of Babar; Tuzuk-i-Babari)
भोज-चरित्र,
मॅकेन्ज़ी-संग्रह, (Mackenzie Collection)
रेनेल (Rennell), भूगोलशास्त्री
वंशराज चरित्र
स्ट्राबो (Strabo), इतिहासकार और भूगोलशास्त्री
समरसागर
सहस्त्ररजनी चरित्र (Arabian Nights)
हरिवंश पुराण
हमीररासो
Eclaircissemens de La Carte D l' Inde—D' Anville
Fragments—Robert Orme
Relations Anciennes—M. Renadaut
Scenery of Western India—Capt. Grindley

६. अनुवाद में सहायक एवं संकेतित ग्रंथ

१. हिन्दी

कृष्णाजी — रत्नमाला
कविराजा श्यामलदास — वीर-विनोद
कविराव मोहनसिंह (संपा०) — पृथ्वीराज रासो
गंगाधर — प्रवासकृत्य
गोपालनारायण बहुरा (संपा०) — राजविनोद महाकाव्य (उदयराज कृत)
दशरथ शर्मा (संपा०) — पँवार-वंश-दर्पण
दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री — गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास
नरोत्तमदास स्वामी (संपा०) — बाँकीदास री ख्यात
पीटर पीटर्सन — खम्भात ग्रंथ भंडार की सूची
पद्मधर पाठक (संपा०) — बुद्धि-विलास (बखतराम कृत)
बहादुरसिंह — क्षत्रिय जाति की सूची
बदरीप्रसाद साकरिया (संपा०) — मुंहता नैणसी री ख्यात
भूरसिंह मलसीसर — महाराणा यश प्रकाश
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा — उदयपुर का इतिहास; सिरोही राज्य का इतिहास
मानशंकर पीताम्बरदास मेहता — मेवाड़ के गोहिल
यति रामलाल — दादा साहेब की पूजा
रणछोड़भाई उदयराम — रासमाला (गुजराती अनुवाद)
रत्नमणि राव भीमराव — खम्भात नो इतिहास
रामचन्द्र वर्मा — अरब और भारत के सम्बन्ध
सय्यद गुलाब मियां मीर मुन्शी — पालनपुर की तवारीख़
हनुमान शर्मा — नाथावतों का इतिहास
हरिदत्त गोविन्द व्यास — जैसलमेर का इतिहास
हरिभद्र सूरि — उपदेश पद

२. अंग्रेजी

Bayle, Sir Edward Clive, Local Muhammadan Dynasties of Gujrat, London 1886.
Beale, Thomas William, An Oriental Biographical Dictionary, London, 1894.
Beveridge (H) & Rogers, Tuzuk-i-Jahangiri,
Brewer, Ebenezer Cobham, Dictionary of Phrases & Fable, London, 1962.
Brown, C.J., Coins of India, Calcutta, 1922

Burgess, James, The Architectural Antiquities of Northern Gujarat, 1903.

Campbell, James, Gazetteer of the Bombay Presidency, Vol III, Bombay, 1879.

Commissariat, M.S., History of Gujarat, Vol I; London, 1938.

Compton, H, European Military Adventurers in Hindustan, 1910

Crofton, O.S., List of Inscriptions on tombs or mounments in Rajputana & Central India, Delhi, 1934.

Cunningham, Ancient Geography of India, Ed : S. N, Majumdar, Calcutta, 1924.

Elliot & Dowson, The History of India as told by its own Historians, 1952.

Forbes, Alexender Kinloch — Rasmala, 1925

Forbes, James, Oriental Memoirs, 1834

Frazer, James, The Golden Bough, London, 1957

Gibbon, Edward Decline and Fall of Roman Empire, 1954

Gladwin, Francis, Ain-i-Akbari.

Graves, Robert, Larousse Encylopedia of Mythology, London, 1959

Grindlay, Capt., Scenery & Costumes of Western India.

Growse, F.S., Mathura—A District Memoir, 1880.

Heber, New Standard Encylopedia,

Harvey, Paul (Ed), The Oxford Companion to English Literature, London, 1946.

Hastings, James, Encylopedia of Religion & Ethics,

Jarrett, Col H.S., Ain-i-Akbari Vol. II, Calcutta, 1949.

Laurd, L.D., Louvre : A guide to Museum.

Lyall, Sir A.C., Asiatic Studies : Religious & Social, London, 1907

Majumdar, S N. (Ed), Ancient India as described by Ptolemy; Calcutta, 1927.

Mc Crindle, J.W., Ancient India as described by Megasthenese & Arrian, Calcutta, 1960.

Munshi, K.M., Glory that was Gurjaradesa, Bombay, 1944.

Pandit, Shankar Pandurang (Ed), The Gaudavaho : A Historical Poem in Prakrit by Vakpati, Bombay, 1887.

Sarda, Har Bilas, Ajmer : Historical and Descriptive, Ajmer, 1911.
Maharana Kumbha, Ajmer, 1932.

Schoff, Wilfred H., The Periplus of the Erythraen Sea, London, 1912.

Sen, Surendra Nath, (Ed), Indian Travels of Thevenot and Careri, New Delhi, 1949.

Sharma, Sri Ram, A Brief Survey of Human History, Bombay, 1938.

Smith, Vincent, The Early History of India, London, 1914.

Subbarao, Bendapudi, Baroda through the Ages, Baroda, 1953.

Tod, Col James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Ed : William Crooke, 1920.

Vijaya, Jayant, Holy Abu, Bhavnagar, 1954.

Vaidya, C.V., History of Medieval Hindu India, Poona, 1924.

Webster, Biographical Dictionary, 1959.

Weech, W.N., History of the World, Bombay, 1960.

Wells, H.G., The Outline of History, London, 1961.

Williams, Monier, English-Sanskrit Dictionary.

Yazdani, G, The Early History of the Deccan, London, 1960

... ...

Visit Orissa : A Handbook, Govt. of Orissa, 1958,

British Museum Catalogue

Catalogue, Imperial Library, Calcutta

Epigraphia India

Indian Antiquary



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२४ टि०	S.N.E.	N.S.E.
५४ टि०	Solomen	Solomon
५५ टि०	Mnevis	Muevis
६०	गोरोवंशीय	गोरीवंशीय
,,	चमत्कार हुआ हो या हुआ हो	चमत्कार हुआ हो या न हुआ हो
६४	स्ततन्त्रता	स्वतंत्रता
८०	उरिया	ओरिया
९० टि०	कटार वार	कटार का वार
१०५	प्रकरण–५	प्रकरण–६
१२०	Chrous	Chorus
१३२	नहों	न हों
१४७ टि०	Oriental Geographical Dictionary	Oriental Biographical Dictionary
२०६	Song of Ronald (रो लॅण्डो)	Sang of Roland (रो लॅण्ड)
२१५ टि०	३. वोजलसर··· करते हैं।	३. राक्षस
२२२	वागेला	वाघेला
२३० टि०	१. गोमेदक···	२. गोमेदक···
,,	२. वॅनरेवुल···	१. वॅनरेवुल···
२३५	Sexon Heptarchy	Sexon Heptrarchy
२४०	इत प्रकार जानने का···	इस प्रकार यह जानने का···
२६१	मुहने	मुहाने
२७५	हितकर्त्तागुजरात	हितकर्ता गुजरात
२८८	वचे सुचे हुए हिस्सों	वचे सुचे हिस्सों
३०२	पादि बोध	पादिबोध
३०७	सोना मेतो वह वह कर···	सोना तो वह वह कर
३१५/१४	घवन्द्ध	घवन्द
३१८/२१	तुरां	तुर्रा
३४६ टि०	जीर्णोद्वार	जीर्णोद्वार

३८७/३	और कि हम गिरराज	और हम गिरिराज
३९७/८	स्तम्भ-समह	स्तम्भ-समूह
३९९/१३	मकाबला	मुकाबला
४०३/३	चट्टान	चट्टानें
४०४/१५	पेसिल	पेंसिल
४२४/७	कोई-पाप कर्म	कोई पाप-कर्म
४३६/१२	यवनों बेलम राजाओं	यवनों, बेलम राजाओं
४४० टि०	बुध ग्रह का इन···	बुध ग्रह का। इन
४४१/१४	उलट छिद्र	उलटे छिद्र
४४३ टि०	कविता लिखतो	कविता लिखती
४५७ टि०	बन्दरगाह इसी है। नाम···	बन्दरगाह है। इसी नाम···
४७८ टि०	पुराना रूप हो सकता है। जो···	पुराना रूप हो सकता है, जो···
४८०/२८	वेर	वीर
४९४/२२	भाड़ के टट्टू	भाड़े के टट्टू
५१८/१	सं. ७० (पृ. ३६३)	सं. ७ (पृ. ३६३)
५४४/९	Andernanch	Andernauch
५७२/१	लँुका गच्छ	लुंका गच्छ



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२४ टि०	S.N.E.	N.S.E.
५४ टि०	Solomen	Solomon
५५ टि०	Mnevis	Muevis
६०	गोरोवंशीय	गोरीवंशीय
,,	चमत्कार हुआ हो या हुआ हो	चमत्कार हुआ हो या न हुआ हो
६४	स्ततन्त्रता	स्वतंत्रता
८०	उरिया	ओरिया
९० टि०	कटार वार	कटार का वार
१०५	प्रकरण–५	प्रकरण–६
१२०	Chrous	Chorus
१३३	नहों	न हों
१४७ टि०	Oriental Geographical Dictionary	Oriental Biographical Dictionary
२०६	Song of Ronald (रो लॅण्डो)	Sang of Roland (रो लॅण्ड)
२१५ टि०	३. बीजलसर··· करते हैं।	३. राक्षस
२२२	वागेला	वाघेला
२३० टि०	१. गोमेदक···	२. गोमेदक···
,,	२. वॅनरेबुल···	१. वॅनरेबुल···
२३५	Sexon Heptarchy	Sexon Heptrarchy
२४०	इस प्रकार जानने का···	इस प्रकार यह जानने का···
२६१	मुहने	मुहाने
२७५	हितकर्त्तागुजरात	हितकर्ता गुजरात
२९९	बचे खुचे हुए हिस्सों	बचे खुचे हिस्सों
३०२	आदि बोध	आदिबोध
३०७	सोना केतो वह वह कर···	सोना तो वह वह कर
३१५/१४	अवरूद्ध	अवरुद्ध
३१९/२१	त्तुर्रा	तुर्रा
३४६ टि०	जीर्णाद्धार	जीर्णोद्धार

११. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, भाग २, (ग्र. ५१), ७८५५ तक के ग्रन्थों का सूची-पत्र ; सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा, एम.ए., (२+३६१) १९६० ई. । मू. १२.००

१२. राजस्थानी हस्तलिखित-ग्रन्थ-सूची भाग १, (ग्र. ४४) मार्च १९५८ तक के ग्रंथों का विवरण ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य, (३०२+१९), १९६० ई., मू. ४.५०

१३. राजस्थान हस्तलिखित ग्रन्थ सूची भाग २, (ग्र. ५८) १९५८-५९ के संगृहीत ग्रंथों का विवरण ; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, (२+६१) १९६१ ई. । मू. २.७५

१४. स्व. पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण ग्रंथ संग्रह, (ग्र. ५५), सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा और श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी (८+१६३+३८) १९६१ ई. । मू. ६.२५

१५. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग १, (ग्र.४८), मुँहता नैणसी कृत साधारणत: राजस्थान-देशीय एवं मुख्यत: (मारवाड़) राज्य का प्रथम प्रामाणिक व ऐतिहासिक ग्रंथ; सम्पादक आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३६५), १९६० ई. । मू. ८.५०

१६. मुं० नै० री ख्यात भाग २, (ग्र. ४९); आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३४३) १९६२ ई.। मू. ९.५०

१७. मु० नै० री ख्यात भाग ३, (२+२६४) १९६४ ई.। ,, ,, मू. ८.००

१८. सूरजप्रकास भाग १, (ग्र. ५६) : चारण करणीदान कविया कृत, सामान्य रूप से मारवाड़ का ऐतिहासिक विवरण और विशेषत: जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी व सरबुलन्दखान के बीच हुए अहमदाबाद के युद्ध का समकालीन वर्णन ; सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (२०+३१०+३७), १९६१ ई. । मू. ८.००

१९. सूरजप्रकास भाग २, (ग्र. ५७); सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (९+३६३+६१) १९६२ ई. । मू. ९.५०

२०. ,, भाग ३, (ग्र. ५८); ,, ,, ,, (९७+२७५+८४), १९६३ ई. । मू. ९.७५

२१. नेहतरंग, (ग्र. ६३) : बूंदी नरेश राव बुधसिंह हाड़ा कृत, काव्य-शास्त्रीय-ग्रंथ; सम्पादक - श्री रामप्रसाद दाधीच; (३२+१२०), १९६१ ई. । मू. ४.००

२२. मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी-साहित्य को देन, (ग्र. ६६) : लेखक डॉ. मोतीलाल गुप्त, पूर्वी राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज विषयक शोध-प्रबन्ध; (९+२९६), १९६० ई. । मू. ७.००

२३. राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज, (ग्र.३१) : अनु० श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, प्रोफ़ेसर एस.आर. भाण्डारकर द्वारा हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथों की खोज में मध्यप्रदेश व राजस्थान में (१९०४-६) में की गई खोज की रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद (२+७७+१९), १९६३ ई. । मू. ३.००

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित

राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्हड़दे प्रबन्ध, (ग्र. ११) : महाकवि पद्मनाभ विरचित, सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा जालोर दुर्ग के प्रसिद्ध घेरे आदि का वर्णन; सम्पादक - प्रो. के. बी. व्यास (३३+२७५) १९५३ ई.। मू. १२.२५

२. क्यामखां रासा, (ग्र. १३) : कवि जान कृत, फतेहपुर के नवाब अलफ़खांन तथा राजपूताने के क्यामखानी मुस्लिम राजपूतों के उद्‌गम और इतिहास का रोचक वर्णन; सम्पादक - डॉ. दशरथ शर्मा और अगरचन्द भंवरलाल नाहटा (५०+१२८) १९५३ई. मू. ४.७५

३. लावा रासा, (ग्र. १४) अपर नाम कूर्मवंशयशप्रकाश, गोपालदान कविया कृत, नरूका (कछवाहा) राजपूतों और पिंडारी पठानों के बीच हुए पाँच युद्धों का समकालीन ओजस्वी वर्णन, सम्पादक - श्री महताबचन्द खारेड़, (१९+८६) १९५३ ई.। मू. ३.७५

४. बाँकीदास री ख्यात, (ग्र.२१) बाँकीदास कृत, राजस्थान के प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों का प्रमुख ग्रन्थ; सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (९+२१८) १९५६ ई.। मू. ५.५०

५. राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग १, (ग्र. २७) राजस्थानी भाषा में रचित प्रतिनिधि गद्य कथा संग्रह; सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (१४+५२) १९५७ ई.। मू. २.२५

६. राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग २, (ग्र. ५२) तीन ऐतिहासिक वार्ताएं; बगड़ावत, प्रतापसिंह महोकमसिंह और वीरमदे सोनगिरा; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया; (२४+१०८) १९६० ई.। मू. २.७५

७. कवीन्द्र कल्पलता, (ग्र. ३४) : मुगल बादशाह शाहजहाँ के समकालीन कवीन्द्राचार्य सरस्वती कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत (७+५५+५) १९५८ ई. मू. २.००

८. जुगलविलास, (ग्र. ३२) कुशलगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंहजी अपरनाम कवि पीथल कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत, (५+५०) १९२० ई.। मू. १.७५

९. भगतमाळ, (४३) चारण ब्रह्मदास दादूपंथी कृत; सम्पादक - श्री उदयराज उज्ज्वल (८+६४) १९५९ ई.। मू. १.७५

१०. राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग १, (ग्र. ४२) ई. स. १९५६ तक संगृहीत ४००० ग्रंथों का वर्गीकृत सूचीपत्र ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य, (२+३०२+२०) १९५९ ई.। मू. ७.५०

२४. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, (ग्र. ६८) : लेखक-पं० सुखलालजी, हिन्दी अनुवादक-शान्तिलाल म. जैन, राजस्थान के गणमान्य साहित्यकार एवं विचारक आचार्य हरिभद्र का जीवन-चरित्र और दर्शन; (८+१२२), १९६३ ई० । मू. ३.००

२५. वीरवांण, (ग्र. ३३) : ढाढी बादर कृत, जोधपुर के वीर शिरोमणि वीरमजी राठौड़ संबंधी रचना; सम्पादिका-रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत (१६+६२+११२), १९६० ई० । मू. ४.५०

२६. वसन्त-विलास फागु, (ग्र. ३६) : अज्ञातकर्तृक, १३वीं शताब्दी का एक प्रचीन राजस्थानी भाषा निबद्ध शृंगारिक काव्य; सम्पादक एम. सी. मोदी, (१४+११६), १९६० ई० । मू. ५.५०

२७. रुक्मणीहरण, (ग्र. ७४) : महाकवि सांयाजी झूला-कृत, राजस्थानी भक्तिकाव्य; सम्पादक-पुरुषोत्तमलाल मेनारिया (५२+११३) १९६४ ई० । मू. ३.५०

२८. बुद्धि-विलास, (ग्र. ७३) : बखतराम साह कृत, जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंहजी का समकालीन ऐतिहासिक वर्णन; सम्पादक-श्री पद्मधर पाठक; (२४+१७९), १९६४ ई० । मू. ३.७५

२९. रघुवरजसप्रकास, (ग्र. ५०) : चारण कवि किसनाजी आढ़ा कृत, राजस्थानी भाषा का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ; सम्पादक-श्री सीताराम लाळस; (२०+३७६), १९६० ई० । मू. ८.२५

३०. संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों का सूचीपत्र भाग १ (ग्र. ७१) : राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर संग्रह का स्वरित रोमन-लिपि में ४००० का सूचीपत्र, अंत में विशिष्ट ग्रन्थों के उद्धरण; सम्पादक-पद्मश्री मुनि जिनविजय पुरातत्त्वाचार्य; (१६+८६+३७३+(५९), १९६३ ई० । मू. ३७.५०

३१. संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों का सूचीपत्र भाग २ अ (ग्र. ७७) : सम्पादक-पद्मश्री मुनि जिनविजय पुरातत्त्वाचार्य, (१६+७७+३२९+९९), १९६४ ई० । मू. ३४.५०

३२. सन्त कवि रज्जब-सम्प्रदाय और साहित्य (ग्र. ७६) : लेखक-डॉ. व्रजलाल वर्मा, (८+३१४), १९६५ ई० । मू. ७.२५

३३. प्रतापरासो, जाचिक जीवण कृत, (ग्र. ७५) : अलवर राज्य के संस्थापक रावराजा प्रतापसिंहजी के शौर्य का ऐतिहासिक वर्णन, भाषा-शास्त्रीय विशिष्ट अध्ययन सहित, सम्पादक-डॉ. मोतीलाल गुप्त (१६६+११८), १९६५ । मू. ६.७५

३४. भक्तमाल, राघोदास कृत, चतुरदास कृत टीका; सम्पादक-श्री अगरचन्द नाहटा । (४२+२७+२८६), १९६५ ई० । मू. ६.७५